राजेन्द्र प्रसाद

आत्मकथा

राष्ट्रीय जीवन चरित

राजेन्द्र प्रसाद

आत्मकथा

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-0884-X

इस आत्मकथा का प्रथम संस्करण 1947 में प्रकाशित हुआ था ।

प्रथम आवृत्ति (पेपरबैक में) : 1994 (शक 1916)

RAJENDRA PRASAD : AUTOBIOGRAPHY *(Hindi)*

रु. 133.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली - 110016

द्वारा प्रकाशित

निवेदन

पूज्य राजेन्द्र बाबू की 'आत्मकथा' के नये संस्करण का नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशन किये जाने पर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है। नयी पीढ़ी के पाठकों को संभवतः यह भी नहीं मालूम होगा कि इनकी 'आत्मकथा' प्रकाशित हुई थी। उनके लिए तो यह अमूल्य निधि की तरह मालूम होगी।

हमारे देश के तीन राष्ट्रीय नेताओं, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी 'आत्मकथाएं' लिखकर भारत और संसार को अनमोल ग्रंथ अपनी लेखनी से दिये हैं। तीनों 'आत्मकथाएं' अपने ढंग की निराली हैं। इनमें भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन का अनोखा चित्रण है। इनमें मूलरूप से दो 'आत्मकथाएं' भारतीय भाषा में हैं। जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' अंग्रेजी में लिखी गयी है। महात्मा गांधी की 'आत्मकथा' अर्थात् 'सत्य का प्रयोग'—युग पुरुष की कहानी है। साधारण मानव एक महामानव का रूप कैसे धारण कर लेता है यही उनके जीवन चरित्र से प्रेरणा मिलती है।

डा. राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' भारतीय साहित्य को उनका अनुपम अवदान है। हिंदी साहित्य में इस 'आत्मकथा' का अद्वितीय स्थान है। राजेन्द्र बाबू शुरू से ही संकोची और सरल प्रकृति के थे। आत्मप्रशंसा से अपने को बराबर अलग रखते रहे। प्रचार से कोसों दूर रहते थे। विद्यार्थी जीवन से जो गुण उनमें अंकुरित हुये वही समय पाकर सुंदर फलदायक वृक्ष बन गये, जिनसे भारत की जनता को सभी क्षेत्रों में दिशा दान मिला।

'आत्मकथा' लिखने से पूर्व किसी ने राजेन्द्र बाबू की जीवनी लिखी थी—उसी पर गांधीजी ने लिख दिया था, "राजेन्द्र बाबू के पवित्र चरित्र को पढ़कर कौन कृतार्थ नहीं होगा।" यह गांधीज़ी ने जून, 1935 में लिखा था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने 'प्राक्कथन' में लिखा है, "उनकी 'आत्मकथा' हमारे पिछले तीस वर्षों के सार्वजनिक जीवन का इतिहास बन जाती है। जो कोइ इस पुस्तक को पढ़ेंगे, वे इससे जीवन को उन्नत बनाने वाली प्रेरणा प्राप्त करेंगे। कोई देश प्रेमी उसे बिना पढ़े न रहे।" सरदार वल्लभभाई पटेल के ये शब्द जो इस 'आत्मकथा' के प्राक्कथन (1947) में लिखे गये, इस संस्करण में उद्धृत हैं।

राजेन्द्र प्रसाद ग्रंथावली ट्रस्ट ने अपना कर्तव्य समझा कि पूज्य राजेन्द्र बाबू की 'आत्मकथा', जिसकी खोज देश-विदेश में की जा रही है, पाठकों को उपलब्ध कराई जाये। नेशनल बुक ट्रस्ट ने इसे पुनः प्रकाशित कर पाठकों की जिज्ञासा और क्षुधा को शांत करने का प्रयत्न किया है।

नेशनल बुक ट्रस्ट का डा. राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' को भारत की अन्य भाषाओं में प्रकाशित करने का निर्णय सराहनीय है।

चांदमारी रोड
पटना-20
9 अगस्त 1993

वाल्मीकि चौधरी
मंत्री
राजेन्द्र प्रसाद ग्रंथावली ट्रस्ट

पितातुल्य चिरस्मरणीय
भाई
की पुण्य स्मृति में

राजेन्द्र प्रसाद



राजेन्द्र प्रसाद

प्रस्तावना

१९४० में मैं स्वर्गीय सेठ जमनालालजी बजाज के साथ आठ दिनों के लिये स्वास्थ्य-लाभ के वास्ते सीकर गया था। वहाँ ही आत्मकथा लिखने का आरम्भ किया। कुछ साथियों ने लिखने में [illegible] दिया। इस प्रकार एक छोटा सा अंश ही वहाँ लिखा जा सका था। वहाँ से चले आने के बाद बहुत दिनों तक इस ओर ध्यान देने का समय ही नहीं मिला। शायद यह फिर लिखा भी नहीं जाता। १९४२ में जेल में मेरे साथी भाई मथुरा प्रसाद, चक्रधरशरण, और वाल्मीकि चौधरी ने बहुत आग्रह किया कि इसे पूरा करना चाहिए। वहाँ समय भी मिला। इस प्रकार इसका अधिकांश बांकीपुर के जेल में लिखा गया था। कुछ बाकी रह गया था। वह बिड़ला भवन 'पिलानी' में लिखा गया था। बाद में दिल्ली में, वाल्मीकिजी ने प्रेस के लिये प्रति तैयार की। श्री शिवपूजन सहायजी ने प्रेस में जाने के पहले बहुत परिश्रम से ठीक किया। 'साहित्य संसार' के आग्रह से उसे छापने और प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। यद्यपि प्रकाशक नये हैं, उन्होंने प्रकाशन का काम बहुत तेजी और बड़ी खूबसूरती के साथ किया है। मैं इनका कृतज्ञ हूँ। पाठक इसे पढ़कर [illegible] नहीं [illegible]।

दिल्ली
८ जनवरी १९४७

राजेन्द्र प्रसाद

प्राक्कथन

श्री राजेन्द्र बाबू की आत्मकथा को प्राक्कथन की आवश्यकता क्या ? तिस पर मेरे जैसा आदमी—जिसने कभी विद्वता का या साहित्यकार होने का दावा नहीं किया—प्राक्कथन क्या लिखे ? सन् 1918 के खेड़ा-सत्याग्रह की लड़ाई के दिनों में हम पहली बार मिले थे। उसी समय से राजेन्द्र बाबू के प्रति मेरे दिल में जो आकर्षण उत्पन्न हुआ और हम दोनों के बीच प्रेम की जो गांठ बंधी वह मुझे इस काम को सिर-माथे चढ़ाने के लिए विवश कर रही है।

श्री राजेन्द्र बाबू को देखते ही उनकी सरलता और नम्रता की जो छाप हमारे दिल पर पड़ती है, उसका प्रतिबिम्ब इस आत्मकथा के पन्ने-पन्ने में पाया जाता है।

प्रायः पिछले पच्चीस वर्षों से हमारा देश किस स्थिति से किस स्थिति को पहुंच गया है, इसका सजीव और एक पवित्र देशभक्त के हृदय के रंग में रंगा हुआ इतिहास पाठकों को इस आत्मकथा में मिलेगा।

इस आत्मकथा में हमें राजेन्द्र बाबू के बाल्यकाल के बिहार के सामाजिक रीति-रिवाजों का, संकुचित प्रथाओं से होनेवाली हानियों का, उस समय के ग्राम-जीवन का, धार्मिक व्रतों, उत्सवों और त्योहारों का, उस जमाने के बच्चों के जीवन का और उस समय की शिक्षा की स्थिति का हू-बहू चित्र देखने को मिलता है। उस चित्र में सादगी और खानदानियत के साथ विनोद और खेद उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का मिश्रण हुआ है। साथ ही, आजकल हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भेद-भाव की जो खाई बढ़ी हुई नजर आती है उसके अभाव का और दोनों जातियों के बीच शुद्ध स्नेह का जो चित्र इस आत्मकथा में है, वह आंखों को ठंडक पहुंचानेवाला होते हुए भी दुर्भाग्य से आज लुप्त होता जा रहा है।

सन् 1905 में वंग-भंग के जमाने से ही राजेन्द्र बाबू पर देशभक्ति का रंग चढ़ने लगा था। उसी समय से वे अपने जीवन में इस ओर क्रम-क्रम से बराबर आगे ही बढ़ते गये हैं। सन् 1917 में चम्पारन की लड़ाई के समय उन्होंने गांधीजी के कदमों पर चलकर फकीरी अपनायी। उसके बाद की उनकी आत्मकथा हमारे देश के पिछले तीस वर्षों के सार्वजनिक जीवन का इतिहास बन जाती है। जो कोई इस पुस्तक को पढ़ेंगे, वे इससे जीवन को उन्नत बनानेवाली प्रेरणा प्राप्त करेंगे। कोई देश-प्रेमी उसे बिना पढ़े न रहे।

नयी दिल्ली

वल्लभभाई पटेल

विषय सूची

1

मेरे पूर्वज

संयुक्त प्रांत में कोई जगह अमोढ़ा नाम की है। सुनते हैं कि वहां कायस्थों की अच्छी बस्ती है। बहुत दिन बीते, वहां से एक परिवार निकलकर पूरब चला और बलिया में जाकर बसा। एक बड़े जमाने तक बलिया में रहने के बाद उस परिवार की एक शाखा उत्तर की ओर गयी और आजकल के जिला सारन (बिहार) के एक गांव जीरादेई में जाकर रहने लगी। दूसरी शाखा गया में जाकर बस गयी। जीरादेई-शाखा के कुछ लोग वहां से थोड़ी ही दूर पर एक दूसरे गांव में भी जाकर बस गये। जीरादेई वाला परिवार ही मेरे पूर्वजों का परिवार है। शायद जीरादेई में आने वाले मेरे पूर्वज मुझसे सातवीं या आठवीं पीढ़ी ऊपर थे। जो लोग जीरादेई में आये थे, गरीब थे और रोजगार की खोज में ही इधर आ गये थे। चूंकि उस गांव में कोई शिक्षित नहीं था और उन दिनों भी कायस्थ तो शिक्षित हुआ ही करते थे, इसलिए गांव के लोगों ने उनको वहां रख लिया। प्रायः उसी समय से उन लोगों का संबंध हथुआ-राज से भी हो गया, जहां कोई छोटी-सी नौकरी लिखने-पढ़ने की उनमें से किसी को मिल गयी। हथुआ उन दिनों इतना बड़ा राज नहीं था और न उसकी इतनी आमदनी ही थी। उसके रईस का मुख्य स्थान भी हथुआ में पीछे बना, उन दिनों कहीं अन्यत्र ही था।

हथुआ–राज के साथ मेरे पूर्वजों का संबंध कई पीढ़ियों तक चलता रहा। मालूम नहीं कि वे लोग किस पद पर थे, पर जहां तक खबर है, वह कोई ऊंचा पद नहीं था। गांव के घर भी फूस के छप्पर के ही थे। जीरादेई में वे लोग एक दूसरे कायस्थ जमींदार के, जिनकी बड़ी जमींदारी थी, रैयत थे और हम लोग आज तक कभी भी अपने गांव की जमींदारी में हिस्सेदार नहीं हुए, यद्यपि पीछे हमारे पूर्वज और कई गांवों के जमींदार हो गये।

मेरे दादा दो भाई थे। उनका नाम था मिश्री लाल। उनके बड़े भाई थे चौधुर लाल। मिश्री लाल का देहांत बहुत छोटी उम्र में ही हो गया। उनके केवल एक लड़के थे महादेव सहाय जो मेरे पिता थे। चौधुर लाल जी के भी एक पुत्र थे जगदेव सहाय। मिश्री लाल की आकस्मिक मृत्यु कम उम्र में होने के कारण मेरे पिता के साथ चौधुर लाल जी का बड़ा स्नेह-प्रेम था। जगदेव सहाय और महादेव सहाय दोनों को उन्होंने अपने पुत्र के समान ही

पाला-पोसा और तैयार किया। जगदेव सहाय बड़े थे और उनके भी कोई पुत्र नहीं रहा, केवल एक लड़की हुई जो भी जाती रही। महादेव सहाय जी के तीन लड़कियां और दो लड़के हुए। एक लड़की तो बचपन में ही जाती रही। दो की शादी हुई जिनमें बड़ी भगवती देवी थोड़े ही दिनों के बाद विधवा हो गयीं और उस समय से आज तक मेरे ही घर में प्रायः अपनी सारी जिंदगी काट रही हैं। दूसरी बहन भी, जो दोनों भाइयों से बड़ी थी, बिना किसी संतान के जाती रही। मेरे बड़े भाई बाबू महेन्द्र प्रसाद हुए और सबसे छोटा लड़का घर में मैं हुआ।

हथुआ-राज में चौधुर लाल जी ने बड़ी ख्याति पायी। वहां वह दीवान के पद पर पहुंच गये और प्रायः 25-30 वर्षों तक दीवान रहे। उन दिनों महाराज छत्रधारी साही गद्दी पर थे। उन्होंने अपने लड़के को राज्य न देकर पोते राजेन्द्रप्रताप साही को वसीयतनामा के जरिये राज्य दे दिया। उनका चौधुर लाल पर बड़ा विश्वास था और छोटे पोते की रक्षा का भार मरते समय उन पर डाल दिया। महाराज की मृत्यु के बाद छोटे कुमार पर बड़ी आफतें आयीं। कुटुम्ब के लोगों ने राज पर दावा करके मुकदमा कर दिया जो प्रीवी कौंसिल तक गया। प्रीवी कौंसिल में फैसला हुआ कि हथुआ-राज अविभाज्य (Impartible) है और अविभाज्य राज को वसीयत करने का अधिकार राजा को है, इसलिए राजेन्द्रप्रताप साही राज्याधिकारी हैं। इस मुकदमे के दौरान में राजेन्द्रप्रताप साही की जिंदगी पर भी आफत थी और उनकी रक्षा करना कोई सहज काम न था। हमने सुना है कि उनकी रक्षा के लिए चौधुर लाल उनकी चारपाई के पास ही स्वयं सोया करते थे और जो कुछ उनको खाने को दिया जाता था वह पहले जहर के भय से स्वयं खा लिया करते थे।

चौधुर लाल जी ने राजा की केवल रक्षा ही नहीं की; उन्होंने राज के इंतजाम में भी काफी तरक्की की। गैर-आबाद जमीन को आबाद कराकर और दूसरे प्रकार की भी उन्नति करके उन्होंने राज की आमदनी प्रायः तिगुनी कर दी। महाराज राजेन्द्रप्रताप साही इन सब कारणों से उनको बहुत मानते थे और उनकी बड़ी प्रतिष्ठा किया करते थे। सुना है कि उनके सामने महाराज कभी तम्बाकू नहीं पीते थे और जब सुनते कि वह आ रहे हैं तब हुक्का हटवा दिया करते थे।

उन दिनों कर्मचारियों का मुशाहरा बहुत कम हुआ करता था। चौधुर लाल को शायद दीवान होने के जमाने में भी 50 या 100 रुपया मासिक मिला करता था। साथ ही जितने लोग वहां डेरे पर रहते थे सबके लिए सीधा—चावल, दाल, घी इत्यादि—राजभंडार से रोजाना आया करता था। राज्य के कई गांव भी, जिनमें जीरात की जमीन थी, उनको ठेके में राजा ने दे रखा था। जीरात की जमीन में धान की खेती होती थी और उससे काफी आमदनी हो जाया करती थी।

चौधुर लाल जी बड़े मुंतजिम आदमी थे। राज की आमदनी तो उन्होंने दुगनी-तिगुनी बढ़ा दी, तो भी वहां की रियाया उनसे प्रेम रखती और उन पर विश्वास करती जिसका सबूत

मुझे अपने अनुभव में भी मिला। जब मैं असहयोग के दिनों में उस इलाके में दौरा करने लगा, मैं जहां जाता वहां के बूढ़े लोग मेरा स्वागत विशेष करके इस कारण से भी करते कि मैं चौधुरलाल जी का पोता हूं। चौधुर लाल जी ने अपने कुटुम्ब की भी उन्नति की। उन्होंने 7-8 हजार वार्षिक आमदनी की जमींदारी अपनी भी खरीदी। यह जमींदारी विशेष करके चावल बेच करके ही ली गयी थी। कई गांव तो हमारी दोनों दादियों के नाम से ही लिये गये, क्योंकि चावल तो घर में वे ही तैयार करातीं, बेचतीं और रुपये देतीं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, चौधुर लाल जी ने अपने पुत्र जगदेव सहाय और भतीजे महादेव सहाय की शिक्षा का प्रबंध किया। अभी अंगरेजी की चाल नहीं चली थी। फारसी की ही शिक्षा दोनों को मिली। शायद एक बार छपरा भेजकर अंगरेजी पढ़ाने का विचार भी हुआ और मेरे चचा ने दो-एक किताबें पढ़ीं भी। मगर महाराज ने इसमें प्रोत्साहन नहीं दिया और दोनों भाइयों को फारसी ही पढ़कर सब्र करना पड़ा। फारसी भी दोनों भाई उसी मौलवी साहब से पढ़ते रहे, जो महाराज के पुत्र को—जो पीछे महाराज कृष्णप्रताप साही हुए—पढ़ाते थे।

महाराज राजेन्द्रप्रताप साही की मृत्यु के बाद राज का इंतजाम कुछ दिनों के लिए कोर्ट आफ वाड्स के हाथ में गया। चौधुर लाल जी अंगरेजी तो जानते न थे, इसलिए दीवान तो रह नहीं सकते थे, और उस पद पर पचीस-तीस बरसों तक रहकर उससे कोई छोटा पद स्वीकार करना उन्होंने अपनी शान के खिलाफ समझा। तब से हम लोगों का कई पीढ़ियों का संबंध हथुआ-राज से छूट गया। यह मेरे जन्म के पहले की बात है।

हथुआ से चले आने के बाद चौधुर लाल जी जीरादेई में रहने लगे और कुछ दिनों के बाद गोरखपुर में तमुकही-राज के भी दीवान थोड़े दिनों के लिए हुए। पर उस समय उनकी अवस्था कुछ अधिक हो गयी थी। वहां का जलवायु अनुकूल न होने के कारण वह शीघ्र ही वहां से जवाब देकर चले आये। उनके अंतिम दिन जीरादेई में ही बीते। मुझे तमुकही की बातें कुछ-कुछ याद आती हैं। मैं उन दिनों बहुत छोटा था।

2

मेरे भाई-बहन

ऊपर कह आया हूं कि मेरे पिता की पांच संतानों में सबसे बड़ी भगवती देवी हैं। उनका विवाह मेरे जन्म के पहले ही एक बड़े धनी कायस्थ-परिवार में हुआ। बचपन में, जब मैं शायद चार-पांच बरस का था, वहां गया था और उन लोगों की शान-शौकत देखी थी। मेरे बहनोई छः भाई थे। सबके लिए अलग-अलग नौकर और सिपाही थे। कई घोड़े-हाथी पाले जाते थे और कई किते की बड़ी हवेली थी। न मालूम किस तरह से चार-पांच वर्षों के भीतर देखते-देखते ही सारी जमींदारी, जिसकी आमदनी सुनते हैं कि 70-75 हजार सालाना की थी, बिक गयी। मेरे बहनोई की मृत्यु भी उन्हीं दिनों मेरे ही घर पर, जीरादेई में ही, हो गयी। मैं छोटा था, फिर भी उस समय का कोलाहल और दादा, चचा, पिताजी और घर की स्त्रियोंकी करुण दशा का चित्र अभी तक नहीं भूलता। मैंने मृत्यु का दृश्य पहले-पहल वही अपने होश में देखा।

उनसे छोटी बहन की शादी उसके बाद हुई। भाई साहब की भी शादी हुई। इन दोनों शादियों को भी मैंने देखा। भाई की शादी में मैं बरात में गया था। उस समय शायद चार बरस का था और वहां जाकर मां के लिए रोने भी लगा था। उस समय तक शायद ही मां से अलग होकर एक-दो दिनों के लिए कहीं गया होऊं। भाई साहब मुझसे आठ बरस बड़े थे। इसलिए मुझे बहुत बातों की सुविधा हुई। जो उनकी शिक्षा का क्रम हुआ वही मेरे लिए भी स्वभावतः हो गया और मैं उनके पीछे-पीछे बिना किसी विशेष कठिनाई के चलता गया।

घर में चौधुर लाल जी रहते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं और मेरे चचा की लड़की, जो मुझसे पांच-छः महीने छोटी थी, उनके बदन पर लोटपोट करके खेला करते और वह बहुत प्यार से हम दोनों को खेलाया करते। मेरे चचा साहब जमींदारी का इंतजाम करते और अक्सर छपरे आया-जाया करते जहां जमींदारी के मुकदमे, जो हमेशा कुछ-न-कुछ लगे ही रहते हैं, हुआ करते थे। मेरे भाई साहब छपरे अंगरेजी पढ़ने के लिए भेज दिये गये थे। जब-तब उनको देखने के लिए भी वही जाया करते। जब कभी उनके छपरे से आने की खबर

मिलती, हम बच्चे घर से कुछ दूर जाकर ही उनका स्वागत करते। स्वागत का अर्थ था उनसे मिठाई, फल इत्यादि की मांग पेश करना और जो कुछ मिल जाये उसे ले उनसे पहले ही दौड़कर घर पहुंच मां को दिखलाना।

मेरे पिताजी घर पर ही रहा करते थे। जमींदारी के इंतजाम से उनका कम ही सरोकार रहता। उनको बाग लगाने का शौक था। वह बहुत समय बाग-बगीचे लगाने में ही बिताते। आज भी उनके लगाये आम के दो बड़े-बड़े बगीचे हम लोगों के कब्जे में हैं जिनमें अच्छे-अच्छे आम पैदा होते हैं। वह फारसी के अच्छे विद्वान थे। कुछ-कुछ संस्कृत भी जानते थे। आयुर्वेद और तिब में उनकी दिलचस्पी थी। इन विषयों की पुस्तकों का संग्रह भी कर रखा था और उसका अध्ययन भी किया करते थे। वह इस तरह बिना बाजाब्ता शिक्षा पाये चतुर वैद्य या हकीम हो गये थे। उनके पास तरह-तरह के रोगी आया करते। जो दवा खरीद सकते उनको नुस्खे लिखकर देते। गरीबों को अपने पास से दवा भी देते। उनके साथ एक नौकर हमेशा दवा तैयार करने के लिए ही रहता। कभी किसी की नाड़ी नहीं देखते थे और न किसी के घर जाकर रोगी को ही देखते थे, हालत सुनकर ही दवा देते और बहुतेरों को आराम भी हो जाता। इससे यश फैला था। वह शरीर से भी अच्छे पुष्ट थे। बचपन से कुछ कसरत भी अखाड़े में उन्होंने की थी। मुझे याद है कि जब मैं स्कूल या कालेज में पढ़ता था और छुट्टियों में घर आया करता था, तो वह स्वयं मुगदर भांजना सिखाते थे और साथ-साथ मुगदर भांजकर तरह-तरह के खेल दिखलाते थे। घोड़े की सवारी अच्छी करते थे और हमेशा एक अच्छा घोड़ा रखा करते थे। बचपन में मुझे और भाई साहब को घोड़े की सवारी करना भी उन्होंने सिखाया था। छोटी ही उम्र में हम दोनों भाई दो घोड़ों पर सवार होकर, कभी-कभी छुट्टियों में जीरादेई आने पर घूमने-फिरने जाया करते।

लड़कपन में हम लोग देहाती खेल भी खेला करते। खास करके वहां का प्रचलित खेल कबड्डी और चिक्का तो हम खूब खेलते। प्रायः कोई दिन बिना खेले नहीं बीतता होगा। यह क्रम उस समय तक जारी रहा जब तक कालेज की पढ़ाई खतम नहीं हुई। जब कभी छुट्टियों में हम जीरादेई आते थे, खेल जरूर खेलते जिसमें भाई भी शरीक होते। एक खेल और गांवों में प्रचलित था। उसे 'दोल्हापाती' कहते हैं। उसमें गाछों पर चढ़ना होता है। मैं गाछों पर चढ़ने से डरता था, इसलिए उस खेल में कभी शरीक नहीं हुआ। इसी प्रकार, गांव में बहती नदी के अभाव में, तैरना भी नहीं सीख सका।

माता और दादी मुझे बहुत प्यार करतीं। बचपन से ही मेरी आदत थी कि मैं संध्या को बहुत जल्द सो जाता था और उधर कुछ रात रहते ही, बहुत सवेरे ही, जाग जाता था। घर पक्का था, पर बना था पुराने तरीके पर। बीच में आंगन और चारों ओर ओसारे और कमरे। कमरों में एक दरवाजा और छप्पर के नजदीक हर कमरे में एक या दो छोटे-छोटे रोशनदान। जाड़ों में खास करके, लम्बी रात होने के कारण, रात रहते ही नींद टूट जाती और उसी समय

से मां को भी मैं सोने नहीं देता। रजाई के भीतर-ही-भीतर उनको जगाता। वह जागकर पराती (प्रभाती) भजन सुनातीं। कभी-कभी रामायण इत्यादि की कथाएं भी सुनातीं। उन भजनों और कथाओं का असर मेरे दिल पर बहुत पड़ता। इसी प्रकार जब तक रोशनदान में बाहर की रोशनी नजर नहीं आती, पड़ा रहता और मां से भजन गवाता रहता या कथा कहलाता रहता। जब रोशनी खूब आ जाती तब घर से बाहर निकलता। संध्या को इतना पहले सो जाता कि शायद ही कभी रात का खाना जागते-जागते खाया हो। उन दिनों रात का खाना भी बहुत देर के बाद तैयार होता। बच्चे क्या, बूढ़े लोग भी एक नींद सोकर उठने के बाद ही खाना खाते। शायद ही किसी रात को 12-1 बजे के पहले खाना-पीना होता हो। पहले घर के पुरुष खाते, तब स्त्रियां खातीं, और तब नौकर खाते। गरमी के मौसम में तो नौकरों के खाते-खाते कभी-कभी सवेरा तक हो जाता। इसलिए अगर मैं शाम को बिना खाये सो जाता तो मैं अपना कोई कसूर मानने को तैयार नहीं हूं।

घर में रसोई बनाने के लिए एक कायस्थ थे। इसलिए रसोई का भार मेरी चाची या मां पर नहीं था। तो भी उन्हें तरकारी इत्यादि तो कुछ बनाना ही पड़ता। संध्या होते ही मैं मां को पकड़ लेता और साथ सोने के लिए रोने लगता। अगर वह किसी काम में लगी रहतीं तो उसे छोड़ मेरे साथ उनको सोना पड़ता। पर मैं समझता हूं कि यह क्रिया ज्यादा देर तक नहीं होती; क्योंकि मैं बहुत जल्द सो जाता और जब एक बार सो गया तो वह फिर उठकर चली जातीं और काम करतीं। मुझे स्मरण है कि हमेशा रात को मुझे जगाकर खिलाया जाता। आंखें खुलतीं नहीं, पर बदन हिलाकर मां मैना-सुग्गा के नाम और किस्से कहकर मुंह तो खुलवा देतीं और उसमें भोजन दे देतीं। एक दाई थी जिसको हम काकी कहा करते थे। वह इस प्रकार खिलाने में बड़ी पटु थी। जब किसी दूसरे की हजार कोशिश पर भी आंख और मुंह बंद ही रहते, तो भी वह किसी-न-किसी उपाय से मुंह तो जरूर खुलवा देती और भात खिला देती। सांझ के बाद ही सोने और भोर होते ही जागने की आदत मुझ में बराबर बनी रही। यहां तक कि जब मैं छपरे और पटने पढ़ने के लिए गया तब भी रात होते ही बहुत जल्द सो जाता और पांचवें क्लास में पहुंचने के समय तक शायद ही कभी रात में अपने हाथों खाया हो। एक ब्राह्मण रसोईदार थे, जो रात को मुझे गोद में बिठाकर उसी पुरानी रीति से, आंखें बंद रहने पर भी, खुले मुंह में भात के गोले रख दिया करते, जिनको मैं निगल लिया करता था।

जब मैं वकालत करता था तब तक सांझ को ही सो जाने की आदत जारी रही। संध्या समय मवक्किलों का कागज लेकर देखने बैठता और उनके सामने ही, साढ़े सात-आठ बजे ही, झुकने लगता। तब काम बंद कर देता। 1914-15 में, जब मैं एम. एल. परीक्षा के लिए तैयारी कर रहा था, एक घटना घटी। उन दिनों कलकत्ता हाइकोर्ट में मैं प्रैक्टिस करता था। लॉ कालेज में प्रोफेसरी भी मिल गयी थी। कुछ मुकदमे भी हाथ में रहा करते थे। इसलिए

सवेरे का समय मुकदमों की बहस की तैयारी में और लॉ कालेज की पढ़ाई की तैयारी में लग जाता। दिन का समय कचहरी में कट जाता। केवल रात का ही समय परीक्षा की तैयारी के लिए मिलता। इसलिए संध्या को ही पुस्तकें पढ़ता और जब पुस्तकें हाथ में आतीं, साथ-साथ नींद भी आ ही जाती। एक दिन सोचा कि इस प्रकार से तो परीक्षा की तैयारी में सफलता नहीं मिलेगी, किसी तरह संध्या की नींद को रोकना चाहिए और कम-से-कम 9 बजे रात तक तो पढ़ना ही चाहिए। जब नींद आने लगी तो किताब हाथ में लेकर खड़ा हो गया। उस पर भी जब नींद का हमला कम न हुआ, तो कमरे के अंदर टहल-टहलकर पढ़ने लगा। मालूम नहीं, कितनी देर तक यह क्रम चला। एकबारगी हाथ से किताब नीचे गिरी और मैं भी साथ-ही-साथ धड़ाम से कमरे के फर्श पर चित हो रहा। न मालूम, सिर क्यों नहीं फूटा! कुछ तो चोट जरूर आयी। तब से उस प्रयोग को खतरनाक समझकर छोड़ दिया और जो कुछ समय बैठे-बैठे निकाल सकता उतना ही पढ़कर सब्र करता।

3

मौलवी साहब

पांचवें या छठे बरस में मेरा अक्षरारम्भ कराया गया था। उस समय मेरे भाई अंगरेजी पढ़ने के लिए छपरे भेजे जा चुके थे। उस समय की प्रचलित प्रथा के अनुसार अक्षरारम्भ मौलवी साहब ने कराया था। जिस दिन अक्षरारम्भ हुआ, मौलवी साहब आये, बिसमिल्लाह के साथ अक्षरारम्भ हुआ, शीरनी बांटी गयी और उनको रुपये भी दिये गये। हम तीन विद्यार्थी उनके सपुर्द किये गये—एक मैं और दूसरे दो अपने कुटुम्ब के ही चचेरे भाई, जिनमें एक यमुना प्रसाद जी सबसे बड़े और मुझसे दो बरस बड़े हैं, तीसरे अब नहीं रहे; वह भी मुझसे बड़े थे। यमुना भाई ही हम सबके 'लीडर' थे और तमाम खेल और लड़कपन की चुल्लेपनी में आगे रहा करते थे। उनके एक चचा, जो मेरे भी चचा होते थे, बड़े मजाक-पसंद थे। वह मेरे पिताजी से छोटे होते थे, पर पिताजी के कई गुण उन्होंने भी सीखे थे। वह भी घोड़े की अच्छी सवारी करते, दवा करते और बांटते और बंदूक चलाना, गुलेल चलाना खूब जानते थे, फारसी भी पढ़े थे और शतरंज भी खूब खेलते थे। पर इन सब चीजों में वह मेरे पिताजी का लोहा मान लेते थे। बड़े ही हंसमुख और पुरमजाक आदमी थे।

मौलवी साहब, जो हम लोगों को पढ़ाने आये, विचित्र आदमी थे। उनका बहुत बातों पर दावा था। बलदेव चचा के मजाक के लिए वह एक बहुत ही उपयोगी साधन बन गये। चचा तरह-तरह की बातें मौलवी साहब को सुनाते और उनको उत्साह देकर उनसे कहला लेते कि वह भी, चाहे वह कोई बात या काम क्यों न हो, जानते थे या कर सकते थे। इस प्रकार मौलवी साहब का दावा था कि वह शतरंज खेलना जानते थे। बलदेव चचा शतरंज खेलाते, पर बावजूद दावा के मौलवी साहब कभी जीतते नहीं। हम छोटे-छोटे बच्चे इन सारे मजाकों को भय और कौतूहल से देखते। हंसने का मौका आ जाये तो भी हंसना मुश्किल हो जाता। मजाक की बात दादाजी—चौधुर लाल जी—तक पहुंच गयी। वह भी कभी-कभी उसमें शरीक हो जाते।

एक दिन बलदेव चचा ने मौलवी साहब से कहा कि बाग में हनुमान आ गये हैं, उनको किसी तरह भगाना चाहिए, वे गुलेल से मारकर भगाये जा सकते हैं। इतना कहना था कि मौलवी

साहब ने दावा पेश कर दिया कि वह भी गुलेल चलाना खूब जानते हैं। बलदेव चचा तो खूब समझ गये थे कि वह कुछ नहीं जानते, पर मजाक उनको मंजूर था। वह उनको साथ लेकर बगीचे में गये। गुलेल और गोली उनके सपुर्द कर कहा कि खूब खींचकर एक बंदर को मारिये। मौलवी साहब ने खूब खींचकर जो गोली छोड़ी और देखना चाहा कि बंदर को कैसी चोट लगती है कि इतने में उनके बायें हाथ के अंगूठे से तरतर खून टपकने लगा और चोट के दर्द से सहमकर बैठ गये। गोली बंदर को लगने के बदले मौलवी साहब के अपने अंगूठे पर ही जा बैठी थी।

एक दूसरे दिन का जिक्र है कि शाम को सब लोग, जिनमें हमारे दादा साहब भी शरीक थे, टहलने निकले। मौलवी साहब और बलदेव चचा भी थे। तरह-तरह की बातें हो रही थीं। इतने में एक सांड देखने में आया। लोगों ने कहा कि सांड लोगों को मारता है। बलदेव चचा के इशारे पर मौलवी साहब इससे कब डरने वाले थे, बेखौफ आगे बढ़े कि इतने में सांड ने उनको दे पटका। इस प्रकार के मजाक बराबर ही हुआ करते।

एक दिन बलदेव चचा ने मौलवी साहब को बंदूक चलाने की तरगीब दी। मौलवी साहब किसी चीज को न जानना कबूल करना अपनी शान के खिलाफ समझते थे और उन्होंने साफ कह दिया कि वह अच्छा निशाना लगा सकते हैं। उन्हें साथ लेकर बलदेव चचा बंदूक के साथ गये। मौलवी साहब के दो लड़के थे जो हम लोगों के साथ ही पढ़ा करते थे। हम सब और वह दोनों लड़के भी साथ हो लिये। कुछ दूर पर एक ऊंचे दरख्त पर एक गीध बैठा नजर आया। बलदेव चचा ने उसी पर निशाना लगाने को कहा। वह काफी ऊंचाई पर था और प्रायः खड़ी बंदूक करके ही निशाना लग सकता था। मौलवी साहब को जो बंदूक दी गयी थी वह पुराने किस्म की थी, जिसमें बारूद ऊपर से भरी जाती थी और वजनी भी थी। मौलवी साहब ने शायद कभी पहले बंदूक नहीं चलायी थी। उन्होंने प्रायः खड़ी बंदूक अपने सीने पर रखकर निशाना लगाया। उधर बंदूक का घोड़ा चटका, आवाज हुई और इधर गीध के बदले मौलवी साहब जमीन पर चित गिरे। बलदेव चचा ने झट उनको उठाया और लड़कों को पानी लाने के लिए भेजा। मौलवी साहब किसी तरह घर लाये गये।

इस प्रकार के मजाकों के बीच हम लोग फारसी पढ़ते रहे। कुछ छःआठ महीनों के बाद मौलवी साहब चले गये। हम लोग शायद अक्षर सीख चुके थे और करीमा पढ़ने लगे थे। फिर दूसरे मौलवी बुलाये गये जो बहुत गम्भीर थे और अच्छा पढ़ाते भी थे। वही दो बरसों तक रहे और करीमा, मामकीमा, खालकबारी, खुशहालसीमिया, दस्तूरुलसीमिया, गुलिस्तां, बोस्तां तक हम लोगों को पढ़ा सके। उसी जमाने में हम लोगों ने कैथी लिखना और गिनती करना सीख लिया, पर यह याद नहीं है कि यह कब और कैसे सीखा। हफ्ते में साढ़े पांच दिन फारसी पढ़ते थे। बृहस्पतिवार के दोपहर के बाद और शुक्रवार के दोपहर तक फारसी से छुट्टी रहती थी और इसी में कैथी अथवा गिनती वगैरह सीखते। इसके अलावा कुछ खेलने-कूदने के लिए भी अधिक समय दिया जाता।

पढ़ने का तरीका था कि खूब सवेरे हम लोग उठकर मकतब में चले आते। मकतब मेरे पक्के मकान से अलग एक दूसरे मकान के ओसारे में था। एक कोठरी थी जिसमें मौलवी साहब रहा करते और सामने ओसारे में तख्तपोश पर बैठकर हम लोग पढ़ा करते। मौलवी साहब कभी अपनी चारपाई पर और कभी तख्तपोश पर बैठकर पढ़ाया करते। सवेरे आकर पहले का पढ़ा हुआ सबक एक बार आमोख्ता करना पड़ता और जो जितना जल्द आमोख्ता कर लेता उसको उतना ही जल्द नया सबक पढ़ा दिया जाता। मैं अक्सर अपने दोनों साथियों से पहले मकतब में पहुंच जाता और आमोख्ता भी पहले खतम करके सबक भी पहले पढ़ लिया करता। यह करते सूर्योदय होकर कुछ दिन भी निकल आता। तब नौकर आता और साथ ले जाकर मुंह-हाथ धुला देता और घर मां के पास कुछ खिलाने के लिए पहुंचा देता। इसके लिए प्रायः आध-पौन घंटे की छुट्टी मिलती। नाश्ता करके लौटने पर सबक याद करना पड़ता और सबक याद करके सुना देने के बाद मौलवी साहब हुकुम देते, किताब बंद करो। किताब बंद करके तख्ती निकालनी पड़ती। इन दोनों क्रियाओं के बीच कुछ समय खेलने-कूदने को भी मिल जाता या दोबारा घर जाकर कुछ खा लेने का भी मौका मिल जाता। तख्ती पर लिखना होता और जब तख्ती भर जाती तो उसे धोना पड़ता। इस क्रिया में भी कुछ समय आपस में हंसने-खेलने का मिलता। दोपहर को नहाने-खाने के लिए एक-डेढ़ घंटे की छुट्टी मिलती और खाकर फिर मकतब में ही उसी तख्तपोश पर सोना पड़ता। मौलवी साहब चारपाई पर सोते। हम लोगों को अक्सर नींद नहीं आती और तख्तपोश पर लेटे-लेटे शतरंज खेलते और जब मौलवी साहब के जागने का वक्त होता उसके पहले ही गोटियों को उठाकर रख देते। उसी जमाने में कभी शतरंज खेलना भी आ गया, पर इसका पता नहीं कि कब, कैसे और किससे सीखा। फिर सेपहर को दूसरा सबक मिलता और उसको कुछ हद तक याद करके सुनाने के बाद घंटा-डेढ़ घंटा दिन रहते खेलने के लिए छुट्टी मिलती। इसी समय गेंद, चिक्का इत्यादि खेल खेले जाते। संध्या को फिर चिराग-बत्ती जलते किताब खोलकर पढ़ने के लिए बैठना पड़ता। दिन के दोनों सबक याद करके फिर सुनाने पड़ते और तब हुक्म होता, किताब बंद करो। किताब बंद करके, कायदे के मुताबिक मौलवी साहब को आदाब करके, घर जाकर सो जाते।

संध्या को जल्द नींद आती। इससे हमेशा डर रहता कि कहीं झुकते देखकर मौलवी साहब मार न बैठें। जल्द छुट्टी के लिए दो उपाय थे। खेल-कूद में जमुना भाई 'लीडर' थे और जल्द छुट्टी पाने के उपाय भी वही करते। पढ़ने के लिए तेल देकर दिया जलाया जाता था। जमुना भाई दिन को ही कपड़े में राख या धूल बांधकर छोटी-सी पोटली बनाकर छिपाकर रख लेते। जिस दिन दिये में तेल अधिक देखने में आता, चिराग की बत्ती उकसाने के बहाने, छिपाकर पोटली दिया में रख देते। वह देखते-देखते तेल सोख लेती और दिया जल्द बुझने पर आ जाता। मौलवी साहब दाई पर रंज होते कि तेल क्यों कम लायी, पर

मजबूर होकर जल्द ही किताब बंद करने का हुक्म दे देते। किसी-किसी दिन जमुना भाई पेशाब करने के लिए छुट्टी मांगकर बाहर जाते और पेशाब करने के बदले दौड़कर कभी मेरी मां के पास, कभी-कभी अपनी मां के पास और कभी गंगा भाई की मां के पास जाकर कह आते कि अब नींद लग रही है, जल्द दाई को हमें बुलाने के लिए भेजो, नहीं तो पिट जायेंगे। उनके पेशाब से लौटने के थोड़े ही बाद दाई पहुंच जाती और मौलवी साहब से कहती कि अब छुट्टी दे दीजिए। मौलवी साहब छुट्टी दे देते।

एक दिन, जब इस तरह जमुना भाई दौड़े जा रहे थे, गांव के एक सज्जन ने, जो रिश्ते में हम लोगों के चचा होते थे, उन्हें देख लिया और जाकर मौलवी साहब से कह दिया कि जमुना कहीं दौड़े जा रहे थे। तहकीकात हुई और जमुना भाई की कैफियत हुई कि वह पेशाब करने गये और अंधेरे में डर गये, इसलिए भागे जा रहे थे। इस तरह से बचे।

जो कुछ वहां फारसी का ज्ञान हुआ, उन्हीं मौलवी साहब ने दिया। हम सब भी उनको प्यार करने लगे थे। जब घर छोड़कर छपरे अंगरेजी पढ़ने के लिए जाना पड़ा, तो मौलवी साहब को और हम लोगों को भी बड़ा दुख हुआ।

4

गांव का जीवन

उन दिनों गांव का जीवन आज से भी कहीं अधिक सादा था। जीरादेई और जमापुर दो गांव हैं, पर दोनों की बस्ती इस प्रकार मिलीजुली हैं कि यह कहना मुश्किल है कि कहां जीरादेई खतम है और कहां से जमापुर शुरू है। इसलिए आबादी के लिहाज से दोनों गांवों को साथ भी लिया जाये तो कोई हर्ज नहीं। दोनों गांवों में प्रायः सभी जातियों के लोग बसते हैं। आबादी दो हजार से अधिक होगी। उन दिनों भी गांव में मिलने वाली प्रायः सभी चीजें वहां मिलती थीं। अब तो कुछ नये प्रकार की दुकानें भी हो गयी हैं, जिनमें पान-बीड़ी भी बिकती है। उन दिनों ऐसी चीजें नहीं मिलती थीं, यद्यपि काला तम्बाकू और खैनी बिका करती थी। कपड़े की दूकानें अच्छी थीं, जहां से दूसरे गांवों के लोग और कुछ बाहर के व्यापारी भी कपड़े ले जाया करते थे। चावल, दाल, आटा, मसाला, नमक, तेल इत्यादि वहां सब कुछ बिकता था और छोटी-मोटी दूकान दवा की भी थी, जिसमें हर्र-बहेरा-पीपर इत्यादि की तरह की चीजें मिल सकती थीं। जहां तक मुझे याद है, केवल मिठाई की कोई दूकान नहीं थी। गांव में कोयरी लोगों की काफी बस्ती है, इसलिए साग-सब्जी भी काफी मिलती थी। अहीर कम थे, पर आसपास के गांवों में उनकी काफी आबादी है, इसलिए दही-दूध भी मिलते थे। चर्खे काफी चलते थे। गांवों में जुलाहों की भी आबादी थी, जो सूत लेकर बुन दिया करते थे। चुड़िहार चूड़ियां बना लेते। बिसाती छोटी-मोटी चीजें, जैसे टिकुली इत्यादि, बाहर से लाकर बेचते और कुछ खुद भी बनाते। मुसलमानों में चुड़िहार, बिसाती, थवई (राज), दर्जी और जुलाहे ही थे। कोई शेख-सैयद नहीं रहता था। हिन्दुओं में ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, कोयरी, कुरमी, कमकर, तुरहा, गोंड, डोम, चमार, दुसाध इत्यादि सभी जाति के लोग बसते थे। मेरा ख्याल है कि सबसे अधिक बस्ती राजपूतों की ही है। उनमें कुछ तो जमींदार वर्ग के हैं, जो पुराने खानदानी समझे जाते हैं और कुछ मामूली किसान वर्ग के हैं। कायस्थ जीरादेई में ही पांच घर थे, जिनमें तीन तो हमारे सगे थे और दो संबंध के कारण बाहर से आकर बस गये थे।

सब कुछ प्रायः गांव में ही मिल जाता था। इसलिए गांव के बाहर जाने का लोगों को बहुत कम मौका आता था। गांव में हफ्ते में दो बार बाजार भी लगता था, जहां कुछ आसपास के गांव के दूकानदार भी अपना-अपना माल-सौदा सिर पर अथवा बैल, घोड़ा या बैलगाड़ी पर लादकर लाते थे। बाजार में मिठाई की दूकान भी आ जाती थी और जो चाहते उनको मछली-मांस भी खरीदने को मिल जाते। जिनकी जरूरतें इस प्रकार पूरी नहीं होतीं, वे 'सीवान' जाते। वहीं थाना और मजिस्ट्रेट हैं, कचहरियां हैं और दूकानें भी हैं। वह एक कस्बा है, जो देहात के लोगों के लिए उन दिनों बहुत बड़ी जगह का रुतबा रखता था। मुझे याद है कि गांव में बाहर से सगे-संबंधियों के सिवा बहुत कम लोग आया करते थे। मौलवी साहब के यहां दो-चार महीने में एक बार एक आदमी फारसी की छोटी-मोटी किताबों की एक छोटी गठरी और एक-दो बोतलों में सियाही (आजकल की ब्लूब्लैक रोशनाई नहीं) लिये आ जाता था। जब वह आता तो हम बच्चों के कौतूहल का ठिकाना न रहता। कभी-कभी जाड़ों में कोई नारंगी-नींबू की टोकरी लिये बेचने आ जाता तो हम बच्चे इतना खुश होते कि मानो कुछ नायाब मिल गया। एक दिन ऐसा ही एक आदमी आया और मैं दौड़कर मां से कहने गया। वहां से दौड़कर जो बाहर आ रहा था कि पैर में जोर से किसी चीज की ठोकर लगी, गिर गया। ओठ में चोट आयी और खून बहने लगा। बहुत दिनों तक उसका चिह्न था। एक बार और किसी चीज के लिए दौड़ता हुआ गिर गया था। उसका निशान तो आज तक दाहिनी आंख के नीचे गाल पर मौजूद है। गांव में फल—आम के दिनों में आम और मामूली तरह से कभी-कभी बाग से केले—मिल जाते थे। चचा साहब, जिनको हम लोग नूनू कहा करते थे, छपरे से कभी-कभी अंगूर लाया करते थे। अंगूर आज की तरह खुले आम गुच्छों में नहीं बिका करते थे, काठ की छोटी पेटी में रूई के फाहे के बीच में रखकर बिकते थे और दाम भी काफी लगता था। गांव के लोग केवल आम और केले ही मौसम में पाते थे।

गांव में दो छोटे-मोटे मठ हैं, जिनमें एक-एक साधु रहा करते थे। गांव के लोग उनको भोजन देते हैं और वह सुबह-शाम घड़ी-घंटा बजाकर आरती करते हैं। आरती के समय कुछ लोग जुट भी जाते हैं। कभी-कभी हम लोग भी जाया करते थे और बाबाजी तुलसीदल का प्रसाद दिया करते थे। रामनौमी और विशेषकर जन्माष्टमी पर मठ में तैयारी होती थी। हम सब बच्चे कागज और पन्नी के फूल काटकर ठाकुरबारी के दरवाजों और सिंहासन पर साटते थे और उत्सव में शरीक होते थे, व्रत रखते थे और दधिकांदो के दिन खूब दही-हल्दी एक-दूसरे पर डालते थे। प्रायः हर साल कार्तिक में कोई-न-कोई पंडित आ जाते जो एक-डेढ़ महीना रहकर रामायण, भागवत अथवा किसी दूसरे पुराण की कथा सुनाते थे। जिस दिन पूर्णाहुति होती थी उस दिन गांव के सब लोग इकट्ठे होते और कुछ-न-कुछ पूजा चढ़ाते। मेरे घर से अधिक पूजा चढ़ती, क्योंकि हम सबसे बड़े समझे जाते थे। अक्सर कथा तो मेरे ही दरवाजे पर ही हुआ करती थी। उसका सारा खर्च हमको ही देना पड़ता था। जब गांव में

पंचायती कथा होती तब गांव-भर के लोग बारी-बारी से पंडित के भोजन का सामान पहुंचाते, उसमें मेरा घर भी शामिल रहता। हम बच्चे तो शायद ही कथा का कुछ ज्यादा अंश सुन पाते हों; क्योंकि मैं तो संझौत के बाद ही सो जाता। पर जब आरती होती तो लोग जगाते और प्रसादी खिला देते।

मनोरंजन और शिक्षा का एक दूसरा साधन रामलीला थी। वह आसिन में हुआ करती थी। रामलीला करने वाली जमात कहीं से आ जाती और पंद्रह-बीस दिनों तक खूब चहलपहल रहती। लीला कभी जमापुर में होती, कभी जीरादेई में। लीला भी विचित्र होती। उसमें राम-लक्ष्मण इत्यादि जो बनते, कुछ पढ़े-लिखे नहीं होते। एक आदमी तुलसीदास की रामायण हाथ में लेकर कहता 'रामजी कहीं, हे सीता' इत्यादि और रामजी वही दुहराते। इसी प्रकार, जिनको जो कुछ कहना होता उनको बताया जाता और वह पीछे-पीछे उसे दुहराते जाते। लोगों का मनोरंजन इस वार्तालाप में अधिक नहीं होता, क्योंकि भीड़ बड़ी लगती और सब कारबार प्रायः 100-200 गज में फैला रहता। मनोरंजन तो पात्रों की दौड़-धूप और विशेषकर लड़ाई इत्यादि के नाट्य में ही होता। उत्तर में रामजी का गढ़ और दक्खिन में रावण का गढ़ बनता अथवा अयोध्या और जनकपुर बनता। जिस दिन जो कथा पड़ती उसका कुछ-न-कुछ स्वांग तो होता ही। सबसे बड़ी तैयारी राम-विवाह, लंकाकांड के युद्ध और रामजी के अभिषेक—— गद्दी पर बैठने-के दिन होती। विवाह में तो हाथी-घोड़े मंगाये जाते और बरात की पूरी सजावट होती। लंकादहन के लिए छोटे-मोटे मकान भी बना दिये जाते जो सचमुच जला दिये जाते। हनुमान-वानर और निशाचरों के अलग-अलग चेहरे होते जो उनको समय पर पहनने पड़ते और हम बच्चों को वे सचमुच डरावने लगते। वानरों के कपड़े अक्सर लाल होते और निशाचरों के काले। राम-लक्ष्मण-जानकी के विशेष कपड़े होते और उनके सिंगार में प्रायः डेढ़-दो घंटे लग जाते। लीला संध्या समय 4 बजे से 6 बजे तक होती। राम-लक्ष्मण मामूली लोगों की तरह नहीं चलते। उनके कदम बहुत ऊंचे उठते और लड़ाई में पैंतरे देने की तो उनको खास तालीम दी जाती। जिस दिन राजगद्दी होती उसी दिन गांव-जवार के लोग पूजा चढ़ाते, जो नजर के रूप में रामजी के चरणों में चढ़ायी जाती। लीला वालों को भोजन के अलावा नगद जो कुछ मिलना होता उसी दिन मिलता। दूसरे दिन फिर राम-लक्ष्मण-जानकी को शृंगार करके बड़े-बड़े लोगों के घरों में ले जाते, जहां की स्त्रियां परदे के कारण भीड़-भाड़ में लीला देखने नहीं जाया करतीं। वहां उनकी पूजा होती और उन पर रुपये चढ़ाये जाते।

एक चीज, जिसका असर मुझ पर बचपन से ही पड़ा है, रामायण-पाठ है। गांव में अक्षरज्ञान तो थोड़े ही लोगों को था। उन दिनों एक भी प्राइमरी या दूसरे प्रकार का स्कूल उस गांव अथवा कहीं जवार-भर में नहीं था। मौलवी साहब हम लोगों को तीन-चार रुपये मासिक और भोजन पाकर पढ़ाते थे। गांव में एक दूसरे मुसलमान थे, जो जाति के

जुलाहा थे, मगर कैथी लिखना जानते थे। मुड़कट्टी हिसाब भी जानते थे, जिसमें पहाड़ा, ड्योढ़ा इत्यादि, मन-सेर की बिक्री और खेत की पैमाइश का हिसाब शामिल है। उन्होंने एक पाठशाला खोल रखी थी जिसमें गांव के कुछ लड़के पढ़ते थे। अक्षर पहचानना तो बहुत थोड़े लोग जानते, पर प्रायः प्रतिदिन संध्या के समय कुछ लोग कहीं-न-कहीं, मठ में या किसी के दरवाजे पर, जमा हो जाते और एक आदमी रामायण की पुस्तक से चौपाई बोलता और दूसरे सब उसे दुहराते। साथ में झाल और ढोलक भी बजाते थे। वंदना का हिस्सा तो जब रामायण का पाठ आरम्भ होता तो जरूर दुहराया जाता। इस प्रकार अक्षर से अपरिचित रहकर भी गांव में बहुतेरे ऐसे लोग थे जो रामायण की चौपाइयां जानते और दुहरा सकते और विशेष करके वंदना के कुछ दोहों को तो सभी प्रायः बरजबान रखते थे।

त्योहारों में सबसे प्रसिद्ध होली है। उसमें अमीर-गरीब सभी शरीक होते थे। वसंत पंचमी के दिन से ही होली गाना शुरू होता। उसे गांव की भाषा में 'ताल उठना' कहते थे। उस दिन से होली के दिन तक जहां-तहां झाल-ढोलक के साथ कुछ आदमी जमा होते और होली गाते। कभी-कभी ज़ीरादेई और जमापुर के लोगों में मुकाबला हो जाता और एक गीत एक गांव के लोग जैसे खतम करते, दूसरे गांव के लोग दूसरा शुरू करते। कभी-कभी गांव के आसपास के दूसरे गांवों के लोग भी गोल बांधकर आ जाते और इस प्रकार का मीठा प्रतियोग बड़े उत्साह से हुआ करता। मुझे याद है कि एक बार दो गांवों में बाजी-सी लग गयी और रात-भर गाते-गाते सवेरे सूर्योदय के बाद तक लोग गाते ही रह गये, और तब उनको कहकर हटाया गया। इस गाने में जो आदमी ढोलक बजाता है उसे काफी मेहनत पड़ती है और वह पसीने-पसीने हो जाता है। एक गांव में ढोलक बजाने वाला एक ही आदमी था। वह सारी रात बजाता रह गया। उसके हाथों में छाले पड़ गये, पर वह कहां रुकने वाला था, गांव की इज्जत चली जाती! छाले उठे और फूट गये और इस प्रकार रात-भर में कई बार छाले उठे और फूटे, पर उसने गांव की इज्जत नहीं जाने दी। यह बात दूसरे दिन प्रतियोगिता खतम होने पर सवेरे मालूम हुई और सब लोगों ने उसकी हिम्मत की सराहना की।

होली के दिन बहुत गंदा गाली-गलौज हुआ करता। उसमें बूढ़े और जवान और लड़के भी एक साथ शामिल होते। गांव के एक कोने से एक जमात चलती जो प्रायः हर दरवाजे पर खड़ी होकर नाम ले-लेकर गालियां गाती और गंदी मिट्टी, धूल और कीचड़ एक-दूसरे पर डालती गांव के दूसरे सिरे तक चली जाती। यही एक अवसर था जब बड़े-छोटे का लिहाज एकबारगी उठ जाता था। बड़े-छोटे केवल उम्र में ही नहीं, जाति और वर्ग की बड़ाई-छोटाई भी उठ जाती थी। चमार, ब्राह्मण और राजपूत एक-दूसरे को गालियां सुनाते और एक-दूसरे पर कीचड़ फेंकते। जब कोई नया आदमी साफ-सुथरा मिल जाता तो उसकी

जान नहीं बचती,मानो उसे भी कीचड़ लगाकर जाति में मिला लेना सभी अपना फर्ज समझते थे। यह धुरखेल दोपहर तक जारी रहता। उसके बाद सभी स्नान करते और घर-घर में पूजा होती। उस दिन का विशेष भोजन पूरी-मालपुआ है। गरीब लोग भी किसी-न-किसी प्रकार कुछ प्रबंध कर ही लेते। भोजन के बाद सेपहर को गुलाल और अबीर से रंग खेला जाता। सब लोग सफेद कपड़े पहनते। उस पर लाल-पीले रंग डाले जाते, अबीर और अबरख का चूर्ण छिड़का जाता। गरी-छुहारा, पान-कसैली बांटी जाती और खूब होली गायी जाती।

मैंने सुना है कि और जगहों में लोग उस दिन खूब शराब-कबाब का भी व्यवहार किया करते हैं। पर सौभाग्य से मैंने यह अपने गांव में कभी नहीं देखा। राजपूत, ब्राह्मण, भूमिहार तो हमारे यहां शराब पीना पाप मानते हैं। कहीं-कहीं कायस्थ लोग पीते हैं। पर मेरे घर में एक बहुत पुरानी प्रथा चली आ रही है। लोगों का विश्वास है कि हमारे वंश में जो कोई शराब पियेगा वह कोढ़ी हो जायेगा। इसलिए वहां कायस्थों के घरों में भी कभी शराब नहीं आयी। बड़ों को देखकर छोटे भी इससे परहेज करते हैं और यह बात आज तक जारी है।

जन्माष्टमी-रामनौमी का जिक्र कर ही दिया है; दीवाली भी अच्छी मनायी जाती थी। कुछ पहले से ही सब लोग अपने-अपने घरों को साफ करते। दीवारों को लीपते और काठ के खम्भों और दरवाजों में तेल लगाते। उन दिनों किरासिन का तेल नहीं जलाया जाता था—शायद मिलता ही नहीं था। सरसों, तीसी, दाना अथवा रेंडी का तेल ही जलाया जाता। दीवाली में मिट्टी के छोटे-छोटे दिये जलाकर प्रायः अमीर-गरीब सब कुछ-न-कुछ रोशनी जरूर करते। बड़े लोगों के मकान पर बहुत दिये जलाये जाते, केले के खम्भे गाड़े जाते, बांस की मेहराबें बनायी जातीं, रंग-बिरंगी तसवीरें दियों से बनायी जातीं, जो देखने में बहुत सुंदर मालूम पड़तीं। बड़े लोग तो ये नक्शे बनाते और हम छोटे उनके बताये हुए स्थानों पर दिये रखते, तेल ढालते, बत्ती जलाते। बत्ती जल जाने के पहले लक्ष्मीपूजा होती। लक्ष्मीजी तथा तुलसी के पास बत्ती जलाने के बाद ही और सब जगहों में दिये जलाये जाते। दिये जल जाने के बाद कौड़ी खेलने की चाल थी। हम लोग तो नाम-मात्र के लिए कुछ कर लेते; पर मैंने देखा है कि कुछ लोग पैसे हारते-जीतते भी थे। दीवाली के दिन विशेष दीप की तैयारी होती, पर यों तो कार्तिक-भर कुछ लोग तुलसी-चौतरे पर और आकाश में कंदील लटकाकर दिये जलाया करते।

दशहरा तो खास करके जमींदारों का त्योहार माना जाता था। पर नवरात्र में कभी-कभी कालीजी की पूजा हुआ करती थी। उसके लिए मूर्ति लायी जाती और बड़े धूमधाम से पूजा होती। मैंने अपने गांव में तो काली-पूजा नहीं देखी, पर जवार में काली-पूजा हुई, इसकी शोहरत सुनने पर हम बच्चे वहां दर्शन के लिए भेजे गये थे। वहां जाकर हमने काली का, जो सचमुच काली थी और हाथ में लाल खप्पर और खड्ग लिये हुई थी, दर्शन किया था। रामलीला में राजगद्दी भी प्रायः दशहरे के दिन, या एक-दो दिन उसके आगे-पीछे हुआ करती

थी। खास दशहरे के दिन हमारे दादा साहब अपने साथ सब लोगों को लेकर एक छोटा-सा जलूस बनाकर निकलते और नीलकंठ का दर्शन करते।

इसके अलावा एक और त्योहार था जिसमें सभी लोग शरीक होते थे। वह था अनंत चतुर्दशी का व्रत। यह भादों सुदी चतुर्दशी को हुआ करता था। दोपहर तक का ही व्रत था। दोपहर को कथा सुनने के बाद पूरी-खीर खाने की प्रथा थी और संध्या को कुछ नहीं खाना होता था। सूर्यास्त के बाद पानी भी नहीं पिया जाता था। इस व्रत में हम सब बच्चे भी शरीक होते। कथा समाप्त होने पर एक क्रिया होती जो बच्चों के लिए बहुत मजाक की चीज होती। एक बड़े थाल में एक या दो खीरे रख दिये जाते और थोड़ा जल उसमें पंडित डाल देते। सभी कथा सुनने वाले उस थाल में हाथ डालते और पंडित पूछते—क्या ढूंढते हो, तो लोग जवाब देते—अनंत फल। तब फिर पंडित पूछते—पाया, तो उत्तर मिलता—पाया। पंडित कहते, सिर पर चढ़ाओ और सब लोग जल अपने सिर पर छिड़कते। यह क्रिया समाप्त होने पर सभी लोगों को अनंत, जो सूत में चौदह गांठ देकर बनाया जाता था, दिया जाता और वे उसे अपनी बांह पर बांध लेते। हम बच्चों के लिए सुंदर रंगीन, कभी-कभी रेशम का, अनंत पटहेरे के यहां से खरीद करके आता। कोई-कोई साल-भर बांह पर अनंत बांधे रहते थे; इसलिए वे अपना अनंत अपने हाथों मजबूत और काफी लम्बा बनाते जिससे वह सुभीते से बांधा जा सके। इस प्रकार जो अनंत बांधता वह मांस-मछली नहीं खाता था। इसी प्रकार, जो तुलसी की लकड़ी की माला या कंठी पहनता, वह भी मांस-मछली नहीं खाता था।

कथा, रामलीला, रामायण-पाठ और इन व्रत-त्योहारों द्वारा गांव में धार्मिक जीवन हमेशा जगा रहता था। इनके अलावा मुहर्रम में ताजिया रखने का भी रिवाज था। इसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल होते थे। जीरादेई और जमापुर में कुछ हिन्दू ही कुछ सम्पन्न थे, इसलिए उनका ताजिया गरीब मुसलमानों के ताजिया से अधिक बड़ा और शानदार हुआ करता था। मुहर्रम-भर प्रायः रोज गदका, लाठी, फरी वगैरह के खेल लोग करते और पहलाम के दिन तो बहुत बड़ी भीड़ होती। गांव-गांव के ताजिये कर्बला तक पहुंचाये जाते। तमाम रास्ते में 'या अली, या इमाम' के नारे लगाये जाते और गदका इत्यादि के खेल होते। बड़ा उत्साह रहता और इसमें हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद नहीं रहता। शीरनी और तिचौरी (भिगोया हुआ चावल और गुड़) बांटी जाती। सभी उसे लेते और खाते; पर हिन्दू लोग मुसलमानों से पानी या शर्बत छुलाकर नहीं पीते। मुसलमान भी इसे बुरा नहीं मानते। वे समझते थे कि यह हिन्दुओं का धरम है, इसलिए वे स्वयं हट जाते।

जिस तरह हिन्दू मुहर्रम में शरीक होते उसी तरह मुसलमान भी होली के शोरगुल में शरीक होते। हम बच्चे दशहरा, दीवाली और होली के दिन मौलवी साहब की बनाई 'ईदी' अपने बड़ों को पढ़कर सुनाते और उनसे रुपये मांगकर मौलवी साहब को देते। ईदी कई दिन पहले से ही हम याद करते। कागज पर, मौलवी साहब की मदद से, सुंदर फूल बनाकर

उसे लाल, हरे, नीले और बैंगनी रंगों से रंगते। उसी पर मौलवी साहब सुंदर अक्षरों में ईदी लिख देते जिसे हम लोग पढ़कर सुनाते। उसमें जो लिखा जाता वह भी कुछ अजीब सम्मिश्रण होता। जैसे, दीवाली की ईदी में लिखा होता—'दीवाले आमदे हंगाम जूला' इत्यादि; दशहरे की ईदी में लिखा जाता— 'दशहरे को चले थे रामचंदर, बनाकर रूप जोगी वो कलंदर' इत्यादि। मुशायरे के अलावा मौलवी साहब को, प्रत्येक बृहस्पतिवार को कुछ पैसे जुमराती के रूप में और त्योहारों पर ईदी के बदले में, कुछ मिल जाया करता था।

उन दिनों गांव में मामला-मुकदमा कम हुआ करता था। जो झगड़े हुआ करते थे, गांव के पंच लोग उन्हें तय कर देते थे। अगर कोई बात पंचों के मान की न हुई, तो वह मेरे बाबा या चचा साहब के सामने पेश होती। वे लोग भी पंचायत में शरीक होकर तय करा देते। हां, कभी-कभी चोरी हो जाया करती थी। बनिये कुछ सम्पन्न थे। उनके घरों में रात को सेंध फोड़कर चोर कुछ पैसे उठा ले जाया करते। एक बार का मुझे स्मरण है कि दूसरे गांव के बाजार से लौटते वक्त संध्या को रास्ते में डाकू ने पैसे और कपड़े लूट लिये थे। जब कभी ऐसा वकूआ होता, थाने से दारोगा और सिपाही पहुंचते और गांव में एक-दो दिन ठहर जाते। उनका गांव में आना एक बड़ा हंगामा था। सारे गांव में सनसनी फैल जाती। जिन लोगों पर शुबहा होता उनके घर की तलाशी ली जाती। दो-तीन आदमी थे, जिनके बारे में मशहूर था कि वे चोर हैं; दारोगा पहुंचते ही उनको पकड़कर मुश्कें कसकर बांधकर गिरा देते और खूब पीटते। आसपास के गांव के भी ऐसे लोग, जो गलत या सही चोर समझे जाते थे, इस प्रकार पकड़कर मंगाये जाते और बांधकर गिरा दिये जाते। मैंने देखा है कि इस तरह एक साथ पांच-सात आदमी बांधकर गिराये जाते थे और घंटों तक पड़े रहते थे।

हम लोगों की छोटी-सी जमींदारी थी। रैयतों के साथ मुकदमे तो कम होते, शायद ही कभी कचहरी में जाने की जरूरत होती। मगर एक दूसरे जमींदार के साथ, जिनका भी हिस्सा एक गांव में था, बहुत दिनों तक कुछ जमीन के लिए मुकदमा चलता रहा। बाबा के समय से शुरू होकर पिताजी के जमाने-भर चलता रहा और उनकी मृत्यु के बाद भाई ने उसे सुलह करके तय किया। नूनू छपरे जाया करते और भाई जो छपरे पढ़ने के लिए भेज दिये गये थे उनको देखते और मुकदमे की भी पैरवी करते।

5

अंगरेजी-शिक्षा शुरू

मैं पहले कह चुका हूं कि भाई के कारण मेरे लिए सब बातों में रास्ता साफ हो जाता था। मेरे बहुत छुटपन में ही भाई को पढ़ने के लिए पहले 'सीवान' भेजा गया। वहां कुछ दिनों तक वह रहे, मगर वहां कोई ठीक सुविधा नहीं जमी। एक तो उन दिनों सीवान में कोई हाईस्कूल नहीं था। दूसरा कोई स्कूल था कि नहीं, मुझे मालूम नहीं। मगर एक कारण यह भी हुआ कि जिनके साथ उनको रखा गया था वह उनको संभाल नहीं सके। एक अग्रवाल सज्जन सीवान में रहा करते, जिनसे बाबा की बड़ी मित्रता थी। उनके पास भाई भेजे गये और कुछ दिनों तक वहां रहे। उनके मकान के पास एक नया कुआं खोदा जा रहा था। उसमें पानी आ चुका था, पर ऊपर की जगत तक अभी बंधाई नहीं हुई थी। एक दिन पानी देखने या खेलने के लिए भाई वहां गये और कुएं में गिर गये—डूबते-डूबते मुश्किल से बचाये गये। उन सज्जन ने लिख भेजा कि ऐसे चुल्ला लड़के की देख-रेख उनसे नहीं हो सकेगी। उसके बाद ही भाई छपरे भेज दिये गये और वहां जिला-स्कूल में नाम लिखाकर पढ़ने लगे। जब छुट्टियों में वह घर आते तो हम लोगों से छपरे और स्कूल की बातें कहते। हम बच्चे बहुत उत्सुकता से उन्हें सुनते। शायद उस समय तक मैं अपने होश में जवार के कुछ गांवों के सिवा, जहां कभी-कभी रामलीला या दूसरा कोई मेला देखने गया होऊं, और कहीं नहीं गया था। हां, सुनता हूं कि बहुत बचपन में मां के साथ ननिहाल गया था, जो बलिया जिले में हमारे गांव से प्रायः 18-20 कोस की दूरी पर है; पर उसका मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है।

छपरे में मेरे पढ़ने की बात तय हो जाने के बाद नूनू ने एक बार मुझे वहां ले जाकर सब कुछ दिखला देना अच्छा समझा, और साथ ले गये। मैं छपरे में कुछ दिनों तक भाई के साथ ठहरा और फिर घर वापस चला आया। मुझे जहां तक स्मरण है, यही पहला अवसर था जब मैं रेल पर चढ़ा था। पर इस यात्रा में मैं स्कूल में दाखिल नहीं हुआ। जीरादेई लौटकर मौलवी साहब के पास फिर पढ़ने लगा। इसी बीच एक दुर्घटना हो गयी—नूनू की मृत्यु हो गयी! हमारे खानदान से घनिष्ठ संबंध रखने वाला एक खानदान था जिसमें आजकल बाबू फूलन प्रसाद वर्मा हैं। उनके पिता ननिहाल में आकर अपने नाना के साथ रहते थे। उनके

नाना से हम लोगों का कुछ पुराना संबंध भी था, पर उससे भी अधिक आपस की घनिष्ठता थी, जो दोनों खानदानों के हथुआ-राज में नौकरी करने के कारण बहुत जमाने से चली आती थी। फूलन बाबू के पिता की शादी में नूनू बरात गये और लौटते समय रास्ते में हैजा हो गया। वहां तो अच्छे हो गये और घर पर आ गये, पर गांव में भी बहुत जोरों से हैजा फैला हुआ था। अच्छा हो जाने के प्रायः दो-तीन हफ्तों के बाद उनको दोबारा हैजा हो गया। वह दिन मुझे आज भी याद है। दोपहर 11 बजे के करीब बीमारी शुरू हुई और रात को ही वह चल बसे। बाबूजी ने जो कुछ दवा हो सकी, की। दरौली से डाक्टर बुलाये गये जो प्रायः छः कोस की दूरी पर है। पहली बीमारी में इसी डाक्टर ने आराम किया था। पर उन दिनों तेज सवारी तो मिलती न थी। हाथी पर रात को बारह बजे डाक्टर पहुंचे, पर उनके पहुंचने के पहले ही मृत्यु हो चुकी थी। उनकी मृत्यु से घर में बड़ा कोलाहल मचा। बाबा के वह एक ही पुत्र थे। घर का प्रायः सब कारबार बाहर-भीतर वही संभालते थे। बाबा की अवस्था प्रायः सत्तर बरस की थी; पर वह अभी 45 से अधिक के नहीं रहे होंगे। बाबूजी घर के कारबार में कम दिलचस्पी लिया करते थे। इसलिए और भी सब कुछ अव्यवस्थित हो चला। फलतः कुछ दिनों के लिए मेरा छपरा भेजा जाना रुक गया।

प्रायः एक-डेढ़ साल के बाद मैं छपरे भेजा गया। छपरे में एक छोटा-सा मकान, तीन या चार रुपये मासिक भाड़े पर, ले लिया गया था। वहीं भाई एक नौकर और रसोई बनाने वाले एक कायस्थ के साथ रहते थे। कुछ दिनों तक शुरू में उनको पढ़ाने के लिए एक मास्टर भी रखे गये थे, पर जब मैं पहुंचा तब दूसरा कोई नहीं था। मैं भी उनके साथ रहने लगा। मेरे छपरा पहुंचने के कुछ ही दिनों बाद जिला-स्कूल के आठवें दर्जे में, जो उन दिनों सबसे आरम्भिक दर्जा था, मेरा नाम लिखा दिया गया। मैंने वहीं 'ए बी सी' और नागरी 'अ आ इ ई' की एक साथ शिक्षा आरम्भ की। भाई उस समय दूसरे दर्जे से तरक्की पाकर अव्वल दर्जे अर्थात एंट्रेन्स क्लास में पहुंचे थे। मेरे लिए कोई मास्टर नहीं रखा गया। मैं स्कूल की पढ़ाई के अलावा अगर कुछ पूछना होता तो भाई से पूछ लेता। घर पर मुझे पढ़ाने के लिए मास्टर का न रखना बहुत अच्छा हुआ। स्कूल की पढ़ाई पर खूब ध्यान देने की आदत लग गयी। आरम्भिक काल से ही अपने ऊपर कुछ भरोसा करना भी आ गया। साल के अंत में भाई एंट्रेन्स परीक्षा की तैयारी कर रहे थे और मैं अपना सालाना इम्तहान दे रहा था। इम्तहान में मेरा बहुत अच्छा नम्बर आया। मैं अपने दर्जे में अव्वल हुआ और नम्बर भी इतना ज्यादा आया कि हेडमास्टर ने मुझे डबल तरक्की देने की बात सोची।

उन दिनों स्कूल के हेडमास्टर थे श्री क्षीरोदचन्द्र रायचौधुरी। वह बड़े नामी और विद्वान हेडमास्टर समझे जाते थे। स्कूल में उनका रोब भी बहुत था। केवल लड़के ही नहीं, मास्टर लोग भी डर के मारे कांपते थे। परीक्षा-फल सुनाया गया। मुझे आठवें से सातवें में तरक्की मिली। हम सब लड़के खुशियां मना रहे थे कि चपरासी ने आकर क्लास-मास्टर से कहा कि हेडमास्टर मुझे बुलाते हैं। हेडमास्टर उन लड़कों को ही बुलाया करते जिनके खिलाफ कोई

शिकायत पहुंची रहती। मैं बहुत डर गया और डरते-डरते वहां गया। पर वहां जाकर डर दूर हो गया। उन्होंने पूछा, तुम डबल तरक्की लेकर सातवें के बदले छठे क्लास में जाओगे ? मैं उस समय कुछ घबरा-सा गया—कुछ खुशी, कुछ विस्मय और कुछ इस बात का भय कि एक बरस की पढ़ाई कैसे लांघी जा सकेगी। मैंने उत्तर दिया कि भाई से पूछ आऊं तो कहूंगा। उन्होंने पूछा कि भाई कौन हैं ? मेरे नाम बताने पर वह हंस पड़े। भाई को वह जानते थे, क्योंकि भाई को भी तो उन्होंने ही पढ़ाकर एंट्रेन्स परीक्षा देने की अनुमति दी थी, जिसके लिए वह डेरे पर तैयारी कर रहे थे। उन्होंने कहा कि वह क्या मुझसे इस बात को अधिक समझ सकता है कि तू उससे पूछना चाहता है—खैर, जाकर पूछ आ। मैं वहां से दौड़ता हुआ भाई के पास पहुंचा। वह, बाबू बांकेबिहारी लाल (स्वर्गीय) और मौलवी शफी दाऊदी, तीनों एक साथ इम्तहान की तैयारी कर रहे थे। मैं वहीं गया और तीनों ने यह खबर बहुत खुश होकर सुनी। आपस में कुछ सलाह भी हुई। भाई का विचार हुआ कि एक क्लास लांघ जाने से मैं पीछे कमजोर पड़ जाऊंगा और आगे की पढ़ाई ठीक नहीं होगी। वह मेरे साथ हेडमास्टर के पास पहुंचे और उनसे अपनी राय कही। हेडमास्टर ने हंसकर फिर वही बात कही—क्या तू मुझसे इस बात को ज्यादा समझता है? फलतः सातवां लांघकर मुझे छठे क्लास में उन्होंने भेज दिया।

थोड़े ही दिनों के बाद भाई परीक्षा देने पटना गये और परीक्षा देकर जीरादेई चले गये। मैं उस समय से छपरा डेरे पर अकेले, नौकर और रसोइये के साथ, रहता। हां, मेरे मकतब के साथी जमुना भाई और गंगा भाई भी छपरे आ गये थे और स्कूल में नाम लिखा लिये थे। हम तीनों वहां भी साथ ही रहते और पढ़ते थे। उस समय मेरी अवस्था शायद 10-11 के बीच की होगी।

भाई एंट्रेन्स पास हो गये। पटने में कालेज में उनके पढ़ने की बात हुई और वह पटने जाने लगे। राय ठहरी कि मैं भी पटना उनके साथ ही चला जाऊं और ऐसा ही हुआ। हम तीनों सहपाठी, भाई के साथ, पटने गये और भाई ने पटना कालेज में नाम लिखाया और हम लोगों के नाम टी. के. घोष एकेडेमी में, जो उन दिनों बड़ा अच्छा स्कूल समझा जाता था और जिसमें बहुत लड़के पढ़ते थे, लिखा दिये गये। उस स्कूल में जाकर मैंने महसूस किया कि डबल तरक्की के बारे में भाई की राय हेडमास्टर से अधिक ठीक थी। मैं प्रतिदिन महसूस करता कि दूसरे लड़के कई विषय मुझसे अधिक जानते हैं। मैं इस कोशिश में लग गया कि इस कमी को पूरा कर दूं। वहां भी कोई घर पर पढ़ाने के लिए मास्टर नहीं था। जो कुछ पूछना होता, भाई या उनके दूसरे साथी लोगों से—जो वहां रहा करते—पूछ लिया करता।

मेरी आदत छपरे में ही लग गयी थी कि रोज संध्या को, स्कूल से छुट्टी होने पर डेरे पर आकर कुछ खा-पीकर, फुटबाल या दूसरा खेल खेलने फिर स्कूल में चला जाता। फुटबाल और क्रिकेट दो खेल विशेषकर खेले जाते। ऊंचे दर्जे के कुछ लड़के, और मास्टरों में कुछ

लोग—विशेष करके हेडमास्टर, टेनिस भी खेला करते। पटने में स्कूल में खेल का प्रबंध नहीं था। हम लोग इस कमी को बहुत महसूस करते। उसका अहाता भी बड़ा नहीं था। पर जो जगह थी उसमें अपने लोग गेंद लेकर जाते और कुछ दौड़-धूप करके चले आते। भाई खेल में बड़े पटु थे। फुटबाल, क्रिकेट और दूसरे खेलों में वह बहुत आगे रहते थे। पटना कालेज में भी उनका नाम था। हम लोग कभी-कभी खेल देखने पटने के लॉन में जाया करते।

पटने में सोमवारी मेला, सावन महीने के प्रति सोमवार को, धूमधाम से हुआ करता था। उस मेले में हम लोग बड़ी खुशी से जाते और छोटी-मोटी चीजें खरीदने के लिए भाई से जिद करते। मुझे याद है कि एक बार एक मूर्ति, जो बहुत सुंदर थी, खरीदने के लिए मैंने बहुत जिद की थी और भाई को खरीद देना पड़ा था। एक बार उसी सोमवारी मेले में बाबू बांकेबिहारी की पाकेट से चोर ने कुछ पैसे निकाल लिये, भाई भी साथ थे। चोर पकड़ा गया। उस पर मुकदमा चला जिसमें बांकेजी को और भाई को इजहार देना पड़ा। उसी मुकदमे को देखने के लिए, जहां तक मुझे स्मरण है, मैं पहले-पहल कचहरी में गया था।

पटने में मेरे गांव के एक सज्जन, भाई से जिनकी मित्रता थी, नौकरी की खोज में हम लोगों के साथ डेरे पर ठहरे थे। वहां भी एक मकान भाड़े पर लेकर बाबू बांकेजी और हम लोग साथ ही रहा करते थे। वह सज्जन छोटे-मोटे पहलवान थे। कुछ कसरत वगैरह जानते थे। उन्होंने आंगन में एक छोटा अखाड़ा बनवाया और वहां सब लोगों से कुछ कसरत कराना और कुश्ती सिखाना आरम्भ किया। एक दिन बाबू बांकेजी को कुश्ती सीखने में कुछ चोट लग गयी और उनका पैर कई दिनों तक तकलीफ देता रहा। उसके बाद से कुश्ती और अखाड़े में दिलचस्पी कम हो गयी।

जब हम लोग पटने में थे उसी समय हम लोगों ने 'प्लेग' बीमारी का नाम पहले-पहल सुना। उस समय बम्बई से ही इस भयंकर बीमारी की खबर सुनी गयी थी, पर थोड़े ही दिनों के बाद छपरा जिले में भी इसने अड्डा जमा लिया और कम-बेश अभी तक कुछ-न-कुछ रहता ही है। उन्हीं दिनों बड़ा अकाल भी पड़ा था। छुट्टी में गांव जाकर हम लोगों ने देखा था कि गवर्नमेंट के अफसर, लोगों की मदद करने के लिए, आये थे और हमारे घर पर ठहरे थे।

पटने में प्रायः दो बरस बीत गये। भाई ने एफ. ए. की परीक्षा दी और मैं छठे से पांचवें और पांचवें से चौथे दर्जे में पहुंच गया। इम्तहान देकर भाई घर चले गये। मैं, जमुना भाई और गंगा भाई, पटने में नौकर के साथ अकेले ही दो-तीन महीने तक रहे। जब गर्मी की छुट्टी हुई, हम लोग घर आये।

6

विवाह

मुझे ठीक याद नहीं है कि मैं पांचवें दर्जे में पढ़ता था या चौथे में आ चुका था जब मेरी शादी हुई—शायद मैं पांचवें में ही पढ़ता था। गर्मी की छुट्टी में ही शादी हुई थी। जब हम लोग छपरे में पढ़ते थे तभी बाबा की मृत्यु और हमारी दादी की भी मृत्यु हो चुकी थी। उन लोगों की बीमारी का हाल पाकर हम सब छपरे से जीरादेई आ गये थे और हम सबके सामने ही दोनों—थोड़े ही दिनों के अंतर में—चल बसे थे। इसलिए अब मेरे पिताजी ही घर के मालिक थे। मेरी शादी का इंतजाम उनको ही करना पड़ा था।

मेरे ससुर आरा में मुख्तार थे और उनके एक छोटे भाई बलिया में वकालत करते थे। दोनों भाई जीरादेई आये थे। मुझे बाबूजी ने अंदर मां के पास से बुलवाया। उन लोगों ने देखा, कुछ सवाल भी किये और पसंद करके चले गये। कुछ दिनों के बाद तिलक आया जिसमें प्रथा के अनुसार कपड़े, बर्तन इत्यादि के अलावा रुपये भी आये। जहां तक मुझे स्मरण है, रुपये के लिए बाबूजी ने कुछ ज्यादा जोर नहीं दिया था। तो भी उन लोगों ने प्रायः दो हजार, नगद और सामान मिला कर, भेजा था। मेरी अवस्था 12 बरस से कुछ अधिक की थी।

उन दिनों 2,000 रुपये का तिलक अच्छा समझा जाता था। आजकल तो पांच हजार-सात हजार भी हम लोगों की औकात के लोग कम मानते हैं। जितना ज्यादा तिलक हो उतनी ही अधिक बरात की तैयारी होनी चाहिए और लड़की के लिए उतना ही ज्यादा जेवर जाना जाहिए। मेरी शादी के समय पिताजी की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। एक तो तीन-चार बरसों में एक पर एक तीन मृत्यु हो चुकी थीं और उनमें प्रत्येक के श्राद्ध में काफी खर्च हो चुका था। दूसरे, अकाल के कारण, जमींदारी से वसूली कम हो गयी थी। खर्च बढ़ गया था। हम लोगों के पढ़ने के लिए छपरे और पटने में प्रतिमास कुछ-न-कुछ नगद भेजना ही पड़ता था। एक मुकदमा जो बहुत दिनों से चला आता था, उसकी पेशी बहुत दिनों तक चली थी और उसमें भी बहुत खर्च पड़ा था। इन सब तरद्दुदों के रहते हुए भी शादी में खर्च करना ही था, क्योंकि इसी में घर की प्रतिष्ठा थी।

जहां तक जेवर वगैरह का खर्च था वह तो उन्होंने खूब किया। दूसरी तैयारी में भी वह कमी नहीं करना चाहते थे, क्योंकि उनके जमाने में यही पहली शादी थी। और, अगर पुरानी मिकदार से खर्च न हुआ, शान-शौकत न हुई, तो लोग कहेंगे कि भैयाजी (मेरे बाबा को सब लोग इसी नाम से पुकारा करते थे) के मरने के बाद ही घर की शान में कमी आ गयी। इसलिए बाबूजी का विचार था कि किसी तरह से यह शादी शान में कम न हो।

हमारे यहां शादी में जलूस के लिए बहुत हाथी-घोड़े मांगकर लाये जाते हैं। और भी ज़लूस की चीजें मंगनी लायी जाती हैं। शादी का दिन ऐसा पड़ा जिस दिन बहुत कड़ा लगन था। गांव की भाषा में 'कड़ा लगन' उसे कहते हैं जिसमें ग्रह अच्छे पड़ने के कारण मुहूर्त बहुत अच्छा पड़ता है और बहुत लोग उस दिन को शादी करना शुभ समझते हैं। जिस दिन कड़ा लगन पड़ता है उस दिन मंगनी के सामान मिलने में कठिनता होती है, क्योंकि बहुत लोग मंगनी मांगते हैं। मेरी बरात के लिए बहुत हाथी-घोड़े मांगे गये, मगर कड़ा लगन के कारण पहुंच नहीं सके। एक ही हाथी और दो-चार घोड़े पहुंच सके।

मेरी शादी बलिया जिले के दलन-छपरा में, जीरादेई से 18-20 कोस की दूरी पर, होने वाली थी। दो दिनों का रास्ता था। बीच में सरजू (घागड़ा) नदी थी जिसे नावों पर पार करना था! बरात जीरादेई की रस्मों को समाप्त करके रवाना हुई। हाथी-घोड़े कम होने के कारण पालकी की सवारी अधिक लेनी पड़ीं और बैलगाड़ियों पर सामान चला। मैं एक खास किस्म की पालकी पर, जिस पर वर जाया करते हैं, चला। घर में एक बड़ा घोड़ा था, भाई उसी पर चले। वह सबको रवाना करके सबसे पीछे चले, और जहां दोपहर को खाने का स्थान मुकर्रर था वहां सबसे पहले पहुंच गये। इंतजाम में वह बहुत भाग ले रहे थे। बाबूजी पालकी पर थे। कुटुम्ब और संबंध के दूसरे लोग पालकी या दूसरी सवारियों पर थे।

वर की पालकी बहुत बेढंगी हुआ करती है। उसमें ऊपर साये के लिए छत नहीं होती, पर कपड़े की छंहियां बांध दी जाती हैं। जेठ के महीने में शादी थी। गरमी खूब पड़ रही थी। गर्म हवा भी खूब चल रही थी और मुझे उस पालकी पर जाना था। हवा से वह छंहियां भी उड़ जातीं। पालकी चांदी की थी, इसलिए वजन काफी था। कहारों को वजन संभालना ही कठिन था और उस पर हवा के मारे छंहियां बैलून का काम करतीं; बेचारे बहुत मुश्किल में थे। मैं धूप और हवा दोनों का शिकार था।

किसी तरह दिन कटा और रात को सरजूजी के किनारे गांव में डेरा पड़ा। कच्ची-पक्की रसोई बनी। सब लोगों ने भोजन किया। सवेरे सरजू पार करने का काम शुरू हुआ। सामान, पालकी, बैलगाड़ी, बैल, घोड़े इत्यादि तो नावों पर लादे गये और हाथी को यों ही तैराकर पार कराने का प्रयत्न होने लगा। वह हाथी भी कुछ वैसा ही था; वह नदी नहीं पार करना चाहता था। कुछ दूर जाता और फिर वापस आ जाता। फिर कई नावों के बीच में करके पार कराने का प्रयत्न हुआ, पर सब बेकार गया। अंत में राय ठहरी कि उसे छोड़ ही

देना चाहिए और बरात बिना हाथी के चली। बाबूजी को इसका बड़ा अफसोस था कि बरात में एक हाथी भी नहीं गया। जहां मेरी शादी हो रही थी उससे थोड़ी ही दूर पर बाबूजी की भी शादी हुई थी। उस समय बाबा हथुआ के दीवान थे और उस बरात में पचासों हाथी गये थे। बाबूजी को यह बात बहुत अखरती कि जहां उनकी शादी में पचासों हाथी गये उनके लड़के की शादी में एक भी हाथी न पहुंच सका। मगर करना क्या था? बरात वापस तो हो नहीं सकती। हाथी के झमेले में इतना समय लग गया कि उस गांव में पहुंचने में रात हो जायेगी, ऐसा भय मालूम होने लगा।

बरात बहुत तेजी से चली और जहां दोपहर को पहुंचना था वहां पहुंचते-पहुंचते तीन-चार बज गये। वहां भोजन वगैरह करके बरात आगे बढ़ी। रात हो गयी। इस बीच में एक घटना हो गयी। बरात जब गांव से एक-दो मील पर थी कि दो-तीन हाथी आते हुए नजर आये। वे किसी दूसरी बरात में गये थे और उसकी रस्म पूरी करके कहीं जा रहे थे। पीलवानों से बात हुई। उनको कुछ रुपये दिये गये और वे बरात में शामिल होने को राजी हो गये। इस तरह हाथी का हौसला तो एक प्रकार से पूरा हो गया, पर बरात पहुंचते-पहुंचते रात के 10-11 बज गये।

वहां लोग घबरा रहे थे—कुढ़ रहे थे। अंत में बरात पहुंची। मेरी आदत सही-शाम को ही सोने की थी, जो शादी के कारण कुछ छूटने वाली थी नहीं। मैं बरात पहुंचने के पहले ही पालकी में खूब सो गया था। पहुंचने के समय किसी तरह मैं जगाया गया और परिछावन की रस्म अदा हुई। शादी की दूसरी रस्म भी एक-एक करके पूरी की गयीं। गरमी में दो दिनों का सफर और वह भी पालकी में। सांझ होते ही सोने की आदत और उस पर इतनी थकावट। मेरे लिए जागते रहना कठिन समस्या थी। सब रस्में हो गयीं। और मेरा शुभ विवाह भी उसी रात को हो गया। मुझे आज वे रस्में भी पूरी तरह याद नहीं हैं और न यह याद है कि उनमें मेरा क्या हिस्सा रहा। लड़कपन में मेरी बहन गुड़ियों के विवाह का खेल किया करती और उसमें मैं भी शरीक हुआ करता था। यह विवाह मेरे लिए कुछ वैसा ही था। मैंने न तो विवाह के महत्व को समझा और न यह महसूस किया कि मेरे ऊपर कोई जिम्मेदारी आयी। मेरा हाथ न विवाह का निश्चय करने में रहा था और न इन रस्मों में। जो कुछ पंडित या हजाम या अपने घर की अथवा ससुराल की स्त्रियां बताती गयीं वह करता गया और अंत में लोगों ने समझ लिया कि मेरा विवाह हो गया! मुझे तो इतना भी ज्ञान नहीं हुआ कि क्या हुआ। हां, इतना समझ गया था कि मेरी भौजाई जिस तरह घर में आ गयी थीं, उसी तरह एक दिन कोई मेरी बहू भी आ जायेगी।

हमारे यहां यह भी चाल है कि कहीं-कहीं शादी के बाद ही लड़की को नहीं लाते हैं। कुछ दिनों के बाद एक छोटी-मोटी दूसरी बरात जाती है और तब लड़की लायी जाती है। इसे 'दुरागमन' कहते हैं। मेरी शादी के बाद भी बहू साथ नहीं लायी गयी। एक बरस के बाद

दुरागमन की बरात गयी और तब वह लायी गयी। बरात दो दिनों तक ठहरकर वापस आयी। ससुराल के लोग, देर करके बरात पहुंचने और उनकी आशा के अनुकूल पूरी शान-शौकत की न होने के कारण, कुछ रंज थे। पर जब उन्होंने जेवर, कपड़े, मिठाई वगैरह—जो लड़की के लिए और दूसरों के लिए वर की ओर से दिये जाते हैं देखा तब उनका रंज दूर हो गया और सब लोग बहुत खुश हो गये! मैं समझता हूं कि वर को देखकर भी घर की स्त्रियां और दूसरे आये हुए लोग खुश हुए होंगे, यद्यपि मेरे पास इसका कोई सबूत नहीं है!

एक साल के बाद दुरागमन हुआ और बहू घर में आयी। दुरागमन की बरात शादी की बरात से छोटी हुआ करती है। इस बार एक या दो हाथी मिल गये थे और बरात में गये भी थे। हमारे यहां पर्दा बहुत सख्त होता है। मैंने देखा था कि जब मेरी भौजाई आयीं तो उनके साथ दो लौंडियां आयी थीं और वह केवल उन दोनों से ही बातें कर सकती थीं! जीरादेई में एक कमरे में रहती थीं। कभी ओसारे में भी निकलने की इजाजत नहीं थी! उन दिनों ऐसे ही पुरुष-नौकर घर के अंदर जा सकते थे जो उम्र में बहुत कम होते थे और जिनका जन्म हमारी मां-चाची के सामने गांव में हुआ था और जो बहुत बचपन से अपनी मां के साथ आंगन में आया-जाया करते थे। जो सयाने नौकर थे वे भीतर नहीं जाते थे। एक रसोईदार था जो रसोई बनाने के लिए आंगन में जाता था। मगर वह भी जाने के पहले पुकार लेता और हमारी मां-चाची कमरों में चली जातीं तब वह जाता और रसोईघर में घुस जाता। वहां से अगर किसी चीज की जरूरत होती तो वह किसी लौंडी को पुकारकर मांग लेता और बाहर जाने के समय फिर उसी तरह पुकारकर सबको हटा देने के बाद ही वह बाहर जाता।

मेरी भौजाई तो कमरे से बाहर निकलती ही न थीं। हां, नित्य-क्रिया के लिए जाने के समय पहले सब लोग हटा दिये जाते। लोगों में दूसरा कोई शामिल नहीं था—सिर्फ जीरादेई की लौंडियां थीं! मर्द सूरत तो कोई आंगन में रहता ही नहीं था। अगर कोई छोटा लड़का होता तो वह भी हटा दिया जाता। इतने से भी काफी पर्दा नहीं होता और उनके नैहर की दाइयां कपड़े का पर्दा लगाकर उनको ले जातीं। मैं बहुत छोटा था। इसलिए मैं कभी खेलता-कूदता उनके कमरे में चला जाता और शायद दो-एक बार उनका मुंह देख लिया था। मेरी मां, चाची और बहन भी जब उनके कमरे में जातीं तो वह घूंघट तानके बैठ जातीं। जीरादेई की कोई दाई भी वहां जाने नहीं पाती थी।

जब मेरी स्त्री दुरागमन के बाद आयीं तो उनके साथ भी यही सब बखेड़ा रहा। यह बहुत दिनों तक चला और आहिस्ता-आहिस्ता कम हुआ। नैहर की लौंडियां चली गयीं। ज़ीरादेई की एक लौंडी आने-जाने लगी। उससे कुछ-कुछ बातें करने की इजाजत हुई। जब तक मेरी मां जीती रहीं तब तक न तो मेरी भौजाई और न मेरी स्त्री ही कभी अपने कमरे से निकल आजादी के साथ आंगन में घूम-फिर सकीं या बैठ सकीं। मेरी हालत यह थी कि मैं जब कभी गांव में छुट्टियों में आता, बाहर ही सोता। रात के समय जब सब लोग सो जाते तो

मां दाई को भेजतीं कि जगा लाओ और वह जगाकर मुझे ले जाती और उस कमरे में छोड़ देती जिसमें मेरी पत्नी रहतीं। नींद के मारे मुझे उस वक्त रात को जागना कठिन हो जाता। अक्सर मैं कितनी भी कोशिश होती, जागता ही नहीं। दूसरे दिन मां या चाची डांटतीं कि रात को जागते नहीं और बुलाने पर भी आते नहीं। सवेरे जब सब लोग सोये ही रहते उठकर चला आना होता और बाहर की चारपाई पर सो जाता जिससे किसी को यह पता न चले कि रात को कहीं दूसरी जगह गया था! यहां तक कि साथ के नौकर को भी इसका पता कम ही लगता।

पर्दे के कारण इस तरह स्त्री-पुरुष की मुलाकात होती। मैं तो लड़कपन से ही अधिक घर के बाहर ही रहा। जब कभी घर पर छुट्टियों में जाता तभी मुलाकात का मौका होता और वह भी इस प्रकार से! इसलिए गरचे आज विवाह हुए प्रायः 44-45 बरस हो गये होंगे, पर शायद ही सब दिनों के गिनने के बाद भी हम दोनों इतने महीने भी एक साथ रहे हों। पढ़ने का समय पटना, छपरा, कलकत्ता में कटा। वकालत के जमाने में भी मैं कलकत्ते में बराबर अकेला ही रहा और पटने आने पर भी दो-एक ही बार घर के लोग थोड़े दिनों के लिए साथ रहे। असहयोग आरम्भ होने के बाद तो घर जाने का समय और भी कम मिला है और घर के लोगों को साथ रखने का न तो सुभीता रहा और न काम की झंझटों में फुरसत रही।

7

हथुआ स्कूल में दाखिल—छपरा स्कूल में वापस

भाई एफ.ए.की परीक्षा पास कर गये। उनकी इच्छा हुई कि वह कलकत्ते में जाकर मेडिकल कालेज में पढ़ें। उन दिनों बिहारी लोगों में शायद ही कोई मेडिकल कालेज में पढ़ता था। एक तो कलकत्ता जाना और वहां का खर्च जुटाना ही मुश्किल। दूसरे, वहां बिहारियों के लिए जगह मिलनी भी मुश्किल। जब उनके कलकत्ते जाने की बात तय हो गयी तो सवाल हुआ कि मैं कहां पढ़ूं ? मेरे लिए कलकत्ता जाना उचित नहीं समझा गया। भाई कलकत्ते गये, मैं पटने से नाम कटाकर हथुआ स्कूल में नाम लिखाने के लिए भेजा गया। वहां की हालत कुछ विचित्र थी। पढ़ाने-लिखाने का तरीका छपरा के जिला-स्कूल और पटना के टी. के. घोष एकेडेमी से कुछ जुदा था। पहले तो नाम लिखाने में ही थोड़ी दिक्कत हुई। मास्टर ने कहा कि वह परीक्षा लेकर नाम लिखेंगे।

खैर, किसी तरह नाम लिखा गया। पढ़ाई का तरीका यह था कि जो कुछ सबक दिया जाता था, खास करके इतिहास में, उसे दूसरे दिन कंठस्थ करके आना चाहिए और मास्टर साहब कहते, सबक सुनाओ, और सब शुरू से आखिर तक किताब बंद करके जबानी सुनाना पड़ता। मेरी आदत इस प्रकार बिना समझे-बूझे किसी चीज को जबानी रटने या सुनाने की नहीं थी और शाब्दिक स्मरणशक्ति भी कमजोर थी। मैं प्रायः छः महीने तक उस स्कूल में रहा, पर शायद एक दिन भी सबक पूरा याद नहीं कर सका। कोशिश की कमी मुझमें नहीं थी, पर मैं कर ही नहीं सकता था। किसी ने मुझसे कह दिया था कि अगर किसी चीज को 120 बार दुहरा दिया जाये तो वह जरूर कंठस्थ हो जाती है। मैं बहुत मेहनत करके 120 बार दुहराने का भी प्रयत्न करता, पर तो भी पेज-का-पेज कंठस्थ नहीं कर सकता। मेरी आदत सही-शाम सो जाने और सवेरे 4 बजे के करीब उठ जाने की थी। हथुआ में 120 बार दुहराने के लिए मैं कभी-कभी डेढ़-दो बजे रात में ही उठ जाता। तो भी सबक पूरा नहीं कर पाता। स्कूल में मास्टर हालत देखकर कभी-कभी कुढ़ते और कहते कि यह चौथे दर्जे में भर्ती करने लायक था ही नहीं और धमकी देते कि पांचवें क्लास में तुमको वापस कर दिया जायेगा। यह सब मेरे लिए

मार्मिक दर्द का कारण होता और जैसे दुख के दिन मेरे वहां कटे और कहीं पढ़ने के दिनों में नहीं कटे। कभी-कभी मैं सोचता कि शायद अगर क्लास न लांघे होता तो यह दशा नहीं होती।

अंत में मैं बहुत बीमार पड़ गया और सालाना इम्तहान के समय तक बीमार ही रहा। सालाना इम्तहान शायद दे देता तो किसी प्रकार पास भी कर जाता और तरक्की भी हो जाती। छुट्टियों में भाई घर आये और सब हाल उन्होंने देखा-सुना तो उनकी राय हुई कि सालाना इम्तहान देकर तरक्की लेने की जरूरत नहीं है, इस स्कूल को छोड़कर छपरा जिला-स्कूल में फिर वापस जाना ही अच्छा होगा। ऐसा ही निश्चय हुआ और मैं वहां से फिर छपरा स्कूल में चौथे क्लास में ही दाखिल हुआ।

उधर भाई साहब की भी अजीब हालत रही। मेडिकल कालेज में किसी कारण से उनका नाम नहीं लिखा गया और वह फिर पटने में वापस आकर बी. ए. क्लास में पढ़ने लगे। चूंकि मेरा नाम हथुआ स्कूल में लिखा जा चुका था, वहां से तुरंत फिर पटने ले जाना उचित नहीं समझा गया और छः महीनों तक मैं हथुआ में ही रहा।

स्कूल की पढ़ाई पर ही मैं भरोसा रखता था। घर पर पढ़ाने के लिए कभी कोई मास्टर नहीं रखा गया था। हथुआ की पढ़ाई की परेशानी के कारण हैरान होकर मैं एक मास्टर के घर पर जाया करता जो एक प्रकार के संबंधी भी होते थे। वह पढ़ा भी दिया करते, पर सबक एक दिन भी मैं पूरा नहीं कर सका। उस स्कूल से चला आना मेरे लिए एक बड़ी बात हुई। छपरा पहुंचते ही मानो खोई हुई बुद्धि फिर लौट आयी। चौथे दर्जे में छपरा स्कूल में बहुत लड़के थे, इसलिए उसके तीन भाग हो गये थे। वहां एक बंगाली मास्टर श्री रसिकलाल राय थे। वह एक सेक्शन के, जिसमें मैं था, क्लास-मास्टर थे। बड़े सज्जन थे। पढ़ाने का तरीका भी बहुत अच्छा था। लड़कों के साथ बहुत प्रेम रखते और लड़के भी उनको बहुत मानते थे। यद्यपि वह मेरे क्लास के क्लास-मास्टर थे, पर दूसरे सेक्शन में भी पढ़ाया करते और चौथे दर्जे के प्रायः सभी छात्रों को जानते थे। उनकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा हो गयी। चौथे क्लास में छात्रों की संख्या केवल अधिक ही नहीं थी, अच्छे-अच्छे छात्र भी थे, जिनमें कई तो मिडिल स्कूल से पास करके छात्रवृत्ति लेकर आये थे। उनका गणित, भूगोल और इतिहास का ज्ञान अच्छा था—चूंकि यह विषय वे हिन्दी में पढ़ चुके थे और यहां पढ़े हुए विषयों को ही अंगरेजी के माध्यम द्वारा दुहराना था। थोड़े ही दिनों में मास्टर ने महसूस किया और मेरे साथियों ने भी समझा कि मैं भी तेज लड़कों में एक हूं।

रसिक बाबू मुझे विशेष प्यार करने लगे। मैं इतने लड़कों के बीच किसी भी परीक्षा में अभी अव्वल स्थान नहीं पा सकता था, पर रसिक बाबू ने मुझसे उन्हीं दिनों कहा कि देखो, मेहनत करो—अंत में तुम्हारा और रामानुग्रह का ही मुकाबला रहेगा और दूसरे साथी तेज होने पर भी तुमसे नीचे हो जायेंगे। न मालूम उन्होंने क्यों ऐसा कहा। पर बात ऐसी ही

हुई—केवल उनकी भविष्यवाणी पूरी होने में दो-तीन साल लग गये। सालाना इम्तहान में मेरा स्थान चौथा हुआ। कुछ इनाम मिला, मगर दूसरों को अधिक मिला। तीसरे दर्जे में भी उन्होंने पढ़ाया और एक दूसरे मास्टर ने भी, जिनकी स्मृति आज भी वैसी ही बनी रहती है और जो आज भी जीवित हैं। उनका नाम बाबू राजेन्द्र प्रसाद है। वह इतिहास पढ़ाया करते थे और उनका ऐसा सुंदर तरीका था कि सब बातें कथा की तरह याद हो जातीं। हथुआ के तरीके के ठीक उल्टा तरीका उनका था। अपनी भाषा में जो सब बातें अच्छी तरह अदा कर देता वही अच्छा समझा जाता। मैं यह आसानी से कर सकता था। हथुआ में मेहनत करके बरजबान करने की जो कोशिश की थी उससे बीच-बीच में अच्छे लच्छेदार शब्द और वाक्य भी आ जाते। अपनी समझदारी और बरजबान करने के प्रयत्न दोनों मिलकर अच्छा रंग बांध देते और मास्टर साहब उसे बहुत पसंद करते।

तीसरे से दूसरे दर्जे में तरक्की हुई और सालाना इम्तहान में मैंने तीसरा स्थान पाया। इसी प्रकार दूसरे से अव्वल दर्जे में जाने के पहले जो परीक्षा हुई उसमें मैं अव्वल और रामानुग्रह दूसरे स्थान में आये। रसिक बाबू की बात पूरी हुई। मेरे साथ-ही-साथ मानो रसिक बाबू की भी तरक्की होती गयी और चौथे से तीसरे, तीसरे से दूसरे, और दूसरे से पहले दर्जे में वह पढ़ाने लगे। हां, इस बीच में बाबू राजेन्द्र प्रसाद की बदली हो गयी और रसिक बाबू भी कुछ दिनों के लिए दूसरे स्कूल में चले गये थे। राजेन्द्र बाबू तो वापस नहीं आये, पर रसिक बाबू वापस आ गये। हम लोगों की, खास करके मेरी खुशी का ठिकाना न रहा।

रसिक बाबू केवल पढ़ाने में ही पटु न थे, लड़कों के चरित्र पर भी ध्यान रखते थे। स्कूल के मास्टरों में से मेरे ऊपर सबसे अधिक और गहरी छाप उनकी ही पड़ी। यों तो बाबू राजेन्द्र प्रसाद का भी और मौलवी साहब का, जो फारसी पढ़ाते थे, काफी असर रहा। मगर रसिक बाबू तो मानो घर के आदमी थे। उनसे डर भी लगता और प्रेम भी था। वह पढ़ाते भी और अच्छी बातें बताकर विचार भी सुधारते। यद्यपि मैं पटने में दो बरस तक रह आया था, तथापि इतनी कम अवस्था में रहा कि मुझे कोई विशेष ज्ञान नहीं हुआ था। रसिक बाबू कुछ देश की बातें भी बताते थे। कैसे पढ़कर आदमी ऊंचे दर्जे पर पहुंच सकता है, इस ओर भी ध्यान दिलाते। जब मैं एंट्रेन्स क्लास में पहुंचा, उन्होंने साफ कह दिया कि मेहनत करो तुम युनिवर्सिटी में ऊंचा स्थान पा सकते हो। मैंने इसका अर्थ ही नहीं समझा। मैंने इतना ही समझा कि शायद छात्रवृत्ति मिल जाये।

जिस समय मैं दूसरे दर्जे का सालाना इम्तहान दे रहा था, छपरे में बहुत जोरों से प्लेग की बीमारी जारी थी। दो दिन परीक्षा देने के बाद मेरे गले में सूजन आ गया और बहुत ज्वर चढ़ गया। मैं तीसरे दिन से परीक्षा में नहीं बैठ सका। घर पर खबर गयी। बाबूजी घबराकर आ गये और मुझे जीरादेई ले गये। वहां उन्होंने खुद दवा की और मैं नीरोग हो गया।

मालूम नहीं कि मुझे प्लेग हुआ था या केवल गलसुआ; पर शुबहा प्लेग का ही था। काफी घबराहट रही। इसी घबराहट में ठीक समय पर स्कूल की फीस नहीं दी गयी। नाम कट गया। परीक्षा का फल देखा गया तो दोनों विषयों में मैं अव्वल आया था। नम्बर भी इतना अधिक आया था कि बाकी दो विषयों में परीक्षा दिये ही बिना पास करने के लिए वह काफी समझा गया। उन्हीं दिनों नये हेडमास्टर बदलकर आ गये थे। उन्होंने मेरी गैरहाजिरी में ही तरक्की दे दी थी। पर तरक्की होने पर भी, फीस न देने के कारण, नाम तो कट ही गया। जब मैं अच्छा हुआ तो कुछ दिनों बाद गया और फिर से नाम लिखाकर पढ़ने लगा।

एक दिन रसिक बाबू ने मुझसे कहा, तुम्हारा नाम कट जाना अच्छा नहीं हुआ। कायदे के मुताबिक एंट्रेन्स पास करने पर उसी लड़के को छात्रवृत्ति मिल सकती है जो कम-से-कम पूरा एक साल एक स्कूल में पढ़ता रहा हो। अब तुम नम्बर पाने पर भी छात्रवृत्ति नहीं पा सकोगे। मगर एक उपाय करो। एक दर्खास्त डाइरेक्टर के पास अपने पिताजी से भिजवाओ कि वह तुमको इस कायदे से बरी करा दे।

एक दर्खास्त मैंने लिखवाकर दी। उसमें यह बात लिखी गयी कि प्लेग हो जाने के कारण मैं घर पर रह गया और फीस नहीं दी जा सकी, जिस वजह से नाम कट गया। इसके अलावा परीक्षा का फल इत्यादि दिखलाकर यह कहा गया था कि आशा की जाती है कि छात्रवृत्ति मिल सकेगी, किंतु यह नियम बाधक होता है। हेडमास्टर ने दर्खास्त देखकर कहा कि यह फजूल है, नियम बदलने का अख्तियार डाइरेक्टर को भी नहीं है, इसलिए मैं कैसे दर्खास्त पर सिफारिश कर सकता हूं, मुझे क्या मालूम कि तुमको प्लेग हुआ था या नहीं? इलाज तो डाक्टर का हुआ नहीं था, इसलिए डाक्टर का सर्टिफिकेट भी मैं नहीं दे सकता था। खैर, उन्होंने बिना किसी सिफारिश के ही दर्खास्त ऊपर भेज दी।

रसिक बाबू को इसका अफसोस रहा कि हेडमास्टर ने सिफारिश नहीं की। वह समझते थे कि शायद ऐसी हालत में डाइरेक्टर मंजूर न करे। उन्होंने मुझे सांत्वना दी कि खैर, दर्खास्त देने से कोई नुकसान तो होगा ही नहीं। कायदा था कि दर्खास्त डाइरेक्टर के पास इंसपेक्टर की मार्फत ही जा सकती थी। इसलिए, यद्यपि वह डाइरेक्टर के लिए थी, तथापि पहले इंसपेक्टर के पास गयी। इंसपेक्टर ने दर्खास्त पढ़कर उसे डाइरेक्टर के पास भी भेजना जरूरी नहीं समझा और उसे मंजूर करके पत्र लिख भेजा। हेडमास्टर ने मुझसे क्लास में ही कहा कि तुम्हारी दर्खास्त इंसपेक्टर ने ही मंजूर करके वापस की है। साथ ही, यह भी कहा कि मैं नहीं जानता, इंसपेक्टर को इसे मंजूर करने का कोई अधिकार है; पर तुमको अब चिंता नहीं करनी है।

रसिक बाबू सुनकर बहुत खुश हुए और मुझे अधिक प्रोत्साहन देने लगे। यहां तक कि वह बिना कुछ लिये अपने घर पर भी बुलाकर सब विषयों में, जहां कहीं मुझे कोई दिक्कत मालूम होती, बता देते और रोज-रोज ताकीद करते कि इस तरह पढ़ो, यह पढ़ो, वह पढ़ो।

उनके दिल में यह बात बैठ गयी थी कि मैं युनिवर्सिटी में ऊंचा दर्जा पा सकूंगा। मुझे इसका पता तक नहीं था कि युनिवर्सिटी में भी मुझ जैसा आदमी ऊंचा दर्जा पा सकता है।

उन दिनों तीन प्रकार की छात्रवृत्तियां मिला करती थीं। दो या तीन दस रुपयों की, जो जिले-भर में अव्वल दो या तीन लड़कों को; दूसरी दो या तीन पंद्रह रुपये मासिक की, जो डिवीजन-भर में, जिसमें उन दिनों आजकल के पटना और तिर्हुत डिवीजनों के सात जिले शामिल थे, अव्वल दो या तीन लड़कों को; और तीसरी 20 रुपये मासिक की, जो सारी युनिवर्सिटी-भर में अव्वल दस लड़कों को मिलती थी। बिहार सूबा बंगाल का हिस्सा था और कलकत्ता युनिवर्सिटी का अधिकार बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम और बर्मा पर था। एक ही परीक्षा होती थी और इन सब सूबों के लड़कों में जो सबसे ऊपर आते उन दस लड़कों को ही 20 रुपये की छात्रवृत्ति मिलती। मेरी उच्चाभिलाषा हद-से-हद 10 या 15 रुपये की छात्रवृत्ति पाने तक जा सकती थी। इससे ऊपर कभी गयी ही नहीं। पर इसके लिए भी मैं समझता था कि काफी परिश्रम की जरूरत है, इसलिए मैं काफी मेहनत करता था।

युनिवर्सिटी की परीक्षा के पहले स्कूल में परीक्षा हुआ करती। इसमें जो लोग पास होते उनको ही युनिवर्सिटी की परीक्षा में शामिल होने की इजाजत मिलती। मैं इस परीक्षा में बहुत नम्बर पाकर सबसे ऊपर आया। युनिवर्सिटी में परीक्षा देने की आज्ञा तो मिली, पर एक अड़चन का भी सामना करना पड़ा। एक विषय था ड्राइंग जो ऐच्छिक था। पर छात्रवृत्ति के लिए फल जांचने में उसके नम्बर भी जोड़े जाते थे। यद्यपि मैं और विषयों में तो काफी नम्बर पा चुका था, तथापि ड्राइंग के मास्टर ने ड्राइंग में युनिवर्सिटी में परीक्षा देने की इजाजत देने से इंकार कर दिया। ड्राइंग में 20 या 25 नम्बर मिल सकते थे। यदि उसमें परीक्षा ही न दूं तो ये 20 या 25 नम्बर मिलेंगे ही नहीं और छात्रवृत्ति मिलना कठिन हो जायेगा। बहुत कहने-सुनने पर मास्टर ने इस शर्त पर इजाजत दी कि उस दिन से परीक्षा के समय तक मैं कम-से-कम एक घंटा रोज ड्राइंग बनाया करूं। मैंने शर्त मान ली और पूरी भी की। अच्छा ही हुआ, क्योंकि शायद ऐसा न करता तो ड्राइंग में 25 नम्बर नहीं आते और जो स्थान मुझे मिला वह नहीं मिलता। अंत में परीक्षा के दिन निकट आये और मैं कुछ रोज पहले ही परीक्षा देने पटने चला आया।

परीक्षा हुई और पटने से मैं घर आया। भाई भी छुट्टियों में घर आये। उन्होंने कलकत्ते से वापस आकर पटने में नाम लिखाया, पर बहुत बीमार पड़ गये। डाक्टरों की राय से वह पढ़ने के लिए इलाहाबाद चले गये। वहां के म्योर सेंट्रल कालेज से उसी साल वह बी. ए. पास कर चुके थे। एम. ए. और बी. एल. पढ़ने के लिए वह फिर कलकत्ते चले गये थे। इलाहाबाद और कलकत्ते में रहने के कारण वहां से छुट्टियों में आकर वह बहुत बातें कहा करते। मैं उन बातों को बड़ी श्रद्धा से सुना करता और जहां तक हो सकता उनको माना भी करता। शायद 1899 में वह इलाहाबाद से घर आये थे और उन्होंने स्वदेशी की बात कही

थी। स्वदेशी कपड़े भी वहां से साथ लाये थे। मैंने उसी समय से स्वदेशी कपड़ा पहनना शुरू किया। जब तक गांधीजी ने खद्दर की बात नहीं उठायी, स्वदेशी कपड़े ही बराबर पहनता रहा। केवल एक बार कुछ विलायती कपड़े खरीदे थे, जिसका जिक्र आगे आवेगा। नहीं तो, उसी समय से भाई ने स्वदेशी कपड़े का इस्तेमाल खुद शुरू किया और मुझसे भी शुरू कराया। उन्होंने तो फिर कभी विदेशी कोई कपड़ा खरीदा ही नहीं। खद्दर के चल जाने पर खद्दर के सिवा दूसरे प्रकार का स्वदेशी भी कभी नहीं खरीदा।

स्वदेशी का विचार केवल कपड़ों तक ही सीमित नहीं रहा। जहां तक हो सकता था, और चीजों के खरीदने में भी इसका ख्याल रखा जाता था। युनिवर्सिटी के इम्तहान देने के लिए खास करके देशी कलम और निब भी मैंने ली थी और ऐसी-ऐसी चीजें भाई बराबर इलाहाबाद और कलकत्ते से ला दिया करते। मुझे अब शक होता है कि बहुत चीजें, जिनको हम अपने भोलेपन से स्वदेशी जानकर खरीद लेते थे, शायद स्वदेशी नहीं थीं और दूकानदार हमको ठग लिया करते थे। पर हमारी श्रद्धा अटल थी और हम अपने जानते उनको स्वदेशी समझकर ही लेते थे।

गर्मी की छुट्टियों में हम सब संध्या के समय टहलने जा रहे थे कि किसी ने आकर कहा कि परीक्षा-फल गजट में निकल गया। हम लोग सीवान गये तो केवल इतना ही मालूम हुआ कि हमने पहले दर्जे (फर्स्ट डिवीजन) में पास किया है। अभी छात्रवृत्ति की घोषणा नहीं हुई थी। कुछ दिनों के बाद उसी प्रकार एक दिन संध्या को टहलने के समय एक आदमी ने आकर एक तार दिया जिसमें लिखा था कि मैं युनिवर्सिटी में अव्वल हुआ। भाई ने तार पढ़ा, और बहुत खुश हुए। हम लोग दौड़ते-दौड़ते घर आये, और बाबूजी से कहा। भाई ने उनको समझाया कि युनिवर्सिटी में अव्वल होने का क्या अर्थ है। बाबूजी की तथा घर में मां और सब लोगों की खुशी का ठिकाना न रहा। मैंने, भाई की राय से, पहले से ही ठीक कर रखा था कि पास करने पर मैं कलकत्ते के प्रेसिडेंसी कालेज में ही पढूंगा। एंट्रेन्स की परीक्षा की दर्खास्त भेजने के समय उसमें लिख भी दिया था कि छात्रवृत्ति अगर मिलेगी तो मैं उसे प्रेसिडेंसी कालेज में ही पढ़कर भोगूंगा। उसी निश्चय के मुताबिक मेरा कलकत्ता जाना जल्दी ही तय पा गया।

छपरा स्कूल में पढ़ने के समय मैं वहां एक पंडितजी के साथ रहा करता था जो बड़े नामी ज्योतिषी थे और आज भी हैं। उनका नाम है पंडित विक्रमादित्य मिश्र। वही मेरे अभिभावक (Guardian) के स्थान पर थे। वह स्वयं विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। प्रतिदिन सरजू-स्नान किया करते, किसी दूसरे का छुआ हुआ जल तक भी ग्रहण नहीं करते। पूजा-पाठ खूब हुआ करता। वहीं पर एक छोटी ठाकुरबारी भी हथुआ राज की थी। इन सबका असर हम छोटे लड़कों के दिल पर वैसा ही पड़ा जैसा पड़ना चाहिए। हम लोग अपने को कट्टर सनातनी समझते और अगर कोई आर्यसमाजी आ जाता तो उससे बहस भी छेड़

देते। स्कूल में महामहोपाध्याय रघुनन्दन त्रिपाठी हेडपंडित थे। स्कूल में मैं फारसी पढ़ता था, पर उनके द्वारा घर पर कुछ संस्कृत पढ़ना भी आरम्भ किया। लघुकौमुदी के कुछ सूत्र घोख भी लिये; पर इसको जारी नहीं रख सका। छपरा स्कूल के संस्मरण आज भी दिल पर असर रखते हैं, जो सुंदर और सुखमय हैं।

मुझे याद है कि छुट्टियों के अलावा मैं कभी घर नहीं जाता था। छुट्टियों में घर जाने पर मां अक्सर कुछ अधिक दिनों तक वहां रोक लेना चाहतीं। पर मैं इस पर जल्दी राजी नहीं होता। छुट्टियों में तो जीरादेई में खूब खेलना ही एक काम रहता और सारा समय प्रायः चिक्का में लगता। भाई भी घर आ जाते और हम लोगों के साथ खेल में शरीक होते।

छपरे का जीवन बहुत सादा था। पास में रुपये शायद ही कभी रहते। वहां एक मोदी से तय था कि वह सब चीजें हमें दिया करेगा। यह प्रथा छपरे में भाई के पढ़ने के समय से चली आती थी। रोजाना पुर्जा लिखकर उसी मोदी के यहां से चावल, दाल, घी, लकड़ी और जलपान के लिए कचौरी-मिठाई भी आ जाती। वह जाति का हलवाई था। इसलिए वह सब चीजें दे सकता था। इसी प्रकार एक कुंजड़िन थी जो तरकारी पहुंचा देती। मोदी जीरादेई आता और पुर्जों को पेश करता, हिसाब होता और उसे रुपये वहीं मिल जाते। कुंजड़िन को जीरादेई नहीं आना पड़ता। उसका हिसाब करके वहीं एक कारपरदाज दे देते थे, जो मामला-मुकदमा देखने के लिए छपरे जाया-आया करते। स्कूल की फीस के लिए रुपये भी वही देते। अगर कपड़े की जरूरत होती तो वही खरीद देते। इस प्रकार छपरे में पढ़ने के समय मेरे हाथों में रुपये शायद ही कभी आते।

घर की अवस्था भी कुछ अच्छी नहीं थी। जमींदारी तो उतनी ही थी जितनी बाबा और नूनू के समय में। मगर उन लोगों के मरने के बाद से बाबूजी कुछ तरद्दुद में पड़ गये थे। हम लोगों के खर्च के लिए नगद रुपये जुटाने में उन्हें कष्ट होता। मोदी को भी हमेशा नगद जीरादेई में नहीं मिलता। कभी-कभी किसी गांव के तहसीलदार के नाम चिट्ठी मिलती और वह जीरादेई से उस गांव जाता और वहां से रुपये लेता। छपरे का खर्च कम था और इस तरह किसी प्रकार चल जाता। मुझे कभी रुपये की कमी का अनुभव नहीं हुआ। एक और कारण यह था कि भाई इस पर ध्यान रखते और जब छुट्टियों में आते तो कुछ-न-कुछ प्रबंध करा जाते। पर भाई का खर्च महीने-महीने इलाहाबाद भेजना पड़ता। इसमें बाबूजी को प्रायः कष्ट हुआ करता। पर उन्होंने निश्चय कर लिया था कि चाहे जो हो, लड़कों को पढ़ाने का खर्च किसी तरह से जुटाना ही होगा।

एक दीवान थे जो जमींदारी का इंतजाम किया करते थे। वह बाबा के समय से थे और जमींदारी का पूरा हाल जानते ते। बाबूजी ने बाबा के रहते जमींदारी देखी नहीं थी, इसलिए उन्हें दीवानजी पर भरोसा करना पड़ता। मुझे याद है, भाई को परीक्षा की फीस देनी थी; उनका पत्र आया कि किसी निश्चित तिथि के पहले 50 या 60 रुपये फीस दाखिल कर देनी

होगी, नहीं तो एक साल के लिए इम्तहान से वंचित रहना होगा। रुपये बाबूजी के पास थे नहीं। दीवानजी देहात से रुपये दे नहीं सके। बाबूजी बहुत तरद्दुद में पड़े। मां का सोने का कंठा बंधक रख कहीं से रुपये मंगवाकर समय पर भेजा। सब कुछ रहते हुए ऐसी अवस्था पहुंच गयी थी कि कभी-कभी रसोई बनने में भी देर हो जाती थी। भाई समझते थे कि यह सब कुछ दीवानजी की बदइंतजामी से है और बहुत कुढ़ते थे, पर कुछ कर नहीं सकते थे। छुट्टियों में एक बार आकर उन्होंने कुछ कारबार संभालना शुरू किया; पर जब तक इलाहाबाद पढ़ते रहे, कुछ विशेष कर नहीं सके।

जमींदारी की आमदनी सालाना प्रायः सात-आठ हजार की थी, जिसमें सरकारी मालगुजारी देकर पांच से छः हजार की बचत थी। सैकड़ों बीघे जीरात के खेत थे जिनमें काफी धान, गेहूं, मकई, अरहर, जव इत्यादि होते और ऊख से गुड़ बनाकर कुछ नगद रुपये भी आ जाते। यही खेत थे जो हमारे बचपन में हमेशा इतना अन्न दिया करते कि घर भरा रहता। गाय-भैंस दूध काफी दे देतीं और कई जोड़े बैल भी रहते। पर इस समय न मालूम क्या हो गया था कि घर-खर्च के लिए भी धान पूरा नहीं होता और अन्न भी खरीदना पड़ता। बाबूजी ने नुकसान-ही-नुकसान देखकर कुछ दिनों के लिए खेती का काम बंद भी कर दिया था। वे दिन कुछ दुख के थे, पर बाबूजी धीरज से रहते और लोगों से बातों में कहा करते कि हमारे दोनों लड़के ही हमारे धन हैं।

इस संबंध में एक और घटना यहां कह देने योग्य है। नूनू के मरने के बाद बाबा और बाबूजी रह गये। हम लोग बच्चे थे। हम ऊपर कह चुके हैं कि बाबा ने ही सारी जमींदारी खरीदी थी और सब कुछ उनका ही उपार्जन किया हुआ था। नूनू के केवल एक लड़की थी। नूनू के मरने के बाद किसी ने बाबा को समझाया कि उनके (बाबा के) मरने के बाद उस लड़की को और हमारी चाची को कष्ट हो सकता है, इसलिए कुछ-न-कुछ प्रबंध कर देना चाहिए। बाबा ने एक वसीयतनामा लिखने का निश्चय किया और वह सीवान से तैयार होकर आया। उसके अनुसार चाची के खर्च के लिए प्राय1000 रुपये सालाना की आमदनी वाले दो गांव उनकी जिंदगी तक के लिए दिये गये थे और बहिन को सारी जमींदारी में से सात आने का हिस्सा दिया गया था, और हम लोगों को बाकी नौ आने।

खानदान बराबर इजमाल रहा था, इसलिए यह निश्चित नहीं था कि बाबा इस प्रकार की वसीयत करने के अधिकारी थे या नहीं। बगैर वसीयत के उनके मरने पर सारी सम्पत्ति के मालिक बाबूजी हो जाते, चाची केवल खोरिश की हकदार होतीं और लड़की को कोई हिस्सा नहीं मिलता। इसलिए कुछ लोगों ने सलाह देकर वसीयत करने की बात बाबा को सुझायी। बाबूजी को इसकी खबर नहीं दी गयी। सब कुछ तैयार हो जाने पर एक दिन रजिस्ट्रार रजिस्ट्री करने के लिए जीरादेई आये। लोगों ने राय दे दी कि बाबूजी अगर वसीयतनामा पर गवाही बना देंगे तो फिर उनको उसके खिलाफ आवाज उठाने का हक नहीं

होगा और सब बात पक्की हो जायेगी। रजिस्ट्रार के जीरादेई पहुंचने पर ही बाबूजी को सब बातें मालूम हुईं। बाबा ने उनको गवाही बना देने को कहा। बाबा के दिल में कुछ संदेह पैदा कर दिया गया था कि बाबूजी इसमें शायद उज्र करेंगे। बाबूजी ने बाबा से साफ-साफ कहा कि आप जो हुकुम दें, मुझे मंजूर है, आप ही ने हमको पाला-पोसा है, आप ही ने सब कुछ पैदा किया है, आप अगर सोलह आने भी चंद्रमुखी को दे दें तो मुझे कुछ उज्र नहीं है, मेरे लिए धन तो दोनों लड़के हैं, उनको आप आशीर्वाद दे देवें। हम लोग भी वहां बुलाये गये। बाबा फूट-फूटकर रोने लगे और उन लोगों को गालियां देने लगे जिन लोगों ने बातें बनाकर उनके मन में तरह-तरह के संदेह पैदा करने का प्रयत्न किया था। बाबूजी ने गवाही बना दी और वसीयतनामा की रजिस्ट्री करके रजिस्ट्रार चले गये।

दुर्भाग्यवश, जिस समय मैं हथुआ स्कूल में पढ़ता था उसी समय, कुछ दिनों तक बीमार रहकर, हजार कोशिश के बाद भी, चंद्रमुखी अविवाहित मर गयी। चाची बहुत दिनों तक जीती रहीं और मिली हुई आमदनी को तीर्थ-व्रत में खर्च करती रहीं। उनके मरने के बाद सारी जमींदारी हम दोनों भाइयों को पूरी-पूरी मिल गयी। वह प्रायः सभी तीर्थों में गयी थीं। इसमें उनका साथ देने वाली मेरी विधवा बहन थीं, जो विधवा होने के बाद से बराबर मेरे ही घर में रही हैं और अभी तक हैं। इन दोनों में तीर्थ-व्रत में मानो होड़ होती थी और शायद ही कोई स्नान या समैया होता हो जिसमें ये शरीक न होती हों। दोनों ने चारों धाम अर्थात जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारका और बदरीनाथ के दर्शन किये। बहन तो बदरीनाथ दो-तीन बार गयी हैं। मेरी मां घर पर ही रहतीं, कभी-कभी तीर्थ में जातीं। मुझे याद है कि स्कूल में पढ़ने के जमाने में ही एक बार मां-चाची और बहन के साथ मैं अयोध्याजी और दूसरी बार मथुरा-वृंदावन दर्शनार्थ गया था। इन यात्राओं में खर्च काफी पड़ता था और तकलीफ भी काफी होती थी। उस समय मैंने अनुभव किया कि तीर्थों में पंडा लोग बड़ा काम किया करते हैं। उनके ही घर में हम लोग ठहरे थे। वहां पर वे लोग बराबर साथ घूम-घूमकर सब स्थानों में दर्शन कराते और किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होने देते। किसी जमाने में, जिसका मुझे स्मरण नहीं है, बाबा, बाबूजी, नूनू वगैरह भी इन तीर्थों में गये थे और वहां के पंडों की बहियों में उनके नाम लिखे हैं। पंडों के लिए कुछ-न-कुछ सालाना की तरह पर भी मुकर्रर था जो वे हर साल जीरादेई आकर ले जाते थे। इन कारणों से वे हम लोगों की विशेष खातिरदारी करते और हमारी यात्रा में भी उनको दान तो मिलता ही था। दान-पुन्न, पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा, स्नान आदि में घर-भर की 'लीडर' बहन थीं और आज भी हैं। घर में एक-न-एक प्रकार की पूजा बराबर लगी ही रहती थी। कुछ-न-कुछ आज भी वही बात है।

इस प्रकार स्कूल में पढ़ने का समय बीता था। घर के साथ मेरा संबंध कम ही रहता था। केवल छुट्टियों में आना-जाना होता। शादी हो गयी थी, पर स्त्री से मुलाकात कम ही होती। छुट्टियों में आने पर रात के समय भेंट हो जाती। एक बार मेरी स्त्री को हैजा हो गया।

मैं उस समय घर पर ही था। बाबूजी के दवा-इलाज करने से वह अच्छी हो गयी। पर बाबूजी बहुत चिंतित हो गये थे। मेरी हालत भी कुछ अच्छी नहीं थी। किसी का अपनी स्त्री के संबंध में बहुत फिक्र रखना उन दिनों की प्रथा के अनुसार बदसलीका-पन (bad form) समझा जाता था। मैं चिंतित था। जानना और देखना भी चाहता था, पर किसी से न तो पूछ सकता था और न देखने की ख्वाहिश जाहिर कर सकता था। घर के लोगों का ध्यान शायद इस ओर गया ही नहीं कि मुझे भी उस बीमारी में दिलचस्पी है। खैर, उसके अच्छी हो जाने पर फिर कोई बात नहीं रही और मुझे शांति मिल गयी। अगर कुछ हालत खराब होती तो न मालूम बदसलीका-पन का बंधन कब तक मुझे बांध रखता!

इस प्रकार घर में बराबर बंद रहते-रहते मेरी भौजाई और मेरी स्त्री दोनों का स्वास्थ्य खराब हो जाना स्वाभाविक था। ऐसा ही हुआ भी। दोनों ही कुछ दिनों तक, एक के बाद दूसरी, गठिया से तकलीफ पाती रहीं, जो बहुत दिनों के बाद, जब वे आंगन में खूब घूमने-फिरने लगीं तभी, छूटी।

8

कालेज में दाखिल

इम्तहान का नतीजा मालूम हो जाने के बाद मैं छपरे आया और वहां यह पता लगा कि केवल मेरा ही नतीजा अच्छा नहीं हुआ है, बल्कि स्कूल-भर का नतीजा बहुत अच्छा हुआ। मेरे साथी रामानुग्रह को भी 20 रुपये की छात्रवृत्ति मिली है और दो आदमियों को 15 की और दो को 10 रुपये की। इनके अलावा अव्वल दर्जा (First division) हासिल करने वालों की संख्या भी काफी है और एकबारगी फेल भी शायद एक-दो ने ही किया है। इस प्रकार का नतीजा छपरा जिला-स्कूल का कभी नहीं हुआ था। बिहार-भर में किसी भी स्कूल का ऐसा अच्छा नतीजा कभी नहीं हुआ था। इसलिए स्कूल के लोग बहुत खुश थे और छपरे के वकीलों में भी बड़ी खुशी थी। बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद छपरे में वकालत शुरू कर चुके थे। अभी नये थे, बहुत उत्साह था। थोड़े ही दिनों में लोगों पर, विशेष करके वकालतखाने में, उनका कुछ प्रभाव भी हो गया था। यद्यपि वह मेरे गांव से तीन कोस पर के ही रहने वाले थे, पर मैं उनको जानता नहीं था। जब मैं छपरे आया तो उन्होंने भाई से राय करके एक छोटा-मोटा तबाजा (पार्टी) का प्रबंध किया, जिसमें मैं भी बुलाया गया; पर मै ठीक उसी समय बीमार पड़ गया, शरीक नहीं हो सका।

छपरे में पहुंचकर मैं सबसे पहले रसिक बाबू से मिला। वह बहुत ही प्रसन्न थे। उन्होंने तुरंत आम और मिठाई खिलायी। मुझे बहुत देर तक समझाते रहे कि इस नतीजे से मेरी जवाबदेही बहुत बढ़ गयी। यह पहला अवसर था कि कोई बिहारी युनिवर्सिटी में अव्वल हुआ है। बंगाल के लड़के इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकेंगे। वह बहुत परिश्रम करके मुझे एफ. ए. की परीक्षा में हराने का प्रयत्न करेंगे। कुछ बुरे लड़के मुझे दूसरे प्रकार से भी बिगाड़कर गिरा देने से बाज नहीं आवेंगे। इसलिए मुझे कलकत्ते में बड़ी सावधानी और चौकसी से रहना होगा, और परिश्रम करके जो स्थान मैंने पाया है उसे कायम रखना चाहिए। मुझे सब बातों की सूचना उनको देते रहना चाहिए और किसी तरह से सुस्ती या गफलत नहीं करनी चाहिए। कलकत्ता बहुत बड़ा शहर है। उसमें खेल-तमाशे भी बहुत हैं। बुरी चीजें भी बहुत हैं। सबसे बचना चाहिए और कालेज में, जहां तक हो सके मेहनत करके, अपना स्थान

बचाये रखना चाहिए। उनके दिल में यह बात बैठी थी कि मेरे लिए अब किसी-न-किसी तरह एफ. ए. में भी फिर फर्स्ट होना जरूरी है और अगर मैं इसमें चूका तो बहुत खराब होगा। इसीलिए इस बात पर उन्होंने तरह-तरह से जोर दिया और मुझे बहुत समझा-बुझाकर कलकत्ते जाने के लिए रवाना किया। अपने डेरे पर पहुंचते-पहुंचते मुझे बुखार हो गया और यात्रा रुक गयी। कुछ दिनों के बाद जब अच्छा हुआ तो भाई के साथ कलकत्ते पहुंचा।

कलकत्ते में भाई पहले से ही ईडन हिन्दू होस्टल में रहा करते थे और डफ कालेज में एम. ए. क्लास में हिस्ट्री और रिपन कालेज में बी. एल. के लिए कानून पढ़ा करते थे। मैं भी उनके साथ ही वहां गया। यह पहला ही मौका था कि मैं कलकत्ते गया। वहां के मकानों, सड़कों, ट्रामगाड़ी इत्यादि को देखकर चकित रहा और जब होस्टल में पहुंचा तो वह मेरे छपरे के डेरे के मुकाबले में महल जैसा लगा। मैं इतनी देर करके पहुंचा था कि होस्टल में विद्यार्थी खचाखच भर गये थे, एक भी जगह नहीं थी। मैं तब तक भाई के साथ ही उनके ही कमरे में ठहरा। जब प्रेसिडेंसी कालेज में पहुंचा तो मालूम हुआ कि वहां भी काफी लड़के आ चुके हैं और नये लोगों की भरती बंद हो गयी है। डाक्टर पी. के. राय प्रिंसिपल थे। भाई ने उनसे मुलाकात की और उन्होंने मुझे भरती कर लेने का हुक्म दे दिया। कालेज में तो मैं दाखिल हो गया, पर होस्टल में तो जगह थी ही नहीं। वहां जगह न मिलने पर जिस कमरे में भाई रहते थे उसी में चार की जगह पांच चौकियां रख दी गयीं और मैं रहने लगा।

जब मैं क्लास में गया तो वहां भी दूसरी ही समां थी। मैंने इतने सिर-खुले बंगाली लड़के एक साथ कभी देखे ही नहीं थे। उनमें कुछ कोट-पतलून-हैट पहनने वाले भी थे। वे ऐसे लोगों के ही लड़के थे जिनके पिता विलायत से लौटकर बैरिस्टरी या डाक्टरी वगैरह कर रहे थे। मैंने किसी हिन्दुस्तानी लड़के को उस दिन तक हैट-कोट पहनते देखा ही नहीं था। इससे मेरे दिल में शक हुआ कि ये लोग ऐंग्लो-इंडियन या क्रिस्तान होंगे। पर जब नाम पुकारा गया तो मालूम हुआ कि ये हिन्दू ही हैं। उन दिनों यह प्रथा थी कि मुसलमान लड़के नाम के लिए तो मदरसा के छात्र समझे जाते थे, पर एफ. ए. क्लास में पढ़ते थे प्रेसिडेंसी कालेज में ही। उनको फीस 12 के बदले 4 रुपये मासिक देनी पड़ती और उनका नाम अलग रजिस्टर में लिखा रहता। और सब बातों में वे प्रेसिडेंसी कालेज के लड़कों से किसी बात में अलग नहीं थे। उनका होस्टल अलग था। टोपी वाले वहीं देखने में आये और दो-एक मारवाड़ी लड़के भी। कालेज में भी सब लड़के एक क्लास में नहीं समाविष्ट हो सके थे, इसलिए तीन विभाग कर दिये गये थे। पढ़ाई एक ही थी।

मैं उन दिनों चपकन, पाजामा और टोपी पहनकर कालेज-क्लास में जाया करता। एफ. ए. में अंगरेजी, एक दूसरी भाषा और हिस्ट्री, लौजिक (तर्कशास्त्र), गणित के अतिरिक्त सब लड़कों को फिजिक्स और केमिस्ट्री भी पढ़नी पड़ती थी। एफ. ए. में डाक्टर जे. सी. बोस फिजिक्स (पदार्थ-विज्ञान) और डाक्टर पी. सी. राय केमिस्ट्री (रसायनशास्त्र) पढ़ाया करते

थे। मैं जब पहले दिन कालेज में नाम लिखाकर पहुंचा तो पहला घंटा केमिस्ट्री का था। वहां डाक्टर पी. सी. राय आये। उन्होंने हाजिरी लेनी शुरू की। मैं सबसे पीछे की एक बेंच पर बैठा था। प्रेसिडेंसी कालेज के सब लड़कों के नम्बर पुकारे गये और सबने उत्तर दिये। मुझे अपना नम्बर मालूम ही नहीं था। अंत तक मैं इंतजार करता रहा। जब आखिरी नम्बर वाले लड़के ने भी जवाब दे दिया और वह रजिस्टर बंद करने लगे तो मैंने खड़े होकर कहा कि मैं अपना नम्बर नहीं जानता हूं। उन्होंने मेरी ओर आंख उठाकर देखा और कहा, ठहरो, अभी मैंने मदरसा के लड़कों की हाजिरी नहीं ली है, और यह कह झट दूसरा रजिस्टर उठाया। मैं समझ गया कि पाजामा-टोपी के कारण उन्होंने मुझे मुसलमान मान लिया है। मैंने कहा कि मैं मदरसा में नहीं पढ़ता हूं, प्रेसिडेंसी कालेज में आज ही नाम लिखवाया है, इसलिए नम्बर नहीं जानता। उन्होंने नाम पूछा और जब मैंने नाम बताया तब सब लड़के मुड़कर मेरी ओर देखने लगे; क्योंकि वे तो जानते थे कि मेरे नाम का कोई लड़का उस साल युनिवर्सिटी में फर्स्ट हुआ है। डाक्टर राय ने कहा कि अभी नाम दर्ज नहीं है, जब दर्ज हो जायेगा तो आज की भी हाजिरी वह पीछे लिख देंगे। फिर उन्होंने इतनी देर से नाम लिखाने का कारण पूछा और इस प्रकार मेरी उनसे पहली मुलाकात हुई और दूसरे साथियों ने भी पहले-पहल मुझे देखा।

हिन्दी जानने वाले लड़के तो क्लास में बहुत कम ही थे और स्वभावतः मेरी घनिष्ठता मारवाड़ी देवी प्रसाद खेतान से दो-ही-एक दिन के भीतर हो गयी। इसका एक विशेष कारण यह भी था कि वह भी मेरी तरह बिहार से ही, जहां उनके पिताजी जेलर थे, पास करके आये थे। बंगाली लड़कों से भी जान-पहचान शुरू हो गयी। उनमें से कुछ ऐसे निकले जिनके साथ जल्द घनिष्ठता हो गयी और आज तक जारी है। केवल दो-तीन के नाम यहां देता हूं। योगेन्द्रनारायण मजुमदार जो इस समय बंगाल के स्टैंडिंग कौंसिल हैं, गिरीशचन्द्र सेन जो डिप्टीकलक्टर हुए और इस समय गवर्नमेंट के सेक्रेटरी हैं और अविनाशचन्द्र मजुमदार जो गवर्नमेंट के ट्रांसलेटर रहे हैं। जे. एम. सेनगुप्त, जो दुर्भाग्यवश अब नहीं रहे, मेरे साथ ही पढ़ते थे और उसी होस्टल में रहा करते थे।

मैं एक हफ्ते से कम ही कालेज में हाजिरी दे सका कि फिर से जाड़ा-बुखार शुरू हो गया। छपरे में ही जो मलेरिया का आक्रमण हो गया था वह फिर और जोरों से आया। मैं महीनों तक वहां बीमार रहा। होस्टल के डाक्टर ने हजार कोशिश की, पर रोजाना जाड़ा-बुखार हो ही जाता। कभी एक-दो दिन अच्छा भी हो जाता तो फिर तीसरे-चौथे दिन जोरों से जाड़ा हो जाता। भाई बहुत परेशान रहे। एक दिन का जिक्र है कि वहां टाउन हाल में बड़ी सभा होने वाली थी। लार्ड कर्जन की किसी कार्रवाई पर लोकमत प्रकट करने के लिए बंगाल के बड़े-बड़े नेता और व्याख्याता बोलने वाले थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इत्यादि के भाषण होने वाले थे। दो-तीन दिनों से मैं ज्वरमुक्त था। सबने समझा

कि मैं अब अच्छा हो गया हूं। भाई भी होस्टल के सब लड़कों के साथ सभा में चले गये। मेरे कमरे में या आसपास के कमरे में भी कोई नहीं था। मैं अकेला ही था। जाड़ा आ गया और उसके बाद बुखार चढ़ना शुरू हुआ। मैं पड़ा-पड़ा थर्मामीटर, जो पास में पड़ा था, लगा-लगाकर देखता रहा। ज्वर चढ़ते-चढ़ते 106 डिग्री से भी अधिक हो गया। मैं घबराया। मगर करूं तो क्या करूं ? कोई पास था नहीं । कभी-कभी ऐसा मालूम होता कि अब भाई से भी मुलाकात नहीं होगी। आहिस्ता-आहिस्ता फिर बुखार उतरने लगा। भाई के वापस आने तक बुखार बिलकुल उतर गया। जैसा भाई छोड़कर गये थे वैसा ही हो गया। लौटने पर उनसे सब हाल कहा। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब अच्छे रहने पर भी छोड़कर कहीं नहीं जायेंगे। इस प्रकार बहुत दिन बीत गये और दशहरे की छुट्टी के दिन आ गये। मैं इतने दिनों में केवल चार-पांच ही दिन कालेज में जा सका था।

छुट्टियों में किसी प्रकार घर आया। वहां अच्छा हो गया। छुट्टी प्रायः एक महीने की थी। इसमें चंगा होकर कलकत्ते गया और वहां पहुंचते ही फिर ज्वर आ गया। जी बहुत घबराया। भाई भी बहुत चिंतित हुए। उन दिनों यह नियम था कि कालेज में जितने लेक्चर हों उनमें एक निश्चित अनुपात में जरूर हाजिर रहना चाहिए, नहीं तो परीक्षा देने की इजाजत युनिवर्सिटी नहीं देगी। भय होने लगा कि इतनी गैरहाजिरी के बाद शायद मैं हाजिरी पूरी नहीं कर सकूंगा और परीक्षा देने की इजाजत ही नहीं मिलेगी। इसके अलावा पढ़ाई तो छूट ही गयी थी। कभी-कभी विचार होता कि कलकत्ता छोड़कर इलाहाबाद चला जाऊं। उसमें भी दिक्कत थी कि बीच साल में एक युनिवर्सिटी से दूसरी में जाने की इजाजत दो युनिवर्सिटियों में मिलेगी या नहीं, और फिर वहां जाकर भी वहां भी हाजिरी पूरी नहीं होगी तो एक बरस तो यों ही चला जायेगा। रसिक बाबू ने अपने स्थान को बचा रखने की जो बात कही थी वह भी याद आ जाती और मन बहुत दुखी होता। मगर लाचारी थी। कुछ बस नहीं चलता। अंत में डाक्टर नीलरतन सरकार के पास भाई ले गये। उन्होंने नुस्खा दिया। ज्वर आना बंद हुआ और मैं चंगा हो गया। वह नुस्खा प्रायः एक बरस तक चलता रहा। न मालूम इस साल-भर में कितना कुनैन खा लिया होगा। होमियोपैथिक डाक्टर ने 25-26 बरसों के बाद कहा कि आज का दमा उसी कुनैन का नतीजा है। मालूम नहीं, क्या सत्य है !

अच्छा हो जाने पर मैं बहुत परिश्रम से पढ़ने लगा। तीन-चार महीना पढ़ाई में पिछड़ गया था। उसको पूरा करना था और साथ ही यह भी चिंता थी कि युनिवर्सिटी में अपनी जगह नहीं खोनी चाहिए। प्रत्येक विषय को मैं इस ख्याल से पढ़ने लगा कि मैं उसमें फर्स्ट होऊं। मैं प्रत्येक विषय की एक पुस्तक के अलावा, जो क्लास में पढ़ाई जाती, प्रायः तीन-चार और पुस्तकें पढ़ गया। मैं अपने को हिसाब में कमजोर समझता था, इसलिए उस पर विशेष ध्यान दिया और

अलजबरा, ट्रिगनोमिट्री, कौनिकसेक्शन की जितनी पुस्तकें मिल सकीं और उनमें जितने उदाहरण दिये गये थे, एक-एक करके सबको बना लिया। युनिवर्सिटी में जितने प्रश्न उस समय तक पूछे गये थे, एक-एक को उसी तरह से लगा लिया।

मेरी इच्छा थी कि एफ. ए. पास करके मैं साइंस पढ़ूंगा। डाक्टर जे. सी. बोस और डाक्टर पी. सी. राय के पढ़ाने का तरीका इतना अच्छा था कि उस ओर रुचि बहुत हो गयी और उन विषयों के अधिक जानने का शौक हो गया। यों तो हिस्ट्री पढ़ाने वाले प्रोफेसर विनयेन्द्रनाथ सेन भी बहुत अच्छे शिक्षक ही नहीं, बल्कि बहुत उच्च कोटि के सज्जन पुरुष भी थे, जिनकी कृपा मुझ पर बहुत रहती थी, और जो बीमारी की हालत में होस्टल में आकर मुझे देख भी गये थे, पर अधिक झुकाव विज्ञान की ओर ही था। उन विषयों में जी लगने लगा और जहां तक पुस्तकें मैं पा सका, पढ़ गया। उन दिनों क्रियात्मक रूप से लैबोरेटरी में एफ. ए. के लड़कों को कुछ नहीं करना पड़ता था; पुस्तकी ज्ञान ही पर्याप्त समझा जाता था। मैंने प्रायः बी. एस-सी. क्लास तक का पुस्तकी ज्ञान प्राप्त कर लेने की चेष्टा की थी। एक ही दिक्कत मालूम होती थी। ऊपर जाकर अधिक गणित की जरूरत होगी और इतने परिश्रम के बाद भी गणित में मेरा दिमाग नहीं चलता था। इसलिए उस पर अधिक परिश्रम करता।

इस प्रकार दो बरस बीते। परीक्षा के दिन निकट आये। कुछ बंगाली साथियों से मित्रता हो गयी। रसिक बाबू ने जो मुझे डरा दिया था, उसका मुझे कहीं कुछ भी आभास नहीं हुआ। साथियों के साथ दिन बहुत खुशी और प्रेम के साथ बीते। न तो कहीं किसी की बुरी दृष्टि पड़ी और न मुझे किसी की बुरी भावनाओं का शिकार ही बनना पड़ा। सबके साथ सहृदयता बढ़ती गयी और कुछ के साथ तो बड़ी घनिष्ठता हो गयी, जो आज भी मुलाकात होने पर याद आ जाती है, जैसे वह कल की बात हो।

युनिवर्सिटी की परीक्षा के पहले क्लास में कालेज की ओर से परीक्षा होती है। वह हुई और मेरा नम्बर प्रायः प्रत्येक विषय में सबसे ऊपर आया। एक-दो विषय में लेक्चर की हाजिरी जितनी होनी चाहिए थी, नहीं थी। प्रोफेसर ने मेहरबानी करके कुछ अधिक लेक्चर दिये, जिसमें युनिवर्सिटी के नियम मेरे परीक्षा देने में बाधक न हों और अनुपात के अनुसार हाजिरी हो जाये। परीक्षा देने की इजाजत के पहले एक दिलचस्प घटना हुई। मैंने प्रायः प्रत्येक विषय में सबसे अधिक नम्बर पाया था, पर जब कालेज-परीक्षा का फल बताया जाता था तो कहा गया कि मुझे युनिवर्सिटी की परीक्षा में शरीक होने की इजाजत नहीं दी गयी ! उस समय एक अंगरेज प्रिंसिपल आ गये थे। परीक्षा-फल स्वयं सुनाने के लिए आये। सब लड़के वहां जमा थे। उन्होंने एक-एक करके नाम बताना शुरू किया। मेरा नाम ही नहीं कहा। जो फहरिस्त तैयार की गयी थी, उसमें गलती से मेरा नाम ही छूट गया था—लिखा नहीं गया था। जब नाम नहीं कहा गया, सब लोगों को आश्चर्य हुआ। मैं तो घबरा गया। मैंने कहा कि मेरा नाम नहीं पढ़ा गया। प्रिंसिपल ने तो एफ. ए. में पढ़ाया नहीं था; किसी

लड़के को जानते नहीं थे। पूछने पर झट उत्तर दिया, तुमने पास नहीं किया, इसलिए तुम्हारा नाम नहीं कहा गया। मैंने फिर कहा, ऐसा हो नहीं सकता; मैंने जरूर पास किया होगा। उत्तर मिला, ऐसा हो नहीं सकता, अगर पास किया होता तो जरूर नाम रहता। मैंने फिर कहना चाहा। वह बिगड़ गये और बोले, चुप रहो, नहीं तो जुर्माना करूंगा। मैंने फिर हिम्मत करके कुछ कहना चाहा। उत्तर मिला, तुमको पांच रुपये जुर्माना करता हूं। मैं फिर बोला। उत्तर दिया, 10 रुपये जुर्माना। इस प्रकार पांच-पांच रुपये बढ़कर, जिस तरह नीलाम में डाक बढ़ती है, वह बीस या पचीस तक पहुंचे। एक तमाशा था! मेरी समझ में न आया कि क्या करूं? इतने में कालेज के हेडक्लर्क ने, जो मुझे जानता था, उनके पीछे से मुझे इशारा किया कि चुप रहो, सब ठीक हो जायेगा। मैं चुप रह गया।

दूसरे दिन फारम वगैरह जो भरना होता है उसे भरकर दे दिया और फीस दाखिल कर दी। किसी ने कुछ पूछा ही नहीं। उस क्लर्क ने गलती सुधार दी और प्रिंसिपल से उनकी या अपनी गलती बतायी या नहीं, इसका मुझे पता नहीं। जुर्माना तो किसी ने फिर मांगा ही नहीं और न मैंने ही अपनी ओर से दाखिल करने की कोशिश की। हां, इस घटना से छपरे में ड्राइंग-मास्टर ने एंट्रेन्स परीक्षा देने की इजाजत में जो बाधा डाली थी वह बात फिर याद हो गयी।

एफ. ए. की परीक्षा के लिए मैंने खूब तैयारी की। परीक्षा का नतीजा भी एक प्रकार से ठीक निकला। मैं उसे एक प्रकार से ठीक निकलना इसलिए कहता हूं कि यद्यपि मैं सबसे ऊपर आया, तथापि मेरी यह इच्छा पूरी नहीं हुई कि मैं साइंस में और गणित में सबसे ऊपर आऊं। इन विषयों में अधिक परिश्रम किया था। अंगरेजी, फारसी, लौजिक इत्यादि में उनके मुकाबले बहुत कम परिश्रम किया था। पर जब परीक्षाफल निकला तो मालूम हुआ कि अंगरेजी, फारसी और लौजिक में मैंने सबसे अधिक नम्बर पाया है, और दूसरे विषयों में औरों से थोड़े-थोड़े नम्बरों से पीछे पड़ गया हूं—यद्यपि सब मिलाकर औरों से ऊपर हूं। एंट्रेन्स परीक्षा के फलस्वरूप सबसे अधिक नम्बर पाने के लिए 20 रुपये मासिक की छात्रवृत्ति के अलावा अंगरेजी में भी अव्वल होने से 10 रुपये मासिक की अलग छात्रवृत्ति एक बरस के लिए मिली थी। एफ. ए. में सबसे ऊपर होने के लिए 25 रुपये मासिक की दो बरसों तक के लिए छात्रवृत्ति मिली। इसके अलावा अंगरेजी में अव्वल होने के लिए 10 रुपये मासिक की एक छात्रवृत्ति, और भाषाओं में फर्स्ट होने के लिए 15 रुपये मासिक की छात्रवृत्ति—जिसे डफ स्कालरशिप कहते थे— मिली, और लौजिक में फर्स्ट होने के लिए पुस्तकों का ईनाम मिला। इसका नतीजा हुआ कि मैंने समझ लिया, मैं गणित में सफल नहीं हो सकूंगा और इसीलिए विज्ञान भी मेरे लिए कठिन होगा।

परीक्षाफल के बाद मैंने पूर्व-निश्चय को बदल दिया और विज्ञान की ओर न जाकर बी. ए. क्लास में नाम लिखाया। उन दिनों एफ. ए. तक की पढ़ाई सबके लिए एक होती थी।

सब विषय पढ़ने पड़ते और तब कोई बी.एस-सी. में नाम लिखाकर साइंस पढ़ता और कोई बी. ए. में नाम लिखाकर अंगरेजी, फिलासफी पढ़ता। बी. ए. में नाम लिखा लेने के बाद डाक्टर पी. सी. राय से मुलाकात हुई। उन्होंने पूछा कि तुमने साइंस में क्यों नहीं नाम लिखाया ? (Why have you deserted our standard?) मैंने उत्तर दिया कि मैं गणित में कमजोर हूं। उन्होंने उत्तर दिया कि तुमने मुझसे राय क्यों नहीं ली; मैं भी गणित कम जानता हूं, पर इसलिए मैं विज्ञान से भागता नहीं हूं। उनको अफसोस रहा, पर अब बहुत देर हो चुकी थी और बदलना कठिन था।

दो बरसों तक पूरे ध्यान से मैंने रसिक बाबू की बात याद करके फिर फर्स्ट होने के लिए कोशिश की, और उसमें सफल रहा। रसिक बाबू इस बीच में बदलकर कलकत्ते चले आये थे। मुलाकात करने पर बहुत खुश हुए। कभी-कभी जाकर उनसे मिलता। कुछ दिनों के बाद उनकी मृत्यु हो गयी।

9

परीक्षा के प्रति अश्रद्धा

बी.ए. क्लास में पहुंचकर मेरी हालत कुछ बदल गयी। परीक्षा की ओर से रुचि हट गयी। ध्यान और चीजों की ओर कुछ बंट गया। बचपन से ही आदत थी, मैं भरसक जो कुछ क्लास में पढ़ाया जाता उसे बहुत ध्यानपूर्वक सुनता और क्लास का समय किसी तरह बरबाद नहीं होने देता। इसका शुरू में तो एक कारण यह था कि घर पर कोई पढ़ाने वाला या बताने वाला मास्टर नहीं था, इसलिए सब कुछ स्कूल के मास्टर के बताने पर ही निर्भर रहता। पीछे आदत ही ऐसी पड़ गयी। कालेज में भी यही बात रही। नाम लिखाते ही यह प्रश्न हुआ कि किस विषय में ऑनर्स लिया जाये? उन दिनों बी.ए. में तीन विषय पढ़ने होते, जिनमें अंगरेजी और फिलासफी अनिवार्य थे और तीसरा विषय ऐसा था जिसको चुन लेने का अधिकार विद्यार्थी को था; पर चुन लेने के बाद उसे भी अन्य दो अनिवार्य विषयों की तरह ही पढ़ना होता और उसमें भी परीक्षा पास करनी होती। मैंने हिस्ट्री और एकनामिक्स (अर्थशास्त्र) चुन लिया। उन दिनों ऑनर्स के लिए 'पास' के अलावा कुछ और पुस्तकें पढ़नी होतीं और इन पुस्तकों में परीक्षा भी अलग होती। इस तरह से ऑनर्स के विषय की परीक्षा अधिक कड़ी होती और क्लास-लेक्चर भी अधिक हुआ करते। यह भी नियम था कि विद्यार्थी चाहे तो एक से अधिक विषयों में भी ऑनर्स ले सकता है। मेरे सामने प्रश्न यह था कि मैं किस विषय में ऑनर्स लूं—दो विषयों में या तीनों में? मैंने पहले कुछ निश्चय नहीं किया और तीनों विषयों में ऑनर्स क्लास में शरीक होने लगा।

मेरे साथी रामानुग्रह, जो एफ.ए. में छपरे से दूसरे कालेज में चले गये थे, बी.ए. के लिए प्रेसिडेंसी कालेज में आ गये थे। उनकी राय हुई कि हम दोनों को तीनों विषयों में ऑनर्स लेना चाहिए। उन्होंने स्वयं तीनों विषयों में ऑनर्स ले भी लिया। बी. ए. परीक्षा के फलस्वरूप दो स्कालरशिप—एक 50 रुपये मासिक और दूसरा 40 रुपये मासिक के—मिला करते थे। केवल ऑनर्स के नम्बर जोड़कर ही स्कालरशिप मिला करता था। इसलिए उनका विचार था कि तीनों विषयों में ऑनर्स लेना चाहिए। पर ऐसा हुआ करता था कि एक या दो विषयों में ऑनर्स में इतना नम्बर आ जाता कि तीन विषयों के नम्बर से भी

अधिक हो जाता। ऐसी अवस्था में दो ही विषय वाले विद्यार्थी को वह छात्रवृत्तियां मिल जातीं। मुझे डर लगता था कि तीन विषयों में ऑनर्स लेने पर परिश्रम बहुत करना पड़ेगा। चंद दिनों तक पसोपेश में रहा। तीनों विषयों के क्लास में जाता रहा। इत्तफाक से उन दिनों फिलासफी के प्रोफेसर कुछ ऐसे नीरस तरीके से पढ़ाते थे कि उसमें मेरा जी नहीं लगा। इसके बदले अंगरेजी और हिस्ट्री के प्रोफेसर मिस्टर पर्सिवल और विनय बाबू अपने विषयों को बहुत सुंदर रीति से पढ़ाते थे। इसलिए उनके क्लास में जी बहुत लगता।

मैंने निश्चय कर लिया कि अंगरेजी, हिस्ट्री और एकनामिक्स में ही ऑनर्स पढूंगा। रामानुग्रह और एक दूसरा विद्यार्थी, केवल दो ही विद्यार्थी, तीनों विषयों में ऑनर्स पढ़ते रहे। कुछ दिनों के बाद डाक्टर पी. के. राय फिलासफी पढ़ाने लगे। उनका तरीका इतना सुंदर और मनग्राही था कि मैंने देखा, सबसे सहज विषय फिलासफी था। उनके लेक्चर इतने अच्छे होते कि अगर उन्हें ध्यानपूर्वक सुना जाये तो पुस्तक पढ़ने की जरूरत ही कम हो जाती थी। परीक्षा में सब विषयों में पास करना तो जरूरी था, पर जैसा पहले कह चुका हूं, छात्रवृत्ति के लिए ऑनर्स के ही नम्बर जोड़े जाते और उन पर स्वभावतः अधिक ध्यान दिया जाता। इसलिए मैंने फिलासफी पर डाक्टर राय के लेक्चर सुनने के अलावा बहुत ही कम ध्यान दिया। पर उनका पढ़ाना इतना अच्छा था कि बिना पुस्तक पढ़े ही मैंने उस विषय का इतना ज्ञान पा लिया था कि परीक्षा पास कर सकूं। पीछे अफसोस भी हुआ कि अगर इस विषय को लिये होता तो शायद कम परिश्रम से ही तीसरे विषय में भी ऑनर्स हो जाता।

इस प्रकार कुछ दिनों तक तो कालेज में खूब जी लगाकर पढ़ता रहा, पर कुछ ऐसे संयोग घटे कि परीक्षाफल से मन उचट गया और ध्यान दूसरी ओर जाने लग गया। उन्हीं दिनों श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी ने एक संस्था कायम की थी, जिसका नाम था 'डॉन सोसाइटी' (Dawn Society)। विद्यार्थी उसके मेम्बर होते। उनको कुछ देना नहीं पड़ता था। उसका उद्देश्य था कि पढ़ाई में भी छात्रों को मदद दी जाये और उनके चरित्र सुधारने में और उन्हें देश की बातों की जानकारी हासिल कराने में भी सहायता दी जाये। उनसे कुछ सेवा का काम भी लिया जाता था और यह वहां की शिक्षा का एक अंग समझा जाता था। तरीका यह था कि प्रत्येक सप्ताह संध्या समय दो क्लास किये जाते और उनमें दो लेक्चर दिये जाते। एक लेक्चर तो विविध विषयों पर होता और दूसरा गीता पर। गीता-क्लास तो एक पंडित लेते और बहुत सहज रीति से वह गीता समझाते। दूसरे क्लास में सतीश बाबू स्वयं लेक्चर दिया करते और दूसरे लोगों को भी बुलाकर लेक्चर दिलवाया करते। उस क्लास में कभी-कभी एक कालेज के प्रिंसिपल एन. एन. घोष, कभी सिस्टर निवेदिता, कभी और दूसरे लोग लेक्चर दिया करते। ठीक समय से ज़ाना पड़ता। हाजिरी लिखी जाती। लेक्चर के पहले ही पेंसिल-कागज सब लड़कों को दिया जाता कि वे लेक्चर का नोट ले लिया करें। दो जिल्दबंधी बहियां मिली थीं जिनमें दोनों लेक्चरों का सारांश लिखकर दाखिल करना

पड़ता। सतीश बाबू इन बहियों को घर पर ले जाते और पढ़कर जो भूल-चूक होती उसे सुधार देते और अलग-अलग हर आदमी को बुलाकर गलतियां बता देते। लेक्चर के विषय बहुत अच्छे हुआ करते जिनसे देश और दुनिया की बहुत बातों की जानकारी बढ़ती और चरित्र पर भी असर पड़ता। सुने हुए लेक्चर को नोटों की मदद से फिर अपनी भाषा में अदा करने का अभ्यास हर तरह से अच्छा था। इससे युनिवर्सिटी की परीक्षा में भी मदद मिलती। साल के अंत में सब बहियां किसी बड़े आदमी के पास सतीश बाबू भेजते और वह महाशय उन्हें देखकर जिसका काम सबसे अच्छा हुआ रहता उसको छात्रवृत्ति और इनाम देते। क्रियात्मक रूप से सेवा का तरीका यह था कि एक छोटी-सी दूकान स्वदेशी कपड़ों और दूसरी चीजों की खोली गयी थी जिसकी देख-रेख मेम्बरों के ही जिम्मे थी। वह दूकान शाम को दो घंटों के लिए खुलती और बेचने, हिसाब रखने का काम मेम्बरों के जिम्मे था।

मैं किसी प्रकार इस सोसाइटी के एक लेक्चर में पहुंच गया। सब बातें बहुत अच्छी लगीं। मैं इसमें शरीक हो गया। सतीश बाबू की कृपा रहती, जो आज तक बनी हुई है। सतीश बाबू युनिवर्सिटी के अच्छे छात्रों में थे। उन्होंने उसी साल बी. ए. परीक्षा पास की थी, जिस साल सर आशुतोष मुखर्जी ने पास की थी। पढ़ने के समय वह स्वामी विवेकानन्द के साथी थे। उन्होंने वकालत शुरू की थी, पर थोड़े ही दिनों के बाद उसे छोड़ दिया था और इसी प्रकार के सार्वजनिक काम में लग गये थे। उन्होंने कभी शादी नहीं की। उनका विचार हुआ कि विद्यार्थियों का जीवन सुधारना चाहिए और इसीलिए उन्होंने डॉन सोसाइटी की स्थापना की थी। इसमें मिस्टर एन. एन. घोष, सिस्टर निवेदिता, सर गुरुदास बनर्जी प्रभृति जैसे महान पुरुषों की सहायता और सहानुभूति मिलती थी। सोसाइटी में जाने पर मेरी बहुत ऐसे विद्यार्थियों से भी घनिष्ठता हो गयी जो मेरे क्लास के साथी नहीं थे, पर जो युनिवर्सिटी के नामी विद्यार्थियों में थे—जैसे विनयकुमार सरकार जो विख्यात विद्वान और लेखक हैं, रवीन्द्रनारायण घोष जो रिपन कालेज के प्रिंसिपल थे और हाल में ही जिनका स्वर्गवास हो गया है।

मुझे स्मरण है कि साल के अंत में डॉन सोसाइटी की छात्रवृत्ति और इनाम भी मुझे मिले, जिनको सभा में सर गुरुदास बनर्जी ने कुछ उत्साहवर्धक शब्दों के साथ मुझे दिये थे। सोसाइटी में जाने से विचारों का मंथन खूब हुआ। परीक्षा से श्रद्धा हट गयी और ध्यान सार्वजनिक बातों में अधिक लगने लगा। यों तो मैं बचपन से ही कुछ इस तरह की बातों की ओर अधिक ध्यान दिया करता था। जब स्कूल में पढ़ता था तो वहां पर एक डिबेटिंग सोसाइटी कायम की थी जिसमें रविवार को हम सब मिलते, अपने-अपने लेख पढ़ते अथवा भाषण करते। इनमें कभी-कभी स्कूल के मास्टर भी निमंत्रण देकर बुलाये जाते, पर यह संस्था स्कूल की नहीं थी, स्वतंत्र थी। उसी प्रकार कलकत्ते में भी हम लोगों ने बिहारियों की सभा 'बिहारी क्लब' कायम कर ली थी, जिसमें हम सब प्रति रविवार को मिलते और लेख

पढ़ते, भाषण करते। इसके अलावा कालेज के यूनियन में भी मैं भाग लिया करता और एक साल तो उसका मंत्री भी चुना गया था। कालेज यूनियन की ओर से एक मासिक पत्र निकाला गया था जिसके संचालन में मेरा हाथ रहता।

पर इन सब प्रवृत्तियों के रहने पर भी, डॉन सोसाइटी में शरीक होने के पहले, ये सब एक प्रकार से बिना किसी उद्देश्य की थीं। इनका कुछ भी निर्दिष्ट अभिप्राय नहीं था और न हमारे सामने कोई नियमित कार्यक्रम ही था। मैं अखबारों को पढ़ा करता था। कांग्रेस का नाम जानता था। जब उसका सालाना जलसा होता तो उसके भाषणों को ध्यानपूर्वक पढ़ता। यों तो जब कभी कोई सार्वजनिक सभा होती और बड़े लोगों के भाषण होते—जैसे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के—तो मैं उसमें जाकर भाषणों को सुनता। पर डॉन सोसाइटी से अधिक दिलचस्पी थी। स्वदेशी का प्रेम तो भाई ने स्कूल के समय में ही पैदा कर दिया था, पर वह भी अभी पूरी तरह प्रस्फुटित नहीं हुआ था। यह डॉन सोसाइटी और सतीश बाबू के सत्संग का ही प्रसाद था कि यह जो विचार और प्रवृत्तियां अंकुर-रूप में पहले से मौजूद थीं और जो बिना किसी उद्देश्य या समझ के अंधकार में काम कर रही थीं, कुछ परिष्कृत हो गयीं। मैं कुछ आगे का भी सोचने लगा।

10

बंगभंग का आन्दोलन

1904 में मैंने एफ.ए. परीक्षा पास की। 1905 में बंगभंग का आन्दोलन शुरू हुआ। मैं सभी सार्वजनिक सभाओं में पहले से ही जाया करता था। बंगभंग-विरोधी सभाओं में भी खूब जाता। उन दिनों इस बात में रोक-टोक अभी नहीं थी। 7 अगस्त 1905 की बड़ी सभा में, जिसमें विदेशी वस्तुओं का बायकाट और स्वदेशी के प्रचार का निश्चय हुआ, मैं शरीक था। उसमें बहुत उत्साह था। लोगों ने व्रत लिया कि स्वदेशी का ही वे व्यवहार करेंगे। मेरे लिए इसमें कोई कठिनाई थी नहीं; क्योंकि मैं बहुत पहले ही से केवल स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यवहार किया करता था। आन्दोलन खूब जोरों से चला। प्रायः प्रतिदिन कहीं-न-कहीं सार्वजनिक सभाएं होतीं। हम सब जाते। कहीं सुरेन्द्र बाबू, कहीं विपिनचन्द्र पाल, कहीं ए. चौधरी, कहीं अरविन्द घोष के भाषण होते। होस्टल के लड़कों में बड़ी हलचल थी। जो लोग कभी स्वदेशी नहीं बर्तते थे उन्होंने भी स्वदेशी बर्तना आरम्भ किया। बड़ों की तो मुझे खबर नहीं, पर विद्यार्थियों में नया जोश और नया उत्साह पैदा हो गया।

एक छोटी-सी घटना का जिक्र करना अच्छा होगा। यों तो मैं स्वदेशी का ही व्यवहार करता था; पर क्लास में एक दिक्कत महसूस करता था। जो लेक्चर होते उनका नोट रोज लेता। पेंसिल से नोट मिट जाने का भय रहता। इसलिए कलम-दवात ले जाता और लिखता। एक दिन देखा कि स्टाइलोपेन (Stylopen) निकला है जिसमें रोशनाई भर दी जाती है और आदमी को दवात साथ ले जाने की जरूरत नहीं पड़ती। यह विदेशी था और 'ह्वाइटवे लैडलॉ' की दूकान में उन दिनों आधे दाम पर ही बिक रहा था। मैंने एक खरीद लिया। होस्टल के साथियों को यह मालूम हुआ। वे बहुत बिगड़े और मुझसे झगड़ने लगे। उनमें एक आदमी ऐसा भी था, जिसके बारे में मैं जानता था कि उसके पास चिट्ठी लिखने के लिए बहुत विदेशी कागज था। दूसरा ऐसा था जिसके पास थोड़े ही दिन पहले का बना हुआ विदेशी कपड़े का नया कीमती कोट था। विद्यार्थियों ने निश्चय किया था, एक दिन विदेशी कपड़ों की होली जलायी जायेगी और उसी दिन होस्टल के आंगन में उन चीजों को भी जलाया जायेगा। सबके दिल में था कि कुछ कपड़े जला दिये जायें। पर शायद ही किसी के

दिल में हो कि सब विदेशी कपड़े जला दिये जायें; क्योंकि प्रायः सबके पास अधिक-से-अधिक विदेशी कपड़े ही थे।

जब लोगों ने मुझे बहुत दिक किया तो मैंने कहा, "सब अपने-अपने ट्रंक खोलो। जिसके पास जितना विदेशी कपड़ा हो, होली में आज ही जला दो। मैं भी अपना ट्रंक खोलता हूं और जो कुछ विदेशी मेरे पास निकलेगा, मैं सब अभी यहीं जला दूंगा।" सब चौकन्ने हो गये। वे यह तो जानते नहीं थे कि उस कलम के सिवा मेरे पास कुछ भी दूसरी चीज विदेशी नहीं थी। मैंने ट्रंक खोल दिया और एक-एक करके सब चीजें कमरे में बिखेर दीं। उसके बाद भीड़ हट गयी और फिर किसी ने इस प्रकार का आक्षेप मुझ पर नहीं किया! उस साथी ने अपने विदेशी कागज तो जला दिये, पर जहां तक मुझे स्मरण है, दूसरे साथी ने नये कोट को जल्दी में जलाना उचित नहीं समझा। हां, उसे उन दिनों फिर पहनने के लिए निकाला नहीं। ऐसा ही दूसरों ने भी किया।

1905 का साल इस प्रकार एक बड़े आन्दोलन और जागृति का साल था। विशेष करके विद्यार्थियों में एक नये जीवन का संचार हो गया था और बहुतेरों ने पढ़ना भी छोड़ दिया था। उसी समय कलकत्ते में राष्ट्रीय शिक्षा की एक बड़ी संस्था खुली। श्री सतीश बाबू उसमें चले गये और डॉन सोसाइटी का काम कुछ दिनों के बाद ढीला पड़ गया। सोसाइटी के साथियों में से कई उस संस्था में शरीक हो गये। मैं इन सब सभाओं में बराबर आया-जाया करता और भाषणों को सुनता, पर मेरे दिल में किसी समय कालेज छोड़कर इस राष्ट्रीय संस्था में जाने की इच्छा नहीं हुई। मेरे सामने उसका उद्देश्य साफ नहीं था और न अपना दिल ही इसके लिए तैयार था कि कालेज छोड़ दूं और भविष्य को इस तरह से एकबारगी बदल दूं। मैं एक भीरु आदमी लड़कपन से ही रहा हूं और किसी विषय में जल्दी करके कोई बड़ा कदम उठाना मेरे लिए हमेशा एक कठिन समस्या रहा करती है। उस समय तो कदम उठाने का सवाल भी जोरों से सामने नहीं आया। जहां तक मुझे याद है, स्वदेशी आन्दोलन और बंग-विच्छेद के विरुद्ध आन्दोलन में कभी विद्यालयों के छोड़ने का कार्यक्रम उसी तरीके से सम्मिलित नहीं था जिस तरीके से 1920-1921 के आन्दोलन में था। मैं इस तरह उन चीजों के साथ एक प्रकार से बाहर से ही सहानुभूति रखता रहा, कभी उनके अंदर नहीं घुसा।

पर इन सब आन्दोलनों का नतीजा यह तो अवश्य हुआ कि पुस्तकों के पढ़ने में समय कम लगा और परीक्षाफल की ओर से एक प्रकार की उदासीनता-सी हो गयी। परीक्षा मार्च के महीने में हुआ करती थी। सितम्बर-अक्टूबर में दुर्गा-पूजा और दशहरे के लिए छुट्टियां हुआ करतीं, जो प्रायः एक महीने या उससे भी अधिक लम्बी होतीं। मैं इस बार की छुट्टी में कलकत्ते में ही रह गया; क्योंकि मैंने समझ लिया था कि अब कुछ पढ़ना चाहिए, नहीं तो परीक्षा पास करने में कठिनाई हो जायेगी।

कालेज की परीक्षा हुई। मेरे दिल में इसका भय था नहीं कि इस परीक्षा में पास ही नहीं करूंगा। हां, यह हो सकता था कि औरों से नम्बर कम आवे। कुछ साथियों ने मिलकर सलाह किया, परीक्षा के पहले के प्रायः पांच-सात सप्ताह कहीं बाहर जाकर बिताये जायें, जहां शांति से हम पढ़ सकें और परीक्षा के लिए तैयार हो सकें। हम लोगों ने बिहार के संथाल-परगना जिले के 'जामतारा' स्थान में जाकर रहना निश्चित किया। वहां एक मित्र ने छोटा-सा मकान भाड़े पर ठीक कर दिया। कालेज की परीक्षा देकर उसके फल का इंतजार न करके हम लोग वहां चले गये।

मैं कह चुका हूं कि अंगरेजी और हिस्ट्री में, जिसमें एकनामिक्स और पालिटिक्स भी शामिल था, मैंने ऑनर्स लिया था। हिस्ट्री ऑनर्स के परीक्षक थे मि. पर्सिवल। उन्होंने जल्दी ही परीक्षा करके नम्बर हम लोगों को बता दिया था। मेरा स्थान सबसे ऊपर था और नम्बर भी बहुत अच्छा मिला था। और विषयों का पता नहीं था। उस समय के प्रिंसिपल साइंस पढ़ाया करते थे, इसलिए हम लोगों से उनकी पढ़ाई का वास्ता नहीं था। वह हम लोगों को जानते ही नहीं थे। उन्होंने नोटिस निकाल दी कि कोई प्रोफेसर किसी विद्यार्थी को परीक्षा-फल न बतावे।

मिस्टर पर्सिवल इसके पहले हमको फल बता चुके थे। हम लोगों के जामतारा चले जाने के बाद परीक्षा-फल सुनाया गया। प्रिंसिपल साहब ने फल सुनाते समय मेरे नाम पर कहा कि मैं अंगरेजी ऑनर्स में परीक्षा दे सकूंगा, पर हिस्ट्री ऑनर्स में नहीं। मेरे साथी जो वहां मौजूद थे, अचम्भे में आ गये। एक ने हिम्मत करके कहा कि उन्होंने जरूर पास किया होगा। उत्तर मिला कि अगर पास किया होता तो परीक्षा देने की इजाजत जरूर मिलती। उसने फिर कहा कि उन्होंने सब परीक्षाओं में अव्वल स्थान पाया है और छात्रवृत्ति भी पायी है, ऐसा हो नहीं सकता कि इसमें न पास करें। प्रिंसिपल ने फिर कहा, उसी के शब्दों को दुहराते हुए, कि सबमें अव्वल पास किया तो अव्वल स्थान मिला और छात्रवृत्ति मिली, इसमें नहीं पास किया, इसलिए इस बार परीक्षा देने की इजाजत नहीं मिलेगी। उसने एक बार जोर लगाकर कहा कि हम लोगों को पता लग गया है और नम्बर भी मालूम हो गया है—उन्होंने उस विषय में बहुत नम्बर और अव्वल स्थान पाया है। इस पर वह चिढ़ गया और बोला, ऐसा हो नहीं सकता, मैंने नोटिस निकाल दी है कि किसी को नम्बर न बताया जाये और ऐसा कहकर जोर से डांट दिया कि मुझे ऑनर्स परीक्षा में बैठने की इजाजत नहीं मिलेगी। उसने बार-बार यही कहा कि बड़ी सावधानी से उसने सब नम्बर देख लिये हैं—कोई भूल नहीं है।

मेरा साथी घबरा गया। उसने तुरंत जामतारा मेरे पास तार दिया। तार पाकर मैं और भी चक्कर में पड़ गया। आपस में सलाह करके कलकत्ते आना ही ठीक जंचा। मैं कलकत्ते पहुंचकर सीधे मिस्टर पर्सिवल के घर पर गया। वह बड़े विद्वान समझे जाते थे। उनके पढ़ाने का ढंग भी बहुत अच्छा था। उनकी विद्वत्ता और पढ़ाई से लड़के मुग्ध रहा करते थे।

अविवाहित थे। घर पर अकेले रहते थे। केवल पुस्तकों का ही साथ था। बड़े सूखे मिजाज के थे। किसी से न मिलना, न जुलना। ठीक समय पर कालेज में आना, क्लासों में जाकर पढ़ाना और फिर सीधे घर चले जाना। केवल युनिवर्सिटी के सिनेट इत्यादि में, जिनके मेम्बर थे, जाना और घर में पढ़ते रहना। अपने काम में बड़े पक्के। वह प्रेसिडेंसी कालेज में प्रायः 25-30 बरसों तक रहे। पीछे, कुछ दिनों के लिए प्रिंसिपल भी हुए थे। कर्तव्यपरायणता इतनी थी कि कभी एक मिनट का समय न क्लास में न और कहीं बरबाद करते। सादे कपड़े पहनते और जो कोई ठाठबाट से रहते उनको पसंद नहीं करते। केवल पढ़ाने से ही संबंध रखते। पर उनकी सादगी, कर्तव्यपरायणता, ऊपरी शुष्कता और कड़ाई का असर हम सब पर बहुत पड़ता। हम डरते भी खूब थे। शायद ही कोई उनके घर पर गया हो। उनका एक तरीका था कि जितनी परीक्षाओं में वह परीक्षक होते, चाहे वह कालेज की हो अथवा युनिवर्सिटी की, परीक्षार्थियों की नामावली बनाकर जो नम्बर देते, लिखकर अपने पास रख लेते। जब कभी कोई विद्यार्थी उनसे सर्टिफिकेट, नौकरी वगैरह के लिए, मांगता तो उससे उन सब परीक्षाओं का समय पूछ लेते जिनमें उन्होंने उसकी परीक्षा ली थी। अपने रजिस्टर देखकर, परीक्षाफल के आधार पर, दूसरे दिन सर्टिफिकेट लिखकर ला देते। उनके सर्टिफिकेट की बड़ी कद्र होती।

मैं हिम्मत करके उनके घर पर पहुंचा। डरता तो था, पर कोई चारा नहीं था। उन्होंने प्रायः दो बरसों तक पढ़ाया था। इसलिए मुझे जानते थे। देखते ही पूछा कि क्यों आये हो? मैंने अभिप्राय बतलाया। अभी परीक्षा लिये चंद दिन ही बीते थे, उनको फल याद था। उन्होंने कहा कि मुझे याद है, तुम सबसे ऊपर आये हो और नम्बर भी अच्छा मिला है, तो भी ऐसा क्योंकर हुआ? मैंने तार दिखलाया। उन्होंने अपना रजिस्टर निकाला। देखकर फिर कहा कि मेरा ख्याल ठीक है, तुम्हारा अच्छा नम्बर आया है और तुम अव्वल हुए हो, मैंने खुद अपने हाथों से लिखकर परीक्षा-फल प्रिंसिपल को दिया है, उसमें कोई भूल नहीं थी, वहां आफिस में कोई भूल हुई है, मुझसे कालेज में मिलो।

मेरी जान में जान आयी। मैं पहले से ही कालेज की सीढ़ी पर खड़ा था। वह समय से एक-दो मिनट पहले ही पहुंचे और सीधे प्रिंसिपल के कमरे में चले गये। वहां देखा कि मेरा नम्बर दूसरे साथी के नाम के सामने लिख गया है जिसने ऑनर्स में पूरा नम्बर नहीं पाया है और इसलिए फेल किया है और उसका नम्बर मेरे नाम के सामने लिखा गया है! प्रिंसिपल ने अपनी भूल मान ली और खेद प्रगट किया और कहा कि उस लड़के से कह दीजिए कि भूल हो गयी थी, अब उसको परीक्षा देने की इजाज़त है।

मैं तो इंतजार में खड़ा था ही। वहां से निकलते ही उन्होंने मुझसे सब बातें कहीं और कहकर क्लास में पढ़ाने चले गये। इस गोलमाल का नतीजा यह हुआ कि मेरे दो दिन बेकार गये। जामतारा से कलकत्ते आने-जाने में कुछ खर्च पड़ा और कुछ देर तक बड़ी चिंता लगी

रही। एक दूसरा नतीजा यह भी हुआ कि मेरे दूसरे साथी, जिनके नाम के सामने मेरे नम्बर लिखे गये थे, ऑनर्स में परीक्षा देने पाये। भूल सुधारने के पहले ही उनकी दर्खास्त, फारम भरकर प्रिंसिपल के हस्ताक्षर के साथ, युनिवर्सिटी में भेजी जा चुकी थी। वह इजाजत वापस लेना अब सम्भव नहीं था। उन्होंने परिश्रम से पढ़ा और युनिवर्सिटी की परीक्षा में वह भी ऑनर्स के साथ पास कर गये। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूं, एंट्रेन्स, एफ. ए. और बी. ए. तीनों परीक्षाओं में मुझे इजाजत मिलने में कुछ दिक्कत हुई, यद्यपि मैं तीनों में पहले भी और युनिवर्सिटी की परीक्षा में भी बराबर अव्वल रहा।

जब परीक्षा के दिन नजदीक आये तो मैं कुछ घबराया। कुछ ख्याल पैदा हुआ कि इस बार अगर अव्वल न हुआ तो शिकायत होगी। पर इस बार इच्छा कुछ तीव्र नहीं थी और अब समय भी नहीं रह गया था कि उसके लिए एफ. ए. परीक्षा की तरह तैयारी की जाये। परीक्षाफल में स्थान केवल ऑनर्स के नम्बर से ही मिलता था। इसलिए मैंने ऑनर्स के विषयों पर ही ध्यान दिया। फिलासफी, जिसमें केवल पास ही करना था, एक तरह से छोड़ ही दिया। पहले भी डाक्टर पी. के. राय के लेक्चरों को ही ध्यान से सुना करता था। किताबें कम पढ़ी थीं। इसमें एक बार एक घटना से प्रोत्साहन भी मिला था। एक दिन डाक्टर राय बीमार पड़ गये। उन्होंने उस दिन पढ़ाया नहीं। कुछ सवाल दे दिये और सबको उन सवालों का उत्तर लिखकर देने कहा। सबने उत्तर लिखे। मैंने किताबें तो पढ़ी नहीं थीं। केवल लेक्चर में जो उन्होंने कहा था उसे ही, जहां तक हो सका, लिख दिया। डाक्टर ने सब उत्तरों को घर पर ले जाकर पढ़ा और दूसरे दिन उस तात्कालिक परीक्षा का फल यह सुनाया कि मैं ही सबसे ऊपर हूं और जिन लोगों ने उस विषय में ऑनर्स किया है उनसे भी मैंने अधिक नम्बर पाया है। इसके बाद से मुझे और भी विश्वास हो गया कि फिलासफी के लिए बहुत पढ़ने की जरूरत नहीं है।

युनिवर्सिटी परीक्षा के पहले कालेज की परीक्षा में भी मुझे उन परचों में ऑनर्स के लड़कों के मुकाबले ज्यादा नम्बर मिला। इसलिए जामतारा में भी इस पर ध्यान नहीं दिया। परीक्षा का दिन निकट आ गया। अंगरेजी की परीक्षा हो गयी। उसके बाद फिलासफी की परीक्षा थी। प्रायः दो महीनों से मैंने शायद ही फिलासफी की कोई पुस्तक देखी थी। उस दिन संध्या को अचानक एक भय पैदा हो गया कि फिलासफी में मैं दूसरे दिन कुछ भी उत्तर नहीं दे सकूंगा। इस प्रकार जब सोचने लगा तो मालूम पड़ने लगा कि कुछ भी याद नहीं है। मैंने सोचा कि पुस्तक पढ़ने का तो समय है नहीं। रात-भर में जो कुछ नोट वगैरह थे उनको एक बार दुहरा जाऊं तो शायद पास करने लायक लिख सकूं। फिलासफी में साइकोलौजी (मनोविज्ञान), एथिक्स (आचारशास्त्र) और लौजिक, तीन विषय पढ़ने थे। साइकोलौजी पढ़ना शुरू किया। आदत के मुताबिक सरे-शाम ही नींद आ गयी। कुछ देर के बाद फिर घबराकर उठा तो सोचा कि अच्छा होगा कि अभी सो जाऊं और रात में 2-3 बजे उठकर सब

कुछ एक बार दुहरा लूंगा। एक बूढ़ा नौकर था। उसको कह दिया कि ठीक दो बजे जगा देना। दो-तीन दिनों से परीक्षा में बहुत मेहनत करनी पड़ी थी। बहुत थक गया था। नींद खूब जोर से आ गयी। नौकर बेचारा रात-भर बैठा रहा। जैसे दो का घंटा बजा, जगाना शुरू किया। पर उसकी हजार कोशिश पर भी मेरी नींद नहीं टूटी ! करीब साढ़े चार बजे के नींद खुली और घड़ी देखी। बहुत घबराया। नौकर पर गुस्सा हुआ, पर उसने कहा कि वह तो बराबर जगाता ही रहा, मैं न उठा तो उसका क्या दोष ! जल्दी-जल्दी नोट उलटने लगा। साइकोलौजी और एथिक्स तो उलटकर देख गया। इन विषयों को डाक्टर राय ने पढ़ाया भी था। पर लौजिक देखने का समय नहीं मिला। घबराकर एक साथी के पास गया। सब हाल कहा। उसने लौजिक के सभी अध्यायों के शीर्षक कह दिये और प्रत्येक शीर्षक के संबंध में कुछ बातें कह दीं। उस समय मालूम होता था कि मैं एक नयी चीज पहले-पहल पढ़ रहा हूं। इतने में जाने का समय हो गया। दौड़कर दस-पंद्रह मिनटों में मुंह धोकर स्नान करके कुछ भात निगलकर दौड़ता हुआ युनिवर्सिटी में पहुंचा। पहुंचने के पहले ही पहली घंटी बज चुकी थी। दौड़कर स्थान पर बैठ गया और परचा हाथ में आ गया। इतना घबराया था कि कुछ पता नहीं चलता था कि एक प्रश्न का भी उत्तर लिख सकूंगा या नहीं। डर यह होता था कि और विषयों में ऑनर्स पाकर ही क्या होगा, अगर इस विषय में फेल कर गया ! किसी एक भी विषय में फेल करने पर सारी परीक्षा में आदमी फेल हो जाता था।

परचा मिलने पर कुछ शांति लाने की कोशिश की। आहिस्ता-आहिस्ता प्रश्नों को पढ़ा। कुछ ऐसा मालूम हुआ कि पहले प्रश्न का उत्तर दे सकूंगा। लिखना शुरू किया। जब खतम किया तो ऐसा समझा कि उत्तर कुछ बुरा नहीं हुआ। इसी प्रकार दूसरे प्रश्न और उसके बाद तीसरे प्रश्न इत्यादि सबका उत्तर लिख गया। उधर समय भी पूरा हो गया। अब मन में विश्वास हो गया कि फेल नहीं करूंगा। सारी घबराहट कम हो गयी। आध घंटे की छुट्टी के बाद दूसरा परचा मिला। उसमें भी वैसा ही हुआ। प्रायः सभी प्रश्नों का उत्तर लिख दिया, केवल एक बाकी रह गया था। उसका भी उत्तर कुछ तो दे सकता था, पर पूरा नहीं; क्योंकि उसका संबंध उस अध्याय के साथ था, जिसका शीर्षक तो मैंने देखा था और साथी ने संक्षेप में कुछ कहना भी शुरू किया था, पर उसे वह पूरा नहीं कर पाया था और मैं घड़ी देखकर जल्दी में होस्टल से चला आया था। मैंने उसका उत्तर नहीं दिया और समय से पहले ही चला आया। मुझे विश्वास हो गया था कि अब फेल होने का तो कोई डर ही नहीं है। जब नतीजा निकला तो हिस्ट्री ऑनर्स में मैं अव्वल आया। अंगरेजी में भी ऑनर्स तो मिला, पर अव्वल स्थान नहीं मिला। फिलासफी में बहुत अच्छा नम्बर आया था। सब विषयों को मिलाकर मैं ही सबसे ऊपर था और वह दोनों छात्रवृत्तियां, एक पचास की और दूसरी चालीस रुपये मासिक की, मुझे फिर मिल गयीं। इस बार का फल किसी प्रयत्न का नतीजा नहीं था, क्योंकि मैंने कोई प्रयत्न किया ही नहीं था।

11

समुद्रयात्रा संबंधी आन्दोलन

जब मैं एफ. ए. की परीक्षा देकर, सन् 1904 की गर्मी की छुट्टियों में, जीरादेई आया था, भाई भी घर पर ही थे। परीक्षा-फल की प्रतीक्षा थी। अखबारों में हम लोगों ने देखा कि विदेश से शिक्षा पाकर डाक्टर गणेश प्रसाद वापस आ रहे हैं। वह बलिया के, जो हमारे जिले छपरा (सारन) से लगा हुआ है, रहने वाले थे। उनका ननिहाल छपरे में था। जाति के वह भी कायस्थ थे। इलाहाबाद से डी. एस-सी. की उपाधि पाकर वह पढ़ने के लिए इंग्लैंड गये और वहां से फिर जर्मनी गये। गणितशास्त्र में उन्होंने बड़ा नाम किया था। देश में उनके पहुंचने के पहले से ही एक आन्दोलन उठ खड़ा हो गया था कि उनको जाति में ले लेना चाहिए। छपरे में दो दल हो गये थे। सुधारक दल के नेता बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद थे, जो अभी नये उठते हुए वकील थे और विरोधी दल के नेता दो सबसे प्रतिष्ठित और नामी बूढ़े वकील थे। ब्रजकिशोर बाबू हमारे घर पर आये। भाई से सलाह करके उन्होंने बाबूजी से कहा कि डाक्टर गणेश को जाति में ले लेना चाहिए और उनके यहां जो बिरादरी का भोज हो उसमें बाबूजी को चलना चाहिए।

उस समय तक बिहार-भर में केवल मिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा ही विलायत से लौटे कायस्थ थे। उनको लौटे ग्यारह-बारह बरस बीत चुके थे। उनके लौटने के समय भी कुछ आन्दोलन हुआ था, पर उन्होंने प्रायश्चित करके फिर पुराने तरीके से जाति के बंधन को मानना स्वीकार नहीं किया था। इसलिए बाजाब्ता वह जाति में नहीं लिये गये थे। डाक्टर गणेश प्रसाद से, पहुंचने के पहले ही लिखा-पढ़ी करके, तय हो चुका था कि वह जाति-बंधन को मानेंगे। उन्होंने विदेश में भी बहुत सादा जीवन बिताया था और कभी मांस-मछली-मद्य का व्यवहार नहीं किया था। उनका और सुधारकों का विचार था कि इस तरह से ही उस समय समुद्रयात्रा का रास्ता खुल सकेगा। मिस्टर सिन्हा के लौटने के बाद दस बरसों तक किसी की हिम्मत उस बंधन को तोड़कर विदेश जाने की नहीं हुई थी। इसलिए अब इस शर्त को मानकर भी रास्ता खोलना चाहिए।

बाबू ब्रजकिशोर ने कुछ लोगों को तैयार किया था कि डाक्टर गणेश के घर चलकर

भोज में शरीक होना चाहिए। बाबूजी से उन्होंने बहुत आग्रह किया कि वह भी चलें। बाबूजी ने खुद तो जाना मंजूर नहीं किया, मगर यह कह दिया कि वह हम दोनों भाइयों को भेज देंगे।

डाक्टर गणेश लौटे। बलिया में भोज का दिन मुकर्रर हुआ। बाहर से बाबू ब्रजकिशोर की प्रेरणा से हम 20-21 आदमी छपरे से बलिया गये। इनमें दो भाई हम और हमारे दोनों साथी जमुना भाई और गंगा भाई भी थे। गांव के पटवारी भी थे। डाक्टर गणेश से भेंट हुई। बलिया के कायस्थों में बड़ी हलचल थी।

मैं लिख चुका हूं कि हम लोगों का घर पहले बलिया में ही था। वहां हमारे गोतिया लोग रहते थे। हमारे ब्राह्मण-पुरोहित आज तक बलिया से ही शादी और श्राद्ध में आया करते हैं। मेरी ससुराल के लोग भी बलिया में रहते थे। उस घर के कई आदमी वहां वकालत करते थे। कुछ लोग दूसरे कामों में भी थे। हम लोगों के पहुंचने की खबर वहां फैल गयी। इसको छिपाना भी तो मंजूर नहीं था। हमारे एक गोतिया भी वकील थे। वह रिश्ते में हम लोगों के भाई लगते थे। उन्होंने हम लोगों से भेंट की और हम लोगों का उस भोज में शरीक होना पसंद नहीं किया। उनका ख्याल था कि हम लोग बाबूजी की आज्ञा के बिना ही चुपचाप चले आये हैं। जब हम लोगों ने विश्वास दिलाया कि ऐसी बात नहीं है, तो उनको और भी दुख हुआ। उन्होंने कहा कि चचा साहब को हमसे पूछ लेना चाहिए था, जब हम सब यहीं रहते हैं।

इसी प्रकार मेरी ससुराल के लोगों को भी यह बात बहुत पसंद नहीं थी; पर उनकी ओर से कुछ अधिक जोर नहीं डाला गया। रात को भोजन हुआ। भात खाकर हम सब अपने स्थान के लिए वापस हुए। डाक्टर गणेश पहले इलाहाबाद में और फिर हिन्दू युनिवर्सिटी में और कलकत्ता युनिवर्सिटी में गणित विभाग के सर्वोच्च स्थान पर रहकर कई बरसों के बाद गुजर गये। हम लोगों से पहली मुलाकात को वह कभी भूले नहीं और मुझसे बहुत प्रेम रखते रहे।

बलिया से लौटकर मैं अपनी दूसरी बहन के घर, जो छपरे से कुछ दूर पर ब्याही थी, बाहर-ही-बाहर चला गया। वहां जाने का कोई खास विचार नहीं था। पहले से ही उसकी इच्छा थी कि मैं दो-चार दिन उसके साथ रहूं। छपरे से ही वहां जाने में सुविधा थी। इसलिए घर वापस न जाकर वहां चला गया।

जिन लोगों ने भोज में शिरकत की थी उनके नाम अखबारों में छपे और छपरे में बड़ा हल्ला हुआ। वहां तैयारियां होने लगीं कि वे लोग जातिच्युत कर दिये जायें। काशी से महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री की, समुद्र यात्रा के विरुद्ध, व्यवस्था मंगायी गयी। जिला-भर के कायस्थों की एक बड़ी सभा करने का आयोजन होने लगा। मुझे इसकी कुछ भी खबर न थी। मैं तो बहन के गांव में था। इसी बीच में परीक्षा-फल भी निकल गया। बाबू

ब्रजकिशोर ने गजट देखकर जीरादेई खबर दे दी। भाई को बात मालूम हो गयी। बाबूजी को बड़ी खुशी हुई। उन्होंने तुरंत सत्यनारायण की कथा सुनी; ब्राह्मण-भोजन और बिरादरी-भोज का प्रबंध कराया। यह सब मेरी गैरहाजिरी में ही हुआ।

मैं अपने बहनोई के घर से जीरादेई के लिए रवाना होकर छपरे पहुंचा। बहनोई भी साथ छपरे आये। छपरे में जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था, उसकी उनको खबर ही नहीं थी। हम लोग रात को छपरे पहुंचे और वहां पहुंचकर सो गये। इसलिए, उस रात को कुछ पता न मिला। मेरे परीक्षा-फल की भी खबर न मिली। खूब सवेरे रेल जाती थी, जिससे हम जीरादेई जा सकते थे। सवेरे ही मैं स्टेशन पहुंच गया। बाबू ब्रजकिशोर का डेरा स्टेशन के नजदीक ही था। मैंने नौकर को भेजा कि जाकर पूछ आओ—परीक्षा-फल अभी निकला कि नहीं? उन्होंने खबर दिलवायी कि परीक्षा-फल निकल चुका है और मुझको उनसे मुलाकात किये बिना उस गाड़ी से नहीं जाना चाहिए। मैं उनके डेरे पर गया, क्योंकि परीक्षा-फल जानने की उत्सुकता थी। वहां उन्होंने रोक लिया। कचहरी सवेरे सात बजे से हुआ करती थी। उनके साथ मैं भी कचहरी गया। इसकी खबर मेरे बहनोई को नहीं मिली कि मैं वहां रुक गया हूं। मैं जब बाबू ब्रजकिशोर के साथ बार लाइब्रेरी में पहुंचा तो बहुतेरे वकीलों ने मुझे घेर लिया। कुछ तो परीक्षा-फल से खुश होकर बधाई देने लगे और कुछ डाक्टर गणेश के भोज का हाल पूछने लगे। वे यह जानना चाहते थे कि भोज में कौन-कौन शरीक थे और मैं कहां से आया हूं। मैंने सब बातें कह दीं। यह भी कह दिया कि कई दिनों से मैं 'पैगा' में अपने बहनोई के साथ था और वहां से ही लौटा हूं। मुझे इसका पता नहीं था कि मैंने जो इस तरह सच्ची बातें बता दीं उसका कुछ बुरा परिणाम होने वाला है।

बात यह थी कि कुछ लोगों ने, जो भोज में शरीक थे, आन्दोलन को देख सहमकर, अपने घर वालों के जोर देने से, शरीक होना इंकार कर दिया था और अखबार में छपी खबर को गलत बता दिया था। मेरे बहनोई से भी, ज्यों ही वह बार लाइब्रेरी में पहुंचे, सवाल हुए। उनको यह मालूम नहीं था कि मैं डाक्टर गणेश के भोज में शरीक हुआ था। उनको यह भी नहीं मालूम था कि मैं जीरादेई न जाकर छपरे में रुक गया था और उसी जगह बार लाइब्रेरी में कहीं औरों से बातें कर रहा था। बड़े प्रतिष्ठित वकीलों की बात सुनकर वह भी कुछ सहम गये। उन्होंने मेरी ओर से इंकार कर दिया और कह दिया कि मैं अगर भोज में गया होता तो उनको जरूर मालूम हो गया होता। तब लोगों ने उनसे कहा कि मैं वहीं हूं और मैंने ही भोज का हाल खुद कहा है। अब नौबत आयी कि मुकाबला कराया जाये। पर मैं वहां से बाबू ब्रजकिशोर के डेरे पर चला गया और ट्रेन से जीरादेई चला आया। जब मैं गांव पहुंचा तो मैंने सुना, एक दिन पहले पूजा वगैरह होकर ब्राह्मण-भोजन और बिरादरी का भोज भी हो चुका है, जिसमें केवल गांव के ही नहीं, बल्कि आसपास के गांवों के कायस्थ भी—जो बराबर बिरादरी-भोज में शरीक हुआ करते थे—शरीक हो चुके थे। गांव में तो कोई दिक्कत

थी ही नहीं, क्योंकि हम तीन ही घर कायस्थ थे, और तीनों घरों के लोगों ने बलिया के भोज में शिरकत की थी। मैंने छपरे का हाल भाई से कहा। बाबू ब्रजकिशोर का संदेश भी कहा कि छपरे में होने वाली सभा में अपने मत वाले लोगों को पहुंचना चाहिए और उस सभा में समुद्रयात्रा के पक्ष में प्रस्ताव भी पास कराना चाहिए।

छपरे में सभा की बड़ी तैयारियां हुईं। सारे जिले के कायस्थ बुलाये गये। काशी से महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री व्यवस्था देने आये। साथ ही, इस बात की कोशिश होने लगी कि उन लोगों से, जिन्होंने भोज में खाया था, या तो इंकार कराया जाये या प्रायश्चित। हम लोग सभा के दिन छपरे नहीं गये। पर सुना कि बहुत कायस्थ जमा हुए। जिला दो भागों में बंट गया था। पूरब छपरा दोनों विरोधी बड़े वकील साहबों के साथ में था, और पश्चिम छपरा का—जहां के हम लोग रहने वाले थे—यह दावा था कि हम पक्ष में हैं। बात यह है कि अधिक बिरादरी के लोग विरोधी थे। कुछ थोड़े लोग जो पक्ष में थे, अधिकांश पश्चिम छपरा के थे, जिनमें हमारा घर प्रतिष्ठित समझा जाता था। छपरे में, पंचमंदिर में, जो एक कायस्थ का ही बनवाया हुआ सबसे बड़ा और बहुत सुंदर मंदिर उस शहर में है, सभा हुई। एक वयोवृद्ध और प्रसिद्ध वकील साहब सभापति होने वाले थे। जब लोग पहुंचे तो हमारे दल के एक आदमी ने उठकर प्रस्ताव कर दिया कि सभापति बाबू सरस्वती प्रसाद वकील बनाये जायें। यह सज्जन भोज में शरीक हो चुके थे, पश्चिम छपरा के रहने वाले थे; पर गोरखपुर में वकालत किया करते थे। कुछ लोगों ने प्रस्ताव का समर्थन कर दिया। जिन्होंने सभा बुलायी थी वे कुछ भौंचक-से रह गये। उन्होंने तो बड़े वकील साहब का नाम सभापति होने के लिए नोटिस में छाप दिया था। सुधारक दल के जो लोग मौजूद थे, उन्होंने शोर किया कि बाबू सरस्वती प्रसाद सभापति बनाये जायें। दूसरे लोगों को इस विरोध की आशा नहीं थी। वह समझते थे कि सब लोग उनके ही साथ हैं। वास्तविक अधिकांश क्या, बहुमत जोरों से उस सभा में भी उनके साथ था। पर वह बहुत-कुछ डर गये। इधर से जोर होने लगा कि सभापति के चुनाव के बारे में मत लिया जाये। इससे वह और भी घबराये। उन्होंने मत लेने से इंकार कर दिया और कहा कि जिनका नाम प्रकाशित कर दिया गया है वही सभापति होंगे। वह सभापति के स्थान पर बैठने के लिए चले। इधर से बाबू सरस्वती प्रसाद भी चले और उन्होंने कहा—वकील साहब, सभा ने तो मेरा नाम सभापति के लिए प्रस्तावित किया है, मैं सभापति हूं, आप कैसे वहां बैठ सकते हैं? इससे और घबराहट फैली। उन्होंने कह दिया कि ये लोग सभा नहीं होने देंगे, इसलिए सभा बर्खास्त की जाती है।

सुधारक दल तुरंत उठ खड़ा हुआ और खुशियां मनाता और यह घोषित करता हुआ कि उसकी जीत हो गयी, वहां से चल पड़ा। सुधारकों को तो यही कराना था, क्योंकि वे जानते थे कि सचमुच अगर मत लिया जाता तो वे जरूर हार जाते। उस दिन की सभा बर्खास्त हुई। दूसरे दिन फिर सभा की गयी। वहां प्रस्ताव पास किया गया कि जितने लोगों

ने भोज खाया था वे जातिच्युत किये गये। उनके साथ खानपान, शादी-विवाह, सब बंद कर दिया गया। उनके नाम भी प्रस्ताव में दे दिये गये। उस प्रस्ताव को छपवाकर जिला-भर में बांटने का प्रबंध किया गया। सुधारकों की ओर से कहा गया कि यह सभा तो पूरी बिरादरी की थी नहीं और हमारे (सुधारकों के) चले जाने के बाद दूसरे दिन की गयी थी; इसलिए इस प्रस्ताव को हम नहीं मानते और जिला-भर की बिरादरी उसे स्वीकार नहीं करती। अगर सब लोग सचमुच इस प्रस्ताव को मानते हैं तो फिर सभा करके जिला-भर की बिरादरी बुलायी जाये और प्रस्ताव पास कराया जाये। इस प्रकार की गड़बड़ी मच गयी और अखबारों में दोनों पक्षों के बयान भी शायद निकले। फलतः जाति-बहिष्कार बहुत बलवान न हो सका।

जहां तक हम लोगों का सरोकार था, जाति-बहिष्कार का कोई प्रश्न उठा ही नहीं; क्योंकि हमारे आस-पास के सब लोग हमारे साथ खाते-पीते रहे और ब्राह्मण-पुरोहित ने कभी कोई दिक्कत न होने दी। हां, बाबूजी को एक बार कुछ दुख हुआ। मैं कह चुका हूं कि हमारे बहनोई छपरे के नजदीक के रहने वाले थे। उनके यहां इस बहिष्कार आन्दोलन का कुछ जोर रहा। छपरे के लोगों ने उन पर बहुत जोर डालकर एक मरतबा एक बहुत बुरा पत्र बाबूजी के पास उनसे लिखवाया। एक आदमी पत्र लेकर आया, हम लोगों से मुलाकात हुई। उसने कहा कि बाबूजी को ही पत्र देने का हुक्म है, हम लोगों को नहीं। हम लोग समझ गये कि उस पत्र में कुछ इसी संबंध की बातें होंगी। बाबूजी ने पत्र पढ़ा, और कुछ सहम गये। हमारे वही एक बहनोई जीते थे। दूसरी बहन तो बहुत पहले ही विधवा हो चुकी थीं। इनके भी कोई संतान नहीं थी, अपने घर में अकेले थे। न कोई दूसरा भाई, न सगा-संबंधी। जो कुछ संबंध था, हम लोगों के साथ ही था। इन्होंने पत्र में लिखा था कि इनका कोई दूसरा संबंधी तो था ही नहीं, अब हम लोगों से भी संबंध टूट जायेगा! अगर हम संबंध कायम रखना चाहते हैं तो या तो भोज में शरीक होना इंकार करके घोषणा कर दें या प्रायश्चित करें।

बाबूजी घबराये, पर उनका विचार नहीं हुआ कि हम लोगों ने कोई गलती की है। उन्होंने इतना ही कहा कि हम लोग अगर खुद भोज में शरीक होकर इस झगड़े में न पड़े होते तो वह शायद दूसरों पर असर डालकर इस काम में अधिक मदद कर सकते। मां ने जब खबर सुनी कि ऐसा पत्र आया है तो उन्होंने साफ-साफ कहा—"इंकार की बात तो हो ही नहीं सकती है—वह तो बिलकुल झूठी बात होगी और ऐसा करने से भला नहीं होगा। हां, प्रायश्चित की बात होगी तो समय आने पर देखा जायेगा।"

इसी मजमून का उत्तर भेज दिया गया। उन दिनों मेरी बहन के आने की भी कोई बात नहीं थी, इसलिए यह बात आगे नहीं बढ़ी। बाबूजी छपरे गये। एक मुकदमा चल रहा था। उसमें हमारे वकील वही वयोवृद्ध वकील थे जो इस आन्दोलन के नेता थे। उन्होंने प्रायश्चित पर बहुत जोर दिया। बाबूजी ने यह कहकर बात टाल दी कि हम लोग कलकत्ते में हैं, जब आवेंगे तो सलाह करेंगे। उन लोगों ने इस तरह, जहां तक हो सका, परोक्ष रीति से जोर डाला। सार्वजनिक सभा करने का प्रयत्न भी किया। सीवान में, जो हम लोगों के नजदीक

का शहर है, एक सभा की गयी जिसमें छपरे की सभा के निश्चय को घोषित करना था। एक सज्जन छपरे से भेजे गये कि सीवान के जिन लोगों ने भोज खाया था उनके जाति-बहिष्कार का फैसला बाजाब्ता सभा में सुना दें। इस सभा में हम लोग भी गये। परंतु सीवान की बिरादरी में बहुत लोग हम लोगों के साथ थे; क्योंकि बाबू ब्रजकिशोर, बाबू सरस्वती प्रसाद और हम लोग—सब इसी (सीवान) सब-डिवीजन के रहने वाले थे। उस सभा में हम लोगों ने प्रस्ताव कर दिया कि छपरे की सभा को हम लोग नहीं मानते—सीवान की बिरादरी हम लोगों के साथ है।

हमारे गांव के दो आदमी, जमुना प्रसाद और गंगा प्रसाद जो हम लोगों के साथ बलिया भोज में शरीक हुए थे, छपरे में पढ़ते थे। वे लोग, कुछ और लड़कों के साथ, एक मकान में रहते थे। उनको कुछ कष्ट उठाना पड़ा। उस 'मेस' के लड़के उनका छुआ जल नहीं लेते थे—उनके साथ खान-पान भी नहीं करते थे। ब्राह्मण रसोई बनाकर उनके बर्तन में अलग से भोजन दे देता। उन्होंने इस अपमान को खुशी-खुशी बर्दाश्त किया। कुछ महीनों तक यही सिलसिला चला। पर आहिस्ता-आहिस्ता जोर कम पड़ गया। सब एक साथ हो गये। छपरे में विरोधियों के मुखिया लोगों का भी संबंध ऐसे घरों में हो गया था जो समुद्रयात्रा के पक्ष में थे। उनके अपने घर के भी कुछ लोग उनके विरुद्ध हो गये। उन लोगों ने अपने जीवन में तो इस बात को निबाह दिया, पर बंधन जो टूटा वह फिर जुटा नहीं। समुद्रयात्रा के लिए कायस्थों का रास्ता खुल गया।

12

छात्र सम्मेलन और कांग्रेस

बी. ए. पास करके मैं कलकत्ते में एम. ए. और बी. एल. पढ़ने लगा। स्वदेशी आन्दोलन उन दिनों बहुत जोरों से चल रहा था। हम कुछ बिहारी छात्रों पर भी, जो कलकत्ते में पढ़ते थे, उसका असर पड़ता ही था। हम लोग बिहारी क्लब में अक्सर बैठते, मिलते-जुलते और विचार-विनिमय किया करते थे। हम लोगों के दिल में जोश आया कि बंगाल के विद्यार्थी इस प्रकार स्वदेशी का प्रचार कर रहे हैं, अगर हमारे बिहार में भी छात्रों का कोई संगठन होता तो उसके द्वारा स्वदेशी का प्रचार हो सकता। हमने एक गीत भी बनवाया जिसकी कुछ प्रतियां छपवाकर जहां-तहां बंटवायीं। इसी के बंटवाने में संगठन का अभाव और भी मालूम हुआ।

हम लोगों ने सोचा कि बिहार के छात्रों का एक सम्मेलन किया जाये। बिहारी क्लब के सामने इस प्रकार का प्रस्ताव रखा गया। उसे केवल छात्रों ने ही नहीं, बड़ों ने भी बहुत उत्साहपूर्वक स्वीकार किया। मैं पटने भेजा गया। वहां पहले छात्रों से और फिर बड़े लोगों से मैं मिला। उनमें प्रमुख थे मिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा और (स्वर्गीय) बाबू महेशनारायण, जो उन दिनों 'बिहार टाइम्स' का सम्पादन करते थे। इन सब लोगों ने सहानुभूति दिखलायी। निश्चय हुआ कि पटने में ही पहला सम्मेलन किया जाये और नामी बैरिस्टर मिस्टर शर्फुद्दीन सभापति बनाये जायें। पटने के छात्रों ने एक स्वागत-समिति बनाकर सब प्रबंध भी किया।

पहला सम्मेलन पटना कालेज के बड़े हॉल में हुआ। बिहार के सभी कालेजों और अनेक स्कूलों के छात्र उस सम्मेलन में बड़े उत्साह के साथ शरीक हुए। सम्मेलन के उद्देश्य बतलाने का भार मेरे ऊपर दिया गया। मैंने एक लम्बा भाषण अंगरेजी में लिखकर तैयार किया था, उसे पढ़ सुनाया। औरों के भाषण भी अक्सर अंगरेजी में ही हुए। सम्मेलन में निश्चय हुआ कि पहले उन शहरों में, जहां कालेज हैं और फिर जहां-जहां स्कूल हैं, छात्र-समितियां कायम की जायें, जो सम्मेलन से सम्बद्ध रहें। एक बड़ी नियमावली तैयार की गयी। उसके अनुसार सारे बिहार के छात्रों की प्रतिनिधि-स्वरूप एक स्थायी समिति पटने में

कायम हुई। इसमें सभी जगहों के छात्रों के प्रतिनिधि लिये गये। यही सब छात्र-समितियों पर नियंत्रण और सम्मेलन का काम साल-भर जारी रखती थी।

मुझे याद है कि नियम बनने के समय दो प्रश्नों पर आपस में बहुत बहस हुई। एक प्रश्न था कि यह सम्मेलन राजनीति में भाग लेगा या नहीं ? इस पर छात्रों में ही बहुत मतभेद था। बड़े लोगों में तो सभी इसके विरोधी थे। अंत में यह तय हो गया कि सम्मेलन किसी प्रकार के राजनीतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेगा, चाहे वह राष्ट्रवादी हो अथवा राजभक्तिप्रचारक या और किसी प्रकार का (Nationalist, Loyalist or any other)। हमने यह निश्चय करके, अब मालूम होता है, बुद्धिमानी दिखलायी। बिहार अभी बंगाल का ही हिस्सा था। सूबा अलग नहीं हुआ था। बिहार शिक्षा में बहुत पिछड़ा हुआ था। सार्वजनिक जीवन तो प्रायः नहीं के बराबर था। विशेषकर छात्र तो बाहर का कुछ जानते ही नहीं थे। कांग्रेस के पक्षपाती थोड़े ही लोग थे। अभी तक बिहार का कोई राजनीतिक संगठन भी अलग नहीं था, न बिहार की अलग कांग्रेस कमेटी थी और न बिहार राजनीतिक सम्मेलन (Bihar Provincial Congress) की स्थापना हुई थी। यह पहला ही संगठन था जिसमें सारे बिहार के लोग, चाहे वे नववयस्क छात्र ही क्यों न हों, अलग एकत्र होकर अपने प्रश्नों पर विचार करने बैठे थे। ऐसी अवस्था में अगर हम संभलकर न चलते तो शायद यह संगठन होने ही नहीं पाता।

उस समय तक भारतवर्ष में कहीं भी दूसरा छात्र सम्मेलन नहीं हुआ था। एक प्रकार से हम लोगों को एक नया संगठन, जिसका कोई नमूना सामने नहीं था, बनाना था। और, दूसरा प्रश्न, जिस पर मतभेद था, यह था कि इस सम्मेलन में केवल बिहारी छात्रों का ही संगठन रहे या इसमें बंगाली छात्र भी शामिल किये जायें ? इस संबंध में भी बहुत मतभेद रहा। मुझे याद है कि कई बरसों तक वार्षिक सम्मेलन में प्रस्ताव आता रहा कि बिहारी छात्र सम्मेलन में बंगाली भी लिये जायें, पर वह कभी स्वीकार नहीं हुआ। सम्मेलन का नाम तो शुरू से ही था 'बिहारी छात्र सम्मेलन'। कई बरसों के बाद नियमावली में जोड़ दिया गया कि 'बिहारी छात्र' से बिहार में शिक्षा पाने वाले सभी छात्र समझे जायें। हम जो कलकत्ते के विद्यार्थी थे, शुरू से ही इसके पक्ष में थे; पर दूसरे इसका विरोध करते थे।

छात्रों का संगठन बहुत अच्छा हो गया। प्रायः सभी शहरों में इसकी शाखाएं हो गयीं। कलकत्ते में तो बिहारी क्लब इसकी शाखा बन ही गया, हिन्दू युनिवर्सिटी की स्थापना के बाद वहां के बिहारी छात्रों ने भी एक शाखा बना ली। सभी शाखाओं में प्रायः प्रति सप्ताह सभा होती, जिसमें छात्र विविध विषयों पर लेख पढ़ते, भाषण करते और खेल-कूद में भाग लेते। इसके लिए जहां-तहां क्लब कायम किये गये। सालाना जलसे में निबंधों और भाषणों की प्रतियोगिता होती। सबसे अच्छे लेखों, भाषणों और खेल-कूद के लिए इनाम दिये जाते। कालेज के लड़कों की अलग प्रतियोगिता होती, स्कूल के छात्रों की और लड़कियों

की अलग। लड़कियों को लेख और भाषण के अलावा सीना-पिरोना इत्यादि में प्रोत्साहन देने के लिए अलग इनाम दिये जाते। इस प्रकार साल-भर काम चलता। सम्मेलन, दशहरे की हरेक छुट्टी में, कहीं-न-कहीं बिहार के किसी शहर में होता। इस सालाना सम्मेलन के सभापति-पद को बिहार और बाहर के बहुत बड़े-बड़े लोगों ने सुशोभित किया है। जैसे बिहार के मिस्टर शर्फुद्दीन, मिस्टर हसन इमाम, डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा, बाबू परमेश्वर लाल, बाबू दीपनारायण सिंह, बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद प्रभृति। बाहर के लोगों में श्रीमती एनी बेसेंट, श्रीमती सरोजिनी नायडू, महात्मा गांधी, मिस्टर एंडरूज प्रभृति।

यह सम्मेलन 1906 में कायम हुआ और प्रति वर्ष अपना सालाना जलसा 1920 तक, जब असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ, करता रहा। उसके बाद यह कुछ शिथिल पड़ गया; क्योंकि इसके सभी उत्साही काम करने वाले उस महान आन्दोलन में लग गये। फिर भी इसे पुनर्जीवित करने के प्रयत्न किये गये हैं। पर इसमें वह पुराना जीवन और तेज फिर नहीं आ सका। अब जो संगठन है वह एक प्रकार से नया संगठन है, जिसके कार्यकर्ता शायद संगठन का हाल जानते भी न होंगे। जितने दिनों तक यह काम करता रहा, बड़े उत्साह और लगन के साथ सारे सूबे के छात्र इसमें शरीक होते रहे। इसी के द्वारा छात्रों नें संगठन को क्रियात्मक रूप से सीखा, बहुतों ने भाषण करना सीखा। उन पंद्रह बरसों में जितने भी जानदार और उत्साही युवक बिहार में हुए, सब इससे ही अनुप्राणित हुए। सबने अपने निजी स्वार्थ के अलावा देश-विदेश की कुछ बातें सीखीं और उनके लिए कुछ थोड़ी-बहुत त्याग की प्रवृत्ति भी पायी। जो कुछ उन्होंने सीखा या पाया उससे देश को लाभ भी पहुंचा। जब महात्मा गांधी बिहार में आये, इस छात्र सम्मेलन के भूतपूर्व कार्यकर्ता ही उनके साथ हुए और असहयोग आन्दोलन में जितने आगे बढ़े, इसी के उत्पादित फल थे। आज प्रायः वे ही लोग सूबे के नेतृत्व का भार वहन कर रहे हैं, जिन्होंने छात्र सम्मेलन में ही दीक्षा पायी थी।

असहयोग आन्दोलन ने छात्रों से बहुत बड़े त्याग की मांग की। छात्र सम्मेलन इसके लिए तैयार नहीं था। प्रस्ताव तो पास हो गया, पर थोड़े ही छात्र अंत तक उस आन्दोलन में ठहर सके। जो ठहरे वे अधिकतर सम्मेलन के ही कार्यकर्ता थे। दूसरे जो वकील वर्ग में से आये उनमें भी अधिक सम्मेलन के ही कार्यकर्ताओं में से थे। 1920 तक अपना काम इस प्रकार से पूरा करके सम्मेलन मरता-जीता जीवन बिताने लगा। इसने एक प्रकार से अपना काम पूरा कर दिया था। नयी जागृति, नया जीवन सारे सूबे में पैदा कर दिया था और भविष्य के लिए खेत तैयार करके बीज भी बो दिया था, जिसका फल असहयोग आन्दोलन को मिला और आज तक सूबे को मिल रहा है।

1906 के दिसम्बर में कांग्रेस कलकत्ते में होने वाली थी। मैं कांग्रेस की खबर तो कुछ पहले से ही पढ़ा करता था, पर अभी तक कांग्रेस देखने का सौभाग्य और सुअवसर मुझे नहीं मिला था। जब 1905 के दिसम्बर में कांग्रेस बनारस में हुई, मैं बी. ए. परीक्षा के फेर में था

और नजदीक होने पर भी वहां नहीं जा सका था। 1906 की कांग्रेस में पहले-पहल स्वयंसेवक (वालंटियर) की हैसियत से मैं शरीक हुआ। कांग्रेस का अधिवेशन बड़े जोश का हुआ। गरम दल और नरम दल का आविर्भाव हो चुका था। गरम दल के नेता समझे जाते थे लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष प्रभृति। नरम दल के नेता थे सर फिरोजशाह मेहता, गोखले प्रभृति। जहां तक मैं समझ सकता था, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और पंडित मदनमोहन मालवीय बीच का स्थान रखते थे। आपस के झगड़े को मिटाने या कम करने के लिए दादाभाई नौरोजी विलायत से बुलाकर सभापति बनाये गये थे। सौभाग्य से मुझे कांग्रेस-पंडाल की ड्यूटी मिली थी। इसलिए मैं विषय निर्धारिणी समिति में सब बहसें सुन सका था। कांग्रेस-पंडाल में अधिवेशन के समय पहले दिन मैं कुछ दूर पर रखा गया था, जिससे सभापति का भाषण नहीं सुन सका। मैंने देखा कि अधिकांश स्वयंसेवक अपने स्थान को छोड़कर भीतर चले गये। मैंने ऐसा करना उचित नहीं समझा और अपने नियुक्त स्थान पर ही डटा रहा। सरोजिनी देवी, मालवीयजी और मिस्टर जिन्ना के भाषण पहले-पहल इसी कांग्रेस में सुने। कांग्रेस के साथ प्रदर्शनी भी बहुत जबरदस्त हुई थी। अधिवेशन देख करके कांग्रेस के बारे में श्रद्धा अधिक बढ़ गयी, पर अभी कई बरसों तक मुझे इसमें बाजाब्ता शरीक होने का अवसर नहीं मिला। यह अवसर मिला पहले-पहल 1911 में, जब कांग्रेस फिर कलकत्ते में हुई। उसी समय से आज तक मैं अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी का मेम्बर रहा हूं और थोड़ा-बहुत कांग्रेस का काम करता आया हूं।

उन दिनों कांग्रेस का संगठन कुछ ढीला ही था। बिहार में तो बहुत थोड़े ही लोग इससे संबंध रखते थे। वह भी अधिकतर वकील लोग ही हुआ करते थे। एक प्रांतीय कांग्रेस कमिटी 1907 या 1908 में ही अलग बन गयी थी, जो बंगाल की प्रांतीय कमिटी से जुदा थी। सूबा तो 1912 में अलग हुआ। पर यह प्रांतीय कमिटी कुछ बहुत नियमित रूप से नहीं बनती थी। जो प्रतिनिधि होते थे वे भी कोई नियमित रूप से चुने नहीं जाते थे। एक सभा होती थी जिसमें कुछ लोग चुन लिये जाते थे। अधिवेशन में पहुंच जाते तो ठीक, अगर नहीं पहुंच पाते, तो जो लोग पहुंच जाते उनको ही मंत्री प्रतिनिधि मान लेते और उनके नाम से प्रमाणपत्र दे देते! इस तरह से बिहार कभी खाली नहीं जाता। हर साल कुछ लोग अधिवेशन में शरीक जरूर हो जाते। जो प्रतिनिधि जाते वही उन दिनों के नियमानुकूल अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के मेम्बर चुने जाते। मैं 1911 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी का मेम्बर इसी तरह से चुना गया; कांग्रेस की कोई खास सेवा नहीं की थी। उसी साल मैं पहले-पहल प्रतिनिधि बना था। पर छात्र सम्मेलन के कारण और युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में अच्छा फल होने के कारण बिहार के सभी लोग मुझे जानते थे। सबने एक छलांग में ही मुझे अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी में पहुंचा दिया। यह सब बातें 1920 के बाद बहुत कुछ बदल गयीं। पर इसका जिक्र आगे आवेगा।

13

विदेश यात्रा का निष्फल प्रयत्न

डॉन सोसाइटी और स्वदेशी आन्दोलन का असर मेरे ऊपर यह पड़ा कि मेरे मन में आया, देश के लिए किसी तरह कुछ करना चाहिए। भाई के साथ का भी असर कुछ वैसा ही पड़ता जा रहा था। पर अभी तक यह स्पष्ट नहीं हुआ था कि यह इच्छा किस प्रकार पूरी होगी और न यही साफ सूझता था कि कौन-सी सेवा की जाये और इसके लिए क्या करना चाहिए। यह एक इच्छा मात्र थी जो कभी-कभी उठा करती थी और फिर इधर-उधर की झंझटों में विलीन हो जाती। छात्र सम्मेलन का संगठन एक रास्ता मिला था, पर वह भी स्थायी होगा या उसमें भी परिवर्तन आ जायेगा, कुछ समझता न था और न कह सकता था। हां, एक बात जी में आ गयी थी, वह यह थी—सरकारी नौकरी नहीं करनी चाहिए। इसलिए बी. ए. पास करने के बाद डिप्टी-मजिस्ट्रेटी के लिए दर्खास्त नहीं दी। भाई भी नहीं चाहते थे कि यह मैं करूं। बाबूजी की इच्छा थी कि मैं वकालत करूं। भाई दुर्भाग्यवश एम. ए. नहीं पास कर सके। घर से अधिक खर्च लाकर कलकत्ते में या और कहीं अब रहना नहीं चाहते थे। वह डुमरांव-राज स्कूल में शिक्षक का काम करने लगे। मैं डिप्टीगरी का ख्याल छोड़कर कलकत्ते में एम. ए., बी. एल. पढ़ने लगा था।

छात्र सम्मेलन हो जाने के बाद मुझ पर एक धुन सवार हो गयी। यह नहीं कह सकता कि यह विचार कैसे उठा और किसके प्रोत्साहन से; पर यह ख्याल हुआ कि अब किसी प्रकार विलायत जाकर आई. सी. एस. की परीक्षा पास करनी चाहिए। सरकारी नौकरी की इच्छा नहीं थी, तो भी न मालूम मन को कैसे संतोष हो गया कि यह करने योग्य है। इसमें भाई ने भी प्रोत्साहन दिया। घर से इतने रुपये मिल नहीं सकते थे कि विलायत का खर्च जुट सके, इसलिए कोई दूसरा ही प्रबंध होना चाहिए। मिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा ने जब यह सुना कि मेरी ऐसी इच्छा है तो खुश हुए और बाबू ब्रजकिशोर तो इसके लिए हमेशा तैयार ही रहते थे। डॉक्टर गणेश के भोज के बाद बाबू अम्बिकाचरण को उन्होंने जापान जाने में बहुत प्रोत्साहन दिया था। मेरे लिए विलायत जाना उन्होंने एक प्रकार से अनिवार्य समझा और लग गये रुपये जुटाने की धुन में। मुंशी ईश्वरशरण भी इसमें दिलचस्पी लेने लगे। आरा के

रायबहादुर हरिहर प्रसाद ने कुछ रुपये दिये। सोचा गया कि मेरे चले जाने के बाद और रुपये भाई इन लोगों की मदद से अथवा घर से किसी प्रकार भिजवाते रहेंगे। इस बात का डर हम लोगों को था कि बाबूजी और मां इस बात को पसंद नहीं करेंगे और घर में बहुत बावेला मचेगा। मैं इस सिलसिले में पटने और इलाहाबाद भी गया। भाई भी साथ थे। बाबूजी से यह बात गुप्त रखी गयी; क्योंकि उनकी आज्ञा मिलने की कोई आशा नहीं थी। हमने जाने के लिए दिन भी मुकर्रर कर लिया। कलकत्ते में कपड़े भी बनवा लिये।

उस समय तक अंगरेजी किते का कोई कपड़ा मैंने कभी पहना नहीं था। पर विलायत में दूसरे कपड़े तो पहने नहीं जा सकते, यही धारणा थी। इसलिए अंगरेजी किते के कपड़े एक अंगरेजी दूकान में ही बनवाये गये। यही एक अवसर था जब मैंने विदेशी कपड़े, 1898 के बाद से आज तक, खरीदे हैं। पासपोर्ट के लिए दर्खास्त दी गयी। कार्रवाई हो रही थी। हम लोग समझते थे कि यह बात पूरी हो जायेगी, जाने के पहले बाबूजी को खबर नहीं मिलेगी और घर की ओर से कोई बाधा नहीं आवेगी। इस षड्यंत्र में कालेज के साथियों में से तीन-चार और थे, जिनमें एक मेरे बिहारी मित्र शुकदेव प्रसाद वर्मा थे और बाकी बंगाली लोग थे। मेरे अपने लोगों में भाई, बाबू ब्रजकिशोर, मिस्टर सिन्हा, मुंशी ईश्वरशरण और रायबहादुर हरिहर प्रसाद सिंह थे।

भाई और बाबू ब्रजकिशोर के साथ मैं इलाहाबाद गया। मुंशी ईश्वरशरण के साथ ठहरा। वहां मेरी ससुराल के लड़के कालेज में पढ़ रहे थे। उनमें किसी से मुलाकात तो नहीं हुई, पर उनको किसी-न-किसी तरह खबर लग गयी। वे खोजते-ढूंढते मुंशी ईश्वरशरण के यहां पहुंच गये। वहां पर लोगों ने कह दिया कि मैं नहीं हूं। उन्होंने घर पर तार दे दिया कि मैं छुपकर विदेश जा रहा हूं और उस दिन प्रयाग में हूं! तार पाते ही बाबूजी और घर के सब लोग बहुत घबराये। बाबूजी अस्वस्थ थे, इसलिए वह नहीं निकल सकते थे, पर मेरी मां और बहन सीधे इलाहाबाद चली गयीं। उन लोगों की यह गलत धारणा थी कि मैं इलाहाबाद से ही चला जाने वाला था। मैं तो अभी सलाह-बात करने और रुपयों के जुगाड़ में गया था। वहां एक दिन रहकर वहां से सीधे फिर कलकत्ते चला आया था।

जब मां इलाहाबाद पहुंची तो मैं वहां नहीं था। मुंशी ईश्वरशरण के यहां तलाश करने पर उनको खबर मिल गयी कि मैं कलकत्ते वापस चला गया। मुझे कलकत्ते में इन बातों की खबर नहीं थी। वहां तार पहुंचा कि बाबूजी बीमार हैं। मैं वहां से उनसे मिलने घर आया तो सब बातें मालूम हो गयीं। वह सचमुच बीमार थे, पर अभी बीमारी कुछ कड़ी नहीं थी; दुखित जरूर थे। घर में रोना-पीटना पड़ गया था। भाई भी आये। बाबूजी उनसे बहुत रंज थे कि मुझे विदेश भेजने का षड्यंत्र वही कर रहे थे। मेरे पहुंचते ही सबकी करुणा उमड़ पड़ी। खूब जोरों से रोआ-रोहट मच गयी। मुझे जाने से साफ-साफ मना कर दिया। कह दिया कि मैं अगर विलायत गया तो वे नहीं बचेंगे। जो बातें हुई थीं, मैंने सब साफ-साफ कह

दीं। वादा भी कर दिया कि नहीं जाऊंगा। जब बाबूजी को मेरी बात पर विश्वास हो गया तब फिर उन्होंने कलकत्ते जाने की इजाजत दे दी।

कलकत्ते में, जब एक प्रकार से सब तैयारियां हो गयी थीं, एक छोटी-सी घटना घटी जिसका उल्लेख करना अच्छा होगा। इस विलायत यात्रा के जुनून में हमारे वे सब साथी शरीक थे जिनको यह खबर मालूम थी। सबकी इच्छा थी कि वे भी जायें, पर उनका सुयोग अभी जुटा नहीं था। हम सब यही सोचते थे कि मेरे जाने के बाद वे भी किसी उपाय से कुछ दिनों बाद वहां पहुंचने का प्रयत्न करेंगे। एक दिन लॉ कालेज से निकलने पर एक साथी ने राय दी कि चलो एक ज्योतिषी से इस विषय में परामर्श कर लें। वह एक ज्योतिषी को जानता भी था। वहां हम लोग चले गये। वह एक बूढ़े ब्राह्मण थे। उनकी अवस्था प्रायः 60 बरस की होगी। अपने घर में बैठे थे। हम लोगों के जाते ही थोड़ी देर के बाद उन्होंने कहा, मैं समझ गया, तुम लोग किस काम के लिए आये हो। तब हममें से किसी ने प्रश्न पूछना शुरू किया। प्रश्न तो एक ही था—विलायत यात्रा सफल होगी? प्रश्न हमने कहा नहीं, अपने मन में ही रखा। मुझको उन्होंने उत्तर दिया कि अभी नहीं, बहुत दिनों के बाद तुम्हारी इच्छा पूरी होगी। शुकदेव को उन्होंने उत्तर दिया, तुम्हारी इच्छा अभी बहुत जल्दी पूरी होगी। तीसरे भाई से कहा कि तुम्हारी इच्छा भी कुछ देर बाद पूरी होगी। चौथे साथी से कहा कि तुम्हारी यह इच्छा नहीं पूरी होगी।

हम लोगों ने एक रुपया दिया। प्रणाम करके वापस चले। रास्ता-भर इसी का मजाक उड़ाते आये कि यह बूढ़ा बिलकुल कुछ जानता नहीं। मेरी तो सब तैयारी हो चुकी है और मैं नहीं जाऊंगा, और शुकदेव जिनके संबंध में अभी कोई बात नहीं हुई है, बहुत जल्द चंद दिनों के अंदर ही चले जायेंगे—यह कैसे हो सकता है! हम लोग हंसते-हंसते मजाक उड़ाते वापस आये। उसके बाद ही घर से तार आ गया। मेरा जाना एकबारगी रुक गया। जब मैं घर से वापस आया और यह बात तय हो गयी कि मैं नहीं जाऊंगा तब शुकदेव के जाने की बात उठी। मेरे कपड़े और मेरे रुपये लेकर एक दिन वह चले ही गये! कपड़े और रुपये इतने गुप्त तरीके से होस्टल में रखे गये थे कि हम लोगों के किसी साथी को भी इसकी खबर तक न थी। शुकदेव के बारे में डर था कि कहीं उनके पिताजी भी इसी तरह रोक न दें। इसलिए वह भी गुप्त रखा गया। उनको कहीं जाना नहीं था, किसी से मिलना नहीं था। इसलिए उनकी बात एकबारगी गुप्त रही। जाने के दिन साथियों से कह दिया कि घर जा रहे हैं। हम दो-तीन साथी स्टेशन पर गये। उन्हें रेल पर चढ़ाकर बम्बई के लिए रवाना कर दिया। जब तक बम्बई से जहाज रवाना हो जाने की खबर नहीं आयी तब तक हम लोगों के दिल में शक बना ही रहा कि शायद वह भी कहीं पकड़कर वापस न बुला लिये जायें। पर जहाज खुल जाने के बाद ही उनके घर के लोगों को खबर मिली। यहां तक कि कलकत्ते में निकट संबंधी लोगों को भी, जिनसे बहुत घनिष्ठता थी, पता नहीं चला।

14

विद्यार्थी जीवन की समाप्ति

शुकदेव को रवाना करके मैं तो कांग्रेस की वालंटियरी में बझ गया और कांग्रेस के बाद फिर पढ़ने में लग गया। बाबूजी की बीमारी बढ़ती गयी। कुछ दिनों में उनकी हालत खराब होने लगी। खबर मिलने पर मैं कलकत्ते से और भाई डुमरांव से जीरादेई पहुंचे। कुछ दिनों में वह जाते रहे। मरने के पहले हम सबसे भेंट हो गयी। उस वक्त तक भाई के दो लड़कियों और एक लड़के जनार्दन के जन्म हो चुके थे। मेरे भी मृत्युंजय का जन्म उसी साल में हुआ था। पोता देखकर वह बहुत संतुष्ट रहते थे। जब बीमारी बढ़ गयी तब सबको इकट्ठा करके आशीर्वाद दिया।

बाबूजी की मृत्यु से घर में गड़बड़ी तो मची, हम सब दुखी हुए; पर मुझे एक बात की खुशी भी रही। वह यह कि अच्छा ही हुआ, मैं विलायत नहीं गया। अगर गया होता और उनकी इस प्रकार मृत्यु हो जाती तो मैं न मालूम कितना दुखी होता। मैं फिर कलकत्ते चला गया। भाई डुमरांव चले गये। घर का इंतजाम तो भाई कुछ पहले से ही देखा करते थे। अब सारा भार उन पर ही आ गया और वह डुमरांव से आकर जब-तब घर देख जाया करते। मेरे लिए खर्च वगैरह का भी इंतजाम वही करते। उनको पढ़ने के समय जब-तब खर्चे के लिए कुछ कष्ट भी उठाना पड़ा। घर से रुपये जाने में देर हो जाया करती। पर मुझे उन्होंने बाबूजी के रहने के समय, और उनकी मृत्यु के बाद भी, खर्च की चिंता में कभी पड़ने नहीं दिया। उनकी अभिलाषा थी कि जब मैं पढ़ने में तेज हूं और सब परीक्षाएं इस प्रकार सफलतापूर्वक पास करता हूं, तो मुझे केवल पढ़ने में ही मन लगाने का पूरा मौका देना चाहिए और किसी तरह की दूसरी चिंता नहीं होने देनी चाहिए।

छात्रवृत्ति मुझे बराबर काफी मिलती गयी। उसको बाबूजी या भाई खर्चे में कभी नहीं जोड़ते थे। खर्च के रुपये तो हमेशा अलग से ही भेजते रहे। उन रुपयों में से मैं कालेज की फीस दिया करता। बाकी रुपया किताब खरीदने में ही लगता। बी. ए. पास करने पर दो छात्रवृत्तियां मिलीं, एक 50 रुपये मासिक की जो हर महीने मिला करती। यह तो मैं खर्च

करता गया। दूसरी 40 रुपये मासिक की जिसकी शर्त थी कि एम. ए. पास करने पर एक साथ जोड़कर मिलेगी। जब एम. ए. पास करने के बाद एक साथ 480 रुपये मिले, तो विलायत यात्रा के जुनून में जो कुछ कर्ज लिया था उसको अदा कर दिया।

पहले कह चुका हूं कि एफ. ए. पास करने के बाद ही परीक्षा की ओर से कुछ उदासीनता-सी हो गयी। बी. ए. में न मालूम कैसे अव्वल हो गया। एम. ए. के समय यह उदासीनता और भी बढ़ गयी। इस बरस विलायत यात्रा के जुनून और बाबूजी की मृत्यु के कारण समय दूसरे कामों में लगा। मन भी विचलित रहा। बाबूजी की मृत्यु 1907 के फरवरी या मार्च महीने में हुई थी। परीक्षा अगले नवम्बर या दिसम्बर में होने वाली थी। गर्मी की छुट्टियों में कुछ दिनों के लिए मैं साथियों के साथ खरसान (करसियांग—Kurseong) चला गया। वहीं परीक्षा के लिए तैयारी की। एम. ए. की परीक्षा में मेरा स्थान अव्वल नहीं हुआ। मेरे ऊपर कई साथी आ गये। मुझे इसका कुछ अफसोस नहीं रहा; क्योंकि मैंने कोई आशा भी नहीं की थी और न कोई विशेष प्रयत्न ही किया था।

इसके बाद प्रश्न हुआ कि क्या किया जाये? परीक्षा देकर मैं भाई के पास डुमरांव चला गया। कुछ दिनों तक वहीं रहा। सोचता रहा कि वकालत की परीक्षा दूं या नहीं? उस ओर जी नहीं जाता था। यह भी महसूस होने लगा कि मैं वकालत भी नहीं कर सकूंगा। कुछ अपनी शक्ति में अविश्वास-सा हो गया था। सरकारी नौकरी न करने की तो पहले ही ठान ली थी।

इसी बीच में एक मित्र बाबू वैद्यनाथनारायण सिंह ने लिखा कि मैं मुज्जफरपुर कालेज में प्रोफेसर हो जाऊं तो बहुत अच्छा होगा। वह उस कालेज में प्रोफेसरी कर रहे थे। उनके कहने से मैंने दर्खास्त भेज दी। मेरी नियुक्ति हो गयी। 1908 की जुलाई में, कालेज खुलने पर, मैं वहां चला गया। उस काम में जी भी लगता था। वहां के लोगों से जान-पहचान भी हो गयी। पर भाई इससे संतुष्ट नहीं थे। आहिस्ता-आहिस्ता कालेज की आर्थिक स्थिति खराब होती जाती थी। अंत में निश्चय हुआ कि मैं फिर वकालत की तैयारी करूं। कालेज की पढ़ाई तो मैंने खत्म कर ली थी; पर परीक्षा नहीं दी थी। भाई की राय हुई कि मैं फिर कलकत्ते जाऊं और वहां परीक्षा देकर वकालत शुरू करूं।

इस प्रकार विद्यार्थी जीवन समाप्त हुआ। संसार में प्रविष्ट होने का समय आ गया। जब उन दिनों का स्मरण आता है तो मालूम होता है, मानो वह सुख का युग था। कभी-कभी अफसोस होता है तो इसी का कि उसका जितना अच्छा उपयोग हो सकता था, नहीं किया गया। मुझे इस बात की सुविधा तो मिली थी कि भाई पथप्रदर्शक रहे। जितने अच्छे विचार या अच्छी प्रवृत्तियां दिल में उठीं, सबके बीज उन्होंने ही बोये थे। पढ़ने के समय किसी प्रकार का कष्ट मैं अनुभव न करूं, इसका प्रबंध वह बराबर करते रहते। उन्होंने कभी यह नहीं महसूस करने दिया कि घर में कोई आर्थिक कठिनाई है। कलकत्ते में और उसके पहले छपरे

में अपने साथियों के साथ मेरा बराबर प्रेम रहा। जहां तक मुझे स्मरण है, किसी के साथ कभी किसी प्रकार की खटखट तक नहीं हुई, झगड़े का तो कोई सवाल ही नहीं है; बल्कि सबके साथ प्रेम का ही व्यवहार रहा। थोड़े लोगों से तो बड़ी घनिष्ठता हो गयी, जो बराबर कायम रही। यद्यपि पढ़ने में स्पर्धा और प्रतियोगिता काफी रही, तथापि कभी किसी ने मेरे साथ न तो चालाकी की, न धूर्तता ही की, न कभी किसी के साथ अन्यमनस्कता ही हुई। जहां कहीं किसी को कोई दिक्कत या कठिनाई होती, हम बराबर एक-दूसरे की मदद करते; बल्कि जो मेरे प्रतिस्पर्धी साथी थे, उनके साथ मिलकर परीक्षा की तैयारी की गयी। जब मैं एफ. ए. की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहा था तो वह मित्र (जिसे मेरे साथ एंट्रेन्स में दूसरा स्थान मिला था) और मैं, दोनों एक साथ ही, परीक्षा की तैयारी करते रहे। इसी प्रकार और परीक्षाओं में भी सब मिलजुलकर पढ़ते रहे।

कलकत्ते जाना और इडेन हिन्दू होस्टल का जीवन मेरे लिए बहुत लाभदायक हुआ। कलकत्ते जाने से ही आंखें खुलीं। यह सोचना बेकार है कि वहां अगर नहीं गया होता तो क्या होता। पर मेरा विश्वास है कि अन्यत्र कहीं मुझे इतना लाभ नहीं पहुंचता। इडेन हिन्दू होस्टल में रहने से बंगाली साथियों में हिलमिल जाने का जैसा सुअवसर मिला वैसा शायद दूसरी जगह कहीं रहने से नहीं मिलता। बंगाली साथियों की स्मृति अत्यंत सुखकर है। मुझे किसी के भी खिलाफ कोई भावना हुई ही नहीं और न उनमें से किसी ने मेरे साथ कभी कोई बुरा बर्ताव किया। कभी किसी ने कटु शब्द भी नहीं कहे। मैं मानता हूं कि उनके साथ जो दिन बीते वे अत्यंत सुखद और लाभप्रद हुए। उनके साथ रहते-रहते, बिना प्रयास के ही, मैंने बंगला बोलना सीख लिया। आज भी मेरे बहुतेरे मित्र सारे बंगाल में भरे पड़े हैं। बहुत दिनों के बाद जब मैं असहयोग के दिनों में बंगाल में दौरा करने गया तो जहां जाता वहीं कुछ पुराने जाने-पहचाने मित्र मिल जाते और पुरानी स्मृतियां जाग उठतीं।

जब मैं कांग्रेस-प्रेसिडेंट हुआ, बिहार में फिर 1938-39 में बंगाली-बिहारी प्रश्न उठा। उसके बाद कांग्रेस में मुझे कुछ ऐसे काम करने पड़े जो बंगाल के कुछ लोगों को नापसंद आये। मेरे ऊपर बहुत बौछारें हुईं। कटु लेख लिखे गये। गाली-गलौज भी काफी मात्रा में हुई! पर मैं अभी तक यह नहीं महसूस करता हूं कि उनके साथ मेरा कोई द्वेष है या उनके प्रति कभी किसी दूसरे प्रकार की भावना दिल में उठी भी हो। यह हो भी कैसे सकता है? इतने दिनों का सुंदर सुहावना साथ, प्रेम का आदान-प्रदान, पुरानी सुखकर स्मृतियां, क्या यह सब मनुष्य भूल सकता है? कर्तव्य के वश अगर कभी किसी के साथ कोई ऐसा काम करना भी पड़ा जो उसको पसंद न हुआ, तो मैं अपने दिल से जब पूछता हूं, हमेशा यही उत्तर मिलता है कि मैंने कभी किसी का अनिष्ट, जान-बूझकर अनिष्ट करने की नीयत से, नहीं किया। जो हो, यह सब बातें तो भूल जायेंगी, पर मेरे हृदय-पट से वे चित्र जो लड़कपन में ही वहां खिंचे थे,

कभी न मिटेंगे। वे सारी स्मृतियां कभी विलीन नहीं हो सकतीं और न मैं उस देन को भूल सकता हूं जो बंगाल में पंद्रह बरसों के जीवन ने मुझे दी है।

कलकत्ते में मेरी घनिष्ठता बहुत बिहारियों से भी हुई। जब मैं कलकत्ते में पढ़ने के लिए गया तो थोड़े ही बिहारी छात्र वहां थे। आहिस्ता-आहिस्ता उनकी संख्या बढ़ने लगी। पीछे तो वे खासी तायदाद में वहां पहुंच गये। हम लोगों ने अपना बिहारी क्लब बना लिया था जिसमें हर सप्ताह सब मिला करते थे। जाति-पांति का झगड़ा इतना साथ लेते गये थे कि हिन्दू होस्टल में हमने अपने लिए अलग चौका रखा था जिसमें बिहारी ब्राह्मण रसोई बनाता था। यद्यपि मैं डाक्टर गणेश प्रसाद के साथ भोज में शरीक हुआ था, तथापि जाति का बंधन बहुत मानता था। वह तो मेरी अपनी जाति के आदमी (कायस्थ) थे; किसी भी दूसरी जाति के आदमी का छुआ हुआ कोई अन्न, जो अपने देश (बिहार) में नहीं खाया जाता है, वहां नहीं खाया। इतने दिनों तक वहां रहा, मगर बंगाली 'मेस' में कच्ची रसोई एक दिन भी नहीं खायी।

बिहारी साथियों में बहुतेरों से मेरा घनिष्ठ संबंध हो गया जो आज कई जिलों में बिखरे हुए अपने-अपने स्थान पर कुछ-न-कुछ कर रहे हैं। इसलिए जहां जाता हूं, कोई-न-कोई कलकत्ते का साथी मिल ही जाता है। घनिष्ठ मित्रों में चम्पारन जिले के शिकारपुर के श्री अवधेश प्रसाद और जगन्नाथ प्रसाद; शाहाबाद के श्री शुकदेव प्रसाद वर्मा; भागलपुर के श्री कृष्ण प्रसाद; रांची के बदरीनाथ वर्मा, बलभद्र प्रसाद ज्योतिषी, डाक्टर साधुसिंह, डाक्टर राजेश्वर प्रसाद, बटुकदेव प्रसाद वर्मा, विंध्यवासिनी प्रसाद वर्मा प्रभृति थे। इनमें कितने चले गये और कितने आज भी कायम हैं। अवधेश बाबू की मित्रता बहुत फलदायक हुई और उससे लाभ हुआ। पीछे उनके साथ शादी का संबंध भी हो गया।

15

वकालत की तैयारी

मुजफ्फरपुर कालेज में 9-10 महीनों तक काम करके 1909 के मार्च में मैं कलकत्ते फिर वापस चला गया। उन दिनों बी.एल. की दो परीक्षाएं होती थीं। एक परीक्षा मैंने तुरंत पास कर ली और दूसरी की तैयारी करनी थी। हाइकोर्ट में वकालत करने के लिए किसी वकील के साथ दो बरसों तक काम करना चाहिए था। एक छोटी-सी परीक्षा भी पास करनी पड़ती थी जिसमें जज लोग स्वयं कुछ पूछताछ कर लिया करते थे। अगर मैं चाहता, तो बी.ए. पास करने के बाद, किसी वकील के दफ्तर में नाम लिखाकर, 1908 में ही ये दो साल पूरा कर सकता था। पर उस समय इस ओर ध्यान नहीं गया। इसलिए जब मैं 1909 में कलकत्ते गया तो उस समय से दो बरस की उमीदवारी करनी थी। इच्छा हुई कि किसी अच्छे वकील के साथ काम सीखूं। खांबहादुर सैयद शमसुलहुदा के पास मैं एक मित्र द्वारा पहुंचाया गया। उस समय उनके साथ दो उमीदवार थे और नियम के अनुसार दो ही हो सकते थे। उन्होंने कहा कि जगह खाली होते ही तुमको अपने साथ उमीदवार (आर्टिकल क्लर्क) रख लूंगा, तब तक दूसरे मित्र के साथ तुम्हें रखा देता हूं। उन्होंने मुझे वहादुर रहीम जाहिद के साथ रखा दिया। ये सज्जन भी अच्छे वकील थे। कुछ दिनों के बाद विलायत गये और बारिस्टर होकर आये। पीछे हाइकोर्ट के जज भी हुए। बाद में अपने नाम में इन्होंने 'साहोवर्दी' जोड़ दिया था, इसलिए जस्टिस साहोवर्दी के नाम से ही मशहूर हुए।

मेरा विचार था कि जब दो बरसों तक और कुछ काम नहीं है तो खूब परिश्रम करके कानून अच्छी तरह पढ़ लूंगा, जिससे मैं पहले बहुत डरता था, और वकील के यहां काम भी सीख लूंगा। मैं भाई पर खर्च का भार नहीं देना चाहता था। इसलिए शुरू में कुछ दिनों के लिए वहां सिटी कालेज में प्रोफेसरी भी की; पर वह भी थोड़े ही दिनों के लिए। पीछे कुछ विद्यार्थियों को घर पर पढ़ाया करता और उससे वहां का खर्च निकाल लेता। वह लड़का, जिसको मैं पढ़ाता था, जस्टिस दिगम्बर चटर्जी का पुत्र था। इस तरीके से, वकालत शुरू करने के पहले ही, एक जज से भी परिचय हो गया।

जब शमसुलहुदा साहब के यहां जगह खाली हुई, मैं उनके साथ काम करने लगा। मैंने

उस समय का अच्छा उपयोग किया। मामूली तौर से जो लोग इस प्रकार नाम लिखा देते थे, बहुत थोड़ा ही काम किया करते थे और अंत में दो साल बिताकर नाम-निहादी परीक्षा पास करके वकील हो जाते थे। मैंने ऐसा नहीं किया। मैं रोज सवेरे शमसुलहुदा साहब के घर पहुंच जाता। वहां दस बजे तक उनके हाथ के मुकदमों के कागजों को पढ़ता। उन पर अपना नोट, जैसा उन्होंने बता दिया था, तैयार करता। कानून की नजीरें वगैरह पढ़कर उनके लिए सब कुछ तैयार कर देता। थोड़े ही दिनों में उन्होंने देख लिया कि मैं उनके लिए अच्छा नोट तैयार कर देता हूं, जिससे उनको पूरी मदद मिल जाती है, और 'जूनियर' वकील की बहुत जरूरत नहीं होती है।

मैं एक 'मेस' में रहा करता था जो उनके घर से बहुत दूर था। वहां कुछ दूर तक ट्राम पर जाना होता। ट्राम से उतरकर प्रायः एक मील पैदल जाना होता। वह स्वयं बहुत सवेरे उठकर कागज वगैरह पढ़ा करते थे। मैं सात बजे पहुंच जाता और दस बजे तक उनके साथ काम करता। फिर उसी तरह अपने 'मेस' में आता। भोजन करके एक बजे हाईकोर्ट जाता। वहां मुकदमों की बहस सुनता। खास करके उन मुकदमों में बहुत जी लगता जिनके लिए मैं उनको नोट तैयार कर देता। संध्या को हाइकोर्ट से लौटकर फिर भवानीपुर, जो हमारे 'मेस' से प्रायः चार मील पर था, जाकर रात में लड़के को पढ़ाता और 9-10 बजे लौटकर सोता। इस तरह काफी परिश्रम करता। काम भी मैं अच्छी तरह सीख गया। पीछे शमसुलहुदा साहब ने कहा कि तुमको आने-जाने में बहुत तकलीफ होती है और समय भी लगता है, तुम मेरे ही मकान में आ जाओ; तुम्हारे लिए जो बंदोबस्त कहो, कर दूंगा। उन्होंने एक कमरा रहने के लिए और एक अलग रसोई के लिए मुझे दे दिया। मैं वहां रहने लगा। तब रात को भी और सवेरे भी, जब 4-5 बजे उठते और जरूरत समझते तो, मुझे पुकार लेते। अपने साथ ही मुझे रोज अपनी गाड़ी में कचहरी ले जाते। उनसे घनिष्ठता इतनी बढ़ गयी कि घर के लड़के की तरह मुझे मानने लगे।

आजकल, जब हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न बहुत जोरों से खड़े होते हैं, एक छोटी घटना का उल्लेख कर देना अच्छा होगा। शमसुलहुदा साहब नामी वकील थे। मुसलमानों के एक नेता समझे जाते थे। मुस्लिम लीग के प्रेसिडेंट भी हुए थे। युनिवर्सिटी सिनेट के और लेजिसलेटिव कौंसिल के मेम्बर भी थे। पीछे तो बंगाल के गवर्नर की एग्जिक्युटिव (कार्यकारिणी) कौंसिल के मेम्बर हो गये। हाइकोर्ट के जज तक हो गये। लेजिसलेटिव कौंसिल के प्रेसिडेंट भी हो गये थे। 'सर' का खिताब भी मिला था। उस समय वह अभी खां-बहादुर मात्र थे, पर हाइकोर्ट में मवक्किल और जज दोनों ही उनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। उनके हाथ में मुकदमे भी बहुत रहा करते थे। मिजाज भी उनका बहुत अच्छा था। धार्मिक प्रवृत्ति के आदमी थे। मुसलमान छात्रों को कुछ छात्रवृत्तियां भी दिया करते थे। कुछ विद्यार्थी केवल खाने के समय आकर वहां भोजन कर जाया करते थे।

मैं उनके मकान में ठहरा था। बकरीद का दिन आ गया। मुहल्ला भी मुसलमानी

मुहल्ला था, जिसमें बहुत बड़ी आबादी मुसलमानों की ही थी। मैंने सोचा कि शायद इस मौके पर गाय की कुर्बानी उनके घर में या आसपास के घरों में हो। मैं एक सनातनी हिन्दू था। मैंने सोचा, अच्छा होगा कि इस मौके पर दो-चार दिनों के लिए कहीं हट जाऊं। मैं चुपचाप, उनको बगैर कुछ कहे ही, वहां से चला गया। 'मेस' में जाकर मित्रों के साथ ठहर गया। तीन-चार दिनों के बाद लौटकर आया। उन्होंने पूछा कि कहां चले गये थे ? मैंने सब बातें साफ नहीं कहीं। इतना ही कहा कि कुछ मित्रों के पास दो-तीन दिनों के लिए चला गया था।

उन्होंने कहा, "मैं समझ गया, तुम बकरीद के कारण चले गये थे। तुमने सोचा होगा कि यहां गाय की कुर्बानी होगी, इसलिए यहां रहना नहीं चाहिए। क्या तुमने मेरे साथ बेइंसाफी नहीं की ? तुमने समझ लिया कि तुम्हारी भावना का मैं कुछ भी ख्याल नहीं करूंगा ? तुम तो तुम हो, मेरे घर में कई नौकर हिन्दू हैं। फुलवारी का माली हिन्दू है, गायों को खिलाने के लिए नौकर हिन्दू है; क्या उनकी भावना का मैं ख्याल नहीं रखता हूं ? उनका दिल क्या नहीं दुखता ? तुमको मुझसे पूछ लेना चाहिए था। मेरे घर में अपने घर के हिन्दू नौकरों के ख्याल से गाय की कुर्बानी नहीं होती है।"

मुझे बहुत शर्मिंदा होना पड़ा। मैं समझ गया कि मैंने उनके साथ बेइंसाफी की थी। उस समय बंगभंग का आन्दोलन चल ही रहा था। बंगाली मुसलमान इस आन्दोलन का विरोध कर रहे थे। पूरब-बंगाल में, जहां के रहने वाले शमसुलहुदा साहब थे, हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी बहुत हुए थे। वह स्वयं बंगभंग के पक्ष में थे। यह सब होते हुए भी उनकी ऐसी भावनाएं थीं, इस प्रकार का हमारे साथ व्यवहार था!

इसी बीच मैंने बी. एल. की परीक्षा भी पास कर ली थी। उस पर मैंने कभी ध्यान ही नहीं दिया, किसी तरह केवल पास कर गया। जब मेरे दो बरस उमीदवारी के खतम होने पर आये, उसी समय उनके बंगाल के गवर्नर की एग्जिक्युटिव कौंसिल के मेम्बर होने की खबर आने लगी। उनको इसका पता चल गया। उन्होंने मुझसे कहा कि अब तो वह बहुत दिनों तक वकालत नहीं कर सकेंगे और इस तरह मुझको वकालत शुरू करने के बाद उनसे मदद नहीं मिलेगी। मगर मैंने सोचा, काफी काम सीख लिया है और मैं खुद सब कर लूंगा।

1911 के अगस्त महीने में मैंने वकालत शुरू की। जिस दिन नाम लिखा गया उस दिन एक मुकदमा उन्होंने मुझे दिलवाया। स्वयं मेरे साथ जाकर जजों के सामने बैठे और मुझे बहस करने दिया। हाइकोर्ट में वकालत शुरू करने के बाद केवल चंद दिनों के लिए हाइकोर्ट खुला रहा। उसके बाद दुर्गापूजा की लम्बी छुट्टी हो गयी। छुट्टी के पहले ही मैं बिहार चला गया। वहां पूज्य मालवीयजी हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए चंदा जमा करने के सिलसिले में बिहार का दौरा कर रहे थे। चंद दिनों तक उसी काम में लगा रहा। जिस समय हाइकोर्ट खुला और मैं कलकत्ते पहुंचा, उस समय शमसुलहुदा साहब की नियुक्ति की खबर

बहुत गर्म थी। मवक्किल भी समझने लगे थे कि अब यह वकालत नहीं करेंगे। हाइकोर्ट ढाई-तीन महीने बंद रहने के बाद जब खुलता है तो इन तीन महीनों में जमा हुए बहुत मुकदमे नये दायर होते हैं। शमसुलहुदा साहब के पास जो मुकदमे आये उनमें से कई में उन्होंने मुझे मुकर्रर करा दिया। रुपये तो कम मिले या नहीं भी मिले; पर उन्होंने कहा कि अब तो मैं नहीं रहूंगा, ये मुकदमे तुम्हारे ही हाथ में रहेंगे, अगर ठीक काम करोगे तो मवक्किल तुमसे ही काम लेते रह जायेंगे। इस बात का जिक्र केवल उनकी मुहब्बत दिखाने के लिए ही नहीं, पर एक दूसरे उद्देश्य से भी जरूरी था।

कुछ दिनों के बाद इन्हीं मुकदमों में से एक पेश हुआ। मवक्किल ने मुझे बाजाब्ता फीस देकर तो रखा नहीं था, पर चूंकि वकालतनामा पर मेरा भी दस्तखत था, फहरिस्त में मेरा नाम भी आया। एक दूसरे वकील को उसने पीछे मुकर्रर कर लिया। पर ऐसे जितने मुकदमे थे, जिनमें शमसुलहुदा साहब ने मेरा नाम भी लिखवा दिया था, जब पेश होते, मैं उनके कागजों को खूब पढ़ लेता और कानून वगैरह देखकर तैयार हो जाता। उस दिन भी उसी तरह तैयार होकर गया। कानूनी सवाल उसमें बहुत उठते थे। मेरे सीनियर वकील साहब उतनी गहराई तक नहीं उतरे थे। मुकदमा जस्टिस सर आशुतोष के इजलास में था। मैं वकील साहब को मदद दे रहा था और नजीर पर नजीर पेश करने के लिए उनके हाथ में देता जा रहा था। सर आशुतोष सब देख रहे थे। कुछ देर के बाद उन्होंने मुझसे ही पूछा कि और कौन नजीर वहां है, बता दो तो किताबें मंगा लूं। पीछे एक अच्छा फैसला लिखवाया जो रिपोर्टों में प्रकाशित हुआ।

यह बात तो हो गयी। मैं उस मुकदमे की बात भूलना ही चाहता था कि दो दिनों के बाद एक दूसरे वकील ने, जिनके साथ मैं अक्सर काम किया करता था और जो युनिवर्सिटी सिंडिकेट के मेम्बर थे, मुझसे पूछा कि तुमको अगर लॉ कालेज में प्रोफेसर की जगह मिले तो मंजूर करोगे? मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मैंने इसके लिए किसी से कहा नहीं था। सर आशुतोष से भी, जो वाइस-चांसलर थे और जिनके यहां वकीलों का दरबार-सा लगा रहता था, मैंने न मुलाकात की थी और न कुछ कहा ही था। मैं यह भी नहीं जानता था कि मेरे ऐसे अभी दो बरस के वकील को भी यह जगह मिल सकती है। मैंने आश्चर्य से उनसे पूछा कि यह जगह मुझे कैसे मिल सकती है, मैंने न तो किसी से मुलाकात की है और न दर्खास्त ही दी है। उस पर उन्होंने कहा कि किसी मुकदमे में तुमने सर आशुतोष के इजलास में काम किया है और वह बहुत खुश हुए हैं, तुम उनसे जाकर मिलो। मैं गया और चंद दिनों के बाद लॉ कालेज में जगह मिल गयी। इस में रुपये तो ज्यादा नहीं मिलते थे, पर पढ़ाने के लिए कानून घर पर खूब पढ़ना पड़ता था जिससे पूरा लाभ हुआ। इस प्रकार एक अनजान और बिना रुपये के मुकदमे ने मुझे यह इज्जत दी।

वकालत शुरू करने के पहले की एक बात और लिख दूं। ऊपर कह चुका हूं कि मैं

जस्टिस दिगम्बर चटर्जी के लड़के को घर पर कुछ पढ़ाया करता ता। उनसे जान-पहचान हो गयी थी, पर कोई घनिष्ठता नहीं थी। वह जानते थे कि मैंने युनिवर्सिटी की परीक्षाएं अच्छी तरह पास की हैं और इसीलिए उन्होंने अपने लड़के को पढ़ाने के लिए मुझे रखा भी था। जब उनको मालूम हुआ कि मैं अब वकालत शुरू करने वाला हूं तो एक दिन वह मुझसे कुछ बातें करने लगे। उन्होंने पूछा, तुम्हारा संबंधी कोई वकील है ? मैंने कहा, कोई नहीं है। वास्तव में मेरी ससुराल के लोगों में तो कई वकील थे, पर वे लोग बलिया में—जो युक्तप्रांत में है—वकालत करते थे। बिहार में मेरा कोई भी संबंधी इस पेशे में नहीं था। यह सुनकर उन्होंने कहा कि यह बहुत अच्छी बात है। मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरी धारणा थी कि अगर कोई सगा-संबंधी वकील होता तो शुरू में वह मदद करता और उससे मुकदमे मिलते; इस तरह मुकदमे हाथ में आते।

मैंने अपना अभिप्राय बतलाया। तब वह कहने लगे —"तुम अपना सौभाग्य समझो कि तुम्हारा कोई संबंधी वकील नहीं है और खास करके बहुत नामी वकील नहीं है। अगर कोई वकील होता तो शायद कुछ मुकदमे उसके संबंध से तुमको मिलते; पर मवक्किल तुमको वकील नहीं रखता। वह तो यह समझता कि बड़े वकील साहब की खातिर से किसी एक निकम्मे आदमी को भी रख लेता हूं। उसका तुम पर न कभी विश्वास होता और न तुम्हारे लिए उसके दिल में कोई प्रतिष्ठा होती। इसलिए वह भी वकील जरूर रखता। तुम भी यह समझकर कि दूसरे को बहस करना है, अपनी ओर से विशेष कोई तैयारी नहीं करते। इस तरह तुम काम में ढिलाई करते। तुमको बहस करने का भी कम मौका मिलता। जब तुम आगे चलकर अपने परिश्रम से अगर अच्छे वकील भी हो जाते और वह मवक्किल आता तो वह तुमको याद दिलाता कि शुरू में उसने ही तुमको वकील रक्खा था। इसलिए तुमको भी लिहाज होता और तुम उससे रुपये नहीं ले सकते। धनी मवक्किल तो इसी तरह के होते हैं। गरीब तुम्हारे पास शायद कोई आ जाता तो तुम अपनी आदत से उस पर अधिक ध्यान नहीं देते; क्योंकि तुम्हारे पास तो धनी मवक्किल—चाहे वे रुपये देते हों या नहीं और चाहे तुम्हें उनके मुकदमे में स्वयं जवाबदेही लेकर काम करने का मौका मिलता हो या नहीं—आ ही चुके होते और तुमको इसका गर्व भी होता। जब कोई मदद करने वाले संबंधी वकील नहीं हैं तो इस प्रकार का कोई मवक्किल तुमको नहीं मिलेगा। गरीब मवक्किल यह जानकर कि तुम अच्छे पढ़े-लिखे हो, आवेगा, रुपये कम देगा, पर अपना सर्वस्व तुमको ही समझेगा, उसका दूसरा कोई वकील नहीं होगा; तुमको ही उसके मुकदमे में सब कुछ करना होगा। इसलिए जहां तक हो सकेगा तुम अपने को अच्छी तरह तैयार करोगे। इस तरह काम करने का सुयोग मिलेगा। जब मुकदमे जीत जाओगे, वह दस और-और गरीबों से तुम्हारी तारीफ करेगा। वह विज्ञापन का काम करेगा। दूसरे गरीब मवक्किल आवेंगे। इस तरह तुम्हारा नाम होगा। इसमें न किसी की मदद रहेगी, न एहसान। जब इस प्रकार वकालत चल

निकलेगी, बड़े मवक्किल खुद आवेंगे। वे तुम्हारी खुशामद करेंगे, पुराना एहसान नहीं जता सकेंगे और तुम उनसे इज्जत के साथ रुपये ले सकोगे। इसलिए मेहनत करके काम करना सीखो। वकालत अच्छी चल निकलेगी।"

उनकी बातों से मेरे दिल में बहुत हिम्मत बंधी। उन्होंने जितनी बातें कही थीं, अक्षरशः सत्य निकलीं। शुरू में केवल गरीब मवक्किल मिले। मुझे शुरू से ही, बिना किसी दूसरे वकील की मदद के, काम करने का सुअवसर मिला। इससे मेहनत भी करनी पड़ती और अपनी बुद्धि भी खुलती। एक-ही-दो ऐसे मवक्किल मिले जो धनी कहे जा सकते हैं। उनसे पुराना संबंध था। इसीलिए वे मेरे पास आये; नहीं तो और सब गरीब ही थे।

जिस समय मैं वकालत की तैयारी कर रहा था, एक और घटना घटी, जिसका उल्लेख जरूरी है। अगर उस घटना की बात पूरी हो जाती तो जीवन का प्रवाह आज दूसरा ही हो गया होता, पर वह नहीं हुई। शायद अच्छा ही हुआ कि उस समय अधपका सपना न छेड़ा गया। वह घटना थी माननीय श्री गोखले से मुलाकात।

16

माननीय गोखले से मुलाकात

१९१० ई. में वकालत की परीक्षा के लिए मैं पढ़ रहा था। कलकत्ते में एक 'मेस' में रहता था। वहां दो-चार और बिहारी साथी भी थे। मेरे भाई भी वहां गये हुए थे। एक दिन हाइकोर्ट में, जहां मैं प्रायः प्रतिदिन जाया करता था, मिस्टर परमेश्वरलाल बैरिस्टर ने मुझसे कहा कि तुम और श्रीकृष्ण जाकर माननीय गोखले से मिलो, उन्होंने तुम दोनों को बुलाया है। मुझे यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि मुझे माननीय गोखले से मिलने का सौभाग्य पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था। उनको भी मुझे जानने का कोई कारण नहीं था। मिस्टर परमेश्वरलाल ने कहा कि वह बिहार के दो-चार अच्छे होनहार विद्यार्थियों से मिलना चाहते हैं और मैंने तुम दोनों का नाम उनको बता दिया है। बात यह थी कि श्रीकृष्ण प्रसाद— जो दुर्भाग्यवश, कम अवस्था में ही, कुछ दिन हुए, इस लोक से चले गये — और मैं दोनों ही, छात्र सम्मेलन में प्रमुख भाग लिया करते थे। इसलिए हम लोगों को बहुत लोग जानते थे। मिस्टर परमेश्वरलाल ने भी इसी कारण हम दोनों के नाम बता दिये थे।

हम दोनों, माननीय गोखले से, जहां वह ठहरे थे, जाकर मिले। उन्होंने थोड़े दिन पहले 'सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की थी। वह चाहते थे कि बिहार के कुछ अच्छे नवयुवक उसमें शरीक हो जायें। उन्होंने देश की सेवा पर जोर देकर हम लोगों से उसमें शरीक होने को कहा। वह जानते थे कि हम दोनों ने युनिवर्सिटी परीक्षाएं अच्छी तरह पास की हैं और अब वकालत की तैयारी कर रहे हैं। उन्होंने कहा—"हो सकता है कि तुम्हारी वकालत खूब चले, बहुत रुपये तुम पैदा कर सको, बहुत आराम और ऐश-इशरत में दिन बिताओ। बड़ी कोठी, घोड़ा-गाड़ी, नौकर इत्यादि दिखावट के सामान, जो अमीरों को हुआ करते हैं, तुमको सब मयस्सर हों। पर मुल्क का भी दावा कुछ लड़कों पर होता है, और चूंकि तुम पढ़ने में अच्छे हो, इसलिए तुम पर वह दावा और भी अधिक है।" अपने बारे में उन्होंने कहा, "मेरे सामने भी यही प्रश्न आया था। मैं गरीब घर का आदमी था। मेरे घर के लोग बहुत आशा रखते थे कि जब मैं पढ़कर तैयार हो जाऊंगा तो रुपये कमाऊंगा और सबको सुखी बना सकूंगा। जब मैंने उनकी सब आशाओं पर पानी फेरकर देशसेवा का व्रत लिया

तो मेरे भाई इतने दुखी हुए कि कुछ दिनों तक वह मुझसे बोले तक नहीं; पर कुछ दिनों के बाद वह सब बातें समझ गये और फिर मेरे साथ खूब प्रेम करने लगे। हो सकता है कि यह सब तुम्हारे साथ भी हो, पर इसका विश्वास रखो, सब लोग अंत में तुम्हारी पूजा करने लगेंगे। लोगों की सब उम्मीदें तुम पर बंधी हैं, पर कौन जानता है, अगर तुम्हारी मृत्यु हो गयी, तो उसे तो वे लोग बर्दाश्त कर ही लेंगे।"

इसी प्रकार उन्होंने प्रायः डेढ़-दो घंटे तक हम लोगों से बातें कीं। बातें करने का तरीका भी ऐसा था कि हम लोगों के दिल पर उसका बहुत गहरा असर हुआ। अंत में उन्होंने कहा, "ठीक इसी समय उत्तर देना जरूरी नहीं है, क्योंकि सवाल गहन है, विचार करके हमसे एक दिन फिर मिलो और तब अपनी राय दो।" हम लोग वहां से, एक प्रकार से खोये हुए-से होकर, निकले। अपने 'मेस' में वापस आये। उनकी बातों का इतना असर पड़ा था कि कोई दूसरी बात सूझती ही न थी।

हम दोनों उनकी बातों पर विचार करने लगे। मुझे तो कई दिनों तक नींद नहीं आयी। खाना-पीना सब कुछ बरायनाम रह गया। स्वदेशी के दिनों में देश की बातें सामने आती थीं। देशसेवा की भावना भी जब-तब जाग्रत होती थी। पर इसके पहले कभी इस तरह से यह प्रश्न सामने नहीं आया था और न कभी ऐसे बड़े आदमी से मिलकर इस प्रकार के मार्मिक शब्दों के सुनने का ही सौभाग्य हुआ था। एक ओर उनकी बतायी देश के लिए हम जैसे लोगों की सेवा की जरूरत; दूसरी ओर, भाई पर घर का सारा बोझ लादना! मेरे भी दो पुत्र हो चुके थे और उनके भी तीन पुत्रियां थीं और एक लड़का। मां अब तक जीवित थीं। वह क्या कहेंगी, घर के दूसरे लोगों को कैसा दुख होगा, इत्यादि भावनाएं इतनी सताती रहीं कि जैसा ऊपर कहा है— खाना-पीना तक प्रायः छूट गया। हम दोनों के सिवा इन बातों को दूसरा कोई जानता नहीं था। भाई साथ में ही थे, पर उनसे भी नहीं कहा। किसी दूसरे साथी से भी नहीं कहा। हाइकोर्ट जाना भी बंद रहा। टहलना-घूमना छूट गया। कहीं-न-कहीं एकांत ढूंढकर बैठना और चिंता करना, यही एक काम रह गया। प्रायः दस-बारह दिनों तक यही सिलसिला चला। भाई को कुछ शक हुआ कि तबीयत ठीक नहीं है। उनको कुछ कहकर टाल दिया। अभी अपना जी नहीं भरता था तो उनसे क्या कहूं?

कई दिनों की इस प्रकार की चिंता के बाद मैंने एक दिन निश्चय किया कि मुझे माननीय गोखले की बात मानकर उनकी सोसाइटी में शरीक हो जाना चाहिए। मेरी हिम्मत नहीं होती थी कि भाई से मैं खुलकर कहूं, क्योंकि मुझे डर था कि उनको इससे बहुत दुख होगा। मैंने एक लम्बा पत्र लिखा, जिसमें सब बातें खोलकर लिख दीं और उनसे आज्ञा मांगी कि मुझे जाने दें। एक दिन संध्या को वह पत्र उनके बिस्तर पर, जब वह कहीं टहलने गये थे, मैंने रख दिया। मैं खुद कालेज स्क्वायर में, जो नजदीक ही था, जाकर बैठ गया। उन्होंने पत्र

पढ़ा, और मेरी तलाश करने लगे। मुलाकात नहीं हुई। जब मैं लौटा तो उनका हाल बेहाल देखा। वह उस रात तो कुछ बोल न सके। मैंने देखा कि जो विचार मुझे सता रहे थे वही उनको भी सता रहे हैं। उनका जी चाहता है कि मुझे न रोकें, पर अपने को परिवार का इतना बड़ा बोझ उठाने में असमर्थ पाते हैं। वह मुझसे मिलकर फूट-फूटकर रोने लगे। मैं भी अपने को रोक न सका। मैं भी रोने लगा।

मैं तो उनके उस रोने से ही उनके मन का भाव ताड़ गया। अधिक कुछ कहने की मेरी हिम्मत ही न हुई। राय हुई कि घर चलकर मां, चाची और बहन से भी सलाह करनी चाहिए। मैंने माननीय गोखले से जाकर यह हाल कह दिया। मैं समझ गया था कि अब मुझसे इन सबके प्रेम के बंधन को काटना नहीं हो सकेगा। ऐसा ही उनसे कह भी दिया। उन्होंने भी आशा छोड़ दी। मेरे साथी श्रीकृष्ण ने अंतिम निश्चय करने के पहले कुछ दिनों तक पूना जाकर वहां का सब हालचाल देखना चाहा। माननीय गोखले ने इस बात को पसंद किया। पूना जाकर श्रीकृष्ण कुछ दिनों तक रहे भी। पर अंत में उनका भी निश्चय हुआ कि वह सोसाइटी में शरीक न हो सकेंगे।

हम दोनों भाई जीरादेई पहुंचे। वहां जब घर की औरतों ने सब बातें सुनीं तो सब परेशान हो गयीं। मां को तो प्रेम इतना रहता था कि वह कभी कुछ बोलती ही नहीं थीं। पर मेरी बहन, जो हमेशा से कुछ तेज बोलने वाली हैं, कहने लगीं कि तुमने विलायत जाने की बात उठाकर बाबूजी को रुलाया और अब इस उम्र में साधु बनना चाहकर भाई को रुलाते हो। बस इतना कह वह स्वयं भी रोने लगीं। घर-भर में कोलाहल मच गया। उस कोलाहल में मेरी बची-खुची हिम्मत, जो कलकत्ते में ही कमजोर पड़ गयी थी, अब बिलकुल टूट गयी।

घर पर कुछ दिनों तक ठहरकर मैं फिर कलकत्ते चला गया। घर के लोगों को विश्वास हो गया कि मैं उन सबकी मर्जी के खिलाफ ऐसा काम नहीं करूंगा। इसी पसोपेश में प्रायः चार-पांच सप्ताह बीत गये। मैंने विचार तो छोड़ दिया, पर दिल में व्यथा बनी रही। कई हफ्तों तक कुछ परेशान-सा ही रहा। आहिस्ता-आहिस्ता वह परेशानी दूर हुई। एक नतीजा इसका यह हुआ कि बी. एल. की परीक्षा, जो उसके थोड़े ही दिनों के बाद होने वाली थी, मेरे लिए कठिन समस्या हो गयी। पढ़ने में जी नहीं लगता। परीक्षा के दिन निकट आ गये। किसी प्रकार परीक्षा पास कर ली। ऊंचा स्थान मिलने का तो सवाल ही नहीं था, क्योंकि पढ़ा ही नहीं था। पास करने में भी जी में डर लगता था, पर किसी तरह पास कर गया। उसके एक बरस के बाद वकालत शुरू की; क्योंकि उमीदवारी का समय अभी पूरा नहीं हुआ था। शुरू वकालत का हाल ऊपर लिख चुका हूं।

17

तिलक-दहेज की प्रथा

उपरोक्त घटना के थोड़े ही दिनों के बाद मां की मृत्यु हो गयी। दशहरे की लम्बी छुट्टी में मैं घर आया था। कार्तिक के महीने में उनकी आदत थी कि संध्या के समय भी स्नान करके तुलसी-पूजन करतीं और दिया जलातीं। इसी में एक दिन ठंड लग गयी। ज्वर और कफ की बीमारी हो गयी। हम दोनों भाई घर पर ही थे। बहुत दवा-इलाज किया गया, पर वह बच न सकीं। चार-पांच दिनों की बीमारी के बाद ही जाती रहीं। उस समय भाई के पैरों में कुछ दर्द हुआ था। कुछ ऐसी भावना लोगों में थी कि पिता का श्राद्ध बड़े लड़के को और माता का श्राद्ध छोटे लड़के को करना चाहिए। इसलिए सब क्रिया मैंने ही की।

भाई की बड़ी लड़की अब इतनी बड़ी हो चुकी थी कि उसका विवाह कर देना जरूरी था। मां के जीवन-काल से ही बातचीत चल रही थी। हमारे समाज में लड़की का विवाह एक भारी हंगामा है। पहले तो पसंद के लायक लड़का मिलना कठिन होता है। इसमें जाति-पांति का बखेड़ा तो रहता ही है। इसके अलावा यह भी देखना पड़ता है कि उसके घर में कुछ सम्पत्ति भी होनी चाहिए ताकि लड़की को वहां जाकर कष्ट न होवे। छुटपन में शादी होने के कारण लड़का अभी स्वावलम्बी हुआ नहीं रहता। इसलिए घर वालों पर ही लड़की के पालन-पोषण का भार पड़ जाता है और यह देखना जरूरी हो जाता है कि घर वाले इस योग्य हैं या नहीं। मेरी अपनी शादी शायद ग्यारह बरस की उम्र में हुई थी। मैं पच्चीस-छब्बीस बरसों का हो चुका था। अभी तक पढ़ता ही रहा। उन चंद महीनों के सिवा, जब मुजफ्फरपुर कालेज में प्रोफेसरी करता रहा, अभी तक कुछ कमाया नहीं था। भाई ने भी कुछ उपार्जन नहीं किया था। स्कूल की मास्टरी में उन्हें जो थोड़ा मिलता था वह वहीं पर खर्च हो जाता था। इसलिए घर में जो जमींदारी थी उसी से सब काम चलता था। भाई ने इंतजाम अच्छा कर लिया था। इसलिए अब वैसा कष्ट नहीं अनुभव होता था जैसा बाबूजी के मरने के समय हुआ था। तो भी लड़की की शादी में तो बहुत खर्च होता ही।

लड़की की शादी के लिए अगर अच्छा घर और अच्छा लड़का मिल भी गया तो लड़के के घर वालों को राजी करना कुछ आसान काम नहीं होता। उन दिनों लड़के को राजी करने

की बात नहीं होती थी, क्योंकि लड़का प्रायः कम उम्र का ही होता था और मां-बाप की रजामंदी ही उसकी रजामंदी समझी जाती थी। तब से आज तक बहुत अंतर पड़ गया है। अब लड़कों की शादी कुछ उम्र बढ़ जाने पर ही होती है, विशेष करके उन कायस्थों में, जो कुछ शिक्षित हैं। लड़के के पिता-माता की रजामंदी हासिल करना आसान नहीं होता था। उनको भी लड़की वालों के घर और खानदान के बारे में पता लगाकर अपने को संतुष्ट करना पड़ता था कि उनकी प्रतिष्ठा के योग्य कन्या-पक्ष के लोग हैं या नहीं। यह सब ठीक जंच जाने पर तिलक-दहेज की बात उठती थी।

लड़की वाले को वर-पूजा के समय—जिसे हमारे समाज में 'तिलक' कहते हैं—रुपये, बर्तन, कपड़े इत्यादि देने पड़ते हैं। फिर शादी के समय बरात आने पर भी सब चीजें और नगद रुपये देने पड़ते हैं। लड़की को रुपये देना पिता का धर्म हो सकता है। पर हमारे समाज में पिता के—अपने दिल से और प्रेम से—देने की बात नहीं रहती है। शादी के पहले ही बातचीत करके तय कर लिया जाता है कि तिलक के समय इतना देना होगा और शादी के समय बरात जाने पर इतना दहेज देना होगा। यह प्रथा हजार कोशिश करने पर अभी तक जारी है! सभी जातीय सभाओं में प्रस्ताव पास होते हैं कि इसे उठा देना चाहिए, पर घटने की जगह यह प्रथा बढ़ ही रही है। जिन जातियों में यह प्रथा नहीं थी उनमें भी प्रचलित होती जा रही है। जिनमें पहले से चलती थी उनमें तिलक-दहेज की रकम अब बहुत बढ़ती जा रही है।

अगर आज मेरी शादी होने को होती और मैं उस प्रथा से तिलक-दहेज लेकर शादी करना चाहता, तो मुझ जैसे युनिवर्सिटी परीक्षा में सफल विद्यार्थी के लिए, जहां मेरी शादी में डेढ़-दो हजार के लगभग मिले थे, आज की दर से दस-पंद्रह हजार की रकम भी बड़ी रकम नहीं समझी जाती। इस समय की दर तो इतनी बढ़ गयी है और बढ़ती जा रही है कि कुछ ठिकाना ही नहीं मालूम होता। जिसके घर में कुछ नहीं है, पर जो कुछ पढ़ने में तेज है, वह मामूली तौर से तीन-चार हजार की फरमाइश तो कर ही देता है।

हां, एक फर्क हुआ है। मेरी शादी के समय लड़के को खुश करने की बात नहीं होती थी, क्योंकि दस-बारह बरसों का लड़का तो खिलौनों से भी खुश किया जा सकता था, और लड़के से शादी की बातें करना या लड़के का खुद अपने विवाह-संबंध की बातें करना बहुत बुरा माना जाता था। इसलिए अगर माता-पिता राजी हो गये तो वही काफी होता था। पर आजकल के पढ़े-लिखे लड़कों को अलग से राजी करना पड़ता है। वे अपनी फरमाइश अलग कर देते हैं और इस तरह मांग, या कीमत, बहुत बढ़ जाती है।

भाई की लड़की की शादी जाने हुए घर में होने की बात थी, क्योंकि वर के बड़े भाई लोग हम लोगों के साथ कलकत्ते में पढ़ते थे और लड़का भी वहां पढ़ा करता था। इसलिए आशा थी कि सब बातें आसानी से तय हो जायेंगी। पर पुरानी रूढ़ि जल्दी

छूटती नहीं, इसलिए हम लोगों को भी दिक्कत तो उठानी ही पड़ी। ईश्वर की दया से संबंध बहुत अच्छा हो गया, और दोनों पक्ष बहुत संतुष्ट हैं। सब कुछ होने पर भी घर में रुपये तो थे नहीं। अन्न तो खेतों में पैदा होता था, इसलिए उसकी बहुत चिंता नहीं थी; पर नगद खर्च के लिए हम दोनों भाइयों को कर्ज लेना पड़ा।

18

वकालत का आरम्भ और एम. एल. की परीक्षा

भतीजी की शादी के थोड़े दिनों के बाद, मैंने कलकत्ते में वकालत शुरू कर दी। शुरू का हाल तो पहले लिख चुका हूं। काम शुरू करते ही मुझे मुकदमे मिलने लगे। मैंने जिस दिन से वकालत शुरू की, घर से अपने खर्च के लिए कभी कुछ नहीं लिया। मुझे इस बात की चिंता थी कि घर से कुछ मंगाना पड़ेगा तो भाई पर बोझ पड़ेगा और विशेषकर लड़की की शादी के खर्चे के बाद उनकी कठिनाई अब और भी अधिक हो जायेगी। पर कुछ इत्तफाक ऐसा हुआ कि हर महीने थोड़ी-बहुत आय हो जाती और वह खर्च के लिए काफी होती। कलकत्ते में खर्च तो छोटे शहरों के मुकाबले अधिक पड़ता ही है, तो भी काम चल निकला। जैसा जस्टिस चटर्जी ने कहा था, मेरे पास धनी मवक्किल नहीं आये। केवल एक आदमी—रायबहादुर हरिहर प्रसाद सिंह ने, मैंने जिस दिन से वकालत शुरू की उसी दिन से, अपनी जमींदारी के सब छोटे-बड़े मुकदमे मेरे सुपुर्द किये। वह मुझे जानते थे और विलायत जाने के समय उन्होंने कुछ रुपये भी दिये थे। ऐसा इत्तफाक हुआ कि उनका मुकदमा मेरी वकालत का आखिरी मुकदमा भी हुआ, क्योंकि वकालत छोड़ने के समय उनके ही बहुत बड़े मुकदमे में मैं काम कर रहा था।

गरीब मवक्किलों के मुकदमों में कोई दूसरा वकील भी नहीं होता था और अक्सर मुझे ही बहस करनी पड़ती थी। परिश्रम करके काम करता; इसलिए बहुत जल्द जज लोग भी मुझे पहचानने लगे। बहुत लोगों की आदत होती है कि जजों से बहुत मिला करते हैं; मैंने ऐसा कभी नहीं किया। उनसे मेरी मुलाकात इजलास की ही रही। उनमें बहुतेरे, जिनके सामने मुझे काम करने का मौका मिला, मुझसे खुश रहे। सर लौरेन्स जेन्किन्स चीफ जस्टिस थे। मेरे वकालत शुरू करने के एक-डेढ़ साल बाद ही वह चले गये, पर इतने थोड़े दिनों की वकालत से ही मुझसे इतने प्रसन्न थे कि जाने के समय अपने हस्ताक्षर के साथ अपनी एक तस्वीर मुझे दे गये। सर आशुतोष की बात ऊपर लिख ही चुका हूं कि उन्होंने एक मुकदमे में जूनियर वकील की हैसियत से मुझे काम करते हुए देखकर लॉ कालेज की प्रोफेसरी मुझे दे दी। इस तरह मैं अपनी कामयाबी से खूब खुश था।

मुजफ्फरपुर कालेज के मेरे पुराने साथी बाबू वैद्यनाथनारायण सिंह ने भी कलकत्ते में आकर हाइकोर्ट में मेरे साथ ही वकालत शुरू कर दी थी। हम दोनों में घनिष्ठ मित्रता हो गयी थी। इसी बीच में बिहार सूबे के भी, 1911 के दिसम्बर में शाही दरबार के वक्त, बंगाल से अलग होने की घोषणा हुई और 1912 के एप्रिल से बिहार एक नया सूबा हो गया। अभी तक हाइकोर्ट और युनिवर्सिटी अलग कायम नहीं हुई थी। बिहार के मुकदमे कलकत्ते में ही फैसल हुआ करते थे और बिहार के विद्यार्थी कलकत्ता युनिवर्सिटी की ही परीक्षाओं में बैठते थे। पर सूबा अलग होने के थोड़े ही दिनों बाद हाइकोर्ट अलग करने की बात होने लगी। जर्मनी के साथ लड़ाई शुरू हो जाने से कुछ विलम्ब होने की सम्भावना हो गयी, पर ऐसा हुआ नहीं, और मालूम हुआ कि मकान वगैरह तैयार हो जाने पर हाइकोर्ट भी खुल जायेगा।

वैद्यनाथ बाबू ने मुझसे कहा कि एम. एल. की परीक्षा देनी चाहिए। मैं उस समय वकालत में बहुत दिलोजान से लग गया था और खूब कामयाब भी होना चाहता था। मैंने उनकी बात मान ली। हम दोनों एक साथ एम. एल. परीक्षा के लिए तैयारी करने लगे। कलकत्ता युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में यह सबसे कठिन परीक्षा समझी जाती थी। हम दोनों को कचहरी में काम भी काफी रहता था; इसलिए पढ़ने का समय कम मिलता था। फिर लॉ कालेज में प्रोफेसरी हो जाने के बाद तो मैं और भी अधिक समय का अभाव अनुभव करने लगा। कभी-कभी इस परीक्षा की झंझट से बच जाने का भी जी चाहता था; पर वैद्यनाथ बाबू छोड़ना नहीं चाहते थे। वह बार-बार जोर देकर मुझको पढ़ने के लिए कहते रहते। कभी-कभी तो जिस तरह मास्टर लड़कों को पढ़ाते हैं उस तरह मुझे पढ़ाते। वह मुझसे बार-बार कहते—"आपने एंट्रेन्स से बी. ए. तक सब परीक्षाओं में अव्वल स्थान पाया, एम. ए. में कुछ नीचे हुए और बी. एल. तो किसी प्रकार पास किया। इन अंतिम परीक्षाओं का फल आपके विद्यार्थी जीवन का कलंक है। उसको धो देना चाहिए और वह एम. एल. पास करके ही आप धो सकते हैं।" इन सब दलीलों का और उनकी मास्टरी का नतीजा यह हुआ कि हम दोनों खूब परिश्रम करने लगे। विचार हुआ कि 1915 के दिसम्बर में होने वाली परीक्षा में हम दोनों बैठेंगे और ऐसा सोचकर इसकी तैयारी की गयी।

जितना परिश्रम मैंने इस परीक्षा के लिए किया उतना परिश्रम कभी किसी परीक्षा के लिए नहीं किया था। एंट्रेन्स में तो मानो बिना जाने मैं सफल हो गया। एफ. ए. में अव्वल होने के लिए जान-बूझकर प्रयत्न किया, पर तो भी उसमें इतना परिश्रम तो कभी किया ही नहीं। बी. ए. में तो कुछ परिश्रम नहीं किया था। एम. ए. और बी. एल. के समय दूसरे विचारों में फंस गया था। किन्तु एम. एल. की परीक्षा के समय में अंतिम दो-तीन महीनों में 15-16 घंटों तक पढ़ा करता था। कचहरी, लॉ कालेज तथा परीक्षा की तैयारी मिलाकर इतनी मेहनत पड़ी कि एक बार सख्त बीमार पड़ गया और भय हुआ कि सब मामला अब खतम हो जायेगा।

1916 के मार्च से पटने में हाइकोर्ट खुलने वाला था। हम दोनों समझ गये थे कि कलकत्ते में रहते हुए अगर हमने पास नहीं किया तो पटना जाकर हमसे यह काम नहीं होगा; 1915 की परीक्षा ही हम लोगों के लिए प्रथम और अंतिम परीक्षा होगी; इसलिए हमको जरूर पास करना चाहिए। परीक्षा के समय जजों से कहकर कुछ दिनों के लिए छुट्टी ले ली; अपने मुकदमों को मुलतवी करा दिया। हम लोगों के मुकदमे प्रायः बिहार के ही होते थे; इसलिए कुछ दिनों से वे वहां भी उन्हीं जजों के यहां पेश होते थे जिनके पटना आने की खबर थी। कहने से उन्होंने खुशी से मुकदमे मुलतवी कर दिये।

परीक्षा देकर हम लोग हाइकोर्ट के साथ पटने चले आये। परीक्षा का फल पटने आने के बाद मालूम हुआ। हम ही दोनों पास हुए। मैं फर्स्ट क्लास में पास हुआ और वैद्यनाथ बाबू सेकेंड क्लास में। हम ही दो बिहारी थे जिन्होंने पहले-पहल यह परीक्षा पास की। पीछे मालूम हुआ कि मुझे बहुत अधिक नम्बर मिले थे। युनिवर्सिटी के नियम के अनुसार एम. एल. परीक्षा पास करने के बाद मौलिक निबंध लिखकर देने पर डी. एल. की उपाधि मिल सकती है और इस तरह आदमी कानून का डॉक्टर हो सकता है। हम दोनों पटने में विचार करने लगे कि किसी अच्छे विषय पर निबंध लिखा जाये। इस संबंध में सर गुरुदास बनर्जी से भी हम मिले थे और राय ली थी।

कलकत्ते की वकालत के कुछ चुटकले मनोरंजक हैं। वकालत शुरू करने के थोड़े ही दिनों के बाद एक मवक्किल के मुख्तार मेरे पास एक अपील दायर करने के लिए आये। उनकी राय थी कि एक सीनियर वकील भी रखें। एक सीनियर वकील का नाम, जिनकी वकालत बहुत जोरों से चली थी और जिनके हाथ में बिहार के बहुत मुकदमे रहा करते थे, उन्होंने मुझसे कहा। मुझे खुशी हुई कि बड़े वकील के साथ काम करने का मौका मिलेगा। उनसे मेरी मुलाकात नहीं थी।

हम दोनों उनके घर पर गये। मैंने कागज पढ़कर बुद्धि के अनुसार अपील की दर्खास्त लिख ली थी। संध्या के समय हम दोनों पहुंचे। वह काम कर रहे थे। उनकी आदत थी कि रात को काम नहीं करते थे। संध्या होते ही काम बंद कर देते और फिर दूसरे दिन सवेरे काम करते। वह कागज-पत्र समेट ही रहे थे कि हम लोग पहुंचे। मुख्तार को वह पहले से जानते थे—उनसे पूछा कि क्या काम है ? मुख्तार ने कहा कि एक दोयम अपील दायर करनी है। उन्होंने दूसरे दिन मुख्तार को बुलाया और पूछा कि किसी जूनियर से दर्खास्त वगैरह लिखवायी है या नहीं ? मुख्तार ने कहा कि सब कुछ तैयार है। इस पर उन्होंने जूनियर का नाम पूछा। मेरा नाम मुख्तार ने बता दिया। मैं तो वहीं चुप बैठा था। उन्होंने मुझे देखा भी या नहीं, मैं नहीं कह सकता। वह बिगड़कर बोले—"न मालूम कैसा उजबक वकील तुमने रखा है जिसको मैं जानता भी नहीं हूं ! सब काम मुझे ही करने होंगे। वह न कुछ जानता होगा और न कुछ समझेगा।" मवक्किल ने कहा—"वह नये हैं, मगर बहुत तेज हैं।" इस

पर उन्होंने फिर उजबक वगैरह कह दिया। मैं चुप बैठा रहा। मवक्किल ने तब मेरी तरफ इशारा करके कहा कि यही तो हैं। यह सुनते ही उनके बदन पर मानो उस सर्दी के जमाने में हजारों घड़े पानी पड़ गया और बहुत घबराकर मुझसे कहने लगे—"तुमको आते ही मुझसे जान-पहचान कर लेनी चाहिए थी। मैं तुमको जानता नहीं हूं। मेरा मतलब कुछ तुम्हारी शिकायत करने का नहीं था। मैं तो तुमको जानता नहीं हूं, इसलिए कहा कि कोई नया वकील काम ठीक नहीं जानता होगा।" और, इस प्रकार की बातें कहते-कहते वह माफी मांगने लगे।

मैंने कहा कि आपका कहना स्वाभाविक था; आप मुझे जानते नहीं हैं, और मैं तो अभी बिलकुल नया हूं। तब वह सब हालचाल पूछने लगे, और दूसरे दिन कचहरी में ही कागज दिखलाने को कहकर हम दोनों को विदा किया। दूसरे दिन जब कचहरी में ही मैंने अपनी लिखी दर्खास्त उन्हें दिखलायी, तब बहुत खुश हुए और मवक्किल तथा दूसरे वकीलों के सामने मेरी तारीफ का पुल बांध दिया। उसके बाद मुझे उनके साथ बहुत काम करने का मौका मिला और मुझे वह बहुत मानते रहे। मेरे साथ उनकी शिकायत एक बात की रहती। कपड़े पहनने में मैं लड़कपन से ही कुछ उलूल-जलूल रहा हूं। वह इसे नापसंद करते थे और कपड़े के बारे में शौकीन होने की शिक्षा जब-तब दिया करते थे।

इसके बरक्स (विपरीत), एक दूसरी घटना घटी। मैं अपनी आदत से मजबूर हूं—जिससे कोई काम नहीं पड़ता, उससे कभी आगे बढ़कर जान-पहचान करने की शक्ति मुझमें नहीं थी और न आज भी है। यद्यपि डेढ़-दो बरसों से मैं वकालत करता था; फिर भी डाक्टर रासविहारी घोष से मेरी मुलाकात नहीं थी। उनके खिलाफ में बहस करके एक बड़ा मुकदमा तो मैंने जीत लिया था; पर उनके साथ काम करने का मौका नहीं मिला था। एक मुकदमे में वह मौका आया। दूसरी ओर से सर एस. पी. सिन्हा थे। हमारी ओर से सर रासविहारी घोष और बाबू कुलवंत सहाय थे, जो पीछे पटना हाइकोर्ट के जज हुए। गया का मुकदमा था और गया के एक वकील भी आये थे।

बड़े वकीलों और बैरिस्टरों की चाल थी कि जब दूसरे पक्ष की बहस होती, तब वे किसी दूसरे इजलास में बहस करते और जवाब देने के वक्त आ जाते। बहुत मुकदमे हाथ में ले लेने का यही नतीजा होता था। कभी-कभी वे नहीं भी पहुंच पाते थे। वैसी हालत में जूनियर को ही काम कर देना पड़ता था। जो मुकदमा मैंने सर रासविहारी घोष के खिलाफ बहस करके जीत लिया था, उसमें ऐसा ही हुआ था। मेरे सीनियर साहब दूसरे इजलास में फंसे थे, मुझे ही बहस करनी पड़ी। जब दूसरे पक्ष की बहस होती रहती और सीनियर गैरहाजिर रहते तो जूनियर को बहस का नोट लेकर सीनियर को दिखलाना पड़ता। उसी नोट को पढ़कर दूसरी ओर की बहस को वह समझते और जवाब देते। यह कुछ बड़ा मुकदमा था, जिसमें तीन-चार दिनों तक बहस होती रही। सर सिन्हा की बहस के नोट करने का काम मेरा था; क्योंकि सबसे जूनियर मैं ही था। सर सिन्हा आहिस्ता-आहिस्ता और बहुत अच्छी तरह

से बहस किया करते थे। इसलिए नोट लिखने में मुझे कोई विशेष तकलीफ नहीं हुई। मैं कुछ तेज लिखने का आदी शुरू से ही रहा हूं। कालेज में मिस्टर पर्सिवल बहुत तेज पढ़ाया करते थे और मैं प्रायः सब कुछ नोट कर लिया करता था। इस तरह यह आदत और भी बढ़ गयी थी। इसमें काफी प्रोत्साहन 'डॉन सोसाइटी' के क्लासों में भी मिला था।

मैंने सर सिन्हा की बहस का अच्छा नोट लिख लिया। दिन-भर की बहस खतम हुई। संध्या को हम सब सर रासविहारी घोष के घर पर गये। उन्होंने बहस का सारा नोट बहुत ध्यान से पढ़ लिया। मैं कुछ डरता भी था, कुछ उत्सुक भी था कि देखें क्या कहते हैं। वह गुस्सेवर (क्रोधी) थे और जूनियर से गलती होती तो बहुत बिगड़ जाते थे। जज लोग भी यह खूब जानते थे। कभी-कभी इजलास पर ही कागज और किताब पटक दिया करते थे। इससे जूनियर बहुत डरा करते थे। मेरा तो यह पहला ही मौका था। पढ़कर उन्होंने सिर उठाया और पूछा कि नोट किसने तैयार किया है ? मैंने समझा, अब शायद बिगड़ेंगे; उनके मन के मुताबिक नोट तैयार नहीं हुआ है। बाबू कुलवंत सहाय के मन में भी शायद कुछ ऐसा ही शक हुआ। उन्होंने मेरी तरफ इशारा कर दिया। इस पर सर रासविहारी ने मुझसे पूछा—"कितने दिनों से काम करते हो ? मैं तो तुमको जानता नहीं हूं।" यह सब बातें होती जातीं और मन-- ही-- मन मैं कांपता जाता था कि अब कुछ होगा। बाबू कुलवंत सहाय ने कहा — "थोड़े ही दिनों से।" गुस्सा करने के बदले उन्होंने मेरी पीठ ठोकना शुरू कर दिया और कहा कि नोट बहुत अच्छा तैयार हुआ है। बाबू कुलवंतसहाय की हिम्मत बढ़ी और उन्होंने मेरी युनिवर्सिटी परीक्षाओं का हाल कह दिया। बहुत खुश हुए और मुझसे कहा—"ऐसे ही परिश्रम से काम करो, तुम बहुत अच्छे हो जाओगे।"

मुझे बड़ा संतोष हुआ। उसके बाद जब कभी उनके साथ काम करने का मौका होता, तब वह मेरे नोट पर बहुत विश्वास करते और उसको ठीक समझकर उसका पूरा उपयोग कर लेते। उसी मुकदमे में एक दूसरा दृश्य भी मैंने देखा। उन्होंने एक बात पूछी और जानना चाहा कि इस बात पर कोई सबूत है या नहीं ? मैं तो चुप रहा, पर गया के वकील ने कहा कि कोई सबूत नहीं है। इस पर उन्होंने कहा कि जब सिन्हा ने कहा है कि सबूत है, तब जरूर कुछ होगा—ध्यान से आज रात को सब कागज देख लो, और तब कल सवेरे मुझे उत्तर देना। दूसरे दिन सवेरे उन्होंने फिर सवाल किया और वकील ने वही उत्तर दिया। रात को कागज उन्होंने पढ़ा था और निशान लगाकर रक्खा था। वकील के जवाब पर बिगड़ गये। कागज और उनका बनाया नोट फेंक दिया — "मैं तुम्हारे नोट पर भरोसा करके बहस करता हूं। अब मैं कैसे भरोसा कर सकता हूं ?" और अपना निशान लगाया हुआ हिस्सा दिखलाकर बहुत भला-बुरा कह दिया। मैंने एक ही मुकदमे में दोनों चीजें देख लीं, और अपना भाग्य सराहा कि मुझसे गलती नहीं हुई थी।

एम. एल. की परीक्षा दे चुका था। फल मालूम नहीं हुआ था। पटने आने के चंद दिन ही बाकी रह गये थे। एक छोटा, मगर पेचीदा मुकदमा मेरे हाथ में था। उसकी बहस दो जजों के सामने करनी पड़ी, जो दोनों पटने आने वाले थे। एक अभी मुस्तकिल जज नहीं हुए थे—थोड़े दिनों के लिए ही हाइकोर्ट में गये थे और फिर चंद दिनों के लिए पटने चले आये। यह बहस दो-तीन दिनों तक चली थी। हम जीत गये थे, और उन पर मेरी बहस का अच्छा प्रभाव पड़ा था। उनको मालूम हो गया था कि मैंने एम. एल. की परीक्षा भी दी है। पटने आकर हाइकोर्ट खुलने के पहले ही उन्होंने दूसरों से मेरी तारीफ की कि कलकत्ता हाइकोर्ट से आने वाले वकील अच्छे हैं और यहां के बड़ों का मुकाबला कर सकेंगे। जब हाइकोर्ट खुला तब मुझे इसका अनुभव भी हुआ।

दोयम अपील में केवल कानूनी बहस हो सकती है। वाकयाती बातों पर नीचे की अदालत का फैसला मान लिया जाता है। दोयम अपील छोटे-छोटे मुकदमों में ही होती है। मेरे मवक्किल गरीब हुआ करते थे। कलकत्ते में ज्यादातर दोयम अपीलें ही मेरे हाथ में आयी थीं। इसलिए उनकी बहस में कानूनी बहस ही करने के लिए मुझे अधिक कानून पढ़ना पड़ता था। मैंने नियम कर लिया था कि ऐसा मुकदमा मैं दायर ही नहीं करूंगा, जिसमें अच्छी तरह मैं खुद यह न समझ लूं कि फैसला कानूनी तौर पर गलत है और मैं उसे बहस में जीत सकूंगा। इसलिए दोयम अपील के मुकदमे मैं अक्सर जीता करता था। पटने में आकर मैंने यही नियम रक्खा।

दोयल अपील में मंजूरी के लिए बहस होती है। जब जज समझते हैं कि कुछ गलती है या कम-से-कम बहस की गुंजाइश है, तभी मंजूर करते हैं और दूसरे पक्ष को हाजिर होने की नोटिस देते हैं। पटने के रजिस्ट्रार, जो कुछ कम कानून जानते थे, सभी दोयम अपीलों को नामंजूर कर देते थे। मेरी अपील भी नामंजूर कर देते। पर नियमानुसार उनका अधिकार इतना ही था कि अगर वह किसी अपील को मंजूर करने योग्य न समझें तो उसे जजों के सामने भेज दें। मेरी बहुतेरी अपीलें इस प्रकार जजों के सामने उन्होंने भेजीं और प्रायः सब-की-सब वहां मंजूर हो गयीं। वह जज तो, जिसका मैंने जिक्र किया है, शायद कागज भी नहीं पढ़ता; मेरे खड़े होते ही मंजूर कर लेता। जब रजिस्ट्रार को भी विश्वास हो गया कि मैं रुपये लेने के लिए अंटसंट मुकदमे नहीं दायर करता, तब उन्होंने भी वैसा करना शुरू कर दिया। मेरा यह भी अनुभव हुआ कि जिस मुकदमे को मैं यह समझकर कि उसमें कुछ जान नहीं है, नहीं दाखिल करता, मवक्किल दूसरे वकील की मार्फत दाखिल कराता और अंत में हार जाता।

19

पटना आना और पटना युनिवर्सिटी बिल

सन् 1916 के मार्च में पटने में हाइकोर्ट खुला। सभी बिहारी वकील, जो कलकत्ता हाइकोर्ट में काम करते थे, और बहुतेरे बंगाली वकील भी—जिनको बिहार के मुकदमे मिला करते थे—पटने चले आये। मैं भी पटने चला आया। उन दिनों पटने में मकान मिलना कठिन हो गया। भाड़े का एक मकान लेकर मैं रहने लगा। कलकत्ते में ही मेरे हाथ में मुकदमे बहुत रहा करते थे। पटने में आने पर वकालत और भी चल निकली। मैं भी बहुत जी लगाकर काम करने लगा। पर यह हाल थोड़े ही दिनों तक रहा।

उसी समय कुछ महीनों के बाद, पटने में युनिवर्सिटी कायम करने के लिए दिल्ली की कौंसिल में एक बिल पेश हुआ। हम लोगों ने उस बिल को बहुत खराब समझा। इसलिए उसके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा किया गया। इसके पहले ही एक कमिटी बनी थी जिसने एक रिपोर्ट पेश की थी। उसकी मुख्य सिफारिशों में एक यह भी थी कि शहर से तीन-चार मील की दूरी पर, फुलवारीशरीफ के नजदीक, युनिवर्सिटी कायम की जाये। उसकी इमारतों का खर्च भी प्राय; एक करोड़ के लगभग बताया गया था। कलकत्ते से ही मैंने उसका विरोध किया था। फिर जब मैं बिहारी छात्र सम्मेलन का सभापति हुआ तो उस हैसियत से भी उसका जबरदस्त खंडन किया। हम लोग समझते थे कि ऐसा होने से गरीब लड़कों के लिए युनिवर्सिटी शिक्षा असंभव नहीं तो कठिन जरूर हो जायेगी। वहां खर्च भी अधिक पड़ेगा और शहर से दूर होने के कारण सभी लड़कों को अधिक खर्च देकर होस्टल में रहना होगा। वहां उनको कोई आजादी भी नहीं रहेगी, इत्यादि।

उस विरोध को साधारण जनता से बहुत मदद मिली थी। वह योजना एक प्रकार से स्थगित हो गयी। नये बिल के संबंध में दूसरे प्रकार की बाधा थी। हम समझते थे कि सिनेट और सिंडिकेट जैसा बनने जा रहे हैं वैसा बनने से तो उनमें जनता के सेवकों को स्थान ही नहीं मिल सकेगा—सब सरकारी आदमी ही, सारी युनिवर्सिटी को अपने हाथों में रखकर, सरकारी आज्ञा के अनुसार, मनमाने ढंग से चलावेंगे।

हमारे सामने कलकत्ता युनिवर्सिटी थी। वहां के वाइस-चांसलर लोगों ने शिक्षा के प्रचार में बड़ी निर्भीकता से काम किया था। विशेष करके सर आशुतोष हमारी आंखों के

सामने थे। पर वहां के सिंडिकेट और सिनेट अगर सर आशुतोष का साथ न देते तो वह बहुत कुछ न कर पाते। हम समझते थे कि हमारे यहां पहले तो उनके जैसा आदमी जल्दी नहीं मिलेगा और अगर मिला भी तो वह सिनेट और सिंडिकेट के विरोध के सामने कुछ कर न सकेगा। इसलिए हम चाहते थे कि सिनेट और सिंडिकेट में शिक्षकों के अलावा दूसरे लोगों को, जनता के प्रतिनिधि के रूप में, काफी जगहें दी जायें।

युनिवर्सिटी बिल के विरुद्ध बहुत बड़ा आन्दोलन हमने खड़ा किया। इस आन्दोलन में मेरे मित्र बाबू वैद्यनाथनारायण सिंह और मैंने बहुत बड़ा भाग लिया। एक प्रकार से इसके संगठनकर्ता हम ही दोनों थे। प्रत्येक जिले में सभा की गयी। हम दोनों ने अखबारों में कई लेख लिखे। चूंकि बिल दिल्ली की कौंसिल में पेश हुआ था, इसलिए हमने जरूरी समझा कि और-और सूबों के मेम्बरों को भी बिहार के लोकमत से अवगत कर दें। सभी राष्ट्रवादी समाचारपत्रों ने विरोध किया। हमने पांच या छः छोटी-छोटी पुस्तिकाएं इस संबंध में लिखीं और छपवायीं। अंत में बिहार प्रांतीय कांफ्रेंस का विशेष अधिवेशन करके इस पर विचार किया गया और सख्त विरोध हुआ। इस अधिवेशन के सभापति हुए थे पटने के नामी वकील रायबहादुर पूर्णेन्दुनारायण सिंह। उन्होंने बड़ी समालोचनात्मक वक्तृता दी और उसी के अनुरूप प्रस्ताव भी स्वीकृत हुआ।

इसी बीच लखनऊ में, 1916 के दिसम्बर में, कांग्रेस हुई। वहां हम सब बड़ी संख्या में गये। यद्यपि यह बिल एक खास प्रांत (बिहार) से संबंध रखता था, और कांग्रेस ऐसे ही विषयों पर विचार किया करती थी जिनका सार्वदेशिक प्रभाव होता था, तथापि मैंने श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री परांजपे प्रभृति नेताओं से कहकर इस बिल के विरुद्ध प्रस्ताव उपस्थित करने का आयोजन किया। श्री परांजपे ने प्रस्ताव पेश किया और वह सर्व-सम्मति से पास हुआ। इस तरह बिल के विरुद्ध एक प्रकार का सार्वदेशिक आन्दोलन हो गया।

बिल के उपस्थित करने वाले मेम्बर सर शंकर नायर थे। उन्होंने बिहार के मेम्बरों से सलाह की। बिल में काफी संशोधन किया गया। जिन-जिन बातों का अधिक विरोध हुआ था उनमें परिवर्तन कर दिया गया। मजहरुल हक साहब बिहार के प्रतिनिधि थे। वह हम लोगों से बराबर राय लेते गये। अंत में हमारी सम्मति लेकर बहुत परिवर्तित रूप में बिल स्वीकृत हुआ।

यह पहला ही मौका था जब मैंने बिहार में सरकार के विरुद्ध एक इतना बड़ा आन्दोलन खड़ा कर दिया था और इसमें सफलता भी मिली थी। इसी समय से मैं कांग्रेस के काम में अधिक भाग लेने लगा। यों तो मैं 1911 से ही बराबर अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी का मेम्बर होता रहता; पर जब तक कलकत्ते में था, कुछ विशेष काम न कर सका। जब बिहार में आया तो लोगों का ध्यान भी मेरी तरफ गया और मैंने भी महसूस किया कि सार्वजनिक

कामों में कुछ अधिक दिलचस्पी लेना जरूरी है। थोड़े ही दिनों में मैं बिहार प्रांतीय कांग्रेस कमिटी का सहकारी मंत्री भी बना दिया गया। इस पद पर मैं कई बरसों तक रहा। जब असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ और पुराने कांग्रेसी लोग अलग हो गये तब मैं मंत्री हो गया। जब युनिवर्सिटी बनी तो गवर्नर ने मुझे सिनेट का मेम्बर बना दिया।

1916 की कांग्रेस में बिहार संबंधी एक दूसरा प्रस्ताव भी पास हुआ था—चम्पारन के निलहे गोरों के विरुद्ध। इसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र दिया जायेगा।

20

हिन्दी तथा सेवाकार्य

कलकत्ते से पटने आने के पहले एक-दो बातें और हुईं जिनका जिक्र कर देना उचित जान पड़ता है। छात्र सम्मेलन का जिक्र तो आ ही चुका है। छात्रावस्था समाप्त हो जाने के बाद भी, जब मैं वकालत करता था, छात्र सम्मेलन के साथ मेरा संबंध कायम रहा। छात्र लोग भी मेरा बहुत विश्वास करते और मैं भी अपने को उनमें से ही एक समझता।

छात्र सम्मेलन के मुंगेर वाले अधिवेशन का मैं सभापति बनाया गया। उसी में युनिवर्सिटी संबंधी नेथन कमिटी की रिपोर्ट का विरोध किया गया था। इसके अलावा जहां जहां अधिवेशन होता, मैं जाता और दूसरे प्रकार से भी संगठन को सहायता देता।

उन्हीं दिनों हिन्दी के साथ भी प्रेम बढ़ा। स्कूल में, एक या दो बरसों तक, नीचे के वर्ग में, मैंने संस्कृत पढ़ी। उसके बाद फारसी पढ़ने लगा। संस्कृत छोड़ने का मुख्य कारण यह था कि बाबूजी चाहते थे, मैं वकील बनूं। उनका ख्याल था कि मुकदमे के कागज-पत्र फारसी में लिखे मिलते हैं, इसलिए फारसी पढ़ने से वकालत में मदद मिलेगी। पीछे मैंने घर पर कुछ संस्कृत पढ़ने की कोशिश भी की थी, पर वह बहुत दिन चल न सकी। इसलिए स्कूल और कालेज में मैंने बराबर फारसी ही पढ़ी। फारसी में नम्बर भी खूब आता था। अगर फारसी का नम्बर न होता तो मैं एंट्रेन्स में अव्वल नहीं होता; क्योंकि गणित में मेरे कम नम्बर आये थे। हिन्दी पढ़ने का तो कभी मौका ही नहीं आया। हिन्दी का अक्षर-मात्र जानता था। घर में मां आदि रामायण पढ़ा करती थीं। इसलिए मुझे भी रामायण पढ़ने की चाह हो गयी थी। बहुत दिनों तक तो सवेरे रामायण का पाठ करके कुछ खाता-पीता। यह नियम कुछ दिनों तक चला था। हिन्दी के दूसरे ग्रंथों को देखने का कभी मौका नहीं मिला था।

परीक्षा में एक पर्चा आता था जिसमें अंगरेजी से किसी देशी भाषा में और देशी भाषा से अंगरेजी में उलथा करने को कुछ दिया जाता था। एंट्रेन्स और एफ. ए. की परीक्षा में मैंने देशी भाषा के रूप में उर्दू ही ली थी। बी. ए. में पहुंचकर इच्छा हुई कि हिन्दी ले लूं। बी. ए. में एक निबंध भी लिखना पड़ता था। मैंने हिन्दी ले ली। हिन्दी में पास भी कर गया। हिन्दी से संबंध इसी प्रकार आरम्भ हुआ।

कलकत्ते में हिन्दी के लेखक, विद्वान, साहित्यिक और सेवक कई सज्जन रहते थे। उनमें से पंडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी बिहार के रहने वाले थे। बिहारी क्लब में वह अक्सर आया–जाया करते थे। विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय के प्रिंसिपल पंडित उमापतिदत्त शर्मा भी बिहारी थे। उनमें भी उसी क्लब में मुलाकात हो गयी। इन लोगों के जरिये दूसरे लोगों से भी परिचय हो गया। कलकत्ते में हिन्दी साहित्य परिषद की स्थापना हुई। उसमें मैं काफी दिलचस्पी लेने लगा। उसके जन्म का साल तो याद नहीं है, पर इतना याद है कि उसके अधिवेशनों में मैंने भी कभी-कभी लेख पढ़े थे, जिनको विद्वानों ने पसंद किया था। हममें से कुछ के दिल में ख्याल उठा कि अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी होना चाहिए; और इस विषय के लेख लिखे गये। हिन्दी साहित्य सेवियों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और काशी में पहला अधिवेशन हुआ। मैं भी उसमें उपस्थित था और पूज्य मालवीयजी सभापति हुए थे। इस प्रकार सम्मेलन के साथ मेरा संबंध उसके आरम्भ से ही हुआ।

जब तीसरा सम्मेलन कलकत्ते में होने वाला था तो मैं स्वागतकारिणी समिति का प्रधानमंत्री बनाया गया। अभी एक साल भी पूरा नहीं हुआ था कि मैंने वकालत शुरू की थी। बहुत लोगों से जान-पहचान भी नहीं थी। तथापि लोगों की ऐसी इच्छा हुई और मुझे यह भार उठाना पड़ा। इस सिलसिले में सम्मेलन के प्रमुख नेताओं से परिचय हो गया। कलकत्ते के बड़ाबाजार के लोगों से तो विशेष परिचय हुआ। 1912 के दिसम्बर में, कलकत्ते में सम्मेलन बड़ी सफलता से, पं. बदरीनारायण चौधुरी 'प्रेमघन' की अध्यक्षता में, हो गया। यह पहला अवसर था कि मुझे किसी अखिल भारतीय संस्था के अधिवेशन के प्रबंध का भार उठाना पड़ा। कड़ा परिश्रम करना पड़ा, पर ईश्वर की दया से सब काम ठीक हो गया।

ठीक उसी समय पटने में कांग्रेस होने वाली थी। बिहारी होने की हैसियत से मुझे उसमें शरीक होना जरूरी मालूम पड़ता था और मैं चाहता भी था। सम्मेलन की तिथियां भी ऐसी रखी गयी थीं कि कोई चाहे तो सम्मेलन का काम समाप्त करके पटने की कांग्रेस में शरीक हो सकता था। पर स्वागत समिति के प्रधानमंत्री होने के कारण मुझ पर इतनी जवाबदेही थी कि मैं कलकत्ते से न हट सका। इसलिए पटने की कांग्रेस में शरीक न हो सका।

पटने में पहुंचकर हम चंद मित्रों ने गरीब विद्यार्थियों के सहायतार्थ एक कोष जमा किया, जिससे कुछ छात्रों को मदद दी जाती थी। यह काम छात्र सम्मेलन ने ही आरम्भ किया था। पर पीछे मैंने इसको अपने हाथ में ले लिया था।

1914 में बंगाल और बिहार में बड़ी भयंकर बाढ़ आयी। पहली बाढ़ बर्दवान जिले में थी। कलकत्ते में बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए रुपये जमा किये गये। बहुत-से स्वयंसेवक वहां गये। इसकी खबरें अखबारों में खूब छपीं। थोड़े ही दिनों के बाद वैसी ही

भयंकर बाढ़ 'पुनपुन' नदी में पटने में भी आ गयी। हमने सोचा कि बाढ़-पीड़ितों की कुछ मदद करनी चाहिए। छात्र सम्मेलन का दफ्तर तो पटने में था ही। वहां से उत्साही छात्रों की मदद लेकर एक स्वयंसेवक दल कायम किया। बाढ़-पीड़ित जगहों में अन्न लेकर लोगों के सहायतार्थ पहुंचा। दशा भयंकर थी। कई गांव ऐसे थे जिनके भीतर घरों में भी पानी पहुंच गया था। जब हम लोग पहुंचे तो उनके घरों में जो अन्न था वह सड़ रहा था। इसलिए हम लोग तैयार भोजन—जैसे सत्तू, चिउरा, भूने हुए चने—अधिक बांटते थे। नाव पर चढ़कर दूर तक निकल जाते थे। संध्या तक गांव-गांव में घूमकर, नजदीक पड़ने वाले रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म पर जाकर सो रहते। मुझे याद है कि कई रात हमने प्लेटफार्म पर सोकर बितायी होंगी। बिहार में सेवा समिति का पहला संगठन शायद यही था। यह कोई बाजाब्ता संगठन नहीं था। वक्ती तौर पर लोकसेवा के लिए यह संगठन कर लिया गया था। पर सेवा समिति का जन्म तो इसी प्रकार से हो ही गया। जब हम लोग पटने आये तो सोनपुर के मेले में यात्रियों की मदद करने के लिए उसका बाजाब्ता संगठन कर दिया गया। सेवा समिति में मेरे भाई बहुत दिलचस्पी लेते थे। हर साल सोनपुर के मेले में वे स्वयं बहुत सेवा करते थे। मरने के समय तक कई बरसों से उसके अध्यक्ष वही थे।

बाढ़-पीड़ितों की सेवा करते समय स्टेशन के प्लेटफार्म पर की एक स्मृति बहुत ही सुखद है। मैं दिन-भर काम करके सो गया था। कुछ देर के बाद नींद टूटी। अनुभव हुआ कि कोई आदमी बड़े प्रेम से मेरे पैर और बदन दबा रहा है और मेरी थकावट दूर करने का प्रयत्न कर रहा है। देखा तो मेरे मित्र शम्भूशरण थे। वह भी दिन-भर मेरे साथ ही काम करके थके थे। पर उन्होंने अपनी थकावट की परवाह न करके मुझे आराम पहुंचाया।

21

गांधीजी से भेंट

1916 में लखनऊ की कांग्रेस बड़े समारोह के साथ हुई थी। 1907 से जब कांग्रेस में दो दल हो गये, और गरम पार्टी कांग्रेस से अलग हो गयी, तब से कांग्रेस की लोकप्रियता कम हो गयी थी। उसके सालाना जलसों में भी कम लोग आया करते थे। यहां तक कि 1912 में जब पटने में कांग्रेस हुई, प्रतिनिधियों की संख्या बहुत कम थी। देश-हितैषियों की कोशिश थी कि दोनों दल मिला दिये जायें जिससे कांग्रेस में फिर से जान आ जाये। यह प्रयत्न चलता रहा, पर यह सफल हुआ 1916 की कांग्रेस में ही। इसमें सभी विचार के लोग उपस्थित थे। एक तरफ लोकमान्य तिलक दल-बल के साथ आये थे। दूसरी ओर, नरम दल के प्रायः सभी नेता उपस्थित थे। मिसेज बेसेंट भी आयी थीं। उसी साल मुस्लिम लीग के साथ समझौता भी हुआ। मुसलमान भी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। महात्मा गांधी भी इस कांग्रेस में आये थे। वह 1915 में ही दक्खिन अफ्रिका से लौटकर सारे देश में भ्रमण करते रहे। पर इस कांग्रेस में वह किसी प्रस्ताव पर बोले नहीं।

बिहार के भी प्रतिनिधि अच्छी संख्या में लखनऊ पहुंचे थे। उनमें कुछ लोग चम्पारन के थे, जिनमें एक देहाती किसान राजकुमार शुक्ल थे। वह थोड़ी हिन्दी जानते थे, पर और कोई भाषा नहीं। वह उन लोगों में थे जिन्होंने खुद नीलवरों (निलहे गोरों) के हाथ से दुख पाया था। चम्पारन जिले की सतायी हुई प्रजा की ओर से वह कांग्रेस में पहुंचे थे। उनसे मेरी मुलाकात कुछ पहले से ही थी, क्योंकि जब कभी कोई मुकदमा हाइकोर्ट तक पहुंच पाता था तो मैं फीस का ख्याल न करके उन लोगों के वकील की हैसियत से काम कर दिया करता था। पर इस काम में बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद उन लोगों की बहुत मदद किया करते थे। इसलिए उन लोगों का विशेष परिचय उन्हीं से था। चम्पारन जिले की परिस्थिति से वह बहुत ज्यादा परिचित थे।

उस समय बिहार के प्रतिनिधि दो विषयों में विशेष दिलचस्पी रखते और कांग्रेस में उन पर प्रस्ताव पास कराना चाहते थे—एक पटना युनिवर्सिटी बिल और दूसरा चम्पारन का नीलवर प्रश्न। राजकुमार शुक्ल, बाबू ब्रजकिशोर प्रभृति बहुत चाहते थे कि कांग्रेस इस

सवाल पर भी प्रस्ताव करे। बिहार प्रांतीय कांफ्रेंस के सभापति की हैसियत से बाबू ब्रजकिशोर इस प्रश्न पर कड़ी आलोचना कर चुके थे। उस कांफ्रेंस में एक प्रस्ताव भी पास हो चुका था।कौंसिल के वह मेम्बर थे। उन्होंने वहां भी इस समस्या पर प्रश्न पूछे थे और एक प्रस्ताव भी रखा था। कौंसिल में और बाहर भी, एक प्रकार से इस विषय को अपना लक्ष्य बनाकर, विधान के अंदर इस पर जो काम हो सकता था, वह कर रहे थे। जहां तक हो सकता था, मुकदमों में भी वहां की रियाया की मदद किया करते थे।

यह बात बिहार के लोगों को मालूम थी कि कर्मवीर गांधी दक्खिन अफ्रिका में बहुत कुछ करके हिन्दुस्तान आये हैं, इसलिए उनसे इस काम में मदद लेनी चाहिए। राजकुमार शुक्ल आदि उनसे मिले और चम्पारन का कुछ हाल कह सुनाया। उन्होंने कुछ दिलचस्पी जाहिर की। इधर से कहा गया कि कांग्रेस में वह एक प्रस्ताव उपस्थित करें। उन्होंने इंकार कर दिया; कहा कि जब तक वहां की स्थिति वह स्वयं देखकर और जांचकर अपने को संतुष्ट नहीं कर लेंगे, प्रस्ताव उपस्थित नहीं कर सकते। जोर देने पर उन्होंने कहा कि वहां जाकर स्थिति देखने के लिए वह तैयार हैं और कुछ दिनों के बाद वहां जायेंगे भी। कांग्रेस में प्रस्ताव बाबू ब्रजकिशोर ने उपस्थित किया। राजकुमार शुक्ल भी उस पर कुछ बोले। यह शायद पहला ही मौका था जब एक निरा देहाती किसान कांग्रेस के मंच से किसी प्रस्ताव पर बोला हो। कांग्रेस ने प्रस्ताव स्वीकृत किया।

जब बिहार के प्रतिनिधि, बाबू ब्रजकिशोर के साथ, गांधीजी के पास गये थे तब मैं उनके साथ नहीं था। यह किस्सा मैंने पीछे सुना। मैं गांधीजी के बारे में बहुत जानकारी नहीं रखता था। दक्खिन अफ्रिका में उन्होंने जो कुछ किया था उसकी जानकारी भी बहुत थोड़ी रखता था। केवल इतना ही जानता था कि उन्होंने दक्खिन अफ्रिका में कोई बड़ा और अच्छा काम किया है। यह नहीं जानता था कि वह देश के नामी नेताओं की तरह एक बड़े नेता हैं। राजकुमार शुक्ल ने न मालूम क्यों उन पर इतना विश्वास किया और उनके पास पहुंचकर उनको चम्पारन आने के लिए राजी किया।

लखनऊ कांग्रेस के कुछ दिनों बाद गांधीजी कलकत्ते आये। उन्होंने राजकुमार शुक्ल को पत्र लिखा कि कलकत्ते में मुझसे मिलो—वहां से हम दोनों साथ ही चम्पारन चलेंगे। देहात में पत्र देर करके पहुंचा। राजकुमार शुक्ल के पास पत्र पहुंचने के पहले ही गांधीजी कलकत्ते से वापस चले गये थे। राजकुमार शुक्ल ने फिर पत्र लिखा। गांधीजी ने उत्तर दिया कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक कलकत्ते में होगी, वह उस बैठक में उपस्थित होंगे, राजकुमार शुक्ल को वहीं उनसे भेंट करना चाहिए। मैं भी उस बैठक में उपस्थित था। इत्तफाक से मैं गांधीजी की बगल में ही एक कुर्सी पर बैठा था। पर मुझे यह मालूम नहीं था कि राजकुमार शुक्ल से उनका पत्र-व्यवहार हुआ है और वह वहां से बिहार आने वाले हैं। अपनी आदत से मजबूर मैं किसी से जबरदस्ती या आगे बढ़कर जान-पहचान करना नहीं

जानता। मैंने गांधीजी से न कुछ पूछा, और न एक शब्द भी मैं बोला। उस कमिटी में लोगों ने, और विशेष करके प्रेसिडेंट श्री अम्बिकाचरण मजुमदार ने, बहुत जोर दिया कि गांधीजी कांग्रेस के मंत्री हो जायें। पर गांधीजी ने इंकार कर दिया। मैं बैठे-बैठे सब देखता रहा। कभी-कभी मैं यह सोचता था कि जब लोगों का इतना आग्रह है तो उनका इंकार करना मुनासिब नहीं है। पर मैं कुछ बोल नहीं सकता था।

कमिटी का काम खतम होने पर गांधीजी बाहर निकले। राजकुमार शुक्ल उनका इंतजार कर रहे थे। उसी रात को वह राजकुमार शुक्ल के साथ सीधे पटने चले आये। मैं कुछ देर करके बाहर आया। इसलिए उन लोगों से मुलाकात नहीं हुई। गांधीजी भी नहीं जानते थे कि मैं बिहार का ही रहने वाला हूं और राजकुमार शुक्ल पटने में मेरे ही घर पर उनको ले जाने वाले हैं। इसलिए वह भी मुझसे कुछ नहीं बोले।

यह बैठक ईस्टर की छुट्टियों में हुई थी। मैं कलकत्ते से जगन्नाथपुरी चला गया। गांधीजी पटने आ गये। राजकुमार शुक्ल उनको मेरे घर पर ले गये। पर वहां एक नौकर के सिवा और कोई था ही नहीं। नौकर ने समझा कि ये कोई देहाती मवक्किल आये हैं। इसलिए उसने उनको किसी बाहर के कमरे में ठहरा दिया और किसी किस्म का आदर-सत्कार करने के बदले कुछ तिरस्कार का ही भाव दिखलाया। गांधीजी कुछ देर ठहरे। इतने में मजहरुल हक साहब को खबर हुई। वह खुद आकर उनको अपने घर पर ले गये। संध्या को गांधीजी मुजफ्फरपुर पहुंचे। वहां आचार्य कृपालानी के पास ठहरे। वहां कुछ लोगों से भेंट-मुलाकात करके उनका इरादा था कि चम्पारन जायें। बाबू ब्रजकिशोर, जो दरभंगा में वकालत किया करते थे, तार देकर बुला लिये गये थे।

गांधीजी का इरादा था कि वह चम्पारन में जाकर वहां के रैयतों से मिलें और उनका दुख उन्हीं के मुंह से सुनें। पर वहां की ग्रामीण बोली वह समझ नहीं सकते थे। इसलिए वह चाहते थे कि कोई दुभाषिया का काम करने के लिए उनके साथ जाये। उनका विचार था कि दो-चार दिनों में सब बातें मालूम हो जायेंगी। राजकुमार शुक्ल ने भी ऐसा ही कहा था। इसलिए वह दो-चार दिनों के लिए ही तैयार होकर आये थे। बाबू ब्रजकिशोर को ठीक उसी वक्त कलकत्ते में कुछ काम था। वह खुद गांधीजी के साथ न जा सके। पर उन्होंने दो मित्रों को गांधीजी के साथ कर दिया, जो वकील थे। उन्होंने यह भी सोच लिया कि कलकत्ते से लौटने पर वह खुद चम्पारन जायेंगे और जरूरत होगी तो मुझे भी साथ ले जायेंगे।

चम्पारन जिले का सदर शहर मोतीहारी है। गांधीजी वहां पहुंचे। पहुंचने के बाद उन्होंने देहात में जाने का इरादा कर लिया। एक गांव से एक प्रतिष्ठित रैयत आये, जिनका घर दो-चार ही दिन पहले नीलवर की ओर से लूट लिया गया था। उस लूट-खसोट के निशान अभी तक मौजूद थे। उन्होंने आकर सारा किस्सा कहा। गांधीजी वहीं जाना चाहते थे। रास्ते में ही कलक्टर का हुक्म पहुंचा कि आप जिला छोड़कर चले जाइये। उन्होंने जिला

छोड़ने से इंकार कर दिया। वह उदूल-हुक्मी के मुकदमे का इंतजार करने लगे। उसी दिन यह भी मालूम हो गया कि मुकदमा चलेगा। मैं उसी दिन पुरी से पटना लौटा था। कचहरी में मेरे पास ये सारी बातें उन्होंने तार द्वारा लिख भेजीं।

यह पहला ही अवसर था जब गांधीजी से मेरा किसी प्रकार का सम्पर्क हुआ। मैंने कलकत्ते तार देकर बाबू ब्रजकिशोर को बुला लिया। दूसरे दिन सवेरे की गाड़ी से मिस्टर मजहरुल हक और मिस्टर पोलक—जो उस समय हिन्दुस्तान में ही थे—उसी रात को, गांधीजी का तार पाकर, पटने पहुंच गये थे। बाबू ब्रजकिशोर, अनुग्रहनारायण और शम्भूशरण के साथ मैं मोतीहारी के लिए रवाना हो गया। हम लोग दिन में तीन बजे के करीब, सिपहर को, वहां पहुंचे। उस समय तक मामला अदालत में पेश हो चुका था, बल्कि सुनवाई के बाद हुक्म के लिए तीन-चार दिनों के वास्ते मुलतवी कर दिया गया था।

बाबू गोरख प्रसाद के मकान पर गांधीजी ठहरे थे। हम लोग जब वहां पहुंचे तो गांधीजी एक कुर्ता पहने हुए बैठे थे। हम लोगों से उनका परिचय पहले से नहीं था। जब परिचय कराया गया तो मुझसे हंसते हुए उन्होंने कहा—"आप आ गये? आपके घर पर तो मैं गया था।" मैंने कुछ किस्सा तो सुन लिया था, इसलिए कुछ शर्मिंदा भी हुआ। उन्होंने, जो कुछ कचहरी में हुआ था, सब कह सुनाया।

'चम्पारन में महात्मा गांधी' नामक पुस्तक में, जो उस आन्दोलन के सफलतापूर्वक समाप्त होने के थोड़े ही दिनों बाद लिखी और प्रकाशित की गयी थी, मैंने चम्पारन का सारा किस्सा विस्तारपूर्वक दे दिया है। यहां केवल अपने संबंध का ही जिक्र करना चाहता हूं।

गांधीजी को पहले-पहल देखकर मेरे ऊपर कोई खास असर नहीं पड़ा। मैं चम्पारन का हाल थोड़ा-बहुत जानता था। सोचा था, जो कुछ काम होगा वह कर दिया जायेगा। स्वप्न में भी यह मन में नहीं आया था कि वहां पहुंचते ही जेल जाने का जटिल प्रश्न हमारे सामने आयेगा।

गांधीजी ने सब बातें कहकर हमसे कहा कि अपने साथी बाबू धरनीधर और बाबू रामनौमी से और सब बातें सुन लीजिये। इतना कह वह मि. पोलक से बातें करने लगे। हम लोगों ने उन दोनों भाइयों से विस्तारपूर्वक सारा हाल सुना। मालूम हुआ कि गांधीजी प्रायः रात-भर जागकर वायसराय तथा नेताओं के पास भेजने के लिए पत्र लिखते रहे हैं और कचहरी के लिए अपना बयान भी उन्होंने रात में ही तैयार कर लिया था। उन दोनों से, जो दुभाषिया का काम करने के लिए ही आये थे, गांधीजी ने पूछा था कि मेरे कैद हो जाने के बाद आप लोग क्या करेंगे? वे लोग प्रश्न की गूढ़ता को शायद पूरा समझ न सके थे। बाबू धरनीधर ने मजाक में कह दिया था कि आपके (गांधीजी के) कैद हो जाने के बाद दुभाषिया का काम नहीं रह जायेगा — हम लोग अपने-अपने घर चले जायेंगे। यह सुनकर गांधीजी ने प्रश्न किया—और इस काम को ऐसे ही छोड़ देंगे? इस पर उन लोगों को कुछ सोचना

पड़ा। बाबू धरनीधर ने, जो बड़े थे, उत्तर दिया कि वह जांच का काम जारी रखेंगे, और जब उन पर भी सरकार की ओर से नोटिस हो जायेगी, तो वह चूंकि जेल जाने के लिए तैयार नहीं हैं, खुद तो चले जायेंगे और दूसरे वकील को भेजेंगे, जो जांच का काम करेंगे, और अगर उन पर भी नोटिस हुई, तो वह भी चले जायेंगे और उनके पीछे तीसरी टोली आयेगी—इस प्रकार काम जारी रखा जायेगा।

यह सुनकर गांधीजी को कुछ संतोष हुआ, पर पूरा नहीं। उन लोगों को भी संतोष न हुआ। वे लोग रात को सोचते रहे कि यह आदमी न मालूम कहां से आकर यहां के रैयतों के कष्ट दूर करने के लिए जेल जा रहा है और हम लोग—जो यहां के रहने वाले होकर रैयतों की मदद का दम भरा करते हैं — इस तरह घर चले जायें, यह अच्छा नहीं मालूम होता।

पर जेल की बात अभी हम में से किसी ने कभी सोची ही न थी। जेल तो एक भयंकर जगह समझी जाती थी, जहां से गिरफ्तारी के बाद भी बचने के लिए लोग हजारों खर्च करके जमानत पर छुट्टी लिया करते थे। अगर कोई मजबूरी से जेल गया भी तो वहां रुपये खर्च करके आराम पाने का प्रबंध करता था। और, यहां यह आदमी, जो दक्खिन अफ्रिका में इतना काम कर आया है, इन अनजान किसानों की खातिर सब कष्ट सहने के लिए तैयार है। ऐसी दशा में भी हम घर चले जायें, यह कैसे हो सकता है? इधर बाल-बच्चों की भी फिक्र थी!

रात-भर सोच-विचार करने के बाद, दूसरे दिन सबेरे, जब गांधीजी के साथ ये लोग कचहरी जा रहे थे, इनकी भावनाएं उमड़ पड़ीं। इन्होंने साफ-साफ कह दिया, आपके जेल जाने के बाद अगर जरूरत पड़ी तो हम लोग भी जेल जायेंगे।

यह सुनते ही गांधीजी का चेहरा खिल उठा। वह बहुत ही खुश होकर बोल उठे—अब मामला फतह हो जायेगा।

वहां पहुंचते ही ये सारी बातें हम लोगों ने उन दोनों भाइयों से सुनीं। अब तो हमारे सामने भी जेल जाने का प्रश्न आ गया। हम लोगों ने तय कर लिया कि जरूरत पड़ने पर हम भी जेल जायेंगे। यह निश्चय गांधीजी को हमने सुना दिया। उन्होंने कागज-कलम लेकर सबके नाम लिख लिये। हम लोगों को कई टोलियों में उन्होंने बांट दिया। यह भी तय कर दिया कि ये टोलियां किस क्रम से जेल जायेंगी। पहली टोली के सरदार मजहरुल हक साहब थे, दूसरी के बाबू ब्रजकिशोर। एक टोली का सरदार मैं भी बनाया गया। ये सारी बातें, वहां पहुंचने के तीन-चार घंटों के अंदर ही, तय हो गयीं।

मुकदमे में, तीन या चार दिनों के बाद हुकुम सुनाया जाने को था। उस दिन गांधीजी जेल जाने वाले थे। मजहरुल हक साहब के हाथ में कोई मुकदमा गोरखपुर में था। वह चले गये वहां, ताकि मामला खतम करके उस दिन के पहले ही वापस आकर नेतृत्व करेंगे।

बाबू ब्रजकिशोर भी अपने घर का प्रबंध करने के लिए दरभंगा चले गये। हम लोग

मोतीहारी में ही ठहरकर किसानों के बयान सुनने और लिखने लगे। विचार था कि जब ये दोनों सज्जन वापस आ जायेंगे तब हम लोग भी एक-एक करके घर जायेंगे और घर के लोगों से मिलजुलकर जेल-यात्रा की तैयारी करके लौट आयेंगे।

गांधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि इससे वह संतुष्ट हुए थे, और उसी दिन से बिहार के प्रति उनका बहुत प्रेम हो गया और हम लोग उनके विश्वासपात्र बन गये।

चम्पारन की जांच शुरू हो गयी। हजारों की तायदाद में किसानों ने बयान लिखवाये। शायद 20-25 हजार बयान हम लोगों ने लिखे होंगे। तारीख के पहले ही मजिस्ट्रेट ने लिख भेजा कि सरकार के हुक्म से गांधीजी पर से मुकदमा उठा लिया गया और उनको जिले में जांच करने की इजाजत दे दी गयी। जांच से पता चला कि जो कुछ जुल्म हमने सुना था, वहां की परिस्थिति उससे कहीं अधिक बुरी थी। अगले अध्याय में इसका हाल संक्षेप में बताऊंगा। यहां पर इतना ही कह देना काफी है कि पहली मुलाकात में ही हम लोग अपनी इच्छा से गांधीजी के फांस में फंस गये। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, उनके साथ केवल प्रेम ही नहीं बढ़ा, उनकी कार्यपद्धति पर विश्वास भी बढ़ता गया। चम्पारन का कांड समाप्त होते-होते हम सब-के-सब उनके अनन्य भक्त और उनकी कार्यप्रणाली के पक्के हामी बन चुके थे।

22

चम्पारन

चम्पारन जिले में अंगरेज प्राय: एक सौ बरसों से नील की खेती करते और कराते थे। प्राय: सारे जिले-भर में जहां-जहां नील हो सकती थी, उन्होंने अपने नील बनाने के कारखाने खोल लिये थे और बहुत जमीन भी अपने कब्जे में कर ली थी जिसमें वे खुद अपने हल-बैल से नील की खेती कराते थे। जिले का बहुत बड़ा हिस्सा बेतिया राज की जमींदारी में है। उन्होंने बहुत-से गांवों की जमींदारी, मालगुजारी वसूल करने का ठेका राज से ले लिया था और इस जरिया से उन गांवों पर उनका कब्जा हो गया था। जिन गांवों पर उनका कब्जा हो गया उनमें रहने वाले रैयतों को भी वे मजबूर करते कि वे लोग अपनी जमीन में भी इन नीलवरों के लिए नील बोया करें। आहिस्ता-आहिस्ता उन्होंने इसको एक कानूनी जामा भी पहना दिया, और यह दावा भी करने लगे कि उनको इस बात का हक है कि रैयत को वे मजबूर कर सकते हैं कि अपने खेत के फी बीघे में पांच कट्ठे या तीन कट्ठे जमीन में वह जरूर नील बोवे। इस प्रथा को वे पंच-कठिया या तीन-कठिया कहते थे। किसी रैयत की हिम्मत नहीं पड़ती थी कि वह नील बोने से इंकार करे। अगर कोई हिम्मत करता तो उस पर हजार तरह के जुल्म करके उसको मजबूर कर दिया जाता। घर और खेत लूट लिये जाते। खेत मवेशियों से चरा दिया जाता। झूठे मुकदमे लगा दिये जाते। जुर्माना वसूल किया जाता। पीटा भी जाता। इस डर के मारे प्राय: सभी रैयत तीन-कठिया मानकर बीघा पीछे तीन कट्ठा नील बो दिया करते। उनके खेतों में जो सबसे बेहतर खेत होते, नीलवर उन्हीं को चुनकर नील बोने के लिए कहते। नील बोने का काम काश्तकारी के और सब कामों से पहले ही पूरा करना होता। जब नील तैयार हो जाती तब उसे काटकर कोठी पर पहुंचा देना होता। इसके लिए रैयत को वे कुछ बीघा पीछे दिया करते थे जो कभी खर्चे के लिए भी पूरा नहीं होता। गवर्नमेंट के अफसर उन गोरों की ही मदद करते। अगर कोई अफसर हिम्मत करके इंसाफ करना चाहता तो नीलवरों का असर ऊपर के अफसरों पर इतना होता कि उस मातहत अफसर पर आफत आ जाती। जो अफसर सच्चे होते, नीलवरों के जुल्म और तीन-कठिया के खिलाफ गवर्नमेंट के पास रिपोर्ट भेजा करते; पर इससे कुछ होता-जाता नहीं। कभी-कभी घबराकर रैयत बलवा

कर देते, किसी नीलवर को मार देते या आपस में मिलकर कुछ दूसरे प्रकार का तहलका मचा देते। पर तब भी वे नीलवरों का मुकाबला कैसे कर सकते थे ! नतीजा यह होता कि गांव-के-गांव लूट लिये जाते। पुलिस और कचहरी के अमलों की मदद से बेचारे रैयत हर तरह से जेर कर दिये जाते।

गवर्नमेंट पर निलहे गोरों का इतना असर था कि लगान कानून (Tenancy Act) में उन्होंने एक दफा बनवा दिया कि जमींदार की मर्जी के मुताबिक जहां रैयत कोई खास फसल बोने के लिए मजबूर किया जा सकता है वहां अगर वह इस शर्त से अपनी रिहाई चाहे, तो जमींदार को हक है कि इस रिहाई के बदले में जितना चाहे उतना लगान बढ़ा दे सकता है। मामूली तौर से जमींदार को यह हक नहीं था कि मनमाना लगान बढ़ा सके। वह बाजाब्ता रजिस्ट्री पट्टे से रुपये में दो आने से ज्यादा लगान नहीं बढ़ा सकता था और एक बार बढ़ा देने पर एक लम्बी मुद्दत तक लगान में फिर इजाफा नहीं किया जा सकता था। नीलवरों के फायदे के लिए यह हद हटा दी गयी थी।

बेतिया राज को रुपये की जरूरत पड़ी। उसने कुछ कर्ज लिया। यह कर्ज नीलवरों की मदद से इंग्लैंड से मिला। सूद और असल की वसूली के लिए नीलवरों को गांवों पर कब्जा दिया गया और बहुतेरे गांवों में उन्हें मुकर्ररी हक मिल गया। मुकर्ररी हक का मतलब यह कि वे एक तरह से गांवों के जमींदार हो गये। केवल एक मुकर्ररी (निश्चित) रकम उनको हर साल मालगुजारी के रूप में राज को देनी पड़ती। उस गांव से वे जो चाहें और जितना चाहें, पैदा कर सकते थे; राज का उस पर कोई हक नहीं था। उसे केवल वह मुकर्रर रकम ही मिल सकती थी। ऐसे मुकर्ररी गांवों में लगान बढ़ाया जाये, और एक के बदले दो की आमदनी हो जाये, तो मुकर्ररीदार की आमदनी बढ़ेगी—राज को जो पहले मिलता था, वही मिलेगा। जिन गांवों में उन निलहों का मुकर्ररी हक नहीं था, उन गांवों का उनको केवल नियत मीयाद के लिए ठीका मिला था। वहां भी नियत रकम राज को देनी पड़ती; पर मीयाद पूरी हो जाने पर राज को अख्तियार था कि फिर ठीका दे या न दे और अगर दे तो नयी शर्तों पर दे, और ठीकेदार जो मालगुजारी राज को देता था उसे राज चाहे तो बढ़ा दे। यद्यपि ऐसा शायद ही कभी होता था कि कोई ठीके का गांव नीलवर के हाथ से मीयाद पुरने पर निकाला जाता हो या उसकी मालगुजारी बढ़ायी जाती हो, तथापि राज को अधिकार तो ऐसा करने का था ही।

बेतिया के महाराजा मर गये। महारानी को पागल करार देकर सारा राज कोर्ट आफ वार्ड्स में आ गया। कोर्ट का एक मैनेजर उन्हीं नीलवरों में से मुकर्रर किया गया। इस प्रकार प्राय: बीस बरसों तक नीलवरों के कब्जे में ही राज रहा। जिस समय गांधीजी चम्पारन पहुंचे थे, उस समय एक सिविलियन मैनेजर था। उसके बाद कोई नीलवर फिर मैनेजर नहीं हुआ। इस तरह अपने खेत में और रैयतों के खेतों में तीन-कठिया के जरिये नील आबाद कराकर पौधे से नील तैयार करायी जाती थी। यह नील बोने की प्रथा बिहार के दूसरे जिलों में भी

फैली थी। पर इसका जितना जोर चम्पारन में था उतना और कहीं नहीं। अगर नील की खेती वे खुद करते और रैयतों से जबरदस्ती इस तरह नील न बुवाते तो उनको इसमें कोई लाभ न होता। इसलिए यह जबरदस्ती की प्रथा कायम रखना जरूरी हो गया और वह चलती रही।

इस बीच में जर्मनी में दूसरे प्रकार से रंग बनाने के तरीके का आविष्कार किया गया, जो नील के रंग से सस्ता पड़ता था। नील की कीमत घट गयी। जुल्म और जबरदस्ती से नील पैदा कराये जाने के बावजूद नील में नफा नहीं रह गया। नीलवरों ने अपने इस नुकसान को गरीब रैयतों के सिर पर डालकर अपना नफा कायम रखना चाहा। इसलिए उन्होंने कानून के उस दफे की शरण ली जिसमें रैयतों को नील की खेती से रिहाई देकर उनको लगान में मनमाना इजाफा करने का हक दिया गया था। रैयतों से उन्होंने कहा कि वे नील बोने से उन्हें रिहाई दे देंगे अगर रैयत इजाफा के पट्टे तामील कर दें। रैयत यह जानते थे कि नील से नीलवरों को अब नफा न रहा, इसलिए अब वे इस कारबार को खुद छोड़ देंगे; इसलिए उनको लगान में बढ़ती कबूल करके यह रिहाई लेने की जरूरत नहीं है। जब तक नील में मुनाफा था तब तक तो नीलवरों ने उनकी हजार कोशिश पर भी यह रिहाई दी नहीं; अब अपने मतलब से जबरदस्ती रिहाई देना उन्होंने शुरू कर दिया। हजारों-हजार की तादाद में उन्होंने अपने मुकर्ररी गांवों के रैयतों से, जहां लगान की बढ़ती का नफा उनको मिलता था और बेतिया राज का उस पर हक नहीं पहुंचता था, इजाफा के पट्टे तामील करा लिये। ये पट्टे मार-पीट, झूठ-फरेब और जबरदस्ती से तामील कराये गये थे। इस प्रकार उन्होंने उन गांवों में लाखों की आमदनी बढ़ा ली। जहां उनका हक केवल ठीकेदार का था और मीयाद पूरी होने पर इजाफे का नफा बेतिया राज को मिलता था, वहां पर लगान में बढ़ती न कराकर उन्होंने नगद रुपये वसूल किये। जिस रैयत के पास रुपये नहीं थे उससे हैंडनोट लिखवाया और दूसरे तरीकों से भी रुपये लिये। इस प्रकार प्राय: बीस-पच्चीस लाख नगद वसूल किया।

चम्पारन का कुछ हिस्सा ऐसा भी है जहां नील की खेती हो ही नहीं सकती। वहां के गांवों में नीलवर नील की खेती न कराकर किसी दूसरे तरीके से ही रुपये लिया करते थे। उन गांवो में पचासों प्रकार के अबवाब (टैक्स), जो कानूनन मना थे, वसूल किया करते थे। जब जिले के नील वाले हिस्से में इजाफा या नगद सलामी वसूल होने लगी तब गैर-नील हिस्से में भी उन्होंने कुछ वसूल करना चाहा और वहां भी एक-न-एक बहाना लगाकर या तो लगान बढ़ा दिया या नगद वसूल किया। एक तरीका लगान बढ़ाने का यह था कि किसी रैयत को पट्टा दे दिया जाता, जिसमें ऐसी जमीन उसके साथ बंदोबस्त की जाती थी जो वास्तव में थी ही नहीं—यों ही फरजी नाम-निहादी चौहद्दी जमीन की दे दी जाती और उसके लिए वे जितना इजाफा करना चाहते थे उतना लगान रख दिया जाता था। कानून के अनुसार लगान बढ़ाने की हद रुपये में दो आने की मुकर्ररी थी, पर नयी जमीन की मालगुजारी जमींदार जो चाहे, ले सकता था। इसलिए इजाफा की हदबंदी से नाम-निहादी नयी जमीन बंदोबस्त करके

वे अपने को बचाना चाहते थे और उन्हें उम्मीद थी कि कुछ दिनों में पुरानी जमीन और नाम-निहादी जमीन दोनों के लगान इकट्ठा कर दिये जायेंगे। इस तरह, नील चाहे कोई बोता हो या न बोता हो, गांव मुकर्ररी हो या केवल मीयादी ठीके में, सब गांवों से उन्होंने या तो लगान बढ़ाकर अपनी आमदनी बढ़ा ली या नगद रुपये वसूल कर लिये। गवर्नमेंट ने उनकी पूरी मदद की। जब इजाफा के पट्टे लिखवाये जा रहे थे, गवर्नमेंट ने उन पट्टों की रजिस्टरी करने के लिए खास रजिस्ट्रार मुकर्रर कर दिये ताकि रजिस्ट्री में सहूलियत हो जाये।

यह सब अभी पूरा हुआ ही था कि 1914-18 का जर्मन-युद्ध छिड़ गया। विदेश से रंग आना बंद हो गया। नील की खेती में फिर मुनाफे की उमीद मालूम हुई। नीलवरों ने, अपनी दी हुई रिहाई की परवाह न करके, फिर जबरदस्ती तीन-कठिया नील बोने पर रैयतों को मजबूर किया। बहुत जगहों पर इसमें वे कामयाब भी होने लगे। इसी समय गवर्नमेंट ने उस जिले का दोबारा सर्वे (पैमाइश) कराना शुरू किया। यह काम प्रायः पूरा होने पर था, जब गांधीजी चम्पारन में पहुंचे। सर्वे में रैयतों ने शरहबेशी के पट्टों के बारे में बयान किया कि जबरदस्ती उनसे पट्टे लिखाये गये हैं। सर्वे सेटेलमेंट अफसर ने फैसला दिया कि पट्टे जबरदस्ती नहीं लिखाये गये हैं, इसलिए सब इजाफे कानूनन जायज हैं। रैयतों में बड़ी खलबली थी। उधर जर्मन लड़ाई चल रही थी। रैयतों की सुनवाई यों भी नहीं हुआ करती; उस समय जब लड़ाई में नीलवर शरीक हो रहे थे, सुनवाई का और भी कम मौका था। रैयत ऊबे हुए थे। उनको कहीं कोई उपाय नहीं नजर आता ता। तब वे गांधीजी के पास पहुंचे थे। इसी मौके पर गांधीजी वहां आ गये।

चम्पारन (क)

गांधीजी से जब राजकुमार शुक्ल ने चम्पारन में रैयतों पर हो रहे जुल्मों का बयान किया तो गांधीजी को विश्वास नहीं हुआ कि यह सब सच है। इसलिए वह जांच करने के लिए चम्पारन आये। उनके चम्पारन पहुंचने के पहले ही लोगों में एक अजीब जागृति पैदा हो गयी थी। वहां के रैयत इस प्रकार दबाये गये थे कि उनकी यह भी हिम्मत नहीं होती थी कि वे कचहरी में जाकर नालिश करें। अगर कोई बहुत हिम्मत करके ऐसा करता भी तो कोठी का सिपाही इजलास पर से उसको पकड़कर खींच लाता और खूब पीटता। जब गांधीजी चम्पारन के रास्ते में मुजफ्फरपुर पहुंचे, बहुतेरे रैयत मुजफ्फरपुर तक आ गये। उन लोगों ने अपना दुखड़ा कह सुनाया। वहां नीलवरों की संस्था (प्लैंटर्स एसोसिएशन) के मंत्री तथा तिरहुत डिवीजन के कमिश्नर ने गांधीजी को चम्पारन जाने से मना किया; कहा कि गवर्नमेंट

खुद रैयतों की शिकायत पर विचार कर रही है—वह सर्वे सेटलमेंट की रिपोर्ट की प्रतीक्षा कर रही है। उन्होंने इस पर भी जोर दिया कि इस लड़ाई के जमाने में आप वहां जाकर हलचल शुरू करेंगे तो अच्छा न होगा—बलवा-फसाद होगा। हमारे अपने देशी लोगों ने भी बताया कि लड़ाई का नाजुक समय है, फसाद पैदा होना किसी तरह अच्छा नहीं है। पर जो कुछ गांधीजी ने सुना उससे उनकी इच्छा और भी प्रबल हो गयी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि चम्पारन जाना ही चाहिए।

गांधीजी के चम्पारन पहुंचते ही रैयतों के दिल से डर न मालूम कहां भाग गया। जो अदालत में भी जाने से डरते थे वे गांधीजी के पास बहुत बड़ी संख्या में आकर अपना दुख बताने लगे। उन लोगों के सीधे-सादे हृदय पर न मालूम कहां से यह अमिट छाप पड़ गयी कि उनका उद्धारक आ गया, अब उनका दुख दूर हो जायेगा।

जिस दिन गांधीजी पर मुकदमा चला और वह अदालत में गये, गांवों से हजारों की तादाद में रैयत वहां आये थे। इतनी भीड़ हो गयी कि अदालत के दरवाजे टूट गये। अदालत में गांधीजी ने बयान दे दिया। मुकदमा खतम हो गया। तीन-चार दिनों के बाद गांधीजी की रिहाई हो गयी। उनको यह इजाजत हो गयी कि वह जांच कर सकते हैं। अब हजारों की तादाद में रैयत आये। सबने अपना-अपना बयान लिखाया। हम लोग बयान लिखने में लग गये। गांधीजी ने हम लोगों को हिदायत की थी कि तुम लोग वकील हो, खूब जांच-बूझकर और जिरह करके बयान लिखना। जो बातें लिखी जायें वे सच्ची हों।

हम लोग सबेरे छः बजे स्नानादि से निवृत्त होकर बयान लिखने लगते। दिन के ग्यारह बजे तक लिखते। फिर भोजन और कुछ आराम के बाद एक या डेढ़ बजे से पांच बजे शाम तक। फिर संध्या का भोजन करते और गांधीजी को तुरंत बतला देना जरूरी समझा जाता तो उनसे वह तुरंत कह दिया जाता। नहीं तो बयान लिख-लिखकर उनको देते जाते और वह पढ़ते जाते। इस प्रकार हम लोग कई दलों में बंटकर बहुत दिनों तक बयान लिखते रहे। प्रायः बाईस या पचीस हजार रैयतों के बयान लिखे गये। इससे सारे जिले में हलचल मच गयी। हम लोग कभी बेतिया में रहते और कभी मोतीहारी में। कुछ दिनों के बाद दो दलों में विभक्त होकर मोतीहारी और बेतिया दोनों जगहों में बयान लिखे जाने लगे। कभी-कभी महात्माजी गांवों में भी जाते या हम लोगों में से किसी को कोई विशेष बात दरियाफ्त करने के लिए गांवों में भेजते। हम सबको गांधीजी का हुक्म था कि कहीं कोई सभा करके व्याख्यान न दें। हम लोगों में से किसी ने उन दिनों चम्पारन में एक भी सभा में व्याख्यान नहीं दिया और न गांधीजी ने स्वयं ऐसा किया।

उन दिनों देश में होमरूल (स्वराज्य) का आन्दोलन खूब चल रहा था। गांधीजी हम लोगों से कहा करते, तुम लोग यह सबसे बड़े होमरूल का काम कर रहे हो। अगर तुम लोग उस आन्दोलन में शरीक न होगे तो कोई हर्ज नहीं है।

हम लोगों की जांच का नतीजा यह हुआ कि चम्पारन के मुकामी अफसर बहुत घबराने लगे। उनमें से कितनों के दिल पर यह असर हुआ कि चम्पारन से अंगरेजी राज उठा जा रहा है—लोग यह समझने लगे हैं कि गांधीजी ही सबसे बड़े अफसर हैं जिसके सामने जिला-कलक्टर और मजिस्ट्रेट के खिलाफ भी शिकायत की जा सकती है—नीलवरों का रोब तो उठ ही गया, हम अफसरों का रोब भी उठा जा रहा है। इसलिए घबराकर उन लोगों ने प्रांतीय सरकार के पास रिपोर्ट भेजी। प्रांतीय सरकार ने गांधीजी को अपने एक मेम्बर से भेंट करने के लिए लिखा। वह पटने में आकर उनसे मिले। उस वक्त तक जितनी शिकायतें आ गयी थीं, सबका एक खुलासा ब्योरा बनाकर उनको दिया। सरकारी मेम्बर ने उसे गवर्नमेंट के पास पेश किया। उस पर विचार होने लगा। इधर हमारा जांच का काम चलता रहा। अब तक बयान बहुत लिखे जा चुके थे। इसलिए बयान लिखना कुछ मुख्तसर कर दिया गया। मगर देहातों में जाकर देखना-सुनना ज्यादा हो गया। गांधीजी से नीलवरों की भी कुछ राय-बात हो गयी थी। वे भी उनको कहीं-कहीं ले जाते, अपनी बातें कहते, या जो कुछ दिखलाना होता, दिखलाते थे।

हम लोगों के लिए गांधीजी का तरीका एक बिलकुल नया तरीका था। उस तरह का काम हमने पहले किया ही न था। हम समझते थे कि कांग्रेस में अथवा किसी सभा में किसी विषय पर व्याख्यान दे देना, अदालत में जाने लायक बात को वहां पेश कर देना, या जो कौंसिल में प्रश्न कर सकता हो उसका किसी बात पर वहां प्रश्न कर देना या प्रस्ताव उपस्थित कर देना ही काफी है। इससे अधिक हो ही क्या सकता है? गांधीजी ने इनमें से एक बात भी न की। उन्होंने रैयतों के बयान लिये। इस तरह उन्होंने पहले सब बातों की ठीक-ठीक जानकारी हासिल कर ली। इस तरह बयान लेने से ही रैयतों का डर छूटता गया। हम लोगों को भी ऐसी-ऐसी बातें मालूम होने लगीं जिनका होना हमने स्वप्न में भी मुमकिन नहीं समझा था। हम लोग भी निडर होते गये। एक-दो विशेष घटनाएं यहां बता देने से ही यह साफ हो जायेगा।

ऊपर कहा गया है कि हम लोग कई दलों में बंटकर बयान लिखा करते थे। पुलिस के आदमी आस-पास में लगे रहते थे। वे रैयतों के नाम इत्यादि नोट कर लिया करते थे। इसी तरह नीलवरों के आदमी भी रैयतों के नाम इत्यादि जानकर अपने मालिक के पास सब बातों की रिपोर्ट पहुंचा देते। काम शुरू करने के दो-तीन दिनों के अंदर ही एक घटना हो गयी। जहां हममें से एक आदमी बयान लिख रहे थे, पुलिस का सब-इंसपेक्टर आकर बैठ गया। तब वह उस जगह से उठकर, रैयतों को साथ लेकर, कुछ दूर दूसरी जगह जाकर, बयान लिखने लगे। पुलिस सब-इंसपेक्टर वहां भी पहुंच गया। उनको कुछ गुस्सा आ गया। उन्होंने डांटकर सब-इंसपेक्टर को कहा—"आपको जो कुछ देखना-सुनना हो, दूर से ही देखें-सुनें, इतना नजदीक न आवें।" सब-इंसपेक्टर ने महात्माजी से इस बात की शिकायत की। कहा—"हम

लोगों को ऊपर का हुक्म है कि जो कुछ हो रहा है उसकी हम खबर रक्खें। जब आपके आदमी नजदीक आने ही नहीं देंगे तब हम कैसे इस हुक्म को बजा लावें?"

गांधीजी ने बयान लिखने वाले सज्जन को बुलाया और पूछा कि क्या बात है? उन्होंने जो कुछ सब-इंसपेक्टर ने कहा था, उसे कबूल किया। तब गांधीजी ने पूछा—आप अकेले थे या आपके साथ और लोग भी थे? उन्होंने कहा कि बहुतेरे रैयत घेरे बैठे थे और एक-एक करके बयान लिखा रहे थे। गांधीजी ने फिर पूछा कि आप कोई गुप्त काम तो नहीं कर रहे थे? उन्होंने कहा कि नहीं। गांधीजी ने फिर पूछा, तब सब-इंसपेक्टर से क्यों छिपाने की कोशिश कर रहे थे? उन्होंने कहा, छिपाने की कोई बात नहीं थी; मगर यह आकर पास में ही बैठ जाते थे। मैंने इनको कुछ दूर रहकर देखने-सुनने को कहा। गांधीजी ने कहा—"इतने रैयत जब आपको घेरे हुए थे और उनसे आपके काम में कोई बाधा नहीं पड़ती थी, तब एक आदमी और भी अगर वहां आ बैठा तो आपने क्यों बाधा महसूस की? आपने इनको भी उन रैयतों जैसा ही क्यों नहीं समझा?"

यह सुनते ही सब-इंसपेक्टर पर मानो घड़ों पानी पड़ गया। पर वह कुछ कह भी नहीं सकता था। वह तो अपना रोब बढ़ाने के लिए आया था। यहां गांधीजी ने कह दिया कि उसका दर्जा किसी रैयत से ज्यादा नहीं है और उसके साथ भी रैयतों जैसा ही व्यवहार होना चाहिए। इसके बाद हममें से कोई किसी पुलिस-अफसर के पास आने से न घबराता और न कोई पुलिस-अफसर अधिक नजदीक आने की कोशिश करता।

जिस समय गांधीजी पर मुकदमा चलकर फैसले के लिए मुलतवी हो चुका था, उसी समय दीनबंधु एंडरूज आये। वह स्टेशन से एक एक्के पर आये। उनको एक्के पर चढ़ने का तरीका नहीं मालूम था, इससे उनके जूते पहिये में लगकर घिस गये। इस तरह का अंगरेज, जो उलूल-जुलूल कपड़े पहने हो, जो एक्के पर चढ़ता हो और जो हिन्दुस्तानियों से खुलकर मिलता-जुलता हो, हमने अपने होश में नहीं देखा था। यह भी सुना कि वह एक बहुत प्रतिष्ठित आदमी हैं, जिनकी पहुंच वायसराय तक है और जो दुनिया-भर में चक्कर लगाया करते हैं। उस समय जो उनसे मुलाकात हुई, उनकी सादगी और सचाई की जो छाप पड़ी, वह दिन-दिन गहरी होती गयी। मेरे साथ तो उनका मानो एक प्रकार का बंधुत्व स्थापित हो गया जो उनके मरने के समय तक बना रहा। उनके फीजी द्वीप जाने की बात थी। वहां से उनकी बुलाहट आयी थी। वह महात्माजी से भेंट करके वहां जाने वाले थे। इसी बीच में चम्पारन में महात्माजी पर मुकदमा चल गया। उन्हीं से मिलने वह चले आये। हम लोगों से उनकी बातें हुईं। हम लोग चाहते थे कि वह वहां ठहर जायें। अभी गांधीजी के मुकदमे का फैसला नहीं हुआ था। पता भी न था कि क्या होगा। हम लोग समझते थे कि सजा हो जायेगी। इसलिए अगर एंडरूज जैसा एक अनुभवी आदमी रह जाये तो आगे के काम में मदद मिलेगी। ये सब बातें हम लोगों ने उनसे कहीं और जोर दिया कि वह रह जायें। वह कुछ राजी भी हुए कि फीजी कुछ दिनों के

बाद जायेंगे। मगर इसके लिए गांधीजी की अनुमति चाहिए थी। उनकी अनुमति के बिना वह नहीं ठहर सकते थे। इसलिए यह बात गांधीजी से कही गयी, उन पर बहुत जोर डाला गया।

सब बातें सुनकर गांधीजी ने कहा—"आप लोग जितना जोर डाल रहे हैं कि एंडरूज को रहना चाहिए उतना ही मेरा निश्चय दृढ़ होता जा रहा है कि उनको नहीं रहना चाहिए, उन्हें जरूर चला जाना चाहिए। आप लोगों के दिल में गवर्नमेंट और अंगरेज नीलवरों का डर है। आप समझते हैं कि एक अंगरेज रहेगा तो आपका सहारा होगा। आप इसी कारण से एंडरूज को रोकना चाहते हैं। मैं चाहता हूं कि यह डर आपके दिल से निकल जाये और यह भाव भी निकल जाये कि अंगरेज में और आप लोगों में कोई फर्क है। आपको अपने ऊपर भरोसा करना होगा। इसलिए एंडरूज को कल ही यहां से जाना चाहिए।"

एंडरूज से भी उन्होंने कहा कि फीजी का काम भी जरूरी है, वह किसी तरह रोका नहीं जा सकता। इसलिए एंडरूज दूसरे दिन सुबह जाने के लिए तैयार हो गये। हम लोगों ने भी समझ लिया कि महात्माजी बात ठीक कह रहे हैं; हमारे दिल की जो बात है, उन्होंने ठीक पकड़ ली है।

दूसरे दिन एंडरूज जाने के पहले डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट से मिलने गये। उसने कहा, गवर्नमेंट का हुक्म आ गया है कि मुकदमा उठा लिया जाये, मैं कुछ देर के बाद बाजाब्ता सूचना भेज दूंगा। एंडरूज ने रवाना होने के पहले यह खबर हम लोगों को सुना दी। हम लोगों का उत्साह और भी बढ़ गया।

एक बार एक नीलवर ने महात्माजी से अपनी तारीफ की। कहने लगा कि उसके इलाके में रैयत खुश हैं, उनको कोई शिकायत नहीं है। उसने महात्माजी को वहां खुद जाकर देखने के लिए निमंत्रित किया। महात्माजी के साथ मैं भी गया। उसने इंतजाम किया था कि कुछ लोग आकर ऐसा ही कहेंगे। हम लोग पैदल ही जा रहे थे। कुछ चार-पांच मील की दूरी पर वह गांव था जहां उसने बुलाया था। रास्ते में ही बहुतेरे रैयत मिले। उन्होंने कहा कि साहब ने कुछ लोगों को जमा कर रखा है जो उसकी तारीफ करेंगे। महात्माजी ने कहा, अगर तुम लोगों को तकलीफ या शिकायत हो तो तुम भी वहां साहब के मुकाबले में ही कहना। हम लोगों ने उस इलाके के रैयतों के बयानों को देख लिया था और महात्माजी को बता दिया था कि शिकायतें क्या हैं। वहां दो-तीन सौ आदमियों की एक सभा हो गयी। उस नीलवर के अलावा वहां के सब-डिवीजन का मजिस्ट्रेट भी हाजिर था। दो-चार रैयतों ने कहा कि उनको बहुत सुख है, उन्हें कोई शिकायत नहीं है। उनके बोलते ही दूसरे शोर करने लगे कि ये सिखाकर लाये गये हैं, झूठ कह रहे हैं। महात्माजी ने उनको रोका और अपनी बातें पीछे कहने को कहा। जब उनकी बारी आयी तो उन्होंने वही शिकायतें कीं जो हम लोगों के पास बयान में लिखायी

थीं। मजिस्ट्रेट की भी शिकायत एक आदमी करने लगा। कहने लगा कि ये सब लोग मिले हुए हैं, इनके पास कोई इंसाफ नहीं हो सकता। उसने एक खास घटना का जिक्र करके मजिस्ट्रेट से ही सवाल कर दिया। मजिस्ट्रेट तुरंत उठकर चला गया। दूसरे ही दिन साहब ने अपने एक छोटे बंगले में आग लगवा दी। चाहा कि सब रैयतों को आग-लगी के मुकदमे में फंसावें और गांव लुटवा दें। यह आग रात को लगायी गयी। वह खुद इंतजार में बैठा रहा कि जब खबर मिले, पुलिस की मदद लेकर लूट-पाट किया जाये। पर जिस आदमी के जिम्मे खबर देने का काम सौंपा था, उसने जान-बूझकर खबर नहीं दी, बहाना करके दूसरे दिन खबर देने गया। इस बीच में हम लोगों को खबर मिल गयी। महात्माजी ने सब बातें गवर्नमेंट के पास लिख भेजीं। उधर मजिस्ट्रेट ने भी एक लम्बी रिपोर्ट भेजी। उसमें लिखा कि अराजकता फैल रही है—जान पड़ता है, ब्रिटिश राज मानो उठ गया। इस तरह की घटनाएं प्रायः होती रहीं।

गवर्नमेंट ने इस रिपोर्ट पर कार्रवाई की। बिहार के गवर्नर ने गांधीजी को रांची बुलाया। उसके पत्र का आशय यह था कि चम्पारन में गांधीजी के रहने से बहुत अराजकता फैल रही है, इसलिए गवर्नमेंट उनको वहां से हटा देना चाहती है; मगर कोई हुक्म देने के पहले गवर्नर एक बार उनसे मिल लेना चाहते हैं। गांधीजी के रांची जाने के पहले हम लोगों ने सोच लिया कि अब या तो वह गिरफ्तार कर लिये जायेंगे या सूबे से बाहर निकाल दिये जायेंगे और शायद हम लोग भी अब बाहर रहने न पावेंगे। महात्माजी ने हम लोगों को बेतिया और मोतीहारी में दो टोलियों में रख छोड़ा। गिरफ्तारी होने पर किस तरह से क्या करना होगा, इसके संबंध में उन्होंने पूरी व्यवस्था दे दी। हम लोगों के पास इतने रैयतों के बयान आ गये थे—इतने कागज-पत्र जमा हो गये थे कि रैयतों की शिकायतों के लिए पूरा सबूत हाथ में आ गया था। उसको सुरक्षित रखना था। हम लोगों ने पहले से ही सबकी नकल करा ली थी। नकलों को सुरक्षित रखने का प्रबंध कर दिया गया। अपने-अपने स्थान पर हम लोग खबर का इंतजार करने लगे। बेतिया-आफिस मेरे चार्ज में रखा गया था। बहुत इंतजारी के बाद रांची से तार आया कि गवर्नर से बातें अभी चल रही हैं। नतीजा यह हुआ कि दो-तीन दिनों तक बातें होती रहीं। अंत में गवर्नर ने एक कमीशन मुकर्रर किया। गांधीजी को भी उसका मेम्बर बनाया। रैयतों की शिकायतों की जांच करने का काम उसी के सुपुर्द किया। कमीशन ने सरकारी अफसरों, नीलवरों और रैयतों के इजहार लिये। दूसरे जो कागज-पत्र पेश किये गये उन्हें देखा। बहुतेरी कोठियों में जाकर उनके कागज-पत्र देखे। रैयतों से भी मिला।

कमीशन की नियुक्ति हो जाने पर, महात्माजी की आज्ञानुसार, रैयतों की तरफ से जो कागज पेश हुए थे उनको खूब देखकर और दूसरे सबूत इकट्ठे करके, हम लोगों ने कमीशन के लिए एक बयान तैयार किया। कमीशन में सरकारी अफसर थे। नीलवरों का

प्रतिनिधि था। जमींदारों का प्रतिनिधि था। रैयतों की तरफ से प्रतिनिधि-स्वरूप गांधीजी थे। जब रिपोर्ट लिखने का समय आया, तब एक भारी अड़चन आ पड़ी। गांधीजी की और कमीशन के अध्यक्ष सर फ्रेंक स्लाई की बहुत इच्छा थी कि सर्वसम्मति से रिपोर्ट दी जाये। गवर्नर ने भी कहा था जब सर्वमान्य रिपोर्ट होगी तभी उस पर वह कुछ कर सकेगा, नहीं तो कुछ करने में कठिनाई होगी।

किसानों की शिकायतों का कुछ वर्णन ऊपर दिया गया है। अंत में महात्माजी और नीलवरों के दरमियान बहुत बातचीत के बाद यह तय हुआ कि जो लगान बढ़ा दिया गया है उसका थोड़ा-सा हिस्सा छोड़ दिया जाये, जो एक-चौथाई से कुछ कम था, बाकी तीन-चौथाई इजाफा ज्यों का त्यों रह जाये। जो नगद रुपये वसूल किये गये थे उनमें से भी फी सैकड़ा पचीस रुपये वापस किये जायें और बाकी को रैयत छोड़ दें। मुख्य शिकायतें यही दो और तीन-कठिया प्रथा थीं। दूसरी शिकायतें ऐसी थीं जिनका दूर करना अफसरों के ठीक काम और इंसाफ करने ही पर निर्भर था। ये सिफारिशें रिपोर्ट में सर्व-सम्मति से मान ली गयीं। पिछली शिकायतों के संबंध में रिपोर्ट में विशेष नहीं लिखा गया। केवल शिकायतों का उल्लेख करके उनके दूर करने का उपाय बतलाया गया। शरह-बेशी कम करने और नगद तावान के रुपये पचीस फी सैकड़ा वापस करने के अलावा तीन-कठिया प्रथा कानूनन बंद कर देने की भी सिफारिश हुई।

हम लोग आपस में इस पर बहस किया करते कि शरह-बेशी और तावान अगर नाजायज हैं तो पूरे इजाफे से रैयतों को छुटकारा मिलना चाहिए और तावान का सब रुपया वापस होना चाहिए। नीलवरों ने कानूनी अड़चनें भी पैदा कर रखी थीं। जिसने तावान के रुपये वसूल किये उसने कोठी किसी दूसरे के हाथ बेच डाली थी और खुद रुपये लेकर चलता बना था! अब तावान के रुपये नये मालिक से, जिसने रुपये लिये नहीं और जिसने दाम देकर कोठी नयी खरीदी थी, किस तरह वसूल किये जायें? इसी तरह, इजाफे का छुड़ाना कोई आसान काम नहीं था। अगर कानून बनाकर उसे न हटाया जाये तो वह शायद हट नहीं सकता था। कानून के अनुसार प्रत्येक रैयत को दीवानी मुकदमा दायर करना होगा। साथ ही, यह साबित भी करना होगा कि उससे शरह-बेशी की कबूलियत जबरदस्ती लिखायी गयी है, उस पर नील बोने की पाबंदी नहीं थी, इत्यादि। इन बातों का सबूत गरीब सीधे-सादे निरीह रैयत कहां से देते?

महात्माजी के चम्पारन जाने के पहले एक जगह के ग्यारह रैयतों ने मुकदमे भी दायर किये थे। नीलवरों ने अपनी ओर से बहुत बड़ा बैरिस्टर रखा था। मुकदमा महीनों पेशी में रहा था। अंत में पांच में रैयत जीते थे और छ: में नीलवर। अपील में थोड़ा-बहुत हेर-फेर भी हुआ था। वहां लाखों नहीं तो हजारों पट्टों के बारे में इस प्रकार के मुकदमे करने होते। यह असम्भव था। इन दिक्कतों को ध्यान में रखकर सुलह से ही कुछ तय करना मुनासिब समझा

गया। इसलिए सर्वसम्मति से रिपोर्ट तैयार हुई। गवर्नमेंट ने रिपोर्ट की सिफारिशों को मंजूर कर लिया। एक कानून बनाकर तीन-कठिया उठा दिया। सब रैयतों का इजाफा भी घटा दिया। बेतिया राज्य (कोर्ट आफ वार्ड्स) ने नीलवरों से रुपये वसूल करके, निश्चय के अनुसार, रैयतों को तावान के रुपये लौटा दिये।

चम्पारन (ख)

चम्पारन के इस कांड में हमने गांधीजी के काम के तर्ज को पहले-पहल देखा। हम लोगों को सार्वजनिक जीवन का एक प्रकार से एक अद्भुत पाठ पढ़ने का मौका मिला। होमरूल के आन्दोलन में भाग न लेना कभी-कभी हममें से कुछ को बहुत अखरता था; पर हमने बड़ी सावधानी और संयम के साथ गांधीजी के आदेश का पालन किया—जिस काम में लगे थे, लगे रहे। हमने यह भी देखा कि गांधीजी किस तरह नीलवरों को बहुत बड़ी हानि पहुंचाकर भी उनके मित्र बने रहे। उनमें से कितनों ही के साथ गांधीजी का व्यवहार बहुत अच्छा रहा। वे लोग उनको अपने बंगले पर बुलाया भी करते थे। हां, कुछ ऐसे अवश्य थे जिन्होंने उनका जबरदस्त विरोध किया। पर यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि अंत में गांधीजी से उनका संबंध कड़वा नहीं हुआ। जब कमीशन का काम पूरा हो गया, गांधीजी ने जगह-जगह स्कूल खोलने का विचार किया, नीलवरों से मदद भी मांगी। नीलवरों ने, एक के सिवा, किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली।

कमीशन में जो बात सुलह से तय हुई वह रैयतों की मांग से बहुत कम थी। मगर इस सारे आन्दोलन का यह नतीजा हुआ कि चम्पारन से नीलवरों का रोब उठ गया। अब उनमें वह शक्ति नहीं रह गयी कि जुल्म कर सकें। रैयतों में हिम्मत और जान आ गयी। अब वे चुपचाप जुल्म बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। और, जुल्म के बिना चम्पारन का कारबार मुनाफा नहीं दे सकता था। वह जुल्म अब बंद हो गया। नीलवरों ने यह बात जल्द समझ ली। तीन-चार बरसों के अंदर सबने अपनी जमीन और कोठी बेच डाली। जो कुछ मिला, लेकर चले गये। उनकी जमीन रैयतों के हाथ आ गयी। अब वे उसको आबाद कर रहे हैं। जहां नीलवरों के सुंदर बगीचे और बंगले थे, वहां आज रैयतों के मवेशी बांधे जा रहे हैं। उन 70-75 कोठियों में से इक्की-दुक्की आज भी खड़ी हैं। वहां अब जुल्म नहीं हो सकता। वे उस सांप की तरह अपने दिन बिता रही हैं जिसके दांत तोड़ दिये गये हैं, जो अब भी कुछ फुफकार तो सकता है, पर किसी को काट नहीं सकता!

चम्पारन में सत्याग्रह का हमने वही रूप देखा जो गांधीजी ने, थोड़े ही दिनों के बाद, देशव्यापी रूप में, बहुत बड़े पैमाने पर, जारी किया। एक जिले के दुख दूर करने में प्राय: एक बरस लग गया था। सारे हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता प्राप्त करने में उसी अनुपात से जो समय लगना चाहिए, वह शायद अभी तक पूरा नहीं हुआ है।*

चम्पारन के आन्दोलन में कोई मतभेद नहीं था। गांधीजी की बातें सबने मानीं। उनके विरुद्ध किसी ने, चाहे वह रैयत हो या हमारे-जैसा कार्यकर्ता, कोई आचरण नहीं किया। गांधीजी नीलवरों का जुल्म रोकना चाहते थे; पर उनसे किसी प्रकार का द्वेष-भाव नहीं रखते थे। हम लोगों के मन में भी कोई ऐसा भाव नहीं था। एक प्रकार से सत्याग्रह का एक अच्छा नमूना वहां पेश हुआ। इसीलिए नतीजा भी बहुत ही संतोषप्रद हुआ। मेरा विश्वास है कि भारतवर्ष के स्वराज्य का मसला भी इसी तरह हल हो जायेगा। बहुत-कुछ छोड़कर सुलह करने पर भी हम सोलह आने जल्द ही ले सकेंगे। कुछ हद तक ऐसा ही हुआ भी है। देर की कई वजहें हैं। क्षेत्र बहुत विस्तृत है। सारी जनता में वह अटल विश्वास नहीं है जो चम्पारन के रैयतों में था। निःसंकोच वफादार काम करने वाले भी काफी नहीं हैं। देश ने अहिंसा को उस हद तक नहीं पाला है जिस हद तक चम्पारन में उसका पालन किया गया था। तथापि जो पिछले पचीस बरसों में हुआ है वह कुछ कम नहीं है। गांधीजी का चमत्कार भारतवर्ष में लोग तब समझेंगे जब हमारा काम पूरा हो जायेगा। चम्पारन में भी हम पूरे संतुष्ट नहीं थे। पर जब तीन-चार बरसों के भीतर ही नीलवर चले गये, तब उस चमत्कार का पूरा फल हम देख सके। भारत में काम तो हुआ है। ब्रिटिश का रोब तो बहुत अंशों में खतम हो गया है। पर अभी पूरा फल हम नहीं देख सके हैं। इसलिए उस चमत्कार की महिमा का अनुभव नहीं कर सके हैं।

चम्पारन में हमारे जीवन पर भी बहुत बड़ा असर पड़ा। वहीं हम लोगों ने जाति-पांति का भेद छोड़ा। उस समय तक मैं जाति-भेद को बहुत मानता और बर्तता था। ब्राह्मण छोड़कर किसी दूसरी जाति के आदमी का छुआ हुआ दाल-भात इत्यादि, जिसे यहां कच्ची रसोई कहते हैं, कभी नहीं खाया था। गांधीजी ने कहा कि यहां अलग-अलग चौका करते रहोगे तो कैसे काम चलेगा—जो लोग एक काम में लगे हैं मान लो कि वे सब एक जाति के हैं। बस, हम सब लोग एक-दूसरे की बनायी रसोई खाने लगे—यद्यपि हममें कई जातियों के लोग थे। जिंदगी में सादगी भी बहुत आ गयी। हम लोगों के साथ नौकर थे। वे सब एक-एक करके हटा दिये गये। केवल बर्तन साफ करने के लिए एक नौकर रह गया। अपने हाथों कुएं से पानी भर लेना, नहाना, कपड़े साफ कर लेना, अपने जूठे बर्तन धो लेना, रसोई-घर में तरकारी बनाना, चावल धोना इत्यादि सब काम हम खुद किया करते। कहीं

* यह आत्मकथा भारत की आजादी से एक साल पूर्व लिखी गयी है।

जाना हो तो तीसरे दर्जे में रेल में सफर करना और जहां तक हो सके, पैदल ही चलना—सब कुछ वहां हमने गांधीजी से सीखा। आराम का जीवन छोड़ देना पड़ा। जब तक हम चम्पारन में रहे, इसी तरह से रहे।

यह काम पूरा हो जाने पर गांधीजी ने चम्पारन के तीन हिस्सों में तीन स्कूल खोले। मैं उन स्कूलों में से किसी में न रह सका। पटने वापस आकर मैं फिर अपनी वकालत में लग गया। पर बराबर उन स्कूलों को देखने के लिए साल में एक या दो बार जाया करता था।

चम्पारन में अन्य प्रांतों के कुछ अच्छे त्यागी कार्यकर्ताओं से भी हम लोगों का परिचय हो गया। कुछ तो ऐसे आये जो आज तक देश के काम में उत्साहपूर्वक लगे हुए हैं। उस समय की मुलाकातें और सब अनुभव बहुत कीमती निकले, जिनसे आज भी हम बहुत कुछ सीख सकते हैं।

चम्पारन में जो विजय मिली उसका असर बिहार पर बहुत पड़ा। बिहार एक पिछड़ा हुआ सूबा था, जहां सार्वजनिक जीवन का स्रोत बहुत पतला बहा करता था। शिक्षा का भी पूरा अभाव था। सभी बातों में बिहार के लोग अन्य सूबों के लोगों की अपेक्षा बहुत पिछड़े समझे जाते थे। बिहार, अंगरेजी शासन में, आरम्भ से ही, बंगाल के साथ था। वह बरसों बंगाल का एक हिस्सा बना रहा। यहां तक कि बिहार का अलग नाम तक लोग भूल गये थे। बंगाल उन्नत सूबा था, पर उस उन्नति का प्रभाव बिहार तक नहीं पहुंच पाया था। अंगरेजी शिक्षा में भी बिहार इतना पिछड़ा था कि बिहारी लोग सरकारी दफ्तरों तक नहीं पहुंच पाते थे, ऊंचे ओहदों की कौन कहे!

बीसवीं शताब्दी के शुरू से ही कुछ बिहारियों के हृदय में बिहार की शोचनीय दशा देखकर ग्लानि पैदा हुई। फलतः बिहार को बंगाल से अलग करने का आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस आन्दोलन के प्रमुख नेता बाबू महेशनारायण (स्वर्गीय) और डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा थे। डाक्टर सिन्हा के प्रयत्न से ही बिहार कांग्रेस का एक अलग सूबा माना गया। सन् 1911 में जब सम्राट पंचम जार्ज दिल्ली में दरबार के लिए आये, तो बिहार को एक अलग सूबा बनने की घोषणा कर गये। यह घोषणा बंग-विच्छेद के आन्दोलन के फलस्वरूप हुई थी। पूरब और पश्चिम का बंगाल फिर एक कर दिया गया। बिहार और उड़ीसा को मिला कर एक अलग सूबा कायम कर दिया गया। अलग सूबे की बात उठते ही कुछ नवजीवन का संचार हुआ था। उसके चिह्न देखने में आ रहे थे। बिहारी छात्र सम्मेलन का जिक्र ऊपर आ चुका है। बिहार प्रांतीय राजनीतिक कांफ्रेंस भी हर साल होने लगी थी। बिहार के कालेजों और स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी थी। उच्च शिक्षा के अभिलाषी छात्र अधिकाधिक संख्या में कलकत्ते में जाने लगे थे। नया सूबा हो जाने के बाद सब प्रकार से सूबा (बिहार) आगे बढ़ने लगा था। पर इतना होते हुए भी 1917 तक देश-सेवा का कोई संगठित काम नियमित रूप से नहीं चलता था। उन दिनों की कांग्रेस कमिटी, आज की

कमिटी के मुकाबले में, एक खेल-तमाशे की चीज थी। मैं उन दिनों प्रांतीय कांग्रेस कमिटी का मंत्री था। जो प्रतिनिधि चुने जाते थे—विशेष करके जो अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के सदस्य चुने जाते थे—वे ही कुछ चंदा देते थे, जिससे प्रांतीय कमिटी का काम चला करता था और आल इंडिया कमिटी का सालाना चंदा दिया जाया करता था। वह सालाना चंदा हमेशा बाकी पड़ा रहता था। मुझे स्मरण है कि उन दिनों के कांग्रेस-मंत्री श्रीयुत सुब्बाराव पटने कभी-कभी आया करते। उनके आने पर प्रमुख लोग आपस में मिलकर कुछ जमा करके दे दिया करते। नवाब सरफराज हुसेन खां बहुत दिनों तक प्रांतीय कमिटी के सेक्रेटरी थे। मैं भी उनके साथ सेक्रेटरी था। आफिस का खर्च बहुत करके हम दोनों अपने पास से ही चला लेते थे। इससे यह न समझना चाहिए कि आफिस का खर्च कुछ बड़ी रकम का था। केवल डाक और तार में ही खर्च पड़ता था, जो हम लोग आसानी से कर सकते थे।

ऐसा ही सार्वजनिक संगठन बिहार में उस समय था जब महात्मा गांधी चम्पारन में पहुंचे। उन दिनों शायद एक भी ऐसा आदमी न था जो अपना सारा समय देकर देश का काम करता हो। जो लोग कांग्रेस के सदस्य थे, अथवा दूसरे प्रकार से सार्वजनिक जीवन के नेता थे, वे अपने-अपने काम करते हुए देशसेवा का काम भी करते थे। बहुत करके ऐसी ही अवस्था दूसरे सूबों की भी रही होगी। पर दूसरे सूबों में कुछ कार्यकर्ता तो ऐसे जरूर थे जो देशसेवा में अपना सारा समय देते रहे। महात्माजी के साथ जितने लोग यहां पहुंचे, प्रायः सभी वकालत-पेशे के लोग थे। इनमें से एक ने भी पेशा छोड़ने का इरादा करके उनके साथ काम शुरू नहीं किया था। हम तो यह सोचकर गये थे कि चंद दिनों में फुर्सत हो जायेगी। पर वहां पहुंचने पर देखा कि काम बढ़ता ही जाता है। उसको पूरा किये बिना वहां से हटना भी कठिन था। इसलिए दस-पांच दिनों के इरादा से गये हुए लोग प्रायः दस महीनों तक चम्पारन में रह गये। काम पूरा होने पर जब हम अपने-अपने स्थान को वापस गये, तो अपने साथ नये विचार, नयी स्फूर्ति और नये कार्यक्रम लेते गये। सारे सूबे में एक नया जीवन आ गया, जिसका प्रभाव थोड़े ही दिनों में देखने में आया। हम लोगों की आंखें बहुत करके खुल गयीं। अब हम समझने लगे कि जब तक हममें से कुछ लोग ऐसे न निकलेंगे जो अपना सारा समय देश के काम में लगावें, तब तक बिहार का सार्वजनिक जीवन ढीला ही रहेगा।

एक दिन गांधीजी के साथ मैं एक गांव से वापस आ रहा था। रास्ते में बातें होने लगीं। मैंने पूछा कि आप सारे देश में घूमते-फिरते रहते हैं—किस जगह को देशसेवा की दृष्टि से आप सबसे ऊपर स्थान देते हैं? उन्होंने प्रायः सभी सूबों की बातें कहीं। अंत में कहा कि देश-सेवक के लिए 'पूना' तीर्थ-स्थान है। वहां एक शहर के अंदर इतने त्यागी लोग हैं जितने और किसी स्थान में नहीं। वहां की संस्थाएं, त्याग की दृष्टि से, देश के लिए आदर्श उपस्थित करती हैं—नयी संस्थाएं भी बराबर कायम होती जा रही हैं।

हमने पहले भी फरगुसन कालेज का नाम सुना था। महात्माजी से बातें करने के बाद कौतूहल और भी बढ़ गया कि एक बार पूना जाना चाहिए। हम लोग चम्पारन में ही बैठकर विचार करने लगे कि यहां का काम खतम करके एक ऐसी संस्था कायम करनी चाहिए, जिसमें त्यागी लोग केवल निर्वाह-व्यय लेकर देश-सेवा में लगे रहें। विचार हुआ कि फरगुसन कालेज के ढंग का एक कालेज स्थापित किया जाये। बाबू ब्रजकिशोर ही हम सबके नेता और उत्साह दिलाने वाले थे। उन्होंने इस बात को इतनी दूर तक बढ़ाया कि हम लोगों ने अपने-अपने नाम भी लिखा दिये कि जब यह संस्था स्थापित होगी तो हम भी इसी में निर्वाह-व्यय मात्र लेकर शरीक होंगे। कालेज के लिए रुपये जमा करने की भी बात हुई। कुछ लोगों से वादा भी लिया गया।

महात्माजी से बातें करने पर उन्होंने संस्था की बात तो पसंद की, पर उसको कालेज का रूप देना उतना पसंद नहीं किया। हम लोग इस विषय पर विचार करते रहे। जब 1918 में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बम्बई में हुआ, मैं वहां गया। वहां से मैं पूना भी चला गया। वहां की सब संस्थाओं को अच्छी तरह देखा। उनके संबंध में काफी जानकारी भी हासिल की।

23

1917 की कलकत्ता कांग्रेस से दिल्ली कांग्रेस तक

1917 में, जब हम लोग चम्पारन में काम कर रहे थे, देश में होमरूल का आन्दोलन जोरों से चल रहा था। मैं ऊपर कह चुका हूं कि महात्माजी ने हम लोगों को किसी भी आन्दोलन में भाग लेने से रोक रखा था और कहा था कि चम्पारन का काम ही होमरूल का सबसे बड़ा काम है। इसी बीच में श्रीमती एनी बेसेंट नजरबंद की गयीं। इससे आन्दोलन में अधिक जोर पहुंचा। हम लोग ये सब बातें अखबारों में पढ़ते, पर मन चम्पारन में ही था। किसी और चीज की ओर हम ध्यान नहीं बंटाते थे। चम्पारन छोड़कर बिहार के और जिलों में होमरूल का आन्दोलन चला। मैं समझता हूं कि बिहार में यह पहला ही अवसर था जब पढ़े-लिखे लोग गांवों में जाकर सभाएं करने लगे; जनसाधारण से राजनीति की बातें कहने लगे। इसका असर अच्छा पड़ा था।

इसी साल बिहार के शाहाबाद जिले में एक बहुत बड़ी दुर्घटना हो गयी। बकरीद के अवसर पर, गाय की कुर्बानी के कारण, हिन्दुओं और मुसलमानों में झगड़ा हुआ। बात बहुत बढ़ गयी। जिले के बहुत बड़े हिस्से में, आसपास के गया और पलामू जिलों में भी, बहुत बड़ा फसाद हो गया। कुछ दिनों तक तो ऐसा मालूम होता रहा कि मानो अंगरेजी राज है ही नहीं। कुछ हिन्दू पिटे; पर मुसलमानों के साथ बड़ी क्रूरता हुई। बहुतेरे मारे गये। बहुतेरों के घर लूटे गये। अंत में जब मिलिटरी (फौज) पहुंची तो हजारों हिन्दू गिरफ्तार हुए। उन लोगों पर मुकदमे चलाये गये, जो बहुत दिनों तक चलते रहे। हजारों को कड़ी सजाएं हुईं। नतीजा यह निकला कि पहले तो मुसलमान तबाह हुए और पीछे हिन्दू भी तबाह हुए। उस समय की दुर्घटनाओं की याद आज तक दोनों सम्प्रदायों को है। उन दिनों सार्वजनिक जीवन इतना उन्नत नहीं था कि दोनों के बीच मेल कराने का या फसाद रोकने का कोई प्रयत्न किया जाये। जब मुकदमे चलने लगे तब वकीलों ने मुजरिमों की थोड़ी-बहुत सहायता की। पर इससे अधिक कुछ नहीं हुआ। मेरा इस दुर्घटना से कोई सीधा संबंध न रहा। पर वहां की बातों का दिल पर असर जरूर पड़ा।

कलकत्ते की कांग्रेस में बिहार से—विशेष करके चम्पारन से—प्रतिनिधियों की बड़ी टोली गयी। मैं एक बड़ी टोली के साथ वहां पहुंचा। सेठ जमनालाल बजाज ने महात्माजी

के ठहरने का प्रबंध किया था। चम्पारन की टोली भी वहीं जा जुटी। सेठजी से पहली मुलाकात शायद वहीं हुई। जहां तक मुझे याद है, महात्माजी ने इस कांग्रेस में कोई विशेष भाग नहीं लिया।

जब हम चम्पारन में थे तभी भारत-सचिव मिस्टर मौंटेगू का वह वक्तव्य निकला, जिसमें ब्रिटिश गवर्नमेंट की ओर से उन्होंने भारत में आहिस्ता-आहिस्ता करके प्रजातंत्र स्थापित करने का वादा किया था। उसके बाद वह भारत में आये। कुछ दिनों के बाद उनकी और लार्ड चेम्सफोर्ड की भारत में राजनीतिक सुधार संबंधी रिपोर्ट निकली। इस रिपोर्ट के निकलने पर सारे देश में इस पर विचार होने लगा। सभी राजनीतिक व्यक्ति और दल अपना-अपना मत प्रकाशित करने लगे। बिहार में भी इसकी चर्चा होने लगी। हम लोग चम्पारन के काम से मुक्त हो चुके थे, इसलिए इस पर ध्यान देने का अवसर था। मेरा अपना स्वभाव शुरू से ही नरम है। उग्र विचार जल्दी हृदय में उठते ही नहीं हैं। इस विषय पर विचार करने में मैं नरम दल के पक्ष का ही समर्थक था। बिहार में इस पर विचार करने के लिए प्रांतीय कांफ्रेंस की बैठक हुई। उसमें मैंने भाग लिया; पर हमेशा उग्र विचारों के विरोध में ही मैं रहा। मैं समझता था कि इसमें अभी इतनी शक्ति नहीं आयी है कि गवर्नमेंट पर जोर देकर हम कुछ भी करा सकते हैं। इस बात का भी मुझे पूरा विश्वास न था कि देश के शासन का सब भार अगर हमारे ऊपर आ जाये तो हम उसका सुचारु रूप से वहन कर सकेंगे। इसलिए मैं उस रिपोर्ट को ठीक मानता था। उसके आधार पर जो कुछ भी हो सकता था, मैं उसे स्वीकार करने के लिए तैयार था। मैं यह पसंद नहीं करता था कि उसकी टीका-टिप्पणी ऐसी हो कि जिससे हमारी अनिच्छा या नामंजूरी समझी जाये। प्रांतीय कांफ्रेंस में मतभेद रहा। जहां तक मुझे स्मरण है, यही विचार स्वीकृत भी हुए। हां, जहां-तहां कुछ सुधार सुझाये गये।

इसी रिपोर्ट पर विचार करने के लिए बम्बई में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। मैं वहां भी गया। अपनी आदत और स्वभाव के अनुसार मैंने बहस में कोई भाग नहीं लिया। पर विषय निर्धारिणी समिति और कांग्रेस की बहसों को खूब गौर से सुनता रहा। पटना के नामी बारिस्टर सैयद हसन इमाम ही सभापति थे। उनका भाषण बहुत जबरदस्त हुआ था। कांग्रेस की कार्रवाई उन्होंने बड़ी योग्यता से चलायी। बम्बई में उनका स्वागत भी बड़ी शान के साथ हुआ। मैंने विषय निर्धारिणी समिति में देखा कि कई बार ऐसा मौका आया जब दो दलों के बीच झगड़ा होता दीख पड़ा। एक ओर से लोकमान्य तिलक गर्म विचारों के समर्थक थे, दूसरी ओर से अन्य नेता बहस किया करते थे। इन बड़ों के झगड़े का निपटारा बीच-बीच में अपने दो-चार शब्दों से अथवा भाव-भंगी से सभापति करते रहे।

1918 में एक और महत्व की घटना हुई। जब महात्मा जी चम्पारन में थे तभी गुजरात के 'खेड़ा' जिले के किसानों में लगान के संबंध में आन्दोलन खड़ा हुआ। महात्माजी

चम्पारन जाने के पहले ही साबरमती में, झोंपड़ों में, सत्याग्रह आश्रम एक प्रकार से स्थापित कर चुके थे। उनका विचार था कि चम्पारन से दस-पांच दिनों में लौटकर उसका बाजाब्ता उद्घाटन करेंगे। पर जब चम्पारन में रुक जाना पड़ा तो उन्होंने वहां खबर दे दी कि आश्रमी लोग वहां का काम आरम्भ कर दें। मेरी बहुत लालसा थी कि मैं भी जाकर आश्रम देखूं।

1918 के अप्रैल में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन इंदौर में हुआ। महात्मा गांधी उसके सभापति हुए। हम लोग बिहार से कुछ प्रतिनिधि गये। चम्पारन के बाद हम यह समझ बैठे थे कि महात्माजी पर हमारा विशेष अधिकार हो गया है। इस ख्याल से इन्दौर में हम लोग सभापति के साथ ही ठहरे। उस सम्मेलन में बड़े मार्के की बात यह हुई कि दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का काम आरम्भ करने का निश्चय हुआ। महात्माजी के लिए यह कोई नयी बात नहीं थी। उन्होंने चम्पारन से ही उस काम को शुरू कर दिया था। एक बार स्वामी सत्यदेवजी वहां उनसे मिलने आये। महात्माजी ने उनको राय दी कि कुछ दिनों तक साबरमती आश्रम में ठहरने के बाद वह दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार करने का काम अपने हाथ में लें। इन्दौर सम्मेलन के कुछ पहले से ही दक्षिण में यह काम शुरू हो गया था। स्वामी सत्यदेव के साथ उन्होंने अपने कनिष्ठ पुत्र देवदास गांधी को इस काम के लिए भेज दिया। इन्दौर सम्मेलन में जो काम आरम्भ हुआ उसका विस्तार आज सारे दक्षिण भारत में हो गया है। वहां लाखों स्त्रियों और पुरुषों ने हिन्दी सीख ली है।

सम्मेलन से महात्माजी के साथ मैं सीधे साबरमती चला गया। अभी आश्रम के मकान नहीं बने थे। बांस की चटाइयों की झोपड़ियां थीं। उन्हीं में आश्रमवासी रहा करते ते। मुझे आश्रम में अधिक ठहरने का मौका नहीं मिला। महात्माजी तुरंत 'खेड़ा' के गांवों में चले गये। वहां लगानबंदी का काम शुरू हो गया था। सरदार वल्लभभाई, श्री शंकरलाल बैंकर, श्रीमती अनुसूयाबाई साराभाई और दूसरे कार्यकर्ता गांधीजी के नेतृत्व में वहां प्रचार-कार्य कर रहे थे। मुझे महात्माजी के साथ दो-तीन दिनों तक वहां के गांवों में सफर करने का सुअवसर मिला। गुजरात के लोगों के साथ वह घनिष्ठ संबंध आरम्भ हुआ जिसका सूत्रपात चम्पारन में गांधीजी के साथ गये हुए, और उनके भेजे हुए, लोगों से मुलाकात होने ही पर हो गया था। महात्माजी पैदल ही सफर करते थे। मुझे भी वैसा ही करना पड़ा। उन दिनों वह जूते नहीं पहनते थे। अप्रैल के अंत में गरमी काफी पड़ रही थी। एक दिन, प्रायः दो पहर हो चुके थे, हम लोगों को रेतीले रास्ते से जाना था। बालू गर्म हो गयी थी। पैर जल रहे थे। पर गांधीजी ने परवाह नहीं की। जहां जाना था, हम लोग चले ही गये। खेड़ा का सत्याग्रह सफल हुआ। चम्पारन और खेड़ा, दोनों का काम प्रायः एक बरस के भीतर ही खतम हो गया।

मैं फिर अपनी वकालत में लग गया। बीच-बीच में कांफ्रेंसों और कांग्रेस में शरीक होना उन दिनों वकील अपना फर्ज समझते थे। मैं भी उन्हीं में एक था। चम्पारन के बाद

विचारों में बहुत परिवर्तन आ गया था। इस प्रकार के काम को छुट्टियों के दिनों में केवल मनोरंजन का विषय न मानकर इसमें अधिक समय देने की जरूरत महसूस करने लगा था। पर अभी कोई रास्ता निर्धारित नहीं था। इसलिए अभी पुराने ढर्रे पर ही काम होता रहा। इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन, बम्बई में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन और फिर दिल्ली में उसके दिसम्बर वाले साधारण अधिवेशन में शरीक हुआ। बस इतने ही से अपना कर्त्तव्य पूरा समझा।

गांधीजी के चम्पारन जाने के बाद बिहार का नाम जहां-तहां सुना जाने लगा था; पर अभी उसको कोई विशेष स्थान नहीं मिला था। इसीलिए कलकत्ते की कांग्रेस में कोई अलग स्थान न रहने के कारण हम लोगों को अधिकतर गांधीजी की ही छावनी में ठहरना पड़ा।

दिल्ली कांग्रेस में एक बड़ी पुर-मजाक घटना हुई। हम लोग वहां पहुंचे। स्टेशन पर वालंटियर मिले। पर उनमें से कोई यह न बता सका कि बिहार के प्रतिनिधियों के ठहरने का स्थान कहां है। नायक ने कहा कि आप लोग पटौदी हाउस में चले जाइये। वहां भी हम लोग पहुंचे। अभी प्रायः सबेरे के 5 बजे थे। कुछ रात थी। सर्दी काफी थी। एक छोटे कमरे में जाकर हम पंद्रह-बीस आदमी बैठे रहे। जब सबेरा हो गया और दरियाफ्त किया तो वहां भी कोई हम लोगों के लिए स्थान नहीं बता सका। हम लोगों ने सोचा कि बस अब यहीं ठहरना चाहिए। दो-मंजिले पर एक अच्छा कमरा था। उसे भी हम लोगों ने दखल कर लिया। कुछ देर के बाद स्वागत समिति के कोई साहब आये। उन्होंने हुक्म दिया कि हम लोगों को मकान खाली कर देना चाहिए। यह पूछने पर कि आखिर हम लोग कहां ठहरें, उन्होंने इतना ही उत्तर देना काफी समझा कि वह मकान बंगाल के डेलिगेटों के लिए है—ऊपर का कमरा श्रीयुत बी. चक्रवर्ती और श्रीयुत सी. आर. दास के लिए है, इसलिए हम कहीं दूसरी जगह जाकर ठहरें। बहुत कहने पर भी उन्होंने हमारे लिए कोई दूसरी जगह ठीक कर देने का भार अपने ऊपर लेना या किसी दूसरे को सुपुर्द करना जरूरी नहीं समझा। हम लोगों ने भी निश्चय कर लिया कि जब तक दूसरी जगह ठीक न हो जाये, हम भी हटेंगे नहीं। कुछ देर के बाद हम लोगों को फिर हुक्म मिला कि यहां से चले जाइये। हमने साफ इंकार कर दिया। गुस्से में आकर उन सज्जन ने हुक्म दिया कि हम अगर उनकी बात नहीं मानेंगे, तो हम लोगों के लिए स्वागत समिति के चौके में भोजन का प्रबंध नहीं किया जायेगा। यह धमकी हम लोगों को पसंद आयी। स्वागत समिति में प्रायः 2 रुपये रोजाना देना होता। हमने तुरंत कुछ हांडियां मंगा लीं और ईंटों के चूल्हे बनाकर खिचड़ी पका ली, जिसमें खर्च शायद चार-छः आने से अधिक न पड़ा। बस, वहीं हम लोग जम गये। बहुत जोर लगाया गया, पर जब अपना खास चूल्हा जल चुका था, तो हटता कौन है? अंत में लोग आजिज आकर हम लोगों को छोड़कर चले गये।

श्री सी. आर. दास मुझे कलकत्ते की वकालत के जमाने से ही जानते थे। कुछ मुकदमों में हमें एक साथ काम करने का मौका मिला था। उनसे कांग्रेस में भेट हुई। हंसते-हंसते

उन्होंने कहा—"सुना है कि मेरे लिए जो कमरा था उसे तुम लोगों ने जबरदस्ती अपने कब्जे में कर लिया है।" मुझे बहुत शर्म मालूम हुई। मैंने सब बातें कहीं। यह भी कहा कि आप अगर चाहें तो हम लोग तुरंत कमरा खाली कर दें। उन्होंने कहा कि तुमने ठीक ही किया; जब तुम्हारे लिए कोई जगह नहीं थी तो तुम दूसरा कर ही क्या सकते थे! अपने बारे में उन्होंने कहा कि मेरे लिए चिंता मत करो, मैं बहुत आराम से होटल में ठहर गया हूं।

इस प्रकार 1918 समाप्त हुआ। फिर हम पटने वापस आकर वकालत करने लगे।

24

प्रिय मित्र की मृत्यु

रायबहादुर हरिहर प्रसाद सिंह पढ़ने के समय से ही मुझे जानते थे। जब मैं विलायत जाने की बात सोच रहा था, तब उन्होंने कुछ सहायता भी की थी। मैंने जब वकालत शुरू की तो उन्होंने मुझे अपना वकील बना लिया। हाइकोर्ट में उनके जितने मुकदमे जाते थे उनमें मैं ही वकील हुआ करता था। उनकी एक बहुत बड़ी सम्पत्ति बरमा में भी थी। उस सम्पत्ति के संबंध में डुमरांव के महाराजाबहादुर ने अदालत में दावा कर दिया। उनकी जो कुछ सम्पत्ति बिहार में थी उसे भी उस दावे में शामिल कर लिया। दोनों ओर से कई बड़े-बड़े और नामी वकील रखे गये। मुझे भी बाबू हरिजी (रायबहादुर हरिहर प्रसाद सिंह) ने काम करने के लिए कहा। 1918 की दुर्गा-पूजा की छुट्टियों में प्रयाग में, जहां वह उन दिनों रहा करते थे, कागजों को पढ़ने के लिए मुझे बुलाया। मैं छुट्टियों में प्रयाग में ही कागज पढ़ता रहा। मेरे मित्र बाबू वैद्यनाथनारायण सिंह भी छुट्टियों में प्रयाग में ही, दारागंज में किराये पर एक मकान लेकर, अपने कुटुम्ब के साथ, दिन बिता रहे थे। हम दोनों अक्सर सुबह-शाम टहलने के समय मिला करते थे।

एक दिन दोपहर को ही वह मेरे यहां चले आये। बहुत तरह की बातें करने लगे। प्रायः संध्या तक मैं मुकदमे का कुछ काम न कर सका। चलने के समय फिर दूसरे दिन आने को कह गये। दूसरे दिन पहले दिन से भी पहले ही चले आये। फिर बहुत-सी बेतुकी बातें करते रहे। मुझे संदेह हुआ कि इनका मिजाज ठीक नहीं है। मैंने एक मित्र के उन्माद रोग का आरम्भ देखा था। वैसे ही लक्षण इनमें भी दिखाई देने लगे। जाते समय मैं भी उनके साथ हो लिया। उनके घर तक साथ गया। वहां पूछने से मालूम हुआ कि कई दिनों से रात को वह सोते बहुत कम हैं और इसी प्रकार दिन-रात कुछ बोलते रहते हैं। मेरा भय और भी अधिक बढ़ गया। तीसरे दिन तो यह देखा कि वह एकदम पागल हो गये हैं। मैं उनके ही साथ रहने लगा। उनके भाई को तार देकर बुला लिया। दिन-दिन उनकी हालत बिगड़ती गयी।

एक दिन उन्होंने अपना बक्स खोलकर वकालत का 'गाउन' निकाला। उसे टुकड़े-टुकड़े करके फाड़ डाला। युनिवर्सिटी की किसी परीक्षा में उनको सोने का एक पदक

मिला था। उसे उन्होंने इसी तरह निकालकर फेंक दिया। अपनी छोटी बच्ची को,जो उनकी सबसे छोटी संतान थी,एक दिन मार डालने पर उतारू हो गये।

हम लोग बहुत घबराये। वहां जो कुछ चिकित्सा हो सकी,की गयी; पर राय ठहरी कि इन्हें पटने ले चलना ही अच्छा होगा। दो-चार दिनों में कुछ अच्छे होते मालूम हुए। एक दिन यह निश्चय हुआ कि मैं उनके साथ पटने चला जाऊं और उनके छोटे भाई जगन्नाथजी परिवार को लेकर दूसरे दिन पटने पहुंचें। हाइकोर्ट की छुट्टियां समाप्त हो गयी थीं। पटने पहुंचना हम दोनों के लिए आवश्यक हो गया था। छुट्टियों में बराबर प्रयाग में ही रहने के कारण घर के लोगों से मैं मिला भी न था; क्योंकि मेरे परिवार के लोग छपरे में या मेरे गांव जीरादेई में ही रहा करते थे,मेरे साथ पटने में नहीं। मैं सोचता था कि दो-चार दिनों के लिए, छुट्टी के अंत में,घर जाकर उनसे मिल आऊंगा; पर वैद्यनाथ बाबू की अस्वस्थता के कारण यह विचार छोड़ देना पड़ा था।

जब हम दोनों प्रयाग से पटने के लिए रवाना हुए तब वैद्यनाथ बाबू बिलकुल स्वस्थ-से मालूम पड़ते थे। कपड़े इत्यादि ठीक तरह से पहनकर होश की बातें करते-करते मेरे साथ रेल पर सवार हुए। रास्ते में उन्होंने मुझसे पूछा कि मैं घर जाना चाहता था तो उस विचार को क्यों छोड़ दिया और कहा कि अब उनकी तबीयत बिलकुल ठीक हो गयी है,कोई चिंता की बात नहीं है। जो कुछ हुआ था उसका स्मरण करके उन्होंने अफसोस और लज्जा का भाव जाहिर किया तथा मुझसे कहा कि मैं सीधे घर चला जाऊं और वह पटने चले जायेंगे,इसमें कोई हर्ज नहीं है।

मैं उनकी बातें सुनकर बहुत खुश हुआ। मुझे विश्वास हो गया कि उनकी तबीयत ठीक हो गयी। मैं उस समय तक lucid moments (पागलपन के बीच कुछ चेतन क्षण)* का अर्थ नहीं जानता था। काशी स्टेशन पर उनको पटने की गाड़ी में सवार कराकर मैं छपरे की गाड़ी से छपरे चला गया। वह दूसरे दिन सबेरे जब पटने पहुंचे तो उनकी हालत पहले की तरह बिलकुल एक पागल जैसी हो गयी थी। स्टेशन के कर्मचारियों ने उन्हें पहचाना। ऐसी अवस्था में उनको अकेला देखकर कुछ मित्रों को खबर दी। वे लोग आये और उनको किसी तरह घर ले गये। दूसरे दिन जब मैं पटने वापस आया तो मैंने उनको उसी बुरी दशा में पाया। मुझे बहुत अफसोस हुआ कि मैंने बड़ी गलती की थी। उनसे मुलाकात हुई तो उन्होंने बड़ी हंसी उड़ायी। कहा कि आप अपने को बड़ा होशियार समझते हैं,मुझे पहरे में रखने के लिए, जगन्नाथजी के साथ षड्यंत्र करके मेरे साथ आये थे; कैसा चकमा देकर बेवकूफ बनाया! इतना कहकर हंसने लगे। फिर वही बेतुकी बकझक आरम्भ कर दी।

पटने में भी हम लोग बराबर देख-रेख करते रहे; पर वह कभी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हुए। कभी-कभी अच्छे हो जाते, यहां तक कि वह हाइकोर्ट भी जाने लगते। 'पटना लॉ

* वे क्षण जब पागलपन के बीच-बीच में पागल की दशा कभी-कभी बिलकुल अच्छे आदमी की-सी हो जाती है।

वीकली', जिसको मैं और वह साथ मिलकर निकाला करते थे, निकालने भी लगते। पर बीमारी ज्यों की त्यों बनी रहती। कुछ दिनों के बाद उनकी आकस्मिक मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु का सदमा मेरे दिल पर बहुत पड़ा। पर वह जिस अवस्था में थे उसमें रहने से कहीं अच्छा देहांत हो जाना था। उनके लिए यह मृत्यु एक प्रकार की मुक्ति ही थी। उनका जितना मेरे साथ प्रेम था और जितना उपकार उन्होंने मेरे साथ किया था, वह जब स्मरण आता है तो आज भी दुख होता है; और इस बात का पश्चाताप होता रहता है कि उनके लिए अथवा उनके कुटुम्ब के लिए मैं कुछ भी न कर सका।

25

प्रथम महायुद्ध के बाद

सन् 1918 के नवम्बर में योरप का महायुद्ध समाप्त हो गया। 1917 से ही भारतवर्ष में राजनीतिक जागृति की लहर उठने लगी थी। चम्पारन में गांधीजी के पधारने और रैयतों की सेवा करने का असर चारों ओर पड़ रहा था—यद्यपि समाचारपत्रों में बहुत कम खबरें छपने के लिए दी जाती थीं और कहीं भी सभाओं में व्याख्यान देने की हम लोगों को मनाही थी। श्रीमती एनी बेसेंट ने 'होमरूल लीग' कायम करके सारे देश में 1917 में ही बड़ी हलचल मचा दी थी। प्रायः सभी प्रांतों में उसकी शाखाएं कायम हो गयी थीं। लोग खूब जोरों से प्रचार के काम में लग गये थे। सरकार इससे कुछ घबरा-सी गयी। उसने श्रीमती एनी बेसेंट को, उनके दो साथियों के साथ, नजरबंद कर दिया था। इस पर आन्दोलन ने और जोर पकड़ा। ब्रिटिश सरकार अपनी दुधारी नीति को 1917 में भी चला रही थी। एक ओर उसने इस तरह आन्दोलन की मुख्य अधिष्ठात्री को नजरबंद किया, दूसरी ओर पार्लियामेंट में नये नियुक्त भारत-मंत्री श्री मांटेगू ने एक एलान किया, जिसमें वादा किया गया कि भारत को आहिस्ता-आहिस्ता करके शासन का अधिकार दिया जायेगा; पर कब और कितना अधिकार भारतीयों के हाथ में आवेगा, इसका निर्णय पार्लियामेंट ही कर सकेगी ! उसके बाद श्री मांटेगू भारतवर्ष में आये। यहां के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ भारतीय नेताओं से मिले। दोनों ने मिलकर एक रिपोर्ट तैयार की, जिसके आधार पर पार्लियामेंट ने 1920 में एक कानून पास किया। श्रीमती एनी बेसेंट भी कुछ दिनों के बाद छोड़ दी गयीं। वह 1917 में कलकत्ते में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन की सभानेत्री चुनी गयीं। उत्साह बहुत था। हम लोग भी चम्पारन से गांधीजी के साथ ही कांग्रेस में गये थे। सेठ जमनालालजी से वहीं प्रथम परिचय हुआ। उन्होंने ही गांधीजी के रहने इत्यादि का प्रबंध किया था। उसी मकान में गांधीजी के साथ काम करने वाले हम बहुतेरे बिहार-निवासी सेठजी के ही मेहमान बने। बहुतेरे दूसरे बिहारी भी हम लोगों के साथ ही आकर ठहरे और वे हम मेहमानों के भी मेहमान हो गये। जमनालालजी के आतिथ्य को ग्रहण करने का पहला अवसर वहीं मिला।

जर्मन-युद्ध के समय भारतवर्ष ने गवर्नमेंट की सहायता की थी। इसकी प्रशंसा सभी सरकारी कर्मचारी बहुत जोरों से किया करते थे। पर जो कुछ सहायता लोगों ने अथवा उन

दिनों की कौंसिल ने अपनी खुशी से की थी, उसके अलावा जोर-जबरदस्ती से भी बहुत सहायता ली गयी थी जिसके कारण देश में बहुत असंतोष भी फैला था। पंजाब में उन दिनों लेफ्टेनेंट-गवर्नर थे सर माइकेल ओडायर। वह एक बड़े जबरदस्त सिविलियन थे। उन्होंने रंगरूट भरती कराने में और चंदा जमा करने में बड़ी सख्ती से काम लिया था। इसका असर पंजाब पर बहुत बुरा पड़ा था। वहां के लोग—हिन्दू, मुसलमान और सिख—बहुत ही दुखी थे। सरकार भी जानती थी कि पंजाब के अतिरिक्त और जगहों में भी असंतोष काफी है। लड़ाई शुरू होते ही, कुछ भारतीय, जो विदेशों में थे, इस प्रयत्न में लग गये थे कि हिन्दुस्तान में इस मौके से नफा उठाकर क्रांति की जाये। उन्होंने इस दिशा में कुछ काम किया भी था। मुसलमानों में इस बात से बहुत खलबली मची थी कि उनके खलीफा—तुर्की के बादशाह—लड़ाई में जर्मनी की तरफ हो गये थे और तुर्क सेना से मुकाबला करने के लिए हिन्दुस्तानी फ़ौज भेजी गयी थी जिसमें मुसलमान भी अच्छी संख्या में थे। ब्रिटिश गवर्नमेंट इन सब कारणों से प्रभावित होकर अपनी दुहरी नीति चलाती रही। मुसलमानों को संतुष्ट करने के लिए उन्होंने कई वादे किये, जिनमें उनके धार्मिक स्थानों को सुरक्षित रखने और तुर्कों की ताकत और उनके राज्य को अधिक नुकसान न पहुंचाने की बातें भी थीं। दूसरी ओर, सरकार यह भी सोच रही थी कि भारत रक्षा कानून की (जो लड़ाई का अंत होने के छः महीने बाद तक ही जारी रह सकता था) जरूरत बाद में भी पड़ेगी, क्योंकि वह अगर न रहा तो जितने लोग नजरबंद हैं उनको छोड़ना पड़ेगा, और अगर असंतोष ने कुछ विकट रूप धारण किया तो उसे संभालने के लिए कुछ ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे अदालत में मुकदमे की पेशी होने पर गवाही जुटाने की झंझट से वह बची रहे। इसलिए एक कमिटी मुकर्रर की गयी थी जिसके प्रधान थे सर सिडनी रौलट, जो लन्दन के हाइकोर्ट के एक जज थे। इस कमिटी ने एक रिपोर्ट तैयार की जिसमें भारतीय षड्यंत्रों का इतिहास देते हुए इस बात की सिफारिश की गयी कि एक ऐसे कानून की जरूरत है जिसके द्वारा सरकार के हाथ में, षड्यंत्रकारियों को उपद्रव करने से रोकने और क्रांति से हिन्दुस्तान की रक्षा करने के लिए, पूरा कानूनी अख्तियार रहे—अर्थात प्रायः वे सब अधिकार रहें जो लड़ाई की नाजुक स्थिति संभालने के लिए भारत रक्षा कानून के द्वारा दिये गये थे। इस प्रकार एक तरफ मांटेगू-चेम्सफोर्ड रिफार्म स्कीम 1918 के बीच में और दूसरी ओर, रौलट रिपोर्ट भी 1918 के अंत में निकली।

26

रौलट बिल विरोधी आन्दोलन

रौलट रिपोर्ट के निकलते ही सारे देश मे बड़ा असंतोष उत्पन्न हुआ जिसने—पहले ही सुलगती हुई असंतोष की—आग में घी का काम करके उसे जोरों से प्रज्वलित कर दिया। चम्पारन से लौटने के बाद मैं अपनी वकालत में लग गया था। छः-आठ महीनों की गैरहाजिरी के बाद भी उसमें किसी तरह की कमी नहीं आयी थी। 1918 और 1919 में जोरों से हाइकोर्ट में काम करता रहा। मुकदमे और रुपये भी खूब मिलते रहे। गांधीजी ने चम्पारन में ही हम लोगों से एक बार कहा था कि हम लोग अगर चम्पारन में सचाई के साथ काम करेंगे तो एक प्रकार की पूंजी कमा लेंगे, जिससे आगे बहुत लाभ उठा सकेंगे। वहां पर पूरी सचाई के साथ काम हुआ। आज भी जब मैं पिछले पचीस बरसों के अपने जीवन पर विचार करता हूं तो मुझे जान पड़ता है कि वहां की कमाई हुई पूंजी दिन-दिन बढ़ती गयी है। कभी-कभी यह जानकर बड़ा संतोष होता है कि जो सबक सचाई का गांधीजी ने वहां सिखाया था उसी का यह एक फल है कि अपने जीवन में जिसका मैं कर्तव्यवश घोर से भी घोर विरोध करता हूं वह भी मेरे कहने पर विश्वास रखता है। पर इस प्रकार सार्वजनिक जीवन में सचाई से जो लाभ हुआ है उसके अलावा वकालत के काम में भी उससे हमेशा लाभ ही हुआ है—कुछ लाभ अपने पेशे में सफलता के रूप में और उसके फलस्वरूप पैसे कमाने के रूप में हुआ। मुझे इस बात का गर्व रहता है कि वकालत के जमाने में जजों ने मुझ पर विश्वास किया। एक अंगरेज जज तो कभी-कभी ऐसा मजाक किया करता था कि प्रतिपक्षी वकील अगर कमजोर जान पड़ता तो वह मुझसे ही कहता कि तुम ही अपने विरुद्ध जो सबसे खराब नजीर हो उसे बता दो। मैं इसके लिए तैयार भी रहा करता था। उस नजीर को पेश करके उसके काट में जो नजीर पेश करनी होती थी वह भी पेश कर देता था। मैं कभी भी लचर दलील नहीं पेश करता था। जिस मुकदमे में बहस की गुंजाइश न रहती उसे कभी लेता ही न था। मवक्किल को साफ-साफ कह देता कि इसमें कुछ होने-जाने का नहीं, इसलिए इसे दाखिल करके पैसे बरबाद मत करो। कोई-कोई मवक्किल दूसरे के पास जाकर अपील दायर कराता और पैसे खर्च करके हार जाता। मैंने ऐसे लोगों को, जिनको मैंने अपील दायर करने से मना करके उनके कागज और पैसे लौटा दिये थे, दूसरों की मार्फत

अपील दायर करते और हारते भी देखा है। एक ऐसा भी मुकदमा मैंने देखा जिसे मैंने वापस कर दिया था, पर दूसरे वकील ने उसे दायर किया और हाइकोर्ट मे जीत भी लिया। ऐसा होना आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि मुकदमेबाजी एक प्रकार का जुआ तो है ही। हो सकता है कि मैं उस मुकदमे की बारीक बातें न समझ सका होऊं अथवा, जज किसी धोखे में आ गया हो और उसने गलत फैसला दे दिया हो। अस्तु।

मैं वकालत तो जोरों से करता रहा; पर अब गांधीजी का सम्पर्क भी छूटने वाला नहीं था। रौलट रिपोर्ट के निकलने के बाद देश में बड़ा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। गांधीजी ने उसका नेतृत्व अपने हाथों में लिया। बिहार से लौटने के बाद गांधीजी ने 'खेड़ा' के किसानों का, जिन पर मालगुजारी का इजाफा हो रहा था, नेतृत्व करके इजाफा छुड़वाया। इसके लिए वहां सत्याग्रह का प्रबंध करना पड़ा था। पर अंत में बात तय हो गयी। जब गांधीजी 'खेड़ा' में दौरा कर रहे थे, मैं भी उनके साथ गुजरात के किसानों के उस जिले में (सन् 1918 में) दो-तीन दिनों तक घूमा था। एप्रिल का महीना था। गर्मी काफी पड़ रही थी। धूप खूब कड़ी हुआ करती थी। उस गर्मी में भी गांधीजी गांवों में घूमते रहते। उन दिनों वह जूता नहीं पहना करते थे। इसलिए बालू तप जाने पर खाली पैरों से चलने में उन्हें बहुत तकलीफ होती थी। एक दिन ऐसा दृश्य मुझे देखने को मिला। गर्मी के मारे पैर जले जाते थे। बालू कुछ दूर तक थी। मैं तो जूता पहने हुए था। मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ। पर गांधीजी को बहुत कष्ट हुआ। एक स्थान पर मैंने चादर बिछा देनी चाही जिसमें उनको थोड़ा आराम मिल जाये। पर उन्होंने ऐसा नहीं करने दिया। उसी यात्रा में सरदार वल्लभभाई के गांव 'कामसद' में भी जाने का सुअवसर मिला था। मैंने उनका पैतृक मकान देखा था। उस सत्याग्रह के नेता एक प्रकार से सरदार वल्लभभाई ही थे। उसी सत्याग्रह के कारण उनका गांधीजी के साथ वह संबंध स्थापित हुआ जो आज तक अटूट बना हुआ है और जो दिन-दिन इन दोनों शक्तियों के संगम का अच्छा फल देश को देता आ रहा है।

खेड़ा सत्याग्रह के बाद गांधीजी, सरकार की मदद के लिए, खेड़ा जिले के लोगों को फौज में भरती होने के लिए सलाह देते हुए, दौरा करने लगे। उस समय तक ब्रिटिश गवर्नमेंट पर उनका पूरा विश्वास था। वह मानते थे कि सरकार अक्सर भूल कर दिया करती है और कहीं-कहीं उसने जुल्म भी किया है। परंतु सभी बातों पर विचार करने के बाद वह इस नतीजे पर पहुंचते थे कि ब्रिटिश नीति न्यायसंगत है, उससे न्याय की आशा रखी जानी चाहिए। इसीलिए वह सरकार की मदद करने के लिए लोगों को फौज में भरती होने का मशविरा देने लगे। अपनी आदत के मुताबिक इस काम में भी वह बहुत जोरों से लग गये। खेड़ा के दौरे के कारण उनके स्वास्थ्य पर बहुत बड़ा धक्का पहुंचा। वह बहुत जोरों से बीमार पड़ गये। उसी नीति के अनुसार मैं भी बिहार में उस सरकारी बोर्ड का मेम्बर हो गया जो फौजी रंगरूटों की भरती में मदद करने

के लिए बना था। उसके मंत्री उन दिनों श्री रसल थे, जो आज बिहार के गवर्नर के सलाहकार (adviser) हैं। जहां तक मैं जानता हूं, गांधीजी के जी-तोड़ परिश्रम के बाद भी भरती में बहुत सफलता नहीं हुई। बिहार में भी मैं कुछ विशेष न कर सका।

गांधीजी की बीमारी इतनी बढ़ गयी कि वह बम्बई में कांग्रेस के उस विशेष अधिवेशन में, जो मांटेगू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट पर विचार करने के लिए श्री सैयद हसन इमाम के सभापतित्व में हुआ था, शरीक न हो सके थे। पर मैं उसमें शरीक हुआ था। वहां से लौटते समय मैं अहमदाबाद और साबरमती में कई दिनों तक गांधीजी के साथ ठहरा भी था। जहां तक मैं उनके विचारों को समझ सका था, मैं कह सकता हूं कि वह यदि कांग्रेस में रहते तो नरम दल के लोगों का ही साथ देते। कांग्रेस का काम समाप्त तो हो गया, पर दोनों दलों का मतभेद बहुत स्पष्ट हो गया। कुछ लोगों के कांग्रेस से हटने और लिबरल दल के नाम से अलग संगठन करने का सूत्रपात वहीं हो गया। तीन महीनों के बाद, दिल्ली के अपने सालाना अधिवेशन में, प्रायः बम्बई के फैसलों को ही कांग्रेस ने कायम रखा।

जब मैं बम्बई से अहमदाबाद पहुंचा तो देखा कि गांधीजी अहमदाबाद शहर के मिर्जापुर मुहल्ले में सेठ अम्बालाल साराभाई के बहुत बड़े महल में ठहरे हुए हैं। सेठजी उन दिनों अपने एक दूसरे नये मकान में रहा करते थे और यह मकान खाली था। गांधीजी की तबीयत बहुत खराब थी। डाक्टर लोग देखा तो करते थे, पर वह कोई दवा नहीं खाते थे। मल का प्रकोप था। ज्वर का भी जोर था। साबरमती में आश्रम स्थापित हो चुका था, पर अभी तक मकान कम बने थे। किंतु वहां रहने वालों की संख्या बढ़ती जा रही थी। एक दिन गांधीजी का ज्वर बहुत बढ़ गया, पर उसका विचार न करके उन्होंने कहा कि अब यहां नहीं ठहरना चाहिए, तुरंत साबरमती आश्रम में चले चलो। साथियों ने बहुत रोका; पर उन्होंने किसी की एक न सुनी। उसी हालत में आश्रम में चले गये। जिस समय ऐसा हुआ, मैं अहमदाबाद शहर की मशहूर चीजों को देखने गया था! जब मैं लौटा तो मैंने सुना कि सब लोग आश्रम चले गये। फिर मैं भी संध्या को वहां चला गया।

दूसरे दिन सवेरे जब मैं गांधीजी के पास बैठा हुआ था, मुझे वह दृश्य देखने को मिला और वह बात सुनने में आयी, जिसको मैं कभी भी भूल नहीं सकता। गांधीजी का ज्वर कुछ कम हो गया था; पर वह बहुत कमजोर थे। एक छोटे-से कमरे में चारपाई पर पड़े हुए थे। मैं नीचे पड़ी हुई चटाई पर बैठा था। वह श्री छगनलाल गांधी को बुलवाकर उनसे बातें करने लगे। उन्होंने इतने आवेश में बातें कीं कि उसका असर पड़े बिना रह नहीं सकता था। यद्यपि मैं गुजराती कम समझ पाता था, फिर भी मैंने सारांश तो पा ही लिया। उन्होंने कहा—"कल जब ज्वर का बहुत वेग था, मैंने जिद्द कर यहां चले आने को कहा। मैं समझता था कि यहां पहुंचने पर ही ज्वर का वेग कम होगा। यह ज्वर तो शरीर में था, पर वहां उस बड़े महल में पड़े-पड़े मेरे हृदय के भीतर बड़ी ज्वाला जल रही थी। मैं सोच रहा था—'गांधी! तुझे इतने

बड़े महल से क्या काम ? तू यहां क्यों ठहरा हुआ है ? तेरी जगह तो गरीबों के झोंपड़ों में है—आश्रम में है। यहां से तुरंत चला जा। तू जब तक ऐसा नहीं करता, तुझे चैन नहीं मिल सकता।' इसी कारण मैंने इतनी जिद्द की जो तुममें से कुछ को बुरी भी लगी होगी। वहां से यहां आने पर भी मैं रात को सोया नहीं हूं। बराबर सोचता ही रहा हूं। मैं अपने से पूछता रहा हूं कि क्या तेरी जिंदगी इसी तरह बिना कुछ सफलता पाये ही बीत जायेगी ? जब से दक्षिण अफ्रिका से हिन्दुस्तान आया, एक-पर-एक काम मैंने हाथ में लिया; पर किसी को भी पूरा न कर सका; सबको अधूरा ही छोड़ता गया। मिल मजदूरों में हड़ताल का काम हुआ। हड़ताल इस मानी में तो सफलतापूर्वक समाप्त हुई कि उनकी मांगें मंजूर हो गयीं; पर मजदूरों में अभी बहुत-सी ऐसी त्रुटियां हैं, जिनको दूर करना चाहिए। मेरी इच्छा थी कि उनके बीच काम करके उन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करूंगा। पर वह न कर सका, चम्पारन चला गया। चम्पारन में भी, जहां तक नीलवरों का प्रश्न है वह तो एक प्रकार से समाप्त हुआ; पर वहां के किसानों के बीच बहुत काम करने की जरूरत है। इसीलिए वहां पर कुछ पाठशालाएं खोली गयीं। मेरी इच्छा थी कि मैं इस प्रकार के काम में योगदान करता रहूंगा और उस जिले में इस प्रकार के काम का सूत्रपात करके उसे खूब जोरों से चलाऊंगा। इस काम के लिए सच्ची लगन वाले त्यागी लोग भी मिले थे और दूसरे भी मिलने वाले थे; पर उसको भी अधूरा ही छोड़कर मुझे खेड़े के सत्याग्रह में लग जाना पड़ा। फिर खेड़े के किसानों का काम पूरा होते ही फौज की भरती के काम में लग गया। खेड़े में भी जनता में काम करने की जरूरत है; पर वह भी पूरा न हो सका। इतने में मैं बीमार पड़ गया। मालूम नहीं, इस बीमारी से बचकर फिर खड़ा होऊंगा या नहीं। अगर हो भी सकूंगा तो कुछ ठीक नहीं कि कब तक। तुम लोग, जो दक्षिण अफ्रिका से ही मेरे साथ काम करते आ रहे हो, मेरी इस दशा के कारण किसी काम को जमकर नहीं कर पाते। तुम्हारा स्वास्थ्य भी खराब ही है। इस आश्रम को ही मैंने बहुत आशा और मनसूबा लेकर स्थापित किया था। पर इसको भी मैं अब तक समय नहीं दे सका हूं। चम्पारन से ही मुझे इसके उद्घाटन का संदेश भेजना पड़ा, स्वयं उस समय आ भी न सका था। तब से अब तक मैं किसी-न-किसी काम में बझकर बाहर रहा। अब मेरी यह हालत है। न मालूम ईश्वर को क्या मंजूर है !"

इस प्रकार बातें करते-करते वह फूट-फूटकर रोने लगे। कुछ देर तक रोते रहे। हम ही दोनों वहां थे। उनको कोई चुप करावे तो कैसे करावे ! हम जानते थे कि उनके हृदय की ज्वाला अब आंसुओं के रूप में भाप का पानी बनकर निकल रही है। कुछ देर के बाद वह खुद चुप हुए। उन्होंने कहा, यह ज्वाला बहुत जला रही थी, रात-भर सोया नहीं, कुछ आंसू बह जाने के बाद वह कुछ शांत हुई है। इसके बाद कुछ देर तक चुप रहे। मैं भी चुप बैठा रहा और सोचता रहा कि ईश्वर ने हमारे लिए बड़ा सौभाग्य प्रदान किया कि ऐसे महापुरुष का सम्पर्क मुझे मिला। छुट्टी लेकर दो-एक दिन के बाद मैं अपने काम पर वापस आया।

इस बीमारी से उठने के बाद, जिसमें वह शायद कभी-कभी मृत्यु का भी दर्शन करते थे, उन्होंने रौलट रिपोर्ट के विरुद्ध आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण किया। रिपोर्ट निकलने के कुछ ही दिनों बाद, गवर्नमेंट ने उसकी सिफारिश के मुताबिक दो बिल दिल्ली की इम्पीरियल कौंसिल में पेश किये, जिनके द्वारा सरकार को बहुत व्यापक और जुल्मी अख्तियार मिलते थे। वह जिसको चाहे, बिना अदालत में गये ही, नजरबंद कर दे सकती थी। जनता ने यह देखा कि लड़ाई के दिनों में जो स्वराज्य संबंधी वादे ब्रिटिश सरकार की ओर से किये गये थे उनके पूरा होने का तो कुछ करीना नजर नहीं आता; पर ये 'काले कानून' हमारे सिर पर लादे जा रहे हैं। सारे देश में बड़ा क्षोभ पैदा हुआ। सभी जगहों में विरोधी सभाएं होने लगीं। कौंसिल में गैर-सरकारी मेम्बरों ने इन बिलों का प्रबल विरोध किया; पर उनकी सुनता कौन था? अंत में एक बिल पास हो गया। सभी चुने हुए हिन्दुस्तानियों ने उसका विरोध किया था। पर सरकारी कर्मचारियों और कुछ सरकार द्वारा नियुक्त मेम्बरों की सम्मति से वह बहुमत से पास हो गया। गांधीजी ने पहले ही घोषणा कर दी थी कि ये कानून यदि पास हुए तो हम लोग इन्हें नहीं मानेंगे—सत्याग्रह करेंगे।

उस समय की वे विरोधी सभाएं, जो देश के कोने-कोने में हुईं, एक नयी जागृति और नवजीवन की द्योतक थीं। इतनी बड़ी-बड़ी सभाएं, जिनमें सब वर्ग और जाति तथा धर्म के लोग इतनी अधिक संख्या में शामिल होते हों, शायद ही पहले कभी देखी गयी थीं। गांधीजी ने एक बिल के पास होते ही, अपने वादे के मुताबिक, सत्याग्रह का प्रश्न उठाया। देश की हवा का रुख देखकर सरकार ने दूसरे बिल को आगे नहीं बढ़ाया। उसे वापस भी नहीं लिया। इस प्रकार वह लटकता पड़ा रहा। न पास हुआ, न नामंजूर। शायद, कायदे के मुताबिक, कुछ दिनों के बाद, गिर गया होगा। पर जो बिल पास हो चुका था, वह भी कुछ कम न था। उससे सरकार का काम निकल आता था। जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ उसका फल यह हुआ कि वह कानून पास तो हो गया; पर कभी काम में नहीं लाया गया। कुछ बरसों के बाद वह रद्द भी कर दिया गया।

27

छः अप्रैल और जंगी कानून

गांधीजी ने उसी समय 'यंग इंडिया' का सम्पादन अपने हाथ में लिया। प्रति सप्ताह उसमें उनके लेख निकलने लगे, जो सारे देश में सनसनी पैदा करने वाले होते थे। उन्होंने अहिंसात्मक सत्याग्रह की घोषणा कर दी। एक दिन भी निश्चित कर दिया कि उस दिन सारे देश में लोग उपवास करें, अपने-अपने धार्मिक मंदिरों और मसजिदों में प्रार्थना करें, जलूस निकालकर संध्या समय सभा करें जिसमें सब लोग 'काले कानून' का विरोध करें। विरोधी सभाएं तो बराबर हो ही रही थीं। किंतु इस दिन का बहुत बड़ा महत्व था। पहले के आन्दोलन से जमीन खूब तैयार हो गयी थी। उस दिन की हड़ताल इतनी जबरदस्त हुई कि शायद ही कभी पहले वैसी हड़ताल देखी गयी हो। शहरों में सभी दूकानें बंद थीं, सवारियों का चलना बंद हो गया था। गांवों में लोगों ने उस दिन बैलगाड़ी और हल जोतना तक बंद कर दिया था। न मालूम यह संदेश किस प्रकार सभी जगहों में पहुंच गया। अभी कांग्रेस का संगठन इतना न तो फैला था और न इतना मजबूत ही था कि वह उस संदेश को सभी सुदूरवर्ती गांवों तक पहुंचा सकती; पर तब भी यह अद्भुत घटना हुई!

पटने में विरोधी सभाओं के संगठन इत्यादि का काम मैं तत्परता से करता रहा। गांधीजी के पत्र भी जब-तब मिल जाया करते थे। पर विशेष सभी बातें 'यंग इंडिया' से मिलती थीं। श्री मजहरुल हक साहब और श्री सैयद हसन इमाम काफी दिलचस्पी लेते थे। मजहरुल हक साहब तो उन दिनों दिल्ली कौंसिल में गये थे; पर हसन इमाम साहब सभाओं में जाते थे। उस दिन की हड़ताल के संबंध में पहले से ही सभी दुकानदारों से कहा गया था। सभी राजी हो गये थे; पर एक बड़ी दूकान वाले राजी नहीं होते थे। यह बात हसन इमाम साहब तक पहुंचायी गयी। मेरे साथ ही वह उस दूकानदार की दूकान तक गये। वहां पहुंचते ही बूढ़े दूकानदार के पैरों पर उन्होंने अपनी टोपी उतारकर रख दी। वह तो भौंचक-सा हो गया। कहने लगा, आपने यह क्या किया, आपका हुक्म ही हमारे लिए काफी होता। नतीजा यह हुआ कि सारे शहर में एक भी दुकान न खुली, चाहे वह हिन्दू की हो या मुसलमान की। शहर की तमाम दूकानें, चाहे वह सोने-चांदी की हो या साग-सब्जी की, बंद रहीं। उस दिन जो जलूस निकला वह भी अद्भुत था। गुलजार बाग से लेकर प्रायः शहर के किले तक, जहां

सभा होने वाली थी, लम्बा जलूस फैला हुआ था जिसमें सबसे आगे नंगे पैर हसन इमाम साहब थे और पीछे-पीछे हम सब लोग। जो सभा किले के छोटे मैदान में होने वाली थी वहां न हो सकी; क्योंकि जगह कम थी। गंगा के किनारे रेत में सभा करनी पड़ी। हम सब डरते थे कि कहीं इतने बड़े मजमे की पुलिस से मुठभेड़ न हो जाये; पर कुछ भी न हुआ। बड़ी शांति और उत्साह के साथ उस दिन का काम समाप्त हुआ।

गांधीजी ने कुछ दिन पहले ही लिख भेजा था कि ऐसे सत्याग्रहियों से एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर लिये जायें, जो इस बात के लिए तैयार हों कि वे अहिंसा का पालन करते हुए सरकार के ऐसे कानूनों को न मानेंगे जिन्हें तोड़ने की आज्ञा एक मनोनीत कमिटी देगी, और इसके लिए जो सजा होगी उसे खुशी के साथ भोगने को तैयार होंगे। अभी तक कमिटी ने कानूनों को नहीं बताया था। इस पर देश में कुछ नरम दल के लोगों और अखबारों की ओर से बड़ी टीका-टिप्पणी भी हुई। पर गांधीजी विचलित न हुए। बिहार में वह प्रतिज्ञा-पत्र मेरे पास ही आया। उस पर हसन इमाम साहब ने हस्ताक्षर किया। मैंने तथा कुछ और लोगों ने भी।

6 अप्रैल की हड़ताल और सभाएं सारे देश में बड़ी सफलता और समारोह के साथ हुईं। दिल्ली में जो सभा हुई थी वह बड़े मार्के की थी। हिन्दू-मुस्लिम एकता इतनी बढ़ गयी कि दोनों ने साथ-ही-साथ सरकारी गोली खायी। जलूस के नेता स्वामी श्रद्धानन्दजी ने अपना सीना खोल दिया था कि सरकार अगर चाहे तो उन्हें गोली मार दे। मुसलमानों पर इतना असर पड़ा कि उन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द को ले जाकर जुमा मस्जिद में उनका भाषण करवाया। वहां पर जो छोटा-मोटा बलवा हो गया उसे शांत करने के लिए गांधीजी दिल्ली के लिए रवाना हुए। मगर रास्ते में ही, दिल्ली के नजदीक 'पलवल' स्टेशन पर, सरकारी हुक्म से, रेल से उतार लिये गये और एक अनजान स्थान को भेज दिये गये। श्री महादेव भाई देसाई उनके साथ थे, जो वहां से अकेले बम्बई की ओर वापस हुए। रास्ते से उन्होंने मेरे पास तार भेजा कि गांधीजी गिरफ्तार होकर अनजान स्थान को भेज दिये गये हैं और मुझे तुरंत बम्बई पहुंचकर उनसे (महादेव भाई से) मिलना चाहिए। तार पाते ही मैं बम्बई के लिए रवाना हो गया। रास्ते ही में जो अखबार मिले उनसे मालूम हुआ कि कई स्थानों में इस खबर के पहुंचते ही बलवा शुरू हो गया है, जिनमें पंजाब के कई शहर, अहमदाबाद और बम्बई थे। मैं जब दो दिनों के बाद बम्बई पहुंचा तो वहां उस समय तक शांति हो गयी थी। गांधीजी पलवल से बम्बई ले जाये गये। वहां ले जाकर छोड़ दिये गये। गांधीजी के बम्बई पहुंच जाने से बलवा जोर न पकड़ सका, शीघ्र ही शांत हो गया। पर अहमदाबाद से खराब खबर मिली थी। गांधीजी वहां के लिए रवाना हो चुके थे। महादेव भाई भी बम्बई पहुंचकर उनके साथ हो लिये थे। जब मैं पहुंचा तो मैंने सुना कि वे दोनों अहमदाबाद चले गये हैं। मैं भी उसी दिन संध्या की गाड़ी से अहमदाबाद के लिए रवाना हुआ। जब दूसरे दिन सवेरे स्टेशन से बाहर निकला तो देखा कि गोरे सिपाहियों का पहरा पड़ रहा है और शहर में जंगी कानून

जारी है। किसी तरह साबरमती आश्रम में एक टांगे पर पहुंचा। वहां भी गांधीजी के पहुंचने से लोगों में शांति हो गयी थी। बलवा-फसाद कम हो गया था। जंगी कानून भी मेरे पहुंचने के कुछ ही घंटों के अंदर उठा लिया गया, या शायद पहले ही उठा लिया जा चुका था। वहां शांति कायम रखने का प्रबंध करके गांधीजी उसी दिन या दूसरे दिन रात की गाड़ी से बम्बई के लिए रवाना हुए। मैं भी साथ था।

इसी बीच पंजाब से बलवा हो जाने की खबरें आती रहीं जिससे गांधीजी बहुत सोच में पड़ गये। जलियां वाला बाग का हत्याकांड इसी बीच में हो चुका था। कुछ थोड़ी खबर मिली थी, पर पूरा हाल कुछ महीनों तक ठीक-ठीक न मिला। इतना अवश्य मालूम हो गया कि पंजाब की स्थिति बहुत भयंकर हो गयी है। गांधीजी सोचने लगे कि ऐसी अवस्था में सत्याग्रह चलाना ठीक न होगा। उन्होंने उस रात को अहमदाबाद और बम्बई के रास्ते में रेलगाड़ी में ही अपना वह वक्तव्य लिखा जिसमें उन्होंने लोगों में अहिंसा के अभाव के कारण सत्याग्रह स्थगित करने का विचार प्रकट किया। हम लोगों ने उसे रेल में ही पढ़ लिया। बम्बई पहुंचने पर वह अखबारों में प्रकाशन के लिए दे दिया गया।

बम्बई में कुछ देर तक मैं ठहर गया। वहां अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में, जो उन्हीं दिनों वहां हो रहा था, शामिल हुआ। उसके बाद मैं पटने चला आया। सत्याग्रह स्थगित हो जाने पर मैं फिर अपनी वकालत में लग गया।

28

पंजाब हत्याकांड, खिलाफत और असहयोग

सत्याग्रह बंद तो हो गया, पर देश में असंतोष बढ़ता ही गया। उधर पंजाब में जंगी कानून के नाम पर जुल्म-ज्यादतियां हुईं। जनता की बेइज्जतियां की गयीं। हजारों आदमियों को कड़ी-कड़ी सजाएं मिलीं। सबकी खबर कुछ-कुछ बाहर आती गयी; पर पूरी खबर किसी को न मिलती थी। आपस का मेल इतना था कि हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख सब बातों में पूरी तरह शरीक होते थे। साथ ही गोलियां खाते, लाठियां सहते, पानी पीते, जमीन पर रेंगते अथवा हवाई जहाज के गोलों के शिकार बनते। इस हत्याकांड का पूरा वर्णन यहां नहीं दिया जा सकता। उसको तो कांग्रेस द्वारा नियुक्त कमिटी की रिपोर्ट में ही पढ़ना चाहिए। बहादुर पंजाबियों पर होने वाले जुल्मों की खबरें पंजाब से बाहर नहीं आ पाती थीं। न कोई पंजाब जाने पाता था, न कोई वहां से बाहर आने पाता था, और न वहां तार या चिट्ठियां ही जा पाती थीं। जब जंगी कानून उठा लिया गया तब सब बातें मालूम हुईं। देश में भयंकर रोषाग्नि पैदा हुई।

उस साल कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में होने वाला था, जहां जलियां वाला बाग में हत्याकांड हो चुका था। सारा पंजाब जंगी कानून से बहुत ही परेशान किया जा चुका था। भय होने लगा कि शायद वहां की जनता कांग्रेस का आयोजन न कर सके। पर निश्चय हुआ कि चाहे जिस तरह हो, कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में ही होना चाहिए। वैसा ही हुआ भी। पंडित मोतीलाल नेहरू सभापति चुने गये। मैं इस कांग्रेस में शरीक नहीं हुआ। कांग्रेस दिसम्बर के अंतिम सप्ताह में हुआ करती थी और दूसरी जनवरी से ही बाबू हरिजी का मुकदमा खुलने वाला था। उन्होंने मुझे रोक लिया। उक्त पंडितजी भी उस मुकदमे में काम करने वाले थे; पर वह कुछ देर करके—कई दिनों के बाद—पहुंचे। तब तक श्री नृपेन्द्रनाथ सरकार (सर एन. एन. सरकार) ने ही कई दूसरे वकीलों और बैरिस्टरों के साथ काम शुरू कर दिया था। 1920 की जनवरी से अक्टूबर तक मैं आरा में उसी मुकदमे के लिए रहा। कभी-कभी एक-दो दिनों के लिए छुट्टी मिलने पर पटने आ जाया करता था—विशेष करके अपने बड़े लड़के मृत्युंजय को देखने के लिए, क्योंकि उसको उस समय काला आजार (काला ज्वर) की बीमारी हो गयी थी और उसकी चिकित्सा पटने में हो रही थी। कभी-कभी

किसी मवक्किल के काम से भी आ जाता। पर प्रायः इन दस महीनों का समय बरमा के मुकदमे में ही लगा।

गवर्नमेंट ने पंजाब में जंगी कानून उठ जाने के बाद, एक कमिटी मुकर्रर कर दी थी जिसके जिम्मे वहां की घटनाओं के संबंध में जांच करने का काम दिया गया था। लार्ड हंटर, जो विलायत के एक जज थे, इसके सभापति बनाये गये थे। कांग्रेस की ओर से पहले इस कमिटी के सामने अत्याचार संबंधी गवाही पेश करने का निश्चय हुआ था। कुछ दिनों तक यह काम हुआ भी। पर कुछ मतभेद हो जाने पर कांग्रेस इस जांच से हट गयी। उसने अपनी एक अलग कमिटी बना दी जिसको वही काम सौंप दिया जो गवर्नमेंट की ओर से हंटर कमिटी कर रही थी। हंटर कमिटी के सामने जब बातें आने लगीं और सब अखबारों में छपने लगीं तब पहले-पहल इसका पता चला कि पंजाब में कितना जुल्म हुआ है। पंजाब में हुए अत्याचारों की खबरें बाहर जिस अनुपात में फैलीं, देश में उसी मात्रा में रोष भी बढ़ता गया। कांग्रेस कमिटी की जांच भी प्रायः उसी समय हुई। इसके लिए गांधीजी, देशबन्धु दास, श्री जयकर, श्री अब्बास तैयबजी प्रभृति पंजाब के गांवों और जिलों में खूब चक्कर लगाते फिरे। दोनों कमिटियों की रिपोर्टें 1920 में प्रकाशित हुईं।

उधर तुर्की के साथ अंगरेजों के व्यवहार से मुसलमानों में खास खलबली मची हुई थी। अमृतसर कांग्रेस के समय ही मौलाना शौकत अली, मौलाना मुहम्मद अली, मौलाना अबुलकलाम आजाद प्रभृति मुसलमान नेता—जो लड़ाई के कारण नजरबंद थे—छोड़ दिये गये थे। इन लोगों ने खिलाफत संबंधी संगठन और आन्दोलन के लिए खिलाफत कमिटियां सारे देश में स्थापित कीं। मुसलमान इतने रुष्ट थे कि वे चाहते थे, सरकार के खिलाफ कुछ किया जाये; पर यह निश्चय नहीं कर पाते थे कि क्या और किस तरह किया जाये। इधर पंजाब के हत्याकांड से दूसरों में भी रोष था। रौलट कानून को भी लोग भूले नहीं थे। इन सभी के मिल जाने से देश में एक भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। खिलाफत कमिटियां और कांग्रेस कमिटियां एक-दूसरे के निकटतर आती जा रही थीं। बहुतेरे हिन्दुओं ने भी खिलाफत कमिटियों की मेम्बरी स्वीकार की और पैसे से भी उनकी मदद की। उधर मुसलमान भी बड़ी संख्या में कांग्रेस में शरीक होने लगे। जब हंटर कमिटी और कांग्रेस कमिटी की रिपोर्टें निकलीं तब अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की एक बैठक बनारस में उन पर विचार करने के लिए हुई। मैं भी मेम्बर की हैसियत से उसमें शरीक हुआ।

गांधीजी का अली-बंधुओं से बहुत घनिष्ठ संबंध हो गया। खिलाफत कमिटी में वह शरीक हुआ करते थे। बनारस की सभा के थोड़े ही पहले, प्रयाग में, खिलाफत कमिटी की बैठक में, उन्होंने अहिंसात्मक असहयोग का कार्यक्रम, पहले-पहल 1920 के अप्रैल में, पेश किया। खिलाफत कमिटी ने उसे मंजूर किया और निश्चय किया कि उसे वह काम में लायेगी। साथ ही, मौलाना लोगों ने भी धार्मिक रीति से इसका जोरों से समर्थन किया और

एक फतवा निकाला, जिसके द्वारा सरकार के साथ किसी प्रकार के सहयोग को हराम करार दिया। बनारस में कांग्रेस कमिटी ने निश्चय किया कि सारी बातों पर विचार करके देश को क्या करना चाहिए, इसका निर्णय करने के लिए कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन किया जाये। उस अधिवेशन का कलकत्ते में होना तय हुआ। लाला लाजपतरायजी, जो बहुत दिनों के बाद हाल ही विदेश से वापस आये थे, सभापति चुने गये। सारे देश में असहयोग की चर्चा होने लगी। गांधीजी कुछ दौरा भी करते और कुछ लिखते भी। यह तैयारी हो ही रही थी कि 1 अगस्त (1920) को लोकमान्य तिलक का देहावसान हो गया।

मौलाना शौकत अली अप्रैल 1920 में ही पटने आये थे, जब एक बड़ी सभा हुई। उस दिन पटने में रहने के कारण मैं भी इस सभा में शरीक हो गया। गांधीजी की राय और कार्रवाइयों से मैं परिचित था ही। आरा में पंडित मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु दास दोनों ही डुमरांव राज्य और हरिजी के 'बरमा वाले' मुकदमे में दोनों ओर से काम कर रहे थे। मैं पंडितजी के साथ काम तो कर ही रहा था, उनसे राजनीतिक स्थिति के संबंध में भी बातें हुआ करतीं। वह कभी-कभी देशबन्धु से भी बातें करते। इसलिए मैं सब बातों से अवगत था। जब पटने में मौलाना शौकत अली ने असहयोग का कार्यक्रम बताया, लोगों से पूछा कि लोग इसके लिए कहां तक तैयार हैं और मुझे इस संबंध में कुछ कहने के लिए कहा गया, तो मैंने उसी सभा में पहले-पहल असहयोग में शरीक होने का वचन दे दिया। अभी तक कांग्रेस ने कुछ फैसला नहीं किया था और न कार्यक्रम ही पूरी तरह से निश्चित था; पर मैंने कह दिया कि देश अगर असहयोग करने का निश्चय करेगा और इस निश्चय के अनुसार जब असहयोग आरम्भ किया जायेगा, तो मैं भी पीछे नहीं रहूंगा। उस समय तक यह जाहिर हो चुका था कि असहयोग में वकालत छोड़नी पड़ेगी और कौंसिलों में नहीं जाना होगा। मैं वकील तो था ही। मेरी इच्छा यह भी थी कि 1920 के नवम्बर में, नये मांटेगू-चेम्सफोर्ड विधान के अनुसार होने वाले चुनाव में, चम्पारन से प्रांतीय कौंसिल के लिए उमीदवार खड़ा होऊं। इस विचार के अनुसार मैं चम्पारन में एक-दो बार कुछ जगहों का दौरा भी कर चुका था। एक जगह तो मजहरुल हक साहब मेरी उमीदवारी के समर्थन में जा भी चुके थे। असहयोग आरम्भ होने पर दोनों ही को छोड़ना पड़ेगा! मैंने उस सभा में यह घोषणा करके बता दिया कि मैं दोनों ही छोड़ूंगा। मौलाना शौकत अली से मेरी पहले की मुलाकात नहीं थी; पर शायद गांधीजी ने उनसे मेरे संबंध में कुछ कहा था। सभा समाप्त होते ही मैं चला आया। वहां उनसे मुलाकात नहीं हुई। पर उन्होंने मेरी तलाश की थी। जब वह रवाना होने वाले थे, मैं स्टेशन पर गया। वहीं उनसे पहले-पहल बातें हुईं। सभा की बात और गांधीजी की कही हुई बातें उनको याद थीं। इसलिए उन्होंने बहुत प्रेमपूर्वक बातें कीं। मेरा उत्साह भी बढ़ाया। इस तरह मेरे लिए असहयोग का सूत्रपात अचानक इस सभा में हुआ, जहां मैं उस दिन पटने में इत्तफाक से रहने के कारण जा सका था।

कांग्रेस का विशेष अधिवेशन सितम्बर में होने वाला था। बिहार प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन भी अगस्त में होने वाला था। असहयोग की बातें जोरों से चल रही थीं। बिहार में यह प्रश्न उठा कि प्रांतीय सम्मेलन का सभापति कौन बनाया जाये? लोगों ने मुझे ही चुना। मैं असहयोग का पक्षपाती था; पर यह नहीं कह सकता था कि प्रांत के लोग इसे मंजूर करेंगे वा नहीं? अगर मंजूर करेंगे भी, तो समय आने पर कितने इसमें शरीक होंगे? इसलिए मैंने श्री सच्चिदानन्द सिंह से पूछा कि ऐसी स्थिति में क्या यह मेरे लिए उचित होगा कि मैं अपनी राय सभापति के भाषण में खोलकर कहूं और यदि सम्मेलन मेरी बात स्वीकार न करे तो एक संकट उपस्थित कर दूं? उन्होंने कहा कि मुझे पूरा अधिकार है कि मैं अपनी राय दे दूं और सम्मेलन को भी अधिकार है कि उसे वह स्वीकार करे वा न करे; इसलिए मेरे सभापतित्व स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

मैं आरा में मुकदमे में फंसा हुआ था। वहां मैंने अपना भाषण हिन्दी में लिखना शुरू किया। प्रांतीय सम्मेलन जैसी सभा या संस्था में उन दिनों हिन्दी में भाषण नहीं हुआ करते थे; प्रायः अंगरेजी में ही सब कार्रवाई हुआ करती थी। एक ओर मुकदमे की भीड़, दूसरी ओर सम्मेलन का भाषण लिखना और स्थिति की चिंता, सब मिल-मिलाकर मैं ज्वर-ग्रस्त हो गया। भय होने लगा कि प्रांतीय सम्मेलन के लिए मैं भागलपुर न जा सकूंगा। पर समय आते-आते इतना अच्छा हो गया कि किसी तरह अपने लिखे भाषण के साथ यथासमय भागलपुर पहुंच गया। वहां सम्मेलन में भाग ले सका। पर सम्मेलन के सम्मुख उपस्थित कठिन समस्या ऐसी थी कि वह किसी भी काम करने वाले को डरा सकती थी। मेरा अपना विचार साफ और दृढ़ था कि असहयोग आवश्यक हो गया है। पर मैं यह जानता था कि सूबे के सभी पुराने और अनुभवी राजनीतिक नेता उसके विरोधी थे। यद्यपि रौलट बिल विरोधी आन्दोलन के समय से ही सभाओं में जनता बहुत बड़ी संख्या में आया करती थी, पर यह कहना कठिन था कि वह असहयोग में कहां तक साथ देगी? सम्मेलन में बड़े-बड़े नेताओं में से बहुतेरे गये भी नहीं। इसलिए यदि सम्मेलन मेरे कहने से असहयोग की नीति स्वीकार कर ले, तो इसका अर्थ यह होगा कि उसको कार्यान्वित करने का भार अधिकतर हम लोगों के ही ऊपर पड़ेगा—हम कहां तक इसे निबाह सकेंगे? इस तरह के अनेकानेक प्रश्न दिल को दहला देते थे। पर मैं जानता था कि नये लोग अधिकांश में मेरे साथ थे।

बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद, बाबू धरणीधर प्रभृति जोरों से असहयोग का समर्थन कर रहे थे। इनके अतिरिक्त मुसलमान तो प्रायः बड़ी उमंग से इसमें आने वाले थे। मजहरुल हक साहब के अलावा शाह मुहम्मद जुबैर, मौलवी मुहम्मद शफी, मौलाना नूरुल हसन प्रभृति भी साथ देने वाले थे ही। पर मुसलमानों में भी हसन इमाम साहब, नवाब सरफराज़ हुसेन खां प्रभृति—जो बराबर सार्वजनिक कामों में भाग लिया करते थे—विरोधियों में ही थे। एक ओर अधिक अनुभव तथा बहुत दिनों की सार्वजनिक सेवा थी तो दूसरी ओर उत्साह, देश

की परिस्थिति से उत्पन्न असह्य बेचैनी, और आग में कूदने की तत्परता थी। ईश्वर का नाम लेकर मैंने इस सेवा को उठाया और खुलकर असहयोग का समर्थन किया।

सम्मेलन ने मेरी बात मान ली, बहुत बड़े बहुमत से असहयोग के सिद्धांत का समर्थन किया और बिहार की स्थिति पर ध्यान करते हुए कार्यक्रम बनाने के लिए एक कमिटी बना दी। वहां पर बाबू ब्रजकिशोर प्रसादजी ही नेता थे। उनकी यह जबरदस्त राय थी कि यह असहयोग, खिलाफत संबंधी अन्याय को दूर और पंजाब हत्याकांड संबंधी कांग्रेस की मांगों को पूरा कराने के अलावा स्वराज्य के लिए भी किया जाये। उस समय तक जितनी सभाएं होती थीं अथवा जो लेख पत्रों में लिखे जाते थे उनमें खिलाफत और पंजाब हत्याकांड ही असहयोग के कारण बताये जाते थे। बाबू ब्रजकिशोर उसमें 'स्वराज' को जोड़ करके (जब तक स्वराज्य प्राप्त न हो) उसे एक प्रकार से स्थायित्व देना चाहते थे। ऐसा ही हुआ भी। गुजरात में प्रांतीय (राजनीतिक) सम्मेलन हुआ और वहां भागलपुर सम्मेलन के दो-चार दिन पहले ही असहयोग का समर्थन हुआ। जहां तक मुझे याद है, बिहार और गुजरात ही दो प्रांत थे जिनके प्रांतीय सम्मेलन ने कलकत्ते के कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के पहले असहयोग का समर्थन किया था। भागलपुर सम्मेलन के अवसर पर गांधीजी ने तार दिया था कि सम्मेलन असहयोग का समर्थन करे।

कलकत्ता कांग्रेस में मैं नहीं जा सका था। देशबन्धु दास और पंडित मोतीलालजी गये थे। पर ठीक उसी समय श्री एन. एन. सरकार हम लोगों की ओर से बहस कर रहे थे और उनकी सहायता के लिए मेरा आरा में रहना आवश्यक था। कांग्रेस बड़े समारोह से हुई। पंडितजी ने अंत में असहयोग का समर्थन किया था और वह बहुत बड़े बहुमत से स्वीकृत हुआ था। वहां खिलाफत और पंजाब हत्याकांड के अलावा स्वराज्य को भी असहयोग का कारण बताया गया था।

इन्हीं दिनों बेतिया में बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। मैं उसमें शरीक हुआ। सुरुजपुरा (सूर्यपुरा) के राजा राधिकारमण प्रसाद सिंहजी, जो उन दिनों हिन्दी के एक होनहार प्रभावशाली गद्य-लेखक थे, सभापति हुए। उन्होंने जो भाषण वहां किया था वह इतना मनोहर और सुंदर था तथा उसमें भाषा और भाव दोनों का ऐसा अच्छा सम्मिश्रण था कि उसका असर मेरे दिल पर आज तक है। बेतिया में ही मुझे मलेरिया ने पकड़ लिया। छपरे में पहुंचकर मैं बहुत बीमार पड़ गया।

कलकत्ता कांग्रेस के कुछ ही दिनों के बाद बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की एक बैठक हुई, जिसमें असहयोग संबंधी प्रस्ताव के पास हो जाने पर मेरे सामने अब वकालत छोड़ देने का प्रश्न वास्तविक रूप से उठ खड़ा हुआ। मैं तथा पंडितजी जिस मुकदमे में काम कर रहे थे, वह भी प्रायः समाप्त हो रहा था—थोड़े ही दिनों के बाद समाप्त हो गया। उससे उस समय तो फुरसत मिल गयी, पर वह मुकदमा वहीं तक रहने वाला नहीं

था। उसकी अपील हाइकोर्ट और प्रिवी कौंसिल तक जरूर जाने वाली थी, चाहे जो भी हारे। बाबू हरिजी चाहते थे कि मैं कम-से-कम उनके इस मुकदमे में, जब जरूरत पड़े, उनका काम कर दिया करूं। उसमें मैंने काफी दिनों तक काम किया था और उनसे रुपये भी मिले थे, अतः मैं उनके इस अनुरोध को टाल न सका। पर उसी समय यह निश्चय कर लिया कि इसके अलावा नये मुकदमे हाथ में न लूंगा। हां, जो पुराने मुकदमे हाथ में थे—विशेष करके जिनके लिए कुछ रुपये ले लिये थे—उनके संबंध में अभी कुछ निश्चय नहीं कर पाया था।

भाई से मैंने कोई राय नहीं ली। पर वह समझ गये थे कि अब मैं वकालत छोड़ दूंगा। उनको आशा थी कि मैं कुछ पैसे पैदा करके घर की स्थिति, जो बहुत अच्छी नहीं थी, कुछ उन्नत करूंगा। पर उन्होंने मेरे निश्चय के संबंध में उस समय कुछ भी नहीं कहा। बहुतेरे दूसरे लोगों ने भी वकालत छोड़ी। साधारणतः लोग समझते थे कि एक बरस के बाद सब अपने-अपने काम पर वापस आ सकेंगे। इस विचार से लोगों को और भी एक प्रकार का ढाढ़स बना रहा। जब से भागलपुर कांफ्रेंस में, और उसके बाद कलकत्ता कांग्रेस में, असहयोग के कारणों में स्वराज्य की बात भी जोड़ दी गयी थी, तब से मैंने समझ लिया था कि अब असहयोग लम्बा चलेगा; क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेंट स्वराज्य पर जल्दी राजी होने वाली नहीं है। महात्माजी कहा करते थे कि यदि खिलाफत और पंजाब के संबंध में गवर्नमेंट हमारी मांगें मान लेने पर मजबूर की जा सकेगी, तो वही स्वराज्य का सूचक हो जायेगा, और इसीलिए उन्होंने पहले स्वराज्य की बात प्रस्ताव में नहीं रखी थी। इसलिए उनकी नजर में आन्दोलन की अवधि या विकटता 'स्वराज्य' जोड़ देने से बढ़ी नहीं।

बम्बई से लौटने के बाद, मेरे ही घर पर पटने में, कुछ ऐसे मित्रों की सभा हुई, जो असहयोग कर रहे थे, वहां पर वकालत छोड़ने की बात हुई। मैंने कहा कि जो मुकदमे हाथ में हैं उनके संबंध में दिक्कत हो सकती है; क्योंकि हम मवक्किल से वचन-बद्ध हो चुके हैं, और विशेषकर जहां पैसे ले चुके हैं वहां तो हम छोड़ ही नहीं सकते। कुछ भाइयों ने इसे एक प्रकार से वकालत जारी रखने के लिए बहाना समझा। मैंने यह केवल अपने लिए नहीं कहा था; पर उन्होंने समझा कि मैं अपने ही बारे में यह सुविधा दूसरों के नाम पर लेना चाहता हूं। बात तो यह थी कि एक बरस आरा चले जाने के कारण हाइकोर्ट से मैं प्रायः गैरहाजिर रहा था। इसलिए इतने दिनों में बहुत-से पहले के मुकदमे खतम हो चुके थे और नये तो हाथ में आये ही नहीं थे। इसी तरह मेरे हाथ में जितने मुकदमे रहा करते थे उनकी संख्या बहुत कम हो गयी थी, तो भी, चूंकि उनकी संख्या बहुत रहा करती थी, इसलिए घटने पर भी वह काफी थी। मैं अपनी बात पर अड़ा रहा; पर वास्तव में उस बरमा (Burma) के मुकदमे के सिवा और किसी मुकदमे में मेरे हाइकोर्ट जाने की नौबत नहीं आयी। या तो मवक्किल ने मुझे छोड़ दिया, या मैंने अगर रुपये ले लिये थे तो वापस करके छुट्टी ले ली, या किसी दूसरे मित्र को अपनी जगह पर काम करने को कह दिया, जिस पर मवक्किल भी राजी हो गया।

दूसरी बात सरकारी और सरकार से सम्बद्ध स्कूलों और कालेजों के बहिष्कार की थी। मेरा अनुभव बताता था कि इसमें हमें बहुत सफलता नहीं मिलेगी। मैंने बंगाल-विच्छेद के समय कलकत्ते में उस आन्दोलन को अच्छी तरह देखा था, जो सरकारी स्कूलों के विरुद्ध चला था। वहां भी यह प्रयत्न हुआ था कि राष्ट्रीय विद्यालय खोला जाये। उस 'नेशनल कौंसिल आफ एजुकेशन' को ऐसे-ऐसे व्यक्तियों की सहायता तथा सहानुभूति मिली थी, जो केवल राजनीतिक पुरुष ही नहीं थे। सर गुरुदास बनर्जी, जो हाइकोर्ट की जजी से पेंशन पा चुके थे और जो पहले कलकत्ता युनिवर्सिटी के वाइस-चांसलर रह चुके थे, इसके बड़े पक्षपाती और सहायक थे। इसलिए उसे गवर्नमेंट के विरोध का भी विशेष भय नहीं था। कांग्रेस तथा आन्दोलन के प्रोग्राम में भी बहिष्कार की बात नहीं थी। उसमें अच्छे-अच्छे कुछ उत्साही युवक, जिन्होंने युनिवर्सिटी में बड़ा नाम पाया था, शरीक हुए थे। उनमें से विख्यात लेखक श्री विनयकुमार सरकार हैं, जिन्होंने एम. ए. की परीक्षा में स्वर्णपदक और सर्वप्रथम स्थान पाया था। इतने पर भी उसमें उतना उत्साह नहीं देखा गया; क्योंकि वहां से शिक्षा पाये हुए विद्यार्थियों को किसी प्रकार जीविका-निर्वाह का रास्ता नहीं मिलता था। इससे मैं डरता था कि यहां भी यदि हम इस पर जोर देंगे तो विद्यार्थियों में, और विशेष करके उनके अभिभावकों में, बहुत उत्साह नहीं आवेगा, और तब यह कार्यक्रम जोरों से चल नहीं सकेगा। मैंने बैठक में अपने इस विचार को भी रखा था; पर कुछ भाइयों को मेरी बात नहीं जंची; क्योंकि वे समझते थे कि मैं बहुत डरपोक हूं और यों ही अपने सामने अनावश्यक भय खड़ा कर लेता हूं।

बात यह है कि हमारे देश में विद्या अर्थकरी है। जो पढ़ता है उसे कुछ कमाना चाहिए। उसकी जिंदगी ऐसी बन जाती है कि वह पुराने तरीके से रह नहीं सकता। उसके अपने रहन-सहन में भी अधिक खर्च पड़ने लगता है। घर वाले आधुनिक शिक्षा दिलाने में खर्च काफी करते हैं और आशा रखते हैं कि उस शिक्षा से वह उस पूंजी को अगर बढ़ा न सकेगा तो कम-से-कम कायम रख सकेगा। वह शिक्षा भी ऐसी हुआ करती है कि शिक्षा समाप्त होने के बाद सरकारी नौकरी या वकालत की तरह के पेशे को छोड़कर दूसरा कोई काम भी नहीं मिलता। आरम्भ में, जब ऐसी विद्या प्राप्त किये हुए लोगों की संख्या कम थी, लोगों ने पैसे भी खूब कमाये थे। पर जैसे-जैसे अंगरेजी शिक्षा का प्रचार बढ़ता गया, शिक्षितों की संख्या बढ़ती गयी, पैसे कमाने का मौका कम होने लगा; क्योंकि इन नौकरियों और पेशों में जाने वालों की संख्या बढ़ने लगी, फलतः आपस की होड़ से कठिनाई भी बढ़ने लगी। इसलिए, यद्यपि सरकारी अंगरेजी शिक्षा से भी उतनी आशा नहीं की जा सकती थी, तथापि राष्ट्रीय शिक्षा के मुकाबले अर्थकरी होने में वह अब भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इसलिए मेरा विचार था कि हम पहले कार्यक्रम के अनुसार लड़कों को स्कूल-कालेज छोड़ने के लिए कहें, और जब देखें कि उनकी संख्या काफी होती जा रही है तब अपनी ओर से विद्यालय इत्यादि

का प्रबंध करें। मैं यह भी सोचता था कि विद्यालय खोल देने के बाद उसको चलाते रहना चाहिए। यदि हम ऐसा न कर सकेंगे तो इसका असर अच्छा न होगा। इसलिए मैं विद्यालय खोलने अथवा परीक्षा लेने के पक्ष में शुरू में नहीं था।

मैंने जो कुछ ऊपर कहा है उसका यह अर्थ नहीं है कि मैं आधुनिक शिक्षा की त्रुटियों को नहीं समझता था। मैं समझ गया था कि आधुनिक शिक्षा बिलकुल निकम्मी है। विदेशी भाषा द्वारा दी जाने के कारण इसमें समय और शक्ति की बहुत बरबादी है। इससे वह स्वाभाविक मानसिक विकास नहीं हो पाता जो अपनी भाषा द्वारा दी गयी शिक्षा से होता है। स्पष्ट है कि जहां शब्दों के अर्थ स्मरण रखने में ही सारा समय लग जाता है वहां उसके समझने और चिंतन के लिए कैसे समय मिल सकता है? इसलिए, यदि और कुछ नहीं तो केवल इस एक ही दोष के कारण वह शिक्षा सर्वथा अनिष्टकर है। विदेशी भाषा सीखने और जानने में दोष नहीं है। जानना अच्छा है। आज की दुनिया में, कम-से-कम किसी एक योरोपीय भाषा का परिचय एक प्रकार से अनिवार्य-सा हो गया है। तो भी भाषा जान लेना और उससे अपना काम निकालना एक बात है, और विदेशी भाषा को सारी शिक्षा का माध्यम बनाना बिलकुल दूसरी बात है। हम उसे माध्यम बनाने के विरोधी हैं, सीखने के नहीं। मैं यह भी समझता था कि इस शिक्षा की नींव पड़ी थी अंगरेज हाकिमों की आवश्यकता की पूर्ति के कारण। वह आवश्यकता थी अंगरेजी पढ़े-लिखे देशी लोगों की, जिनका सहयोग वे अपना कारबार चलाने में अनिवार्य समझते थे। वे कुछ ऐसे हिन्दुस्तानियों को चाहते थे जो रूप-रेखा में तो हिन्दुस्तानी हों, पर विचार और मानसिक वृत्ति में अंगरेज ही हों। उन्होंने यह भी चाहा था कि उनके दफ्तरों के काम चलाने के लिए ऐसे सस्ते हिन्दुस्तानी पैदा किये जायें, जो अंगरेजी सीखकर उनका सब काम अंगरेजी में ही कर दें। इस तरह, अंगरेजों को हिन्दुस्तानी भाषा से परिचित होने की आवश्यकता नहीं होगी। इसलिए शिक्षा की पद्धति भी कुछ ऐसी बनी थी कि विशेषतः उसी जरूरत के मुताबिक लोग तैयार किये जा सकें। हां, ऐसे तैयार होने वालों में कुछ तो ऐसे जरूर निकल आवेंगे जो स्वतंत्र रूप से कुछ विचार करने की शक्ति भी प्राप्त कर लेंगे और जो बिलकुल सरकार पर ही भरोसा न रखेंगे। ऐसे अगर कुछ निकलें तो निकलें; पर शिक्षा-पद्धति का मुख्य उद्देश्य दफ्तरी लोगों को तैयार करना ही था। ऐसा ही उसका फल भी हुआ। इसलिए मैं इस शिक्षा का पक्षपाती तो किसी तरह भी न था; पर राष्ट्रीय शिक्षा में जो दिक्कतें मैं देखता था उनसे कुछ डरकर आहिस्ता-आहिस्ता कदम बढ़ाना चाहता था। सबसे ज्यादा मुझे इस बात की चिंता थी कि शुरू होकर किसी काम का शीघ्र ही बंद हो जाना और किसी नतीजे तक न पहुंचना लोगों को हतोत्साहित करेगा। इसलिए, यदि हम काम थोड़ा भी करें तो हर्ज नहीं, पर जो करें वह ठोस होना चाहिए।

पहले कह चुका हूं कि हम लोग बिहार में पूना के फरगुसन कालेज के ढंग का एक

कालेज खोलने का विचार चम्पारन में ही कर रहे थे। कुछ रुपये भी जमा कर लिये थे। पर वह विचार स्थगित कर दिया गया था; क्योंकि गांधीजी ने कहा था कि सरकार से सम्बद्ध शिक्षालय खोलने से कोई फायदा नहीं है—यदि ऐसा करना ही चाहते हो तो बिलकुल नयी पद्धति से पढ़ाने वाली राष्ट्रीय संस्था खोलो। उनकी वह बात भी हम लोग भूले नहीं थे। इसलिए मैं कुछ ठहरकर यह देख लेना मुनासिब समझता था कि देश और विशेषकर विद्यार्थी समुदाय असहयोग के मैदान में किस तरह आता है। कुछ भाइयों का विचार था कि असहयोग को सफल बनाने के लिए जब तक हम विद्यार्थियों के सामने कोई दूसरी शिक्षा-संस्था नहीं प्रस्तुत कर देंगे तब तक वे सरकारी विद्यालयों को छोड़कर नहीं आवेंगे। इसलिए विद्यार्थियों को सरकारी विद्यालयों से हटाने—असहयोग कराने—के लिए राष्ट्रीय विद्यालय का होना आवश्यक है। मैं इस प्रकार प्रलोभन देकर असहयोग कराना पसंद नहीं करता था। मैं चाहता था कि विद्यार्थियों को देश के नाम पर और सरकारी शिक्षा की त्रुटियों को बताकर हटाना अच्छा होगा। जब वे इस तरह सब कुछ समझ-बूझकर असहयोग करेंगे तभी उनका असहयोग टिकाऊ हो सकेगा। अगर वे यह समझकर असहयोग करेंगे कि वहां भी उनको नौकरी दिलाने वाली शिक्षा मिलेगी और इस तरह उन्हें कोई नुकसान नहीं उठाना पड़ेगा, जो उनका निश्चय टिकाऊ न होगा। हमारे विद्यालय में आकर जब वे यह देखेंगे कि उनको उतनी सुविधा नहीं है जितनी सरकारी विद्यालयों में थी, तो वे हताश होकर फिर वापस चले जायेंगे। मैं चाहता था कि केवल ऐसे ही लोग आवें जो यह समझ लें कि यह रास्ता कंटकाकीर्ण है—इसमें कष्ट है और उसे झेलने के ही लिए हम जा रहे हैं, न कि उन कुछ सुविधाओं के लिए जो सहयोग करने वालों को प्राप्त हैं।

यह सब बहस चल ही रही थी और हम लोग सोच ही रहे थे कि मजहरुल हक साहब ने एक राष्ट्रीय स्कूल खोल दिया, जिसके प्रधान अध्यापक हुए लाट बाबू (श्री रामकिशोर लाल नन्दक्युलियार), जो हाल ही में विलायत से एम. ए. और बैरिस्ट्री पास कर लौटे थे। दिसम्बर के आरम्भ में गांधीजी मौलाना मुहम्मद अली और मौलाना आजाद के साथ, दौरे पर निकले। वह बिहार में भी आये। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालयों पर भी चढ़ाई की थी। थोड़ी सफलता भी मिली थी, पर पूरी नहीं। उसी चढ़ाई के फलस्वरूप काशी विद्यापीठ और जामे-मिल्लिया (दिल्ली) का जन्म हुआ था। बिहार में उन लोगों के आने से बड़ा उत्साह उमड़ा। बिहार के विद्यार्थी भी उस लहर में बह चले।

29

पटना विश्वविद्यालय से असहयोग

सरकारी शिक्षा से असहयोग का अर्थ था किसी भी शिक्षा संबंधी संस्था से संबंध न रखना। मैं पटना युनिवर्सिटी के सिनेट और सिंडिकेट का मेम्बर था। युनिवर्सिटी के कामों में काफी दिलचस्पी भी लिया करता था। युनिवर्सिटी ने एक कमिटी मुकर्रर की थी। कलकत्ता युनिवर्सिटी की स्थिति पर विचार करने के लिए नियुक्त सैडलर कमिटी की रिपोर्ट पर विचार करके पटना युनिवर्सिटी में आवश्यक सुधार की सिफारिश करने का भार उस कमिटी को दिया गया था। मैं भी उस कमिटी का एक सदस्य था। उसमें मैंने काफी परिश्रम किया था। मेरा विशेष प्रयत्न यह था कि युनिवर्सिटी, कम-से-कम मैट्रिकुलेशन की परीक्षा तक के लिए, मातृभाषा को ही शिक्षा का माध्यम मान ले। इस पर कमिटी के अंदर काफी वाद-विवाद रहा। यह प्रश्न सिनेट के सामने आने वाला था। सिनेट की बैठक नवम्बर के महीने में होने वाली थी। मैंने यह सोचा कि इस प्रस्ताव को यदि मैं सिनेट में स्वीकार करा सकूंगा तो यह भी राष्ट्रीय शिक्षा का ही एक काम होगा। इसलिए मैंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि यद्यपि मैंने असहयोगी होने का निश्चय कर लिया है तथापि मैं सिनेट की बैठक तक सिनेट और सिंडिकेट से नहीं हटूंगा। मैं जानता था कि सिनेट में इसके विरुद्ध प्रांत के बड़े-बड़े लोग थे। अभी तक लोगों के मन में अंगरेजी भाषा के लिए यह मोह था कि बचपन से ही अगर यह नहीं पढ़ी जायेगी तो इसका पूरा ज्ञान नहीं हो सकेगा और हमारे युवक संसार की होड़ में पीछे रह जायेंगे। यद्यपि सैडलर कमिटी ने भी मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने पर जोर दिया था तथापि हमारे अपने देश के लोग इसके विरोधी थे।

सिनेट के सामने, प्रस्ताव के समर्थन में, मैंने एक बहुत जबरदस्त भाषण किया, जिसमें दलीलों के अतिरिक्त भावुकता की मात्रा भी काफी थी। जहां तक मैं समझ सका, उसका असर लोगों पर काफी पड़ा। हमारे विरोधियों में मिस्टर सुलतान अहमद, मिस्टर ख्वाजा मुहम्मद नूर, जस्टिस ज्वाला प्रसाद, प्रोफेसर यदुनाथ सरकार प्रभृति थे। कुछ ने अपने भाषणों से विरोध किया, कुछ चुप रहे; पर सम्मति विरोध में दी। हमारे समर्थक दो अंगरेज निकले—प्रोफेसर हामिल्टन और प्रोफेसर ड्यूक। इनसे मैंने कुछ कहा नहीं था और न इनसे

इस विषय में कभी विचार-विनिमय ही हुआ था। पर दोनों ने, केवल शिक्षा की उपयोगिता की दृष्टि से, मेरे प्रस्ताव का जोरों से समर्थन किया। प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत हुआ। सिनेट की यह सिफारिश हुई कि युनिवर्सिटी के नियमों में ऐसा परिवर्तन किया जाये जिससे मैट्रिक परीक्षा तक की शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जा सके। इस प्रस्ताव को पास कराकर मैं बहुत खुश हुआ। किंतु सिनेट की बैठक समाप्त होते ही मैंने सिनेट और सिंडिकेट से इस्तीफा दे दिया।

उन दिनों सर हविलैंड लिमेजर गवर्नर की कौंसिल के एक मेम्बर थे। वह सिनेट के भी मेम्बर थे। सुना कि उनको मेरे इस्तीफा देने से रंज हुआ; क्योंकि वह जानते थे कि मैं युनिवर्सिटी में अच्छा काम कर रहा था। मुझे किसी तरह युनिवर्सिटी से असहयोग न करने देने के लिए ही, उन्हीं की अनुमति से, बहुत-से सरकारी लोगों ने मेरे उस प्रस्ताव के पक्ष में सम्मति देकर उसे पास कराया था। यह बात मुझे इस्तीफा भेजने के बाद मालूम हुई। मुझ पर जोर भी डाला गया कि मैं इस्तीफा वापस ले लूं, पर मैंने वैसा नहीं किया। मैंने सोचा कि एक ओर राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करना, सरकारी शिक्षा के दोष बताना और विद्यार्थियों को सरकारी विद्यालयों से निकल आने को प्रोत्साहित करना, और दूसरी ओर सरकारी शिक्षा से संबंध रखने वाली सर्वोच्च संस्था (युनिवर्सिटी) में बने रहना परस्पर विरोधी बातें हैं। यह बिलकुल गलत रास्ता होगा। इसलिए मैं इस्तीफा वापस लेने पर राजी नहीं हुआ।

अगर मैं युनिवर्सिटी में रह गया होता तो जिस प्रस्ताव को इतने परिश्रम से मैंने सिनेट में पास कराया था, उसको कार्यान्वित करने में भी शायद सफल होता। निश्चित रूप से कुछ भी आज कहना सम्भव नहीं है; पर यह दुख की बात है कि सिनेट के निश्चय के बाद भी उसके अनुसार काम नहीं किया गया। अंगरेजी माध्यम की शिक्षा प्रायः बीस बरसों तक बनी रही! हाल में मैट्रिक तक के लिए, अंगरेजी और हिसाब छोड़कर, और विषयों की शिक्षा और परीक्षा का माध्यम मातृभाषा बनी है। इन बीस बरसों में देश की स्थिति में कितना अंतर हो गया है, यह वही जानता है जिसने बीस बरसों के पूर्व सार्वजनिक हित के कार्यों में भाग लिया हो और जो आज भी लेता हो। युनिवर्सिटी भी आखिर इस आवश्यक सुधार को ज्यादा दिन न रोक सकी। बीस बरसों के बाद उसने भी इसे स्वीकार कर ही लिया है।

30

बिहार विद्यापीठ और सदाकत आश्रम

कलकत्ते में असहयोग का प्रस्ताव पास होने के बाद ही मैं कौंसिल की अपनी उमीदवारी से हट गया। चुनाव नवम्बर के महीने में ही होने वाला था। इसलिए सब से पहले इसी कार्यक्रम पर जोर देना जरूरी समझा गया। हम लोगों ने बिहार में बहुत परचे छपवाये। उसमें जनता से अपील की गयी कि जो लोग इस चुनाव में खड़े हो रहे हैं उनको कोई भी वोट न दे। कुछ लोग दौरे पर भी निकले। जगह-जगह सभाएं करके लोगों को वही बात बतायी गयी। मैंने भी कुछ दौरा किया। स्मरण है कि कार्तिक पूर्णिमा के मेले के अवसर पर मैं 'दरौली' (जिला सारन) गया था। वहां सभा हुई थी जिसमें मैंने भाषण किया था। हम लोगों की इच्छा और कोशिश थी कि कोई उमीदवार ही न खड़ा हो; पर इसमें हम सफल नहीं हुए। सभी स्थानों के लिए उमीदवार खड़े हो गये। कुछ तो बिना विरोध चुने गये; पर जहां वोट देने का मौका मिला, वहां जनता ने बहुत कम संख्या में वोट दिया। मेरा ख्याल है कि बिहार में शायद बीस-पचीस प्रतिशत से अधिक वोटरों ने वोट नहीं दिया था।

जब महात्माजी दिसम्बर में बिहार के दौरे पर आये, प्रायः उसके थोड़े ही दिन पहले, एक घटना बिहार में हुई थी, जिसका जिक्र जरूरी है। ऊपर कहा जा चुका है कि चम्पारन में नील संबंधी जांच समाप्त हो जाने पर गांधीजी ने कई जगहों में पाठशालाएं खोली थीं। इनके अलावा उस जागृति का नतीजा सूबे की कई जगहों में किसी-न-किसी रूप में देखने में आया। इस जागृति में होमरूल आन्दोलन ने भी काफी मदद पहुंचायी थी। एक रूप इसका यह हुआ कि जहां-तहां किसान सभाएं कायम हुईं, जो जमींदारों के विरुद्ध किसानों की शिकायतों को जाहिर करने लगीं। चम्पारन में भी एक किसान सभा बन गयी, जो किसानों की मदद करना अपना कर्तव्य समझती थी। उधर नये विधान के कारण यह भी स्पष्ट होने लगा कि जनता को कुछ हद तक मताधिकार मिलेगा और कौंसिल के चुनाव में किसानों को हिस्सा लेना पड़ेगा। किसान सभाओं को इससे भी प्रोत्साहन मिला। जमींदार भी कुछ घबराये। वे सोचने लगे कि हम ऐसा संगठन करें कि नये विधान के चुनाव में सफलतापूर्वक भाग ले सकें। उन्होंने नीलवरों के साथ एक समझौता किया और नीलवर जमींदार संस्था कायम की। इससे किसानों और शिक्षित वर्ग में कुछ खलबली मची और रोष पैदा हुआ।

उस समय के समाचारपत्रों के देखने से पता चलेगा कि इस संगठन के विरोध में खुल्लम-खुल्ला मुकाबला करने की बात कही गयी। इस संस्था का जन्म मुजफ्फरपुर में हुआ था। पर इसकी शाखाएं और-और जगहों में भी बनती गयीं। दरभंगा के महाराजधिराज इसके सभापति थे।

इन्हीं दिनों श्री रामरक्ष ब्रह्मचारी ने चम्पारन जिले के बेतिया सबडिवीजन के 'मछरगांवा' गांव में जाकर काम शुरू किया। वह स्थायी रूप से ग्राम-संगठन का काम करना चाहते थे। वहां के लोगों ने भी उत्साहपूर्वक साथ दिया था। बहुतेरे स्वयंसेवक काम करने के लिए तैयार थे। वहां वह जो कुछ कर रहे थे, मेरे परामर्श से कर रहे थे। जब एक बार मैं वहां गया तो वहां का संगठन देखकर मुझे बहुत आनन्द हुआ। लोगों में ऐसी पंचायतें कायम करना जो आपस के झगड़े मिटा दें, बच्चों की शिक्षा के लिए पाठशालाएं खोलना, गांवों की सफाई, किसानों की शिकायतें दूर कराने का प्रयत्न करना—यही मुख्य कार्यक्रम थे। वहां एक आश्रम बना जिसका खर्च जनता 'मुठिया' (घर-घर से एक-एक मुट्ठी अन्न) द्वारा जुटाती थी। संगठन का काम अच्छा चल रहा था। लोगों में उत्साह भी काफी था। पुलिस और निलहे गोरे इस प्रकार के संगठन को पसंद नहीं करते थे—विशेष करके पुलिस वाले; क्योंकि उनकी धांधली वहां नहीं चल सकती थी। उसी इलाके में पुलिस ने एक बड़ा कांड कर डाला।

एक आदमी ने किसी के विरुद्ध पुलिस-दारोगा के पास नालिश कर दी। जहां यह वाकया हुआ था, उसके पास के ही गांव में दारोगा किसी दूसरे मुकदमे की तहकीकात कर रहे थे। उन्होंने पुलिस के सिपाहियों और गांव के दफादार को भेजा कि जिसके विरुद्ध नालिश की गयी थी उसे और कुछ दूसरे लोगों को भी पकड़ लाओ। उन्होंने इस तरह जाने से इंकार कर दिया। जोर लगाने पर भी वे नहीं गये। दारोगाजी को गुस्सा आया। तफसील की सारी बातें यहां देना अनावश्यक है। दारोगा ने जिले के सदर मुकाम से मिलिटरी-पुलिस बुलवा ली। कई गांवों को पुरानी रीति के अनुसार लुटवा लिया। लोगों के साथ बड़ी सख्तियां हुईं। यहां तक कि स्त्रियां भी सुरक्षित न रहने पायीं। ब्रह्मचारी रामरक्ष के साथी सर्वश्री ध्वजा प्रसाद, रामविनोद सिंह और मनोरंजन प्रसाद ने वहां की धांधली की खबरें अखबारों में छपवा दीं। रामरक्ष गिरफ्तार कर लिये गये। बिहार प्रांतीय कांग्रेस कमिटी ने, जांच के लिए, श्री मजहरुल हक साहब की प्रधानता में, एक कमिटी बनायी। उस कमिटी ने जनता की शिकायतों को ही ठीक बताया और गर्वनमेंट की लीपा-पोती को गलत ठहराया।

यह आन्दोलन जोरों से चल ही रहा था जब गांधीजी बिहार में पहुंचे। वह चम्पारन जाने पर घटनास्थल पर भी गये। उन गांवों के लोगों से भी उनकी भेंट हुई। इसी यात्रा में गांधीजी ने अहिंसा की एक ऐसी व्याख्या दी जो अभी तक जहां-तहां लोगों को समझानी पड़ती है। उन्होंने कहा था—"पुरुषों ने, स्त्रियों और घरबार को छोड़, भागकर बड़ी कायरता

दिखलायी थी। उनका धर्म था कि अपनी जान देकर उनकी रक्षा करते। पर यदि उनमें इस प्रकार बिना हाथ उठाये मरने की शक्ति नहीं थी तो उनको, चाहे जिस तरह हो सकता, मुकाबला करना चाहिए था। अपने धर्म में स्थित रहकर, बिना हाथ उठाये, मर जाना ही सच्ची अहिंसा है; पर डर से भाग जाना बड़ी भारी हिंसा है। भागने से बेहतर है कि जो कुछ मिले उसे हाथ में लेकर मुकाबला किया जाये।" मैंने यह महात्माजी के शब्दों में नहीं कहा है। यह सारांश मात्र है। ब्रह्मचारी रामरक्ष और दूसरों पर जो मुकदमे चले वे कई महीनों तक पेशी में रहे। अंत में सब झूठ साबित हुए। सब लोगों की रिहाई हो गयी।

महात्माजी की यात्रा से आन्दोलन ने अधिक जोर पकड़ा। कौंसिल का चुनाव खतम हो चुका था। अब अधिक जोर स्कूल-कालेजों के खाली करने पर था। हम लोगों ने भी निश्चय किया कि एक राष्ट्रीय महाविद्यालय (कालेज) खोला जाये। पटना-गया रोड पर भाड़े पर एक मकान लेकर कालेज खोला गया। मैं जिस मकान में रहा करता था उसके पास ही यह मकान भी था। अब मैंने सोच लिया कि भाड़े पर अपने लिए मकान रखना, जब वकालत छोड़ ही दी है, अनावश्यक है; 150 रुपये मासिक का यह खर्च बंद कर देना चाहिए। इसलिए मैंने अपना मकान छोड़ दिया। महाविद्यालय में ही जाकर रहने लगा। कानून की पुस्तकों को अपने मित्र श्री शम्भुशरण वर्मा के पास रख दिया। वे पुस्तकें उनके ही साथ उनके जीवन-भर रहीं। उनकी असामयिक मृत्यु के बाद फिर दूसरे मित्र के पास चली गयीं, जहां आज तक उनके काम आ रही हैं।

पटने के इंजीनियरिंग स्कूल के विद्यार्थियों का वहां के प्रिंसिपल से किसी विषय में मतभेद हो गया। विद्यार्थियों ने हड़ताल कर दी। एक साथ जलूस बनाकर श्री मजहरुल हक साहब के पास, जो उन दिनों सिकंदर मंजिल में फ्रेजर रोड पर रहा करते थे, गये। उनसे कहा कि हम लोगों ने स्कूल छोड़ दिया है, हमको स्थान दीजिए। मजहरुल हक साहब बड़े भावुक और निर्भीक व्यक्ति थे। उनके त्याग की शक्ति भी अपूर्व थी। उस समय वह बहुत ही ऐश-आराम से उस बड़ी कोठी में रहा करते थे। अपने लिए एक बड़ी कोठी और भी बनवा रहे थे। सब कुछ छोड़कर, उन लड़कों को साथ लेकर, पटना-दानापुर सड़क पर एक बगीचे में चले गये। वहां उनके एक परिचित सज्जन का छोटा-सा मकान था। वहीं रहने लगे। जाड़े के दिन थे। खूब सर्दी पड़ रही थी। वह स्थान गंगा के किनारे होने के कारण कुछ अधिक ठंडा था। घने बगीचों से घिरे रहने के कारण वहां की जमीन में कुछ सील भी थी। तब भी मजहरुल हक साहब वहां कुछ दिनों तक उसी छोटे बंगले में रहे। आहिस्ता-आहिस्ता वहां ताड़ की चटाइयों के कुछ झोंपड़े भी बन गये। लड़के भी बड़े उत्साही थे, कष्ट का ख्याल न करके उनके साथ आनन्द से रहने लगे। उसी स्थान का नाम उन्होंने 'सदाकत आश्रम' रखा। कुछ दिनों में वही बीहड़ स्थान, जहां से रात में नौ बजे के बाद किसी राही का गुजरना खतरनाक समझा जाता था, गुलजार हो गया। वहां चर्खों का एक कारखाना खोल दिया

गया। सभी लड़के चर्खे बनाने में लग गये। आहिस्ता-आहिस्ता हक साहब ने अपने पैसों से ही मकान बनवाना शुरू कर दिया। कुछ दूसरे लड़के भी जाकर उनके साथ रहने लगे। वह स्वयं वहीं रहते, लड़कों को पढ़ाते और वही मोटा खाना खाते जो लड़के खाते। लड़के अधिकांश हिन्दू ही थे। हक साहब का ख्याल था कि कोई लड़का यह न समझे कि वह अपने हृदय में हिन्दू-मुसलमान का भेद, किसी प्रकार से भी, रखते हैं। इसलिए वह सबको एक तरह से मानते थे। लड़के भी उनको पिता की तरह पूज्य समझते थे। वैसा ही उन पर विश्वास भी रखते थे।

इस संबंध में यहां एक बात का उल्लेख कर देना अच्छा होगा। इसी बात से उस महान व्यक्ति के सच्चे भावों का पता चलेगा। हक साहब के साथ एक बहुत गरीब घर का मुसलमान लड़का रहा करता था। उन्होंने देखा था कि लड़का पढ़ने में तेज है। उनके दिल पर इसका भी असर पड़ा था कि मुसलमान होकर भी उसने हिन्दी और संस्कृत पढ़ी थी। वह कालेज के फर्स्ट या सेकेंड इयर में पढ़ता था। नाम था मुहम्मद खलील। हक साहब उसे बहुत मानते थे। असहयोग का आरम्भ होने पर उसने भी कालेज छोड़ दिया। हक साहब के साथ ही उनकी कोठी छोड़कर सदाकत आश्रम में जाकर रहने लगा। एक-डेढ़ साल के बाद मैंने सुना कि हक साहब ने उसको आश्रम से निकाल दिया। मुहम्मद खलील ने भी आकर मुझसे कहा कि वह रंज हो गये हैं, आप सिफारिश करके उनको शांत कर दीजिए। हक साहब की मेहरबानी मेरे ऊपर बराबर रहा करती थी। वह दिल से मुझे प्यार किया करते थे। इसलिए मैंने मुहम्मद खलील के बारे में उनसे कहा। उस समय तक मुहम्मद खलील सारे बिहार में विख्यात हो गये थे। उन्होंने असहयोग का आरम्भ होते ही एक राष्ट्रीय भजन बनाया था, जो उन दिनों बहुत प्रचलित हो गया था। वह वास्तव में बहुत सुंदर, हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी गान था। उसका टेक था—'भारतजननि, तेरी जय, तेरी जय हो।' उन दिनों शायद ही ऐसी कोई सभा होती जिसमें यह गीत बड़े उत्साह से न गाया जाता।

जब मैंने हक साहब से कहा कि मुहम्मद खलील की कोई गलती हो तो माफ कीजिए, तो उन्होंने बहुत ही दुख के साथ मुझसे कहा—"मैं तुम्हारी बात कभी नहीं टालता, पर इस समय मजबूर हूं। तुम नहीं जानते कि खलील ने कितना बुरा काम किया है। इसीलिए तुम सिफारिश कर रहे हो। मैंने जिस चीज को अपने सारे जीवन का मुख्य उद्देश्य बना लिया है, जिसके लिए आज तक सब कुछ करता आया हूं और आज फकीर बन गया हूं, उस पर इसने ठेस लगायी है। मैंने अब तक की सारी जिंदगी में हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए काम किया है। उसी में आज भी लगा हुआ हूं। आश्रम में रहकर इसने हिन्दू लड़कों के साथ ऐसा बर्ताव किया है जिससे वे लड़के, जो मुझ पर विश्वास करके प्रेमवश मेरे पास आ गये हैं, हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव समझने लगे। इसने मेरे सारे जीवन के बने-बनाये काम को बिगाड़ने का प्रयत्न किया है। इसने इस बात की कोशिश की है कि लड़कों को मुसलमान बनावे। मैं

सब कुछ माफ कर सकता हूं; पर इस तरह इस्लाम के नाम पर विश्वासी लड़कों के साथ विश्वासघात करना बरदाश्त नहीं कर सकता। अब मैं जान गया हूं कि हिन्दी और संस्कृत भी इसने ढोंग के लिए पढ़ी है। एक दिन यह हिन्दू-मुस्लिम फसाद भी करा देगा। मैं इसे आश्रम में हरगिज न रहने दूंगा।"

यह वही मुहम्मद खलील थे, जो कुछ दिनों बाद 'खलील दास' के नाम से विख्यात हुए। इनके संबंध में जनता समझती है कि इन्होंने कई स्थानों में हिन्दू-मुस्लिम नाइत्तफाकी का संगठन किया। इसके बहुत बुरे फल, दंगा-फसाद के रूप में, देखने में आये। इन दंगों में बहुत-से हिन्दुओं और मुसलमानों ने अपनी जानें गंवायीं। जब मैंने कई बरसों के बाद इनके संबंध में इस तरह की शिकायतें सुनीं तब मुझे हक साहब की भविष्यवाणी याद आयी। उनके वे उद्गार—वे मर्म-भरे शब्द—कानों में एक बार फिर गूंज उठे।

राष्ट्रीय महाविद्यालय खोल दिया गया। मैं उसका प्रिंसिपल बनाया गया। उसके अध्यापकों में श्री बदरीनाथ वर्मा जो उस समय बिहार नेशनल (बी. एन.) कालेज (पटना) में अंगरेजी के प्रोफेसर थे, श्री जगन्नाथ प्रसाद एम. ए. काव्यतीर्थ—जो पटना कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे, श्री प्रेमसुन्दर बोस—जो भागलपुर के टी. एन. जुबिली कालेज में फिलासफी के प्रोफेसर थे, अपने-अपने पदों से इस्तीफा देकर, आ जुटे। इनके अलावा श्री जगतनारायण लाल, श्री रामचरित्र सिंह, श्री अब्दुल बारी प्रभृति भी आ गये। हमने कालेजों के उन लड़कों को, जो पढ़ना चाहते थे, पढ़ाना शुरू कर दिया। अभी प्रायः वही विषय पढ़ाये जाते जो सरकारी कालेजों में पढ़ाये जाते थे। जो रुपया चम्पारन-यात्रा के समय महाविद्यालय के लिए जमा किया गया था, इसी में खर्च किया जाने लगा।

उधर युनिवर्सिटी की परीक्षाओं का समय नजदीक आ रहा था। कुछ भाइयों का, विशेषकर मौलवी शफी दाऊदी का, विचार था कि हम लोगों को उन लड़कों की परीक्षा भी लेना चाहिए जो सरकारी परीक्षाओं में शरीक होना नहीं चाहते। इसलिए यह भी आवश्यक हो गया कि परीक्षाओं का संगठन किया जाये। महात्मा गांधी ने भी बिहार से जाने के समय कहा था कि बिहार में भी विद्यापीठ होना चाहिए। मेरे यह कहने पर कि हमारे पास रुपये नहीं हैं, उन्होंने कहा कि चिंता न करो, अगर काम ठीक तरह से होगा तो रुपयों की कमी न होगी। जब नागपुर कांग्रेस के बाद वह दुबारा बिहार के दौरे पर आये तो झरिया में पचास-साठ हजार रुपये जमा करके मेरे पास तार दिया कि पटने आ रहा हूं, विद्यापीठ के उद्घाटन का प्रबंध करो। उसी मकान में, जहां, हमने महाविद्यालय खोल रक्खा था, उन्होंने आकर विद्यापीठ का उद्घाटन किया। श्री मजहरुल हक साहब उसके चांसलर मुकर्रर किये गये। हमने बाजाब्ता सिनेट वगैरह भी बना लिया। हम लोग पाठ्यक्रम निर्धारित करने के काम में लग गये।

यह सब देखकर सरकारी कालेज में पढ़ने वाले लड़कों में भी बहुत उत्साह उमड़ा। एक दिन पचास-साठ लड़के जलूस बनाकर, पटना कालेज और साइंस कालेज छोड़कर, सीधे

पटना-गया रोड पर हमारे महाविद्यालय में आ गये। इनमें पटना युनिवर्सिटी के अच्छे-से-अच्छे विद्यार्थी भी थे। कुछ तो रह गये, जो आज सारे प्रांत में फैले हुए हैं और आज भी सूबे के प्रमुख लोगों में हैं। कुछ ने कुछ दिनों तक तो काम किया; पर जब आन्दोलन कुछ ढीला पड़ा तो फिर सरकारी कालेज में वापस चले गये। वहां से वे अच्छी तरह पास करके सरकारी नौकरी में चले गये। आज वे ऊंचे ओहदे तक पहुंचकर सरकारी काम कर रहे हैं। कुछ तो शीघ्र ही वापस चले गये और फिर अपनी पुरानी रीति से काम करने लगे।

31

पूर्णतः असहयोग में

असहयोग के मुख्य चार अंग चार बहिष्कार थे—(1) सरकारी उपाधियों और खिताबों को छोड़ देना, (2) सरकारी शिक्षा संस्थाओं से संबंध-विच्छेद, जिसका अर्थ था कि न उनमें खुद शिक्षा ग्रहण करना और न अपने बाल-बच्चों को वहां शिक्षा पाने देना, (3) कौंसिल में न जाना और उनसे किसी प्रकार का लाभ न उठाना, (4) सरकारी अदालतों से संबंध छोड़ना अर्थात उनमें न मुकदमे दायर करना और न उनमें वकालत या मुखतारकारी या नौकरी करना। आशा की जाती थी कि हममें से प्रत्येक इन चारों बहिष्कारों को, जहां तक जो उससे संबंध रखता हो, पूरा करेगा। मुझे तो कोई खिताब या उपाधि नहीं मिली थी; पर मेरे भाई साहब को कोआपरेटिव सोसाइटी कायम करने और उनमें दिलचस्पी लेने के लिए 'रायसाहब' का खिताब मिला था। मैंने उनसे कभी खिताब छोड़ने के लिए नहीं कहा, पर उन्होंने खुद ही नागपुर कांग्रेस के कुछ बाद उसे वापस कर दिया। इसका संयोग इस तरह घटा (जब असहयोग आन्दोलन जोर पकड़ने लगा तो बिहार-उड़ीसा की सरकार के मंत्री मिस्टर हैलेट ने (जिन्होंने अभी युक्तप्रांत के गवर्नर के पद से अवकाश ग्रहण किया है) एक गश्ती चिट्ठी निकाली जिसमें उन्होंने कहा कि म्युनिसिपैलिटी और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड भी एक प्रकार से सरकार के अंग हैं; इसलिए उनके सदस्य और कर्मचारी किसी तरह असहयोग में भाग नहीं ले सकते। इससे लोगों में और भी रोष पैदा हुआ। मेरे भाई उस समय छपरा म्युनिसिपैलिटी के वाइस-चेयरमैन और ऑनरेरी मजिस्ट्रेट थे। उन्होंने अपने खिताब को वापस कर दिया। मजिस्ट्रेटी से भी इस्तीफा दे दिया। साथ ही उन्होंने यह भी साफ कह दिया कि वह जनता द्वारा चुने गये हैं, इसलिए वह वाइस-चेयरमैनी से नहीं हटेंगे—अपना वह काम करते रहेंगे।

भाई साहब के लड़के जनार्दन ने हाल ही में मैट्रिक पास करके हिन्दू युनिवर्सिटी के इंजीनियरिंग कालेज में नाम लिखाया था। मेरे दो लड़कों में मृत्युंजय, जो हाल ही कालाआजार (काला ज्वर) से बचकर अब अच्छा हो गया था, मैट्रिक में पढ़ता था; पर उमर कम होने के कारण युनिवर्सिटी के नियमानुसार परीक्षा में बैठने से रोक लिया गया था।

दूसरा लड़का धनंजय स्कूल के किसी निचले दर्जे में पढ़ता था। तीनों लड़के कालेज़ और स्कूल से हटा लिये गये। तीनों में कोई भी फिर सरकारी स्कूल या कालेज में नहीं गया। जनार्दन कीर्त्यानन्द आयरन स्टील वर्क्स के लोहे के कारखाने में कुछ दिनों के बाद काम सीखने लगा। वहां एक-डेढ़ साल काम सीखने के बाद वह विलायत चला गया। उसको विदेश में लोहे का काम सीखने के लिए एक छात्रवृत्ति मिल गयी। उसी से वह अपना सब काम चला लेता, घर से भाई साहब को थोड़ा ही बहुत खर्च करना पड़ा। मृत्युंजय बिहार विद्यापीठ में पढ़ने लगा और वहां का स्नातक हुआ। छपरे में राष्ट्रीय स्कूल जब तक चलता रहा, धन्नू पढ़ता रहा। उसके बाद उसने घर ही पर जो कुछ शिक्षा मिल सकी, प्राप्त की। मैं ऊपर कह चुका हूं कि मैंने किस तरह युनिवर्सिटी से संबंध-विच्छेद कर लिया था। वकालत मैंने छोड़ ही दी थी। इस तरह ईश्वर की दया से हम लोगों ने अपने शरीर से और व्यक्तिगत रूप से असहयोग का कार्यक्रम यथासाध्य पूरा किया।

उस समय तक बिहार में कांग्रेस का संगठन नहीं के बराबर था। प्रांतीय कांग्रेस कमिटी थी। उसके मंत्री नवाब सरफराज हुसेन खां थे। मैं भी उनका सहायक था। इसी तरह जिलों में भी कहीं-कहीं किसी जिला कमिटी का कोई मंत्री था। पर उन दिनों बाजाब्ता मेम्बर बनने की प्रथा न थी। जो चाहता था अपने को मेम्बर समझ लेता था। प्रतिनिधियों का चुनाव भी बाजाब्ता नहीं हुआ करता था। जो कांग्रेस के जलसे के समय पहुंच जाते थे, प्रतिनिधि बन जाते थे। जिले या प्रांत के नामधारी मंत्री उनको प्रमाण-पत्र दे देते थे। वे 10 रुपये फीस दाखिल करके प्रतिनिधि हो जाते थे। ऐसे ही प्रतिनिधि कांग्रेस के सालाना जलसे के समय अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के मेम्बर चुन देते। उस चुनाव में अधिक होड़ नहीं होती थी। अक्सर प्रांत के कुछ प्रमुख लोग, जो कांग्रेस में दिलचस्पी लिया करते थे, चुन दिये जाते थे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के नियमानुसार बिहार प्रांत को उसे 1500 रुपये वार्षिक चंदा देना पड़ता था। एक प्रकार से यह बात मान ली गयी थी कि जो लोग 100 रुपये देंगे, वे ही अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के मेम्बर चुने जायेंगे। इसलिए, बहुतेरे ऐसे लोग, जो यह शर्त पूरी नहीं कर सकते थे, कभी उमीदवार होने की हिम्मत नहीं करते थे। इससे यह न समझना चाहिए कि सभी चुने गये सदस्य यह 100 रुपये अदा कर देते थे। उन दिनों अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के मंत्री थे राजमहेन्द्री के सुविख्यात कांग्रेस-कर्मी श्री सुब्बाराव पांतलु। मुझे याद है कि वह अक्सर पटने में यह चंदा जमा करते। तो भी यह हर साल अदा नहीं होता! 1920 में कई हजार रुपये बिहार के नाम पर बाकी पड़े थे!

नागपुर कांग्रेस ने कांग्रेस की नियमावली बदल दी। उसने सभी जगहों में कांग्रेस का मेम्बर बनाना अनिवार्य कर दिया। प्रत्येक सूबे को उसकी आबादी के प्रति लाख पर एक प्रतिनिधि चुनने का ही अधिकार दिया। इस प्रकार प्रतिनिधियों की संख्या परिमित हो गयी। उसने यह भी अनिवार्य कर दिया कि प्रतिनिधियों का चुनाव केवल कांग्रेस के मेम्बर

ही कर सकते हैं। वह भी किसी कांग्रेस कमिटी की बाजाब्ता बैठक में ही। चुने हुए प्रतिनिधियों की सूची अधिवेशन के कई दिन पहले ही अखिल भारतीय कमिटी के दफ्तर में पहुंच जानी चाहिए। उस सूची में जिनके नाम दिये गये होते थे उन्हें छोड़, बिना विशेष कारण के, कोई दूसरा प्रतिनिधि नहीं हो सकता था। सूची के नामों में हेरफेर तभी हो सकता था, जब कोई चुना हुआ प्रतिनिधि इस्तीफा दे देता और उसकी खाली जगह पर कोई नया चुनाव हो जाता। इसका प्रमाण प्रांतीय मंत्री को देना होता।

इन नियमों के कारण अब कांग्रेस के चुनाव में काफी सख्ती आ जाने वाली थी, अब पुरानी नीति चलने वाली न थी। इसलिए नये सिरे से संगठन करके बाजाब्ता चुनाव कर लेना आवश्यक हो गया था। कांग्रेस ने इसके लिए समय भी निर्धारित कर दिया था। प्रांतीय कमिटी को नये नियमों के अनुसार अपने नियम भी बना लेने का अधिकार दिया गया था। इसलिए सोचा गया कि जब तक नया संगठन न हो जाये, एक छोटी कमिटी बना दी जाये, जो सब काम करेगी। पुराने बहुतेरे कांग्रेसी नेता अब कांग्रेस से अलग हो गये थे। कुछ तो कांग्रेस के सिद्धांत बदलने के कारण और कुछ वे, जिनको सिद्धांत (Creed) अगर मंजूर भी था तो असहयोग के कार्यक्रम से विरोध था। इसलिए भी पुनःसंगठन आवश्यक था। इस कमिटी का मंत्री मैं बनाया गया। सभापति हुए मौलाना मजहरुल हक साहब। इसको पुनस्संघटन समिति (Reorganisation Committee) का नाम दिया गया। कमिटी ने अपना काम बड़े उत्साह के साथ आरम्भ किया। हम जहां जाते, कांग्रेस के मेम्बर बनाने की बात करते और असहयोग का प्रचार तो करते ही।

बहुतेरे वकील, मुखतार और विद्यार्थी—जिन्होंने अपने-अपने काम छोड़ दिये थे—सारे प्रांत में फैल गये। वे सभी जगहों में कांग्रेस का संदेश पहुंचाने लगे। प्रायः सभी जिलों में राष्ट्रीय पाठशालाएं खुल गयीं; कुछ तो मैट्रिक कक्षा तक के लिए और कुछ नीचे के दर्जे तक। सबका संबंध बिहार विद्यापीठ के साथ हो गया। मैं समझता हूं कि मैट्रिक पाठशालाओं की संख्या 50 के लगभग होगी और प्राइमरी शालाएं प्रायः दो-ढाई सौ। सब पाठशालाओं में, जो बिहार विद्यापीठ से सम्बद्ध थीं, 20 से 25 हजार तक विद्यार्थी शिक्षा पाने लगे। बहुतेरे लोग, जिन्होंने दूसरा काम छोड़ा था, इन पाठशालाओं में शिक्षक बन गये।

उन दिनों प्रांत-भर में अनगिनत सभाएं हुई होंगी। किसी भी जिले का शायद ही कोई हिस्सा बचा होगा जहां कार्यकर्ता न पहुंचे हों और जहां सभा करके कांग्रेस का कार्यक्रम और संदेश लोगों को न बताया गया हो। मैंने सारे सूबे का चक्कर लगाया। 1921 में ही पहले-पहल सारे सूबे का परिचय हुआ। असंख्य कार्यकर्ताओं से जान-पहचान भी हो गयी।

मैं वकालत तो किया करता था, पर बड़ी सभाओं में बहुत बोलने का अभ्यास नहीं था, यद्यपि मैं लड़कपन से ही सभाओं में भाग लिया करता था। असहयोग के प्रचार में असंख्य

सभाओं में भाषण करने पड़े । नतीजा यह हुआ कि सभाओं में बोलते समय जो थोड़ा संकोच हुआ करता था, वह निकल गया । मैं अब धड़ल्ले से भाषण कर सकता था । जिन जिलों में लोग भोजपुरी बोला करते हैं उनमें जाता तो भोजपुरी में ही भाषण करता । दूसरी जगहों में शुद्ध हिन्दी में । मुझे स्मरण नहीं है कि पुरूलिया में मैंने उस साल भाषण किया या नहीं, यद्यपि यह याद है कि पुरूलिया में मैंने कभी बंगला में भी भाषण किया है । सभाएं भी कुछ छोटी-मोटी नहीं होती थीं । पांच-दस हजार का जमाव होना तो कोई बड़ी बात नहीं थी । दस हजार लोगों की सभा में आसानी से मैं सब लोगों तक अपनी आवाज पहुंचा सकता था । उससे अधिक संख्या होने पर परिश्रम पड़ता था । मेरा अनुमान है कि पंद्रह हजार तक की सभा में यदि लोग शांत रहते तो मैं अपनी आवाज पहुंचा सकता, पर बहुत अधिक परिश्रम पड़ता और पेट में दर्द हो जाता । मुझे यह भी याद है कि बीस-पचीस हजार के मजमे में भी मैंने उस साल में भाषण किये थे । एक सभा छपरा जिले में हथुआ में हुई थी । वहां न मालूम किस तरह खबर उड़ गयी थी कि सभा में महात्मा गांधी आने वाले हैं । इसलिए वहां प्रायः पचास हजार का जमाव हो गया । हजार कोशिश करने पर भी सभा ठीक नहीं जम सकी । यद्यपि मैंने अपनी पूरी शक्ति-भर जोर लगाकर एक छोटा-सा भाषण किया, तथापि मुझे शक है कि थोड़े ही लोगों ने उसे सुना या समझा ।

मैं भाषण करते समय देखा करता था कि सभा में उपस्थित लोगों पर उसका कैसा प्रभाव पड़ रहा है । जहां अच्छा प्रभाव पड़ता नजर आता और जनता सुनने के लिए उत्सुक और समझदार मालूम पड़ती वहां का भाषण भी, मैं खुद समझ सकता था कि, अच्छा हो जाया करता था । जहां ये बातें नहीं होतीं वहां भाषण भी ऐसा-वैसा ही होता । भाषण भी कुछ छोटे नहीं होते । कांग्रेस का इतिहास, खिलाफत आन्दोलन और पंजाब संबंधी जुल्म तथा स्वराज्य की आवश्यकता के अलावा असहयोग का कार्यक्रम मैं सभी सभाओं में बहुत विस्तार के साथ बताता । इसमें प्रायः एक-डेढ़ घंटा लग जाता । जहां दस हजार तक का जमाव होता वहां तो पूरे विस्तार के साथ डेढ़ घंटे या इससे अधिक देर तक भी बोल लेता । जहां इससे अधिक जनता एकत्र होती वहां कुछ संक्षेप करना पड़ता । बीस हजार से अधिक लोगों की सभा में आध घंटे से ज्यादा नहीं बोल सकता था । इस तरह मैं सारे सूबे में दौरा करता रहा । दूसरे साथी भी यही कर रहे थे ।

32

'देश' और 'सर्चलाइट' का प्रकाशन

असहयोग आन्दोलन में सभी नेता शरीक नहीं हुए। कांग्रेस के पुराने और वयोवृद्ध नेताओं ने, जो असहयोग में शरीक नहीं हुए, एक दूसरी संस्था 'बिहार प्रांतीय लीग' के नाम से कायम की। देश के नरम दल के समाचारपत्रों में इसकी चर्चा बहुत चली; पर यह संस्था कुछ कर न सकी। इसके संबंध में पीछे कुछ सुनने में नहीं आया। हमारे सूबे में एक बात की खूबी थी। मतभेद होते हुए भी आपस में संघर्ष नहीं हुआ। हम लोगों का आपस का व्यवहार भी ज्यों का त्यों बना रहा। पर इतने लोगों के अलग हो जाने के कारण, विशेष करके नागपुर में कांग्रेस की नियमावली और उसके विधान में बहुत अदल-बदल हो जाने के कारण, कांग्रेस कमिटियों का पुनःसंगठन आवश्यक हो गया। यह संगठन कई महीनों में जाकर पूरा हुआ। जून के अंत तक जिला कमिटियां बाजाब्ता बनकर प्रांतीय कमिटी का चुनाव कर सकीं। तब फिर अखिल भारतीय कमिटी के नये सदस्य चुने गये।

कांग्रेस के पुनःसंगठन के प्रश्न के साथ-साथ कुछ और भी प्रश्न उपस्थित हो गये। समाचारपत्रों के लिए बिहार अच्छा सूबा नहीं है। पहले बहुत परिश्रम और त्याग से 'बिहार टाइम्स' और 'बिहारी' निकाले गये थे; पर आर्थिक कठिनाइयों के कारण दोनों बंद हो चुके थे। 'बिहार टाइम्स' के जन्मदाता और मुख्य कार्यकर्ता बाबू महेशनारायण (अब स्वर्गीय) थे। उन्होंने उसे अपनी जिंदगी में चलाया था। श्री सच्चिदानन्द सिंह (अब डाक्टर) की भी अखबार-नवीसी में बहुत दिलचस्पी रही है। इन्होंने अपने निजी 'हिन्दुस्तान रिव्यू' के अलावा इन अखबारों की भी धन और कलम से पूरी सहायता की थी। 'बिहारी' को बनैली राज से बहुत मदद मिली थी। एक प्रकार से वही उसके बंद होने का कारण भी हुआ। दूसरा अखबार हथुआ के महाराजा की ओर से 'एक्सप्रेस' नाम से निकलता था। घाटे पर बहुत दिनों तक चलकर वह भी बंद हो गया। 1918 में पटने के सभी नेताओं ने, विशेष करके श्री सच्चिदानन्द सिंह (अब डाक्टर) और श्री हसन इमाम ने, एक अखबार की जरूरत बहुत महसूस करके निश्चय किया कि एक पत्र निकाला जाये। उसका नाम श्री सिंह के कहने के अनुसार 'सर्चलाइट' रख दिया गया। वह सप्ताह में दो बार निकला करता था। उसके डाइरेक्टरों में श्री सिंह, श्री हसन इमाम प्रभृति थे। नये लोगों में श्री ब्रजकिशोर प्रसाद थे और

मैं भी था। आन्दोलन आरम्भ होने पर 'सर्चलाइट' के सामने यह प्रश्न आया कि वह असहयोग का समर्थन करे या नहीं ? पैसा खर्च करने वालों में मुख्य श्री हसन इमाम और श्री सिंह थे। वे असहयोग के पक्षपाती नहीं थे। इधर सारे सूबे में असहयोग की लहर इस तरह उमड़ रही थी कि उसके खिलाफ जाने का अर्थ था 'सर्चलाइट' का हमेशा के लिए लोकप्रियता खो देना। इसके अलावा डाइरेक्टरों में भी हम लोग थे जो असहयोग में शरीक थे। उसके सम्पादक श्री मुरलीमनोहर प्रसाद भी असहयोग के पूरे पक्षपाती थे। ऐसी अवस्था में, आपस के इस मतभेद के कारण, नीति निर्धारित कर देना आवश्यक हो गया।

1920 से, सर्चलाइट प्रेस से ही, हिन्दी साप्ताहिक 'देश' भी निकला करता था, जिसका नाम-निहादी सम्पादक मैं समझा जाता था। असहयोग ने राजनीति को, अंगरेजी-पढ़े कुछ वकील-बैरिस्टरों और बड़े-बड़े व्यापारियों के अंगरेजी तरीके से सजे कमरों से बाहर निकालकर, गांवों के बरगदों के साये के नीचे और गांवों के खेत-खलिहानों तक पहुंचा दिया था। वहां अंगरेजी का गुजर नहीं था। जो जनता तक पहुंचना चाहता था उसे देशी भाषा की शरण लेनी पड़ती थी। इसलिए हम लोगों ने सोचा कि 'सर्चलाइट' से ज्यादा उपयोगी 'देश' होगा। हमने श्री हसन इमाम और श्री सिंह से 'सर्चलाइट' और 'देश' के संबंध में यह समझौता कर लिया कि 'सर्चलाइट' अपने सम्पादकीय लेखों में असहयोग का न तो विरोध करेगा और न समर्थन। पर दूसरों के लेख, लेखक के नाम के साथ, चाहे वे पक्ष में हों अथवा विपक्ष में, छाप सकेगा। 'देश' हम लोगों का पत्र हो जायेगा। अब से उसका घाटा और नफा हम लोगों का होगा। उसकी नीति हम जैसी चाहेंगे वैसी ही होगी; पर वह सर्चलाइट प्रेस में छपाई देकर छपा करेगा।

इस तरह एक हिन्दी साप्ताहिक हमारे हाथ में आ गया। अंगरेजी 'सर्चलाइट' भी अगर सहायक नहीं तो विरोधी भी न रहा। हम यह भी समझते थे कि हम लोग उसमें लेख लिखा करेंगे। पर यह आशा पूरी नहीं हुई; क्योंकि आन्दोलन में इतना काम बढ़ गया कि लेख लिखने का समय ही न मिला। 'देश' ने प्रचार-कार्य में बहुत सहायता पहुंचायी। ग्राहकों की संख्या भी बहुत बढ़ गयी। विज्ञापन भी बहुत मिलने लगे। हम लोग तो आन्दोलन में लगे थे। 'देश' के प्रबंध पर ध्यान नहीं दे सके। जैसे-जैसे ग्राहकों की संख्या बढ़ती गयी, प्रबंधक की गलती से घाटे की मात्रा भी वैसे ही बढ़ती गयी। कुछ दिनों के बाद जब हमने हिसाब देखा तो मालूम हुआ कि विज्ञापन की दर इतनी कम कर दी गयी थी कि उसमें जितना खर्च पड़ता था उतना भी विज्ञापनों से नहीं मिलता था। इसलिए जैसे-जैसे बिकने वाली प्रतियों की संख्या बढ़ी, घाटा भी बढ़ता गया। हमने यह देखा कि बहुतेरों के माल का प्रचार हम अपने खर्च से सारे प्रांत में जोरों से कर रहे थे; पर यह ज्ञान बहुत नुकसान उठा लेने के बाद हुआ। इस प्रकार उस समय 'देश' पर जो बोझ पड़ा, वह उसके गले में हमेशा के लिए एक भारी पत्थर-सा बंध गया।

जन-आन्दोलन कुछ दिनों के बाद ढीला पड़ा। 'देश' की बिक्री भी कुछ कम हो गयी। अंत में आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसे बंद कर देना पड़ा। जितने दिनों तक आन्दोलन का जोर रहा, वह खूब काम करता रहा और बहुत लोकप्रिय भी हो गया था।

'सर्चलाइट' निर्धारित नीति पर चल रहा था। कुछ दिनों के बाद श्री हसन इमाम और श्री सिंह उससे अलग हो गये। वह हम लोगों के अधिकार में पूरी तरह से आ गया। यहां हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि उन दोनों ने यद्यपि पैसे और परिश्रम से इसे शुरू में बहुत सहायता पहुंचाई थी, तथापि उसे बड़ी उदारता से हम लोगों के हाथों में आने दिया। जबसे यह स्थिति हो गयी, 'सर्चलाइट' पूरा-पूरा कांग्रेसी पत्र हो गया। उसके सम्पादक श्री मुरलीमनोहर प्रसाद के मिजाज के अनुकूल यही था। जब 1930-34 का सत्याग्रह चला और कांग्रेस की आज्ञा निकली कि जो समाचारपत्र स्वतंत्रतापूर्वक सच्ची घटनाएं न छाप सकें और अपने स्वतंत्र विचार न प्रकट कर सकें, वे सरकारी हुक्म मानने के बजाय अपना प्रकाशन ही बंद कर दें, तो 'सर्चलाइट' उन बहुत ही अल्प-संख्यक पत्रों में से एक था जिसने कांग्रेस की आज्ञा का पूरी तरह से पालन किया। यह सब होते हुए भी 'सर्चलाइट' कभी आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त नहीं हुआ। अंत में हम लोगों को उसका स्वत्व श्री बिड़ला ब्रदर्स को इस शर्त पर दे देना पड़ा कि उसकी आर्थिक व्यवस्था वह करेंगे; पर उसकी सम्पादकीय नीति में हम लोगों का ही अधिकार रहेगा। यह निश्चय 1941 के अंत में हुआ। तब से बिड़ला बंधु बहुत-कुछ खर्च कर चुके हैं। अभी वह अर्थ-संकट से बाहर हो ही रहा था कि 1942 के आन्दोलन में सरकार ने उसे बंद कर देने का हुक्म निकाल दिया। सम्पादक भी हम लोगों के साथ नजरबंद कर दिये गये। जहां आज मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूं, वह भी साथ हैं।

33

आन्दोलन का जोर और सरकारी दमन

ऊपर कहा जा चुका है कि कांग्रेस का सालाना जलसा 1920 के दिसम्बर में नागपुर में हुआ था। मैं इस अधिवेशन में भी अपनी अस्वस्थता के कारण शरीक न हो सका था; पर सुना कि अधिवेशन में इतने प्रतिनिधि आये थे जितने शायद कभी किसी अधिवेशन में नहीं आये थे। इसका एक कारण भी था—कुछ लोग समझते थे कि असहयोग संबंधी प्रस्ताव पर नागपुर में फिर विचार किया जायेगा। अतः दोनों पक्षों के लोग अपने-अपने पक्ष को बल पहुंचाने के लिए अधिक-से-अधिक संख्या में वहां आये थे। पर दोनों पक्षों में समझौता हो गया। अंत में कुछ हेर-फेर के साथ असहयोग का निश्चय कायम रह गया। इस प्रस्ताव के द्वारा देश को क्रमशः असहयोग का आदेश दिया गया। सरकारी खिताबों को छोड़ना, कौंसिल से अलग रहना, जो कांग्रेस के निश्चय के विरुद्ध कौंसिल में गये हैं उनसे किसी प्रकार की सेवा न लेना, गवर्नमेंट से सम्बद्ध शिक्षालयों से अलग रहना और अदालतों का बहिष्कार—आरम्भ में यही मुख्य कार्यक्रम था। फिर क्रमशः सरकारी नौकरी छोड़ना और कर-बंदी का आदेश मिलने पर उसे भी करने का निश्चय हुआ। साथ ही, शिक्षा के लिए गैर-सरकारी राष्ट्रीय शिक्षालयों की स्थापना, आपस के झगड़ों को सुलझाने के लिए पंचायत की स्थापना, चर्खा-प्रचार और विदेशी वस्त्र-बहिष्कार—ये आवश्यक बतलाये गये थे। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और अहिंसा पर भी जोर दिया गया था।

नागपुर के निश्चय के बाद वे सभी लोग, जो पहले कुछ दुविधा में थे, अब दृढ़ होकर असहयोग में लग गये। महात्माजी ने यह भी कह दिया कि कांग्रेस के कार्यक्रम को यदि लोग पूरा कर दें, तो स्वराज एक बरस के भीतर ही हो जायेगा। लोगों ने एक बरस की बात मन में धर ली। शर्तों को पूरा करने के प्रयत्न में जी-जान से सब लग गये। ऊपर कही हुई सभाओं में प्रचार का यही मुख्य उद्देश्य था।

ऊपर कहा जा चुका है कि सारे सूबे (बिहार) में असंख्य कार्यकर्ता काम करने लगे और स्वराज्य तथा असहयोग का संदेश गांव-गांव में पहुंचाने लगे। थोड़े ही दिनों में अद्भुत जागृति देखने में आने लगी। सरकार भी अपनी ओर से चुप न रही। वह देखती थी कि इस

प्रचार का फल यह हो रहा है कि जनता में उसका रोब एकबारगी उठता जा रहा है, लोग निर्भीक होते जा रहे हैं। हम भी कांग्रेस की ओर से इस बात का पूरा ख्याल रखते थे कि उत्साह में जनता की ओर से कहीं ज्यादती न हो जाये। इसलिए नागपुर के बाद प्रांतीय कमिटी ने जो आदेश निकाला उसमें शांति और अहिंसा पर पूरा जोर दिया गया—साफ-साफ कहा गया कि किसी के साथ किसी प्रकार की जबरदस्ती न की जाये। हम समझते थे, और कार्यकर्ताओं को भी यही समझाने का प्रयत्न किया गया, कि हम बल-प्रयोग में सरकार से हार जायेंगे; क्योंकि उसके पास साधन हैं, हमारे पास नहीं। इसके अलावा असहयोग की मुख्य शर्त अहिंसा है। उसके द्वारा जनता को भी हम अपनी ओर खींच सकते हैं। यदि हमारी ओर से जोर-जबरदस्ती हुई तो इसका नतीजा उल्टा होगा, हमें एक दिन पछताना पड़ेगा। इसलिए जहां कहीं भाषण किया जाता, इस पर जोर दिया जाता। जो पर्चा निकाला जाता उसमें भी इसी पर जोर दिया जाता। गवर्नमेंट इसकी खोज में रहती कि कहीं भी कुछ अशांति हो तो धर दबाया जाये। उसे इसका मौका ही न मिलता!

मुजफ्फरपुर जिले में महंगी के कारण कई जगहों में हाटों की लूट हो गयी। दरभंगा जिले और चम्पारन जिले में भी एकाध जगह ऐसा ही हुआ। सरकार को वह बहाना मिल गया जो वह खोज रही थी। हम लोग शराब-बंदी का भी प्रचार किया करते थे। इसका असर भी काफी पड़ रहा था। आबकारी की दूकानों का ठेका मार्च के महीने में दिया जाता है। बिक्री कम होती जा रही थी। सरकार को डर हो गया कि आमदनी का यह एक बड़ा जरिया खतरे में पड़ गया। इन दोनों बातों को लेकर दमन जारी हो गया। दमन मुजफ्फरपुर जिले से ही आरम्भ हुआ। और जिलों में भी जल्द ही फैल गया। चम्पारन में लौरिया कांड के समय से ही कुछ दमन चल रहा था। वहां अब और भी जोर लगाया जाने लगा। दमन का आरम्भिक रूप यह हुआ कि कार्यकर्ताओं पर, दफा 107 जाब्ता फौजदारी के अनुसार, मुचलका देने के मुकदमे चलाये गये। दफा 144 जाब्ता फौजदारी के अनुसार कार्यकर्ताओं को सभा में भाषण करने और जलूस वगैरह में शरीक होने से मना किया गया। इतने दिनों के बाद यह कहना तो मुश्किल है कि कितने आदमियों पर इस तरह के मुकदमे चलाये गये; पर इतना निश्चय ही कहा जा सकता है कि लोगों ने जमानत नहीं दी। जिन पर मुकदमा चलाया जाता वे जेल चले जाते। हां, मुकदमे में जहां-तहां लोगों ने पैरवी की। कहीं-कहीं मुकदमा अंत में खारिज करना पड़ा; क्योंकि कोई सबूत न मिला। बात तो यह थी कि सभा करने के सिवा, जिसमें असहयोग का कार्यक्रम समझाया जाता, हमारे आदमी दूसरा कोई काम कर भी नहीं रहे थे। जो हाट-लूट की लहर चली थी उसके रोकने में हमारे आदमियों ने बहुत मदद की थी। जहां कहीं से खबर आ गयी, वहां दौड़कर पहुंच जाते और जनता को समझा-बुझाकर संभाल लेते। लुटेरों से मुकाबला करने के लिए जनता को तैयार भी कर देते। पर सरकार तो आन्दोलन को रोकना चाहती थी। इसलिए उसने लुटेरों के बदले कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी को ही अधिक जरूरी और मुनासिब समझा।

थोड़े ही दिनों में सैकड़ों कार्यकर्ता इस प्रकार के मुकदमों के शिकार हो गये। प्रांतीय सरकार के प्रधान सेक्रेटरी मिस्टर टेनी ने एक सर्कुलर निकाला जिसमें जिले के अधिकारियों को प्रोत्साहन दिया गया कि वे आन्दोलन को दबावें। स्वायत्तशासन विभाग के मंत्री मिस्टर हैलेट ने दूसरा सर्कुलर निकाला जिसमें बताया गया कि म्युनिसिपैलिटियां और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड सरकार के अंग हैं, अतः उनके सदस्यों और कर्मचारियों को असहयोग में भाग लेना नहीं चाहिए। 'हांके भीम होंहि चौगूना'—जिले के अधिकारी तो यह चाहते ही थे। उन्होंने 107 और 144 की नोटिसों की झड़ी लगा दी। सैकड़ों आदमी गिरफ्तार कर जेल भेज दिये गये।

मैं मजहरुल हक साहब के साथ आरा जाने वाला था। हक साहब किसी कारण से वहां न जा सके। मैं अकेला ही गया। आरा स्टेशन पर उतरते ही मुझे 144 की नोटिस मिली कि 9 बजे से 5 बजे तक किसी जलूस और सभा में शहर के अंदर मैं शरीक नहीं हो सकता। मेरे सामने एक संकट आकर उपस्थित हो गया। नोटिस भी पुरमजाक थी। उन दिनों मैट्रिक परीक्षा हो रही थी। आरा भी उसका एक केंद्र था। नोटिस में मनाही का कारण बतलाया गया था कि जलूस और सभा से परीक्षार्थियों के काम में हर्ज होगा और वे रुष्ट होंगे।

नागपुर कांग्रेस ने निश्चय किया था कि अखिल भारतीय कमिटी की आज्ञा जब तक न हो, सत्याग्रह न किया जाये। जब इस प्रकार की कार्रवाई सरकार की ओर से होने लगी अथवा इसकी सम्भावना मालूम हुई, तो हमने प्रांतीय कमिटी की ओर से आदेश निकाल दिया था कि इस तरह के हुक्मों को मान लेना चाहिए; क्योंकि कांग्रेस ने अभी तक सत्याग्रह का आदेश नहीं दिया है। हां, जहां कहीं आत्म-प्रतिष्ठा की बात आ जाये, वहां दूसरी बात है।

मैंने नोटिस पाकर निश्चय किया कि मुझे इसे मान लेना चाहिए। इसलिए स्टेशन से मैं शहर के अंदर नहीं गया। मैं प्रायः दोपहर को पहुंचा था। स्टेशन से, म्युनिसिपैलिटी के बाहर, नजदीक के ही एक गांव में चला गया। वहां पर दोपहर के समय ठहर गया। वहीं एक बड़ी सभा हो गयी, जिसमें देहात के अलावा शहर के भी काफी लोग आ गये! फिर शाम को 5 बजे के बाद शहर में गया। वहां भी एक बड़ी सभा हो गयी जहां मैंने अपने कार्यक्रम को पूरा किया। इस तरह इस नोटिस का नतीजा यह हुआ कि एक सभा के बदले दो सभाएं ही गयीं। जनता का उत्साह भी बहुत बढ़ गया। मैं भभुआ जाने वाला था। वहां भी हमारे जाने के पहले ही कुछ मनाही की नोटिस निकल गयी। मैं वहां गया तो जरूर था; पर याद नहीं है कि नोटिस का क्या हुआ।

उस समय प्रांतीय कौंसिल की बैठक हो रही थी। जो लोग कौंसिल में शरीक हुए थे वे कांग्रेस के आदेश के विरुद्ध वहां गये थे। पर सरकारी सर्कुलरों को लेकर और मुझ पर जो नोटिस निकली थी उसे लेकर उन्होंने वहां बहस छेड़ दी। साथ ही, जो आम तौर पर दमन चल रहा था, उसकी भी कड़ी समालोचना हुई। अखबारों में इन सब बातों के छपने पर सूबे

के बाहर के पत्रों ने भी बिहार सरकार की कार्रवाइयों—विशेष करके उसके सर्कुलरों और दमन-नीति—की कड़ी समालोचना की। बात बहुत बढ़ गयी। मुजफ्फरपुर जिले के सीतामढ़ी सबडिवीजन के सबडिवीजनल अफसर मिस्टर ली, जिन्होंने इस तरह की कार्रवाइयों से बहुत ख्याति पायी थी, कुछ दिनों के बाद वहां से बदल दिये गये। मालूम नहीं कि इस देशव्यापी आन्दोलन के कारण उनकी बदली हुई अथवा और किसी कारण से; पर लोगों में यह धारणा हुई कि आन्दोलन ही उनकी बदली का कारण था।

शराब-बंदी के कारण कहीं-कहीं सरकारी अफसरों ने धांधली मचायी। हजारीबाग जिले के 'चतरा' में खेतों में शराब बिकने लगी। जनता में शराब का प्रचार तो बहुतेरे अफसर कर ही रहे थे। कहीं-कहीं कार्यकर्ता और स्वयंसेवकों पर शराब-बंदी में भाग लेने के कारण मुकदमे भी चलाये गये।

हमारे कार्यक्रम में पंचायत कायम करना भी एक मुख्य कार्य था। बहुत जगहों में पंचायतें कायम हुईं। बहुतेरे मुकदमे फैसल होने लगे। कहीं-कहीं लोगों ने पंचायती फैसले को मनवाने के लिए जातीय बहिष्कार का सहारा लिया। हमने इसे प्रांतीय कमिटी की ओर से रोका, तो भी जहां-तहां कुछ हो ही गया। एक जगह तो पंचायत का इतना रोब हो गया था कि वह सरकारी अदालतों की तरह काम कर रही थी। लोग बाजाब्ता मुकदमे दायर करने और उन्हें फैसल कराने के लिए फीस देते थे। अधिकांश फैसले लोग मान लेते थे; पर कहीं-कहीं दिक्कत पैदा होती। एक कमजोरी यह हुई कि पुराने-पुराने सड़े-गले मुकदमे भी कुछ लोग पंचायत में लाने लगे, जिसका नतीजा यह होता कि पंचायत अगर बहुत पुराना कहकर उसे न सुने तो उसकी शिकायत हो कि यह भी सरकारी अदालत की तरह इंसाफ न देखकर तमादी की बात करती है और यदि फैसला करना चाहे तो उसके फैसले को मनवाने का साधन नहीं था।

पंचायत को ही लेकर गिरिडीह में एक बड़ा वाकया हो गया। वहां पंचायत का फैसला न मानने के कारण एक आदमी का बहिष्कार किया गया। बहिष्कृत आदमी को कुएं से पानी नहीं भरने दिया गया। उसका घड़ा तोड़ दिया गया। पुलिस ने घड़ा तोड़ने वाले को गिरफ्तार किया। उसके साथ बहुत लोग थाने तक आये। वहां तथा जेल के सामने वाकया हो गया। पुलिस का कहना था कि जनता ने ढेले फेंके और पुलिस पर हमला किया। दारोगा ने अपनी पिस्तौल से गोली चलायी। बहुत लोग घायल हुए। जेल और थाने का कुछ नुकसान हुआ। कुछ लोगों पर मुकदमे चलाये गये। इसकी खबर पाते ही डाक्टर महमूद के साथ मैं वहां गया। लोग शांत किये गये। मुकदमे में शहर के बहुतेरे धनी लोग फांस लिये गये थे। ऐसे लोगों में से कुछ ने तो माफी मांग ली; पर दूसरों पर मुकदमे चले। अंत में क्या हुआ, मुझे याद नहीं है।

34

एक मनोरंजक घटना

थोड़े ही दिनों बाद, मार्च 1921 में, बेजवाड़ा में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक हुई। वहां निश्चय हुआ कि लोकमान्य तिलक के स्मारक के रूप में एक करोड़ रुपये स्वराज्य के काम के लिए, तिलक स्वराज फंड के नाम से, 30 जून तक जमा कर लिये जायें—बीस लाख चर्खे जारी हो जायें और कांग्रेस के एक करोड़ मेम्बर बना लिये जायें। बेजवाड़ा पहुंचने के पहले महात्माजी दौरा कर रहे थे। मैं कलकत्ते से ही महात्माजी के साथ उड़ीसा गया। वहां उन दिनों अकाल था। महात्माजी को इसकी खबर पहले से थी। उन्होंने कुछ मदद भी करायी थी। अकाल-पीड़ितों को महात्माजी के आगमन की खबर मिली थी। बहुतेरे दूर-दूर से आये थे। महात्माजी ने उनके अस्थि-पंजरों को देखा। वह बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने एक लेख में उड़ीसा के नंगे-भूखे कंकालों का जबरदस्त जिक्र किया। मैंने कई बार उन गरीबों की याद करके उन्हें आह भरते भी देखा है। एक बड़े मकान में वह ठहराये गये थे। एक ओर श्री जगन्नाथजी का विशाल मंदिर, पंडों और धनी-मानी लोगों का सुखमय जीवन, महात्माजी के स्वागत के लिए धूमधाम, और दूसरी ओर ये नंगे-भूखे कंकाल!

उड़ीसा की ही किसी सभा में महात्माजी ने बहुत मार्के का भाषण किया था, जिसका असर आज तक मेरे दिल पर है। सभा में किसी ने महात्माजी से प्रश्न किया कि आप अंगरेजी शिक्षा के विरुद्ध क्यों हैं—अंगरेजी शिक्षा ने ही तो राजा राममोहन राय, लोकमान्य तिलक और आपको पैदा किया है? महात्माजी ने उत्तर में कहा—"मैं तो कुछ नहीं हूं; पर लोकमान्य तिलक भी जो हैं उससे कहीं अधिक बड़े हुए होते यदि उनको अंगरेजी द्वारा शिक्षा का बोझ ढोना न पड़ा होता। राजा राममोहन और लोकमान्य तिलक श्री शंकराचार्य, गुरु नानक, गुरु गोविन्दसिंह और कबीर दास के मुकाबले में क्या हैं? आज तो सफर के और प्रचार के इतने साधन मौजूद हैं। उन लोगों के समय में तो कुछ नहीं था, तो भी उन्होंने विचार की दुनिया में कितनी बड़ी क्रांति मचा दी थी।" अंगरेजी राज्य के संबंध में भी उन्होंने कहा कि मुगल राज्य में अकबर के समय में राणा प्रताप और औरंगजेब के दिनों में शिवाजी जैसे वीरों के लिए सुअवसर था, आज वह कहां है? इस प्रकार एक बड़े प्रभावशाली भाषण

में उन्होंने यह दिखला दिया कि यह हम लोगों का मोह है जो अंगरेजी शिक्षा को ही देशोन्नति का कारण बताते हैं। हां, अंगरेजी जानना बुरा नहीं है। उसे हम में से बहुतेरों को जानना होगा। हम उसे सीखेंगे भी; पर आज की तरह वह शिक्षा का माध्यम और साधन नहीं रह सकती।

उड़ीसा से महात्माजी के साथ मैं बेजवाड़ा गया। रास्ते के दृश्य अवर्णनीय हैं। जैसा उत्साह अपने सूबे में देखा था वैसा ही आंध्र प्रदेश में भी देखने में आया। वही जनता की भीड़, वही दसों दिशाओं को गुंजाने वाले नारे! स्टेशनों पर वही जन-समूह, चलती रेलगाड़ी के किनारे लाइन पर लोगों का वही जमघट और वही विराट सभाएं। मुझे याद है कि विजयनगर में हम लोग रात को प्रायः तीन बजे रेल से उतरे। सारे शहर में लोगों ने दीवाली मनायी थी!

हम बिहार के प्रतिनिधि बेजवाड़ा से लौटते समय रेल में कार्यक्रम पूरा करने के संबंध में परस्पर बातें करने लगे। एक प्रकार से पटना पहुंचते-पहुंचते यह निश्चय कर लिया गया कि यह काम कैसे पूरा किया जायेगा। रुपये जमा करने और चर्खा चलाने की ओर लोगों का विशेष ध्यान गया। मैं भी दिन-रात सारे सूबे में दौड़ता और रुपये जमा करने में लगा रहा। सब जिलों में कार्यकर्ता इस काम में दिलोजान से लग गये। रुपये जैसे-जैसे जमा होते, बैंक में जमा होते। हम लोगों ने कई प्रकार की रसीदें छपवा ली थीं, जिनसे यह सुविधा होती कि प्रत्येक आदमी को रसीद लिखकर देने की जरूरत नहीं होती। कम-से-कम चार आने की रसीद थी। बड़ी रकमों के लिए लिखकर रसीद दे दी जाती। इसके पहले बिहार में सार्वजनिक काम के लिए जन-साधारण से इस प्रकार कभी रुपये नहीं मांगे गये थे। हम भी नहीं जानते थे कि हम कहां तक सफल होंगे। पर लोगों में उत्साह देखकर आशा बढ़ती जाती थी। हमको बहुत बड़े और धनी लोगों से बहुत ज्यादा नहीं मिला। पर हर जिले में मझोले दर्जे के लोगों ने बहुत उत्साहपूर्वक चंदा दिया। अंत में 30 जून तक हमने सात-आठ लाख के लगभग जमा कर लिया। 30 जून को गांधीजी को तार द्वारा इसकी सूचना दे दी गयी। इस काम में सब से ज्यादा उत्साह तिरहुत डिवीजन के जिलों ने दिखाया—यद्यपि और जिले भी कुछ बहुत पीछे नहीं थे।

बिहार के कई जिलों में घूमते-घूमते काफी अनुभव हुआ। कहीं-कहीं कुछ दिलचस्प घटनाएं भी हुईं। मनोविनोद के लिए एक घटना का वर्णन कर देता हूं।

जून का महीना था। मैं रांची जिले में तिलक स्वराज्य कोष के लिए रुपया जमा करने गया। वहां के कार्यकर्ताओं ने मेरे लिए दो दिनों का कार्यक्रम, जिले के विभिन्न स्थानों में जाने के लिए, बना लिया। पहले दिन रांची से मोटर पर चलकर 10 बजे तक 'बुंडू' पहुंच वहां का काम समाप्त करना था। दोपहर का भोजन रांची ही वापस आकर करना था। सेपहर को 'खूंटी' जाना था। रात तक फिर रांची वापस आना था। दूसरे दिन सवेरे लोहरदगा जाना था। वहां से दोपहर तक वापस आकर तीसरे पहर की गाड़ी से पटने के लिए रवाना होना था।

हम लोग रांची में सवेरे ही नहा-धोकर तैयार हो गये। टैक्सी के आने में कुछ देर हो गयी। हम सात आदमी, जिनमें एक ड्राइवर और दूसरा क्लीनर था, उस पर सवार होकर रवाना हुए। यह सोचा गया था कि दोपहर को रांची में ही आकर भोजन करना होगा। इसलिए हमने साथ में कुछ भी न लिया। जो कुर्ते पहने और चादर लिये हुए थे, वही सारा सामान था। डाक्टर पूर्ण मित्र ने, जो वहां के नेता थे, साथ में एक छोटा-सा बेग रख लिया था, जिसकी खबर हम लोगों को उस समय नहीं थी। कुछ दूर जाने पर, एक जंगल में पहुंचने पर, मोटर में कुछ टूट गया। ड्राइवर ने मरम्मत शुरू की और कहा कि बस दस-पांच मिनट में तैयार कर लूंगा। मरम्मत में देर होने लगी। ज्यों-ज्यों हम घबराते, वह आश्वासन देता जाता। दो-तीन घंटों के बाद उसने कहा कि लोहार की जरूरत होगी। तलाश करने पर एक गांव मिला, जहां लोहार के घर जाकर उसने कुछ पीट-पाट कर दुरुस्त कराया। जंगल में कुछ भी खाने-पीने का सामान नजर नहीं आता था। इमली के वृक्ष थे। उनमें इमली के फल के गुच्छे लटक रहे थे। हम लोग उन्हें तोड़-तोड़कर जबान और दांत खट्टे करते रहे। दोपहर के बाद प्यास ने जोर किया। फिर गांव तलाश करके लोटा-बाल्टी मंगनी मांगी गयी। बहुत दूर से पानी लाकर प्यास बुझायी गयी।

जब मरम्मत का काम जारी था, एक दूसरी मोटर पर सवार पुलिस वाले जाते हुए नजर आये। हम लोगों को देखकर उन्होंने अपनी गाड़ी रोक ली। हमने उनसे कहा कि हम 'बुंडू' शीघ्र ही पहुंचते हैं, आप वहां कह दें कि मोटर बिगड़ने के कारण हम लोगों के आने में कुछ विलम्ब हो रहा है। उन्होंने मोटर रोककर हम लोगों का हाल जान लेने की शिष्टता तो की थी; पर यह संवाद वहां पहुंचाने की भद्रता नहीं की! वहां जो जनता कुछ दूर-दूर के गांवों से भी आयी थी, हम लोगों का तीन-चार बजे तक इंतजार करके जहां-तहां चली गयी।

अंत में मोटर मरम्मत हो गयी। हम लोग पांच-छः बजे शाम तक 'बुंडू' पहुंचे। जो लोग गांवों से आये थे, वे तो चले गये थे। पर खास 'बुंडू' के लोगों में हमारे पहुंचने की खबर बात की बात में पहुंच गयी। सभा जुट गयी। हस्ब-मामूल वहां भी भाषण हुआ। रुपये जमा किये गये। जहां तक मुझे याद है, वहां सात-आठ सौ रुपये के लगभग धन एकत्र हुआ।

काम खत्म करके हम लोग तुरंत चलने के लिए तैयार हुए। पर दिन-भर केवल इमलियों पर ही बीता था, इसलिए वहां के लोगों ने भोजन कर लेने का आग्रह किया। हमने भी उसे मान लिया। रसोई तैयार होते-हवाते 9-10 बज गये। अंत में भोजन करके यह विचार होने लगा कि अब क्या किया जाये? उस दिन 'खूंटी' का प्रोग्राम छूट चुका था। दूसरे दिन लोहरदगा का प्रोग्राम किसी तरह छूटना न चाहिए। तीसरे पहर की गाड़ी से पटने के लिए रवाना होना भी अत्यंत आवश्यक था। कुछ लोगों का विचार हुआ—विशेषकर मोटर वाला इस पर जोर देने लगा—कि रात को चलना ठीक नहीं है, रास्ते में जंगल है। खतरा है, मोटर भी न मालूम कहीं बिगड़ गयी तो रात का समय बड़ा भयानक होगा। मैं

समझता था कि वह बहाना कर रहा है—इतनी देर तक मोटर की मरम्मत की गयी थी, और वह ठीक चली भी थी, अब क्या बिगड़ेगी ? विशेषकर दूसरे दिन के कार्यक्रम की मुझे चिंता थी। मैंने बहुत जोर लगाया कि नहीं, जरूर चला ही जाये।

अंत में प्रायः 11-12 बजे रात में उसी टूटी मोटर पर हम सात आदमी सवार होकर रवाना हुए। बीच में थोड़ी ही दूर पर, एक घाट है जहां कुछ ऊंची चढ़ाई है। उस चढ़ाई पर चढ़ते समय मोटर फिर टूट गयी। जहां मोटर टूटी वहां से प्रायः दो-ढाई सौ गज और ऊपर चढ़ना था। उसके बाद उतार था। उतार में यदि इंजिन न भी काम करे, तो मोटर आसानी से चली जायेगी, ऐसा ड्राइवर ने कहा। हम लोगों ने भी ऐसा ही अनुमान किया। घाट से उतरकर ही एक डाक-बंगला था। हमने सोचा कि डाक-बंगले तक अगर हम किसी तरह पहुंच जायें तो वहां रात आराम से कटेगी, हम सो सकेंगे। अपनी बेवकूफी से और उत्साह में हमने यह निश्चय किया कि जो थोड़ी चढ़ाई है उसे हम लोग मोटर ढकेल करके ही पार कर लेंगे। इसलिए हमने मोटर को आगे ढकेलना शुरू किया। 20-30 गज तक मोटर ढकेल ले गये। वहां ढाल बहुत कम थी और ऊंचाई अधिक। मोटर का ऊपर चढ़ना कठिन था; पर हम लोगों ने जोर लगाया। नतीजा यह हुआ कि चंद गज ऊपर ढकेलने के बाद मोटर उलटे पीछे की ओर झुकी। हम अपनी सारी शक्ति लगाकर उसे रोकने लगे। किसी-न-किसी तरह उसे एक खड्ड में गिरने से हम बचा सके। इसके बाद अब फिर हिम्मत न हुई कि मोटर ढकेलने की कोशिश की जाये।

रात के शायद 12-1 बजे होंगे। मध्य जंगल में हम सात आदमी किसी तरह मोटर में बैठकर आये थे। दिन-भर की थकान के बाद रात को सोना भी आवश्यक था। ड्राइवर, उस निर्जन स्थान की भयानक बातें कहकर, हम लोगों को डराता भी जाता था। उसने कहा कि यहां हिंसक जानवरों और चोर-डाकुओं, दोनों का डर था। हमने कहा कि चोर-डाकू हमसे लेंगे ही क्या, हमारे पास तो कुछ नहीं है। हां, यदि जंगली जानवर आ जाये तो उसका भय अवश्य है। मैंने यह कह तो दिया; पर मुझे यह नहीं मालूम था कि डाक्टर ने बुंडू के मिले रुपयों को अपने बेग में रख लिया था। वह बेग साथ ही था। उस समय मेरी बात सुनकर डाक्टर भी कुछ न बोले। मैं भी दूसरे दिन सुबह तक इसी भूल में था कि हमारे हाथ बिलकुल खाली हैं।

हम सलाह कर ही रहे थे कि जंगल के भीतर से गरगराहट सुन पड़ी। ड्राइवर तो बहुत डर गया। कहने लगा, यह आवाज बनैले जानवर की है। कुछ ही देर में आवाज बंद हो गयी। हम सब शांत होकर किसी तरह मोटर में बैठ गये। कुछ देर बाद जब फिर कुछ चित्त शांत हुआ तो हमने सोचा कि मोटर वहीं छोड़ दी जाये और हम लोग डाक-बंगले तक पैदल चलकर वहां सोवें, फिर सवेरे मोटर का कुछ प्रबंध किया जायेगा। मगर ड्राइवर इस पर राजी न हुआ। जब हम लोगों ने कहा कि हम लोग चले जाते हैं, तुम मोटर के साथ यहीं ठहरो, तो वह रोने-चिल्लाने लगा।

अंत में यह निश्चय हुआ कि तीन आदमी मोटर के साथ ठहर जायें, बाकी चार आदमी डाक-बंगले पर चले जायें। रात चांदनी थी, यही एक चीज थी जिससे कुछ हिम्मत बनी रहती थी। डाक-बंगला पहुंचते-पहुंचते हम लोग प्यास के मारे परेशान थे। डाक-बंगले में कोई था नहीं; दरवाजे बंद थे। हमने सोचा कि दरवाजा किसी तरह खोला जाये। इसमें हम सफल भी हो गये। अंदर से टटोलकर एक बाल्टी निकाली गयी। दो चारपाइयां और दो मेजें थीं। वे भी बाहर निकाली गयीं। पर बाल्टी से तो प्यास बुझती न थी, कुएं और डोरी की आवश्यकता रह ही गयी। हम लोग फिर एक बार डाक-बंगले के आसपास चौकीदार की खोज में निकले। कुछ दूर पर देखा कि एक आदमी एक बच्चे को बगल में लेकर गाढ़ी नींद में सोया हुआ है। उस घोर जंगल में बच्चे के साथ उस आदमी को इस प्रकार निश्चिंत सोते देखकर हम अचम्भे में आ गये। वह बहुत पुकारने पर जगा। ऊंघते-ऊंघते ही उसने कहा कि डोरी तो नहीं है, पर कुआं जंगल में थोड़ी ही दूर घुसने पर मिलेगा।

प्यास से हम लोग परेशान थे। इसलिए फिर कुएं की तलाश में निकले। वह मिला भी। अपनी चादरों को जोड़कर डोरी बनायी गयी। उसी से बाल्टी में पानी निकाला गया। पानी पीकर हम लोगों में से कुछ तो चारपाई पर और कुछ टेबुल पर सो रहे। सोने का समय थोड़ा ही मिला। सवेरे उठकर, मुंह-हाथ धोकर, हम लोगों ने सोचा कि यहां तो कोई सवारी मिलने वाली नहीं है, इसलिए रांची की ओर हम लोग पैदल ही बढ़ें; कोई गांव मिल जायेगा तो वहां कुछ खाने का भी प्रबंध हो सकेगा।

सब लोग चलने पर राजी नहीं थे। इसलिए मैं तथा एक आदमी और, दोनों चल पड़े। वहां से तीन-चार मील जाने पर एक गांव मिला, जहां कुछ चने मिले। प्रायः 9 बज चले थे। चने चबाकर हम लोग कुछ विश्राम करने लगे। धूप कड़ी हो गयी थी। शीतल हवा चल रही थी। तुरंत नींद आ गयी। प्रायः एक-डेढ़ घंटे के बाद किसी ने आकर जगाया। मालूम हुआ कि रांची के भाइयों ने कल दोपहर तक हमारी बाट जोही। जब हम नहीं पहुंचे तो दूसरी टैक्सी करके हमारी खोज में कुछ लोगों को भेजा। उन्होंने भूल यह की कि इस टैक्सी पर भी प्रायः पूरा बोझ लेकर तीन-चार आदमी आये। हम लोग पांच आदमी तो, मोटर वालों को छोड़कर, एक गाड़ी का बोझ पहले से थे ही। हमने कहा कि हममें से जो लोग अभी पीछे छूटे थे उनको पहले रांची पहुंचाओ, फिर दुबारा मोटर ले आओ तो हम दोनों चलेंगे। उन्होंने भी इसे पसंद किया। हम लोग प्रायः डेढ़-दो घंटे और आराम से सोये। फिर जब मोटर प्रायः एक बजे के करीब आयी तो रांची गये। वहां कुछ भोजन करके, सेपहर की गाड़ी से, सीधे पटने के लिए रवाना हो गये।

इतनी दिलचस्प तो नहीं, पर इस प्रकार की कई घटनाएं उन दिनों के सफर में होती रहीं।

35

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और खादी-प्रचार

जुलाई 1921 में बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी का अधिवेशन हुआ। वहां बिहार के और लोगों के साथ मैं भी गया। अधिवेशन में काफी उत्साह था, क्योंकि तुरंत एक करोड़ रुपये जमा करने का कार्यक्रम सफलतापूर्वक देश ने पूरा कर लिया था। चर्खे के संबंध में भी काफी प्रचार हुआ था। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य तो मानो पूर्ण रूप से स्थापित जान पड़ता था। हम लोग यह नहीं समझ सकते थे कि यह कभी फिर टूटेगा। इन कारणों से उस अधिवेशन में कुछ लोगों ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि सत्याग्रह शुरू करना चाहिए।

उधर गवर्नमेंट की ओर से भी कुछ कार्रवाइयां हो रही थीं, जिनसे बहुत लोग क्षुब्ध थे। हमने यद्यपि बहुत बड़ा आन्दोलन सारे देश में चलाया था, तथापि वह वैध था। कानून तोड़ा नहीं गया था—यद्यपि भाषणों में काफी आजादी बरती जाती थी। कांग्रेसी लोगों के रहन-सहन और चाल-ढाल में साहस, उत्साह और सबसे अधिक निडरपन टपका करता था। गवर्नमेंट जहां-तहां कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया करती थी। देश में इस प्रकार कई सौ आदमी जेलखानों में थे। बिहार में हुई गिरफ्तारियों और दमन का जिक्र ऊपर किया गया है। इन कारणों से भी लोगों ने बहुत जोर दिया कि सत्याग्रह शुरू कर देना चाहिए।

महात्मा गांधी ने अभी सब्र रखने की सलाह दी। चर्खा-प्रचार और उसके द्वारा विदेशी वस्त्र-बहिष्कार 30 सितम्बर तक पूरा करने का निश्चय हुआ। उन्होंने कहा कि जो कार्यक्रम कांग्रेस ने निर्धारित कर दिया है उसको पूरा करना चाहिए और तभी सत्याग्रह में सफलता की आशा की जा सकेगी। इसलिए अभी तैयारी पर जोर देते हुए सत्याग्रह का निश्चय स्थगित रहा। पर एक दूसरी चीज ऐसी आ गयी जिसने सत्याग्रह का बीज बो दिया।

गवर्नमेंट की ओर से घोषणा की गयी कि जाड़ों में प्रिंस आफ वेल्स (इंग्लैंड के युवराज) हिन्दुस्तान की यात्रा करेंगे। उन्होंने शायद सोचा था कि जनता में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध इतना प्रचार हो रहा है, लोगों में इतना उत्साह और जोश बढ़ रहा है, इसके रोकने में यह यात्रा सहायक होगी। वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने एक बार आन्दोलन के संबंध में कहा था कि इससे मैं घबरा गया हूं, चक्कर में पड़ गया हूं (puzzled and perplexed)। अब

लार्ड रीडिंग यहां वायसराय बनकर आ गये थे। वह इंग्लैंड के चतुर नीतिज्ञों में समझे जाते थे। उन्होंने कुछ ही दिन पहले अमेरिका में राजदूत के पद पर रहकर अमेरिका को लड़ाई में इंग्लैंड के पक्ष में ले आने का कौशल दिखलाया था और अब इंग्लैंड के चीफ जस्टिस के पद पर नियुक्त थे। हो सकता है कि यह (युवराज-यात्रा) उनकी चातुरी का नतीजा हो। हो सकता है, नीतिज्ञों ने समझा हो कि जैसे बंगविच्छेद के बाद बंगाल में बहुत असंतोष फैल गया था और जब वह किसी प्रकार दमन-नीति से दबाया नहीं जा सका तब सम्राट पंचम जार्ज हिन्दुस्तान में अपना अभिषेक कराने आये और यहां की जनता तथा सभी लोगों ने बड़े उत्साह के साथ उनका स्वागत किया वैसे ही इस बार भी युवराज के आगमन से हिन्दुस्तान की जनता में राजभक्ति उमड़ पड़ेगी और आन्दोलन खुद-ब-खुद कमजोर पड़ जायेगा। युवराज के इस समय हिन्दुस्तान में आने का कोई भी दूसरा कारण देखने में नहीं आता था।

अखिल भारतीय कांग्रेस ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें यह अनुरोध किया गया कि गवर्नमेंट यहां युवराज के लाने का निश्चय छोड़ दे। उसमें साफ-साफ कहा गया कि गवर्नमेंट के लिए, अपनी गिरती हुई लोकप्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के हेतु, सम्राट के पुत्र और भावी सम्राट का इस प्रकार इस्तेमाल करना मुनासिब नहीं है। यह भी बतला दिया गया कि देश की यह बात यदि गवर्नमेंट स्वीकार नहीं करेगी तो मजबूरन हमको इस यात्रा का बहिष्कार करना पड़ेगा—यद्यपि युवराज के साथ हमारा कोई व्यक्तिगत झगड़ा नहीं है, वरन् उनके लिए हम लोगों के हृदय में आदर ही है, तथापि उनका बहिष्कार भी अनिवार्य हो जायेगा। इस प्रस्ताव द्वारा साफ-साफ चेतावनी दे दी गयी कि गवर्नमेंट की इस चालबाजी का नतीजा अच्छा न होगा और देश को सत्याग्रह के लिए तैयारी करने का आदेश दिया जायेगा।

बकरीद का समय भी निकट आ गया था। बिहार और संयुक्त प्रांत में यह समय हमेशा बहुत नाजुक समझा जाता है; क्योंकि जहां-तहां गाय की कुर्बानी के लिए हिन्दू-मुस्लिम दंगा-फसाद हो जाया करते हैं। इस बार सोचा गया कि इस हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के जमाने में भी यदि बलवा-फसाद हुआ तो इसका बहुत बुरा असर पड़ेगा। सोचा गया कि इस अवसर का उपयोग हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के बढ़ाने में करना चाहिए। इस संबंध में बहुत प्रचार हुआ। महात्माजी का रास्ता यह था कि हम मुसलमानों के खिलाफ लड़कर उनसे गाय की रक्षा नहीं करा सकते और उनको मारकर हम गोरक्षा का फल भी अच्छा नहीं पा सकते। इसलिए यह उन पर ही छोड़ना चाहिए कि वे, अपने हिन्दू भाइयों की भावना को ठेस न लगाकर, भाईचारे के व्यवहार से खुद गोवध बंद करें—हिन्दुओं की जोर-जबरदस्ती से नहीं, बल्कि अपने प्रेम-भाव और उदार विचार से।

इस सिलसिले में अली-बंधुओं के साथ महात्माजी ने कुछ स्थानों का दौरा भी किया। इसी दौरे के सिलसिले में वह बिहार में भी आये। इस दौरे में महात्माजी शाहाबाद, गया और

पटना जिलों में ही गये जहां बकरीद के अवसर पर कुछ गड़बड़ी का भय था। मौलाना मुहम्मद अली और मौलाना आजाद सुभानी उनके साथ थे। महात्माजी का कार्यक्रम बहुत ही संगीन था—एक दिन में कई जगहों में सभाएं और बहुत दूर तक मोटर से सफर। मुझे याद है कि एक दिन वह संध्या को भोजन भी नहीं कर पाये, क्योंकि सूर्यास्त के बाद वह भोजन नहीं करते और सूर्यास्त के पहले इसके लिए समय नहीं मिला। मैं सफर में साथ रहा। सभी जगहों में आपस के मेल-जोल की बातें ही कही गयीं। साथ-ही-साथ, खादी-चर्खा के प्रचार की बातें भी की गयीं। बड़े संतोष और गौरव की बात है कि मुसलमान नेताओं ने—यद्यपि वे कुर्बानी करने के अपने स्वत्व को नहीं छोड़ना चाहते थे तथापि—जनता में प्रचार किया कि आदमी स्वत्व रखकर भी उसके व्यवहार करने या न करने का फैसला खुद कर सकता है; इसलिए मुसलमानों को चाहिए कि भाईचारा और रवादारी के ख्याल से, जहां तक हो सके, कुछ ऐसा न करें जिससे हिन्दुओं का दिल दुखे।

इसी वक्त हकीम अजमल खां तथा दूसरे नेताओं ने भी बड़ी करामात दिखलायी। फलस्वरूप उस साल की बकरीद केवल शांति के साथ ही नहीं बीती, बल्कि गायों की कुर्बानी भी इतनी कम हुई जितनी शायद कभी पहले भी न हुई थी। इसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ने एक-दूसरे की भावनाओं की प्रतिष्ठा की। किसी तरफ जोर-आजमाइश की कोशिश नहीं हुई। दोनों ने एक-दूसरे की रवादारी और भाईचारे पर भरोसा किया। उनका यह भरोसा निष्फल नहीं गया।

बिहार के कुछ भागों में, विशेष करके उत्तर बिहार के जिलों में, चर्खे का चलना कभी एकबारगी बंद नहीं हुआ था—यद्यपि वह बहुत कम हो गया था। इस आन्दोलन से उसको नवजीवन मिला। चर्खा-प्रचार के लिए, तिलक स्वराज्य कोष से, रुपये भी मिले। हमारे प्रांत में भी काम शुरू किया गया। काम तो हमने शुरू किया; पर शास्त्रीय ज्ञान हमको कुछ भी न था। उत्साह था, पर व्यापार-बुद्धि नहीं थी। इसलिए जो काम उस समय हुआ उसका केवल यह फल हुआ कि खादी का प्रचार तो हुआ, पर पैसे का भी काफी नुकसान हुआ। जब मैं गांधीजी के उस कथन पर अब विचार करता हूं, जिसको उन्होंने आन्दोलन के आरम्भ में ही कहा था, तो मुझे उनकी दूरदर्शिता और कार्य-कौशल का एक और भी ज्वलंत दृष्टांत मिल जाता है। उन्होंने कहा था कि हमारे राष्ट्रीय स्कूल चर्खा-शाला होने चाहिए और इसी के ज्ञान को प्राप्त करने और बढ़ाने में राष्ट्रीय शालाओं को लग जाना चाहिए—चर्खा द्वारा ही हम युवकों को सहस्रों की संख्या में काम दे सकेंगे और जनता की धनवृद्धि में सहायक हो सकेंगे। उन्होंने साबरमती आश्रम में उद्योग-शाला खोलकर चर्खा संबंधी खोज का काम भी जारी कर दिया। पर राष्ट्रीय शिक्षा के अधिकारी इस मर्म को पूरी तरह नहीं समझ सके; उन्होंने विद्यापीठों और उनके अधीन की पाठशालाओं को चर्खाशाला नहीं बनाया—यद्यपि सभी जगहों में चर्खा चलाना एक अनिवार्य विषय बना दिया गया था।

चर्खे चलने लगे; पर शास्त्र का ज्ञान शिक्षकों को तो था ही नहीं, बच्चों को वे कहां से देते ? इस तरह अंधों का नेतृत्व अंधे करने लगे ! अतः चर्खा ठीक रास्ते पर कुछ दिनों तक नहीं आ सका। आज हम इस अदूरदर्शिता के लिए किसी को दोष नहीं दे सकते; क्योंकि ऐसा होना स्वाभाविक-सा था। सब लोगों की आंखें भावी स्वराज्य की ओर, जो एक राजनीतिक परिवर्तन की सीमित चीज समझी जाती थी, लगी हुई थीं। कांग्रेस के अंदर भी कुछ लोग, विशेष करके महाराष्ट्र वाले, खादी-चर्खे का विरोध करते ही रहे। पर इन त्रुटियों के रहते हुए भी खादी का प्रचार खूब हुआ। अभी शुद्ध और अशुद्ध खादी का भेद लोग इतना नहीं समझते थे। जो मोटा कपड़ा हाथ-कर्घे पर का बुना हुआ होता उसे ही खादी समझकर खरीदते। महात्माजी ने कहा था कि सत्याग्रह के लिए खादी का प्रचार अत्यंत आवश्यक है और प्रचार का सबूत आंखों को ही मिलना चाहिए। अर्थात जब चारों ओर लोगों को खादी पहने हम देखेंगे तो हम समझ लेंगे कि इसका प्रचार हो गया—इसके लिए पुस्तकों और लेखों तथा अखबारों में छपे आंकड़ों में, अथवा किसी से पूछ करके, सबूत ढूंढने की जरूरत नहीं होगी।

बिहार के इस दौरे में गांधीजी ने खादी पर काफी जोर दिया। कोकटी का कपड़ा, जो दरभंगा जिले के मधुबनी इलाके में बनता था, काफी महीन और सुंदर तथा मुलायम होता है। उसको देखकर लोग चकित हो जाते थे। इसका व्यापार अभी तक मरा नहीं था। इसका विशेष कारण यह था कि इस कपड़े का खर्च नेपाल-दरबार में और वहां की संभ्रांत जनता में काफी था। वहां के लिए ही यह कपड़ा, विशेष करके उस इलाके में जो नेपाल की सरहद पर ही है, बहुत बना करता था। उस इलाके की बनी हुई कुछ धोतियां भी पेश की गयीं, जिनको देखकर, विशेषकर मुझे याद है कि मौलाना मुहम्मद अली, बहुत ही संतुष्ट हुए थे। बिहार-शरीफ जैसे मोमिनों के एक बड़े मुख्य स्थान पर गांधीजी गये और उन लोगों ने मदद करने का वचन भी दिया।

बिहार-यात्रा समाप्त करने के पहले गांधीजी अपने साथियों के साथ पटने आये। सदाकत आश्रम में ठहरे। अखिल भारतीय कांग्रेस की नयी बनी हुई कार्यकारिणी की बैठक वहीं हुई। बम्बई की अखिल भारतीय कमिटी में वर्किंग कमिटी का चुनाव हुआ था। मैं भी सदस्य चुना गया था। इसलिए मैं भी उस बैठक में शरीक हुआ। इस बैठक में विशेषकर इसी बात पर जोर दिया गया कि विदेशी वस्त्र-बहिष्कार का कार्यक्रम पूरा होना चाहिए और इसके लिए चर्खा-प्रचार आवश्यक है।

बिहार से गांधीजी कलकत्ते होते आसाम चले गये। मैं बिहार में खादी-संगठन और चर्खा-प्रचार के लिए घूमने लगा। प्रांतीय कमिटी ने इस काम के लिए कुछ लोगों की एक समिति बना दी। सभी जिलों में इस काम के लिए कुछ लोग नियुक्त कर दिये गये। काम खूब जोरों से चलने लगा। सरकार अपनी ओर से चुप नहीं रही। उसको भय हो गया कि

विदेशी कपड़ों की दूकानों पर पहरा बैठाया जायेगा। कांग्रेस ने कपड़े के व्यापारियों से अनुरोध किया था कि वे विदेशी कपड़े का व्यापार छोड़ दें और जो विदेशी माल उनके पास मौजूद है उसे विदेशों में ही बेचने का प्रबंध करें—भारतवर्ष में यहीं के बने कपड़े ही बेचें। इसी निश्चय से डरकर बिहार सरकार के नये प्रधानमंत्री (चीफ सेक्रेटरी) मिस्टर सिफ्टन ने एक दूसरी विज्ञप्ति निकाली, जिसमें जिला अफसरों को प्रोत्साहन दिया गया कि वे विदेशी वस्त्र संबंधी प्रचार करें और जनता को यह बतावें कि विदेशी वस्त्र के बिना लोगों को बहुत कष्ट होगा—कपड़ा बहुत महंगा हो जायेगा। और जहां कहीं कांग्रेसी लोग जोर लगावें, गिरफ्तार किये जायें। पहले इस प्रकार की एक विज्ञप्ति चीफ सेक्रेटरी रेनी ने असहयोग के संबंध में निकाली ही थी। अब विदेशी वस्त्र को लेकर और भी जोरदार नीति की घोषणा सरकार ने कर दी। मालूम होने लगा कि एक-न-एक दिन मुठभेड़ हो ही जायेगी। पर हम अपना काम दृढ़ता—किंतु सहिष्णुता—के साथ करते गये। काम खूब जोरों से आगे बढ़ता गया।

गांधीजी आसाम का दौरा समाप्त करके कलकत्ता वापस आये। वहां फिर वर्किंग कमिटी की बैठक हुई जिसमें शरीक होने के लिए मैं वहां गया।

36

मोपला विद्रोह और हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न

गांधीजी कलकत्ते से मद्रास की ओर चले गये। इसी यात्रा में उन्होंने कहीं पर लंगोटी पहनने की घोषणा कर दी। मौलाना मुहम्मद अली, जो यात्रा में साथ थे, वाल्टेयर स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिये गये। वह दूसरे कई नेताओं के साथ—जिनमें मौलाना शौकत अली, डाक्टर किचलू, मौलाना हुसैन अहमद, मौलाना निसार अहमद, पीर गुलाम मजद्दिद और श्री भारती कृष्णतीर्थ शंकराचार्य भी थे—कराची में, खिलाफत कांफ्रेंस के भाषण तथा एक फतवे के प्रचार के लिए, कचहरी में पेश किये गये। इस मुकदमे ने भी देश में बड़ी खलबली पैदा कर दी। मौलाना मुहम्मद अली ने अपने बचाव में जो बयान दिया उसके कारण, तथा उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व के कारण जो इसमें मुजरिम थे, यह एक बड़ा महत्वपूर्ण मुकदमा हो गया। अंत में श्री शंकराचार्य को छोड़कर सबको सजा हुई।

इस पर वर्किंग कमिटी की बैठक बम्बई में हुई और उसने आज्ञा दे दी कि जिस फतवे के लिए इन नेताओं को सजा मिली है वह सभी जगहों पर बड़ी-बड़ी सभाओं में दुहराया जाये। बम्बई में एकत्र वर्किंग कमिटी के मेम्बरों और दूसरे नेताओं ने अपने हस्ताक्षर से एक एलान निकाला जिसमें वहीं बातें दुहरायी गयी थीं, जिनके लिए कराची का मुकदमा चला था। इस एलान पर मैंने भी दस्तखत किया था। सारे देश में अनगिनत सभाएं हुईं। उनमें अनगिनत लोगों ने उक्त फतवे को दुहराया। सरकार ने कुछ नहीं किया, हक्का-बक्का होकर रह गयी! जिस फतवे को केवल मुसलमान जानते थे वही फतवा इस प्रकार न मालूम कितने हिन्दुओं ने भी दुहराया और यह दिखला दिया कि वही काम जिसे अगर थोड़े लोग करें तो कानूनी जुर्म हो जाता है और यदि सारा देश संगठित रूप से करे तो जुर्म नहीं रह जाता। सत्याग्रह का यह एक सुंदर नमूना देश के सामने पेश हो गया!

ठीक इसी समय बिहार प्रांतीय राजनीतिक कांफ्रेंस की बैठक, बहुत धूमधाम से आरा में, मौलवी मुहम्मद शफी के सभापतित्व में हुई। मैं उसमें एक ही दिन शामिल हो सका; क्योंकि मुझे वर्किंग कमिटी में भाग लेने के लिए बम्बई चला जाना पड़ा। फिर भी बहुतेरे हिन्दुओं ने खिलाफत फंड और सुमिरना फंड के लिए रुपये जमा करने का वचन दिया और रुपये जमा भी हुए।

जब महात्माजी इसी सफर में थे, खबर मिली कि मालाबार में मोपलों ने सरकार के खिलाफ बगावत कर दी है। शुरू में इस तरफ पूरी खबर नहीं पहुंच पायी, पर आहिस्ता-आहिस्ता खबर मिलने लगी। मौलाना मुहम्मद अली का वहां जाने का इरादा था जब वह गिरफ्तार कर लिये गये। महात्माजी भी जाना चाहते थे, पर उन्हें भी इजाजत नहीं मिली और वह रोक दिये गये। यदि वे लोग वहां जा पाते तो शायद इस आन्दोलन का वह रूप नहीं होता जो हो गया अथवा जिसका इतना प्रचार किया गया। शुरू में मोपलों ने सरकारी कर्मचारियों और रेल तथा कचहरियों इत्यादि पर ही हमला किया; पर कुछ दिन बाद खबर फैलने लगी कि उन्होंने हिन्दुओं पर भी आक्रमण करना शुरू कर दिया—उनको मारने तथा जबरदस्ती मुसलमान बनाने लगे! इस खबर से हिन्दुओं में काफी खलबली फैली। एक प्रकार से आपस के मनमुटाव का बीज-वपन भी हो गया। जो हिन्दू-मुस्लिम एकता एक प्रकार से स्थापित दीखती थी, वह इस एक घटना से ही हिलती हुई नजर आने लगी। कुछ हिन्दुओं के, और विशेष करके सरकार के, प्रचार से इसका काफी असर पड़ने लगा। पर अभी तक बात बहुत बिगड़ी नहीं थी। यदि कुछ महीनों के बाद दूसरी घटनाएं, जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम दंगे का रूप धारण कर लिया, न हुई होतीं तो 1921 के ऐक्य का दृश्य हमारे सामने आता ही रहता। पर होना कुछ और ही था!

गांधीजी का विचार है कि उन्होंने खिलाफत के संबंध में मुसलमानों की जो कुछ मदद की, वह ठीक हीं किया। इसके लिए उनको आज तक तनिक भी पश्चाताप नहीं है। उन्होंने जो कुछ किया अथवा हिन्दुओं ने जो कुछ उनकी प्रेरणा से किया, वह उचित और न्याय्य था। जब एक घर में दो भाई रहते हों तो एक पर यदि किसी प्रकार की आपत्ति-विपत्ति आवे तो दूसरे का धर्म है कि उसकी सहायता करे। इसमें यह विचार करना नहीं चाहिए कि इस सहायता के बदले में विपद्ग्रस्त भाई सहायता देने वाले के साथ क्या बर्ताव करेगा या इस उपकार को भूल जायेगा। अपना कर्तव्य करना ही मनुष्य के लिए काफी होना चाहिए। उसकी जज़ा या बदले की आशा बेकार है। इसके अतिरिक्त मैं समझता हूं कि उन्होंने मुसलमानों की मदद कुछ देश के लिए स्वार्थबुद्धि से भी की थी; क्योंकि वह मानते थे कि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य देशोद्धार के लिए आवश्यक है और इस सेवा द्वारा वह हिन्दुओं के लिए मुसलमानों से गोरक्षा की भी आशा रखते थे।

दूसरी ओर, कुछ लोगों का विचार है कि खिलाफत के आन्दोलन को, जो एक धार्मिक आन्दोलन था, इस प्रकार मदद देकर धार्मिक कट्टरपन को ही सहायता पहुंचायी गयी, जिसका नतीजा यह हुआ कि आम मुसलमान जनता में कट्टरता बढ़ी, जो समय पाकर इतनी भयंकर हो गयी कि सारे देश में—जैसे ही यह आन्दोलन कुछ कमजोर पड़ा—हिन्दू-मुस्लिम दंगे और फसाद शुरू हो गये। इतना ही नहीं, मुसलमानों में इतनी और जागृति आ गयी कि वह धार्मिक विषयों के अलावा राजनीति में भी अपना कट्टरपन दिखाने लगे। और, जब कुछ

दिनों के बाद तुर्कों ने ही खलीफा को निकाल दिया, और इस प्रकार खिलाफत की जड़ ही कट गयी, तो यह जागृति पूरी तरह से भारतीय राजनीति में मुसलमानों को कट्टरपंथी बनाने में समर्थ हुई। यदि इतना ही होता तो कोई हर्ज नहीं था, पर यह कट्टरपन धार्मिक होने के कारण मुसलमानों में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने की भावना पैदा करने लगा।

कोई भी क्रिया अपनी प्रतिक्रिया के बिना नहीं रहती। कट्टरपन हिन्दुओं में भी आने लगा। एक ओर से मुसलमानों ने तबलीग—धर्म-परिवर्तन—के लिए जनता में प्रचार करना शुरू किया, तो दूसरी ओर हिन्दुओं ने शुद्धि और संगठन का बिगुल बजाया। सबका नतीजा यह हुआ कि आहिस्ता-आहिस्ता मनमुटाव बढ़ता गया। आज दोनों के बीच में एक बहुत चौड़ी और गहरी खाई-सी पैदा हो गयी है, जिसका इस समय किसी तरह पटना या पार करना बहुत मुश्किल हो रहा है। ब्रिटिश सरकार इस मौके पर कैसे चूक सकती थी? वह समय-समय पर अपनी कूटनीति से काम लेने से बाज नहीं आयी। वह छोटी चिनगारी को चतुरता से बराबर फूंकती गयी। अब भी, जब वह एक ज्वाला का रूप धारण कर चुकी है, वह उसमें घी डालने से बाज नहीं आती!

यहां पर मैंने थोड़े शब्दों में एक लम्बी कहानी कह डाली। ऐसा न समझा जाये कि मैंने जो कुछ लिखा है वह सब कुछ 1921 में ही हो गया। उस समय किसी तरह जमीन पर बीज गिर गया, जिसको शायद बहुतेरों ने गिरते देखा भी नहीं, अगर देखा भी तो उसे इतना महत्व नहीं दिया, क्योंकि बावजूद मोपला विद्रोह के सारे देश में अभी तक ऐक्य-ही-ऐक्य देखने में आता था जिसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण उन सभाओं में मिला जो फतवा दुहराने के लिए सारे देश में की गयीं तथा जिसकी पुष्टि युवराज के आने पर देश ने सर्वव्यापी बहिष्कार द्वारा की।

यहां इन दो विचार-धाराओं के संबंध में इतना ही कह देना चाहता हूं कि दोनों के दृष्टिकोण में बड़ा अंतर है। मुसलमान चाहे जिस तरह से भारत में आये हों और चाहे जिस तरह उनकी संख्या बढ़ी हो, आज वे हिन्दुस्तान के वैसे ही निवासी हैं जैसे हिन्दू। उनके लिए भी कोई दूसरा देश नहीं है। उनकी सहानुभूति दूसरे देशों के मुसलमानों के साथ भले ही हो, और बहस के लिए यह भी मान लिया जाये कि उनको यदि इस बात के चुनने का मौका मिले कि वे किसी विपत्तिकाल में अपने पड़ोसी गैर-मुस्लिमों को छोड़कर दूरवर्ती विदेशी मुसलमानों के साथ ही अपनी सहानुभूति रखेंगे और अधिक करके दिखलायेंगे, तो भी इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि इसी देश के अंदर उनको भी मरना-जीना, सुख-दुख पाना और जिंदगी के सभी अरमान पूरे करना तथा मुसीबतें झेलना है। मरने के बाद भी वे देश के कुछ हिस्से पर कब्जा बनाये रखते हैं। हिन्दू मरने के बाद जला दिया जाता है और उसके पांच-भौतिक शरीर का निशान कहीं नहीं रह जाता, जो थोड़ी-बहुत राख के रूप में रह जाता है उसे भी वायु उड़ा ले जाती है अथवा पानी बहा ले जाता है! पर मुसलमान तीन-चार हाथ

जमीन लेकर स्थायी रूप से यहां की धरती पर पड़ा रहता है। यह बात कौन नहीं जानता कि इन कब्रों के कारण कितने झगड़े हुआ करते हैं ! इसलिए हमको यह मान लेना ही पड़ेगा कि हम मुसलमानों को इस देश में गैर नहीं समझ सकते।

अब प्रश्न यह होता है कि मुसलमान यदि गैर नहीं हैं तो उनका भी इस देश के साथ वही संबंध है जो और किसी का; इसलिए उनको भी यहां की सभी चीजों में हिस्सा मिलना चाहिए। राजनीतिक अधिकार के बंटवारे में भी उनका हिस्सा न्याय्य है। उससे इंकार करने का एक ही अर्थ है, और हो सकता है; वह अर्थ यह है कि उनको दबाकर उनके अधिकारों से वंचित रखा जाये।

जो बातें मुसलमानों के संबंध में कही गयी हैं वहीं बातें सभी मत, धर्म और विचार वालों के लिए लागू हैं। जिस देश में इतनी जातियां, इतने धर्म वाले, इतनी भाषाओं के बोलने वाले, इतने मत-मतांतर के मानने वाले बसते हों, वहां आपस की एकता में यदि स्थायित्व न हो, तो पारस्परिक विश्वास और प्रेम की नींव पर शांति कभी स्थायी नहीं हो सकती। जो जब चाहेगा, दूसरों को दबा सकेगा, अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा; पर दबे हुए लोग फिर उठ खड़े होने के प्रयत्न में ही लगे रहेंगे—न खुद शांत रहेंगे और न दूसरों को शांत रहने देंगे। आज जो दृश्य इस पृथ्वीव्यापी महायुद्ध में हम टकराती हुई शक्तियों में देख रहे हैं वही दृश्य कुछ छोटे पैमाने पर हिन्दुस्तान में बराबर ही बना रहेगा। यह कोई बुद्धिमत्ता अथवा दूरदर्शिता का परिचायक नहीं है। हम आज के इस भयंकर संहार को देखते हुए भी यदि इस रहस्य को न समझें, और इस देश को उसी प्रकार के संहार से बचाने के उपाय न सोचें, तो यह हमारे लिए लज्जा और दुख तथा हंसी की बात होगी। गांधीजी ने इसी विचारधारा के अनुसार शुरू से ही अहिंसा पर जोर दिया है, जिसकी आवश्यकता भारत जैसे देश के लिए सबसे ज्यादा है।

अहिंसा का तत्व बहुत गहन है। इसको जीवन में उतारना बड़ा ही कठिन है। इसको ठीक न समझने के कारण ही कुछ लोग इसकी शक्ति और मर्यादा की हंसी उड़ाते हैं। वे कहते हैं कि इसके द्वारा आदमी कायर हो जाता है—आज तक संसार में किसी देश ने इसे अपने राष्ट्रीय कार्यक्रम में स्वीकार नहीं किया है। लोग कहते हैं कि इसके द्वारा देश की स्वतंत्रता की रक्षा नहीं हो सकती। मामूली जन-साधारण की कौन कहे, बड़े-बड़े समझदार और संयमी पुरुष भी क्रोध को नहीं रोक सकते। क्रोध ही तो हिंसा का जन्मदाता अथवा दूसरा स्वरूप है। इसलिए यह नीति कभी प्रचलित नहीं हो सकती। यह अव्यवहार्य है—इत्यादि।

इस विषय पर विचार करते समय पहली बात यह मान लेनी चाहिए कि हिंसा में कायरता है, अहिंसा में नहीं। जहां कायरता आ गयी वहां अहिंसा रह नहीं सकती। हम यदि अपने प्रतिपक्षी से डरते हैं और उस डर से उसका नुकसान नहीं करना चाहते हैं तो इसमें अहिंसा कैसे

हो सकती है ? प्रतिपक्षी को क्षति न पहुंचाने की प्रवृत्ति डर के कारण है, न कि इसलिए कि नुकसान पहुंचाना बुरा है। जो मनुष्य इस तरह डर के मारे नुकसान नहीं पहुंचाता, उसको यदि आज मौका मिल जाये, किसी तरह दूसरे के बल का सहारा भी मिल जाये और उसका भय दूर हो जाये, तो वह निःसंकोच और अविलम्ब प्रतिपक्षी पर वार कर देगा; उससे जहां तक हो सकेगा उसकी क्षति करेगा। यह अहिंसा कदापि नहीं है। अहिंसा उसी में रह सकती है जो यह महसूस करता है कि क्षति पहुंचाना ही बुरा है, दूसरे को दुख देना अन्याय है और इसी विश्वास से वह दुख पहुंचाने से हिचकता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसकी क्षति पहुंचाने की शक्ति पर निर्भर नहीं रहती। उसको यदि शक्ति न भी हो और वह इस भावना से प्रेरित होकर क्षति पहुंचाने का विचार तक न करे, तो भी उसकी प्रवृत्ति अहिंसात्मक होगी। और, यदि शक्ति होते हुए भी वह क्षति पहुंचाने में प्रवृत्त नहीं होता, तो इसके साथ-साथ उस पर यदि प्रतिपक्षी कुछ ज्यादती और जुल्म भी करता हो, तो उसे सहने की शक्ति उसमें होनी ही चाहिए। यदि कोई किसी अन्याय को इसलिए सह लेता है कि ऐसा यदि न किया जाये तो अन्यायी और भी अधिक कष्ट पहुंचा सकता है और इसलिए मन मारकर उसे सह लेना ही ठीक है, तो यह अहिंसात्मक प्रवृत्ति नहीं है, यह कायरता है। अहिंसात्मक प्रवृत्ति वह है कि हम जो ठीक और न्याय-संगत समझते हैं उसको करते ही जायेंगे—निर्भय होकर अपने कर्तव्य पर डटे रहेंगे और अन्यायी चाहे जितना भी जुल्म करना चाहे कर ले, पर हम कर्तव्य-च्युत नहीं होंगे और अन्यायी से बदला लेने की भावना से उत्तेजित होकर उसके साथ कोई बलप्रयोग न करेंगे। जहां इस प्रकार अपने निर्धारित पथ से हम नहीं हटते, अपने पथ पर डटे रहने के कारण जो भी जुल्म अन्यायी करता है उसे सह लेते हैं और साथ ही उसे कष्ट नहीं पहुंचाते, तो सच्चे अहिंसात्मक मनुष्य का-सा हमारा बर्ताव होता है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसात्मक क्रिया में कायरता नहीं है। उसमें कष्ट सहने से डर नहीं है। यह तभी हो सकता है जब अपने पक्ष के न्याययुक्त होने में पूरा विश्वास हो, उसके समर्थन के लिए दृढ़ संकल्प हो और विपक्षी को कष्ट न पहुंचाने का पक्का विचार हो। अंत में अहिंसात्मक व्यक्ति की ही विजय होती है।

यदि यह कहा जाये कि इस प्रकार की सहनशक्ति मनुष्य में, विशेष करके जन-साधारण में, पैदा करना मुश्किल है तो इतना ही कहना काफी होगा कि जो लोग लड़ाई में अस्त्र-शस्त्र से लड़ते हैं उनमें भी तो साधारण श्रेणी के ही लोग रहते हैं, जिनको अगर यों ही छोड़ दिया जाये तो उतनी बहादुरी नहीं दिखला सकते जो वे रणभूमि में दिखलाते हैं। केवल अभ्यास और अध्यवसाय की जरूरत है। फौज के सिपाही की बहादुरी भी अभ्यास द्वारा ही पैदा की जाती है। पर वह बहादुरी भय पर अवलम्बित है—प्रतिपक्षी को मारना ही चाहिए, नहीं तो वह मार डालेगा! प्रतिपक्षी द्वारा मारे जाने का भय ही एक अत्यंत जबरदस्त कारण बहादुरी का होता है। और, इनके अलावा, सभी संगठित सेनाओं में अनुशासन का भी भय तो रहता ही है। जो बात तुलसीदासजी ने मारीच के संबंध में कही है वह यहां भी लागू होती है—"उभय भांति देखा निज मरना"! तब मनुष्य एक

प्रकार से स्वभावतः बहादुरी करने लगता है। यह बहादुरी बहुत अभ्यास से आती है। अहिंसात्मक बहादुरी भी इसी तरह अभ्यास चाहती है।

अहिंसात्मक अभ्यास दूसरे प्रकार का होता है। फौज में दिन-प्रतिदिन कवायद, कसरत, क्रूरता-पूर्ण शिकार इत्यादि कराये जाते हैं। अहिंसात्मक अभ्यास इससे बिलकुल भिन्न है। उसका साधन, यदि एक शब्द में कहना चाहें तो, बस संयम है। यहां संयम व्यापक अर्थ में उन तमाम नियमों के लिए व्यवहृत किया गया है जिनका जिक्र हिन्दुओं के तथा दूसरे धर्मों के धर्मग्रंथों में पाया जाता है। वे साधारण सदाचार के नियम सख्ती से पालन करके सीखे जाते हैं। इन सब नियमों का झुकाव अहिंसा और सत्य की ओर ही होता है। गांधीजी ने बार-बार लिखा है कि ईश्वर पर विश्वास इसका एक बहुत बड़ा सहायक होता है। यदि इस अहिंसात्मक प्रवृत्ति को जाग्रत और पुष्ट करने में समय लगाया जाये, बचपन से ही अभ्यास कराया जाये और इस पर पूरा ध्यान दिया जाये, तो निर्भयता इत्यादि जो इसके मुख्य बाह्य रूप देखने में आते हैं, अवश्य ही प्राप्त किये जा सकते हैं। यह कहना कि यह मनुष्य के लिए संभव नहीं, बे-बुनियाद बात है।

एक समय था जब सभी देशों में से थोड़े ही लोग लड़ने का पेशा किया करते थे अथवा अपना धर्म समझा करते थे और साधारण जन-समूह फौज और लड़ाई से अलग रहा करता था। भारत में युद्ध क्षत्रियों का ही धर्म समझा जाता था। ब्रिटिश गवर्नमेंट भी भारतवर्ष में कुछ विशेष जाति या प्रदेश के लोगों को ही लड़ाकुओं में गिना करती थी और उनमें से ही फौज में लोग भर्ती हुआ करते थे। पर आजकल के विध्वंसकारी महायुद्ध ने यह साबित कर दिया कि युद्ध के लिए सभी लोग तैयार किये जा सकते हैं और जिस देश ने इस मर्म को जितना जल्द समझा और लोगों को युद्ध-शिक्षा देने का जितना अच्छा सुप्रबंध किया वह उतना ही शीघ्र और अधिक तैयार हो गया। हिन्दुस्तान में भी इस महायुद्ध में वही बंधन भर्ती में रहे जो पहले रहा करते थे और उन जातियों तथा प्रदेशों में भी काफी भर्ती हुई है जो पहले लड़ाकू नहीं समझे जाते थे। यह स्पष्ट है कि जिस तरह, आज की सेना सभी श्रेणियों और विभागों के लोगों से बनी है और बहादुरी के साथ लड़ी है उसी तरह अहिंसात्मक सेना भी जन-साधारण से तैयार की जा सकती है, बल्कि इस अहिंसात्मक सेना की भर्ती के लिए क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो सकता है। सशस्त्र सेना में शारीरिक ताकत आवश्यक होती है और इसलिए बूढ़े, कम उम्र के बच्चे और बहुत अंश में स्त्रियां उसके योग्य नहीं समझी जातीं। अहिंसात्मक सेना में बूढ़े, बच्चे, स्त्रियां और यहां तक कि अंधे, लूले, लंगड़े भी शरीक हो सकते हैं; क्योंकि इसमें वह शारीरिक शक्ति इतनी आवश्यक नहीं है—मानसिक दृढ़ता और आत्मबल ही काफी है।

अहिंसात्मक क्रिया का एक बहुत महत्वपूर्ण फल यह है कि इसमें जो शरीक होता है वही अपने ऊपर आपत्ति बुलाता है। दूसरे अगर प्रतिपक्षी भी हों तो भी कष्ट और मुसीबत के भागी नहीं होते; क्योंकि दूसरों को कष्ट पहुंचाना इसको इष्ट नहीं होता और न उस कष्ट द्वारा

यह अपना कार्य-साधन ही करना चाहती है। इसका उद्देश्य तो प्रतिपक्षी को भी अपने वश में कर लेना होता है, और वह बल-प्रयोग से नहीं, अपने प्रेम के प्रयोग से और प्रतिपक्षी में भी उसी प्रकार की भावनाओं को जाग्रत करके। इसलिए अहिंसात्मक क्रिया में कम-से-कम कष्ट होता है। जहां बल-प्रयोग है वहां दोनों पक्षों पर मुसीबत होती है। इसमें केवल एक पक्ष अपने ऊपर मुसीबत लेता है। कष्ट की मात्रा इस तरह यों ही आधी हो जाती है। पर यह मात्रा आधी से भी कहीं अधिक कम होती है; क्योंकि जहां विपक्षी बल-प्रयोग से कष्ट नहीं पहुंचाता वहां दूसरे के भी हाथ कमजोर पड़ जाते हैं और हथियार भोथरे हो जाते हैं। बाहु में बल-प्रयोग की शक्ति आंतरिक क्रोध से बढ़ती है और वह क्रोध बल-प्रयोग द्वारा प्रतिकार से जितना जाग्रत होता है उतना अहिंसात्मक प्रतिकार से नहीं होता है। इसलिए यदि दोनों पक्षों के कष्टों और मुसीबतों का लेखा लिया जाये तो इसमें संदेह नहीं कि अहिंसात्मक क्रिया में कष्ट की मात्रा बहुत ही कम हो जाती है।

अहिंसात्मक क्रिया में किसी विशेष साधन की आवश्यकता नहीं होती। आज के युद्ध में नित्य नये अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार और प्रयोग होता रहता है। आज जितना धन खर्च हो रहा है उसके आंकड़े बुद्धि को चकरा देते हैं। अमेरिका ने इस युद्ध में प्रायः 55 करोड़ रुपये प्रतिदिन खर्च किये हैं और इंग्लैंड ने प्रायः 15-16 करोड़ रुपये। गरीब भारतवर्ष ने भी एक करोड़ प्रतिदिन खर्च किया है। दूसरे देशों का पता नहीं। पर रूस और चीन के खर्च का भी कुछ इन्हीं आंकड़ों से अंदाज लगाया जा सकता है। इन राष्ट्रों के प्रतिद्वंद्वी जर्मनी, इटली और जापान कितना रोजाना खर्च करते रहे, उसका भी हम इसी से अनुमान कर सकते हैं। इन आंकड़ों में जो खर्च हुआ है वही बताया गया है। दुश्मन की कार्रवाई से जो प्रतिदिन नुकसान पहुंचाया गया है उसका हिसाब शायद इसमें नहीं है। इसी प्रकार मनुष्यों की हत्या भी बेहिसाब हुई है। और, युद्ध से पैदा हुई उन मुसीबतों और कष्टों का तो कोई हिसाब ही आंकड़ों के रूप में नहीं कहा जा सकता जो उन देशों की जनता को सहने पड़े हैं जो लड़ाई में शरीक थे, और कुछ हद तक उन देशों को भी जो लड़ाई में शरीक नहीं थे। इसके विपरीत अहिंसात्मक क्रिया में बाह्य पदार्थों की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है और जन-साधारण के जीवन-क्रम में कोई विशेष गड़बड़ी भी आवश्यक नहीं है। इस तरह से कष्ट, धन का खर्च, मानव-रक्त का खर्च और जन-समूह की मुसीबतें—सभी बातें अहिंसात्मक क्रिया में बहुत ही कम, नहीं के बराबर, हो जाती हैं; जहां बल-प्रयोग में वे इतना ज्यादा होती हैं कि उनका हिसाब ही नहीं लगाया जा सकता है। इसलिए गरीब देश भी इसका प्रयोग आसानी से कर सकता है और बड़े-से-बड़े शक्तिशाली देश का मुकाबला कर सकता है।

यह तो हुआ अंतर्राष्ट्रीय कामों में अहिंसा का महत्व। जहां एक ही देश में विभिन्न धर्मों के मानने वाले, विभिन्न भाषाएं बोलने वाले और विभिन्न विचार रखने वाले बसते हैं वहां तो यदि हिंसा की शरण ली गयी तो वहां की जनता एक दिन भी चैन से नहीं रह सकती।

अगर भारतवर्ष के लोग आपस में भाईचारे का बर्ताव न करें, एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता न बरते और अपने स्वत्वों को ही मुख्य समझकर दूसरों से उनको मनवाने में संलग्न रहें तथा दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों को गौण समझकर उनके पालन के सतत प्रयत्न में न लगे रहें, तो इसका नतीजा दिन-दिन खूनखराबी बढ़ने के सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता। जहां तक एक व्यक्ति की हिंसात्मक प्रवृत्ति का संबंध दूसरे एक व्यक्ति से होता है वहां तक तो देश की स्थापित राष्ट्र-शक्ति अपनी पुलिस और अदालतों द्वारा उसका नियंत्रण कर सकती है। पर जब यह प्रवृत्ति जन-समूह तक पहुंच जाती है और देश के विभिन्न विभाग एक-दूसरे से टकराने लगते हैं, तो पुलिस और कचहरियां बेकार हो जाती हैं। और इस झगड़े का रूप गृहयुद्ध (Civil War) का हो जाता है। इससे बचने के लिए अहिंसात्मक क्रिया पर भरोसा करने के सिवा दूसरा कोई रास्ता भारतवर्ष जैसे देश के लिए नहीं हो सकता।

इस संबंध में एक और बात स्मरण रखने योग्य है। जब हिंसा-अहिंसा की बात हम करने लगते हैं और यह कह बैठते हैं कि हिंसा तो हमारी नस-नस में भरी है, हम कैसे आशा करें कि उत्तेजन के समय साधारण मनुष्य और विशेष करके साधारण जन-समूह अहिंसात्मक रह सकेंगे, तो ऐसा कहते समय हम भूल जाते हैं कि यदि किसी व्यक्ति या समूह के जीवन की रोजाना कार्रवाइयों को देखा जाये, तो हम पावेंगे कि इन सबमें शायद ही एक-दो ऐसे काम होते होंगे जिनमें हिंसा का प्रयोग किया जाता होगा। 100 में प्रायः 99 काम ऐसे ही बिना बल-प्रयोग और बिना हिंसात्मक क्रिया के होते हैं, और उन एक या दो प्रतिशत परिस्थितियों पर भी काबू कर लेना तथा हमेशा अहिंसात्मक क्रिया को ही बरतना कुछ असम्भव नहीं होना चाहिए। हां, प्रयत्न के बिना हमारी जिंदगी जंगली जानवरों से भी बुरी हो सकती है।

चम्पारन में गांधीजी ने कहा था कि नीलवरों का मैं बुरा नहीं चाहता हूं; पर साथ ही उनके द्वारा जो जुल्म, ज्यादती और अन्याय रैयतों पर होते हैं उनको बंद कराऊंगा और दोनों का मित्र बना रहूंगा। कुछ ऐसा ही हुआ भी। कारण, सब कुछ हो जाने के बाद उन्हीं नीलवरों ने गांधीजी को पाठशाला खोलने और दूसरे प्रकार से रैयतों की उन्नति के कामों में सहायता देने का वचन भी दिया था। थोड़ी-सी सहायता कुछ लोगों से मिली भी थी। पर गांधीजी देश के दूसरे काम में लग गये और यह काम आगे न बढ़ सका। थोड़े दिनों तक तीन पाठशालाएं चलीं। पर कुछ दिनों के बाद वे पाठशालाएं बंद हो गयीं। एक के सिवा दो पाठशालाओं का नीलवरों के साथ अच्छा और मीठा अनुभव रहा।

यही बात अंगरेजी सल्तनत के साथ भी बड़े पैमाने पर हो सकती है, यदि देश ने अहिंसा के रास्ते को मजबूती से पकड़ रक्खा। पर आज संसार में प्रलयंकर युद्ध के बाद भी जिसने बल-प्रयोग को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया है और यह साबित कर दिया है कि मनुष्यमात्र को यदि जीवित रहना है और सभ्यता को कायम रहना है, तो कोई-न-कोई ऐसा

रास्ता निकालना चाहिए जिसमें राष्ट्रों को हर बीस-तीस वर्ष पर अपने युवकों को कटवाना न पड़े, माताओं को केवल मारे जाने के लिए ही बच्चे न जनने पड़ें और धन-राशि केवल अग्नि द्वारा जलाये जाने अथवा समुद्र के पेट में डुबोये जाने के लिए ही पैदा न की जाये। मैं देखता हूं कि हमारे देश का, कांग्रेसियों का और उन कार्यकर्ताओं का भी—जिन्होंने अहिंसा के सहारे से ही आज तक काम किया है और राष्ट्रीय काम में सफलता भी पायी है—उस अहिंसा पर विश्वास कम होता जा रहा है।

हिन्दू-मुस्लिम एकता के विषय में भी बहुतेरे कह बैठते हैं कि यह केवल शक्ति से ही स्थापित हो सकती है, भाई-चारे से नहीं—अर्थात जोर-आजमाई करके एक को दबा रखना जरूरी है। कुछ मुसलमान सोचते हैं कि आज से कहीं कम संख्या में रहते हुए भी हमने प्रायः सारे हिन्दुस्तान पर सैकड़ों बरसों तक राज किया है, तो फिर आज भी कर सकते हैं। उसी तरह हिन्दू भी कुछ ऐसे जरूर हैं जो कहते हैं कि हमारी संख्या इतनी अधिक है; हम विद्या, धन और बल में किसी तरह मुसलमानों से कम नहीं हैं, बल्कि बढ़े हुए हैं, और अब वे दिन लद गये जब थोड़े-से मुसलमानों ने—हिन्दुओं में जागृति न होने के कारण—राज किया था; अब हिन्दू जाति जाग्रत है और संगठित होती जा रही है, देश हिन्दुओं का था, दूसरे लोग तो केवल एक अल्पसंख्यक जाति-मात्र हैं; इसलिए यहां अधिकार हिन्दुओं का ही होना चाहिए—हां, मुसलमान तथा सभी दूसरे अल्पसंख्यक लोगों के साथ पूरा-पूरा न्याय होना चाहिए।

ये दोनों दल अपने बल पर ही भरोसा रखते हैं। अहिंसा की बात, जो एक-मात्र इस कठिन समस्या के सुलझाने का साधन है, ये बिलकुल भूल जाते हैं। क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया साधारण नैसर्गिक नियम है। हिंसात्मक क्रिया की प्रतिक्रिया हिंसात्मक होती है और अहिंसात्मक क्रिया की प्रतिक्रिया अहिंसात्मक। इसलिए इस हिन्दू-मुस्लिम समस्या के सुलझाने में यदि हम हिंसात्मक भावना से काम लेकर हिंसात्मक क्रिया पर उतरे, तो सुलझाने के बदले यह अधिक उलझती जायेगी। हां, हमारी क्रिया सच्चे अर्थ में अहिंसात्मक होनी चाहिए। उसमें न क्रोध होना चाहिए, न बल-प्रयोग—न डर होना चाहिए, न कायरता। सत्य और न्याय पर भरोसा और निष्ठा तथा सच्ची अहिंसात्मक क्रिया का ही प्रयोग होना चाहिए। हो सकता है कि इस प्रकार की अहिंसात्मक क्रिया का फल शीघ्र और सभी स्थानों पर देखने में न आवे; पर यदि हमारी क्रिया आत्मविश्वास और सचाई और बहादुरी पर अवलम्बित होगी—आत्मलाघव और डर तथा कायरता पर नहीं—तो इसकी विजय अवश्यम्भावी है।

मैं हिन्दू-मुस्लिम समस्या की बात लेकर अहिंसा संबंधी बातें बहुत कुछ लिख गया। यह विवेचन कहीं-न-कहीं आने वाला था ही। यदि यहीं आ गया, तो ठीक ही हुआ।

37

छपरे की भयंकर बाढ़

उस साल आश्विन के महीने में छपरा जिले में एक दिन बहुत पानी बरसा। 24 घंटों में प्रायः 36 इंच वर्षा हुई। इसका नतीजा यह हुआ कि सारा जिला जलप्लावित हो गया और भयंकर बाढ़ आ गयी। मेरे भाई साहब जन-सेवा में बराबर लगे रहते थे। इस मौके पर उन्होंने लोगों के सहायतार्थ बहुत परिश्रम से काम किया।

छपरा नगर में इस बाढ़ से लोगों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। पर इसके साथ-ही-साथ एक बात और देखने में आयी जिसका उल्लेख अनुचित न होगा। स्थानीय सरकारी कर्मचारियों ने जनता की मुसीबत में बड़ी उदासीनता और उपेक्षा से काम लिया, जिससे लोगों में बड़ा रोष पैदा हुआ। अखबारों में खबर छपी कि जिस समय लोग पानी के मारे त्राहि-त्राहि कर रहे थे, कुछ अफसर नावों पर चढ़कर झिरझिरी खेल रहे थे। डूबते और परेशान लोगों की, यहां तक कि स्त्रियों और बच्चों को भी बचाने में, उनमें से बहुतेरों ने कुछ भी सहायता नहीं की; बल्कि वहां के अंगरेज जज और बंगाली सब-जज ने मदद की, पर कलक्टर और पुलिस के अफसर तथा डिप्टी-मजिस्ट्रेट टस से मस नहीं हुए। इस बात को लेकर छपरे में सार्वजनिक सभा हुई जिसमें खुले आम उनकी निंदा की गयी और मदद करने वालों की—विशेष करके बाबू महेन्द्र प्रसाद और कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की—बड़ी प्रशंसा की गयी तथा उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की गयी।

देहातों का भी हाल यही था। एक जगह एक बात मजाक की भी हो गयी। छपरे में मशरक से जो रेल की लाइन आती है उसे काटने के लिए लोगों ने कलक्टर से बहुत कहा; पर उन्होंने एक न सुनी। पीछे वह लाइन टूट गयी। अथवा, जैसा मैंने पीछे सुना, किसी ने उसे थोड़ा-सा काट डाला और पीछे पानी के जोर ने ज्यादा काटकर एक बहुत लम्बा-चौड़ा खंदक बना दिया। इसी सिलसिले में दो घटनाएं उल्लेखनीय हैं। सीवान से पच्छिम एक जगह पानी बहुत जमा हो गया था। गांव वालों ने रेलवे-लाइन काट डालना चाहा; पर सशस्त्र पुलिस का पहरा था। पहले उनकी हिम्मत नहीं पड़ी, कष्ट सहते ही गये। पर जब वह बर्दाश्त के बाहर हो गया तो एक गांव के दो-चार आदमी कंधे पर कुदाल रखकर पानी में तैरते हुए

लाइन की ओर आये। पुलिस वालों ने देखा और उनको धमकाया। उन्होंने जवाब दिया—"पानी में डूबकर हम मर रहे हैं और तुम लाइन नहीं काटने देते। अब तक हमने बर्दाश्त किया, अब नहीं बर्दाश्त कर सकते। मरना दोनों हालत में है, डूब करके मरें या गोली खा करके मरें। हमने निश्चय कर लिया है कि गोली खाकर मरना बेहतर है। इसलिए हम लाइन काटेंगे, तुम गोली मारो।"

यह कहकर वे लाइन काटने लगे। पुलिस की हिम्मत नहीं पड़ी कि वह गोली चलावे। लाइन कट गयी। पानी बह निकला और कितने ही गांव बच गये। सुना कि पुलिस वालों ने रिपोर्ट कर दी कि पानी से लाइन बह गयी, किसी ने काटा नहीं। वहां अब एक बड़ा पुल हो गया है। तब से लाइन के उत्तर के गांवों में पानी रुक जाने के कारण अब बाढ़ नहीं आती।

दूसरी घटना दरौली थाने के अंदर के किसी गांव की है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़क ऊंची है। इसलिए सड़क पानी को रोक देती है, जैसे रेलवे-लाइन रोक देती है। गांव वालों ने थाने के दारोगा से जाकर कहा कि सड़क कटवा दीजिए तो बहुतेरे गांव बच जायें। उन दिनों गांव-गांव में कांग्रेस कमिटियां बन गयी थीं। थाना-भर के सब गांवों को मिलाकर थाना-कमिटी बनी थी। थाना-कमिटी के मुख्य कार्यकर्ता, चाहे वे थाना-कमिटी के सभापति हों अथवा मंत्री, 'स्वराजी दारोगा' कहलाया करते थे। लोगों ने यह नाम न मालूम कैसे दे दिया था; पर यह बहुत जगहों में प्रचलित हो गया था। सरकारी दारोगा ने मजाक में कहा—मेरे पास क्यों आये हो, 'स्वराजी दारोगा' के पास क्यों नहीं जाते ? छपरे में भी किसी उच्चपदाधिकारी ने ऐसा ही कहा था कि मदद के लिए मेरे पास क्यों आते हो, गांधी के पास जाओ। छपरा वालों ने भी गांधी—अर्थात कांग्रेस वालों—से मदद पायी थी। दरौली थाने के देहाती लोग भी थाना-मंत्री के पास गये और दारोगा के साथ हुई बात कह सुनायी। उन्होंने सुनकर कहा—अच्छा, अगर दारोगा ने ऐसा कहा है और मेरे पास भेजा है तो मैं कहता हूं, जहां तुम जरूरी समझो, सड़क काट डालो, जिससे पानी बह जाये; पर इसका ध्यान रखना कि बिना जरूरत सड़क न बिगाड़ना। लोगों ने वैसा ही किया। सड़क काटकर पानी बहा दिया।

मैं भी सहायता के काम में जुट गया। पर मैं जब पहुंचा, छपरा शहर से पानी हट गया था। गोलेदारों के गोलों में जो अन्न पानी में पड़कर सड़ गया था, उसकी दुर्गंध से उन मुहल्लों में चलना मुश्किल हो रहा था। मैंने पैसे जमा करने में और दूसरी तरह से सहायता के काम में कुछ भाग लिया। वह प्रवृत्ति पहले से ही थी। 1914 की बाढ़ में मैंने कलकत्ते से ही सहायता देने का काम संगठित रूप से आरम्भ किया था। यह प्रवृत्ति गांधीजी के संसर्ग से और भी कुछ दृढ़ हो गयी थी। जब कभी अपने प्रांत में कहीं भी बाढ़ आयी, तो मैं कुछ-न-कुछ सहायता का प्रबंध करने का प्रयत्न करता था। 1923 में शाहाबाद में सोन की भयंकर बाढ़ आयी। मैं उस समय झंडा-सत्याग्रह के काम से नागपुर गया था। खबर पाते ही

वहां से चला आया। इसी तरह दरभंगा जिले के मधुबनी सबडिवीजन में भयंकर बाढ़ आयी। वहां भी सहायता के लिए जाना पड़ा था। इन सभी जगहों में बड़ी कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता था। आरे में बहुत मुश्किल से पहुंच पाया था, क्योंकि कोइलवर और आरे के बीच में रेल की लाइन—जो बहुत ऊंची बनी है—एकदम टूट गयी थी, उसके बांध में एक-एक जगह 150-200 फुट चौड़ी कई खाइयां बन गयी थीं। नीचे का रास्ता तो बिलकुल जलमग्न था ही। रेल की पटरी के नीचे का बांध तो कट गया; पर ऊपर लोहे की पटरी और कहीं-कहीं काठ की पटरियां भी, जिन पर लोहे की रेल जड़ी रहती है, लटकती थीं। नीचे कहीं जोरों से पानी बह रहा था, तो कहीं कुंड बन गया था जिसमें बहुत गहरा पानी जमा था। इन खाइयों को पार करने का एक ही साधन था—उन पटरियों पर किसी तरह चलकर या लटक कर पार करना। मेरे साथ प्रोफेसर अब्दुल बारी थे। हम दोनों इन पटरियों पर कहीं लम्बे होकर चौपाये की तरह, कहीं हाथों से इन्हें पकड़कर, नीचे लटकते हुए बंदरों की तरह, खाइयों को पार करके आरा पहुंचे। वहां जाकर सहायता का काम संगठित किया। इन अवसरों पर रुपयों की कमी नहीं होती थी। अपील करने से लोग पैसे भेज देते। विशेष करके गांधीजी के सम्पर्क के कारण गुजराती भाइयों की कृपा रहती थी। बम्बई और गुजरात से पैसे आ जाया करते थे। सेठ जमनालाल जी बजाज का भी हमेशा ख्याल रहा करता था। प्रायः सभी जगहों में नावों पर चढ़कर दूर-दूर तक जाना पड़ता था; क्योंकि दूसरी कोई सवारी नहीं जा सकती थी। मधुबनी के इलाके में एक जगह 'कमला' नदी को नाव पर पार करना पड़ा था। धारा का वेग बहुत तेज था। बहुत मुश्किल से नाव उस पार पहुंच सकी थी।

सभी जगहों में, चाहे छपरा में, चाहे शाहाबाद में, चाहे दरभंगा में, एक ही दृश्य हमेशा देखने को मिलता था। देहातों में घर विशेषकर मिट्टी के ही होते हैं जो गिरे हुए नजर आते। घरों में जो कुछ अनाज होता सब सड़ता हुआ मिलता। माल-मवेशी बहकर मरे हुए और लोग भूख से परीशान दीख पड़ते। गांव के कुत्ते भूखों परीशान भूंकते हुए! मवेशी भी उसी तरह भूखों मूक खड़े हुए! बाढ़ के हट जाने के बाद बीमारी—विशेषकर मलेरिया का प्रकोप! कुछ दिनों के बाद, रबी (बैसाखी) बोने के समय बीज की कमी और चारों ओर से उसकी मांग! मुझे याद है कि छपरे में बाढ़ के बाद जब मलेरिया का प्रकोप बढ़ा तो हमने छपरे के डाक्टरों को इकट्ठा किया। सब ने मिलकर एक नुस्खा तैयार किया, जिसमें मलेरिया के अलावा कुछ पेट साफ रखने और मामूली खांसी रोकने की भी दवा थी। इसी को हमने बहुत बड़े पैमाने पर इक्ट्ठे तैयार कराया और बोतलों में भर-भरकर सारे जिले में बंटवाया। इसका फल बहुत अच्छा हुआ। बिना डाक्टर के ही हमने अपने कांग्रेसी कार्यकर्ताओं द्वारा दवा बांट करके बहुतेरे रोगियों को आराम किया। दवा बहुत कामयाब साबित हुई। पीछे जहां कहीं मलेरिया का प्रकोप होता, उसी नुस्खे को हम लोग बहुत दिनों तक काम में लाते रहे।

शाहाबाद में, गंगा के दियारे के इलाके में, जहां बाढ़ का बहुत प्रकोप था, रबी (बैसाखी) की फसल ही होती है। वहां बीज की बहुत आवश्यकता थी। मुझे याद है कि मैं हफ्तों तक गांवों में घूम-घूम कर बीज के लिए रुपये बांटता रहा। कार्यकर्ता पहले से ऐसे लोगों की फहरिस्त बना रखते थे। सब लोग वहां जमा रहते थे। फहरिस्त की जांच खुली सभा में करके रुपये बांट देते थे। जिस समय आरा में बाढ़ आयी थी, उसका असर छपरा जिले पर भी पड़ा था; क्योंकि गंगा में भी बाढ़ थी और सोन का पानी गंगा खींच नहीं सकती थी। नतीजा यह हुआ कि संगम के नजदीक कई कोसों तक दोनों नदियों का पानी इकट्ठा हो गया और गंगा-पार में भी भयंकर स्थिति पैदा हो गयी। वहां पर भी सहायता का प्रबंध किया गया। जो रुपये जमा हुए उनका एक हिस्सा छपरा में भी खर्च हुआ; पर मैं वहां खुद जाकर, आरा में कार्यव्यस्त रहने के कारण, काम नहीं कर सका। वहां के स्थानीय लोगों ने ही, जिनमें मुख्य मेरे भाई साहब थे, काम संभाल लिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि रेलवे लाइनों के कारण बाढ़ों की भयंकरता बढ़ जाती है। अपने सूबे में, पिछले तीस बरसों में, जितनी बड़ी और भयंकर बाढ़ें आयी हैं, सबका मुझे काफी अनुभव है। मेरा यह दृढ़ विचार है कि रेलवे लाइन और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की तथा दूसरी ऊंची सड़कें बाढ़ के कारणों में प्रमुख कारण हैं। यदि इनमें जगह-जगह काफी और चौड़े पुल बने रहते तो ऐसी हालत न होती। मैंने अपनी आंखों देखा है कि लाइन के एक ओर सात-आठ फुट गहरा पानी है और दूसरी ओर एक-दो फुट भी मुश्किल से है। पानी को यदि मौका मिले और दूर तक फैल जाये तो स्वभावतः उसकी गहराई कम हो जाती है और बहाव भी कमजोर पड़ जाता है। पर जब उसी पानी को तंग रास्ते से निकलना पड़ता है और वह सामने के बांध को तोड़कर नहीं निकल सकता, तो स्वभावतः वह जमा हो जाता है और जब कहीं निकल पाता है तो वहां बहुत जोर का होता है। इसलिए यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिस पर गवर्नमेंट को ध्यान देना उचित है। पर यहां तो रेल की कम्पनियों के मुनाफे पर ही अधिक ध्यान रखा जाता है, उनको पुल बनवाने के लिए मजबूर नहीं किया जाता, लाइन काटना तो दूर की बात है। कई बार बाढ़ से जनता को भयंकर कष्ट सहने पड़े हैं। ईस्ट इंडियन रेलवे ने तो शाहाबाद की बड़ी बाढ़ के बाद कोइलवर से आरा के बीच में बहुतेरे बड़े पुल बनवा दिये। इस तरह वहां के लोगों का भय बहुत हद तक दूर हो गया। सरकारी सड़क में भी, जो अब बन गयी है, उसी तरह पानी बहने के लिए कई पुल और लचक बना दिये गये हैं। पर बी. एन. डब्लू. रेलवे ने (जो अब ओ. टी. रेलवे के नाम से मशहूर है) इस मामले में बहुत कंजूसपन दिखलाया है। यद्यपि अब उसमें कई जगह पुल बने हैं, तथापि अब भी बहुत ऐसे स्थान हैं जहां पुल की जरूरत है। उसने जो पुल बनवाये हैं, वे जनता के कष्ट दूर करने के ख्याल से नहीं—अपने मुनाफे के ख्याल से; क्योंकि जब तक केवल जनता के कष्ट की बात रही, एक न सुनी गयी; पर जब प्रकृति ने लाइन को इस तरह तोड़ा कि महीनों रेल चलना बंद

हो गया तो उसने मजबूरन कई पुल बनवा दिये। अब, जब वह लाइन गवर्नमेंट की हो गयी है, आशा की जा सकती है कि शायद इस पर अधिक ध्यान दिया जाये। हमने सुना है कि सरकारी कर्मचारी भी कहा करते थे कि इस लाइन के मालिक जबरदस्त हैं—उनकी एक नहीं सुनते। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और पी. डब्लू. डी. को भी इस बात पर ध्यान देने की जरूरत है।

इन सब घटनाओं का मैंने एक ही स्थान पर जिक्र कर दिया, यद्यपि ये कई बरसों में घटी थीं।

38

सत्याग्रह की तैयारी

एक ओर देश में जोरों से असहयोग का आन्दोलन चल रहा था। दूसरी ओर, गवर्नमेंट और उसके अनुयायी युवराज के स्वागत की तैयारियां कर रहे थे। ऐसा जान पड़ता था कि इस मौके पर मुठभेड़ हुए बिना न रहेगी।

बम्बई में, शुरू अक्टूबर में, वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। उसी में निश्चय हुआ कि नवम्बर के शुरू में दिल्ली में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक की जायेगी। यह बैठक विशेष करके सत्याग्रह शुरू करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए होने वाली थी। कांग्रेस के सभापति श्री विजय राघवाचारी तथा मंत्री पंडित मोतीलालजी में कुछ मतभेद हो गया। सभापति ने घोषणा निकाल दी कि दिल्ली में होने वाली बैठक नहीं होगी। मंत्री ने घोषणा की कि वर्किंग कमिटी के निश्चय को रद्द करने का अधिकार सभापति को नहीं है; और चूंकि महत्वपूर्ण विषय पर विचार करने के लिए यह बैठक होने वाली है, इसलिए यह स्थगित नहीं की जा सकती। महात्माजी भी पंडितजी के साथ सहमत थे। आखिर बैठक दिल्ली में हुई। श्री विजय राघवाचारीजी नहीं आये। उनकी गैरहाजिरी में लाला लाजपतराय ने सभापति की जगह ली। मैं छपरे में बीमार पड़ गया था, इसलिए नहीं जा सका।

बम्बई में जमा हुए लोगों ने, एक प्रकार से फतवे के संबंध में घोषणा निकालकर, व्यक्तिगत रूप से सत्याग्रह कर ही दिया था। वह बहुत जगहों पर बड़ी-बड़ी सभाओं में, जैसा कहा जा चुका है, दुहराया गया था। वर्किंग कमिटी ने यह भी निश्चय कर दिया था कि जहां कहीं विदेशी वस्त्र-बहिष्कार और खादी-प्रचार के काम में सरकार की ओर से रुकावट डाली जाये, कांग्रेसी कार्यकर्ता—यदि वह चर्खा चलाते हों और खादी पहनते हों—अपने प्रांत की प्रांतीय कमिटी की आज्ञा से सरकारी प्रतिबंध की अवहेलना कर सकते हैं। दिल्ली की अखिल भारतीय कमिटी ने निश्चय किया कि सूबा कमिटियां अपने-अपने सूबे में, जहां और जिसको वह मुनासिब समझें, सत्याग्रह की—जिसमें करबंदी भी शामिल है—अनुमति दे सकती हैं। अनुमति की शर्तें व्यक्ति के लिए थीं—असहयोग की सभी बातों का उस व्यक्ति के द्वारा पूरा होना—अर्थात उसे खादी पहनना चाहिए, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य मानना चाहिए, अछूतपन छोड़ना चाहिए, इत्यादि। इसी तरह किसी इलाके को अनुमति मिलने की

शर्त थी—उस इलाके में विदेशी वस्त्र का पूरा बहिष्कार, वहां की जनता द्वारा स्वदेशी वस्त्र और खादी का धारण करना, अछूतपन का दूर होना, राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार, इत्यादि। इन शर्तों में किसी को छोड़ देने का अधिकार वर्किंग कमिटी को दिया गया। यह घोषणा कर दी गयी कि किसी सत्याग्रही के परिवार के भरण-पोषण का भार कांग्रेस पर नहीं होगा और अहिंसा में विश्वास सबके लिए अनिवार्य है तथा जब तक इस बात का पूरा प्रबंध न हो जाये कि सत्याग्रह होने पर बलवा-फसाद न होगा तब तक सत्याग्रह की इजाजत न दी जाये। इस तरह प्रांतीय कमिटियों को अधिकार तो मिला; पर सत्याग्रह की शर्तें इतनी कड़ी थीं कि किसी भी व्यक्ति या इलाके के लिए उनको पूरा करना बहुत कठिन था। साथ ही, यह भी समझा गया था कि सत्याग्रह आरम्भ करने में जल्दी नहीं की जायेगी, और यद्यपि सभी सूबे तैयारी में लग जायेंगे तथापि वे गुजरात का इंतजार करेंगे, जहां बहुत तैयारी हो रही थी। इसके अनुसार बिहार में भी तैयारियां हो रही थीं। छपरा जिले के लोग चाहते थे कि वसन्तपुर थाना को सत्याग्रह की अनुमति मिले। खादी-प्रचार द्वारा और दूसरे साधनों द्वारा लोगों की तैयारी भी बतायी जाती थी। प्रांतीय कांग्रेस कमिटी ने कुछ लोगों को, जिनमें मुख्य मौलवी मुहम्मद शफी साहब थे, जांच के लिए भेजा भी। उन्होंने इलाके को तैयार पाया।

इस तरह की बातें चल रही थीं कि नवम्बर महीने के मध्य में युवराज बम्बई पहुंच गये। सरकार की ओर से स्वागत की तैयारी थी, जनता की ओर से बहिष्कार की। हिन्दू और मुसलमान तो एक राय थे। वे मिलकर बहिष्कार में लगे थे। पर कुछ पारसी स्वागत में शरीक हुए। बहिष्कार काफी कामयाब रहा। पर जब कुछ पारसी स्वागत से लौट रहे थे, कांग्रेसियों से उनका झगड़ा हो गया। कांग्रेसियों में विशेष भाग मुसलमानों ने ही लिया था। बड़ा बलवा आरम्भ हो गया। आरम्भ तो किया हिन्दू-मुसलमानों ने, पीछे पारसियों और क्रिस्तानों ने इसे जारी रखा। भाग्यवश गांधीजी उन दिनों बम्बई में ही थे। उन्होंने पहले श्रीमती सरोजिनी नायडू, सेठ उमर सुभानी, सेठ छोटानी तथा शंकरलाल बैंकर प्रभृति को दंगा शांत करने के लिए भेजा। पीछे स्वयं जहां मारपीट हो रही थी, पहुंच गये। बलवा कई दिनों के बाद किसी तरह शांत हुआ। इसके लिए गांधीजी को उपवास भी करना पड़ा था। इस बलवे में प्रायः 50-60 आदमी मारे गये और 300 से अधिक घायल हुए। मरे हुओं और घायलों में तीन-चौथाई से अधिक कांग्रेसी थे। इस बलवे का असर उनके दिल पर पड़ा। वर्किंग कमिटी की बैठक बम्बई में हुई। वहां पर उन्होंने जोर दिया कि सभी जगहों में सत्याग्रह करना खतरनाक होगा; क्योंकि अभी तक लोगों ने अहिंसात्मक लड़ाई के ढंग और नीति को पूरी तरह से नहीं समझा है। इसलिए वर्किंग कमिटी ने निश्चय किया और प्रांतीय कमिटियों को आदेश दिया कि शांति-रक्षा के लिए और जनता के जमाव को संभालने के लिए संगठित सेवकों की जरूरत है, इसलिए सभी कमिटियां सेवक-दल कायम करें—वे ही लोग सेवक हो सकेंगे जो शपथ करेंगे कि वे मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक रहेंगे और

कांग्रेस के अनुशासन को मानेंगे। विचार था कि यदि ऐसे संगठित सेवक-दल तैयार रहेंगे तो बम्बई जैसी दुर्घटनाएं नहीं होंगी। बम्बई में गांधीजी के उपवास का फल केवल यही नहीं हुआ कि बलवा शांत हो गया, वहां के सभी जातियों के लोगों ने आपस में मेल बढ़ाने की एक प्रकार से प्रतिज्ञा भी की। इस तरह देश-भर में शांति के पक्ष में भावना फैली।

श्रीमती एनी बेसेंट शुरू से ही असहयोग आन्दोलन का बहुत जोरों से विरोध कर रही थीं। उन्होंने एक बार यहां तक लिख दिया था कि गांधीजी अंधकार की शक्तियों के प्रतिनिधि हैं (Represents the forces of darkness)! बम्बई के दंगे के बाद उन्होंने बहुत कड़े लेख लिखे। किसी बलवे के संबंध में उन्होंने तो यह भी लिखा था कि गवर्नमेंट ईंट-पत्थरों के ढेलों का जवाब गोलियों से ही दे सकती है। वर्किंग कमिटी के समय भी उनका एक लेख कुछ ऐसा ही निकला। मुझे याद है कि देशबन्धु दास अखबार के उस अंक को अपने हाथ में लेते आये। महात्माजी से वह बोले, हम आशा करते हैं कि 'यंग इंडिया' के अगले अंक में इसकी गूंजती हुई तीव्र आलोचना हमको पढ़ने को मिलेगी। महात्माजी ने उत्तर दिया, ऐसी आशा आप न रक्खें। हमने देखा है कि गांधीजी इस तरह के 'तू-तू मैं-मैं' में नहीं पड़ते। इस प्रकार के लेखों को शायद वह पढ़ते भी नहीं। इससे उनके लेखों में कटुता नहीं आती। कड़ी-से-कड़ी बात भी वह चुस्त—पर संयत—भाषा में कह डालते हैं। उनके सम्पर्क की ही कृपा है कि मैं भी अपने उस स्वभाव को, जो बचपन से ही झगड़े से बचने का है, अधिक दृढ़ कर सका हूं—अपने लेखों और भाषणों में यथासाध्य कटुता न आने देने का प्रयत्न करता हूं।

39

गिरफ्तारियां और समझौते का प्रयत्न

बम्बई में युवराज के उतरने के समय की घटनाओं से सारे देश में खलबली मच गयी। गवर्नमेंट ने भी निश्चय कर लिया कि दमन-नीति से काम लेना चाहिए। इसलिए अब जहां-तहां गिरफ्तारियां होने लगीं। चंद दिनों के अंदर ही, दिसम्बर में प्रायः सभी जगहों में, एक साथ ही बहुत-से कांग्रेसी लोगों की—विशेषकर बड़े-बड़े नेताओं की गिरफ्तारियां शुरू हो गयीं। इन गिरफ्तारियों का विशेष कारण यह हुआ कि गवर्नमेंट ने सेवक-दलों को गैरकानूनी बना दिया।

1908 में दो कानून बने थे। उस समय कई जगहों में, विशेषकर बंगाल में, क्रांतिकारी दल काम कर रहे थे, जिनके संबंध में गवर्नमेंट कहा करती थी कि वे बम बनाया करते हैं—सरकारी कर्मचारियों को बम तथा गोली से मारा करते हैं, इत्यादि। उन्हीं को दबाने के लिए 'क्रिमिनल लॉ अमेंडमेंट ऐक्ट' (Criminal Law Amendment Act) पास हुआ था। एक दूसरा कानून 'सेडीशस मीटिंग्स ऐक्ट' (Seditious Meetings Act), विद्रोही सभाओं के नियंत्रण और रोकथाम के लिए, बना हुआ था। दोनों कानूनों का कारण, गवर्नमेंट के कहने के अनुसार, हिंसात्मक दलों की प्रवृत्तियां थीं। पर इस समय यद्यपि कांग्रेस पूर्णरूपेण अहिंसात्मक संस्था थी और उसका सेवा-दल भी वैसा ही अहिंसात्मक दल था, तथापि गवर्नमेंट ने उन पुराने कानूनों को सभी सूबों में—जहां वे पहले से जारी नहीं थे—जारी कर दिया। एक-एक करके पंजाब, दिल्ली, बंगाल, बिहार, युक्तप्रदेश प्रभृति सूबों की सरकारों ने सेवक-दलों को—जो विभिन्न नाम से सूबे-सूबे में कायम हो रहे थे—गैरकानूनी करार दे दिया। इस तरह खिलाफत सेवक दल और कांग्रेस सेवक दल में शरीक होना ही जुर्म हो गया। सभाएं करना भी कठिन हो गया।

कांग्रेस कमिटियों ने निश्चय किया कि हम इन जुल्मी कानूनों को नहीं मानेंगे। वे सेवक दल संगठित करने के लिए विशेष जोर लगाकर काम करने लगीं। इसलिए, जो भी सेवक दलों में शरीक होता अथवा उसे संगठित करने का काम करता, वह गिरफ्तार कर लिया जाता। देश के सामने सरकार ने एक नया प्रश्न खड़ा कर दिया। अब हमारे सामने इस

खिलाफत संबंधी, पंजाब संबंधी तथा स्वराज्य प्राप्ति की भी बात न रही। अब प्रश्न यह हो गया कि हमें अपने देश में संगठन करने का—आपस में मिल-जुलकर काम करने का—भी हक रहेगा या नहीं? सरकार ने इस स्वत्व का भी कानूनों के द्वारा हरण कर लिया। अब कांग्रेस को सबसे पहले इनके लिए लड़ना आवश्यक हो गया। गांधीजी ने कहा था कि इस लड़ाई में हम सत्याग्रह जो करना चाहते थे वह नहीं कर रहे हैं—इस समय हम केवल भाषण-स्वतंत्रता और सम्मेलन-स्वतंत्रता के लिए ही लड़ रहे हैं—यह स्वतंत्रता हम केवल कांग्रेस कमिटियों और खिलाफत कमिटियों के लिए नहीं चाहते हैं; हम सभी संस्थाओं और व्यक्तियों के लिए ये स्वत्व चाहते हैं और इसलिए यह लड़ाई सबके लिए और सबकी ओर से है। पर सरकार कब सुनने वाली थी! उसने दबाने का इरादा कर लिया था।

अली-बंधु प्रभृति कराची के मुकदमे के समय से ही गिरफ्तार होकर सजा पा चुके थे। चंद दिनों में ही देशबन्धु दास, पंडित मोतीलाल नेहरू, पं. जवाहरलाल, लाला लाजपतराय, मौलाना आजाद, श्री राजगोपालाचारी इत्यादि सार्वदेशिक नेता गिरफ्तार हो गये। हजारों की संख्या में दूसरे कांग्रेसी लोग भी गिरफ्तार कर लिये गये। पर जहां-जहां युवराज गये, बहिष्कार और भी अधिक संगठित होता गया। उनके कलकत्ते जाने के दिन नजदीक आ रहे थे। लार्ड रीडिंग चिंतित तो थे ही; उनके लॉ मेम्बर थे सर तेजबहादुर सप्रू। इस बात का प्रयत्न होने लगा कि किसी तरह से समझौता हो जाये जिससे कलकत्ते में युवराज का ठीक स्वागत हो सके। इस प्रयत्न में मुख्य भाग लेने वाले थे पंडित मदनमोहन मालवीय जी। उन्होंने कलकत्ते में जाकर वहां के गवर्नर लार्ड रोनल्डशे से भेंट की; देशबन्धु दास से भी मिले; देश के कतिपय कांग्रेसी और खिलाफती नेताओं से भी—जो बाहर थे—बातचीत की। वायसराय लार्ड रीडिंग के पास एक डेपुटेशन ले जाने की बात हुई। देशबन्धु दास कलकत्ता जेल में थे। उनसे बातचीत शुरू हुई। कुछ ऐसा मालूम होने लगा कि बात तय हो जायेगी।

बिहार में भी गिरफ्तारियां होने लगीं। प्रांतीय कमिटी की बैठक छपरे में हुई। बैठक के समय ही पुलिस ने वहां की कमिटी के दफ्तर की तलाशी ली। जब हम लोग एक सार्वजनिक सभा में भाग ले रहे थे, तो पुलिस की तैयारियों से मालूम होता था कि हम लोग वहीं गिरफ्तार कर लिये जायेंगे। पर ऐसा हुआ नहीं। एक आदमी ने सभा में, पुलिस-सुपरिंटेंडेंट की ओर हाथों से इशारा कर-करके, तुलसीदास की एक चौपाई को जोरों से बार-बार दुहराना शुरू किया; तो भी पुलिस ने कुछ नहीं किया। चौपाई यह थी—"गाधि-सुवन मन चिन्ता व्यापी, कब्र मरिहहिं ये निसिचर पापी।" सब लोग बैठक और सभा के बाद अपने-अपने स्थान को गये। सभी जिलों में कांग्रेस कमिटियों की तलाशी होने लगी। लोग गिरफ्तार किये जाने लगे। मैं भी पटने आया। हम सब गिरफ्तारी का इंतजार कर रहे थे। सभी जिलों में अनेक प्रमुख कांग्रेसी गिरफ्तार कर लिये गये। पटने में

मौलवी खुरशैद हसनैन, बाबू जगतनारायण लाल और कृष्णप्रकाश सेन सिंह गिरफ्तार हो गये। और जगहों में मौलवी मुहम्मद शफी, बाबू श्रीकृष्ण सिंह, बाबू विन्ध्येश्वरी प्रसाद वर्मा, बाबू रामनारायण सिंह इत्यादि कई कांग्रेसी लोग जेल भेज दिये गये। मैं नहीं गिरफ्तार किया गया। हक साहब, ब्रजकिशोर बाबू और मैंने कई साथियों के साथ एक बयान छपवाया जिसमें हमने जनता को सेवक दल में शरीक होने के लिए उत्साहित किया, गवर्नमेंट की नीति की निंदा की और अपने को सेवक दल का मेम्बर बतलाया। पर तो भी हम गिरफ्तार नहीं किये गये। इस तरह सभी जगहों में जिला मजिस्ट्रेटों तथा दूसरे हाकिमों के पास लोग अपने-अपने हस्ताक्षर करके लम्बी-लम्बी फहरिस्तें भेजने लगे, जिनमें सेवकों के नाम रहते। पटने में मैं इसका इंतजार कर ही रहा था कि मालूम हुआ, सुलह होने जा रही है।

गिरफ्तारियां बंद हो गयीं। लार्ड सिंह ने बिहार की गवर्नरी से इस्तीफा दे दिया था। उनकी जगह पर मिस्टर लीमेजर गवर्नर हो गये थे। बिहार कौंसिल के कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने—जिनमें मुख्य मिस्टर हसन इमाम, रायबहादुर द्वारकानाथ प्रभृति थे—गवर्नर के पास डेपुटेशन ले जाकर कहा कि बिहार में पूरी शांति है, यहां सेवक दल को गैर-कानूनी करार देने से ज्यादा गड़बड़ी होने की सम्भावना है, इसलिए गिरफ्तारियां बंद हो जानी चाहिए। गवर्नर ने उनसे कुछ ऐसी बातें कीं जिनसे मालूम हुआ कि गवर्नमेंट की सारी कार्रवाई गलत बुनियाद पर हुई है। हम लोगों ने उसका प्रतिवाद प्रकाशित किया। पर उसके प्रकाशित होने के पहले ही गिरफ्तारियां बंद करने का हुक्म उन्होंने निकाल दिया। यद्यपि सेवा दल के विरुद्ध प्रचारित हुक्म रद्द नहीं किया गया तथापि जिला मजिस्ट्रेटों को गिरफ्तारियां बंद करने का हुक्म हो गया।

सर तेजबहादुर सप्रू, लार्ड रीडिंग के पास, वायसराय की कौंसिल की बैठक के लिए, कलकत्ते जा रहे थे। वह पटना होते हुए गुजरे। कुछ लोगों से उनकी मुलाकात हुई जिससे यह बात फैल गयी कि अब सुलह हो जायेगी। बिहार में गिरफ्तारियों के रुक जाने से इसकी और भी पुष्टि हुई। उधर गवर्नमेंट ने जो बातें देशबन्धु दास से जेलखाने में कीं उनसे मालूम पड़ा कि देशबन्धु दास उन शर्तों पर राजी हो गये थे, जो सरकार की ओर से पेश की गयी थीं। महात्माजी से राय पूछी गयी थी और उन्होंने कुछ शर्तें पेश कीं। इस संबंध की सब बातें उस समय जाहिर नहीं हुईं। इतना ही मालूम हुआ कि गांधीजी ने देशबन्धु दास की यह सिफारिश कि शर्तें मान ली जायें, नामंजूर कर दी है। सब बातों को विस्तार से जानने के लिए श्री कृष्णदास की पुस्तक 'महात्मा गांधी के साथ सात मास' (Seven Months with Mahatma Gandhi) देखना चाहिए।

शर्तें कुछ इस तरह की थीं—कांग्रेस युवराज के बहिष्कार को बंद कर दे। गवर्नमेंट एक कांफ्रेंस करेगी जिसमें सब बातों पर विचार किया जायेगा। राजनीतिक कैदी छोड़ दिये जायेंगे। पर कराची के फतवा वाले कैदी, जिनमें अली-बंधु भी थे, नहीं छोड़े जायेंगे।

गांधीजी चाहते थे कि कांफ्रेंस की तिथि और कार्यक्रम (Terms of reference) निश्चित हो जाना चाहिए और कराची वाले कैदियों को भी जरूर छूटना चाहिए। मुमकिन था कि दो-एक दिन का और समय यदि मिलता तो इन विषयों पर भी विचार करके कुछ तय हो जाता। पर उधर युवराज के कलकत्ते पहुंचने का दिन पहुंच गया और बात तय न हो सकी। गवर्नमेंट ने देखा कि जब स्वागत के काम में उसे सफलता नहीं मिली तो फिर ये सुलह की बातें भी बेकार थीं। उसने दमन-नीति को और जोरों से चलाने का निश्चय कर लिया। जो डेपुटेशन गया उसे भी कोरा उत्तर दे दिया। साथ ही, कुछ ऐसी गोलमटोल बातें कीं जिनसे कुछ लोगों पर, विशेष करके पं. मालवीयजी पर, यह असर पड़ा कि यद्यपि अभी कुछ नहीं हुआ तथापि राउंड टेबुल कांफ्रेंस करने का प्रयत्न जारी रखना उचित होगा और जो शर्तें वायसराय ने पेश की हैं वे ऐसी हैं जो पूरी की जा सकती हैं।

देशबन्धु दास महात्माजी के इस निश्चय से बहुत क्षुब्ध हुए। उन्होंने सोचा था कि उस समय ब्रिटिश गवर्नमेंट का इतना झुकना ही बड़ी बात थी और इसको मान लेना चाहिए था। यदि कांग्रेस मान लेती तो कांग्रेस की शक्ति बढ़ती और काम अधिक जोरों से चलता। गवर्नमेंट उसे दबा नहीं सकती। महात्माजी ने सोचा कि लार्ड रीडिंग की इच्छा थी कि किसी प्रकार कलकत्ते जैसे शहर में युवराज का अच्छा स्वागत हो जाये तो बम्बई आदि की घटनाएं कुछ महत्व नहीं रखेंगी और वह भारत की राजभक्ति की घोषणा कर सकेंगे। कांफ्रेंस की नीति और तिथि दोनों ही अनिश्चित थीं। न मालूम वह कब होगी और क्या करेगी। उस पर भरोसा करना बेकार है और कांग्रेस की शक्ति बढ़ने के बदले घटेगी, जब देश यह देखेगा कि हम किस तरह से ठग लिये गये। इसके अलावा अली-बंधुओं को हम जेल में कैसे छोड़ सकते हैं? जिन लोगों ने सब बातों में साथ दिया है, जिनका जनता पर इतना प्रभाव है और जो हमारे साथी हैं, उनको जेल में छोड़ देना उनके साथ अन्याय होगा। इसलिए लार्ड रीडिंग की शर्तें हमें केवल धोखा देंगी, कोई काम नहीं निकलेगा।

इसमें कोई शक नहीं कि देशबन्धु दास बहुत क्षुब्ध हो गये। जब मीयाद खतम होने पर वह छूटे तो उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था कि महात्माजी ने बहुत भारी और भद्दी भूल की थी (Bungled and blundered)। इस विषय पर, तटस्थता के साथ, तो कोई भावी इतिहास-लेखक ही विचार कर सकेगा। मैं इतना ही कह सकता हूं कि उस समय से आज तक जो अनुभव ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ समझौते के हमें हुए हैं, वे बहुत कड़वे हैं। शब्दाडम्बर में असली बातें अक्सर छिप जाती हैं। समझौते अंगरेजी भाषा में ही लिखे जाते हैं और उनके अर्थ में अनर्थ की काफी गुंजाइश रहती है। 1931 के मार्च में लार्ड अर्विन के साथ जो समझौता हुआ, उसकी शर्तों के पूरा करने में लार्ड विलिंगडन की गवर्नमेंट ने और सिविल सर्विस ने जो-जो दिक्कतें पेश कीं उन्हें वही जान सकता है, जिसको उस संबंध में उनसे बातें अथवा पत्र-व्यवहार करने का मौका मिला हो। महात्माजी अपने अनुभव से

जानते थे कि किसी शर्त को गोलमटोल छोड़ देना अथवा उसमें किसी प्रकार की अनिश्चितता रहने देना अंत में घातक होगा। उनको ब्रिटिश सरकार की खुश नीयत पर भी विश्वास नहीं था। इसलिए उन्होंने ऐसी शर्तों को मानना ठीक नहीं समझा और कांग्रेस की निश्चित नीति को तथा अपने साथियों को इन अनिश्चित शर्तों के भरोसे जेलखाने में छोड़ने से इंकार कर दिया। किसी भी देश को स्वतंत्रता यदि सस्ती दर से मिल जाये तो उसकी उतनी कदर नहीं रह जाती। विशेषकर भारतवर्ष को तो इसे वाजिब मूल्य देकर ही लेना चाहिए; क्योंकि हम इतने दिनों की दासता के कारण इसका उचित मूल्य आंकना भी भूल-से गये हैं।

40

अहमदाबाद कांग्रेस और सत्याग्रह

इधर ये बातें चल रही थीं, उधर कांग्रेस के सालाना जलसे के दिन भी आ गये। देशबन्धु दास ही सभापति मनोनीत हुए थे। वह थे जेलखाने में। कांग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद में होने वाला था। वहां सरदार वल्लभभाई स्वागताध्यक्ष थे। बड़े पैमाने पर तैयारियां की गयी थीं। जब बिहार में गिरफ्तारियां बंद हुईं, हम लोग जो बाहर थे, अहमदाबाद के लिए रवाना हो गये।

अहमदाबाद की कांग्रेस बहुत बातों में अनूठी थी। पहले-पहल कांग्रेस से कुर्सियां उठा दी गयीं। प्रतिनिधियों को फर्श पर बैठाने का प्रबंध किया गया था। इस तरह उतने ही स्थान में बहुत अधिक प्रतिनिधि और दर्शक बैठ सकते थे। प्रतिनिधियों का चुनाव पहली बार नागपुर के परिवर्तित नियमों के अनुसार हुआ था। अब हम कह सकते थे कि कांग्रेस चुने हुए प्रतिनिधियों की सभा है। बहुतेरे चुने हुए प्रतिनिधि जेलखानों में थे, जिनमें प्रमुख तो मनोनीत सभापति देशबन्धु चित्तरंजन दास थे ही। बहुतेरे नेता—जिन्होंने साल-भर बड़े परिश्रम, लगन और उत्साह से देश को जगाया और संगठित किया था—इस अधिवेशन में, गवर्नमेंट की नीति के कारण, आने से वंचित थे। जो लोग आये थे उनमें और सारे देश में उत्साह उमड़ा पड़ रहा था, मानो भरी नदी के किनारों को पार करके जल-प्रवाह चारों ओर फैल रहा है। इतनी गिरफ्तारियों के कारण कहीं भी मुर्दनी नहीं थी। दमन-नीति ने दबाने के बदले लोगों को अधिक उभाड़ने का ही काम किया था। गांधीजी भी आशा और उत्साह से भरे थे। सब लोग सत्याग्रह का स्वप्न देख रहे थे। लोग इस आशा में थे कि कांग्रेस सत्याग्रह का आदेश देगी और आयोजन करेगी। कांग्रेस के साथ एक बड़े महत्व की प्रदर्शनी भी हुई थी, जिसमें नवजात—बल्कि पुनर्जीवित—खादी का बड़ा महत्व था। प्रतिनिधियों के रहने के लिए कांग्रेस-पंडाल के नजदीक ही एक छोटा-मोटा नगर 'खादी नगर' नाम का बस गया था, जिसमें सभी ठहराये गये थे। ये सब बातें कांग्रेस के लिए नयी थीं। पास ही में उसी तरह खिलाफत कांफ्रेंस के लिए पंडाल इत्यादि बने थे।

कांग्रेस का अधिवेशन भी निराला ही था। पुरानी प्रथा के विरुद्ध स्वागताध्यक्ष का भाषण बहुत छोटा था। उसमें देश की परिस्थिति और कांग्रेस के कार्यक्रम पर विचार नहीं

किया गया था। केवल उपस्थित प्रतिनिधियों का स्वागतमात्र था, और था गुजरात में हुए काम का छोटा-सा विवरण। मनोनीत सभापति गैरहाजिर थे, इसलिए उनके स्थान पर हकीम अजमल खां सभापति चुन लिये गये। स्वागताध्यक्ष और सभापति दोनों के ही भाषण राष्ट्रभाषा हिन्दी या उर्दू में ही हुए।

सबसे महत्व का प्रश्न सत्याग्रह था। अधिवेशन में एक ही प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसमें परिस्थिति का सिंहावलोकन करते हुए सत्याग्रह का निश्चय प्रकट किया गया। इस काम के लिए गांधीजी सर्वेसर्वा (Dictator) बनाये गये। इस बात का अंदेशा था कि जैसे और नेता गिरफ्तार किये जा चुके हैं, गांधीजी भी गिरफ्तार कर लिये जायेंगे; इसलिए प्रस्ताव में उनको उसी अधिकार के साथ अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने का भी अधिकार दिया गया। पर यह साफ कह दिया गया कि कांग्रेस के ध्येय को बदलने का अधिकार उनको नहीं होगा। हां, यदि गवर्नमेंट से कुछ सुलह हो तो उसकी मंजूरी कांग्रेस से लेनी पड़ेगी। सेवक दलों के संगठन पर जोर दिया गया और जिस प्रतिज्ञा-पत्र पर उनके हस्ताक्षर होने वाले थे, वह और भी कुछ सख्त बनाया गया।

इस अधिवेशन में एक विशेष बात यह हुई कि मौलाना हसरत मोहानी ने यह प्रस्ताव पेश किया कि कांग्रेस का ध्येय स्वराज्य के बदले स्वतंत्रता (Independence) बना दिया जाये। गांधीजी ने इसका विरोध किया। अतः प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। उसके बाद प्रायः हर अधिवेशन में इस प्रकार का प्रस्ताव आता रहा। पर गांधीजी के विरोध से तब तक नामंजूर होता रहा जब तक कई बरसों के बाद गांधीजी के विरोध हटा लेने पर स्वीकृत न हो गया। दूसरी बात यह हुई कि पंडित मालवीयजी का गोलमेज कांफ्रेंस संबंधी प्रस्ताव नामंजूर कर दिया गया। पंडितजी कलकत्ते से सीधे अहमदाबाद आये थे। वहां उनका प्रयत्न असफल हो गया था, पर वह बहुत बड़े आशावादी हैं! उन्होंने कांग्रेस को सलाह दी और प्रस्ताव पेश किया कि यदि गोलमेज कांफ्रेंस गवर्नमेंट करे तो कांग्रेस उसमें शरीक हो। ऊपर कहा जा चुका है कि इस समय इसका कोई मौका ही नहीं था। इसलिए कांग्रेस ने उस बात को नहीं माना। पीछे यह मालूम हुआ कि पंडित मोतीलालजी भी किसी प्रकार के समझौते के विरुद्ध थे।

कांग्रेस के बाद सभी लोग अपने-अपने स्थान को रवाना हुए। वहीं पर मालूम हो गया कि महात्मा गांधी एक जगह सत्याग्रह करेंगे और वह स्थान होगा बारदोली। औरों को भी आदेश मिला कि अपने-अपने स्थान पर जनता में प्रचार और संगठन करें। सबसे अधिक कांग्रेस के कार्यक्रम की पूर्ति के लिए, विशेषकर सेवक दल के संगठन के लिए, जी-तोड़ परिश्रम करके प्रयत्न करें।

पंडित मालवीयजी और कुछ दूसरे नेताओं ने निश्चय किया कि एक ऐसी कांफ्रेंस की जाये, जिसमें कांग्रेस और गवर्नमेंट के बीच का झगड़ा मिटाने का प्रयत्न किया जाये। उन्होंने

अहमदाबाद कांग्रेस समाप्त होते ही इसकी घोषणा की। देश के मुख्य-मुख्य लोग, जिनमें मुख्य-मुख्य कांग्रेसी और खिलाफती भी शामिल थे, बम्बई में आमंत्रित हुए। यह सभा जनवरी के मध्य में बम्बई में हुई। सर शंकर नायर इसके सभापति हुए। मैं भी, और कांग्रेसियों की तरह, वहां गया। गांधीजी ही हमारी ओर से बोलने वाले थे। हम लोगों ने निश्चय कर लिया था कि सबकी ओर से जो कुछ कहना होगा वहीं कहेंगे। महात्माजी ने साफ-साफ बता दिया कि हम कांग्रेसियों को इस गोलमेज कांफ्रेंस से, जिसके आयोजन का प्रस्ताव गवर्नमेंट से किया जा रहा था, कोई आशा नहीं है; तो भी अगर वह हो, और गांधीजी बुलाये जायें, तो वह बिना शर्त के उसमें शरीक होंगे; पर व्यक्तिगत हैसियत से। हां, यदि कांग्रेस को आमंत्रित किया जाये तो वह तभी शरीक हो सकेंगे जब कांफ्रेंस का कार्यक्रम और तिथि निश्चित कर ली जाये। साथ ही, वह घोषणा वापस कर ली जाये जिसके द्वारा सेवक दल गैर-कानूनी करार दिये गये हैं तथा जिसे न मानने के कारण जिन लोगों को सजा दी गयी है वे छोड़ दिये जायें। फतवा वाले कैदियों को जरूर छोड़ना चाहिए। खिलाफत, पंजाब और स्वराज वाली कांग्रेस की मांगे जाहिर थीं; कांग्रेस उन्हीं को वहां पेश करके उन्हें मनवाने का प्रयत्न करेगी। अपनी ओर से हम सत्याग्रह स्थगित कर देंगे।

कांफ्रेंस करने वालों की तरफ से एक प्रस्ताव पेश किया गया; पर गांधीजी को वह मंजूर न हुआ। इस कारण उस पर विचार करके उसे रद-बदल कर फिर उपस्थित करने के लिए एक उपसमिति बना दी गयी। उस दिन जो लोग उपस्थित थे उनके भाषण हुए। मेरे दिल पर एक भाषण का बहुत असर पड़ा था। वह था सर हरमुसजी वाडिया का भाषण। यह थे एक वयोवृद्ध बड़े व्यापारी—लिबरल दल के विचार रखने वाले पारसी। इन्होंने गवर्नमेंट की सारी नीति की तीव्र शब्दों में निंदा की। यह यद्यपि सत्याग्रह के विरोधी थे, तथापि इन्होंने साफ-साफ बता दिया कि इस अवस्था की सारी जवाबदेही सरकार पर है।

दूसरे दिन उपसमिति की बैठक हुई। उसमें गांधीजी शरीक रहे। सबकी राय से एक प्रस्ताव तैयार हुआ। पर सर शंकर नायर बहुत बिगड़ गये। सेपहर को वह कांफ्रेंस से चले गये। उनके साथ कोई दूसरा नहीं गया। तब कांफ्रेंस के सभापति सर विश्वेश्वरैया हुए। उन्होंने उस प्रस्ताव को मंजूर कर लिया। गांधीजी ने फिर अपनी वही बातें दुहरा दीं। यह भी उन्होंने कह दिया कि कांग्रेस की वर्किंग कमिटी द्वारा वह 31 जनवरी तक के लिए सत्याग्रह स्थगित करा देने का प्रयत्न करेंगे।

बम्बई में वर्किंग कमिटी के लोग प्रायः सभी थे ही। बैठक में तय हुआ कि 31 जनवरी तक और यदि गोलमेज कांफ्रेंस की बात तथा प्रस्ताव की दूसरी शर्तें गवर्नमेंट ने मंजूर कर लीं, तो जब तक उसका कुछ फैसला न हो जाये तब तक सामूहिक सत्याग्रह बंद रहेगा और व्यक्तिगत सत्याग्रह केवल बचाव के लिए ही जहां मजबूरी होगी वहीं किया जायेगा; पर सेवक दल के संगठन का काम जारी रहेगा। कांफ्रेंस के प्रस्ताव को तार द्वारा कांफ्रेंस कमिटी

ने वायसराय के पास भेजा। एक लम्बे तार द्वारा यह भी सूचित किया गया कि कलकत्ते वाले डेपुटेशन के उत्तर में जो शर्तें लार्ड रीडिंग ने दी थीं, प्रायः वे सभी मंजूर कर ली गयी हैं और अब गवर्नमेंट को गोलमेज कांफ्रेंस मंजूर कर लेनी चाहिए। उधर से नामंजूरी का जवाब आ गया! इस पर फिर तार द्वारा लिखा-पढ़ी की जा रही थी कि 31 जनवरी का दिन पहुंच गया। अब कांग्रेस के लिए कुछ निश्चय करना अनिवार्य हो गया।

कांग्रेस से लौटने के बाद मैंने अपने सूबे में दौरा शुरू किया। यह 31 जनवरी वाली अवधि बीतने के बाद, बारदोली की एक सार्वजनिक सभा में, जिसमें महात्माजी और हकीम अजमल खां शरीक थे, बारदोली में सत्याग्रह शुरू करने का निश्चय हुआ। यह बात घोषित भी कर दी गयी। श्री विट्ठलभाई पटेल और सरदार वल्लभभाई अब वहीं रहने लगे थे। महात्माजी भी पहुंच ही गये थे। वहां जनता की सभा में महात्माजी ने सत्याग्रह के अर्थ को और उसमें होने वाले कष्टों को लोगों को बताया। उनसे शपथ भी ली कि वे सत्य और अहिंसा पर डटे रहकर सारे देश के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने में अपने को भस्मीभूत कर देंगे। सूरत में वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। उसने वहां सत्याग्रह करने की मंजूरी दे दी। इसके बाद ही गांधीजी ने वायसराय को पत्र लिखा जिसमें उन्होंने सत्याग्रह के निश्चय की सूचना देते हुए सत्याग्रह आरम्भ करने के लिए तिथि भी ठीक कर दी।

41

चौरीचौरा, सत्याग्रह स्थगित और गांधीजी की गिरफ्तारी

मैं सूबे के दौरे में, मुजफ्फरपुर जिले के गांवों में घूमता-घूमता, 'पुपरी' गांव की सभा में भाषण कर रहा था। उसी समय तार मिला कि वर्किंग कमिटी की बैठक बारदोली में होने वाली है और मुझे वहां तुरंत पहुंचना चाहिए। मैं वहां से तुरंत रवाना हुआ। पहली गाड़ी जो मिली उससे पटना होता हुआ वहां चला गया। इस बीच में एक बहुत दुखद और महत्वपूर्ण घटना हो गयी। गोरखपुर जिले के 'चौरीचौरा' गांव में जनता और पुलिस में मुठभेड़ हो गयी। जनता ने आवेश में आकर पुलिस थाने को जला दिया। कितने ही पुलिस कर्मचारियों को भी मार डाला।

महात्माजी के दिल पर इसका बहुत गहरा असर पड़ा। उन्होंने देख लिया कि देश ने अभी तक अहिंसा के तत्व और महत्व को नहीं समझा है; इसलिए यदि सत्याग्रह आरम्भ हुआ तो इस प्रकार की घटनाएं अनेक स्थानों में होने लगेंगी; इसके फलस्वरूप सरकार की ओर से भी दमन-नीति जोरों से बरती जायेगी और जनता उसको बर्दाश्त नहीं कर सकेगी; इसलिए यद्यपि वायसराय को सत्याग्रह आरम्भ करने की सूचना दे दी गयी है तथापि सत्याग्रह को स्थगित ही कर देना चाहिए।

देश की नाड़ी पहचानकर महात्माजी इस निश्चय पर पहुंच गये। इसी पर विचार करने के लिए उन्होंने वर्किंग कमिटी की बैठक की।

यद्यपि मैं जल्द-से-जल्द रवाना हुआ था, तथापि जब मैं बारदोली स्टेशन पर पहुंचा तो उसी ट्रेन से वापसी के लिए रवाना होते हुए पंडित मदनमोहन मालवीयजी से भेंट हो गयी। उन्होंने बता दिया कि वर्किंग कमिटी का काम समाप्त हो चुका है और सत्याग्रह स्थगित करने का निश्चय कर लिया गया है। जब मैंने यह सुना तो मेरे दिल पर भी एक धक्का-सा लगा। मैं वहां पहुंचा जहां गांधीजी ठहरे थे। उन्होंने जाते ही पूछा कि निश्चय सुन लिया है न? मैंने कहा, हां ! इस पर उन्होंने पूछा कि इस विषय में तुम्हारी राय क्या है? मैं अभी तक कुछ उत्तर नहीं दे सका था कि वह समझ गये, मेरे दिल में कुछ संदेह मालूम हो रहा है! उन्होंने उसी

क्षण सब बातें समझा दीं । मैं सुनता गया, पर अभी किसी निश्चय पर नहीं पहुंचा था कि अंत में उन्होंने कहा, जो कुछ मैंने कहा है उस पर विचार करो ।

संध्या हो गयी थी। मैंने रात को सब बातों पर और सब पहलुओं पर, महात्माजी की बतायी बातों की रोशनी में, विचार किया। मेरी भी दृढ़ राय हो गयी कि निश्चय ठीक ही हुआ है । दूसरे दिन गांधीजी ने फिर पूछा, क्या विचार किया ? मैंने उत्तर दे दिया कि मैं सब बातें समझ गया और निश्चय ठीक ही हुआ है । इससे वह कुछ प्रसन्न मालूम हुए।

इस निश्चय के प्रकाशित होते ही सारे देश में एक अजीब परिस्थिति उत्पन्न हो गयी । मामूली कार्यकर्ताओं की बात कौन कहे, बड़े-बड़े धुरंधर नेता—पंडित मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय प्रभृति जो सभी जेल में थे—इससे बहुत असंतुष्ट हुए। अखबारों में भी विरोध की आवाज उठी । हां, हकीम अजमल खां और डाक्टर अंसारी भी बारदोली की उस बैठक में नहीं पहुंच सके थे । इन लोगों ने सत्याग्रह स्थगित करने की राय वहां भेज दी थी । साधारण जनता में एक प्रकार की मुर्दनी-सी दिखायी देने लगी, मानो दौड़ता हुआ मनुष्य ठेस लग जाने से गिर पड़ा हो ।

बारदोली में ही गांधीजी ने पहले-पहल उस रचनात्मक कार्यक्रम को निश्चित और परिष्कृत रूप दिया, जो आज तक कांग्रेस का मुख्य कार्यक्रम है । वह प्रस्ताव इतने महत्व का है कि उसका उद्धरण आवश्यक है । नीचे उसका हिन्दी रूपांतर दिया जाता है—

"चूंकि गोरखपुर (चौरीचौरा) का भयानक कांड इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देश की जनता अब तक यह बात अच्छी तरह नहीं समझ सकी है कि 'अहिंसा' भद्र अवज्ञा या सिविल नाफरमानी का एक जरूरी क्रियात्मक और प्रमुख अंश है; और चूंकि स्वयंसेवकों की भर्ती में बिना छानबीन किये ही—और कांग्रेस की बतायी हुई हिदायतों के खिलाफ भी—लोग ले लिये गये हैं, जिससे लोगों में सत्याग्रह के मूल तत्व की समझ की कमी जाहिर होती है; और चूंकि इस कार्यकारिणी कमिटी की राय में राष्ट्रीयता तक पहुंचने में देरी होने का एक प्रधान कारण कांग्रेस के शासन-प्रबंध को व्यवहार में लाने में अपूर्णता और दुर्बलता ही है; इसलिए कांग्रेस के अंदरूनी अंगों को सलाह देती है कि वे नीचे लिखे कार्यक्रम को अंजाम देने में संलग्न हो जायें—

(1) कम-से-कम एक करोड़ कांग्रेस के मेम्बरों की भर्ती । चूंकि शांति (अहिंसा और वैधता) और सत्य कांग्रेस की नीति के मूल तत्व या सार हैं, इसलिए किसी ऐसे व्यक्ति की भर्ती न की जावे जो स्वराज्य-प्राप्ति के लिए सत्य और अहिंसा को अनिवार्य न समझता हो । इस ख्याल से कांग्रेस की नीति को खूब अच्छी तरह हर ऐसे शख्स या व्यक्ति को समझा देना चाहिए जिससे कांग्रेस का मेम्बर बनने का अनुरोध किया जाये । मेम्बर बनाने वाले कार्यकर्ता को ख्याल रखना चाहिए कि सालाना चंदा न अदा करने वाला कांग्रेस का योग्य

मेम्बर नहीं समझा जायेगा। इसलिए पुराने मेम्बरों को फिर से नये साल के लिए अपना-अपना नाम दर्ज करा लेना चाहिए।

(2) चर्खे को लोकप्रिय बनाना और हाथ के कते हुए सूत से हाथ की बुनी हुई खादी तैयार करने का संगठन (यानी प्रबंध) करना। इस कार्य की सफलता के लिए कुल कार्यकर्ताओं तथा कांग्रेस के पदाधिकारियों को खद्दर की ही पोशाक पहननी चाहिए और यह भी अच्छा रहेगा कि दूसरों के हौसले बढ़ाने के लिए उन्हें खुद चर्खे पर सूत कातना सीखना चाहिए।

(3) नेशनल स्कूल यानी राष्ट्रीय विद्यालय कायम करना। गवर्नमेंट स्कूलों पर धरना नहीं देना चाहिए। राष्ट्रीय स्कूलों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ाने में इन स्कूलों की अच्छी पढ़ाई पर ही भरोसा करना चाहिए।

(4) गिरी हुई दलित जातियों के रहन-सहन को बेहतर बनाने के लिए तथा उनकी सामाजिक, मानसिक एवं नैतिक हालत को सुधारने के लिए उनका संगठन करना। उनको समझा-बुझाकर उनके बच्चों को स्कूलों में पढ़ने के लिए भेजना और जो सुविधाएं सबको मिलती हैं वे इन लोगों को भी दिलवाना। जहां कहीं अछूत जातियों से लोग ज्यादातर अलग रहते हैं और छूत-छात का भाव जबरदस्त है वहां पर इनके बालकों के लिए कांग्रेस के पैसे से अलग स्कूल-पाठशालाएं चलायी जानी चाहिए और लोगों को समझा-बुझाकर अछूतों को भी सार्वजनिक कुओं से पानी भरने देने का प्रबंध कराना चाहिए।

(5) मादक द्रव्य-निषेध के लिए शराबियों की बस्ती में घर-घर जाकर, उन लोगों को समझा-बुझाकर, नशाखोरी बंद करने का संगठित कार्य करना। इस कार्य के लिए धरना (पिकेटिंग) से काम न लिया जाये, बल्कि समझाने-बुझाने से, आरजू-मिन्नत से ही काम निकालना चाहिए।

(6) आपस के झगड़ों और मुकदमों को खानगी तौर पर ही तय-तसफिया करा देने की गरज से शहरों और गांवों में पंचायतें कायम करना। पंचायती फैसलों को लोगों से मनवाने की शक्ति पंचायत की सच्चाई और ईमानदारी, इंसाफ और लोकप्रियता से ही पैदा होनी चाहिए। किसी तरह की जोर-जबरदस्ती की परछाईं भी न पड़ने पावे। इसलिए ऐसा न होना चाहिए कि जो कोई पंचायती फैसला न माने वह समाज या जाति से खारिज किया जाये।

(7) हर जाति या वर्ग के लोगों में मेल-जोल बढ़ाने और आपस के ऐसे मेल-मिलाप की आवश्यकता पर सबका ध्यान खींचने की गरज से मेल-मुआफकत का बढ़ाना असहयोग आन्दोलन का एक ध्येय है। ऐसे सामाजिक सेवा-विभाग का संगठन करना, जो बगैर किसी भेद-भाव के, सबकी सेवा, रोग-शोक या आपत्ति-विपत्तिकाल में, एक तरह से, एक भाव से करे। असहयोगी को, अपनी नीति पर दृढ़ता से कायम रहते हुए भी, बीमारी में या किसी

विपद् के समय, अंगरेजों या हिन्दुस्तानियों की, यानी सबकी, बराबर सेवा करना, अपनी बड़ाई या सौभाग्य की बात समझना चाहिए।

(8) तिलक स्वराज्य फंड को इकट्ठा करने का काम जारी रखना और हर-एक कांग्रेसी से या कांग्रेस से सहानुभूति रखने वालों से मांग पेश करना कि वे अपनी सन् 1921 की आमदनी का 1/100 (सौ हिस्से में एक हिस्सा) तिलक स्वराज्य कोष में दान कर दें। हर-एक सूबा कांग्रेस कमिटी अपने इस जमा किये हुए धन का 1/4 (चौथाई हिस्सा) हर महीने अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के पास भेज दिया करे।

(9) वर्किंग कमिटी का यह प्रस्ताव, अगर जरूरी समझा जायेगा तो, संशोधन (तरमीम) के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की अगली बैठक में पेश किया जायेगा।

(10) वर्किंग कमिटी की राय में किसी ऐसे प्रबंध की जरूरत मालूम पड़ती है, जिसके जरिये सरकारी नौकरियों को छोड़कर आये हुए लोगों के लिए कुछ रोजगार-धंधा दिया जा सके। इस गरज से यह कमिटी सर्वश्री मियां मुहम्मद हाजीजान, मुहम्मद छोट्टानी, सेठ जमनालाल बजाज तथा बी. जे. पटेल को मुकर्रर करती है कि ये लोग एक योजना इस तरह की तैयार करके आगामी अखिल भारतीय कमिटी की विशेष बैठक में विचारार्थ पेश करें।"

बारदोली में ही यह निश्चय कर लिया गया कि अखिल भारतीय कमिटी की बैठक शीघ्र ही की जाये। तिथि निश्चित करके दिल्ली में बैठक की घोषणा कर दी गयी। इसी बैठक में बारदोली के निश्चय पर विचार होने को था।

गांधीजी ने पांच दिनों का उपवास किया। वहां की जनता की सभा में उन्होंने अपने निश्चय को बतलाया। मैं भी उस सभा में उपस्थित था। लोगों ने बात तो मान ली, पर यहां भी निराशा मालूम होती थी।

दिल्ली में, वर्किंग कमिटी की बैठक में, जो अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के पहले हुई, लालाजी और पंडित मोतीलालजी तथा औरों की रोषपूर्ण सम्मतियां मिलीं—'यह निश्चय देश के लिए बड़ा हानिकर हुआ है, इससे केवल जनता हतोत्साह ही नहीं होगी बल्कि देश की प्रतिष्ठा को भी ठेस लगेगी।' कुछ नेताओं के पत्र भी, इसी आशय के, गांधीजी के पास, जेल से आ गये थे। ऐसा मालूम होता था कि मानो सभी नेता, यदि वे बाहर होते तो, गांधीजी को पदच्युत कर देते और सत्याग्रह जारी करते। किन्तु गांधीजी टस से मस नहीं हुए। उन्होंने साफ-साफ बता दिया कि जो लोग जेल में बंद हैं उनको परिस्थिति का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए उनको राय देने का कोई अधिकार नही है, और यदि वे राय देते हैं तो उसका बहुत वजन नहीं हो सकता। वर्किंग कमिटी में ही मैंने देखा कि गांधीजी जब निश्चय पर पहुंच जाते हैं तो किस प्रकार अटल रह सकते हैं—और अटल रह सकते हैं तीव्र-से-तीव्र विरोध के बावजूद!

हकीम अजमल खां कांग्रेस के सभापति थे। अखिल भारतीय कमिटी का जलसा शुरू हुआ। गांधीजी ने बारदोली के निश्चय के समर्थन और मंजूरी का प्रस्ताव पेश किया। इस पर डाक्टर मुंजे ने उसके सुधार (संशोधन) के रूप में एक प्रस्ताव पेश किया, जिसमें कहा गया कि एक कमिटी बनायी जाये जो असहयोग के कार्यक्रम और उसके अनुसार हर काम की जांच करे तथा देश को उचित परामर्श दे। इस प्रस्ताव ने, और इसके समर्थन में किये गये उनके भाषण ने, गांधीजी पर अविश्वास (No Confidence या Censure) का रूप धारण कर लिया। गरमागरम बहस चलने लगी। इसी समय हकीम साहब की तबीयत अचानक खराब हो गयी। वह सभा में बैठने से मजबूर हो गये। उन्होंने गांधीजी को अपने स्थान पर सभापति बना दिया। यह कहकर वह चले गये कि दर्द कम होते ही मैं हाजिर हो जाऊंगा, तब तक महात्माजी सभा का काम चलावेंगे। हम लोगों के देखने में यह ठीक नहीं मालूम होता था कि जिस पर अविश्वास का प्रस्ताव पेश है और उस पर बहस हो रही है, वह सभापति के पद पर बैठा रहे। पर गांधीजी ने निःसंकोच भाव से काम आरम्भ कर दिया। उनके चेहरे-मोहरे से कुछ भी संकोच नहीं झलका। हमने सोच लिया कि वह मानते हैं कि सभापति का काम इतना ही है कि सभी सदस्यों का वह विश्वास-भाजन बना रहे और अपनी किसी कार्रवाई से प्रतिपक्षी के दिल में यह भाव न आने दे कि वह अपने सहायकों का पक्षपाती है। गांधीजी ने वहां नीति भी अजीब बरती। जब कोई बोलने उठता तो उससे पूछते कि आप डाक्टर मुंजे के पक्ष में बोलेंगे अथवा विरोध में? यदि वह कहता कि विरोध में, तो कहते कि आप ठहरें। यदि वह कहता कि पक्ष में, तो उसे कहते कि आपको जो कहना हो आप कहें। इस प्रकार कितने ही भाषण डाक्टर मुंजे के पक्ष में हुए और एक भी भाषण उन्होंने अपने पक्ष में होने नहीं दिया। हम लोग कुछ शंकित भी होने लगे। सोचने लगे कि गांधीजी इस प्रकार क्यों अपने पक्ष को कहने का मौका ही नहीं दे रहे हैं? अंत में उन्होंने प्रस्ताव को सम्मति के लिए सभा के सामने पेश कर दिया। हाथ उठने पर मालूम हुआ कि प्रायः उतने ही हाथ डाक्टर मुंजे के पक्ष में उठे जितने भाषण उनके पक्ष में हुए थे! अविश्वास का प्रस्ताव बड़े बहुमत से नामंजूर हो गया। बारदोली का निश्चय निम्नलिखित प्रकार से पेश किया गया—

(1) अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की यह बैठक बारदोली के—11 और 12 फरवरी 1922 की वर्किंग कमिटी की बैठक में पास हुए—रचनात्मक कार्यक्रम के प्रस्ताव को पूर्ण विचार के बाद मंजूर करती है और साथ-ही-साथ यह निश्चय करती है कि व्यक्तिगत या शख्सी भद्र अवज्ञा यानी सिविल नाफरमानी, चाहे वह रक्षार्थ हो चाहे आक्रमणकारी या हमलेआवर, खास-खास जगहों में या खास-खास कानूनों के बाबत, मुकामी सूबा कांग्रेस कमिटी से इजाजत लेकर, की जा सकती है। पर ख्याल रहे कि यह उसी हालत में की जा सकती है जब कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी या उसकी वर्किंग कमिटी की बतायी हुई, सिविल नाफरमानी जारी करने के पहले की, कुल शर्तें ठीक-ठीक पूरी हो चुकी हों।

(2) कई जगहों से रिपोर्ट आयी है कि शराब की दूकानों पर जिस तरह से धरना या पिकेटिंग की जाती है, उसी तरह कपड़े की दूकानों पर भी पिकेटिंग की जरूरत है। इसलिए यह अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी ऐसी पिकेटिंग की इजाजत कपड़े की दूकानों के लिए भी देती है, जो नेकनीयती से और बारदोली के प्रस्ताव में बतलाये हुए तरीकों से तथा उन्हीं शर्तों के साथ की जायेगी।

(3) अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी अपनी यह राय जाहिर कर देना चाहती है कि वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव के यह मानी नहीं हैं कि वह अपने पहले के असहयोग या सामूहिक भद्र अवज्ञा के प्रोग्राम को छोड़ देती है। उसका मतलब सिर्फ यह है कि बारदोली प्रस्ताव में बतलाये हुए रचनात्मक कार्यक्रम पर कार्यकर्ताओं के पूरे दिल से लग जाने से और उसे सफल बनाने से ही सामूहिक भद्र अवज्ञा के लिए आवश्यक या अनुकूल वायु-मंडल तैयार किया जा सकता है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की यह तजवीज है कि जनता को ऐसी हालत में सिविल नाफरमानी व भद्र अवज्ञा को काम में लाने का पूरा हक और कर्तव्य है जब कि शासनकर्ता व अधिकारी वर्ग जनता के निश्चय किये हुए विचारों का विरोध करने पर उतारू हो जायें।

नोट —शख्सी या व्यक्तिगत अवज्ञा या नाफरमानी उसे कहते हैं जो एक शख्स या एक निश्चित संख्या के (महदूद) लोगों के दल या जमायत के जरिये कानून के खिलाफ या गवर्नमेंट के हुक्म को न मानकर किया जाये। इसलिए ऐसी मीटिंग या सभा को, जिसमें टिकट के जरिये ही लोग जाने पाते हों और जिसमें कोई अनधिकारी दर्शक नहीं जा सकता है, यदि सरकार ने करने से मना कर दिया हो, कर लेना व्यक्तिगत अवज्ञा या शख्सी नाफरमानी है। और अगर सभा आम जनता की है, जिसमें चाहे जो कोई बिना रोक-टोक शरीक हो, तो वैसी सभा यदि सरकार की आज्ञा के विरुद्ध की जाये, तो वह सामूहिक भद्र अवज्ञा (Mass Civil Disobedience) है। अवज्ञा या नाफरमानी को बचाव के लिए वा रक्षार्थ उस हालत में कहेंगे जब मीटिंग या सभा किसी कार्यक्रम को अंजाम देने के लिए की गयी हो। आघातक या हमलेआवर उस हालत में कहेंगे जब सभा किसी काम के करने के लिए नहीं, बल्कि गवर्नमेंट की मनाही की आज्ञा को तोड़ने के लिए की जाये तथा गिरफ्तारी या जेल या दूसरे प्रकार के दमन को अपने ऊपर लाने के लिए करें।

यह कमिटी बारदोली के निश्चय को मंजूर करने के साथ-साथ केवल सामूहिक भद्र अवज्ञा को छोड़ लोगों को सभी जरूरी कार्यक्रम पूरा करने की हिदायत करती है, जो इस ~~समय~~ स्थगित हो गये हैं।

गांधीजी ने प्रस्ताव पेश करने के समय ही ऐसा भाषण कर दिया था कि उसका असर लोग नहीं मिटा सके। सत्याग्रह स्थगित रह गया।

इस बैठक के संबंध में दो बातें, यद्यपि वे छोटी हैं, कह देना बेजा न होगा। दिल्ली की बैठक का दिन निश्चित करने के समय पंचांग नहीं देखा गया था। इत्तिफाक से जो दिन मुकर्रर किया गया उसी दिन फाल्गुन की शिवरात्रि का पर्व था। हिन्दुओं की ओर से तार पहुंचने लगे कि दिन बदल दिया जाये। पर गांधीजी इस पर राजी नहीं हुए। मैंने उनसे कहा कि शिवरात्रि बड़ा भारी पर्व माना जाता है—बहुतेरे लोग उपवास और पूजा इत्यादि करते हैं; इसलिए दिन क्यों न बदल दिया जाये ? इस पर उन्होंने कहा, "उपवास और बैठक में कोई विरोध नहीं हो सकता; क्योंकि लोग उपवास करके भी सभा में शरीक हो सकते हैं, और यह कहां किस शास्त्र में लिखा है कि व्रत के दिन कोई अच्छा काम नहीं करना चाहिए ? देशसेवा का यह एक महत्वपूर्ण काम है। यदि हिन्दू उसमें उस धार्मिक प्रवृत्ति के साथ शरीक होंगे, जो ऐसे पवित्र दिन में उनसे अपेक्षित है, तो इससे बढ़कर दूसरी बात और क्या बेहतर हो सकती है ?" तिथि उन्होंने नहीं बदली।

एसोसिएटेड प्रेस के संस्थापकों में एक सज्जन श्री केशवचन्द्र राय (के. सी. राय) थे, जिनको मैं कलकत्ते में पढ़ने के समय से ही जानता था। वह उन दिनों कलकत्ते के एक अंगरेजी पत्र 'डेली न्यूज' के सम्पादकीय विभाग में काम किया करते थे। उन दिनों वह बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं हुए थे। इसलिए मुझ जैसे एक विद्यार्थी के साथ भी उनकी जान-पहचान अच्छी तरह हो गयी थी। एसोसिएटेड प्रेस की स्थापना के बाद अखबारी दुनिया में उनका बड़ा नाम हो गया था। उच्च-से-उच्च कोटि के लोगों तक वह आसानी से पहुंच पाते थे। सरकारी हलकों में उनकी धाक और पहुंच तो थी ही। उनसे दिल्ली में मुलाकात हो गयी। बहुत प्रेम से उन्होंने मुझसे एकांत में कहा कि अब तुम लोगों के साथ सरकार सख्ती बरतेगी—वह जान गयी है कि तुम लोग अब कमजोर हो गये हो—तुम लोगों में आपस में फूट आ गयी है—एकमत नहीं रहा, इसलिए अब गांधीजी भी शीघ्र गिरफ्तार कर लिये जायेंगे। उनके कहने से मुझे कुछ ऐसा नहीं मालूम हुआ कि ये बातें उन्होंने किसी मिली हुई खबर के आधार पर कही हैं। मैंने समझा कि परिस्थिति को देखते हुए यह उनका अनुमान-मात्र ही था। जो हो, दिल्ली की बैठक के बाद हम लोग अपने-अपने स्थान पर पहुंचे ही थे कि खबर आ गयी — गांधीजी गिरफ्तार करके साबरमती जेल में ले जाये गये हैं ! मैं तुरंत साबरमती के लिए रवाना हो गया। वहां जिस दिन मुकदमा दौरा-जज के यहां पेश होने वाला था, मैं पहुंच गया।

कोर्ट के दृश्यों को मैं कभी भूल नहीं सकता। गांधीजी का बयान तो एक तारीखी बयान है ही। जज का तौर-तरीका भी उस महत्वपूर्ण समय के अनुकूल ही था। गांधीजी पर 'यंग इंडिया' में लिखे गये लेखों के संबंध में अभियोग था। गांधीजी ने अभियोग को तो अपने बयान में ही स्वीकार कर लिया था। यह भी कह दिया था कि यदि वह आजाद रहेंगे तो वैसे ही आग के साथ खेलते रहेंगे जैसे अब तक खेलते रहे हैं। जज के लिए भी दो रास्तों

में से एक को स्वीकार करने के सिवा तीसरा रास्ता नहीं हो सकता। यदि वह गांधीजी के विचारों से सहमत हों तो उनको इस्तीफा दे देना चाहिए, और यदि सहमत न हों तो जितनी सख्त सजा वह दे सकते हों उनको देना चाहिए; क्योंकि जो कुछ गांधीजी ने किया है वह जानबूझकर किया है और मौका मिलने पर फिर करेंगे।

जज ने एक छोटे-से भाषण में, जिससे भी आवेश टपक रहा था, कहा कि अभियोग स्वीकार कर लेने से उनका काम एक प्रकार से तो हल्का हो गया है, पर दूसरे प्रकार से जो काम बाकी रह गया है अर्थात सजा देने का, वह काम बहुत ही कठिन है। गांधीजी को उनके असंख्य देशवासी पूज्य मानते हैं। जज को किसी ऐसे पुरुष के मुकदमे के देखने-सुनने का मौका पहले कभी नहीं मिला है और शायद मिलेगा भी नहीं। जज को केवल कानून के अनुसार काम करने का ही अधिकार है। कानून एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में, व्यक्तित्व के कारण, भेद नहीं करता। इस लिए उसे सजा तो देनी पड़ेगी ही। गांधीजी का स्थान लोकमान्य तिलक जैसा ही है। जो सजा उनको ऐसी ही परिस्थिति में मिली थी, वही अर्थात छः साल कैद की सजा, गांधीजी को भी देना अनुचित न होगा।

यही हुक्म जज ने सुना दिया। गांधीजी ने उनको इस बात के लिए धन्यवाद दिया कि उन्होंने उनको लोकमान्य तिलक के समकक्ष माना। जज के उठ जाने के बाद, हम जितने थे सब, एक-एक करके, गांधीजी से मिलकर, प्रणाम करके विदा हुए। वह दृश्य अत्यंत कारुणिक था। मैं दिल का कमजोर हूं। बच्चों का रोना भी मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। करुणा के मौके पर मैं अपने को रोक नहीं सकता। मैं फूट-फूटकर रोने लगा। श्री केलकर भी वहां उपस्थित थे। उन्होंने मुझे रोते हुए देखकर बहुत समझाया और कहा कि जब लोकमान्य को दंड मिला था, तो उन लोगों की भी वही दशा हुई थी। कुछ देर के बाद मैं भी संभल गया और गांधीजी से विदा हुआ।

उसी मुकदमे में श्री शंकरलाल बैंकर भी अभियुक्त थे। वही 'यंग इंडिया' के प्रिंटर और प्रकाशक थे। उनको भी एक साल की सजा मिली। उनका सौभाग्य था कि वह गांधीजी के साथ ही सजा पाकर जेल गये और अपनी मीयाद पूरी होने तक उनके साथ ही रहे।

42

रचनात्मक काम का प्रारम्भ और भद्र अवज्ञा कमिटी की नियुक्ति

जेल जाते समय महात्मा गांधी ने आदेश दिया था कि कांग्रेस को रचनात्मक काम में लग जाना चाहिए; उसी के द्वारा देश सत्याग्रह के लिए तैयार हो सकेगा। इस रचनात्मक कार्यक्रम में खादी-प्रचार द्वारा विदेशी वस्त्र-बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की स्थापना इत्यादि मुख्य थे। देश को सत्याग्रह के लिए तैयार न पाकर ही उन्होंने बारदोली में सत्याग्रह स्थगित कर दिया था। इससे स्पष्ट था कि अभी वह सत्याग्रह के लिए अनुमति देना नहीं चाहते थे। उनके जेल चले जाने के बाद देश में एक प्रकार की किंकर्तव्यविमूढ़ता आ गयी। उत्साही और आवेश में आये हुए लोग चाहते थे कि सत्याग्रह आरम्भ कर ही दिया जाये। कुछ लोग यह कहने को भी तैयार हो गये थे कि गांधीजी ने सत्याग्रह रोककर देश का सत्यानाश कर दिया और अब यह सारा आन्दोलन खतम हो गया। कुछ लोग सोचने लगे कि जब सत्याग्रह नहीं करना है तो कौंसिलों का बहिष्कार बेकार है—वहां जाने में जो प्रतिबंध है उसे हटा देना चाहिए। कुछ लोग गांधीजी के बताये रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर दे रहे थे और उसके लिए जोरों से काम करना चाहते थे।

जो फूट का बीज-वपन दिसम्बर के महीने में लार्ड रीडिंग के साथ समझौता न करने के कारण हुआ था, और जो बारदोली-निश्चय के समय काफी अंकुरित हो चुका था, वह तीव्र गति से पल्लवित होता गया। बड़े-बड़े नेता भी जेल में थे। बारदोली और दिल्ली के निश्चय ऊपर दिये गये हैं। उनसे स्पष्ट है कि सामूहिक सत्याग्रह तो स्थगित कर दिया गया था, आक्रमणकारी व्यक्तिगत सत्याग्रह भी बंद ही था; पर बचाव के लिए सत्याग्रह की इजाजत थी।

कुछ लोग, विशेष करके महाराष्ट्र के कुछ लोग, शुरू से ही असहयोग के और सत्याग्रह के कार्यक्रम से असंतुष्ट थे। देश की परिस्थिति के प्रभाव से जो निश्चय कांग्रेस ने कर दिया उसके अनुसार वे काम तो अवश्य करने लगे थे; पर उनका दिल कभी इस सारे कार्यक्रम में नहीं लगा। इसलिए जब-जब उनको मौका मिलता, वे इसके किसी-न-किसी अंश के विरुद्ध आवाज उठाते। 1921 की जुलाई वाली अखिल भारतीय कमिटी के बम्बई अधिवेशन में ही

उन्होंने आवाज उठायी थी। फिर वही बात अहमदाबाद कांग्रेस के समय भी कही जाने लगी। जब बारदोली में वर्किंग कमिटी ने सत्याग्रह स्थगित करने का निश्चय किया, तो उनको और भी बहुत अच्छा मौका मिला। दिल्ली की अखिल भारतीय कमिटी में डाक्टर मुंजे ने उसी कारण से एक प्रस्ताव उपस्थित किया था, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है। वह चाहते थे कि सारे कार्यक्रम के संबंध में जांच करने के लिए एक कमिटी बनायी जाये। वहां तो वह प्रस्ताव नामंजूर हो गया। पर मराठी मध्यप्रादेशिक कांग्रेस कमिटी में डाक्टर मुंजे की इच्छा पूरी हुई। वहां एक कमिटी बनी। उसने एक रिपोर्ट तैयार की, जिसमें प्रायः सारे कार्यक्रम को तोड़-मरोड़कर एक नया कार्यक्रम बनाया गया। वहां की प्रांतीय कमिटी ने उसे अखिल भारतीय कमिटी के पास विचारार्थ भेजने का निश्चय किया। पर वहां की जनता इससे संतुष्ट नहीं थी। नागपुर में एक बड़ी सभा हुई। उसमें प्रांतीय कमिटी पर अविश्वास प्रकट किया गया। उस सभा में आठ-नौ हजार आदमी थे। श्री जमनालाल बजाज उसके सभापति थे। डाक्टर मुंजे के विचार वाले लोग भी उसमें सम्मिलित थे। रिपोर्ट के समर्थन में जो कुछ कहा जा सकता था, उन्होंने कहा भी। पर सात घंटों की बहस के बाद सभा ने रिपोर्ट की निंदा की। चंद हाथ ही उसके पक्ष में उठे। बाकी सब-के-सब रिपोर्ट के विरोध में ही रहे !

इसके बरक्स (विपरीत) बिहार ने बारदोली और दिल्ली के निश्चयों का स्वागत किया। प्रांतीय कमिटी ने रचनात्मक कार्यक्रम के संबंध में एक लम्बा प्रस्ताव पास किया। यद्यपि यहां भी सरकारी दमन चल ही रहा था, तथापि सत्याग्रह बंद कर दिया गया और कांग्रेस कमिटियों को आदेश दिया गया कि वे रचनात्मक कार्यक्रम जोरों से चलावें। गुजरात ने भी ऐसा ही किया। बिहार में इसका यह असर हुआ कि दूसरे विचार के लोग, जो असहयोग और सत्याग्रह के कारण कांग्रेस से अलग हो रहे थे, रचनात्मक काम में मदद देने के लिए तैयार हो गये। इनमें मुख्य थे बाबू गणेशदत्त सिंह। पटने में ऐसे लोगों की एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें मैं भी दूसरे असहयोगियों के साथ शरीक हुआ था। वहां पर उन्होंने निश्चय किया कि वे भी इसमें पूरी दिलचस्पी लेंगे और यथासाध्य मदद करेंगे।

हमने खादी का काम जोरों से हाथ में लिया। साथ ही, राष्ट्रीय शिक्षा संबंधी एक कांफ्रेंस की गयी, जिसमें इसके नियम और पाठ्यक्रम इत्यादि पर विचार किया गया। उस समय जितनी पाठशालाएं चल रही थीं उनकी आर्थिक सहायता इत्यादि का प्रबंध सोचा गया। हम लोग, सभी, इन्हीं विचारों को लेकर, जहां-तहां सफर भी करने लगे।

सरकार की दुहरी नीति चलती रही। कहीं-कहीं गिरफ्तारियां भी हो रही थीं। दूसरी ओर, जो जेल में गये थे उनके मुकदमों के कागजों को गवर्नमेंट ने हाइकोर्ट के एक जज सर वसंतकुमार मल्लिक के पास भेजा। उनसे कहा गया कि वह कागजों को देखकर अपनी

सम्मति दें कि सजा ठीक और उचित है या नहीं। उनकी सिफारिश से कुछ लोग छोड़ दिये गये और कुछ की सजा कम हुई। पर अधिकांश ज्यों के त्यों जेलों में पड़े रहे।

श्री सच्चिदानन्द सिंह 1921 में ही, राय कृष्णसहाय बहादुर की मृत्यु के बाद, बिहार के गवर्नर की कौंसिल के मेम्बर नियुक्त हो चुके थे। जेल का महकमा उन्हीं के चार्ज में था। उन्होंने राजबंदियों के संबंध में कुछ नियम बनाये, जिनसे जनता को कुछ संतोष हुआ। पर जेल के अधिकारी इससे बिलकुल संतुष्ट नहीं थे। कुछ दिनों के बाद, एक आदमी (सर हरमुसजी बनातवाला) जेलों का इंसपेक्टर-जेनरल बनकर, कहीं किसी दूसरे प्रांत से, आया। वह बड़ी सख्ती बरतने लगा। नये कायदों के बावजूद, बिहार के जेलों में राजबंदियों के साथ काफी सख्ती होती रही, जिसका जिक्र उन दिनों पत्रों में अक्सर हुआ करता था। उनसे चक्की चलवाना और कोल्हू पेरवाना तो मामूली बात थी। अगर हुक्म के मुताबिक पूरा काम न हो तो उसके लिए सजा होती। पैरों में बेड़ी, डंडाबेड़ी, खड़ी हथकड़ी, चट्टी कपड़ा, जो जेल की सख्त सजाएं हैं, बहुतेरों को भोगनी पड़ीं। कहीं-कहीं बेंत भी लगाये गये। मुसलमानों की संख्या जेलों में काफी थी। इसलिए उनसे अजान के मामले को लेकर मुठभेड़ हो गयी। अधिकारियों ने इसे बंद करने का हुक्म दिया। उन्होंने नहीं माना। इसके लिए बहुतों को सजा हुई।

मौलाना मजहरुल हक साहब ने 1921 के सितम्बर से ही एक साप्ताहिक पत्र, 'मदरलैंड' के नाम से, निकालना शुरू किया था। उसमें वह खुद अधिक लिखा करते थे। वह पटने से प्रकाशित हुआ करता था। उसमें जेल संबंधी एक लेख छापने के लिए उन पर सर हरमुसजी बनातवाला ने मुकदमा चलाया, जिसमें उनको भी सजा हो गयी। मुझे भी एक कड़ी टिप्पणी, श्री सच्चिदानन्द सिंह के जेल संबंधी शासन के विरुद्ध, लिखनी पड़ी थी।

महात्माजी के कैद हो जाने के बाद वर्किंग कमिटी की बैठक जहां-तहां होती रही। बैठकों में रचनात्मक काम पर जोर दिया जाता रहा। एक में खादी-प्रचार के काम को संगठित रूप से चलाने के लिए एक बोर्ड बनाने का निश्चय हुआ। इस काम के लिए तिलक स्वराज्य फंड से रुपये देने की भी अनुमति दी गयी। श्री विट्ठलभाई पटेल, जो अखिल भारतीय कमिटी के मंत्री थे, भाषणों और समाचारपत्रों में लेखों द्वारा, जनता को और कांग्रेस कार्यकर्ताओं को बराबर उत्साहित करते रहे कि वे कांग्रेस के अधिक-से-अधिक मेम्बर बनाने में, तिलक स्वराज्य फंड के लिए पैसे जमा करने में तथा खादी-प्रचार, अछूतोद्धार और राष्ट्रीय शिक्षा के कामों में जोर लगाते रहें। तो भी सुस्ती आती गयी। लखनऊ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक की गयी। श्री विट्ठलभाई पटेल उस समय की परिस्थिति से बहुत असंतुष्ट थे। मैं लखनऊ पहुंचा तो सही, पर वहां पहुंचकर ज्वरग्रस्त हो गया। इसलिए वहां की बैठक में प्रायः दर्शक-सा ही भाग ले सका, बहस-मुबाहसे में बहुत भाग न ले सका। भाग्यवश पंडित मोतीलाल नेहरूजी उसी समय छूटे। दूसरे दिन वह उस बैठक में शरीक

हुए। पंडितजी के पहुंचने के पहले ही उस बैठक में श्री विट्ठलभाई पटेल और कतिपय दूसरे नेताओं की प्रेरणा से एक कमिटी मुकर्रर करने की बात हुई, जिसके जिम्मे यह काम दिया गया कि वह देश की परिस्थिति पर विचार करके और जहां जाकर जांच करने की जरूरत समझी जाये वहां जाकर जांच करके इस बात की रिपोर्ट करे कि देश सत्याग्रह के लिए तैयार है वा नहीं। पंडितजी ने भी आने के बाद इसे मंजूर कर लिया और सभापति से आग्रह किया गया कि वह एक कमिटी बनावें। गांधीजी, बगैर किसी कमिटी की जांच के ही, देश की नाड़ी पहचान लिया करते थे। जब से वह भारत लौटे थे तथा सार्वजनिक कामों में खुले तौर पर भाग लेने लगे थे, उन्होंने अपनी इसी शक्ति से काम लिया था। उनके हटते ही कमिटी को इसकी जरूरत महसूस हुई। पर इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। जैसे भारत में ब्रिटिश गवर्नमेंट जब किसी विषय को टाल देना चाहती है तो एक जांच कमिटी मुकर्रर कर देती है; वैसे ही हमने भी किया! इससे एक प्रकार से सत्याग्रह स्थगित हो गया। रचनात्मक काम में जो उत्तेजना मिलनी चाहिए थी और जिस पर गांधी जी जोर दे गये थे, वह भी एक प्रकार से गौण बन गया।

इसी बैठक में एक दूसरा काम भी किया गया, जिसका फल कुछ दिनों के बाद बहुत अच्छा निकला। देश-भर में बढ़ते हुए खादी के काम की देख-रेख के लिए वर्किंग कमिटी ने जो बोर्ड बनाया था, उसे कमिटी ने मंजूर किया। 1921 में जब स्वराज्य फंड जमा हो चुका और खादी के काम पर जोर दिया गया, तो उस फंड में से सभी प्रांतों को खादी-प्रचार के लिए रुपये दिये गये। किसी को अभी खादी का न तो बहुत ज्ञान था और न अनुभव। इसलिए महसूस किया गया कि रुपये बहुत नुकसान होंगे, और काम ठीक तरह से आगे नहीं बढ़ेगा। इस बोर्ड के जिम्मे सभी सूबों में संगठित रूप से काम की देखरेख करने का भार दिया गया। सेठ जमनालाल बजाज इसके सभापति नियुक्त हुए। सेठजी को रचनात्मक काम पर बहुत विश्वास था। उन्होंने खादी-प्रचार तथा अछूतोद्धार के काम को बहुत परिश्रम और दिलचस्पी से शुरू कर दिया।

43

बिहार में कांग्रेस को निमंत्रण और उसकी तैयारी

अहमदाबाद कांग्रेस में बिहार के जो प्रतिनिधि उपस्थित हुए उन सबकी राय हुई कि इस बार कांग्रेस का अधिवेशन बिहार में करने के लिए निमंत्रण दिया जाये। बिहार में इसके पहले केवल एक ही बार कांग्रेस हुई थी—1912 में, जब आपस के मतभेद के कारण कांग्रेस बहुत क्षीण हो चुकी थी और उसमें हाजिरी बहुत कम हुआ करती थी। उस बार के अधिवेशन के प्रबंधकों का अनुभव कुछ अच्छा नहीं, बल्कि कटु ही था। यहां तक कि कांग्रेस के समय में जो खर्च हुआ उसके कुछ रुपये बाकी पड़ गये। स्वागत समिति के अध्यक्ष मजहरुल हक साहब, मंत्री श्री सच्चिदानन्द सिंह तथा अन्य सदस्यों पर उन बाकी रुपयों के लिए अदालत में नालिश हुई! पर अब बिहार में, चम्पारन में महात्माजी के आगमन के बाद, और विशेषकर 1921 के आन्दोलन के कारण, काफी जागृति हो गयी थी। हम लोगों ने महसूस किया कि इस बार वैसे कटु अनुभव नहीं होंगे। साहस करके हमने निमंत्रण तो दे दिया; पर वहां यह निश्चय न कर सके कि बिहार के किस नगर में अधिवेशन किया जाये। यह बिहार की प्रांतीय कमिटी की बैठक में निश्चय करने के लिए छोड़ दिया गया। कांग्रेस ने भी अहमदाबाद में निश्चय नहीं किया कि किस सूबे में अगला अधिवेशन होगा। यह निश्चय कुछ दिनों के बाद वर्किंग कमिटी ने किया कि बिहार का निमंत्रण मंजूर किया जाये।

बिहार में, प्रांतीय कमिटी की बैठक के पहले, मैंने कुछ जगहों को जाकर खुद देखा। तब कमिटी की बैठक की गयी। वहां पर निश्चय हुआ कि गया में कांग्रेस का अधिवेशन किया जाये। उस जिले में, रुपये जमा करने के लिए, मैं श्री कृष्णप्रकाश सेन सिंह के साथ दौरा करने लगा। कुछ सफलता भी मिली। सारे जिले में, जहां मैं पहले कभी नहीं गया था, जाने का अच्छा मौका मिला। उस जिले में बरसात में घूमना बहुत मुश्किल है। मिट्टी केवाल (चिकनी-कड़ी) है। जहां पक्की सड़क नहीं है वहां किसी भी सवारी का गुजर नहीं है। इसलिए, बरसात के पहले ही, मैंने बहुतेरी जगहों में, जहां कुछ जमा हो सकता था वहां जाकर, काम कर लिया।

पटने में 1912 की कांग्रेस के स्वागत-मंत्री पर मुकदमे की बात मुझे याद थी। इसलिए निश्चय किया गया था कि अभी स्वागताध्यक्ष तथा अन्य पदाधिकारियों का

पक्का चुनाव न किया जाये। जब काफी संख्या में स्वागत समिति के सदस्य बन जायेंगे तभी पदाधिकारियों का चुनाव करना ठीक होगा। तब तक काम चलाने के लिए मैं ही अस्थायी मंत्री बना दिया गया। कुछ लोगों की, जिनमें अनुग्रह बाबू भी थे, मेरे सहायतार्थ, एक छोटी कार्यकारिणी बना दी गयी। मैंने निश्चय कर लिया और कमिटी को कह भी दिया था कि मैं एक पैसा भी उधार या कर्ज ले करके खर्च नहीं करूंगा—इतना ही नहीं, किसी काम को तब तक शुरू भी नहीं करूंगा जब तक उसके लिए पूरे रुपये पास में न आ जायेंगे। यही एकमात्र उपाय था, जिससे अपने ऊपर की आर्थिक जिम्मेदारी से मैं तथा कमिटी के मेम्बर अपने को बचा सकते थे। सभी जिलों में पत्र लिखे गये कि सभी स्वागत समिति के सदस्य बनावें और चंदा जमा करें। पर कार्यकर्ताओं में कुछ सुस्ती-सी दीखने लगी, धनसंग्रह में भी कमी होने लगी। अहमदाबाद के बाद कांग्रेस का रूप ही बदल गया था। हमको एक नया शहर-सा बसाना था, जो गया शहर से बाहर हो और जहां लोगों के रहने के लिए झोंपड़े तथा रोशनी और पानी का पूरा प्रबंध हो। इसके अतिरिक्त कांग्रेस का पंडाल तैयार कराना था। कुछ कठिनाई जमीन मिलने में हुई। पर स्थानीय लोगों की कृपा से, गया शहर से प्रायः डेढ़-दो मील दक्खिन, 'तेनुई' गांव में, पक्की सड़क के पूरब आम का बगीचा और पच्छिम में खाली खेत मिल गये। खाली खेत में पंडाल और बगीचे में रहने के लिए झोंपड़े बनाने का निश्चय हुआ। कुछ दूर पर एक दूसरी फुलवारी मिल गयी, जिसमें एक छोटा बंगला भी था। उसी में खादी प्रदर्शनी करने का निश्चय हुआ। कुछ समय तो नक्शा बनाने में और जहां-तहां रुपये तथा बांस-बल्ली जमा करने में लगा। बरसात में काम हो ही नहीं सकता था। इसलिए बरसात के बाद ही काम शुरू करने का निश्चय हुआ।

अधिवेशन दिसम्बर के अंतिम सप्ताह में हुआ करता था। इसलिए बरसात के बाद प्रायः तीन महीने मिलते थे। यदि रुपये और सामान तैयार रहें तो सब कुछ कर लेना ज्यादा मुश्किल न था। पर दुर्भाग्यवश अभी रुपये काफी नहीं आये थे। मैंने पत्रों द्वारा और आदमी भेजकर सभी जिलों को ताकीद किया, पर रुपये काफी नहीं आये। मेरी चिंता बढ़ने लगी। मैंने तो निश्चय कर ही लिया था कि तब तक किसी के साथ कोई कांट्राक्ट (ठीका) नहीं करूंगा जब तक कांट्राक्ट के लिए पूरे रुपये बैंक में जमा न हो चुके होंगे। ज्यों-ज्यों समय नजदीक आने लगा, चिंता बढ़ने लगी। हम उस समय के नजदीक पहुंचने लगे जब कोई कांट्राक्टर (ठीकेदार) समय की कमी के कारण आवश्यक झोंपड़े, पंडाल इत्यादि तैयार कर देने वाला न मिलता। कमिटी की बैठक हुई। सब बातों पर विचार किया गया। मैं अपने इस निश्चय पर डटा रहा कि जब तक किसी काम के लिए पूरे रुपये बैंक में जमा न हो जायेंगे तब तक मैं मंत्री की हैसियत से किसी कांट्राक्ट पर

दस्तखत नहीं करूंगा। सब जिलों के कार्यकर्ताओं की सुस्ती से हम घबरा रहे थे। अंत में यह निश्चय किया गया कि कमिटी के मेम्बरों की व्यक्तिगत जिम्मेदारी पर बैंक से रुपये कर्ज लिये जायें, ये रुपये बैंक में जमा कर दिये जायें और तब नगर-निर्माण इत्यादि का कांट्राक्ट दिया जाये।

इस तरह पचास हजार रुपये लेने की बात तय हुई। कुछ लोग चाहते थे कि यह बात गुप्त रखी जाये, क्योंकि इसका प्रकाशित होना सारे सूबे के लिए बेइज्जती की बात होगी और गवर्नमेंट के कर्मचारी तथा दूसरे लोग यह देखकर खुशियां मनायेंगे। मैंने कहा कि सूबे की जनता पर मेरा पूरा विश्वास है। लोगों को जब यह मालूम हो जायेगा कि कांग्रेस को निमंत्रित करके हम इस असहाय अवस्था में हैं, तो वे जरूर आवश्यक रुपये दे देंगे। साथ ही, कांग्रेसी कार्यकर्ता भी परिस्थिति की विषमता समझेंगे और रुपये जमा करने में दिल से लग जायेंगे।

प्रस्ताव अखबारों में छाप दिया गया। मैं रुपये जमा करने के लिए दौरे पर निकल गया। जैसे ही लोगों ने इस प्रस्ताव को अखबारों में पढ़ा, सारे सूबे के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के दिल में आग-सी लग गयी। सभी खूब जोरों से स्वागतकारिणी के मेम्बर बनाने और रुपये जमा करने में लग गये। मैं जहां गया वहां काफी रुपये मिलने लगे। सभी लोग प्रांत की बेइज्जती महसूस करने लगे। मैं प्रायः एक सप्ताह के दौरे के बाद कई हजार रुपये जमा करके लौटा। रुपये साथ में थे। हम लोग ठहरा करते थे उसी छोटे बंगले में जो शहर से प्रायः डेढ़ मील दूर था और जिसमें खादी प्रदर्शनी करने का निश्चय हुआ था। वहां इतने रुपये साथ में रखना ठीक नहीं था। रेल मे मैं चार बजे के करीब सेपहर को उतरा। गया स्टेशन पर मुझे पुलिस का एक दारोगा मिला। उसने अखबारों में हमारे प्रस्ताव को पढ़ा था। वह यह स्वप्न देख रहा था कि शायद गया में कांग्रेस हो ही नहीं सकेगी। उसने ट्रेन से उतरते ही मुझसे प्रश्न किया, बैंक से रुपये कर्ज ले लिये गये ? शायद वह समझता था कि कोई बैंक भी इतनी बड़ी रकम व्यक्तिगत जिम्मेदारी पर कर्ज न देगा। मैंने उत्तर दिया, नहीं। तब उसने पूछा, तो कांग्रेस कैसे हो सकेगी ? मैंने उत्तर दिया, कर्ज लेने की अब जरूरत नहीं रह गयी। यह सुनकर वह बहुत आश्चर्य में पड़ गया। मैंने यह भी कह दिया कि अब काम के लिए काफी रुपये आ गये हैं और मैं खुद अपने साथ एक अच्छी रकम जमा करके ला रहा हूं। उसको मेरी बातों पर पूरा विश्वास नहीं हुआ। मैं तो रुपयों के बोझ को बैंक में डाल देना चाहता ही था। इसलिए गाड़ी भाड़ा करके सीधे बैंक की ओर चला। वह साइकिल पर गाड़ी के पीछे-पीछे चला। जब उसने देखा कि बैंक में सचमुच मैं एक बड़ी रकम गिनवाकर जमा कर रहा हूं तब उसको मेरी बात पर विश्वास हुआ। वह हमारा साथ छोड़कर अपने दूसरे काम पर चला गया। मैं जो कुछ जमा करके लाया था उसके अलावा सभी जिलों से रोजाना रुपये पहुंचने लगे। हम लोग भी इधर-उधर चक्कर लगाते ही रहे। इधर निर्माण का काम भी तेजी से चलने लगा।

भला गरीब बिहार धनी अहमदाबाद के ठाठ-बाट की कहां तक नकल या मुकाबला कर सकता था ? पर मेरा ख्याल है कि हमने भी अच्छा ही प्रबंध कर लिया और खर्च भी गुजरात से बहुत कम ही किया।

प्रदर्शनी के संबंध में हमने निश्चय कर लिया था कि खादी बनाने की सभी प्रक्रियाओं का प्रदर्शन किया जाये। खादी में हमने केवल कपास के कपड़े को ही नहीं, बल्कि रेशम, ऊन, पाट इत्यादि उन सभी चीजों को शामिल कर लिया था, जिनसे सूत या रस्सी बट करके कोई भी चीज बुनकर बनायी जाती है। इनमें से प्रत्येक की, आरम्भ से लेकर जब तक चीज तैयार होकर इस्तेमाल के योग्य न बन जाती थी तब तक की, सभी प्रक्रियाएं दिखाने का प्रबंध किया गया। उदाहरणार्थ, कपास को लीजिए। कपास के पौधे से लेकर, कपास की ओटाई, धुनाई, कताई, ताना करना, पाई करना, बुनना, कपड़े की धुलाई-छपाई इत्यादि तक, सभी प्रक्रियाएं दिखलायी जाती थीं। इसी प्रकार से ऊन, रेशम, पाट इत्यादि की भी। अभी चर्खा संघ कायम नहीं हुआ था। इसलिए खादी कार्य का संगठन और अनुभव तथा जानकारी नहीं के बराबर थी। इन सब चीजों को और सबके लिए कारीगरों को जुटाना कुछ आसान काम न था। पर यह सब प्रबंध हो गया। खादी प्रदर्शनी अपने ढंग की अच्छी हुई। दर्शकों के टिकट से जो पैसे आये वे प्रायः प्रदर्शनी के खर्चे के लिए काफी साबित हुए।

44

आसाम और संथाल परगना में दमन

कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन और कार्रवाई के संबंध में कुछ कहने के पहले 1922 वाली कांग्रेस के संबंध में कुछ कह देना आवश्यक है।

महात्मा गांधी की गिरफ्तारी के बाद भी सरकारी दमन किसी-किसी सूबे में जोरों से जारी रहा। बड़े नेताओं में पंडित मदनमोहन मालवीयजी और श्री विट्ठलभाई पटेल को छोड़ दूसरे सभी प्रायः जेल में थे। दमन के कारण जनता कुछ घबरा-सी रही थी। कांग्रेस को जीवित रखना आवश्यक था। जो थोड़े लोग बाहर रह गये थे उनकी जिम्मेदारी और भी बढ़ गयी थी। पंडित मालवीयजी का विचार हुआ कि आसाम में, जहां से दमन की भयंकर खबरें आ रही थीं, अवश्य जाना चाहिए। मैं भी उनके साथ गया। वहां प्रायः सभी जिलों में कांग्रेस कमिटियां, केवल शहर में ही नहीं बल्कि बहुतेरे गांवों में भी, स्थापित हो गयी थीं। आसाम में मकान बहुधा फूस के ही हुआ करते हैं। कांग्रेस के घर भी फूस के ही थे। सरकारी कर्मचारियों ने प्रायः सभी जगहों के कांग्रेस के दफ्तरों को जला दिया था। सभी अच्छे-अच्छे कार्यकर्ता गिरफ्तार हो चुके थे। कांग्रेस के सेवक दल के सदस्य, जहां कहीं मिलते, गिरफ्तार कर लिये जाते थे।

वहां की सरकार के क्रुद्ध होने का विशेष कारण यह था कि आसाम में अफीम की बिक्री से सरकार को अच्छी आमदनी होती है। वहां के लोग अफीम खाते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके शारीरिक और मानसिक बल का ह्रास हो जाता है। कम उम्र में ही वे बूढ़े जैसे जान पड़ते हैं। दिल और दिमाग की कमजोरी के कारण वे निकम्मे हो जाते हैं। यह हाल सुनकर गांधीजी ने वहां के कार्यकर्ताओं को आदेश दिया था कि अफीम-बंदी का आन्दोलन करो। उस आन्दोलन के कारण अफीम की बिक्री बहुत घट गयी थी और उसके साथ-साथ सरकारी आमदनी भी। इसलिए सरकारी कर्मचारियों का प्रयत्न था कि कांग्रेस को दबाना चाहिए। जैसा ऊपर कहा गया है, वे कड़ी दमन-नीति से काम ले रहे थे।

वहां पहुंचकर हमने सब हाल देखा और निश्चय किया कि सूबे का दौरा किया जाये। मेरे लिए और पूज्य मालवीयजी के लिए भी आसाम-दर्शन का यह पहला अवसर था।

अत्यंत हरा-भरा, फूला-फला देश, जिसमें महानद ब्रह्मपुत्र और पहाड़ों की छटा अत्यंत मनमोहक थी। घने विशाल वृक्षों वाले तथा छोटी झाड़ियों वाले जंगल जहां प्रदेश की शोभा बढ़ाते थे, वहीं जंगली जानवरों के कारण—जिनमें हाथी और शेर मुख्य हैं—उसे खेती और सफर के लिए खतरनाक भी बना देते थे। हरियाली सुहावनी तो है; पर जमीन के हमेशा तर रहने के कारण प्रांत का बहुत भाग मलेरिया-ग्रस्त भी है।

गोहाटी में पूज्य मालवीयजी ने बहुत ही जोशीला और उत्साहवर्धक भाषण किया। अफीम-बंदी के काम को जारी रखने के लिए सब लोगों से अपील भी की। मैंने भी कुछ कहा; पर पूज्य मालवीयजी के सभा में रहते दूसरा कोई क्या बोल सकता है! जितना समय आसाम-भ्रमण के लिए हम दे सकते थे, उतने में बहुत जगहों तक हम दोनों नहीं पहुंच सकते थे। इसलिए हम दोनों दो दलों में बंट गये। कुछ स्वयंसेवक पूज्य मालवीयजी के साथ उन स्थानों पर गये जहां रेल या स्टीमर से जाया जा सकता था। कुछ स्वयंसेवकों के साथ मेरा कुछ ऐसे स्थानों में जाना निश्चित हुआ जहां बैलगाड़ी पर जाना था। निश्चय ठीक और मेरे मन के अनुकूल था; क्योंकि इस प्रकार मैं गांवों की परिस्थिति अधिक देख सकता था। साथ ही, पूज्य मालवीयजी अपनी वृद्धावस्था में—उस समय वह साठ से अधिक के रहे होंगे—बैलगाड़ी के सफर से बच जाते थे। स्थान ऐसे ही चुने गये थे जहां दमन का चक्र अधिक तीव्र गति से चला था।

मुझे एक बीहड़ स्थान पर जाना था, जहां कुछ दूर तक घोर जंगल में से होकर जाना पड़ता था। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आसाम के गांवों में बिहारी मजदूर काम करते हैं। बिहार की बैलगाड़ियां बोझ ढोने का काम करती हैं। गोहाटी में, ब्रह्मपुत्र में, मैं स्नान करने गया। वहां इत्तिफाक से दो नावें लगी हुई थीं। उनके मल्लाहों को आपस में बातचीत करते सुना तो समझ गया कि वे छपरे की बोली बोल रहे हैं। पूछने से मालूम हुआ कि वे छपरा जिले के किसी गांव के रहने वाले मांझी हैं और बराबर नाव ले आया-ले जाया करते हैं। स्टीमर पर जो हलवाई दूकान करता था वह भी छपरे का ही रहने वाला था।

हम लोग गोहाटी से 15-16 मील तक लारी पर गये। वहां से बैलगाड़ी पर प्रायः 20 मील और जाना था। रास्ता जंगल से होकर जाता था। स्थानों का नाम आज स्मरण नहीं है। उस स्थान पर तो हम प्रायः 12 बजे दिन को ही पहुंच गये। मैंने सोचा था कि जंगल का रास्ता भी शीघ्रता से चलने पर दिन में ही अधिकांश कट जायेगा। दो बैलगाड़ियां भाड़े पर ली गयीं, पर गाड़ी वाले किसी-न-किसी बहाने से अब-तब करते प्रायः 5 बजे तक रवाना नहीं हुए। दरियाफ्त करने से मालूम हुआ कि सख्त धूप के कारण बैलगाड़ियां अधिकतर रात को ही चलती हैं। एक गाड़ी पर मैं और एक स्वयंसेवक बैठे। दूसरी पर दो या तीन दूसरे स्वयंसेवक। पास में खाने के लिए कुछ था नहीं। आठ बजे रात को किसी स्थान पर पहुंचे जो चट्टी-सी जान पड़ती थी। बहुतेरी गाड़ियां वहां लगी थीं। खोजने पर केवल कुछ भुने

चने मिले जिनको हम लोगों ने ले लिया और गाड़ी को रवाना किया। उन्हें चबाकर मैं गाड़ी में सो गया। कुछ घंटों बाद बहुत शोर-गुल सुनकर मेरी नींद टूटी। मैंने देखा कि स्वयंसेवक किरासन तेल के दो टिनों को बहुत जोरों से पीट-पीट कर और जोरों से गा-गाकर शोर मचा रहे हैं। साथ ही, गाड़ी वाले भी बहुत जोरों से चिल्ला-चिल्ला कर बैलों को हांक रहे हैं। दोनों गाड़ियों के साथ लालटेनें थीं जो जल रही थीं। सड़क बहुत संकरी हो गयी थी। दोनों ओर बड़े-बड़े वृक्षों का बहुत घना जंगल था। वह घाटी थी, जहां दोनों ओर पहाड़ भी थे, पर वे रात को गाड़ी पर से नजर नहीं आते थे—उनको मैंने लौटती बार ही देखा। पूछने पर मालूम हुआ कि उस स्थान पर जंगली जानवर, विशेषकर शेर, अक्सर आ जाया करते हैं। उन्हीं को भगाने के लिए स्वयंसेवक और गाड़ीवान शोर मचा रहे थे। उन्होंने कहा कि जानवर उस आवाज के नजदीक नहीं आते। यदि सड़क पर भी होते हैं तो हट जाते हैं। पर कोई-कोई जानवर इतना शोख होता है कि बैलगाड़ी में जुते हुए बैलों को भी खींच ले जाता है। मालूम हुआ कि एक घटना ऐसी हाल में ही हो चुकी थी। इसके बाद मैं सो न सका।

जब हम घोर जंगल से बाहर निकल आये और जानवरों का डर कम हो गया तब शोर मचाने की प्रक्रिया बंद हुई। हम अपने स्थान पर बहुत सवेरे ही पहुंच गये। वहां की जनता बहुत आतंकित थी। कांग्रेस का छोटा-सा घर जला दिया गया था। सभी कांग्रेसी काम करने वाले गिरफ्तार हो चुके थे। थाना पास में ही था। लोग डर के मारे अब कांग्रेस के काम से विमुख हो गये थे। हम लोगों के पहुंचने से उनमें साहस आ गया। सब जमा हो गये। आसपास के गांवों में खबर दी गयी कि सभा होगी। इस बीच में गांव के लोगों से वहां के दमन का हाल हम सुनते रहे। अफीम-बंदी संबंधी जानकारी भी हासिल करते रहे। सेपहर तक लोग जमा हो गये। दो-तीन सौ आदमियों की एक अच्छी सभा हो गयी। देखा कि लोगों की हिम्मत बढ़ गयी। फिर कांग्रेस भवन बना लेने और अफीम-बंदी का काम जारी करने का लोगों ने वचन दिया। पुलिस के मौजूद रहते भी लोगों ने सभा में खुलेआम भाग लिया।

हम लोग तीन बजे के करीब वहां से वापस हुए। इरादा था कि उस दुर्गम स्थान को, जहां रात को टिन पीटना पड़ा था, रोशनी रहते ही पार कर जायें। ऐसा ही हुआ भी। उस स्थान पर पहुंचते-पहुंचते सूर्यास्त हो चुका था, पर अभी अंधेरा नहीं हुआ था। मैं साथियों के साथ पैदल ही चल रहा था। दोनों गाड़ियां भी साथ-ही-साथ चल रही थीं। इसी बीच में पहाड़ियों की तरफ से बाघों की दहाड़ सुनने में आने लगी। यह आवाज दोनों तरफ से मालूम पड़ती थी, पर हो सकता है कि एक ही ओर से आती रही हो और एक ही बाघ की हो तथा वह उस निर्जन जंगल-पहाड़ों में प्रतिध्वनित होकर कई बाघों की आवाज-सी मालूम पड़ रही हो। पर बाघ कहीं देखने को न मिला। आवाज भी बहुत नजदीक नहीं थी, शायद दो-तीन फर्लांग की दूरी से आ रही थी। मैंने चिड़ियाघर के सिवा बाघों की ऐसी दहाड़ और कहीं नहीं सुनी है।

रात-भर गाड़ी पर चलकर हम लोग कुछ रात रहते उस स्थान पर पहुंचे जहां से मोटर-लारी जाती थी। प्रायः दस बजे फिर गोहाटी पहुंचे। पूज्य मालवीयजी के साथ और जगहों की यात्रा समाप्त करके हम लोग वापस चले। लखनऊ में होने वाली अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक में शरीक हुए। मैंने देखा कि वैसी गिरी हुई अवस्था में भी पूज्य मालवीयजी लोगों को जगाने और हिम्मत दिलाने में कितने सफल हुए। उनकी वाणी में शक्ति तो है ही, वहां की हालत देखकर उसमें और भी तेज आ गया था। उनकी वह यात्रा ऐसे विकट समय में भी बहुत ही सफल रही।

हमारे अपने सूबे (बिहार) में संथाल परगना से दमन की खराब खबर आयी—विशेषकर 'पाकुर' से। मैं वहां भी गया। वहां लोग इतने आतंकित थे कि स्टेशन पर हम लोगों से मिलने कोई नहीं आया। हम रात-भर स्टेशन के प्लेटफार्म पर सोये रहे। सवेरे उठे तो देखा कि एक जूता कुत्ता उठा ले गया है। वहीं मुंह-हाथ धोकर शहर में जाने का विचार किया। कुछ ही दूर गये थे जब वकालत के दिनों के एक परिचित मवक्किल मिले। उन्होंने सुना था कि मैं स्टेशन पर पड़ा हूं, कोई पूछने वाला नहीं है, और यह सुनकर वह हमको अपने घर लाने के लिए जा रहे थे। उनके घर पर हम गये। स्नानादि से निवृत्त होकर जेलखाने पर गये, जहां हमारे पहुंचने के एक-ही-दो दिन पहले पांच-छः काम करने वाले गिरफ्तार करके रखे गये थे। उनसे मुलाकात प्रायः 12 बजे दिन को हुई। जूता तो था ही नहीं। धूप कड़ाके की थी। वहां की सड़क का मोटा 'मोरम'* बहुत गर्म हो गया था। वहां से खाली पैर वापस होते समय पैर इतना जला कि सारे तलवे में फफोले उठ आये। किसी प्रकार निवास-स्थान पर पहुंचकर एक रस्सी के तल्ला वाला जूता मंगवाया। सेपहर को एक सड़क की बगल में सभा हुई, जिसमें कुछ लोग आये; पर आतंक काफी था। वहां भी हमारे जाने से लोगों में कुछ साहस आया। गिरफ्तार कार्यकर्ताओं के घर जाकर उनके घर वालों को ढाढ़स दिलाया।

हम लोग दुमका भी गये, पर वहां भी कोई ठहराने वाला नहीं मिला। हम लोग एक धर्मशाला में जाकर ठहरे। वहां और कुछ लोग मिले। उनमें वहां की पुलिस के दारोगा भी थे जो भोजपुरी बोलते थे और हर मिनट में 'जय शिव' या 'बम-बम' कहा करते थे। उन्होंने बहुत सज्जनता से बातें कीं; पर उनकी सलाह यह हुई कि हमारा वहां का काम तो खतम हो गया, अब वहां बहुत ठहरने की जरूरत नहीं रह गयी। उन्होंने अंत में यह भी कहा कि हम लोगों को वहां से चले जाने का हुक्म है। हुक्म मांगने पर वह दिखा नहीं सके—उसे लाने चले गये, पर फिर लौटे नहीं! हम वहां उनका इंतजार ही करते रह गये। मैंने अपने प्रोग्राम के अनुसार वहां अधिक ठहरने का निश्चय नहीं किया था, अतः रात की गाड़ी से वापस चला आया।

---

* एक किस्म का पत्थरों का महीन टुकड़ा अथवा मोटी बालू, जो लाल रंग की होती है और सड़क बनाने में इस्तेमाल की जाती है।

उसी जिले (दुमका) में एक दूसरे स्थान पर कुछ नेता गये थे। वहां के लोगों में से एक आदमी ने अच्छा स्वागत किया था। जहां वे लोग ठहरे थे, एक आदमी उन लोगों को पंखा झल रहा था। लोगों में काफी आतंक था; पर वह व्यक्ति निडर था। उन लोगों के चले जाने के बाद सुना कि उस गरीब पंखा झलने वाले की जमीन 'उच्छेद' कर ली गयी। वहां की जमीन सरकारी समझी जाती थी। किसी किसान को अपनी जमीन से निकाल देने को वहां 'उच्छेद' कहा जाता है। पीछे हमने बहुत कोशिश की कि उसकी जमीन वापस हो जाये; पर असफल रहे।

संथाल परगने में जो जुल्म हुए थे, उनके संबंध में मैंने एक लम्बी रिपोर्ट तैयार की। वह सामयिक पत्रों में, विशेषकर 'सर्चलाईट' में छाप दी गयी।

45

कौंसिल-प्रवेश संबंधी वाद-विवाद

ऊपर सत्याग्रह जांच कमिटी का जिक्र आ चुका है। उस कमिटी ने प्रश्नावली तैयार की और सभी कांग्रेस कमिटियों से उत्तर मांगा। उसके बाद सभी सूबों में जाकर, वहां के कार्यकर्ताओं से मिलकर, बातचीत करने और इजहार लेने का निश्चय किया। मुझे यह अच्छा नहीं लगता था; क्योंकि यह सरकारी कमिटियों का तरीका है, जो प्रायः रिपोर्ट देने के सिवा—वह भी बहुत समय बिताकर—और कुछ करना नहीं चाहतीं। कमिटी का काम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा, यह स्पष्ट होने लगा कि उसमें दो मत हैं। एक पक्ष गांधीजी के बताये हुए रचनात्मक काम पर जोर देकर देश को सत्याग्रह के लिए तैयार करना चाहता था और दूसरा पक्ष यह देखकर कि देश सत्याग्रह के लिए तैयार नहीं है—यह राय रखता था कि कौंसिलों में जाना चाहिए और कौंसिल-बहिष्कार का जो प्रस्ताव कलकत्ते के विशेष अधिवेशन ने 1920 में स्वीकार किया था उसे बदल देना चाहिए। कांग्रेस कार्यकर्ताओं में भी बहुत मतभेद देखने में आया—यद्यपि गांधीजी के कार्यक्रम को ज्यों का त्यों रखने के पक्ष में अधिक लोग मालूम पड़ते थे। कमिटी ने सभी सूबों के उत्तरों को और खुद जाकर कार्यकर्ताओं के इजहारों को जमा कर लिया। इसी सिलसिले में कमिटी के सदस्य पटने में भी आये। अन्य कांग्रेसियों के अलावा मुझे भी इजहार देना पड़ा। मैं गांधीजी के कार्यक्रम का पक्का पक्षपाती था। मैंने उसी का समर्थन अपने इजहार में जोरों से किया।

अंत में कमिटी की रिपोर्ट जब निकली तो मालूम हुआ कि छः सदस्यों में तीन एक पक्ष में थे और तीन दूसरे पक्ष में! इसलिए कौंसिलों के संबंध में कमिटी कोई सिफारिश न कर सकी। सब मेम्बरों की राय ही देकर कमिटी संतुष्ट रही। रिपोर्ट निकलने के पहले से ही उग्र मतभेद प्रदर्शित हो रहा था। रिपोर्ट के बाद तो उसका रूप और भी उग्र हो गया। अखबारों में तथा कांग्रेसी हलकों में कौंसिल में जाने या न जाने पर बहसें होने लगीं। जो लोग कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में थे वे परिवर्तनवादी (प्रो-चेंजर्स) कहलाने लगे, और जो पहले के कार्यक्रम में परिवर्तन नहीं चाहते थे—अर्थात जो कौंसिल-प्रवेश के विरोधी थे—वे अपरिवर्तनवादी (नो-चेंजर्स) कहलाने लगे।

क्रमशः बड़े-बड़े नेता भी मीयाद काटकर छूटने लगे। उनमें देशबंधु दास का स्थान ऊंचा था। लालाजी की लम्बी मीयाद थी। उनके छूटने की अभी सम्भावना नहीं थी। शुरू में पंडित मोतीलालजी के विचारों का ठीक पता मालूम न हुआ। ऐसा मालूम होता था कि वह गांधीजी के प्रोग्राम को ही मानते हैं। पर देशबंधु दास के छूटने के बाद स्पष्ट हो गया कि पंडितजी का विचार भी कौंसिलों में जाने के पक्ष में ही था। पहले के प्रोग्राम के समर्थकों के नेताओं में श्री राजगोपालाचारी, डाक्टर अंसारी, श्री वल्लभभाई पटेल, सेठ जमनालाल बजाज प्रभृति थे। देशबंधु दास ने कमिटी की रिपोर्ट के बाद अपनी राय जाहिर कर दी! वह थी कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में। अहमदाबाद कांग्रेस के मनोनीत सभापति वही थे। इसलिए जब वह छूटे तो नियमानुकूल अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के सभापति हो गये। चुने जाने पर भी वह अहमदाबाद में सभापति न हो सके थे। देश ने उनको फिर गया के अधिवेशन के लिए सभापति चुना।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की एक बैठक कलकत्ते में हुई। सत्याग्रह कमिटी की रिपोर्ट उसमें विचार करने के लिए पेश हुई। तीन-चार दिनों तक बहस चलती रही। श्री राजगोपालाचारी ने ही हम सब अपरिवर्तनवादियों का नेतृत्व किया। मुझे भी वहां के वाद-विवाद में हिस्सा लेना पड़ा था। हम लोगों की कोशिश थी कि कुछ अदल-बदल करके और कौंसिल के सिवा अन्य विषयों पर—जिनका जिक्र रिपोर्ट में था—यदि कुछ समझौता हो जाये तो अच्छा होगा। पर ऐसा हो न सका। बहुत बहस के बाद यह विषय गया कांग्रेस के लिए स्थगित कर दिया गया।

46

गुरु का बाग और मुलतान

इस साल, अगस्त-सितम्बर में, जहां तक मुझे स्मरण है, दो बड़ी दुर्घटनाएं हुईं जिनका असर सारे हिन्दुस्तान की राजनीति के वातावरण पर पड़ा। पहली घटना वह थी जो गुरु के बाग से संबंध रखती थी। कुछ समय पहले से सिक्खों में उनके अपने गुरुद्वारों के सुधार के लिए आन्दोलन चल रहा था। उनके गुरुद्वारे धार्मिक स्थान हैं जिनका संबंध किसी धार्मिक घटना से हुआ करता है। मुख्य गुरुद्वारों का संबंध किसी-न-किसी गुरु के जीवन की किसी घटना से होता है। इतिहास साक्षी है, सिक्खों ने अपने धर्म के लिए बहुत कष्ट सहे हैं, बहुत जुल्म बर्दाश्त किये हैं। इसलिए गुरुद्वारों के प्रति उनकी बड़ी ममता और श्रद्धा है। इन गुरुद्वारों के पास जनता की दी हुई काफी जायदाद है। पंथ की सेवा के लिए ही वह दी गयी थी। गुरुद्वारों के इंतजाम के लिए जो सेवक नियुक्त किये गये थे वे ही उस जायदाद का प्रबंध इत्यादि भी किया करते थे। जैसा अक्सर हुआ करता है, गुरुद्वारे महंतों के कब्जे में थे। बहुतेरे महंत निकम्मे और दुराचारी थे। इसलिए सिक्खों में एक दल, जिसे अकाली दल कहते हैं, इस पर जोर देने लगा कि गुरुद्वारों का सुधार करने के लिए महंतों का नियंत्रण किया जाये।

आहिस्ता-आहिस्ता यह आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। गुरुद्वारों का प्रबंध अपने हाथ में लेने के लिए उन्होंने 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमिटी' स्थापित की। कहीं-कहीं के महंतों ने शिरोमणि कमिटी की बात मान ली और अपना प्रबंध उसके हाथ सौंप दिया। गवर्नमेंट भी इस बात पर विचार करने लगी कि यह काम कानूनन किया जाये और कानून बनाकर गुरुद्वारों का प्रबंध कमिटियों को सौंपा जाये। पर कोई बात अभी तय नहीं हुई थी। गवर्नमेंट पसोपेश में थी। अकालियों से रुष्ट होकर कुछ महंत जोर-जबरदस्ती करने लगे। एक गुरुद्वारे में वहां के महंत ने बहुतेरे अकालियों को बड़ी क्रूरता से मरवा और जलवा डाला था। यह घटना कुछ पहले नानकाना साहब गुरुद्वारे में हो चुकी थी। इससे अकालियों में बहुत क्षोभ और रोष पैदा हुआ था। उन्होंने गांधीजी की बतायी हुई अहिंसात्मक नीति को स्वीकार किया। उन्होंने यही निश्चय किया कि गुरुद्वारों को वे अहिंसात्मक तरीके से अपने

कब्जे में करेंगे। यह अहिंसात्मक नीति सिक्खों के लिए नयी चीज नहीं थी। मुसलमानी काल में भी उन लोगों ने इस नीति को ग्रहण किया था और बहुत दुख सहे थे।

'गुरु का बाग' नामक एक स्थान अमृतसर से कुछ दूर पर है। वहां एक गुरुद्वारा है जो एक महंत के कब्जे में था। अकालियों ने इस गुरुद्वारे को अपने हाथ में लेना चाहा। पहले महंत ने उनकी बात मान ली। आपस में यह तय हो गया कि गुरुद्वारा अकालियों के हाथ में रहे और मठ महंत के कब्जे में। वहां कुछ जमीन भी थी जिसमें बबूल का जंगल-सा था। आगे चलकर आपस में फिर झगड़ा छिड़ गया। शिरोमणि कमिटी की ओर से गुरुद्वारे का प्रबंध हो रहा था। ग्रंथ साहब की सेवा के लिए सेवक नियुक्त थे। गुरुद्वारों में और सिक्ख संगतों में अक्सर 'लंगर' (भंडारा) हुआ करता है। यहां भी वे लंगर खोले हुए थे। उसमें जलाने के लिए कुछ बबूल के वृक्ष काट लाये। महंत ने इसे रोका और पुलिस की मदद ली। सरकार की ओर से अकालियों को वहां जाने की मनाही हो गयी। अकालियों ने सत्याग्रह करने का निश्चय कर लिया। वे उस जंगल में लकड़ी काटने के लिए जाते, पुलिस रोकती; न रुकने पर पहले तो उनको गिरफ्तार करती, पर पीछे केवल मार-पीटकर हटाने लगी। जो अकाली वहां जाता वह बहुत बुरी तरह से पीटा जाता। पीछे गवर्नमेंट ने वहां जाने के रास्ते पर, कुछ दूर से ही, रोक लगा दी। अकालियों में बहुत जोश था। वे अमृतसर के अकाल तख्त में जाकर, अहिंसात्मक रहकर वहां पहुंचने की, सौगंध लेते। जब तक रास्ता खुला था, गुरुद्वारे में आकर ठहरते। वहां से जंगल में जाते और पीटे जाते। जब रास्ता रोक दिया गया तो उनके जत्थे रास्ते में ही रोके और पीटे जाते—इतनी बुरी तरह से पीटे जाते कि बेहोश हो जाते। उस हालत में लोग उनको वहां से उठाकर अस्पताल में, जो कायम किये गये थे, ले जाते।

इसका शोर सारे देश में फैल गया। दूर-दूर से लोग वहां का सत्याग्रह देखने आने लगे। पंडित मालवीयजी, हकीम साहब और दूसरे लोग भी गये। मैं भी गया। अमृतसर में वर्किंग कमिटी की एक बैठक हुई। वहां से हम लोग 'गुरु का बाग' देखने गये। हमने जो दृश्य देखा, उसे कभी भूल नहीं सकते। कुछ अच्छे तगड़े जवान सिक्ख हाथ जोड़े हुए आगे बढ़े। उधर से, लोहे और पीतल से मढ़ी हुई लाठियां लिये, पुलिस के सिपाही, एक अंगरेज अफसर के साथ आगे आये। उन लोगों को उन्होंने रोका। वे लोग बैठ गये। इस पर उनको लाठियों से खूब पीटा। वे फिर उठकर खड़ा होना चाहते, पर मारकर गिरा दिये जाते। यह क्रम उस वक्त तक चलता रहता जब तक वे बेहोश नहीं हो जाते। बेहोश हो जाने पर चारपाई (एम्बुलेंस) पर लादकर उनको दूसरे लोग उठा लाते। कभी-कभी उनका केश पकड़कर उन्हें घसीटा भी जाता। लोग यह देखने के लिए जमा होते, पर एक आदमी भी कभी हाथ न उठाता। जो पीटे जाते वे बेचारे भी कभी हाथ न उठाते। यह अहिंसात्मक सत्याग्रह का एक

अत्यंत ज्वलंत उदाहरण सारे देश के सामने आ गया। सारे देश में, बड़ी उत्सुकता के साथ, 'गुरु का बाग' की खबरें पढ़ी जाने लगीं। हजारों आदमी गिरफ्तार हुए। शिरोमणि कमिटी के प्रमुख सदस्य भी गिरफ्तार हुए। बहुतेरे लोग तो यों ही पीटे गये। जो अकाली सत्याग्रह में शरीक होते उनमें बहुतेरे ऐसे थे जो जर्मन-युद्ध में ब्रिटिश सरकार की ओर से बहादुरी से लड़े थे। गवर्नमेंट का कहना था कि महंत की जमीन का, जिस पर उसका क़ानूनी हक थां, वह कैसे छीन ले और जब महंत अपना कब्जा कायम रखने में गवर्नमेंट की मदद मांगता है तो वह कैसे इंकार कर सकती है! इसी कानूनी उधेड़-बुन में बहुत-से लोग जेल गये। इसी कारण बहुत-से लोग बुरी तरह से पीटे जा रहे थे। पुलिस के एक सुपरिंटेंडेंट ने लाठी चलाने की कला को भी वह रूप दे दिया था जो फौज में और-और हथियारों के चलाने को दिया जाता है। उसने इसके लिए कवायद के नियम बना दिये थे। किसी नायक या सरदार के हुक्म के अनुसार सभी सिपाही लाठियों से पीठ पर अथवा सिर पर वार करते थे। अथवा, दोनों जांघों के बीच में लाठी लगाकर फोते पर चोट करते या पेट में मारते थे। इस तरह अफसरों के हुक्म के मुताबिक ही चोट की जाती। सिक्खों की हिम्मत और बर्दाश्त की शक्ति भी अद्भुत थी!

हम लोग वहां गये और अपनी आंखों सारा कांड देखकर हमें विश्वास हो गया कि सच्चा सत्याग्रह भी किया जा सकता है। उसके लिए बहादुरी, हिम्मत और दुख सहने की शक्ति चाहिए। वह शक्ति यदि हट्टे-कट्टे जवांमर्द भी बिना हाथ उठाये दिखला सकें, तो कोई भी शक्ति उनको दबा नहीं सकती।

सरकार की ओर से कोशिश हुई कि कोई रास्ता निकाला जाये। एक रास्ता निकल भी गया। सर गंगाराम ने, जो एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, महंत से जमीन का बंदोबस्त लेकर अकालियों को दे दिया। सरकार को अब जबरदस्ती रोकने की जरूरत नहीं रह गयी। कुछ दिनों के बाद एक कानून भी बना, जिसके अनुसार अब गुरुद्वारों का प्रबंध होता है। पर सब जल्दी नहीं हुआ। इसमें समय लगा। बहुतों को कष्ट भी सहना पड़ा। सत्याग्रह की उपयोगिता और उसमें निहित संभावना (possibility) साबित हो गयी। इसका श्रेय सिक्खों को है। उन्होंने इसे अपनी सत्य निष्ठा और शक्ति से दिखला दिया।

दूसरी घटना भी पंजाब में ही हुई। हम लोग अमृतसर से ही मुलतान गये। वहां दूसरे प्रकार की घटना हुई थी। मुलतान में ताजिया का जलूस निकला। उसी के कारण बड़ा भारी हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया। मुसलमानों का कहना था कि हिन्दुओं में से किसी ने ताजिया पर ढेला फेंका। हिन्दुओं का कहना था कि उनकी ओर से कुछ नहीं किया गया—मुसलमानों की ओर से हिन्दुओं को लूटने की तैयारी पहले से थी, ताजिया तो सिर्फ बहाना था। जो भी कारण हो, मगर फसाद जो हुआ उसमें बहुत ही हृदय-विदारक घटनाएं हुईं। खबर पाकर हकीम अजमल खां—जो कांग्रेस के सभापति का काम कर रहे थे—पंडित

सभापति होकर गया पहुंचे और जलूस निकला, मैं न तो स्टेशन पर स्वागत के लिए जा सका और न जलूस ही देख सका; पर अपनी कमजोरी की हालत में ही विषय निर्धारिणी समिति में शरीक हुआ। कुछ प्रबंध के काम की देख-रेख भी करता रहा। प्रबंध के काम का भार विशेषकर श्री अनुग्रहनारायण सिंह पर पड़ा। भोजन विभाग की जिम्मेदारी मेरे भाई साहब ने ली। उन्होंने बड़ी खूबी से उसे निबाहा। पंडाल तैयार कराने और सजाने का काम गोरख बाबू, मथुरा बाबू तथा मुजफ्फरपुर के जमींदार श्री वैद्यनाथ प्रसाद सिंह ने किया। स्वयंसेवक दल के प्रधान श्री बदरीनाथ वर्मा रहे। प्रदर्शनी का भार श्री बनारसी प्रसाद झुनझुनवाला ने संभाला।

स्वागत समिति का प्रबंध अच्छा ही हुआ; पर मेरा विचार है कि यदि कुछ और अनुभव होता तो जितना खर्च पड़ा उतना न पड़ता। जिस समय अधिवेशन हो रहा था, मैं डर गया था कि अंत में कुछ घाटा रहेगा। इसलिए सभी विभागों में खर्च कम करने पर मैं बहुत जोर देता रहा। गया स्टेशन से सभा-स्थान प्रायः तीन मील या इससे भी अधिक की दूरी पर था। वहां से लोगों को लाने के लिए हमने बहुत-सी लारियां भाड़े पर मंगा ली थीं। विचार था कि सभी लोगों से लारी का भाड़ा लिया जायेगा। इसके लिए प्रत्येक लारी पर एक आदमी टिकट के साथ रखा गया था। पर यह प्रबंध नहीं चल सका। हम भाड़े में बहुत कम वसूल कर सके। पर सब लारियों का भाड़ा तो देना ही पड़ा। इसमें कई हजार रुपयों का नुकसान हुआ। इसी से विशेष डर हो गया था कि घाटा पड़ेगा; पर अंत में हिसाब होने पर कुछ बच ही गया—घाटा नहीं हुआ।

गया कांग्रेस (ख)

गया में कांग्रेस का अधिवेशन बड़े मार्के का हुआ। पहले से ही देश में कौंसिल-प्रवेश की चर्चा चल रही थी। सत्याग्रह कमिटी की रिपोर्ट ने एक होहल्ला मचा रखा था। उस पर विचार करने की बात कांग्रेस के लिए स्थगित कर दी गयी थी। पंडित मोतीलालजी, हकीम अजमल खां और देशबन्धु दास—इन तीन बड़े नेताओं की राय पक्की थी कि जब सत्याग्रह नहीं हो सकता है तो कौंसिलों में जाने की इजाजत मिलनी चाहिए। किंतु अधिकांश कांग्रेसियों का विचार मालूम होता था कि गांधीजी के दिये हुए कार्यक्रम में परिवर्तन नहीं करना चाहिए। इसलिए दोनों पक्षों के लोग अपने-अपने विचार वालों को ही प्रतिनिधि चुनकर गया में भेजने का यथासाध्य प्रयत्न करने लगे। इसी कारण श्री जयकर तथा श्री नटराजन जैसे प्रमुख व्यक्ति भी अपने सूबे से प्रतिनिधि नहीं चुने जा सके। यह कोई ऐसी बात नहीं थी कि जो चुनावों में नहीं हुआ करती है। हम जानते हैं कि इंग्लैंड में मिस्टर

वालफोर कई बरसों तक प्रधानमंत्री रहने के बाद भी चुनाव में साधारण मेम्बर नहीं चुने गये। उनकी पार्टी बुरी तरह हार खाकर अपने नेता को भी कुछ दिनों तक पार्लियामेंट में नहीं देख सकी। हमारे यहां यह चीज अभी नयी थी। इसलिए ऐसे व्यक्तियों के हारने से कुछ लोगों के दिल में चोट-सी लगी। उन लोगों में मैं भी एक था।

यद्यपि श्री जयकर का विचार कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में था और मेरा विरुद्ध, तथापि मैंने सोचा कि विचार-विरोधी होने पर भी ऐसे विशिष्ट व्यक्ति का कांग्रेस में न आना ठीक न होगा—कांग्रेस चाहे जो भी फैसला करे, ऐसे योग्य आदमी की राय, उसी के अपने शब्दों में, सुन लेना कांग्रेस के लिए मुनासिब होगा। उन दिनों, कांग्रेस के विधान के अनुसार, कोई आदमी—यदि वह कांग्रेस का सदस्य है तो—किसी भी सूबे के किसी भी क्षेत्र से, प्रतिनिधि चुना जा सकता था। इसलिए मैंने प्रयत्न करके श्री जयकर और श्री नटराजन को बिहार से प्रतिनिधि चुनवा दिया। इसकी सूचना दोनों को दे दी। इससे वे बहुत संतुष्ट हुए। कांग्रेस में वे आये भी।

इस छोटी-सी बात को यहां इतने विस्तार से मैंने इसलिए लिख दिया कि उन दिनों के वाद-विवाद के उत्साह में पड़कर कुछ लोगों ने यह कह दिया कि अपरिवर्तनवादियों ने अन्यायपूर्वक गांधीजी के नाम का सहारा लेकर प्रचार किया और कांग्रेस में वोट जुटाया। कुछ ने तो यहां तक कह दिया कि देशबन्धु दास के परिवर्तनवादी होने के कारण, सभापति होने पर भी, उनका वैसा सम्मान नहीं किया गया जैसा होना चाहिए था—उनके स्वागत और सेवा में भी त्रुटि की गयी; क्योंकि बिहार सूबा गांधी-भक्त, अपरिवर्तनवादी सूबा था। ये बातें मर्म को चोट पहुंचाने वाली थीं। जहां तक हो सका, हमने सेवा-सम्मान का प्रबंध किया था। उनके निवास-स्थान के प्रबंध के लिए श्री दीपनारायण सिंह को भार दिया गया था। इन्होंने अथक परिश्रम और उत्साह के साथ काम किया था। यह ठीक है कि अपनी अस्वस्थता के कारण मैं बहुत दौड़-धूप न कर सका; पर दूसरे सभी लोग दिन-रात काम करते रहे। सभापति की तथा उनकी पार्टी की पूरी खातिरदारी हुई। किसी तरह की त्रुटि नहीं होने पायी।

देशबन्धु दास का भाषण बहुत बड़ा और मार्के का था। पर उसमें कौंसिल-प्रवेश पर बहुत जोर दिया गया था। विषय निर्वाचिनी समिति में कौंसिल-प्रवेश पर बहस करने का प्रस्ताव पेश किया गया। सभापति ने कहा कि उनके विचार उनके भाषण में दिये गये हैं, इसलिए उनका भाषण हो जाने के बाद इस विषय पर विचार किया जाये, ताकि प्रतिनिधियों को उनके विचार जान लेने का मौका मिल जाये और तब वे अपनी राय कार्यकारिणी समिति में दें। इसलिए शुरू में सभापति ने इस बहस की इजाजत नहीं दी। पीछे तो कई दिनों तक बहस होती रही जिसमें दोनों पक्षों के लोगों ने खूब भाग लिया। रात या सवेरे के समय, जब विषय निर्वाचिनी की बैठक से फुर्सत रहती, प्रतिनिधियों की अलग-अलग सभाएं हुआ करतीं, जिनमें लोग अपने-अपने विचारों की पुष्टि करते। बहस बहुत गरमागरम होती।

विषय निर्वाचिनी समिति ने कौंसिल-प्रवेश की बात को बहुमत से नामंजूर कर दिया। इसलिए यह बात एक संशोधन के रूप में ही खुली कांग्रेस के सामने आयी। कांग्रेस में भी वैसी ही गरमागरम बहस कई दिनों तक चलती रही। कांग्रेस के लिए जो समय निर्धारित था उससे दो या तीन दिन अधिक समय लगा। मैंने भी खुली सभा में कौंसिल-प्रवेश का जोरों से विरोध किया। हमारे विचार के नेता थे श्री राजगोपालाचारी। वह भी उन दिनों दमा से रोग-ग्रस्त थे; पर विषय निर्वाचिनी समिति और कांग्रेस में उन्होंने अद्‌भुत परिश्रम और चमत्कार से अपने पक्ष का समर्थन किया। श्री श्रीनिवास एयंगर ने समझौते के लिए एक संशोधन पेश किया। वह नामंजूर हुआ। अंत में जब मूल प्रस्ताव पर सम्मति ली गयी, तो बहुत बड़े बहुमत से कौंसिल-प्रवेश संबंधी प्रस्ताव नामंजूर हो गया। शायद कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में एक-तिहाई और विपक्ष में दो-तिहाई प्रतिनिधियों के मत आये।

यह समझना भूल होगी कि सिविल डिसओबिडिएंस एनक्वायरी कमिटी ने अथवा गया कांग्रेस ने केवल एक ही विषय पर विचार किया या प्रस्ताव पास किया था। कमिटी की रिपोर्ट ने असहयोग के पूरे कार्यक्रम पर, जिसमें सत्याग्रह और करबंदी शामिल हैं, विचार किया था। सभी प्रस्तुत विषयों पर उसने राय दी थी। पर उन विषयों के संबंध में इतना मतभेद नहीं था, इसलिए वे तह में पड़ गये। गया कांग्रेस ने भी उन विषयों पर प्रस्ताव स्वीकृत किया। सरकारी स्कूलों और अदालतों के बहिष्कार को कायम रखा। स्वदेशी-प्रचार और खादी-प्रचार पर जोर दिया गया। एक प्रस्ताव इस आशय का भी उपस्थित किया गया था कि सभी प्रकार के अंगरेजी मालों का बहिष्कार किया जाये, और इस विचार से, बहिष्कृत किये जाने वाले मालों की सूची बनाने के लिए, तथा बहिष्कार के उपाय निर्धारित करने के लिए, एक कमिटी बनायी जाये। यह प्रस्ताव विषय निर्वाचिनी समिति में पास हो गया था; पर कांग्रेस ने इसे बहुमत से नामंजूर कर दिया; क्योंकि यह अव्यावहारिक बताया गया और इसमें हिंसात्मक वृत्ति के जाग्रत होने का भय था।

एक बड़े महत्व का दूसरा प्रस्ताव यह पास हुआ कि उस दिन के बाद ब्रिटिश गवर्नमेंट, स्वयं अथवा भारतीय व्यवस्थापिका सभा की मंजूरी से, जो कुछ कर्ज लेगी उसका देनदार स्वतंत्र भारत नहीं होगा; क्योंकि ब्रिटिश सरकार मनमाना खर्च करके भारत के नाम पर कर्ज लेती है और व्यवस्थापिका सभाएं भारत का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। इस प्रस्ताव में उस तिथि के पूर्व के कर्जों को स्वीकार कर लिया गया था। इस प्रस्ताव के संबंध में भी मतभेद था; पर यह भी बहुमत से पास हुआ था—यद्यपि यह विषय नया था और प्रस्ताव उपस्थित होने के पहले इस पर देश में कोई चर्चा नहीं हुई थी।

गया कांग्रेस ने सत्याग्रह जांच समिति की रिपोर्ट पर एक प्रस्ताव और भी मंजूर किया कि व्यक्ति को अपने बचाव के लिए वह सभी अधिकार प्राप्त हैं जो कानून से उसको मिले हैं—अर्थात कानूनन हिंसात्मक बचाव जहां तक जायज है, कांग्रेस भी उसे मंजूर करती है।

एक दूसरा प्रस्ताव इस आशय का भी स्वीकृत हुआ कि देश को सत्याग्रह के लिए तैयार किया जाये तथा इसके लिए पचीस लाख रुपये और पचास हजार स्वयंसेवक जुटाये जायें। इस तरह, गया कांग्रेस में कई प्रस्ताव पास हुए। जहां तक मैं जानता हूं, कांग्रेस का इतना लम्बा अधिवेशन दूसरा नहीं हुआ है। पर कौंसिल संबंधी मतभेद के कारण और सब बातें गौण पड़ गयीं।

कांग्रेस के अधिवेशन के साथ-साथ गया में खिलाफत कांफ्रेंस और जमी-अत-उल-उलेमा के अधिवेशन भी बड़े समारोह एवं उत्साह के साथ हुए। खिलाफत कमिटी ने भी कांग्रेस कमिटी के साथ ही एक सत्याग्रह जांच कमिटी बनायी थी। उसने भी देश में दौरा करके अपनी रिपोर्ट दी थी। यहां भी वही मतभेद था जो कांग्रेस में—विशेषकर कौंसिलों के संबंध में। इन दोनों संस्थाओं ने भी कौंसिल का बहिष्कार जारी रखा। पर उस समय तक खलीफा और तुर्कों की हालत में बहुत परिवर्तन हो चुका था। तुर्कों ने ग्रीस को हराकर बड़ी फतह हासिल कर ली थी। उन्होंने यह भी निश्चय कर लिया था कि उनके सुलतान, जो खलीफा भी थे, तख्त से उतार दिये जायें। इस संबंध में भारत के मुसलमानों में बड़ी सनसनी थी। पर जहां तक मैं समझ सकता हूं, उन्होंने तुर्कों की इस कार्रवाई का समर्थन ही किया; क्योंकि आशा यह की जाती थी कि ऐसे सुलतान का—जो दूसरों के हाथों में कठपुतली बनकर देश और इस्लाम को हानि पहुंचाता था—पदच्युत होना ठीक ही है, और उसकी जगह नये और जबरदस्त खलीफा चुने जायेंगे, जो इस्लाम के तीर्थों और पवित्र स्थानों की रक्षा करने की इच्छा तथा शक्ति दोनों रखते होंगे। तुर्कों ने अपनी शक्ति बता दी थी, इससे यह आशा होती थी कि नये खलीफा अपने कर्तव्यों का ठीक पालन करेंगे। पर पीछे कुछ दिनों के बाद तुर्कों ने खलीफा के पद को अपने यहां से उठा दिया और तुर्क प्रजातंत्र कायम कर दिया। तुर्क प्रजातंत्र में प्रधान चुना जाया करेगा और वही प्रथा अब तक जारी है।

मुसलमानों की दूसरी बात अरब की आजादी से संबंध रखती थी। अरब और तुर्क दोनों ही धर्म में मुसलमान हैं; पर दोनों एक जाति के नहीं हैं। तुर्कों ने अरब पर अपना राज्य-शासन कायम कर लिया था। चूंकि वे भी मुसलमान थे, इसलिए दूसरे मुसलमान उनके सुलतान को ही खलीफा मान लेते थे। जर्मन-युद्ध में जब जर्मनी से मिलकर तुर्की लड़ने लगा, तो अंगरेजों ने तुर्कों के खिलाफ अरबों को उभारा और अरब देश के लोगों को तुर्कों के शासन से मुक्त कर दिया। पर वे एकबारगी स्वतंत्र नहीं हुए। मुसलमान चाहते थे कि अरब स्वतंत्र होकर रहें, पर खलीफा का चुनाव सबकी राय से हो। ऐसा नहीं हो सका। पीछे तो तुर्कों ने खलीफा का पद ही उठा दिया। अरब की देख-रेख का भार (Mandate) इंग्लैंड और फ्रांस को मिल गया। इस तरह अरब लोग अभी तक पूरे स्वतंत्र नहीं हुए हैं—यद्यपि दिखलाने के लिए कुछ अधिकार उनके अमीर के हाथों में हैं।

इन्हीं कारणों से, कुछ दिनों के बाद, भारत में खिलाफत का आन्दोलन ठंडा पड़ गया। यद्यपि खिलाफत कमिटी बहुत दिनों तक कायम रही, पर वह नाममात्र के लिए ही रह गयी। गया में होने वाले अधिवेशन के समय तक ये सब प्रश्न अभी इस तरह साफ नहीं हुए थे, इसलिए वहां भी बहुत उत्साह से खिलाफत कांफ्रेंस हुई और उसने कांग्रेस का साथ दिया। यदि यह कहा जाये कि उसने कांग्रेस से अधिक जोश और जीवट दिखलाया, तो अत्युक्ति न होगी। इसका विशेष कारण था उस समय तुर्कों के प्रति ब्रिटिश सरकार का रुख और उसकी कार्रवाई।

48

स्वराज्य पार्टी का जन्म

पहले से ही दोनों दलों में (परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों में) काफी खींचतान हो गयी थी। कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त होते ही अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के सभापतित्व से देशबन्धु दास ने इस्तीफा दे दिया। जो लोग कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में थे, उन्होंने मिलकर स्वराज्य पार्टी की स्थापना की घोषणा कर दी। उसके प्रमुख नेताओं में देशबन्धु दास, पं. मोतीलाल नेहरू, हकीम साहब, श्री विट्ठलभाई पटेल, श्री केलकर प्रभृति थे। देशबन्धु दास उसके प्रमुख नायक और पंडित मोतीलाल नेहरू मंत्री बने। जो अपिवर्तनवादी थे उन्होंने बहुत आग्रह किया कि देशबन्धु दास सभापति बने रहें; पर उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि बहुमत उनके पक्ष में नहीं है, इसलिए वह सभापति नहीं रह सकते—स्वराज्य पार्टी द्वारा वह कांग्रेस का बहुमत अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न करेंगे, इसलिए उनका सभापति रहना मुनासिब नहीं होगा, उनके काम में भी बाधा होगी।

जो वर्किंग कमिटी बनायी गयी वह भी अधिकांश अपरिवर्तनवादियों की ही थी। मैं प्रधानमंत्री चुना गया। यह बोझ मेरे लिए बहुत भारी था, पर उसे वहन करना ही पड़ा; क्योंकि हम सभी ने मिलकर सभापति की सम्मति नहीं मानी थी, और अब हमारा धर्म था कि प्रजातंत्र की परिपाटी के अनुसार उसके चलाने का भार संभालें। जो हो, गया में देशबन्धु दास का इस्तीफा मंजूर नहीं हुआ। उस पर पुनः विचार करने के लिए उनसे आग्रह करने का एक प्रस्ताव पास हुआ; पर उन्होंने वहीं पर साफ कह दिया कि वह पुनर्विचार के लिए तैयार नहीं हैं।

नयी कौंसिलों के चुनाव 1923 के नवम्बर में होने वाले थे। इसलिए स्वराज्य पार्टी का निश्चय हुआ कि उसके पहले कांग्रेस में बहुमत प्राप्त कर लेना और तब कांग्रेस की ओर से चुनाव के लिए लड़ना चाहिए। हम जो अपरिवर्तनवादी थे, सोचते थे कि कांग्रेस ने इस बात का निपटारा कर दिया है, अब केवल रचनात्मक कार्यक्रम पर ही जोर देना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं दिखायी पड़ता था; क्योंकि कौंसिल-प्रवेश संबंधी वाद-विवाद तो चलता ही रहा।

अखिल भारतीय कमिटी की जो बैठक हुई उसमें तय हुआ कि रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर लगाया जाये, कांग्रेस के निश्चयानुसार सत्याग्रह के लिए पचीस लाख रुपये जमा किये जायें और पचास हजार स्वयंसेवक भरती किये जायें, ताकि सत्याग्रह आरम्भ किया जा सके। पर यह शांति से होने वाला कहां था। कांग्रेस के अधिवेशन के बाद ही कुछ प्रमुख कांग्रेसी नेता जेल से छूटे जिनमें मौलाना अबुलकलाम आजाद भी थे। बिहार के नेताओं में मौलवी मुहम्मद शफी और बाबू श्रीकृष्ण सिंह भी इसी समय जेल से निकले। मौलाना आजाद जेल से निकलते ही इस फिक्र में लग गये कि दोनों दलों में किसी तरह समझौता कराया जाये। गया कांग्रेस के बाद वह वर्किंग कमिटी के मेम्बर चुने गये थे। उन्होंने वर्किंग कमिटी की बैठक में समझौते की बात पेश की। वर्किंग कमिटी ने उसे मंजूर कर लिया। स्वराज्य पार्टी के सभी नेताओं से अभी उनकी पूरी बातें नहीं हो पायी थीं; पर जहां तक उनको मालूम हुआ था—पार्टी वालों को भी वे बातें मंजूर थीं। इसलिए निश्चय हुआ कि फरवरी के अंतिम सप्ताह में वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी की बैठक प्रयाग में करके इस पर विचार किया जाये। मौलाना साहब, चूंकि वह इस समझौते को पूरा कराना चाहते थे, वर्किंग कमिटी से अलग हो गये जिसमें वह निरपेक्ष भाव से इसके लिए काम कर सकें।

फरवरी के अंत में सभा हुई। देशबन्धु दास ने सभापति का आसन ग्रहण किया। उस सभा में समझौते का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। उसकी शर्तें ये थीं—(1) कौंसिल संबंधी प्रचार 30 अप्रैल तक बंद रहे; (2) दोनों पक्ष अपने-अपने कार्यक्रम के दूसरे मदों के संबंध में जो काम करना चाहें करें और एक-दूसरे के काम में बाधा न डालें; (3) अपरिवर्तनवादी गया कांग्रेस के निश्चय के अनुसार सत्याग्रह के लिए रुपये और स्वंयसेवक जुटावें; (4) परिवर्तनवादी, अपिवर्तनवादियों के साथ, रचनात्मक काम तथा दूसरे ऐसे काम के लिए जिसे दोनों मानते हैं, रुपये जमा करने और कार्यकर्ता जुटाने में सहयोग करेंगे; (5) 30 अप्रैल के बाद फिर दोनों पक्ष, जैसा मुनासिब समझें, अपने कार्यक्रम के अनुसार काम करें।

इसी निश्चय के अनुसार श्री राजगोपालाचारी के साथ मैंने भिन्न-भिन्न सूबों का दौरा किया। इसके पहले मैं अपने सूबे में ही घूमा था। दूसरे सूबों का बहुत ज्ञान नहीं था। इस दौरे से अनेक स्थानों में जाने का और वहां के कार्यकर्ताओं से विशेष परिचित होने का सुअवसर मिला। रुपये भी जमा किये गये। रचनात्मक कार्यक्रम पर विशेष जोर दिया गया। राजाजी ही भाषण किया करते थे। राजाजी जैसे चतुर, प्रतिभाशाली और कुशल वक्ता कम ही हैं। वह अपने भाषणों में शोरगुल नहीं मचाते, न हाथ-पैर पीटते हैं। आहिस्ता-आहिस्ता नरम शब्दों में अपनी युक्तियों को अनूठी तरह से श्रोताओं के सामने रखते हैं और उनको मोह लेते हैं। मैंने सोचा कि मैं इनके बाद क्या भाषण कर सकूंगा, चुप रहना ही अच्छा होगा। उनके भाषण के प्रभाव को मेरा भाषण कम कर देता। पर लोग चाहते कि मैं भी कुछ कहूं। इससे बचने की एक अच्छी युक्ति निकल आयी। राजाजी अंगरेजी में

ही भाषण करते; क्योंकि वह हिन्दी नहीं बोल सकते थे। मैंने उनके भाषणों का भाषांतर करने का काम उठा लिया। ऐसा यदि न करता तो हर सभा में भाषांतरकार खोजना पड़ता और वह भी न मालूम ठीक भाषांतर करता या नहीं। मैं उनकी विचारशैली से खूब परिचित हो गया था। उनके बोलने के तरीके को भी खूब समझ गया था। इसलिए मैंने देखा कि एक पंथ दो काज हो जाता है—उनके भाषण का भाषांतर हो जाता है और मैं भाषण करने से बच भी जाता हूं। वह एक वाक्य कहते और मैं उसका भाषांतर कर देता। इस प्रकार मेरे काम में भी सुविधा होती और लोग सब बातें ठीक-ठीक समझ लेते। प्रायः सभी सभाओं में जहां हिन्दी में भाषांतर की जरूरत पड़ती, मैंने यही किया। भाषांतर का काम कठिन होता है—विशेषकर तात्कालिक आशु भाषांतर का—जब कोई वक्ता धारा-प्रवाह बोलता जाता हो। पर मैं इसमें दक्ष हो गया। मैंने कलकत्ता हाइकोर्ट में देखा था कि एक भाषांतरकार, गवाहों के इजहार में, बैरिस्टरों के प्रश्नों और गवाहों के उत्तरों का ऐसा चमत्कारपूर्ण भाषांतर करता था कि केवल शब्दार्थ ही नहीं, बल्कि प्रश्नों के पूछने के लहजे को भी भाषांतर में ला देता था।

कई बरसों के बाद, जब मैं योरप गया और वहां युद्ध-विरोधी एक अंतरराष्ट्रीय कांफ्रेंस में शरीक हुआ, तो वहां भी एक चमत्कारी भाषांतरकार देखा। वह जर्मन था। अभी उसकी अवस्था 24-25 साल से अधिक नहीं थी। पर वह अंगरेजी, फ्रेंच, जर्मन और एस्पेरेंटो को खूब जानता था। जब कोई वक्ता इन चार में से किसी भी भाषा में भाषण करता तो वह शीघ्र-लिपि से सारे भाषण को लिखता जाता था। जैसे ही भाषण समाप्त होता, वह खड़ा हो जाता और शीघ्र-लिपि द्वारा लिखित अपनी प्रति को अपने हाथों में लेकर बाकी तीन भाषाओं में भाषांतर कर देता। मैं यह तो नहीं कह सकता कि भाषांतर कहां तक ठीक होता, क्योंकि अंगरेजी के सिवा मैं दूसरी तीन भाषाओं में से एक भी नहीं जानता था; पर जैसी शुद्ध अंगरेजी में वह भाषांतर करता उससे मैंने अनुमान कर लिया कि अन्य भाषाओं में भी वह शुद्ध ही बोलता होगा। और जब चारों भाषाओं में वह धारा-प्रवाह शुद्ध भाषण कर सकता था, तो कोई कारण नहीं कि उसका भाषांतर शुद्ध न होता हो। उससे परिचय हो जाने पर मैंने दरियाफ्त किया, तो मालूम हुआ कि वह संस्कृत भी जानता था और किसी संस्कृत ग्रंथ का जर्मन में अनुवाद करने में उस समय लगा था। मैं यहां भाषांतर के फेर में बहुत बहक गया!

उस दौरे से रचनात्मक कार्यक्रम की तरफ लोगों की कुछ अभिरुचि तो हुई; पर काम बहुत आगे न बढ़ा। दो-तीन महीनों में उसका परिणाम कुछ दिखाया भी नहीं जा सकता था। रुपये भी करीब तेरह लाख के जमा हुए, पर पूरे 25 लाख नहीं हुए। स्वराज्य पार्टी को मौका मिला। उसने हमारे हार मानने की बात पेश की—अपने कार्यक्रम को स्वीकृत कराने का प्रयत्न भी किया।

कमिटी चुनी गयी। उसमें ऐसे लोग थे जो न तो कट्टर अपरिवर्तनवादी थे और न कट्टर परिवर्तनवादी, अर्थात जो समझौता चाहते थे। डाक्टर अंसारी सभापति बने। पंडित जवाहरलालजी मंत्री चुने गये।

राजाजी इस प्रस्ताव से बहुत असंतुष्ट थे। उनका कहना था कि इस तरह कांग्रेस आत्महत्या कर लेगी। उसे या तो कौंसिलों में जाने की सीधे तौर पर अनुमति देनी चाहिए और चुनाव के लिए लड़ना चाहिए, नहीं तो चुनाव का बहिष्कार करना चाहिए और इस बहिष्कार के लिए जनता में पूरा प्रचार करना चाहिए। अखिल भारतीय कमिटी इन दोनों में से एक भी नहीं करती थी। वह स्वराज्य पार्टी को प्रचार का हक देती, चुने जाने का भी मौका देती, उन पर किसी प्रकार का कांग्रेस का नियंत्रण भी नहीं रखती, और दूसरी ओर चुनाव के विरुद्ध विरोधियों का मुंह खोलना भी रोक देती है। इसलिए यह प्रस्ताव मान्य नहीं है—विशेष करके जब गया कांग्रेस ने कौंसिल-विरोधी प्रचार का आदेश दिया है। इसमें शक नहीं कि अधिकांश समाचारपत्र कौंसिल के पक्ष में थे। कांग्रेस में भी बहुतेरे लोग इस बहस से ऊब गये थे। बहुतेरों को यह समझौता अच्छा लगा। यों वर्किंग कमिटी ने घोषणा निकाली कि गया कांग्रेस का प्रस्ताव, जिसके द्वारा कौंसिलों का बहिष्कार किया गया था, कायम है—केवल उसका प्रचार ही इस प्रस्ताव द्वारा रोका गया है। यह राय हमने बिहार प्रांतीय कमिटी की ओर से भी दी। पर दूसरे प्रांतों की कई कमिटियों ने इसके विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकार किया। उन्होंने इस प्रस्ताव को गया के निश्चय के विरुद्ध समझ कर नहीं माना।

बम्बई की उक्त बैठक के बाद देश में फिर इस पर जोरों से बहस चलने लगी। जिस वाद-विवाद को रोकने के लिए बम्बई का प्रस्ताव किया गया था वह उसी तीव्रता के साथ जारी रहा। देशबन्धु दास बम्बई से मद्रास प्रांत में दौरा करने के लिए गये। कई स्थानों पर उन्होंने बहुत ही कड़वे और उत्तेजक भाषण किये। इन्हीं भाषणों में से एक में उन्होंने, लार्ड रीडिंग के साथ समझौते की बात का इशारा करते हुए, कहा था कि उस समय के सत्याग्रह से गवर्नमेंट दब गयी थी, उसने झुक करके सुलह करना चाहा था, मेरे पास शर्तें भेजी थीं—मैंने 'हेडक्वार्टर्स' अर्थात गांधीजी को भेज दी थीं; पर उन्होंने सब बातें गड़बड़ा दीं ('bungled and mismanaged'), और अब हमें केवल चर्खा चलाने को कहते हैं। इस विषय को लेकर फिर पुरानी बातें उभरीं। श्रीयुत कृष्णदास ने उस समय के उन तारों को—जो गांधीजी, पंडित श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, पंडित मालवीयजी और देशबन्धु दास ने एक-दूसरे को भेजे थे—छाप दिया। पंडित श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, पंडित मालवीयजी और मौलाना आजाद ने—जिन्होंने उस बातचीत में भाग लिया था—अपने-अपने बयान अखबारों में दिये।

सारे देश में कटुतापूर्ण जोरदार वादविवाद नये सिरे से चल पड़ा। नतीजा यह हुआ कि वर्किंग कमिटी को कुछ लोगों ने फिर अखिल भारतीय कमिटी की बैठक करने के लिए मजबूर किया। यह बैठक नागपुर में जून के अंत में हुई। वहां पर यह निश्चय हुआ कि

कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन किया जाये, जहां इस कौंसिल के प्रश्न का निपटारा किया जा सके। वहां एक प्रस्ताव वर्किंग कमिटी की ओर से पेश किया गया, जिसका आशय यह था कि जिन कमिटियों ने बम्बई की अखिल भारतीय कमिटी के निश्चय के विरुद्ध आवाज उठायी है और कांग्रेस के अनुशासन को भंग किया है उन पर अनुशासन की कार्रवाई की जाये। इन कमिटियों में सबसे प्रमुख स्थान तामिलनाडु कमिटी का था और इस प्रस्ताव का लक्ष्य विशेष करके श्री राजगोपालाचारी थे। इस पर बहुत गरमागरम बहस हुई। कहा जाता था कि उन्होंने अखिल भारतीय कमिटी के प्रस्ताव के प्रतिकूल काम किया है। हम लोग अखिल भारतीय कमिटी के प्रस्ताव को स्वयं कांग्रेस के निश्चय के प्रतिकूल मानते थे। इसलिए हमारा कहना था कि उन्होंने कांग्रेस के आदेश का ही पालन किया है और अखिल भारतीय कमिटी ने निरंकुशता से काम लिया है। बहस रात तक चलती रही। मुझे राजाजी के बचाव में भाषण करना पड़ा। यद्यपि मैं 1911 से बराबर अखिल भारतीय कमिटी का सदस्य रहता आया था, तथापि मैं बहुत कम अवसरों पर वहां बोला करता था। सत्याग्रह कमिटी की रिपोर्ट पर बहस छिड़ने और गया कांग्रेस के समय को छोड़कर मुझे याद नहीं है कि उसके पहले और कहीं कांग्रेस में या अखिल भारतीय कमिटी में कभी भी मैं बोला हूं। गया में मेरे भाषण हिन्दी में ही हुए थे। नागपुर में अंगरेजी में बोलना उपयोगी मालूम पड़ा; क्योंकि वहां दक्षिण भारत और दूसरे अहिन्दी-भाषी प्रतिनिधियों को ही अधिक समझाने की जरूरत थी। राजाजी स्वयं बहुत बोलना नहीं चाहते थे। मैंने शायद वहां पहली बार अंगरेजी में भाषण किया। लोगों पर प्रभाव अच्छा पड़ा। श्री सत्यमूर्ति, जो स्वराज्य पार्टी के बड़े हिमायती और राजाजी के पक्ष के विरोधी थे, मेरे पास आये और मेरे भाषण के लिए उन्होंने बधाई देते हुए कहा कि मैं नहीं जानता था कि आप अंगरेजी में इतना अच्छा बोल सकते हैं। नतीजा यह हुआ कि प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। निंदात्मक प्रस्ताव गिर जाने पर वर्किंग कमिटी ने इस्तीफा दे दिया। नयी कमिटी बनी। हम लोग फिर वर्किंग कमिटी में आ गये। श्री वेंकटपय्या सभापति हुए। श्री गोपाल कृष्णैय्या मंत्री बने। वर्किंग कमिटी के जिम्मे विशेष अधिवेशन के स्थान चुनने का काम भी दिया गया। कुछ दिनों के बाद उन्होंने निश्चय किया कि वह दिल्ली में हो। अखिल भारतीय कमिटी ने मौलाना अबुलकलाम आजाद को विशेष अधिवेशन का सभापति चुन लिया।

50

नागपुर झंडा-सत्याग्रह और गांधी सेवा संघ का जन्म

दिल्ली के विशेष अधिवेशन के संबंध में कुछ कहने के पहले नागपुर झंडा-सत्याग्रह का जिक्र जरूरी है। राष्ट्रीय सप्ताह के उपलक्ष में 1923 की 13वीं अप्रैल को राष्ट्रीय झंडे के साथ वहां जलूस निकाला गया। उसे मध्यप्रांत की सरकार ने जबलपुर और नागपुर में सिविल लाइंस में जाने से रोक दिया। हुक्म न मानने पर पंडित सुन्दरलाल प्रभृति को जबलपुर में गिरफ्तार भी कर लिया। इससे जनता में बहुत रोष पैदा हुआ। सत्याग्रह करने का विचार होने लगा।

सभी बड़े-बड़े नेता सत्याग्रह के प्रतिकूल थे। उनका विचार था कि यह कौंसिल के कार्यक्रम को नीचा दिखलाने के लिए अपरिवर्तनवादियों का स्वांग है। जो हो, नागपुर में पहली मई से सत्याग्रह आरम्भ हो गया। सेठ जमनालालजी ने उसका नेतृत्व करना आरंभ कर दिया। सत्याग्रह का रूप यह हुआ कि कुछ सत्याग्रही राष्ट्रीय झंडे लेकर, जलूस बनाकर, सिविल लाइंस की ओर जाना चाहते। एक स्थान था, जहां सरकार की ओर से उन्हें रोक दिया जाता और उनके न मानने पर उनको गिरफ्तार कर लिया जाता। यही क्रम प्रतिदिन चलता। बहुतेरे लोग इस प्रकार गिरफ्तार होकर जेलखानों में चले गये। सत्याग्रह की शोहरत सारे देश में फैली। सभी जगहों से सत्याग्रह करने के लिए स्वयंसेवक नागपुर पहुंचने लगे। कुछ दिनों के बाद सेठ जमनालालजी भी गिरफ्तार कर लिये गये। तब सरदार वल्लभभाई नागपुर आ गये। उन्होंने नेतृत्व ग्रहण किया। मैंने बिहार में स्वयंसेवकों का संगठन आरम्भ करके उनको नागपुर भेजना शुरू कर दिया। मैं भी उनके साथ कई बार नागपुर गया। सत्याग्रह के कारण देश-भर में हलचल मच गयी। अब अनुमान होने लगा कि सरदार वल्लभभाई भी गिरफ्तार कर लिये जायेंगे। इसी कारण मेरा वहां जाना और भी आवश्यक हो गया।

इस प्रकार सारे देश से हजारों सत्याग्रही वहां गये और गिरफ्तार हुए। परिस्थिति गरुआती गयी। श्री विट्ठलभाई पटेल, जो स्वराजी थे, वहां आकर सरदार की मदद करने लगे। सरकार ने भी सोचा कि यह सत्याग्रह बढ़ने देना उचित नहीं है। इसलिए श्री विट्ठलभाई पटेल से कुछ बातें हुईं। एक दिन झंडे के साथ-साथ जलूस को सिविल लाइंस की ओर से जाने देकर

सत्याग्रह बंद कर दिया गया। मैं उस समय नागपुर में था। आखिरी दिन का जलूस बड़ी शान से निकला। बहुत लोग झंडे लेकर उसमें शरीक हुए। श्री विट्ठलभाई और सरदार के साथ मैं भी था। जलूस शांतिपूर्वक सिविल लाइंस होकर चला आया। सत्याग्रह समाप्त कर दिया गया। उसके बाद कैदी भी छोड़ दिये गये। इस सत्याग्रह का असर और जगहों में भी अच्छा पड़ा।

(बिहार से अनेक सत्याग्रही गये थे, जिनमें से एक हरदेव सिंह की मृत्यु नागपुर जेल में हो गयी। उस दिन मैं वहीं था। जेल से शव हम लोगों को मिल गया। उसका दाह-संस्कार हम सबने मिलकर वहां किया।) यों तो सरदार से मुलाकात थी ही। पर नागपुर में ही उनसे वह घनिष्ठता हुई, जो मेरे जीवन की सुखद स्मृतियों में एक हमेशा बनी रहेगी। वहीं मेरे दिल में उनकी कार्य-कुशलता, गम्भीरता और नेतृत्व-शक्ति के प्रति महान आदर उत्पन्न हुआ। उनके प्रति ऐसी श्रद्धा अंकुरित हुई, जो दिन-दिन बढ़ती गयी। वहीं मैंने उनका प्रेम और विश्वास प्राप्त किया, जो उन्होंने उसी तरह से बराबर मेरे प्रति और बिहार प्रांत के प्रति दर्शाया है।

इन्हीं दिनों सेठ जमनालालजी की राय हुई कि परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों की आपस की बहस यदि चलती रहेगी तो रचनात्मक काम ढीला ही रहेगा; इसलिए एक ऐसी संस्था स्थापित की जाये तो रचनात्मक काम पर ही अधिक ध्यान दे और उसमें ऐसे लोग ही विशेष करके रहें जो गांधीजी के सिद्धांतों को मानते हों। इस संस्था का नाम पड़ा 'गांधी सेवा संघ'। श्री राजगोपालाचारी, सरदार वल्लभभाई पटेल, श्री गंगाधरराव देशपांडे, सेठ जमनालाल बजाज प्रभृति उसके संचालक-मंडल के सदस्य हुए। मैं भी उसमें दाखिल हुआ। जब तक वह संस्था इस रूप में रही, मैं उसका सदस्य बना रहा। हम लोगों का बराबर यही प्रयत्न रहा कि उसे राजनीतिक झगड़ों से अलग रखें। ऐसा ही किया भी गया। उसके कार्यकर्ता विशेष करके रचनात्मक काम में—खादी-प्रचार, हरिजन सेवा आदि में—लगे रहते। पर तो भी गांधीवाद के विरोधी इस बात की शिकायत जब-तब पेश कर दिया करते कि यह एक राजनितिक दल है और स्वराज्य पार्टी तथा अग्रगामी दल (फारवर्ड ब्लाक) के साथ उसका नाम जोड़ लेते।

जो हो, गांधी सेवा संघ ने रचनात्मक काम में बहुत दिलचस्पी ली। विशेषकर उसी के सदस्य इसको आगे बढ़ाने के प्रयत्न में लगे रहे हैं। इसकी शाखाएं प्रायः कई सूबों में कायम हुईं। बिहार में भी हुई। कई सदस्यों को, जिनकी संख्या घटती-बढ़ती गयी और सदस्य भी अक्सर बदलते गये, कुछ निर्वाह-व्यय भी मिलता रहा। किंतु यहां पर उसका कोई एक केंद्र स्थापित करके काम नहीं हुआ। इसका कुछ प्रयत्न, कई बरसों के बाद, सारन जिले के 'मैरवा' गांव में आश्रम कायम करके किया गया। पर वह भी ठीक न चला। इसलिए इस (बिहार) सूबे में उसका कोई देखने लायक काम हम नहीं बतला सकते। पर उसके कुछ सदस्यों ने रचनात्मक काम किया और कुछ राजनीतिक क्षेत्र से अलग न हो सके।

51

दिल्ली में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन से कोकनाडा कांग्रेस तक

दिल्ली के विशेष अधिवेशन के पहले मौलाना मुहम्मद अली जेल से छूटकर आये। हमारा अनुमान था कि वह भी कौंसिल-प्रवेश के विरोधी ही होंगे। राजाजी इस बहस से इतने ऊब गये थे कि वह दिल्ली के अधिवेशन में आये ही नहीं। हमने मौलाना मुहम्मद अली को ही अपना नेता मान लिया। उनके ही हाथों में सब बातें छोड़ दीं। उन्होंने निश्चय किया कि दोनों पक्षों में समझौता हो जाये। वह निश्चय इस शर्त पर हुआ कि कांग्रेस की ओर से और कांग्रेस के नाम पर चुनाव न लड़ा जाये, पर यदि कोई कांग्रेस का आदमी चुनाव में खड़ा होना चाहे तो उस पर से रोक उठा ली जाये। इस तरह स्वराज्य पार्टी को, अपने बल पर कांग्रेसियों को खड़ा करके चुनाव लड़ने का सुअवसर मिल गया। चुनाव के झगड़े से कांग्रेस अलग रह गयी।

हम लोग इस झगड़े से घबरा गये थे। हम देखते थे कि इससे रचनात्मक काम में भी बाधा पड़ती है; क्योंकि कुछ लोग—जो कौंसिल के पक्ष में हैं—कौंसिल-पक्ष के समर्थन के साथ-साथ रचनात्मक काम का प्रत्यक्ष वा परोक्ष रीति से चाहे विरोध न करें, पर उपेक्षा अवश्य करते थे। हम आशा करते थे कि इस समझौते के बाद दोनों पक्ष अपने-अपने काम में लग जायेंगे और हम रचनात्मक काम को आगे बढ़ा सकेंगे। मौलाना मुहम्मद अली ने इस बात पर जोर दिया। पर उन्होंने उस सिलसिले में एक बात और कही थी, जिसका मर्म हम लोगों को पीछे मालूम हुआ। उन्होंने कहा था कि समझौते के पक्ष में उनको बे-तार के तार से भी खबर मिली है, जिसका अर्थ हम लोगों ने यह लगाया था कि उनको किसी-न-किसी तरह गांधीजी की राय भी मालूम हो गयी है। हम जानते थे कि गांधीजी जेल से कोई संदेश नहीं भेजेंगे; क्योंकि वह इसको सिद्धांततः गलत समझते थे। हम लोग यह भी जानते थे कि श्री शंकरलाल बैंकर, जो गया कांग्रेस के झगड़े के बाद जेल से छूटे थे और जहां वह गांधीजी के साथ ही थे, हमसे कह चुके थे कि गांधीजी के मत में कोई फर्क नहीं पड़ा है। पर तो भी हमने यह सोचा कि हो सकता है, जेल से कोई कैदी छूटकर आया हो, वहां बातचीत में गांधीजी की

राय उसको मालूम हो गयी हो और उसने मौलाना से वह बात कह दी हो। उन दिनों अक्सर कांग्रेसी लोग अपनी सजा की मीयाद पूरी करके छूटा करते थे; इसलिए यह असंभव भी नहीं था। पीछे मालूम हुआ कि गांधीजी से श्री देवदास गांधी मिले थे। देवदासजी से महात्माजी ने कहा था कि मौलाना मुहम्मद अली जो उचित समझें वही करें; किंतु हमारे प्रति उनका जो विश्वास और प्रेम है उससे प्रभावित न हों, बल्कि देश की जिसमें भलाई समझें वही करें। उसी बात को मौलाना ने अपने तरीके से 'बे-तार का तार' कहकर बताया था। इसका असर बहुतेरों पर काफी पड़ा था। ऐसे प्रभावित लोगों में सरदार वल्लभभाई, सेठ जमनालाल बजाज, डाक्टर अंसारी और मैं, जो कौंसिल-प्रवेश के विरोधी थे, मुख्य समझे जाते ते। हमने कोई चारा न देखकर समझौते को कबूल कर लिया।

हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बहुत फैल रहे थे। इससे अंदेशा था कि स्वराज्य के काम में भारी अड़चन पड़ जायेगी। सभी लोग चिंतित थे। इसलिए दिल्ली कांग्रेस ने इस विषय पर भी बहुत विचार किया। सभी जगहों में हुए झगड़ों के संबंध में जांच करने के लिए उसने एक कमिटी बना दी। दूसरी कमिटी भी नियुक्त कर दी—हिन्दू-मुस्लिम समझौते का मसौदा तैयार करने के लिए। यह भी निश्चय किया गया कि कांग्रेस की ओर से सभी धर्म वालों को सम्मिलित कर रक्षा-दल कायम किये जायें—सभी जगहों में आपस की ऐसी पंचायतें बनायी जायें जो झगड़े को रोकें और झगड़ा हो जाने पर उसके असर को यथासाध्य कम और सीमित करें।

एक दूसरा प्रश्न था जो उस समय सारे देश में बड़ी खलबली मचा रहा था। वह था हिन्दुस्तानियों का उपनिवेशों में—विशेषकर केनिया (अफ्रिका) में—स्थान। वहां हिन्दुस्तानियों ने ही जाकर उस देश को बसने लायक बनाया था। उन्होंने ही वहां वाणिज्य-व्यापार शुरू किया था। वहां रेलवे बनाने में भी उन्होंने ही परिश्रम किया था। अब वहां गोरे लोग हिन्दुस्तानियों को उन स्थानों में रहने देना नहीं चाहते थे जो स्वस्थ, अच्छे, उपजाऊ और ऊंचाई पर थे। ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भी गोरों की ही बात मान ली थी। केनिया के गोरों को दक्षिण अफ्रिका के गोरों की भी सहानुभूति और मदद मिली थी। इसी तरह, फीजी में भी हिन्दुस्तानियों के प्रति कई प्रकार के अत्याचार हो रहे थे। इसलिए कांग्रेस में इस आशय का प्रस्ताव आया कि हिन्दुस्तानियों के प्रति किये गये दुर्व्यवहार से स्पष्ट हो गया है कि ब्रिटिश साम्राज्य में हिन्दुस्तानियों के लिए स्थान नहीं है, अतः अब हिन्दुस्तानियों को उस साम्राज्य से बाहर जाने की बात पर विचार करना चाहिए। बात ठीक थी। उस समय से आज तक जितनी कार्रवाई हुई है उससे यह बात और भी स्पष्ट होती गयी है। पर उस समय कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को, विशेषकर मौलाना मुहम्मद अली के जोर लगाने से नामंजूर कर दिया। मेरी सहानुभूति प्रस्ताव के साथ थी, पर हम लोगों ने इतने बड़े परिवर्तन के लिए—जब हम

कमजोर पड़ गये थे और हमारा आन्दोलन भी कमजोर पड़ गया था—वह समय उपयुक्त नहीं समझा। एक दूसरा प्रस्ताव, जिसमें साम्राज्य से अलग होने की बात नहीं थी, स्वीकृत हुआ।

दिल्ली के अधिवेशन के बाद मैं वहां से ही लाला लाजपतराय को देखने के लिए सोलन चला गया। वह जेल से बीमार निकले थे और वहां स्वास्थ्य-लाभ के लिए ठहरे थे। उन्होंने भी समझौते को पसंद किया। वह उससे खुश थे; क्योंकि उनका विचार भी स्वराज्य पार्टी के साथ ही था। सोलन से लौटते समय मैं लखनऊ में उतरा। वहां मेडिकल कालेज के प्रिंसिपल स्प्रासन (Lt. Col. Sprawson) से, जो फेफड़े की बीमारियों के विशेषज्ञ समझे जाते थे, अपनी जांच करायी। उन्होंने भी मेरी बीमारी को दमा करार दिया। उसके लिए स्वामिन् का इंजेक्शन बताया। पटने लौटने पर उनके आदेशानुसार मैंने उसका इंजेक्शन लिया। कुछ विशेष फल नहीं हुआ।

दिल्ली के अधिवेशन के बाद स्वराज्य पार्टी ने चुनाव में भाग लिया। मध्यप्रांत में स्वराज्य पार्टी को अधिकांश स्थानों में सफलता मिली। वहां की कौंसिल में उसका बहुमत हो गया। बंगाल में भी अच्छी सफलता मिली, पर बहुमत नहीं हुआ। किसी और सूबे में बहुत सफलता नहीं हुई, पर सभी जगहों में कुछ अच्छे आदमी कौंसिलों में जा सके। बिहार में भी स्वराज्य पार्टी बनी, जिसके प्रमुख पक्षपातियों में मौलवी मुहम्मद शफी, प्रोफेसर अब्दुल बारी, श्री कृष्णवल्लभ सहाय और बाबू जलेश्वर प्रसाद थे। यहां चुनाव में हममें से किसी ने भाग नहीं लिया। परोक्ष रीति से भी हमने मदद नहीं की। तो भी दस या बारह आदमी चुने गये। उन्होंने कौंसिल में अच्छा ही काम किया। जलेश्वर बाबू ही पार्टी के नेता थे। युक्तप्रांत में पं. गोविन्दवल्लभ पंत पार्टी के नेता हुए। बंगाल में स्वयं देशबन्धु दास। बहुमत होने के कारण मध्यप्रांत में स्वराज्य पार्टी ने मंत्रिमंडल नहीं बनने दिया। कुछ दिनों तक यह सिलसिला चला। पर कुछ प्रमुख व्यक्ति फूटकर अलग हो मंत्रिमंडल में शरीक हो गये। बंगाल में देशबन्धु दास ने कुछ दूसरों के साथ मिलकर वहां के मंत्रिमंडल को भी कुछ काल के लिए तोड़ डालने में सफलता पायी।

1923 इसी प्रकार समाप्ति पर आया। दिसम्बर में कांग्रेस का सालाना अधिवेशन कोकनाडा में हुआ। ठीक अधिवेशन के समय मैं बीमार पड़ गया, इसलिए कोकनाडा न जा सका। वहां राष्ट्रभाषा प्रचार के लिए जो सभा होने वाली थी, उसका मैं ही सभापति चुना गया था। मैंने एक लम्बा भाषण भी तैयार किया था जो पुस्तकाकार में छपा था। जब मैं ठीक रवाना होने के दिन ही बीमार पड़ गया तो केवल छपा भाषण ही वहां जा सका! मेरी जगह सेठ जमनालाल बजाज सभापति हुए। मैंने सुना कि उन्होंने मेरे भाषण को पढ़ सुनाया था।

कोकनाडा कांग्रेस के सभापति मौलाना मुहम्मद अली हुए। उनका भाषण बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण है। हिन्दुस्तान की राजनीति में, मुसलमानों के भाग और स्थान की, उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना की है। आगे के लिए भी उन्होंने बहुतेरी ऐसी बातें कही हैं जिनको शायद सभी लोग नहीं मानते। जो हो, कोकनाडा ने दिल्ली के विशेष अधिवेशन के निश्चय का ही समर्थन किया। जो इजाजत स्वराज्य पार्टी को कौंसिल-प्रवेश के लिए मिली थी उसे फिर मंजूर कर लिया। इसके अलावा, कांग्रेस ने हिन्दू-मुस्लिम समझौते के मसविदे को, जनता और कमिटियों के विचार के साथ अखिल भारतीय कमिटी के सामने पेश करने का आदेश दिया। खादी-प्रचार के लिए खद्दर बोर्ड का भी संगठन किया। उत्साह बहुत था। ऐसा मालूम होता था कि जनता में फिर जान आ गयी। ठीक कांग्रेस के समय ही श्री कृष्णप्रकाश सेन सिंह की दुखद मृत्यु हो गयी। हम में से एक होनहार त्यागी कार्यकर्ता चला गया!

52

हाइकोर्ट में बरमा का मुकदमा

मैं पटने में ठहर गया था। 1924 ई. की दूसरी जनवरी से बाबू हरिजी वाला मुकदमा, अपील में, हाइकोर्ट में खुलने वाला था। मैं अस्वस्थ रहकर भी उसके लिए तैयारी करता रहा। उसमें मुझे काम करना था। जनवरी के आरम्भ से मई के अंत तक उसकी पेशी रही। मेरा प्राय: सारा समय उसी में लगता रहा। हाइकोर्ट में हम लोगों की ओर से श्री हसन इमाम और मिस्टर मानुक ने बहस की। डुमरांव के महाराजा की ओर से सर आशुतोष मुकर्जी ने बहस की। वह हाइकोर्ट की जजी से पेंशन पाकर हाल ही निकले थे। मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। सवेरे ही स्नानादि से निवृत्त होकर श्री हसन इमाम साहब के पास सात बजे पहुंच जाता था। जब तक वह कचहरी जाने को तैयार होने के लिए उठ न जाते तब तक उनके साथ काम करता। फिर कचहरी में दिन-भर काम करता। संध्या को फिर उनके साथ! शनिवार, रविवार को खास करके, और कभी-कभी दूसरे दिन भी, अकेले लाइब्रेरी में काम करता। कानूनी नजीर खोजकर निकालने का काम मुझे ही सौंपा गया था। यही काम मैंने आरा में भी किया था और यहां भी किया। एक विषय पर आरा में कोई नजीर नहीं मिली थी। वह बहुत जरूरी विषय था। सोचने से मालूम होता था कि इस प्रकार के मुकदमे जरूर आये होंगे और हमारे पक्ष की नजीर जरूर मिलनी चाहिए। पर आरा में पटने के समान पुस्तकों की विशेष सुविधा नहीं थी। इसलिए वहां यह नजीर नहीं मिली। पटने में श्री हसन इमाम की लाइब्रेरी बहुत अच्छी थी। मैंने उस प्रकार की नजीर खोजने में बहुत समय लगाया। अंत में मैं सफल हुआ। एक नजीर मिल जाने पर उसके पहले और पीछे की अनेक नजीरें मिल गयीं। मैंने जब श्री हसन इमाम को दिखलाया तो वह इतने खुश हुए कि मेरे साथ वह श्री मानुक के घर गये और उनको भी तुरंत वह नजीर दिखलायी। दोनों को पूरा विश्वास हो गया कि उस विषय पर वे जरूर जीतेंगे। ऐसा ही हुआ भी।

इस मुकदमे की सुनवाई के बीच में ही सर आशुतोष की असामयिक मृत्यु पटने में ही हो गयी। वह अपनी बहस खतम कर चुके थे। जजों के लिए जब वह कुछ नोट तैयार कर रहे थे, एक ही दिन की बीमारी में अचानक चल बसे। मृत्यु के समय मैं उनके पास ही था। पटने में कई महीनों तक प्रतिदिन उनसे भेंट होना भी मेरे लिए बड़ी बात थी। कलकत्ते में तो वह

जज थे और मैं एक नया वकील। पटने में दोनों एक ही मुकदमे में काम करते थे—यद्यपि दो भिन्न पक्षों में, तो भी सवेरे, दोपहर और इजलास उठने के बाद प्राय: रोज ही दो-चार बातें आपस में हो ही जाया करती थीं। एक छोटी-सी घटना बता देना बुरा न होगा। श्री हसन इमाम उनको गुरुजी कहा करते थे। जब श्री हसन इमाम कलकत्ता हाइकोर्ट के जज हुए थे तब सर आशुतोष उनसे सीनियर थे। शायद वहीं रिश्ता कायम हुआ था। अपनी बहाली के थोड़े ही दिन बाद श्री हसन इमाम फौजदारी बेंच पर बैठे, जहां के सीनियर जज से, एक के बाद दूसरे, तीन मुकदमों में उनका मतभेद हो गया। तीनों मुकदमे सर आशुतोष के पास, तीसरे जज की हैसियत से, भेजे गये। तीनों में उन्होंने श्री हसन इमाम के फैसले का ही समर्थन किया था। इससे कलकत्ता हाईकोर्ट में जल्द ही श्री हसन इमाम का बड़ा नाम हो गया था। श्री हसन इमाम ने पटने में उनको एक दिन चाय पीने के लिए निमंत्रित किया। हाइकोर्ट में ही उन्होंने कहा—गुरुजी, मेरे यहां आप चाय पीयेंगे ? सर आशुतोष ने कहा—मैं कट्टर सनातनी (orthodox) जरूर हूं और आज तक इसी कारण कभी गवर्नमेंट हाउस में चाय नहीं पी है; पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हसन इमाम के घर में भी चाय न पीऊं। चाय-पार्टी में हम सब बुलाये गये और शरीक हुए।

53

बेतिया का मीना बाजार

महात्मा गांधी यरवदा जेल में थे। वहां वह बहुत बीमार पड़ गये। 'एपिंडिसाइटिस' का प्रकोप ऐसा हो गया कि एक दिन डाक्टरों का विचार हुआ—यदि तुरंत चीरा नहीं लगाया जायेगा तो इनकी जान नहीं बचेगी। यह निश्चय रात के समय हुआ। पूना के अस्पताल में वह ले जाये गये। वहां के अंगरेज डाक्टर कर्नल मैडौक को चीरा लगाना पड़ा। महात्माजी से पूछा गया था कि आपके डाक्टर कौन हैं? उन्होंने बम्बई के डाक्टर दलाल और डाक्टर जीवराज मेहता के नाम बताये थे। पर अब इतना समय नहीं था कि वे बुलाये जा सकते। गांधीजी ने भी साफ-साफ कह दिया कि उनको उस अंगरेज डाक्टर पर पूरा विश्वास और भरोसा है—वह निश्चिंत होकर जो मुनासिब समझें, करें। उस समय श्री श्रीनिवास शास्त्री अस्पताल में बुला लिये गये थे। वह तब तक वहां ठहरे रहे, जब तक नश्तर का काम समाप्त न हुआ। आधी रात के समय नश्तर लगाया गया। इसमें वह अंगरेज डाक्टर बहुत कामयाब रहा। एक छोटी दुर्घटना ठीक नश्तर लगाते समय हो गयी। ठीक उसी समय, जब छुरी चल रही थी, बिजली की बत्ती अचानक बुझ गयी। खैरियत हुई कि वह शीघ्र ही फिर बल गयी, नश्तर के काम में कोई बड़ी बाधा न पहुंची।

मैं उन दिनों बरमा के मुकदमे में पटना हाइकोर्ट में काम कर रहा था। अखबारों में बीमारी और नश्तर लगाये जाने की खबर छपी। पढ़कर सारे देश में चिंता व्याप गयी। मैंने तीन-चार दिन की छुट्टी ली। सीधे पूना चला गया। अभी महात्माजी अस्पताल में ही थे और बहुत कमजोर थे। मैंने जाकर उसी हालत में उनका दर्शन किया। हालचाल जानकर पटना वापस चला आया। उस समय यह मालूम हो गया था कि अब जान का कोई खतरा नहीं है; पर कमजोरी इतनी ज्यादा थी कि कुछ दिनों तक अच्छी तरह आराम करना जरूरी था। मेरे पटने लौटने के बाद शीघ्र ही खबर मिली कि गवर्नमेंट ने महात्माजी को छोड़ दिया। खबर पहुंचते ही पटने में एक सभा हुई जिसमें मैंने भी भाषण किया। गांधीजी से जो मेरी बातें पूना अस्पताल में हुई थीं उन्हें सभा को बताया। सारांश यह था कि महात्माजी बीमारी के कारण रिहाई से प्रसन्न न होंगे। यह तो देश के लिए भी शर्म की बात है कि हम अपनी शक्ति से नहीं, पर गवर्नमेंट की दया से उनको छुड़ा सके। रिहाई के बाद अपने वक्तव्य में गांधीजी ने यही कहा भी था।

कुछ दिनों तक अस्पताल में रहकर, अच्छे होने पर, महात्माजी बाहर निकले। निश्चय हुआ कि आराम करने के लिए वह समुद्र के किनारे बम्बई के पास जूहू में जाकर कुछ दिनों तक ठहरें। इसी निश्चय के अनुसार वह वहां जाकर कुछ दिनों तक ठहरे रहे।

इसी समय एक घटना बेतिया (चम्पारन) में हुई, जिसका जिक्र यहां आवश्यक जान पड़ता है। बेतिया राज बहुत दिनों से कोर्ट आफ वार्ड्स के अधीन है। उन दिनों उसके मैनेजर मिस्टर रुथरफोर्ड थे। यह पहले नीलवर थे। गवर्नमेंट की नीति उन दिनों में अक्सर यही होती कि जहां-कहीं कोई जमींदारी कोर्ट के कब्जे में आती और मैनेजर की जरूरत होती, उसके लिए कोई-न-कोई नीलवर ही मुकर्रर किया जाता। इसी नीति के अनुसार मिस्टर रुथरफोर्ड की नियुक्ति कई साल पहले हुई थी। उनके पहले भी उस राज के लिए जो मैनेजर नियुक्त किये गये थे, नीलवरों में से ही थे। अस्तु, 1922 में, बेतिया म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों का चुनाव हुआ। उसमें कुछ कांग्रेसी लोग भी चुने गये। चेयरमैन और वाइस-चेयरमैन के चुनाव के लिए उमीदवार खड़े हुए। उनमें चेयरमैनी के लिए स्वयं मिस्टर रुथरफोर्ड खड़े हुए। उनके साथ वाइस-चेयरमैनी के लिए वहां के सब-रजिस्ट्रार खड़े किये गये। कांग्रेस की ओर से श्री विपिनविहारी वर्मा और श्री प्रजापति मिश्र खड़े हुए। राज के लिए, विशेषकर मिस्टर रुथरफोर्ड के लिए, किसी का उनके मुकाबले में खड़ा होना ही बहुत बुरी बात थी। उनको हराकर कांग्रेसी चेयरमैन और वाइस-चेयरमैन का चुना जाना तो असह्य था। फिर 1924 में नया चुनाव हुआ। इस बार कांग्रेसी मेम्बरों का बड़ा बहुमत हो गया। इसलिए राज की ओर से कोई चेयरमैनी के लिए नहीं खड़ा किया गया। वही श्री विपिनविहारी वर्मा और पं. प्रजापति मिश्र चुने गये। यद्यपि राज के उमीदवार नहीं खड़े हुए तथापि राज के लोग मिस्टर रुथरफोर्ड की हार को भूले नहीं थे। इस बात की अफवाह अक्सर उठा करती थी कि राज की ओर से कुछ-न-कुछ करके दिखाया जायेगा।

महात्माज़ी की बीमारी के कारण देश-भर में खलबली थी। मौलाना मुहम्मद अली ने कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से आदेश दिया कि देश में सब जगह सभाएं करके महात्माजी के आरोग्य-लाभ के लिए ईश्वर-प्रार्थना की जाये। बेतिया में भी सभा होने वाली थी। वहां राज की ओर से एक मीना बाजार बसाया गया है जिसमें शहर के व्यापारी अपनी-अपनी दूकानें भाड़े पर रखते हैं। उस दिन पं. प्रजापति मिश्र और एक दूसरे कांग्रेसी बाबू जयनारायण बाजार वालों को प्रार्थना-सभा में जाने के लिए कहने गये। राज़ के एक कर्मचारी ने बाबू जयनारायण को दो चपत लगाकर दोनों को बाजार से बाहर निकाल दिया। दूकानदारों में बड़ी सनसनी फैली। यदि मिश्रजी लोगों को न रोकते तो झगड़ा बढ़ जाता। इसके बाद सभा हुई और बाजार के लोग काफी संख्या में उसमें शरीक हुए। इतना ही नहीं, दूकानदारों ने निश्चय किया कि वे मीना बाजार से अपनी दूकानें उठा लेंगे और म्युनिसिपैलिटी से जमीन मांगकर अन्यत्र कहीं दूकाने लगायेंगे। दूसरे दिन से बाजार खाली

होने लगा। एक तरफ कुछ हटकर दूकानें लग गयीं। दो-चार दिनों में ही एक नया बाजार बस गया। मीना बाजार प्रायः खाली हो गया। इससे राज को और भी धक्का लगा। अब खबर उड़ने लगी कि कांग्रेस वाले पीटे जायेंगे; पर कांग्रेसियों ने इस तरह की खबरों की परवाह नहीं की।

एक दिन संध्या को पं. प्रजापति मिश्र एक टमटम पर कहीं जा रहे थे। किसी ने उनके सिर पर बड़े जोर से लाठी मारी। वह प्रायः बेहोश हो गये। वह आदमी मैनेजर की कोठी की ओर भाग गया। सुना गया कि उसको लेकर राज-कर्मचारी मजिस्ट्रेट के पास भी गये और कुछ कार्रवाई करके उसे वहां से हटा दिया। इससे सारे शहर के लोगों में रोष छा गया। मेरे पास तार आया। मैं तुरंत वहां गया। सब बातों की जानकारी प्राप्त की। मीना बाजार में, इस मार के पहले, कुछ बड़ी-बड़ी दूकानें रह गयी थीं। अब वे दूकानदार भी निकल आये। एक सुंदर बाजार बस गया। म्युनिसिपैलिटी की आमदनी बढ़ने की तो आशा हो गयी, पर राज को प्रायः पचास हजार सालाना घाटे की आशंका हुई। पं. प्रजापति मिश्र ने बहुत ही हिम्मत और शांति से काम लिया। उन्होंने खाट पर पड़े-पड़े ही लोगों को शांत रहने का संदेश भेजा। उस हमला करने वाले पर किसी प्रकार की कार्ववाई न करने का भी निश्चय किया। मालूम हो गया कि यह सब राज के उच्च कर्मचारियों के इशारे पर ही हुआ है। कांग्रेस के प्रति जनता की श्रद्धा का परिचय मिला। जो छोटे-बड़े दूकानदार मीना बाजार के पक्के मकानों में दूकान रखते थे, वे सब-के-सब खुले मैदान में अथवा टाट के छप्पर के नीचे दूकानें उठा लाये। नये बाजार में मिट्टी के बर्तनों की दूकानों से लेकर सोने-चांदी की दूकानें तक उसी तरह आ गयीं। इसका डर था कि इस तरह के बाजार में चोरी-डकैती न हो जाये। पुलिस से मदद की आशा थी नहीं। इसलिए बाजार की हिफाजत के लिए शहर में स्वयंसेवक दल कायम हो गया। वह दिन-रात पहरा देता। लोगों में बड़ा उत्साह था। यह झगड़ा बहुत दिनों तक चलता रहा। बहुत दिनों के बाद, यद्यपि मीना बाजार में दूकानें खुल गयीं, तथापि नया बाजार भी रह ही गया।

इस घटना की खबर पाकर मैं बेतिया गया था। वहां से जांच करके लौटने के बाद एक बयान मैंने अखबारों में छपवाया था। उसमें सब बातें खोल करके कह दी थीं। कुछ दिनों के बाद बेतिया में बिहार प्रांतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक हुई। प्रांतीय कमिटी के सभापति मौलाना मजहरुल हक साहब और दूसरे नेता लोग भी पधारे थे। वहां पर निश्चय किया गया कि बेतिया की हालत यदि न सुधरी—और जैसी अफवाह फैल रही थी कि दूसरे कांग्रेसी लोग भी, जिनमें विपिन बाबू मुख्य थे, पं. प्रजापति मिश्र की तरह लाठियों के शिकार बनाये गये—तो प्रांतीय कमिटी को मजबूर होकर बेतिया के रैयतों से लगान देना बंद करने को कहना पड़ेगा और इसके लिए जो बलिदान करना पड़ेगा उसके लिए जनता को तैयार होना होगा। एक सार्वजनिक सभा हुई जिसमें यह निश्चय घोषित कर दिया गया। बिहार कौंसिल

में भी यह प्रश्न छिड़ा। उस समय स्वराजी लोगों ने बहुत जोरदार बहस की। जलेश्वर बाबू उनके नेता थे। उन्होंने खुद इस मामले की जांच की थी। स्वयं हमला करने वाले ने ही उन्हें सारी सच्ची बातें बतला दी थीं। उसी के आधार पर उन्होंने सारी बातें खोलकर कौंसिल में कह सुनायीं।

54

जूहू की बातचीत और उसके बाद

महात्माजी आराम तो कर रहे थे, पर काम भी कर रहे थे। ज्यों ही वह इस योग्य हुए कि कुछ बातचीत कर सकें, लोग उनसे मिलने के लिए वहां पहुंचने लगे। उनकी गैरहाजिरी में जो कुछ हुआ था, विशेषकर कौंसिल-प्रवेश संबंधी आन्दोलन, उसकी सब बातें लोगों ने उन्हें बतायीं। देशबन्धु दास और पंडित मोतीलाल नेहरू भी वहां गये और कुछ दिनों तक ठहरे। वहां इस संबंध की बातें हुईं और इसका प्रयत्न किया गया कि आपस में समझौते का कोई रास्ता निकले। कौंसिलों में स्वराज्य पार्टी की ओर से कुछ कांग्रेसी लोग जा चुके थे। इसलिए इस प्रश्न का उतना महत्व अब नहीं था जितना गया और दिल्ली की कांग्रेस के समय में था। पर यह जानकर मुझ जैसे लोगों को संतोष हुआ कि गांधीजी ने हमारी कौंसिल-निषेध संबंधी कार्रवाई को पसंद किया। संतोष का कारण यह था कि हमसे बराबर कहा जाता था कि गांधीजी यदि बाहर होते तो वह इस विषय में इतनी जिद्द न करते, कोई-न-कोई समझौता कर लेते। पर वह उसके विरोधी अब भी उतनी ही सख्ती के साथ थे जितनी दृढ़ता से उस समय थे जब उन्होंने इस कार्यक्रम को देश के सामने रखा था।

जूहू में बातचीत के बाद गांधीजी ने एक वक्तव्य निकाला जिसमें उन्होंने साफ कहा कि वह अब भी पंच बहिष्कारों के पक्ष में हैं और उनकी राय में कौंसिलों में जाना असहयोग की नीति के विरुद्ध है; पर वह इस राय में देशबन्धु दास, पं. मोतीलाल नेहरू तथा स्वराज्य दल के दूसरे लोगों को न ला सके—वे लोग कौंसिलों में चले भी गये हैं; इसलिए अब इस संबंध में वाद-विवाद से कोई लाभ नहीं है; जो अपरिवर्तनवादी हैं वे इस बहस को छोड़कर रचनात्मक काम में लग जायें। उन्होंने यह भी कहा कि कांग्रेस के संगठन के संबंध में उनके बहुत सख्त विचार हैं जिनको वह पीछे लिखेंगे। उस समय देश में हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बहुत हो रहे थे और वैमनस्य बहुत फैल रहा था। इसका भी बहुत विशद विश्लेषण उन्होंने एक लम्बे लेख में किया। इसी लेख में उन्होंने आर्यसमाज की टीका की थी जिससे बहुत लोग क्षुब्ध हुए थे। इसी में उन्होंने यह भी कहा था कि मुसलमान कलहप्रिय (bully) होते हैं और हिन्दू डरपोक (coward)। कांग्रेस के संगठन के संबंध में उन्होंने यह मत जाहिर किया कि

कांग्रेस के सभी चुने हुए स्थानों में ऐसे लोगों को चुना जाना चाहिए जो पांचों बहिष्कारों को सिद्धांततः मानते हैं और स्वयं अपने जीवन में उन पर अमल करते हैं—अर्थात कचहरियों का बहिष्कार करके न तो उनको मुकदमे लड़ने चाहिए और न वकालत करनी चाहिए, अपने नाबालिग बच्चों को सरकार से सम्बद्ध स्कूलों में नहीं भेजना चाहिए, सरकारी खिताब नहीं रखना चाहिए, कौंसिलों में नहीं जाना चाहिए, विदेशी वस्त्र-बहिष्कार के लिए खादी ही पहनना और चर्खा चलाना चाहिए।

उन्हीं दिनों, कलकत्ते में, 'डे' नामक एक अंगरेज को, एक युवक श्री गोपीनाथ साहा ने, आम रास्ते पर, दिन-दहाड़े पिस्तौल से मार डाला था। वह पकड़े भी गये थे और उनको फांसी की सजा हुई थी। बंगाल प्रांतीय राजनीतिक कांफ्रेंस में, जो उस साल सिराजगंज में हुई थी, इस संबंध का एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था जिसमें उनकी देशभक्ति की सराहना की गयी थी—यद्यपि उनके इस काम को बुरा कहा गया था। महात्माजी को यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगा था; क्योंकि उनका विचार था कि इस प्रकार की हत्या कांग्रेस के सिद्धांत के बिलकुल विरुद्ध है, इससे देश की बड़ी हानि होती है और स्वराज्य के रास्ते में रोड़े पड़ते हैं। उन्होंने इस प्रस्ताव पर कड़ी टिप्पणी की। कांग्रेस के संगठन को दुरुस्त करने के लिए उन्होंने कई प्रस्तावों को अखिल भारतीय कमिटी के सामने रखने की इच्छा प्रकट की और 'डे' की हत्या के संबंध में भी एक प्रस्ताव पेश करने की बात लिखी। प्रस्तावों के मसविदे भी उन्होंने छाप दिये। उनका आशय यह था कि कांग्रेस के चुने हुए सदस्यों को सब बहिष्कारों को मानना चाहिए और ऐसे ही लोगों को कांग्रेस का पदाधिकारी होना चाहिए। इसका नतीजा यह होता था कि जो लोग कौंसिलों में गये हैं, उनको नहीं चुनना चाहिए अथवा जो चुने गये हैं उनको हट जाना चाहिए। इसी तरह, ऐसे चुने हुए सब लोगों के लिए कम-से-कम आधा घंटा प्रतिदिन चर्खा चलाना और प्रतिमास दो हजार गज सूत खद्दर बोर्ड को देना अनिवार्य कर देना चाहिए। जो सूत न दें, उनकी जगहें खाली समझी जानी चाहिए और उनके रिक्त स्थान पर दूसरों को चुनना चाहिए। इसका नतीजा यह हुआ कि आपस में झगड़े मिटा देने की जो आशा पहले के वक्तव्य से हुई थी वह बिलकुल जाती रही। सारे देश में इन प्रस्तावों और विचारों के संबंध में बहुत जोरों से वाद-विवाद होने लगा। समाचारपत्रों ने पक्ष और विपक्ष में लेख लिखना शुरू किया। आर्यसमाज की शाखाओं की ओर से उस लेख की निंदा की जाने लगी जिसमें कुछ टीका की गयी थी। गांधीजी ने अपने विचारों को, जैसा वह हमेशा करते आये हैं, बहुत संयत भाषा में— पर दृढ़तापूर्वक—देश के सामने रक्खा।

जून के अंतिम सप्ताह में, अहमदाबाद में, अखिल भारतीय कमिटी की बैठक हुई। वहां उन प्रस्तावों का, जिनमें बहिष्कारों को न करने और चर्खा न चलाने के कारण पदाधिकारी बनने से लोगों को रोकने की बात थी, इस बुनियाद पर विरोध होने लगा कि वे प्रस्ताव कांग्रेस के नियम के विरुद्ध हैं; क्योंकि कांग्रेस की नियमावली कांग्रेस द्वारा बनायी

गयी है और उसमें हेर-फेर करने का अधिकार कांग्रेस को ही है, अखिल भारतीय कमिटी को नहीं और इन प्रस्तावों का नतीजा उन नियमों में परिवर्तन करना होता है। महात्माजी का कहना था कि कांग्रेस का एक नियम है कि जब कांग्रेस का अधिवेशन न हो रहा हो तो उसके सारे अधिकार अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी को प्राप्त होते हैं और यदि इन प्रस्तावों द्वारा नियमावली का संशोधन होता हो तो भी वह अनियमित न होगा—विशेषकर उस समय जब इन प्रस्तावों का असर कांग्रेस के बहिष्कार संबंधी निश्चयों को कार्यान्वित करना ही होता है। मौलाना मुहम्मद अली सभापतित्व कर रहे थे। उन्होंने, यह पूछे जाने पर कि ये प्रस्ताव नियम के प्रतिकूल हैं या नहीं, अपनी राय न देकर सदस्यों की राय ली, तो मालूम हुआ कि बहुमत इनको विधान के अनुकूल मानता था—यद्यपि बहुमत और अल्पमत में थोड़े ही मतों का अंतर था। इस पर देशबन्धु दास, पंडित मोतीलाल प्रभृति अपनी नाराजी जाहिर करने के लिए सभा छोड़कर चले गये। महात्माजी ने उनके चले जाने पर भी एक प्रस्ताव उपस्थित किया, जो थोड़े बहुमत से स्वीकृत हुआ। इस पर महात्माजी ने तुरंत एक दूसरा प्रस्ताव भी उपस्थित कर दिया कि इस स्वीकृत प्रस्ताव का वह अंश हटा दिया जाये, जिसमें बहिष्कार न मानने का दंड पदों से वंचित रहना बताया गया था। उन्होंने कहा कि उपस्थित लोगों का बहुमत यद्यपि प्रस्ताव के पक्ष में था तो भी वह बहुमत सचमुच बहुमत नहीं था; क्योंकि गैरहाजिर लोग यदि मत देते तो उनका बहुमत हो जाता, और इसके अलावा, यदि प्रस्ताव के पक्ष में बहुमत रह भी जाता तो भी वह इतना कम होता कि वह नहीं के बराबर होता। इस तरह स्वीकृत प्रस्ताव बदल दिया गया और स्वराज्य दल के लोगों को फिर मौका मिला कि वे वापस आ जायें।

उसी रात को महात्माजी और उन लोगों के बीच फिर बातचीत हुई जिसके फलस्वरूप कांग्रेस के संगठन संबंधी प्रस्तावों का रूप ऐसा बना दिया गया कि दोनों दलों को स्वीकृत हो जाये। दूसरे दिन वे सभी प्रस्ताव इसी समझौते के रूप में पास हुए। 'डे'-हत्या संबंधी प्रस्ताव महात्माजी ने उपस्थित किया। देशबन्धु दास ने सिराजगंज के प्रस्ताव को ही संशोधन के रूप में पेश किया। अंत में महात्माजी का ही प्रस्ताव मंजूर हो गया; पर इसमें भी जो बहुमत मिला वह बहुत थोड़े लोगों का था। इसका एक विशेष कारण यह था कि सिराजगंज के प्रस्ताव पर अंगरेजों और अंगरेजी पत्रों ने बहुत हो-हल्ला मचाया था। यह बात भी खुले आम ही सुनी जाती थी कि उसके लिए देशबन्धु दास तथा दूसरे लोग गिरफ्तार किये जायेंगे। देशबन्धु ने उसे संशोधन के रूप में उपस्थित करने का कारण भी यही बताया कि वह यदि ऐसा न करें तो लोग समझेंगे कि उन्होंने गिरफ्तारी के भय से सिराजगंज के प्रस्ताव को छोड़ दिया। अब, कांग्रेस के संगठन संबंधी प्रस्तावों का नतीजा यह हुआ कि एक तरफ तो बहिष्कारों को कुछ सख्त बना दिया गया और दूसरी तरफ कौंसिल-बहिष्कार को और भी ढीला कर दिया गया।

महात्माजी से कुछ लोगों ने कहा था कि कचहरियों के बहिष्कार से नफा उठाकर कुछ बेईमान लोगों ने कांग्रेसियों के प्रति भारी जुल्म किया है; क्योंकि कांग्रेसी लोग कचहरियों में न अपना दावा पेश कर सकते थे और न अपने ऊपर किये गये दावे का अपने बयान के सिवा दूसरा कोई उत्तर दे सकते थे। इसलिए उन लोगों का विचार था कि इस संबंध में ऐसे कांग्रेसियों के दावे को सुरक्षित बनाने का कोई उपाय करना चाहिए। महात्माजी इसके संबंध में राजी भी हुए थे कि ऐसे लोगों को अदालतों में अपना बचाव करने की छूट दी जाये। विशेषकर श्री गंगाधरराव देशपांडे की बात पेश थी, जो वर्किंग कमिटी के सदस्य थे। ऐसे लोगों को छूट देने के संबंध में महात्माजी ने एक प्रस्ताव उपस्थित किया। इस पर डाक्टर चोयथराम गिडवानी ने प्रश्न कर दिया कि यह प्रस्ताव क्या नियम के प्रतिकूल नहीं है? मौलाना मुहम्मद अली ने महात्माजी की राय पूछी। महात्माजी ने भी कहा कि बहिष्कार संबंधी प्रस्तावों के प्रतिकूल अवश्य है। इस पर मौलाना साहब ने उसे नियम-विरुद्ध करार दिया। सभा की कार्रवाई समाप्त हुई। पर जो कुछ उस सभा में हुआ था उससे महात्माजी के दिल पर गहरी चोट लगी थी। उन्होंने एक बहुत ही मार्मिक भाषण किया। बोलते-बोलते वह एकाएक रुक गये। सभा में स्तब्धता छा गयी। गांधीजी की आंखों में अनवरत आंसू बहने लगे। कुछ देर में उन्होंने अपने को संभाल कर अपना कथन समाप्त किया। बड़ी उदासी और निराशा का वायुमंडल छा गया। उपस्थित सदस्यों ने अपने भाषणों द्वारा महात्माजी को सांत्वना दी। उन्हें विश्वास भी दिलाया कि वे उनके पीछे-पीछे चलने को तैयार हैं। बहुतेरे तो खुले आम महात्माजी के साथ और उनके बाद भी रोते रहे। इसी उदासी की अवस्था में सभा समाप्त हुई।

महात्माजी ने इस बैठक के संबंध में बहुत ही मर्मभेदी लेख लिखे। बहुमत होने पर भी महात्माजी ने जो अपने प्रस्ताव को बदलवा डाला था, देश के पत्रों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। यह सब होते हुए भी ऐसा जान पड़ता ता कि कांग्रेस में मतभेद और अधिक स्थायी और विकट हो जायेगा। यह कोई नयी बात नहीं थी; क्योंकि इसका कुछ पता तो चौरीचौरा कांड के बाद ही लग गया था—जब प्रायः सभी नेताओं ने जेल से ही गांधीजी के सत्याग्रह स्थगित कर देने का बहुत विरोध किया था। उसी का प्रदर्शन 'डे'-हत्या कांड संबंधी प्रस्ताव में भी हुआ। सरकार तो हमेशा ही ऐसी चीजों की टोह में रहा करती है। उसने आपस की इस फूट से नफा उठाना चाहा। कुछ दिनों के बाद बंगाल के बहुतेरे भाई, जिनमें श्री सुभाषचन्द्र बोस भी थे, गिरफ्तार कर नजरबंद कर दिये गये। गांधीजी अपनी ओर से झगड़ा सुलझाने के प्रयत्न में बराबर लगे हुए थे। इस घटना के बाद उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब किसी-न-किसी तरह से इसको सुलझाना चाहिए। उन्होंने अहमदाबाद में ही कहा था कि यद्यपि मुझे बहुमत मिल गया है तथापि मैं इसे अपनी हार समझता हूं—दोनों पक्षों के वोटों में इतना कम अंतर कोई चीज नहीं है और मैं मानता हूं कि मैं हार गया। उसी समय से वह रास्ता ढूंढ़ने में लग गये।

वह केवल स्वराज्य पार्टी के ही साथ समझौता करना नहीं चाहते थे,बल्कि उनकी इच्छा थी कि दूसरे विचार के लोग भी,जो असहयोग आन्दोलन के कारण कांग्रेस से अलग हो गये थे,फिर कांग्रेस में आ जायें।

डाक्टर एनी बेसेंट उन दिनों स्वराज्य का मसविदा तैयार करके ब्रिटिश पार्लियामेंट के सामने पेश कराने की फिक्र में थीं। ठीक इसी समय मजदूर दल के लोग इंग्लैंड की पार्लियामेंट में बहुमत पाकर मंत्रिमंडल बना पाये थे। श्री रैमसे मैकडोनाल्ड प्रधानमंत्री हुए थे। आशा की जाती थी कि कर्नल वेजउड,जो हिन्दुस्तान के हिमायती समझे जाते थे,भारत-मंत्री होंगे। पर हिन्दुस्तान के अंगरेजों—विशेषकर सिविल सर्विस वालों—के विरोध के कारण वह भारत-मंत्री नहीं बनाये गये। लार्ड ओलीवियर भारत-मंत्री हुए। तो भी कुछ लोग मजदूर दल के मंत्रिमंडल से आशा रखते थे कि वह भारत को कुछ राजनितिक अधिकार दे सकेगा। देश की परिस्थिति देखकर,विशेषकर हिन्दू-मुस्लिम दंगों को ध्यान में रखते हुए और कांग्रेस के अंदर तथा देश में आपस के मतभेद के कारण बढ़ते हुए वैमनस्य को दूर करने की प्रबल आवश्यकता को महसूस करके, गांधीजी ने यह राय जाहिर की कि कांग्रेस को चाहिए कि असहयोग को स्थगित कर दे,ताकि सब लोगों को उसमें आने का मौका मिल जाये।

महात्माजी के प्रस्ताव निम्नलिखित थे—(1) कांग्रेस विदेशी वस्त्र-बहिष्कार को छोड़कर अन्यान्य बहिष्कारों को स्थगित कर दे;(2) कांग्रेस वस्त्र के सिवा अन्य ब्रिटिश मालों का बहिष्कार छोड़ दे;(3) कांग्रेस खद्दर और चर्खे का प्रचार,हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा हिन्दुओं में अस्पृश्यता निवारण का ही काम करे;(4) कांग्रेस मौजूदा राष्ट्रीय विद्यालयों को चलावे और आवश्यकतानुसार नये भी खोले;(5) चार आने की कांग्रेस मेम्बरी उठा दी जाये और उसके स्थान पर ऐसा नियम कर दिया जाये कि कांग्रेस का मेम्बर वही हो सके जो कम-से-कम आधा घंटा रोज चर्खा चलावे और दो हजार गज अपने हाथ का कता सूत हर महीने कांग्रेस को दिया करे तथा इसके लिए गरीबी के कारण जो रूई न खरीद सकता हो उसे कांग्रेस की ओर से रूई दी जाये। इसका नतीजा यह होता था कि (1) कांग्रेस अथवा अपरिवर्तनवादियों की ओर से स्वराजियों का विरोध न किया जाये और उनको अपना संगठन करने का पूरा मौका दिया जाये; (2) दूसरे दलों के लोग कांग्रेस में शरीक होने के लिए आमंत्रित किये जायें; (3) अपरिवर्तनवादी लोग कौंसिल-प्रवेश के विरोध में परोक्ष या अपरोक्ष रीति से आन्दोलन करना छोड़ दें;(4) जो लोग बहिष्कारों में विश्वास नहीं रखते उनको इस बात की स्वतंत्रता दे दी जाये कि वे चाहें तो बहिष्कार छोड़ दें—अर्थात वकील यदि चाहें तो वकालत करें और बहिष्कारों को न मानने वाले भी कांग्रेस में शरीक हो सकें तथा पदाधिकारी भी बन सकें।

महात्माजी के इन प्रस्तावों पर सब लोग विचार करने लगे। श्रीमती एनी बेसेंट ने तो इनको एक प्रकार से मंजूर कर लिया। उनको कांग्रेस में शरीक होने का रास्ता खुलता दिखायी पड़ने लगा।

55

महात्मा गांधी का इक्कीस दिनों का उपवास और एकता सम्मेलन

यह चर्चा एक ओर चल रही थी और दूसरी ओर, सारे देश में जहां-तहां हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे। बिहार में भी भागलपुर में दंगा हो गया। वहां मुझे, दूसरे भाइयों के साथ, जाना पड़ा। कई दिनों तक वहां रहकर आपस के मेल-मिलाप के प्रयत्न में लगा रहना पड़ा। और-और जगहों में भी दंगे हुए। इन बातों का असर गांधीजी के दिल पर बहुत हुआ। दिल्ली में भारी दंगा हो गया। वहां गांधीजी स्वयं गये। वह कई दिनों तक वहां ठहरकर फिर किसी और काम से बम्बई की तरफ वापस गये। निजाम राज्य के गुलबर्गा में भी भारी फसाद हो गया। गांधीजी फिर दिल्ली गये। ठीक उसी समय सीमा-प्रांत के कोहाट नगर में बड़ा भारी दंगा हुआ। बहुतेरे लोग वहां मारे गये। बहुत-सा माल लूटा गया। बहुतेरे मकान भी जला दिये गये। गांधीजी इन घटनाओं से बहुत चिंतित और परेशान थे। इन सबसे बहुत ऊबकर उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए इक्कीस दिनों का उपवास करने का निश्चय किया। यह निश्चय उन्होंने दिल्ली में किया, जब वह मौलाना मुहम्मद अली के घर में ठहरे हुए थे। वहां उपवास का भी आरम्भ कर दिया।

महात्माजी के उपवास की खबर छपते ही सारे देश में बड़ी चिंता व्याप गयी। हाल ही में वह बड़ी खतरनाक बीमारी से उठे थे। सब लोग, विशेषकर डाक्टर अंसारी—जो उनके स्वास्थ्य से अच्छी तरह परिचित थे—बहुत चिंतित हो गये। उन्होंने इस निश्चय से गांधीजी को डिगाने का बहुत प्रयत्न किया। अपने प्रेम तथा अपनी डाक्टरी कला, दोनों का प्रयोग किया। पर गांधीजी अपने निश्चय से नहीं डिगे। अंत में वह इतने सफल हुए कि उन्होंने गांधीजी से वचन ले लिया कि उनकी मृत्यु ही अगर इस उपवास का नतीजा होने वाला हो, तो उस हालत में वह उपवास तोड़ डालेंगे। उपवास आरम्भ हुआ। खबर पाते ही मैं भी दिल्ली पहुंच गया। गांधीजी, कुछ दिनों के बाद, मौलाना मुहम्मद अली के घर से हटाकर, शहर के बाहर रायबहादुर सुलतान सिंह के एक बंगले में, ले जाकर ठहराये गये। श्री एंडरूज उनकी सेवा के लिए आ गये। डाक्टर अंसारी तो दिन-रात देख-भाल करते ही रहते।

को उन घरों से, जहां वह काम करता है, म्युनिसिपैलिटी के मुशाहरे के अलावा कुछ-न-कुछ मिल ही जाता है; पर्व-त्योहार के अवसर पर भी कुछ आमदनी हो ही जाती है, तो भी उनकी हालत इतनी खराब क्यों रहती है ? हमने इसके दो कारण देखे, एक तो शराबखोरी और दूसरा—कर्ज पर सूद ! जिस दिन मुशाहरा बंटता उस दिन उनका महाजन वहां हाजिर रहता। जो मुशाहरा उन्हें मिलता, महाजन ही ले लेता। उसी रुपये को वह अपने पुराने कर्ज और सूद में सधा लेता। उसी दिन से फिर कर्ज लेकर ही मेहतर अपना काम चला सकता। कर्ज का सूद भी बहुत देना पड़ता। इसका नतीजा यह होता कि वह कभी कर्ज से बरी न हो पाता। हर महीने में एक अच्छी रकम सूद में चली जाती।

हमने इस अर्थ-संकट से उनको बचाना चाहा। दरियाफ्त करने से मालूम हुआ कि मुशाहरा महीने में एक दिन मिलता है। वे महीने में कई बार करके कर्ज लेते हैं, जिसको महीने के अंत में सूद के साथ अदा करना पड़ता है। हमने चाहा कि वे कर्ज लेना बंद करें; पर वे इस पर राजी नहीं होते। हमने मुशाहरा बांटने के स्थान पर महाजनों को आने से रोकना चाहा, तो मेहतर बिगड़ गये और हड़ताल करने पर तैयार हो गये ! उनका कहना था कि महाजनों से उनका काम बहुत आसानी से चलता है, इसलिए वे उनको छोड़ नहीं सकते। वे यह भी कहने लगे कि जब तक उनका कर्ज अदा न हो जाये, महाजन उनको छोड़ेंगे नहीं। हमने सारे कर्ज को अदा कर देने का वादा किया और समझाया कि महाजन से रुपये न लेने से उनको बहुत बचत होगी। वे यह जल्दी समझने को तैयार न थे। हमने महीने के अंत में बदले बीच के पंद्रहवें दिन मुशाहरा देने का प्रबंध कर दिया। यह भी कर दिया कि जब जरूरत होगी, इस शर्त पर पेशगी मुशाहरा भी मिल सकेगा और मुशाहरा मिलने के दिन पेशगी दी हुई रकम काट ली जायेगी। बहुत मेहनत के बाद उन्होंने यह बात समझी, और राजी हुए। नतीजा यह हुआ कि कुछ दिनों के बाद, जब उन्होंने इस प्रबंध से लाभ देखा तो, वें बहुत प्रसन्न हुए। मालूम नहीं, हम लोगों के हट जाने के बाद यह प्रथा जारी रह सकी या नहीं। म्युनिसिपैलिटी से हटने में इसी एक बात का अफसोस रहा कि हरिजनों की थोड़ी-बहुत सेवा शायद की जा सकती, जो न की जा सकी।

जिस समय हम लोग पटना म्युनिसिपैलिटी में काम कर रहे थे, प्रायः उसी समय कई अन्य जिलों के डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड और म्युनिसिपैलिटियों में भी कांग्रेसी लोग चुने गये। पहले कहा जा चुका है कि गया के डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड में अनुग्रह बाबू चेयरमैन हुए थे। मुंगेर डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन शाह मुहम्मद जुबैर और वाइस-चेयरमैन श्री श्रीकृष्ण सिंह, छपरा डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन मजहरुल हक साहब, चम्पारन में पहले बेतिया म्युनिसिपैलिटी और पीछे चम्पारन जिला-बोर्ड के चेयरमैन श्री विपिनविहारी वर्मा, मुजफ्फरपुर म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद वर्मा और वहां के डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन श्री रामदयालु सिंह हुए। भागलपुर डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन श्री कैलासबिहारी

लाल हुए। दरभंगा में चेयरमैन बाबू हरिनन्दन दास और वाइस-चेयरमैन मिस्टर मुहम्मद शफी (बैरिस्टर) हुए। छोटानागपुर के डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों में चेयरमैन वहां के डिप्टी-कमिश्नर हो सकते थे और वाइस-चेयरमैन गैर-सरकारी आदमी। इसलिए वहां मानभूम में श्री जीमूतवाहन सेन और हजारीबाग में श्री रामनारायण सिंह वाइस-चेयरमैन हुए। इस प्रकार हमारे सूबे के अनेक स्थानों मे, इन स्थानीय संस्थाओं में, कांग्रेसी लोगों के हाथों में अधिकार आया और वे काम करने लगे। जिस तरह की दिक्कतें पटने में थीं वैसी और जगहों में नहीं थीं। केवल छोटानागपुर में, अक्सर चेयरमैन और वाइस-चेयरमैन के बीच, उठा-पटक होती रहती थी। हमारे आदमियों ने, प्रायः सभी जगहों में, काम अच्छा किया। लोगों पर भी प्रभाव अच्छा ही पड़ा। पर मैं इस काम से संतुष्ट न था।

चुनाव होने के पहले ही, कांग्रेसी लोगों मे, उमीदवार बनने के बारे में, परस्पर बड़ी स्पर्धा होने लगी। कुछ लोग उमीदवार न बनाये जाने पर दुखी होते। कुछ लोग समझने लगे, हमने देश की सेवा की है, इन बोर्डों में स्थान मिलना एक प्रकार से उसी सेवा का इनाम है! अपना दावा पेश करने में वे अपनी सेवाओं की बात पेश करते! इससे मेरे दिल पर यह असर पड़ा कि अभी तो एक बहुत छोटी बात सामने आयी है और इतने ही में लोग उमीदवार बनाये जाने के लिए अपनी-अपनी सेवाओं की तालिका तैयार करा रहे हैं, तो आगे चलकर न मालूम क्या होगा! मैंने कुछ दिनों के अनुभव के बाद एक लेख कलकत्ते के 'माडर्न रिव्यू' में लिखा था। उसमें अपना नाम नहीं दिया था। पर उसमें उस समय के अपने विचारों को व्यक्त कर दिया था । बहुत जगहों में, काम अच्छा होने पर भी, आपस में कुछ मनोमालिन्य हो ही गया। इस बारे में मुंगेर का जिला-बोर्ड बिलकुल अछूता रहा। वहां कभी आपस की वैसी स्पर्धा देखने में न आयी जैसी अन्य स्थानों में । इसका श्रेय वहां के कार्यकर्ताओं और नेताओं को है। यद्यपि मेरा अपना विचार इन बोर्डों में शरीक होने के खिलाफ हो गया, तथापि और सभी साथियों के विचार भिन्न थे। इसलिए मैंने अपने विचारों को दबा रखा। मैं हमेशा कांग्रेसी लोगों को चुनाव में भाग लेने देता रहा। यथासाध्य उनकी मदद भी करता रहा।

जिस समय हम लोग म्युनिसिपैलिटियों और जिला-बोर्डों में काम कर रहे थे, बिहार की सरकार ने एक बिल पेश किया। उसका आशय यह था कि इन बोर्डों के हिसाब जांच करने वाले सरकारी निरीक्षक (आडिटर) को अधिकार होगा कि वह इस बात का फैसला कर सके कि कोई खर्च, जो बोर्ड या बोर्ड के किसी पदाधिकारी ने किया हो, गैरकानूनी है। और, यदि वह उचित समझे तो ऐसे गैरकानूनी खर्च की रकम उस पदाधिकारी से अथवा उन मेम्बरों से, जिन्होंने इस खर्च की मंजूरी दी हो, वसूल करने का निश्चय करे। 1922 में म्युनिसिपैलिटी और जिला-बोर्ड के कानून संशोधित और परिवर्धित किये गये थे, इन बोर्डों को अपने चेयरमैन चुनने का अधिकार मिला था और अन्य प्रकार से भी जनता के प्रतिनिधियों को कुछ नये अधिकार मिले

थे। इस नये बिल का आशय यह था कि जो नये अधिकार दिये गये हैं वे दूसरे प्रकार से कम कर दिये जायें। सबसे बड़ी बात यह थी कि हिसाब-परीक्षक को कानूनी बातों पर फैसला देने का अधिकार दिया गया था। इससे हमारे सूबे के बोर्डों में नये चुने हुए मेम्बरों को ये बातें बहुत खटकीं। दूसरे लोगों को भी ये पसंद न आयीं। बोर्डों और जनता की ओर से बिल का जोरदार विरोध होने लगा।

इसी सिलसिले में, इस पर तथा बोर्ड संबंधी अन्य विषयों पर विचार करने के लिए, बोर्डों के प्रतिनिधियों की एक कांफ्रेंस करने की राय ठहरी। यह कांफ्रेंस पटने में की गयी। मौलाना मजहरुल हक साहब, जो सारन जिला-बोर्ड के चेयमैन थे, इसके सभापति होने को थे। मुंगेर जिला-बोर्ड के चेयरमैन शाह मुहम्मद जुबैर ने इसका उद्घाटन किया। मजहरुल हक साहब के अकस्मात अस्वस्थ हो जाने के कारण मुझे ही इसका सभापति बनना पड़ा। सारे सूबे के प्रायः सभी मुख्य-मुख्य जिला-बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों के प्रतिनिधि इसमें शरीक हुए। सर्व-सम्मति से आडिट-बिल की निंदा की गयी। बोर्ड संबंधी दूसरे विषयों पर भी विचार किया गया। एक विषय, जो उन दिनों बड़े महत्व का हो गया था, यह था कि जिला-बोर्ड के इंजीनियर बोर्ड के नौकर न रहकर प्रांतीय सरकार के नौकर हों। इसका भी विरोध किया गया। शिक्षा संबंधी प्रश्न पर भी विचार हुआ। कहा गया कि पाठ्यपुस्तकों को चुनने के लिए जो कमिटी है उसका पुनःसंगठन हो और उसमें बोर्डों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया जाये। कांफ्रेंस ने एक छोटी स्थायी कमिटी कायम कर दी। और, इस प्रकार के सम्मेलन की आवश्यकता तथा उपयोगिता महसूस करके फिर समय पर मिलने का भी निश्चय किया। मैं समझता हूं कि बोर्ड से हमारे हट जाने के बाद भी यह कांफ्रेंस जब-तब होती और बोर्ड संबंधी विषयों पर विचार-विनिमय करती रही।

एक दुर्घटना इन बोर्डों के चुनावों को लेकर और भी हुई, जिसका असर बहुत बुरा पड़ा। 1922 से ही हिन्दू-मुस्लिम झगड़े जहां-तहां शुरू हो गये थे। अक्सर बलवे की खबर किसी-न-किसी जगह से आती ही रहती थी। हम लोग बहुत बेचैन रहा करते थे। अपने सूबे में दंगा न होने देने के प्रयत्न में हम सतत लगे रहते थे। पर यहां भी कई जगहों में दंगे हो ही गये। आज उन सब जगहों के न तो नाम ही याद हैं और न क्रम से उनकी तारीख ही मैं बतला सकता हूं। इसके लिए उन दिनों के समाचारपत्रों की फाइलें देखनी होंगी। पर ये दंगे इतने बढ़ गये थे और इतने स्थानों में होते रहे कि इनका असर पड़े बिना रह नहीं सकता था। शुद्धि और तबलीग संगठन और तंजीम के प्रचार ने लोगों में इस हिन्दू-मुस्लिम कशमकश को और भी बढ़ा दिया। आपस का मनोमालिन्य बढ़ता ही गया। जहां बलवा न भी हुआ वहां भी दुर्भाग्यवश पारस्परिक विश्वास न रहा। उधर खिलाफत का मामला एक प्रकार से, जब तुर्कों ने खलीफा को हटा दिया तो, स्वभावतः कुछ ढीला पड़ गया। बहुत-से मुसलमान, जो कांग्रेस में खिलाफत के कारण ही शरीक हुए थे, आहिस्ता-आहिस्ता अलग होने लगे। यह

साफ दीखने लगा कि 1921-22 की तरह सभी बातों में वे एकमत नहीं रह सकते। जनता पर दंगों का विशेष प्रभाव पड़ता था। बिहार जैसे हिन्दू-प्रधान सूबे में मुसलमानों के चुने जाने में दिक्कत पड़ने लगी।

पटना म्युनिसिपैलिटी में मौलवी खुरशैद हसनैन के चुनाव की दिक्कतों का जिक्र ऊपर कर चुका हूं। यहां हम लोगों ने खूब जोर लगाया। मौलवी साहब को कुछ करने न दिया। वह बड़े बहुमत से चुने गये। इसी तरह छपरे में, मजहरुल हक साहब की सेवा और त्याग तथा व्यक्तित्व का बहुत बड़ा प्रभाव था। तो भी कुछ लोगों ने दिक्कत पैदा करने का प्रयत्न किया। पर वहां मेरे भाई साहब की बहुत धाक थी। उन्होंने वहां उठी हुई दिक्कतों को दबा दिया। हक साहब आसानी से चुने गये। मुंगेर में जुबैर साहब को लोग बहुत मानते थे। वहां कोई दिक्कत पेश न आयी। मुजफ्फरपुर में मौलवी मुहम्मद शफी की सेवा और त्याग किसी से कम न था। पर कांग्रेसी लोगों में उतना एक्य नहीं था अथवा जनता पर वे अपना उतना अच्छा प्रभाव न डाल सके। नतीजा इसका यह हुआ कि मौलवी शफी हार गये। हम सबको इसका बहुत अफसोस हुआ। पर हम लाचार हो गये। मौलवी शफी साहब के दिल पर इसका असर पड़ा। पर उस समय उन्होंने उसे दबा रखा, और काम करते रहे। किंतु इसका बुरा परिणाम पीछे देखने को मिला, जब उन्होंने कांग्रेस छोड़कर मुस्लिम संस्था कायम करने में अपना समय लगाना शुरू कर दिया। यह कुछ दिनों के बाद हुआ; पर इसका सूत्रपात डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चुनाव की हार में ही हो गया था। यद्यपि इन चुनावों में यथासाध्य मुसलमानों के चुनवाने का प्रयत्न किया गया और वे अच्छी संख्या में चुने भी गये, तथापि बिहार के मुसलमानों ने महसूस किया कि वे काफी संख्या में नहीं चुने गये। ऐसे मामलों में विश्वास बड़ी चीज होता है। वह अकारण भी कमजोर पड़ सकता है। इन पंक्तियों के लिखने के समय मेरे सामने उन चुनावों के नतीजों के आंकड़े तो नहीं हैं; पर मैं समझता हूं कि मुसलमानों के साथ कोई अन्याय नहीं हुआ था। हां, जहां-तहां कुछ कम-बेश चुने गये हों अथवा प्रमुख व्यक्ति न चुने गये हों; परंतु सारे सूबे पर दृष्टि डालने से मालूम होगा कि उस वक्त कांग्रेसी लोगों ने उनको चुनवाने में यथासाध्य खूब परिश्रम किया और वे सफल भी हुए। पर बहुतेरे मुसलमानों का विश्वास कम हो गया, जिसका बुरा परिणाम पीछे कुछ दिनों के बाद देखने में आया।

57

बंगाल में दमन, स्वराज्य पार्टी के साथ समझौता और बेलगांव कांग्रेस

गांधीजी का उपवास समाप्त होने के बाद उनको कुछ समय स्वास्थ्य-लाभ करने में लगा। वह कोहाट जाने के लिए बेचैन थे, पर गवर्नमेंट ने वहां जाने की इजाजत नहीं दी। इसी समय गवर्नमेंट ने एक और चक्र चलाया। उसने एक नया आर्डिनेंस यह कहकर जारी किया कि बंगाल में विप्लववादी लोग फिर षड्यंत्र कर रहे हैं और जहां-तहां उनके द्वारा हत्याएं की जा रही हैं। 'डे' की हत्या और चंद दूसरी घटनाओं का हवाला देते हुए इसकी आवश्यकता बतलायी गयी। साथ ही, श्री सुभाषचन्द्र बोस तथा बहुतेरे दूसरे कार्यकर्ता एक दिन बंगाल में गिरफ्तार कर लिये गये। यद्यपि इसकी अफवाह कुछ पहले से थी कि देशबन्धु दास भी गिरफ्तार किये जायेंगे, तथापि वह पकड़े नहीं गये। इस आर्डिनेंस और इन गिरफ्तारियों से सारे देश में सनसनी फैल गयी। सब लोग क्षुब्ध हो उठे। इनसे नरम दल वाले भी काफी नाराज हुए। स्वराज्य पार्टी के लोगों के विचार में तो यह आर्डिनेंस विशेषतः उन पर ही लागू करने के लिए बनाया गया था; क्योंकि उन्होंने बंगाल और मध्यप्रदेश में मंत्रिमंडल तोड़ डाला था और वहां नयी योजना एक प्रकार से काम नहीं कर रही थी। महात्माजी इससे बहुत रुष्ट हुए। उन्होंने देशबन्धु दास और पंडित मोतीलालजी के साथ तुरंत समझौता कर लिया। सारे देश में सभाएं हुईं, सभी बड़े-बड़े नेताओं ने पत्रों में अपने बयान छपवाये जिनमें सरकार की इन कार्रवाइयों की कड़ी निंदा की गयी। पटने में भी एक बड़ी सभा हुई। उसमें सभी विचारों और दलों के लोग शरीक हुए। बंगाल में दमन-नीति चलाने की कड़ी आलोचना उसमें की गयी। मैंने उस सभा में जोरदार भाषण किया।

गांधीजी ने जो समझौता किया, उसका आशय यह था कि कांग्रेस विदेशी वस्त्र के बहिष्कार के सिवा अन्य असहयोग स्थगित कर दे और भिन्न-भिन्न प्रकार के काम कांग्रेस के अंदर भिन्न-भिन्न जमायतें करें; पर चर्खा और खादी का प्रचार, आपस में—विशेषकर हिन्दू-मुसलमान के बीच—मेल-जोल और एकता बढ़ाना तथा हिन्दुओं में अछूतपन दूर करने के काम सबके लिए अनिवार्य समझे जायें; प्रांतीय तथा केंद्रीय व्यवस्थापिका सभाओं में स्वराज्य पार्टी कांग्रेस की अंग-स्वरूप होकर कांग्रेस की तरफ से काम करे, इसके लिए वह

अपने नियम बना ले, अपने पैसे भी जमा और खर्च करे; चूंकि यह देखा गया है कि जब तक सूत कातना सर्वव्यापी न हो जाये, हिन्दुस्तान कपड़े के सम्बन्ध में स्वतंत्र नहीं हो सकता; चूंकि चर्खा चलाना एक जीता-जागता और साफ नजर आता हुआ उपाय है जो कांग्रेसी लोगों और भारत की जनता के बीच संबंध जोड़ने वाला है, इसलिए चर्खा और खद्दर के प्रचारार्थ कांग्रेस की नियमावली में यह संशोधन कर दिया जाये कि कोई आदमी तब तक कांग्रेस का सदस्य नहीं हो सकता जब तक उसकी उम्र अठारह बरस की न हो—जो राजनीतिक अवसरों और कांग्रेस के मौकों पर तथा कांग्रेस का काम करते समय हाथ-कता, हाथ-बुना खद्दर न पहनता हो—जो प्रतिमास अपने हाथ का कता दो हजार गज अच्छा बराबर सूत, और बीमारी तथा अनिच्छा अथवा इस प्रकार के अन्य किसी कारण की हालत में इतना दूसरे का काता हुआ सूत कांग्रेस कमिटी को न दे। इसका नतीजा यह होता था कि स्वराज्य पार्टी को कांग्रेस के नाम पर कौंसिल का काम करने का अधिकार मिल जाता था; पर कांग्रेस-मेम्बर बनने के लिए अब चार आने पैसे की जगह दो हजार गज सूत अपने हाथ से कातकर—बीमारी और अनिच्छा की हाल में दूसरे से खरीदकर—देना पड़ता था। यह समझौता अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी और बेलगांव कांग्रेस की मंजूरी के लिए पेश होने को था।

बंगाल के दमन और इस समझौते पर विचार करने के लिए मौलाना मुहम्मद अली ने बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक की। उसी समय उन्होंने देश के अन्य राजनीतिक दलों को भी आमंत्रित किया कि बंगाल की स्थिति पर सब मिलकर विचार करें। गांधीजी पहले से ही इस प्रयत्न में थे कि सब दलों को कांग्रेस में फिर से शरीक होने के लिए प्रोत्साहित और आमंत्रित किया जाये। गवर्नमेंट की कार्रवाई ने इस प्रयत्न में बड़ी मदद पहुंचा दी। बम्बई में एक बड़ा सम्मेलन हो गया जिसमें सभी दलों के लोग शरीक हुए। बम्बई के सर दिनशा पेटिट इसके सभापति हुए। इसके पहले प्रस्ताव में सरकार की दमन-नीति की निंदा करते हुए स्वराज्य की मांग पेश की गयी। दूसरे प्रस्ताव द्वारा एक कमिटी नियुक्त हुई, जिसको आदेश दिया गया कि वह इस बात पर विचार करे कि किस तरह राजनीतिक दलों को कांग्रेस के अंदर शामिल किया जा सकता है और स्वराज्य का एक मसविदा तैयार करे, जिसमें हिन्दू-मुस्लिम समस्या के—और इस प्रकार के दूसरे मसलों के—राजनीतिक दृष्टि से हल रहें तथा इस कमिटी की रिपोर्ट 31 मार्च तक तैयार करके अप्रैल में फिर कांफ्रेंस की बैठक की जाये। इस सर्वदल सम्मेलन का महत्व यह था कि इसमें कांग्रेस के अलावा, जिसमें स्वराज्य पार्टी भी शामिल थी, प्रायः और जितने राजनीतिक दल थे तथा मुस्लिम लीग के लोग—सब शरीक हुए थे। इसकी कार्रवाई से सारे देश में एक नयी लहर उठी। आशा होने लगी कि अब सब लोग फिर मिलकर एक साथ अगर न हो तो अपने-अपने विचार के अनुसार, एक ध्येय—स्वराज्य प्राप्ति—के लिए प्रयत्न में लग जायेंगे।

उसी समय अखिल भारतीय कमिटी की बैठक भी हुई। उसमें गांधीजी और स्वराज्य पार्टी के बीच हुआ समझौता मंजूर किया गया। अपरिवर्तनवादियों में बहुतेरे ऐसे थे जो इस समझौते को नापसंद करते थे। उनका विशेष विरोध इससे था कि स्वराज्य पार्टी को कौंसिलों में कांग्रेस के प्रतिनिधि-रूप होकर बोलने का हक दे दिया गया था। लोग चाहते थे कि यदि उन्हें यह अधिकार दिया जाये तो उन पर नियंत्रण भी कांग्रेस का रहे। गांधीजी इस नियंत्रण के भार को नहीं लेना चाहते थे। बहुत वाद-विवाद के बाद समझौता मंजूर हो गया।

इन दोनों सम्मेलनों ने महात्माजी के लिए रास्ता साफ कर दिया। वह आपस की जिस फूट से दुखित थे वह बहुत हद तक दूर हो गयी। जो कुछ मनमुटाव रह गया था उसे भी दूर करने का दरवाजा खुल गया। बेलगांव में होने वाली कांग्रेस के अधिवेशन के लिए वह सभापति चुने जा चुके थे, पर इन्होंने उसे अभी मंजूर नहीं किया था। इन सम्मेलनों के बाद उन्होंने उसे मंजूर कर लिया। यह भी आशा की जाती थी कि कांग्रेस के समय अन्य दल वाले भी अपने वार्षिक अधिवेशन बेलगांव में ही करेंगे जिसमें फिर सब लोगों को एक बार मिलकर आपस में बातचीत करने का मौका मिले। पर ऐसा हुआ नहीं। केवल श्रीमती एनी बेसेंट ने कांग्रेस में शरीक होने का निश्चय कर लिया। वह अपने अनुयायियों के साथ बेलगांव में शरीक भी हुईं।

दिसम्बर के अंतिम सप्ताह में नियमानुसार बेलगांव में अधिवेशन हुआ। वहां के लोगों में कांग्रेस के कारण उत्साह बहुत था। श्री गंगाधरराव देशपांडे, बूढ़े होकर भी जवान की तरह, घोड़े पर सवार सभी जगहों में आते-जाते और प्रबंध की निगरानी करते दिखायी देते। अधिवेशन के साथ-साथ प्रदर्शनी तो बराबर हुआ ही करती है। बेलगांव में संगीत-सम्मेलन भी हुआ जिसमें कर्नाटक के प्रमुख गुणी और कलाकार शरीक हुए। मैसूर दरबार से इसमें पूरी सहायता मिली थी। वहां के गुणी विद्वान इसमें दरबार की ओर से भेजे गये थे। उनमें सबसे नामी श्री शेषन्नाजी थे जो वीणा के आचार्य समझे जाते थे। जब उपस्थित कांग्रेस प्रतिनिधियों को समय मिला, उन्होंने बहुत ही सुंदर दक्षिणी—विशेषतः कर्नाटकी—संगीत सुनाया। एक दिन गांधीजी की कुटी में उन्होंने अपनी वीणा का चमत्कार भी दिखलाया।

58

बोधगया का मंदिर

एक विशेष घटना यह हुई कि कांग्रेस के पास सिंहल द्वीप (सीलोन) से, डाक्टर कैसियस परेरा (Cassius Periera) के नेतृत्व में, बौद्धों की ओर से एक मंडली आयी। उसने यह मांग पेश की कि बोधगया का बुद्ध मंदिर बौद्धों के अधिकार में दिला देना चाहिए। गया कांग्रेस के समय ही बरमा से, भिक्षु उत्तमा के नेतृत्व में, प्राय: एक सौ भिक्षुओं की एक बड़ी जमायत आयी थी। बरमा हिन्दुस्तान के साथ ही था। वहां भी कांग्रेस कमिटी थी। ये लोग उसी के प्रतिनिधि होकर आये थे। उनके लिए 'एक पंथ दो काज' था—कांग्रेस का देखना और बोधगया में बुद्धदेव का दर्शन। कांग्रेस का स्थान भी बोधगया के रास्ते पर ही था। उस समय, और कोकनाडा कांग्रेस के बाद भी, कुछ इस तरह की बात चली थी तथा मुझे इस बोधगया संबंधी प्रस्ताव पर जांच करने का आदेश मिला था। पर मैं यह काम कर नहीं पाया था। बेलगांव में डेपुटेशन ने इस सवाल को कांग्रेस में पेश करना चाहा। गांधीजी ने उनसे बातें कर लीं। इस संबंध में जांच करके रिपोर्ट पेश करने के लिए गांधीजी ने मुझे इस अधिकार के साथ काम फिर सुपुर्द किया कि मैं और जिसको चाहूं अपने साथ इसमें शरीक कर लूं। इससे वे लोग संतुष्ट हो गये। लाल लाजपतरायजी बहुत डरते थे कि विदेशी बौद्धों को यदि मंदिर पर अधिकार दिया गया तो हो सकता है कि वह विदेशी षड्यंत्र का केंद्र बन जाये और अंतरराष्ट्रीय जटिलता उपस्थित हो जाये।

मैंने कांग्रेस से लौटकर जांच का काम आरंभ किया। एक छोटी कमिटी बन गयी। उसमें श्री ब्रजकिशोर प्रसाद, डाक्टर काशी प्रसाद जायसवाल और श्री रामोदारदास (जो पीछे भिक्षु राहुल सांकृत्यायन हुए) सदस्य थे। जब जांच आरम्भ हुई तब सिंहल से फिर सिंहलवासी श्री गुणी सिंह आये। कुछ दिनों तक बिहार में रहकर कमिटी के काम में उन्होंने बौद्धों की ओर से मदद पहुंचायी। मैंने सबसे पहले हिन्दुओं का विचार जानने का प्रयत्न किया। इसलिए पटने में दो सभाएं की गयीं, पर उनमें उपस्थिति संतोषजनक नहीं थी, अत: उनके निश्चय का कोई विशेष महत्व नहीं था। भाग्यवश उसी समय मुजफ्फरपुर में हिन्दू महासभा का अधिवेशन होने वाला था जिसके सभापति लाला लाजपतरायजी थे। वहां मैं

गया। बोधगया के महंत की ओर से भी कुछ लोग सभा में गये थे। सभा ने एक प्रस्ताव मंजूर किया जिसमें हिन्दुओं और बौद्धों की सम्मिलित कमिटी के हाथों मंदिर के प्रबंध का भार सौंपने की राय दी गयी। पर साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि इस बात पर पूरी तरह विचार करने—और हो सके तो महंत को भी राजी करने—के लिए एक कमिटी बनायी जाये। उसके सदस्य भी उपरोक्त चार सज्जन थे। उनके अलावा एक और सज्जन तथा बोधगया के महंत भी सदस्य बनाये गये। पर जब कमिटी का काम शुरू हुआ, ये दोनों सज्जन उसमें शरीक न हुए। इस तरह हिन्दू महासभा और कांग्रेस की ओर से हम चार आदमियों ने ही रिपोर्ट तैयार की। कमिटी ने सभी बातों का विचार करके एक लम्बी और महत्वपूर्ण रिपोर्ट तैयार की। साथ ही, अपनी सिफारिश यह की कि बोधगया के मंदिर का प्रबंध हिन्दुओं और बौद्धों की एक सम्मिलित कमिटी के हाथों में दिया जाये—वहां की पूजा-अर्चा का प्रबंध बौद्ध रीति के अनुसार किया जाये, पर हिन्दुओं को भी दर्शन और पूजा का अधिकार रहे।

यद्यपि यह बौद्धों का मुख्य तीर्थस्थान है, तथापि इस मंदिर का प्रबंध बोधगया के शैव महंत के हाथ में है। हिन्दू भी बुद्धदेव को अपने मुख्य दश अवतारों में एक मानते हैं। तब भी उनकी पूजा हिन्दुओं में प्रचलित नहीं है। कहीं-कहीं तो उनकी निंदा भी की गयी है। इसलिए वहां यद्यपि पूजा का कुछ प्रबंध था, तथापि इस महत्वपूर्ण तीर्थस्थान के योग्य नहीं था। हमने समझा कि बौद्धों की शिकायत ठीक है कि पूजा का समुचित प्रबंध बौद्ध ही कर सकते हैं। इसलिए कमिटी ने अपनी ओर से ऐसी सिफारिश की। हमने महंत से भी भेंट करके इस बात की कोशिश की कि वह इस बात पर राजी हो जायें कि मंदिर का प्रबंध कमिटी के जिम्मे कर दिया जाये। हमने उस कमिटी की सदस्यता उनको भी देनी चाही। उनको मंदिर से जो कुछ आमदनी चढ़ावे के रूप में आती तो उसका मुआवजा भी देने की बात की। पर वह किसी तरह राजी न हुए। उनका कहना था कि मंदिर पर वह मुनाफे की लालच से अधिकार रखना नहीं चाहते, क्योंकि मंदिर में जितना खर्च होता है उतना भी हमेशा चढ़ावे के रूप में नहीं आता, और यदि कुछ आता भी है तो वह इतना कम है कि वह अपनी बड़ी जमींदारी के सामने उसे कुछ नहीं समझते। बात भी सच है। उस मठ की आमदनी कई लाख की है। मंदिर से शायद हजार-दो हजार साल में आते हों। पर वह यह मानते थे कि मंदिर पर अधिकार रहने के कारण उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है जो विदेशों तक पहुंची हुई है। उसे वह नहीं छोड़ना चाहते थे। हमने उनको बहुत समझाया कि हमारी बात मान लेने से उनकी प्रतिष्ठा घटने की जगह बहुत बढ़ जायेगी; पर वह इस बात को नहीं समझ सके। हमारा प्रयत्न असफ़ल रहा। हमने अपनी सिफारिश करके ही मामले को उपयुक्त समय के लिए छोड़ रखा।

वह रिपोर्ट अखिल भारतीय कमिटी के सामने पेश हुई। मंजूर भी कर ली गयी। पर आज तक वह काम पूरा नहीं हुआ। जब कई बरसों के बाद कांग्रेस की मिनिस्ट्री बनी तो फिर एक डेपुटेशन सीलोन से आया। उसने वही मांग पेश की। मैं उन दिनों बीमार होकर अपने गांव जीरादेई में जाकर रहता था। इसलिए वे लोग जीरादेई गये। प्रधानमंत्री से भी मिले। महंत किसी तरह राजी नहीं होते थे। इसलिए कानून द्वारा ही कुछ हो सकता था। मैंने प्रधानमंत्री को लिखा कि वह इस संबंध में कानून बनाने का प्रबंध करें। वह इस संबंध में विचार और राय-बात भी करने लगे। पर और-और झंझटों में फंसे रहने के कारण यह बात आगे न बढ़ सकी। जब मंत्रिमंडल ने इस्तीफा दिया उस समय भी यह बात जहां की तहां टंगी रह गयी। मैं आज भी मानता हूं कि न्याय इसी में है कि इस मंदिर के प्रबंध का भार और अधिकार बौद्धों के हाथ में देना चाहिए। और, चूंकि हिन्दू भी बुद्धदेव को अवतार मानते हैं, इसलिए प्रबंध-कमिटी में हिन्दुओं को भी रहना चाहिए। इसी सिलसिले में एक बात और उल्लेखनीय है। सिंहल में एक प्रसिद्ध मंदिर है जिसका नाम कतरगामा है। वहां के हिन्दू कहते हैं कि वह हिन्दुओं का मंदिर है और बौद्धों ने उस पर अधिकार कर लिया है। जब यहां बात चल रही थी, सीलोन के हिन्दुओं की ओर से मेरे पास पत्र और तार आते रहे कि हम हरगिज बोधगया के मंदिर पर बौद्धों को उस वक्त तक अधिकार न दें जब तक वे कतरगामा मंदिर पर हिन्दुओं का अधिकार न मान लें। अगर बात आगे बढ़ती तो शायद इस संबंध की बात भी कुछ होती। पर वह समय ही नहीं आया। बात वैसे ही रह गयी।

यहां 1925 की बात लिखते-लिखते इस विषय की चर्चा में 1939 तक चला आया; क्योंकि इसे एक जगह कह देना ही ठीक था।

59

बेलगांव के बाद की कुछ घटनाएं

बेलगांव कांग्रेस में स्वराज्य पार्टी के साथ का समझौता मंजूर हो गया। गांधीजी इस पर राजी-से हो गये कि जहां तक राजनीतिक प्रश्नों का संबंध है, उसमें स्वराज्य पार्टी की ही प्रधानता रहे और अगर वे चाहें तो वर्किंग कमिटी भी अपनी इच्छा के अनुकूल बना लें ; पर खादी-प्रचार और रचनात्मक काम में पूरी मदद करें तथा उसका संचालन हम (गांधीजी) पर छोड़ दें। इसी नीति के अनुसार कांग्रेस के विधान में संशोधन हुआ। कांग्रेस का सदस्य बनने के लिए चार आना शुल्क देने के बदले अपने हाथ का कता हुआ सूत देना मंजूर किया गया।

जब से गांधीजी जेल से निकले थे, उन्होंने खादी-प्रचार पर बहुत जोर डाला था। मैं भी अपने सूबे में रचनात्मक काम में ही—विशेषकर राष्ट्रीय शिक्षा और खादी-प्रचार में—लगा रहा। 1924 के दिसम्बर में पटने में एक प्रदर्शनी की गयी, जिसमें चर्खा और उससे उत्पन्न सब प्रकार की खादी के नमूने दिखलाये गये। मैंने इस प्रदर्शनी को राजनीति से अलग रखा। सब लोगों को आमंत्रित किया कि वे आकर देखें कि हाथ से किस तरह और कैसा सूत बन सकता है तथा खादी-प्रचार से गरीबों को कितना लाभ हो सकता है। सरकारी उच्च कर्मचारी भी खूब आये। उन्होंने खादी की प्रगति देखी। ऐसे लोगों में पटना हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस सर डासन मिलर प्रमुख थे। दूसरे हिन्दुस्तानी और अंगरेज जज, बिहार के गवर्नर की कौंसिल के मेम्बर सर ह्यू मैकफरसन तथा अनेकानेक उच्च कर्मचारी भी आये। चर्खे की जो प्रतियोगिता हुई उसमें मलखाचक गांधी-कुटीर (सारन) के दो लड़कों ने प्रथम पुरस्कार पाया। वे श्री रामविनोद सिंह के छोटे भाई थे। उनकी प्रगति घंटे में प्राय: 600 गज की थी। इन्हीं दोनों युवकों में से एक डाक्टर सत्यनारायण सिंह हैं जो पीछे योरोप में शिक्षित हो डाक्टर की डिगरी लेकर वापस आये और हिन्दी में अनेक ग्रंथों के रचयिता हुए। महीन सूत के कातने वालों ने प्राय: 300 नम्बर तक का सूत कातकर दिखलाया। उस समय तक जो प्रगति हुई थी, मैंने उसकी रिपोर्ट अपने भाषण में लोगों के सामने पेश कर दी। जहां तक मेरा अनुमान है, लोग बहुत संतुष्ट हुए। पारितोषिक-वितरण चीफ जस्टिस की पत्नी लेडी मिलर ने किया।

जो प्रदर्शनी बेलगांव में हुई उसका उद्घाटन करने का श्रेय मुझे मिला। शायद वह इसलिए मुझे मिला कि हमारे प्रांत में खादी का काम अच्छा चल रहा था । यद्यपि प्रदर्शनी में अन्य कलाओं के नमूने भी दिखलाये गये तथापि मैंने अपने भाषण में विशेषकर खादी के संबंध में ही कहा। मैंने इस पर जोर दिया कि यदि प्रचारक और पैसों की कमी न हो तथा लोग खादी खरीदें, तो सारे देश के लिए थोड़े समय में ही काफी खादी तैयार की जा सकती है।

इसी वर्ष में एक और छोटी-सी घटना हुई जो मेरे लिए एक पुण्यस्मृति है। पटना युनिवर्सिटी के समावर्तन-समारोह के अवसर पर सर जगदीशचन्द्र बोस दीक्षांत भाषण करने आये। मैंने उनको बिहार विद्यापीठ में निमंत्रित किया। जब मैं प्रेसिडेंसी कालेज (कलकत्ता) में पढ़ता था तब डाक्टर बोस ने मुझे पढ़ाया था। पर वह बहुत दिनों पहले की बात थी। वह भी ऊपर के दर्जों में—जैसे बी.एस-सी. अथवा एम.ए. में नहीं, एफ.ए. में ही मुझे उनसे पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसलिए, मैं नहीं समझता था कि उनको मेरे संबंध में कुछ याद होगा अथवा वह मुझे कुछ विशेष रीति से जानते होंगे। परंतु यह जानकर मेरे आह्लाद का ठिकाना न रहा, कि वह केवल मुझे अच्छी तरह याद ही नहीं रखते थे, बल्कि मुझ पर प्रीति भी रखते थे। वह खुशी से विद्यापीठ आये। वहां एक अत्यंत सुंदर, प्रोत्साहन देने वाला, ओजस्वी भाषण भी किया। मैंने अपने को कृतकृत्य माना। उसी प्रेम और विश्वास का परिचय अपने मरने के कुछ पहले उन्होंने दिया—बिहार में मद्यनिषेध के लिए एक बड़ी रकम दी और उसके सूद की आमदनी को खर्च करने का भार मुझे दिया। वह जैसे विज्ञान के विद्वानों में शिरोमणि थे वैसे ही सच्चे देशभक्त और त्यागी भी। मद्यनिषेध का काम, 1942 में मेरे जेल आने तक, मेरी निगरानी में, झरिया में होता रहा। लेडी अबला बोस मेरे पास रुपये भेजती रहीं। जब मैं जेल चला आया और काम करने वाले भी दमन में गिरफ्तार कर लिये गये तो जो रुपये मेरे पास बचे थे, मैंने लेडी बोस और ट्रस्टियों के पास वापस कर दिये। यह इसलिए भी आवश्यक हो गया कि मेरे नाम से जितने एकाउंट बैंक में थे उन पर गवर्नमेंट ने रोक लगा दी। इसलिए अब रुपये के बिना, विशेषकर मेरी गैरहाजिरी में, काम बंद हो ही जाता। मैंने सोचा कि रुपयों को अपनी जिम्मेदारी पर रखना उचित न होगा, विशेषकर जब इसका ठिकाना न था कि हम कब तक जेल में रहेंगे। मेरे लिखने पर गवर्नमेंट ने हिसाब के रुपयों को उनके पास भेज देने की इजाजत दे दी। अब प्रायः सोलह महीनों तक जेल में रहने के बाद, जब ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं, मैं सोचता हूं कि मैंने रुपये वापस कर देने का निश्चय करके ठीक ही किया। अफसोस केवल इतना है कि आचार्य बोस महोदय की इच्छा मैं पूरी न कर सका; पर इसमें मेरा कसूर नहीं है। भारतवर्ष में राजनीति कुछ ऐसी ही चीज है। इसमें पड़े हुए मनुष्य को बहुतेरे दूसरे आवश्यक और महत्वपूर्ण काम छोड़ने ही पड़ते हैं। यद्यपि आज गवर्नमेंट ने मद्यनिषेध संबंधी कांग्रेस मिनिस्ट्री की नीति को उलट

दिया है और झरिया में—जहां इन रुपयों से काम हो रहा था—फिर भी शराब की बिक्री होने लगी होगी, तथापि मुझे विश्वास है कि जब फिर हमको समय मिलेगा, उनकी इच्छा पूरी की जायेगी।

यहां एक और घटना का भी जिक्र कर देना अनुपयुक्त न होगा। खादी के काम करने वालों में एक युवक थे श्री बब्बन सिंह। सारन जिले के गोपालगंज सब-डिवीजन के कैथवलिया गांव के रहने वाले थे। बड़े भावुक थे। मुखतारकारी की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहे थे। परंतु देश की पुकार सुनकर वह विचार छोड़ खादी के काम में लग गये। घर के कुछ धनी नहीं थे। बहुत छोटी वृत्ति के आदमी थे। अपने पैसे से खादी और चर्खे का प्रचार उन्होंने शुरू कर दिया। अपनी जमीन तथा पत्नी के जेवर तक बेच डाले। इतना करने के बाद उन्होंने खादी बोर्ड से अपनी हालत कही। उस बोर्ड की ओर से उन्हें सहायता देने का निश्चय हुआ। इसी अवसर पर वह बीमार पड़ गये। उन्माद के लक्षण उनमें दीखने लगे। वह बार-बार कहते कि उनको सांप काट डालेगा। हमेशा चर्खा और खद्दर के गीत गाते रहते। कभी-कभी बिगड़ भी जाते, इसलिए लोगों ने उनको एक घर में बंद कर रखा था। एक दिन रात के समय चिल्लाकर कहने लगे कि सांप आ गया और वह उससे लड़ रहे हैं। पहले तो लोगों ने उसे पागल का प्रलाप ही समझा। पर जब लोगों ने जाकर देखा तो सचमुच एक गेहुंअन सांप को वह हाथ में पकड़े हुए थे। उसने उनको कई जगह काट लिया था। उन्होंने सांप को तो मार डाला, पर स्वयं भी कुछ देर में उसके विष से मर गये।

श्री बब्बन सिंह की स्त्री ने, उनकी बीमारी के आरंभ के दिन से ही, अन्न खाना छोड़ दिया था। जब चौबीसवें दिन उनकी मृत्यु हो गयी, उसने स्नानादि कर सती होने की इच्छा प्रकट की। लोगों ने ऐसा नहीं करने दिया। उनके शव को दाह-क्रिया के लिए ले गये। उसने बहुत जोर लगाया, पर लोगों ने उसे जबरदस्ती बंद कर रखा। उस समय वह शांत हो गयी। चुप रहने लगी। अपने घर मे, जिसका एक कोना बहुत अंधेरा था, रहा करती। उसी कोने में कुछ रूई और खादी रखी हुई थी। तीन-चार दिनों के बाद एक रात वह अपने घर में सोने गयी। बब्बन सिंह के दो भाई बाहर के घर में सोये। किसी ने कुछ संदेह न किया। सवेरे वह नहीं उठी। तब लोगों को संदेह हुआ। जब लोगों ने उस कोठरी के अंदर जाकर देखा तो पाया कि 'रामसूरत' (यही उसका नाम था) एक हाथ में गीता लिये और दूसरे हाथ पर टेक दिये बैठी है। बदन छूने पर मालूम हुआ कि पैर के अंगूठे से लेकर छाती तक शरीर जलकर खाक हो गया है और बाकी हिस्सा ज्यों का त्यों है। पीठ पर लटके हुए सिर के लम्बे केश कुछ जल गये थे, पर आंखों की पपनियों पर जलने का कुछ निशान न था। वहीं पर खादी और रूई भी यों ही बची पड़ी थी—उसके तन से तीन-चार फुट के अंदर दो तरफ। घर में जलावन की कुछ लकड़ी रखी गयी थी, जो गायब थी; पर वह इतनी नहीं थी कि उसके शरीर को खाक कर सके। इस तरह उस देवी ने अपना सतीत्व प्रमाणित करके देह-त्याग किया।

इस घटना की खबर पाकर मैं वहां गया। वहां के लोगों ने जैसी सब बातें कहीं, मैंने पत्रों में प्रकाशित करा दीं। घटना विचित्र थी। इसमें कुछ चमत्कार भी अवश्य था। बहुतेरे लोग उस स्थान के दर्शनों के लिए आये थे। मैंने भी, घर वालों को सांत्वना देने के अलावा, इस साध्वी के स्थान को देखकर अपने को धन्य माना।

60

देशबन्धु दास का देहावसान

देशबन्धु दास का स्वास्थ्य बेलगांव कांग्रेस के समय से ही खराब होने लगा। वह कुछ दिनों तक पटने में ही अपने भाई श्री प्रफुल्लरंजन (पी. आर.) दास के साथ आकर ठहरे थे। उस समय मैं उनसे अक्सर जाकर मिलता रहा। उन्होंने चर्खा चलाना सीखना प्रारम्भ किया। मुझसे कहा कि तुम खुद सिखाओ या सिखाने के लिए किसी आदमी को नियुक्त कर दो। इस संबंध में बातें करते-करते उन्होंने कहा कि इस प्रकार के काम में हमारा हाथ नहीं चलता और न बुद्धि ही ठीक चलती है—यदि मुझ पर छोड़ दिया जाये तो मैं शायद अपने ट्रंक का ताला भी ठीक नहीं खोल सकता। मैंने कई दिनों तक सूत-कताई सिखलायी। फिर जब मुझे कहीं बाहर जाना पड़ा तो एक दूसरे मित्र उनके पास इस काम के लिए जाया करते थे। पटने में उनसे राजनीतिक बातें भी हुआ करती थीं। इन्हीं दिनों लार्ड बर्केनहेड भारतमंत्री नियुक्त हुए थे। यों तो वह बड़े कट्टर कंसर्वेटिव (अनुदार दल के) और पक्के साम्राज्यवादी थे; पर देशबन्धु दास का विचार था कि वह प्रतिभाशाली और एकबग्गा मिजाज के भी हैं, हो सकता है कि हिन्दुस्तान के संबंध में वह कुछ कर जाना चाहें। इसलिए, कुछ भीतर-भीतर बात भी शायद चली। उनको बहुत आशा थी कि कुछ-न-कुछ उस वक्त हो जायेगा, जिससे भारत और इंग्लैंड के बीच सुलह-शांति हो सकेगी। वह यहां तक कहा करते कि बर्केनहेड से यदि मेरी आशा पूरी न हुई तो देश को उठाने के लिए हमारे सामने गांधीजी के चर्खे के सिवा और कुछ भी न रह जायेगा।

1923 के चुनाव में, जैसा पहले कहा गया है, स्वराज्य पार्टी ने भाग लिया था। दिल्ली में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन ने इसकी इजाजत दे दी थी; पर कौंसिल के कार्यक्रम को अपने हाथों में नहीं लिया था। इसलिए स्वराज्य पार्टी को उस चुनाव में उतनी सफलता नहीं मिली थी जितनी उसे कांग्रेस की मदद से मिलती; तो भी बंगाल और मध्यप्रदेश में उनकी एक अच्छी संख्या कौंसिल में पहुंची। इसी तरह, केंद्रीय असेम्बली में, दिल्ली में भी एक अच्छी संख्या में स्वराजी लोग चुने गये। यद्यपि यथेष्ट सफलता न हुई, तथापि कुछ अच्छे लोग कौंसिलों में पहुंच ही गये। उन्होंने वहां की कार्रवाइयों में एक नयी रीति और नयी दृष्टि

का समावेश कर दिया। मध्यप्रदेश में तो स्वराजियों का बहुमत था। वहां उन्होंने बजट और मंत्रियों के मुशाहरे को नामंजूर कर दिया। गवर्नर को मजबूर होकर मंत्रियों को हटाना और सारा अधिकार अपने हाथों में ले लेना पड़ा। इसी तरह, यद्यपि उनका बहुमत बंगाल में नहीं था, देशबन्धु दास के व्यक्तित्व और प्रयत्न के कारण, वहां का मंत्रिमंडल भी टूट गया। बंगाल के गवर्नर को भी सब अधिकार अपने ही हाथों में ले लेना पड़ा था। केंद्रीय असेम्बली में पंडित मोतीलालजी स्वराज्य पार्टी के नेता थे। दूसरे दल और विचार वालों के साथ मिलकर वहां भी बजट नामंजूर करा दिया गया। बड़े लाट को अपने विशेष अधिकार के द्वारा उसे मंजूर करना पड़ा। यह सिलसिला दो बरसों तक चलता रहा। बंगाल में देशबंधु ने दमन संबंधी बिल को भी नामंजूर करा दिया। इन सब बातों का असर देश के लोगों पर बहुत अच्छा पड़ा था। किंतु सरकारी अधिकारी वर्ग उतना ही नाराज भी हुआ था। महात्माजी के समझौते के कारणों में स्वराज्य पार्टी की यह सफलता भी एक मुख्य कारण थी। पर यह स्पष्ट था कि इस तरह की कार्रवाई बहुत दिनों नहीं चल सकती थी। केंद्रीय असेम्बली में जो दूसरे दलों के साथ बातचीत करके एक पार्टी बनायी गयी थी वह आहिस्ता-आहिस्ता कमजोर पड़कर टूट गयी। स्वराज्य पार्टी दूसरे दलों से अलग हो गयी। मध्यप्रदेश में भी भीतर-भीतर, स्वराजियों में ही, मंत्रिमंडल बनाने की कुछ मुंहामुंही होने लगी, जिसमें विशेषकर बरार प्रांत के कुछ सदस्य इसके मुख्य समर्थक थे। इन सब बातों को देखकर ही देशबन्धु दास, जो अनुभवी और दूरदर्शी दोनों ही थे, विचार कर रहे थे कि इस मौके पर यदि प्रतिष्ठापूर्वक कोई समझौता इंग्लैड के साथ हो जाये तो बहुत अच्छा होगा।

गवर्नमेंट ने नये आर्डिनेंस और 1918 के रेगुलेशन के अनुसार गिरफ्तारियां करके दिखा दिया था कि वह किसी तरह के क्रांतिकारियों को पनपने देना नहीं चाहती। यह नया आर्डिनेंस तथा ये गिरफ्तारियां, लेबर पार्टी (मजदूर दल) की मंजूरी से ही, जिसके प्रधानमंत्री श्री रामजे मैकडोनाल्ड थे, हुई थीं। लेबर पार्टी के चुनाव में हार जाने पर कंसर्वेटिव पार्टी (अनुदार दल) का मंत्रिमंडल बन गया था। उसी में लार्ड बर्केनहेड भारत-मंत्री बने थे। उन्हीं से देशबन्धु दास आशा रखते थे। उनके लिए देशबन्धु ने अपने जानते रास्ता भी साफ कर दिया। देशबन्धु जानते थे कि अंगरेजों को संदेह है कि बंगाल की स्वराज्य पार्टी और देशबन्धु दास भीतर-भीतर क्रांतिकारियों की मदद करते हैं। अंगरेजों के दिल में यह संदेह, गोपीनाथ साहा संबंधी उनके सिराजगंज वाले प्रस्ताव से, और भी पुष्ट हो गया था। देशबन्धु ने सोचा कि अंगरेज किसी प्रकार का समझौता उस वक्त तक नहीं करेंगे जब तक उनके दिल में यह संदेह बना रहेगा। यह बात उनको अंगरेजों से बातचीत करके मालूम हो गयी थी। इसलिए इसे दूर करना उन्होंने आवश्यक समझा। एक वक्तव्य प्रकाशित करके उन्होंने यह साफ-साफ कह दिया कि कांग्रेस या स्वराज्य पार्टी ने कभी उस नीति का समर्थन नहीं किया है, जिसमें हत्या जायज समझी जाती है और स्वराज्य पार्टी के विचार में इस प्रकार

की हत्याओं से स्वराज्य प्राप्ति के रास्ते में रोड़े पड़ जाते हैं; इसलिए वह न कभी पहले इसके समर्थक थे, न अब इसका किसी तरह समर्थन कर सकते हैं। साथ ही, उन्होंने स्वराज्य पार्टी की अड़ंगा-नीति को जायज बताया। और, जब तक समझौता द्वारा कुछ तय होकर अधिकार हस्तांतरित न हो जायें, उस नीति को जारी रखने की बात भी कह दी। इस वक्तव्य के पहले अंश से अंगरेज संतुष्ट हुए। यहां तक की लार्ड बर्केनहेड ने भी इस पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की; पर साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दुस्तानियों को विधान चलाने में सहयोग करना चाहिए, जब वे ऐसा करेंगे तभी राजनीतिक प्रगति हो सकेगी। देशबन्धु दास इतने पर भी बिलकुल निराश न हुए। उन्हीं दिनों फरीदपुर में बंगीय राजनीतिक सम्मेलन होने वाला था। देशबन्धु उसके सभापति चुने गये थे।

गांधीजी ने उन्हीं दिनों बंगाल की यात्रा की। प्रांतीय सम्मेलन (फरीदपुर) में वह भी शरीक हुए। देशबन्धु दास ने अपने भाषण में उन्हीं विचारों और उसी आशा को प्रकट किया। पर उनकी आशा पूरी न हुई! उनका स्वास्थ्य दिन-दिन बिगड़ता ही गया। वह दार्जिलिंग चले गये। महात्माजी भी वहां गये। जब वे दोनों दार्जिलिंग में थे, मैं भी जलपाईगुड़ी तक गया। मेरा उद्देश्य था गांधीजी को बंगाल से बिहार लाने का। इसीलिए मैं वहां तक गया भी। पर अपने स्वास्थ्य के कारण मैं पहाड़ पर नहीं गया। श्री मथुरा प्रसादजी को ही गांधीजी के पास भेजा। महात्माजी राजी भी हुए। पर इसी बीच में देशबन्धु की अचानक मृत्यु हो गयी। सारे देश में उनकी असामयिक मृत्यु से मुर्दनी छा गयी। उनका शव कलकत्ते लाया गया। वहां अभूतपूर्व दृश्य देखने में आया। इतने अधिक लोग जलूस में शरीक हुए कि शायद ही कभी किसी दूसरे जलूस में उतने हुए हों। महात्माजी भी कलकत्ते में आ गये। वह देशबन्धु-स्मारक के लिए रुपये जमा करने तथा बंगाल के राजनीतिक नेताओं से वहां की स्थिति सुलझाने के संबंध में बातें करने में लग गये। इसलिए कुछ दिनों तक उनका बिहार में आना न हो सका।

61

सामाजिक सुधार

उन्हीं दिनों मेरे घर में दो शादियां थीं। एक मेरी छोटी भतीजी 'रमा' की—लखनऊ के श्री विद्यादत्त राम के साथ, और दूसरी मेरे बड़े लड़के मृत्युंजय की—श्री ब्रजकिशोर प्रसादजी की छोटी लड़की 'विद्यावती' के साथ। लखनऊ की बरात बहुत तुजुक के साथ आयी थी। आदमी कुछ ज्यादा नहीं थे; पर बहुत प्रतिष्ठित घराने के होने के कारण उन लोगों की शान बहुत थी। सब प्रबंध हम लोगों को ही करना पड़ा था। भाईसाहब ने बहुत इंतजाम किया था। बाबू हरिजी ने इस शादी के ठीक होने में बड़ी मदद की थी। वे लोग उनके निकट संबंधी थे। हम लोग यह नहीं चाहते थे कि किसी को कोई शिकायत हो। इसलिए ठहरने के लिए खीमों और खान-पान के लिए बहुत ही नफासत का इंतजाम था। इसके ठीक उलटा, मृत्युंजय की शादी बड़े सादे तरीके से हुई। हमने तो अपने घर के तीनों लड़कों में से किसी की शादी में तिलक-दहेज नहीं लिया; पर तीनों लड़कियों की शादी में तिलक-दहेज काफी देना पड़ा था। कहीं-कहीं तो जबरदस्ती, इच्छा से अधिक, देना पड़ा था। इस संबंध में हमारे अनुभव हमेशा कटु रहे हैं। हमारे समाज में कुरीतियां काफी हैं। जब तक वे दूर नहीं होतीं, लड़की का होना और उसकी शादी की झंझट हमारे लिए दुखदायी साबित होती रहेगी। कायस्थों में, विशेषकर श्रीवास्तवों और अम्बष्ठों में, बहुत सुधार की जरूरत है।

कायस्थ कांफ्रेंस (अखिल भारतीय) का जन्म प्रायः कांग्रेस के साथ ही हुआ था। मेरा ख्याल है कि शायद पहले अधिवेशन में ही इस बात पर जोर दिया गया कि लड़की के पिता से कई नामों से तिलक-दहेज की रकमें लेने की प्रथा बहुत बुरी है, उसको रोकना चाहिए। प्रायः प्रत्येक अधिवेशन में इस आशय के प्रस्ताव पास किये गये हैं! पर जो कांफ्रेंस के कर्ता-धर्ता होते उनमें बहुतेरे स्वयं ही इस प्रस्ताव की अवहेलना करते! अनेक तो ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने कांफ्रेंस द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा को अधिक तिलक-दहेज लेने का कारण बना लिया! चूंकि कांफ्रेंस के सभापति अथवा अन्य उच्च पदाधिकारी होने के कारण कायस्थों में उनकी बहुत प्रतिष्ठा हो गयी, इसलिए उन्होंने अधिक पैसे उगाहे! इसलिए, कायस्थ कांफ्रेंस, सब जातीय कांफ्रेंसों में पुरानी होने पर भी, अपने उद्देश्यों की सिद्धि में बहुत सफल नहीं हुई है।

जब मैं 1916 में कलकत्ते से पटने में वकालत करने के लिए आया, उसके थोड़े ही दिनों के बाद कुछ कायस्थ मित्रों ने मुझसे एक प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत कराया। उसका आशय यह था कि लड़के की शादी में, प्रत्यक्ष वा परोक्ष रीति से, किसी नाम से, लड़की के पिता या दूसरे संबंधियों से, 51 रुपये से अधिक हम नहीं लेंगे। मेरा विचार इसके पक्ष में पहले से ही था। इसलिए मैंने खुशी से प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत कर दिया। भाईसाहब इस विषय में बहुत ही कट्टर विचार के थे। वह तो यह भी मानते थे कि जो कोई तिलक-दहेज अधिक लेता है या शादी में नाच-महफिल में अधिक खर्च करता है उसकी बरात में जाना ही न चाहिए। इसलिए, हमारे घर में इन शर्तों के मानने में कोई कठिनाई नहीं थी। तीन में से मेरी दो भतीजियों की शादी इसके पहले ही हो चुकी थी। उनमें हमको तिलक-दहेज देने पड़े थे। अब केवल एक लड़की ब्याहने को थी। पर तीन लड़के थे, जिनमें किसी की शादी नहीं हुई थी। इसलिए, जहां देने का सवाल था वहां तो हम घाटे में रहे, और जहां कुछ पाने की आशा की जा सकती थी वहां भी हमने प्रतिज्ञा करके उसका रास्ता ही बंद कर दिया! पर यह हमने किया जान-बूझकर। उसी प्रतिज्ञा के कारण तीनों लड़कों की शादियां नयी रीति से, बिना तिलक-दहेज और बिना नाच-तमाशे के, हुईं। पर कन्या-पक्ष के होने के कारण हमें तीनों लड़कियों की शादियों में तिलक-दहेज देने पड़े। हमें उन सभी यातनाओं को भोगना पड़ा, जो हमारे समाज में लड़की के पिता और अभिभावकों को भोगनी पड़ती हैं।

इसके बाद, उसी साल के अंत में (1925 के दिसम्बर में), जब मैं कायस्थ कांफ्रेंस के जौनपुर अधिवेशन का सभापति चुना गया तो मैंने उसे इसलिए स्वीकार कर लिया कि शायद वहां जाकर कम-से-कम इस कुप्रथा को रोकने में कुछ कृतकार्य हो सकूं। वहां उस कांफ्रेंस में दो प्रस्ताव, पुराने होने पर भी, मार्के के हुए। एक तो तिलक-दहेज संबंधी था जिसमें हमने प्रतिज्ञा को और भी कड़ा बना दिया। उसी प्रस्ताव में ऐसी शादी में, जहां प्रस्ताव का उल्लंघन होता हो, शरीक न होने की भी प्रतिज्ञा जोड़ दी गयी। दूसरे में, कायस्थों के विभिन्न वर्गों और शाखाओं में रोटी-बेटी के व्यवहार जारी करने पर जोर दिया गया। जहां तक मैं जानता हूं, तिलक-दहेज की प्रथा तो उसके बाद भी जारी रही। शायद जारी रहेगी भी; क्योंकि आज के अनेक युवक तो शादी की शर्तों में कहीं-कहीं अपनी शिक्षा'विशेषकर विदेश की शिक्षा—के खर्च की मांग भी पेश कर देते अथवा दूसरी फरमाइशें स्वयं कर देते हैं। इसलिए यह आशा भी नहीं की जा सकती कि पुराने विचार वाले बड़े-बूढ़े जब गुजर जायेंगे तो इस सुधार का रास्ता साफ हो जायेगा; क्योंकि जिन पर आगे की आशा की जा सकती थी उनमें बहुतेरे तो पुरानों से भी अधिक व्यापार-बुद्धि रखने वाले साबित हो रहे हैं! पर यह संतोष का विषय है कि अंतर्वर्गीय विवाह कायस्थों में होने लगे हैं। अब कोई इस बात के मानने में नहीं झिझकता कि लड़के या लड़की की शादी किसी दूसरी शाखा के वंश में करना भी उचित और ग्राह्य

है। अब तो कम उम्र की छोटी विधवाओं की शादी भी हो जाती है। उस समय तक इस संबंध में मेरे विचार साफ नहीं हुए थे। पर इसके बाद ही मैंने भी मान लिया कि विधवा-विवाह, विशेषकर छोटी उम्र की लड़कियों का, होना अनिवार्य है। ऐसी कुछ शादियों में अपनी सम्मति देकर मैंने प्रोत्साहन भी दिया है।

62

बिहार में महात्मा गांधी का दौरा और कौंसिल का चुनाव

पहले कहा जा चुका है कि बेलगांव कांग्रेस ने उस समझौते को मंजूर कर लिया था जिसके अनुसार कांग्रेस की नियमावली में परिवर्तन करके कांग्रेस-सदस्य बनने के लिए पैसे के बदले में दो हजार गज सूत देना और कांग्रेस संबंधी अवसरों पर खादी पहनना अनिवार्य कर दिया था। कुछ लोग इसके गहरे विरोधी थे। कांग्रेस के बाहर के लोग, जिनसे कांग्रेस में शरीक होने की आशा की जाती थी, इसके विरुद्ध थे ही। कांग्रेस के अंदर भी एक जमात थी जो इसका पूरा विरोध करती थी। स्वराज्य पार्टी ने इसे मंजूर कर लिया था; पर उसके कुछ मुख्य सदस्य ऐसे थे जिन्होंने इसे कभी दिल से स्वीकार नहीं किया था। बेलगांव के बाद भी यह कहा जाता रहा कि सूत और खादी की शर्त लगाकर कांग्रेस ने अपने क्षेत्र को और भी संकुचित कर दिया—अब उसके सदस्यों की संख्या बहुत कम होकर रहेगी। गांधीजी की आशा थी कि सब लोग मिलकर यदि जोर लगावेंगे तो बहुतेरे चर्खा चलाने वाले हो जायेंगे, और यदि सदस्यों की संख्या कम भी होगी तो जो रह जायेंगे वे पक्के और काम करने वाले होंगे जिन पर पूरा भरोसा किया जा सकेगा। पर यह आशा पूरी न हुई! बहुत प्रयत्न के बाद भी कांग्रेस के सदस्यों की संख्या बहुत कम हो गयी। गांधीजी इससे प्रभावित हुए। उन्होंने यह विचार प्रकट कर दिया कि स्वराज्य पार्टी वाले अगर चाहें तो उनको वह समझौते की शर्तों से मुक्त कर देंगे और केवल सूत की जगह सूत अथवा चार आने पैसे कांग्रेस की मेम्बरी के शुल्क के रूप में दिया जाना मंजूर कर लेंगे। पर गांधीजी इस बात पर राजी होना नहीं चाहते थे कि सूत की बात एकदम उठा दी जाये और—जैसा कुछ लोग चाहते थे—खद्दर की शर्त भी उठा दी जाये। उन्होंने पंडित मोतीलाल जी के साथ बातें कीं। यह निश्चय हुआ कि नियमावली में फिर संशोधन कर दिया जाये; साथ ही यह भी तय हो जाये कि जो रुपये खादी के काम में लगे हैं वे उसी काम में लगे रहें, और खादी प्रचार के लिए एक अलग संस्था कायम कर दी जाये जो कांग्रेस का अंग होते हुए भी स्वतंत्र हो, तथा स्वराज्य पार्टी को कांग्रेस के राजनीतिक कार्यक्रम के चलाने का पूरा अधिकार दे दिया जाये।

महात्मा गांधी कुछ दिनों के बाद बंगाल का काम पूरा करके बिहार का दौरा करने के लिए आये। बिहार के दौरे का आरम्भ छोटानागपुर से ही किया गया। इसका विशेष कारण

यह था कि बिहार प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन उस साल पुरूलिया में, शाह मुहम्मद जुबैर के सभापतित्व में, होने वाला था। वहां के लोगों ने बहुत उत्साह के साथ तैयारियां की थीं। छोटानागपुर में प्रांतीय सम्मेलन का यह पहला ही अधिवेशन हो रहा था। उन लोगों की प्रबल इच्छा थी कि महात्माजी भी वहां पधारें। गांधीजी ने इसे मंजूर कर लिया। एक तरह से उनकी यात्रा वहीं से शुरू हुई। इसके कुछ पहले ही महात्माजी एक बार जमशेदपुर आ गये थे। वहां मजदूर संगठन में देशबन्धु दास दिलचस्पी ले रहे थे। वहां यूनियन (संघ) भी कायम हुआ था। पर अभी तक उसको ताता कम्पनी ने मंजूर नहीं किया था। इस समय, देशबन्धु के बाद, श्री दीनबन्धु एंडरूज उसके सभापति चुने गये थे। उनके अनुरोध से महात्माजी ने वहां जाना मंजूर कर लिया था। कम्पनी के मैनेजिंग डाइरेक्टर श्री आर. डी. टाटा वहां आये। कम्पनी की ओर से महात्माजी का बड़ा स्वागत हुआ। मैं भी महात्माजी के साथ था। दो दिनों तक वहां ठहरकर उन्होंने कारखाने को भी खूब देखा। डाइरेक्टरों से बातें भी कीं। नतीजा इसका यह हुआ कि यूनियन को ताता कम्पनी ने मान लिया; मजदूर-मेम्बरों के मुशाहरे से काटकर उसका चंदा जमा कर देने का भी वचन दिया। जो दूसरी शिकायतें थीं उनको भी दूर कर दिया। हर तरह से यह यात्रा बहुत सफल रही।

पुरूलिया का सम्मेलन बहुत समारोह के साथ हुआ। महात्माजी बम्बई की तरफ से आये। उनको हमने 'सीनी' में डाकगाड़ी से उतारा। समय की बचत के लिए, वहां से पुरूलिया तक उन्हें एक स्पेशल ट्रेन से ले आये। सम्मेलन में विशेषता यह थी कि एक अच्छी प्रदर्शनी उसके साथ हुई थी जिसका उद्घाटन गांधीजी ने किया था। सम्मेलन समाप्त करके गांधीजी ने छोटानागपुर की यात्रा आरम्भ कर दी। उमीद थी कि वह सारे सूबे का दौरा कर सकेंगे। मैंने देखा है कि महात्माजी जब कभी दौरा करने निकलते हैं तो लोगों की इच्छा रहती है कि वह अधिक-से-अधिक स्थानों में ले जाये जायें ताकि वहां की जनता उनके दर्शनों से लाभ उठा सके। यह एक प्रकार से स्वाभाविक भी है; पर यह कहीं-कहीं अंदाज से अधिक हो जाता है। मुझे मानना पड़ता है कि इस प्रवृत्ति का शिकार, चाहे अपने मन से या मित्रों के अनुरोध से, मैं भी हो चुका हूं। जो यात्राक्रम बनाया गया वह बहुत ही कड़ा बना। महात्माजी का स्वास्थ्य, जो महीनों के दौरे से पहले ही क्षीण हो गया था, उसे बर्दाश्त न कर सका। हमने यात्रा को दो भागों में बांटा था—पहले में छोटानागपुर, दूसरे में बिहार के अन्य जिले। छोटानागपुर की यात्रा समाप्त करके पटने में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक के लिए कुछ ठहरना और फिर दूसरे जिलों में जाना था। छोटानागपुर की यात्रा में ही महात्माजी बहुत थक गये। अंतिम दिन, हजारीबाग जिले का काम समाप्त करके 'कोडरमा' स्टेशन पर रेल में सवार होते-होते, वह बेहोश-से हो गये। मैं भी साथ था। किसी भी प्रकार से भीड़-भाड़ को रोकना कठिन हो रहा था। उनकी तबीयत कितनी ज्यादा खराब हो गयी है, इसका भी पूरा पता हम लोगों को न था। अब बात खुल गयी। हमने बिहार के

बाकी कार्यक्रम को कुछ समय के स्थगित कर दिया। महात्माजी को पटने में, गंगाजी के किनारे एक कोठी में, कुछ दिनों तक आराम करने के लिए, ठहराने का निश्चय किया। इससे उनको बहुत लाभ पहुंचा। बिहार के लोग जहां-तहां से आकर दर्शन भी करते रहे।

उसी समय अखिल भारतीय कमिटी की बैठक पटने में हुई जिसमें यह निश्चय हुआ कि कांग्रेस की नियमावली में संशोधन और उपरोक्त परिवर्तन कर दिया जाये। इस बात की भी इजाजत हो गयी कि कांग्रेस का सारा राजनीतिक प्रोग्राम, जिसमें कौंसिलों का चुनाव भी शामिल था, स्वराज्य पार्टी ही पूरा करे; कांग्रेस की ओर से उमीदवार खड़े किये जायें और इसके प्रबंध का भार स्वराज्य पार्टी के नेता पंडित मोतीलाल नेहरू लें। वहीं यह भी तय हुआ कि कांग्रेस के जो रुपये खादी-प्रचार के काम मे लगे हैं वे—कांग्रेस से सम्बद्ध, पर अपने काम के लिए स्वतंत्र—एक नयी संस्था को सौंप दिये जायें। इस तरह अखिल भारतीय चर्खा संघ का जन्म हुआ। उसका विधान गांधीजी ने बनाया। उसके कई आजीवन ट्रस्टी वा प्रबंधकारिणी के सदस्य हुए। उनमें एक मैं भी हुआ और आज तक हूं। महात्माजी सभापति हुए। इसके अलावा, प्रत्येक सूबे के काम की देख-रेख करने के लिए एक एजेंट नियुक्त किया गया। उसकी सहायता के लिए प्रांतीय मंत्री की भी नियुक्ति हुई। बिहार के लिए मैं एजेंट नियुक्त हुआ, युक्तप्रांत के लिए पंडित जवाहरलाल, बंगाल के श्री सतीशचन्द्र दास गुप्त, तमिलनाडु के श्री राजगोपालाचारी प्रभृति। इस प्रकार यह संघ, एक प्रकार से स्वतंत्र होकर, खादी-प्रचार का काम करने लगा। इसने पिछले सत्रह-अठारह बरसों में खादी-प्रचार में और उसकी कला की उन्नति में बहुत बड़ा काम किया है। जब ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं, अगर सरकार इसके कारबार को जहां-तहां तहस-नहस न कर दिये होती तो, आज कपड़े की महंगी के दिनों में इसकी उपयोगिता और भी देखने में आती। इतने दिनों में इसने करोड़ों रुपये गरीबों को, विशेषकर उन गरीब स्त्रियों को जो दूसरा कोई काम नहीं कर सकती थीं, मजदूरी के रूप में बांटा है।

जब यह निश्चय कर लिया गया कि कांग्रेस की ओर से चुनाव की लड़ाई लड़ी जाये, तो पंडितजी ने मुझसे कहा कि बिहार का भार तुमको संभालना होगा। यद्यपि मैं इस विषय में अपने वही विचार रखता था जो पहले थे, फिर भी मैंने सोच लिया कि कांग्रेस ने जब निश्चय कर लिया है तो उसकी जीत कराने में यथासाध्य प्रयत्न कर देना ही हमारा धर्म है। मैंने पंडितजी को वचन दे दिया और वह निश्चिंत हो गये।

उसके छोड़े ही दिनों बाद सबसे पहले कौंसिल आफ स्टेट का चुनाव हुआ। उसमें बिहार के एक मुसलमान और तीन गैर-मुस्लिम सदस्य चुने जाने को थे। मुस्लिम स्थान के लिए शाह मुहम्मद जुबैर और गैर-मुस्लिम स्थानों के लिए सर्वश्री श्रीकृष्ण सिंह, अनुग्रहनारायण सिंह और मेरे भाई बाबू महेन्द्र प्रसाद खड़े किये गये। विरोधियों में दरभंगा के महाराजाधिराज और डुमरांव के महाराजाबहादुर प्रभृति थे। चुनाव में परिश्रम काफी पड़ा;

क्योंकि मत देने वाले विशेषकर धनी वर्ग के—जमींदार, महाजन और व्यापारी थे। उनकी संख्या बहुत नहीं थी, पर उनको किसी एक स्थान में आकर मत नहीं देना था। वे स्वयं भी किसी सरकारी उच्च पदाधिकारी के सामने कागज पर दस्तखत करके अपना सम्मति-पत्र डाक से भेज सकते थे। इसलिए एक प्रकार से कागज बटोरने की होड़-सी लग गयी। मतदाताओं के पास कागजों के पहुंचने के बाद जितना जल्द उनसे दस्तखत कराकर अपने पक्ष में भिजवाया जा सके उतनी अधिक सफलता की आशा हो सकती थी। इसके अलावा, उड़ीसा भी बिहार के साथ था; वहां के वोट भी बटोरने थे! हम लोगों के प्रयत्न से शाह जुबैर साहब, बाबू अनुग्रहनारायण सिंह और बाबू महेन्द्र प्रसाद चुन लिये गये। चौथी जगह में दरभंगा के महाराजाधिराज चुने गये। श्रीबाबू के हारने का हम लोगों को काफी अफसोस रहा; पर लाचारी थी। यह सब 1925 का अंत होने के पहले ही हो चुका था।

63

स्वराज्य पार्टी में मतभेद और कानपुर कांग्रेस

ऊपर उस प्रयत्न का जिक्र आया है जो सब दलों को कांग्रेस में शरीक करने के लिए किया गया था। यह भी कहा गया है कि बेलगांव कांग्रेस के पहले ही अखिल भारतीय कमिटी ने असहयोग को स्थगित करके केवल विदेशी वस्त्र-बहिष्कार को जारी रखा था। साथ ही उसने रचनात्मक कार्यक्रम पर भी जोर दिया था। कांग्रेस की ओर से कौंसिलों में राजनीतिक काम करने का अधिकार स्वराज्य पार्टी को दे दिया गया था। इससे आशा की जाती थी कि दूसरे दल वाले कांग्रेस में आ जायेंगे। जो सर्व-दल सम्मेलन बम्बई में हुआ उससे आशा और भी बढ़ी थी। पर खेद है कि यह आशा पूरी न हुई। सर्व-दल सम्मेलन ने जो सब-कमिटी नियुक्त की थी वह किसी नतीजे पर न पहुंच सकी। अपनी असफलता घोषित करके वह चुप बैठ गयी! पर इसके बाद भी किसी-न-किसी रूप में मिलाप की चर्चा होती ही रही। नरम दल वालों और जिन्ना जैसे लोगों को दो-तीन बातों की शिकायत थी। एक बात तो यह थी कि कांग्रेस ने यद्यपि उस वक्त असहयोग स्थगित कर दिया था, तथापि उसने उसे एकबारगी हमेशा के लिए छोड़ नहीं दिया था। कांग्रेस के असहयोग और सत्याग्रह को हमेशा के लिए छोड़ देने की बात तो दूर रही, उनके लिए तो वह देश को तैयार करना चाहती थी, और इस विषय में अपरिवर्तनवादी तथा स्वराजी दोनों सहमत थे। इन दोनों में मतभेद इस विषय में नहीं था—जो भेद था वह यह था कि कौंसिलों के द्वारा देश को तैयार करने में मदद मिलेगी या बाधा पड़ेगी? अपरिवर्तनवादी लोग कौंसिल के कार्य को सत्याग्रह के रास्ते में बाधक समझते थे। स्वराजी लोग कौंसिलों को भी देश की तैयारी में लगाना चाहते थे। दूसरी बात यह थी कि कांग्रेस खादी और चर्खे के प्रचार पर बहुत जोर ही नहीं देती थी, बल्कि उसने बेलगांव में खादी पहनने को—कम-से-कम कांग्रेस के काम मे लगे रहने के समय—अनिवार्य कर दिया था। उसने मेम्बरी के लिए सूत कातना भी अनिवार्य कर दिया था। कांग्रेस के बाहर के लोग न तो चर्खे में विश्वास करते थे और न खादी पहनने की जरूरत ही महसूस करते थे। कांग्रेस के अंदर भी कुछ लोग इस विचार के थे, जिनमें मुख्यतः महाराष्ट्र के कुछ लोग थे; पर उनकी संख्या थोड़ी थी। तीसरी चीज, जिससे बाहरी लोग घबराते थे, यह थी कि कांग्रेस ने कौंसिल के काम का भार और अधिकार स्वराजियों को सौंप

दिया है। बाहरी लोगों में अधिक ऐसे ही लोग थे जो इन कौंसिलों को विशेष महत्व देते थे। वे यह समझने लगे कि कांग्रेस के अंदर जाकर भी वे इन कौंसिलों में अपने लिए स्थान सुरक्षित न कर सकेंगे और न वहां अपनी नीति किसी प्रकार चला सकेंगे; क्योंकि वहां तो नीति स्वराजियों की ही चलेगी। वे उस अड़ंगा-नीति को पसंद नहीं करते थे और यह मानते थे कि मंत्रिमंडल में सबको भाग लेकर विधान को काम में लाना चाहिए। इसलिए जो कुछ थोड़ी-बहुत आशा कभी-कभी अंकुरित भी हुई, वह इन मौलिक मतभेदों के कारण शीघ्र ही मुर्झा गयी। पटने में अखिल भारतीय कमिटी ने, सितम्बर 1925 में, स्वराज्य पार्टी को ही कांग्रेस का संगठन एक प्रकार से सुपुर्द कर दिया। अब बाहर के लोगों का कांग्रेस में शरीक होना और भी कठिन हो गया।

ऊपर यह भी कहा जा चुका है कि स्वराज्य दल के अंदर, विशेषकर मध्यप्रदेश में, जहां असेम्बली में उनका बहुमत था, देशबन्धु दास के अंतिम दिनों में ही, मंत्रिमंडल के संबंध में कुछ कानाफूसी होने लगी थी। उनकी मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद यह बात खुल गयी कि वहां के कुछ लोग मंत्रिपद-ग्रहण के पक्ष में थे। अभी मंत्रिमंडल तो वहां न बन सका; पर एक प्रमुख स्वराजी श्री तांबे ने—जो स्वराज्य पार्टी की ओर से असेम्बली के मेम्बर और उसी पार्टी की ओर से खड़ा करके असेम्बली के प्रेसिडेंट चुनवाये गये थे—वहां के गवर्नर की एग्जिक्युटिव कौंसिल की मेम्बरी मंजूर कर ली। उन्होंने ऐसा करने के पहले न अपने साथियों की सम्मति ली, न पार्टी की और न उससे इस्तीफा ही दिया। इससे पार्टी में बड़ी खलबली मची। पंडित मोतीलालजी नेहरू ने सख्त रुख अख्तियार किया। उधर महाराष्ट्र के श्री नृसिंह चिन्तामणि केलकर ने श्री तांबे का समर्थन किया। श्री जयकर ने भी एक प्रकार से—उनका नहीं, पर पद-ग्रहण का—समर्थन ही किया। मध्यप्रदेश में श्री अभ्यंकर ने जोरों से इसकी निंदा की। डाक्टर मुंजे और श्री अभ्यंकर में बड़ा मतभेद हो गया। ये सब लोग स्वराज्य पार्टी के प्रमुख व्यक्तियों में थे; इसलिए यह गृह-कलह बहुत बढ़ गया। महाराष्ट्र में श्री केलकर और श्री जयकर ने प्रतिक्रियात्मक सहयोग का प्रचार आरम्भ किया। पंडित मोतीलालजी नेहरू पार्टी की अड़ंगा-नीति पर डटे रहे और उसका प्रचार करने लगे।

इसी मतभेद के जमाने में कानपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। सभानेत्री श्रीमती सरोजिनी नायडू चुनी गयीं। एक बरस पहले वह दक्षिण अफ्रिका से लौटी थीं। वहां उन्होंने बहुत काम करके बड़ा नाम हासिल किया था। यदि गांधीजी का वश चलता तो वह शायद उनको बेलगांव कांग्रेस में ही सभानेत्री बनाते; पर लोगों के अनुरोध को मानकर उन्होंने सभापतित्व स्वीकार कर लिया था। एक प्रकार से बेलगांव के पहले से ही, सब लोगों के दिल में, कानपुर कांग्रेस के उस उच्च पद के लिए, सरोजिनी देवी चुनी जा चुकी थीं।

कानपुर कांग्रेस की विशेषता यह थी कि स्वराज्य पार्टी को ही कार्यक्रम देना था। इसलिए पंडित मोतीलालजी की राय से ही वर्किंग कमिटी ने कांग्रेस की विषय निर्वाचिनी

समिति के वास्ते प्रस्ताव तैयार किया था। दक्षिण अफ्रिका में हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध जो नया कानून बन रहा था उसका विरोध किया गया। एक दूसरे प्रस्ताव में, बरमा में भी जो हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध कार्रवाई हो रही थी उसकी निंदा की गयी। पर सबसे महत्व का प्रस्ताव वह था जिसका संबंध कौंसिलों से था। उसमें यह कहा गया कि असेम्बली में प्रस्ताव पास करके देश की ओर से जो स्वराज्य की मांग पेश की गयी है उसे मानकर ब्रिटिश गवर्नमेंट को उसी के अनुसार विधान बनाना चाहिए। यदि वह ऐसा न करने की इच्छा प्रकट कर दे, अथवा फरवरी के अंत तक इसके संबंध में कुछ न कहे, अथवा जो कुछ कहे वा करे वह संतोषजनक न हो, तो कौंसिलों के स्वराजी मेम्बर अपने बयान देकर वहां से चले आवें और जब तक फिर आज्ञा न हो, वापस न जायें और तब रचनात्मक कार्यक्रम में लग जायें। विरोधियों का कहना था कि 1926 की जनवरी से मार्च तक जो बैठक, प्रांतीय और केंद्रीय असेम्बली की, होने वाली थी वही प्रायः अंतिम बैठक थी जिसमें—1926 में होने वाले चुनाव के पहले—स्वराजी लोग शरीक हो सकते थे; इसलिए वे अगर निकलते हैं तो इसी बैठक के अंतिम कई दिनों के इजलास में शरीक न हो सकेंगे, यह कोई विशेष महत्व की बात न होगी। हां, अगर निकलना ही है तो हमेशा के लिए निकल आते तो एक बात होती।

जो हो, कांग्रेस ने यही निश्चय किया, जिसका अर्थ प्रतिक्रियात्मक सहयोगवादियों ने यह लगाया कि फिर एक प्रकार से असहयोग हौले-हौले कांग्रेस-कार्यक्रम में दाखिल होने लगा और इस अवस्था में उनका कार्यक्रम चल नहीं नहीं सकेगा। इसलिए श्री जयकर, श्री केलकर और डाक्टर मुंजे प्रभृति कौंसिल से इस्तीफा देकर अलग हो गये। उन्होंने प्रतिक्रियात्मक सहयोगवादियों की नयी पार्टी कायम की। मेरा निजी विचार हमेशा यह रहा है कि हमको अगर कौंसिलों में जाना ही हो तो वहां जाकर विधान के अनुसार जो कुछ हम कर सकते हों, करना चाहिए। मैं अड़ंगा-नीति को कभी समझ न सका। इस समय भी मेरा विचार यही था कि जब स्वराजी लोग वहां गये हैं तो वहां काम करना चाहिए, केवल अड़ंगा नहीं लगाना चाहिए। पर, साथ ही, मैं यह भी मानता था कि वहां जाना ही बेकार है; क्योंकि जो अधिकार 1920 के विधान के अनुसार मिले थे वे बिलकुल संतोषप्रद नहीं थे। वहां जाने से देश में बुद्धिभेद फैलने के सिवा दूसरा कोई फल नहीं निकल सकता। असहयोग, जनता की विचारधारा को, ब्रिटिश गवर्नमेंट और उसकी संस्थाओं की ओर से मोड़कर, जनता की अपनी स्थापित संस्थाओं की ओर खींचना चाहता था। इस प्रकार वह जनता में रचनात्मक शक्ति जाग्रत करना चाहता था। कौंसिल-प्रवेश इस धारा को फिर सरकारी संस्थाओं की ओर मोड़ता था। इसलिए मेरे विचार से वहां जाना हितकर नहीं था। पर अगर कोई जाना ही पसंद करे तो उसको वहां से जो थोड़ा-बहुत लाभ मिल सके उसे देश के लिए लेना चाहिए। स्वराजी लोगों का विचार था कि कौंसिलों से बाहर रहकर असहयोग तभी किया जा सकता है जब कोई कौंसिलों में जाने वाला न मिले। पर ऐसा हो नहीं सकता। दूसरे प्रकार का

असहयोग अंदर से किया जा सकता है और उसका रूप यही हो सकता है कि अड़ंगा लगाकर विधान का छकड़ा न चलने दिया जाये। ऐसा उन्होंने किया भी। बंगाल और मध्यप्रदेश में मंत्रिमंडल नहीं चल सका। स्वयं गवर्नर को ही मंत्रियों के अधिकार अपने हाथों में लेने पड़े थे। केंद्रीय असेम्बली में बहुमत न होने पर भी दूसरे दलों को मिलाकर उन्होंने बजट नामंजूर करा दिया और वायसराय को उसे अपने विशेष अधिकार द्वारा मंजूर करना पड़ा था। इस तरह जो कुछ अड़ंगा-नीति से हो सकता था, उन्होंने कर दिखाया था और देश पर इसका असर अच्छा पड़ा था।

जो हो, मैं तो कौंसिल-प्रवेश का विरोधी था। ऐसी अवस्था में वहां कौन नीति बरती जाये, इसका फैसला करने वाला मैं नहीं हो सकता था। मैंने सोच लिया कि जो लोग वहां गये हैं वे ही इसका फैसला करें; उनकी राय से जो नीति कांग्रेस इस संबंध में स्वीकार करे उसे ही मुझे भी मान लेना चाहिए; उस नीति के चलाने में जो सहायता मैं दे सकूं, मुझे देना चाहिए। महात्माजी शायद इस हद तक स्वयं जाने को तैयार नहीं थे; क्योंकि उन्होंने कहा था कि यद्यपि स्वराजियों के ख्याल से कांग्रेस ने कौंसिल का बहिष्कार छोड़ दिया था तो भी कांग्रेस किसी को कौंसिल के लिए वोट देने अथवा अन्य प्रकार से उसकी मदद करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। मैं इससे कुछ आगे बढ़ता था और सोचता था कि जब कांग्रेस ने एक बार कौंसिल-प्रवेश का कार्यक्रम अपने हाथों में ले लिया, तो मेरे निजी विचार चाहे जो हों, मुझे यथासाध्य उस कार्यक्रम को सफल बनाने (अर्थात चुनाव) में मदद कर देना चाहिए। इसी नीति के अनुसार मैंने काम भी किया। चुनाव मे पूरी शक्ति लगाकर खूब दौड़-धूप भी की।

कानपुर में भी स्वदेशी प्रदर्शनी हुई थी। वहां हिन्दुस्तानी सेवा-दल का अच्छा संगठन था। एक दिन यह खबर फैल गयी कि कांग्रेस के पड़ाव में कुछ लोग आग लगा देने वाले हैं। सेवा-दल वालों ने डाक्टर हर्डीकर के नेतृत्व में चौकी लगायी। अधिवेशन सफलतापूर्वक, बिना किसी उपद्रव के, समाप्त हुआ। वहां एक और घटना हुई थी। अजमेर कांग्रेस का एक सूबा समझा जाता था। विधान में उसे भी और सूबों की तरह प्रतिनिधि चुनने का अधिकार था। वहां के चुनाव के संबंध में कुछ शिकायत थी। वहां के चुनाव को वर्किंग कमिटी ने रद्द कर दिया था जिस पर कुछ लोग रुष्ट होकर श्री अर्जुनलाल सेठी के नेतृत्व में कांग्रेस में या तो जबरदस्ती घुसना चाहते थे अथवा दूसरों को वहां जाने से रोकना चाहते थे। इस नाजुक परिस्थिति में भी सेवा-दल को काम करना पड़ा था।

64

कांग्रेस में एक स्वतंत्र दल

कांग्रेस के निश्चय के अनुसार, मार्च के महीने में जब कोई संतोषजनक उत्तर न मिला तब, अखिल भारतीय कमिटी ने तय किया कि स्वराज्य पार्टी के लोग केंद्रीय असेम्बली और प्रांतीय कौंसिलों से निकल आवें। उन्होंने एक निश्चित तिथि पर ऐसा ही किया भी। पंडित मोतीलालजी ने, जो स्वराज्य पार्टी के नेता थे, असेम्बली में एक वक्तव्य दिया। उसमें इस निश्चय के कारणों को बताकर इसका समर्थन किया। उसी तरह, अन्य सूबों के लोगों ने भी किया। स्वराज्य दल से सभी कौंसिलें खाली हो गयीं। निश्चय किया गया था कि जो लोग बाहर निकलेंगे वे अपना समय रचनात्मक काम और कांग्रेस के सिद्धांतों तथा कार्यक्रम के प्रचार मे लगायेंगे। कुछ ने ऐसा किया; पर बहुतेरे लोग अपने निजी मनमाने काम में ही लगे रहे। इसी साल के अंत में फिर नये चुनाव होने वाले थे। इस बीच में कुछ दुखद घटनाएं हो गयीं जिनका जिक्र कर देना आवश्यक है।

हिन्दू-मुस्लिम झगड़े कई बरसों से चले आ रहे थे। हिन्दू सभा की ओर से, विशेषकर आर्य समाज की ओर से, शुद्धि और संगठन पर जोर दिया जा रहा था। उधर मुसलमानों ने भी तबलीग और तंजीम का आन्दोलन जारी कर दिया था। कटुता बढ़ती ही गयी थी। कोहाट के दंगे का जिक्र हो चुका है और यह भी कहा है कि महात्मा गांधी को वहां जाने से गवर्नमेंट ने रोक दिया था। पीछे महात्माजी और मौलाना शौकत अली इस संबंध में जांच करने के लिए रावलपिंडी गये। वहां से आगे जाने की इजाजत न थी, इसलिए वहीं लोगों को बुलाकर यथासंभव जांच की गयी। कुछ बातों में दोनों में एक मत न हो सका। जब जुदा-जुदा रिपोर्टें छपीं तो मालूम हुआ कि जो दो आदमी बराबर एक राय कई बरसों से रखा करते थे उनका भी इस विषय में मतैक्य न हो सका। महात्माजी ने अपने तरीके से लिखा भी कि इससे लोगों को यह न समझना चाहिए कि हम दोनों के आपस के संबंध और व्यवहार में किसी प्रकार का फर्क पड़ा है, बल्कि लोगों को यह समझना चाहिए कि ये लोग हमेशा केवल हां में हां नहीं मिलाया करते, कहीं-कहीं मतभेद भी रख सकते हैं। चाहे इन दोनों सज्जनों के भावों में अंतर न पड़ा हो, पर इसका असर देश पर अच्छा नहीं पड़ा। वह समस्या अधिक जटिल होती गयी। राजनीतिक मतभेद थे ही। महात्माजी एक प्रकार से सभी राजनीतिक

कामों से अलग हो गये। उनका स्वास्थ्य भी बहुत खराब हो गया था। किसी तरह उन्होंने कानपुर कांग्रेस तक काम चला दिया। उसके बाद, डाक्टरों की राय से, उन्होंने एक बरस तक साबरमती में रहने का निश्चय कर लिया। वहां रहकर वह आश्रम और खादी के काम को सुसंगठित करने में लग गये। कुछ लोग, जो यह समझते थे कि महात्माजी दुखी होकर अलग हो गये हैं, बहुत जोर देने लगे कि उनको फिर नेतृत्व लेना चाहिए। पर बात ऐसी थी नहीं। उन्होंने साबरमती से काम करना अपने स्वास्थ्य और देश दोनों के लिए हितकर समझा। इसलिए वह अपने निश्चय पर अटल रहे।

इधर हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बहुत बढ़ गये। कलकत्ते में बहुत बड़ा दंगा हो गया जिसमें बहुतेरे हिन्दू-मुसलमान मारे गये। हफ्तों तक बलवा-फसाद जारी रह गया। बकरीद के मौके पर कई जगह दंगे हो गये। इसका नतीजा यह हुआ कि खिलाफत कमिटी के प्रमुख लोग भी प्रभावान्वित हो गये। उसके एक विशेष अधिवेशन में कड़वे भाषण हुए। उसमें निश्चय किया गया कि अबसे खिलाफत कमिटी मुसलमानों से संबंध रखने वाले सभी प्रश्नों में दिलचस्पी लेगी और मुसलमानों के हकों की हिफाजत का प्रबंध करेगी। दूसरी ओर, हिन्दुओं में भी, बहुतेरे कड़वे भाषण किये और लेख लिखे जाने लगे। हमारे सूबे के लिए एक बात यह हो गयी कि पंडित मोतीलालजी और मौलवी मुहम्मद शफी में मतभेद हो गया। मौलवी मुहम्मद शफी ने असेम्बली से इस्तीफा दे दिया। स्वतंत्र रीति से फिर खड़े होकर वह चुन लिये गये। उन्होंने स्वतंत्र रीति से कुछ प्रचार भी शुरू कर दिया। हमारे सूबे का वायुमंडल भी बिगड़ता जा रहा था। मौलाना मजहरुल हक साहब इससे बहुत दुखी थे। उन्होंने बिहार के प्रमुख कांग्रेसी और खिलाफत कमिटी के लोगों को, तथा कुछ और स्वतंत्र लोगों को भी आमंत्रित करके एक छोटी-सी कांफ्रेंस छपरे में की। कई दिनों तक वहां बहुत सफाई और खुलासगी के साथ बातें होती रहीं। हम सबने महसूस कर लिया कि यह मामला ऐसा है कि इसको अब छोड़ना ठीक नहीं है और जहां तक हमसे हो सके, बिगड़े वायुमंडल को अधिक दूषित होने से रोकना चाहिए। हम सबने निश्चय किया कि इसके लिए हम सब मिलकर प्रयत्न करेंगे। उस सभा में हमको एक बार और हक साहब के देशप्रेम और सच्ची राष्ट्रीयता का पता चला। हम समझ गये कि हमको एक ऐसा नेता मिला है जो हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए सब कुछ त्याग करने को तैयार है। अपने जीवन का बहुत समय उन्होंने इसी में बिताया था। जब तक वह जीते रहे, इस प्रयत्न में ही लगे रहे। कांफ्रेंस के निश्चय के अनुसार हक साहब, मौलवी मुहम्मद शफी, बाबू जगतनारायण लाल, मैं तथा दूसरे कई भाई सूबे में दौरा करने निकल गये।

इसका असर सूबे पर बहुत अच्छा पड़ा। देश में इस बात की बहुत चर्चा होने लगी कि बिहार में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की जटिल समस्या के सुलझाने का बहुत सुन्दर प्रयत्न मौलाना हक के नेतृत्व में हो रहा है। बिहार का वायुमंडल बहुत हद तक शांत रहा। एक असर यह भी

देखा गया कि कुछ दिनों के बाद फिर कौंसिल और असेम्बली का चुनाव हुआ तो मुसलमान भी कांग्रेस की ओर से खड़े हुए और चुने गये। मौलवी मुहम्मद शफी और पंडित मोतीलालजी के मतभेद से जो अनबन हो गयी थी वह भी दुरुस्त हो गयी।

नवम्बर के महीने में चुनाव हुआ। यह तो इधर अच्छा हुआ कि बिहार में मौलवी शफी साहब हम लोगों के साथ मिलकर काम करने लगे; पर उधर लाला लाजपतराय और पंडित मोतीलालजी का मतभेद हो गया ! नतीजा यह हुआ कि पंडित मदनमोहन मालवीयजी और लाला लाजपतराय ने एक नया दल बना लिया। उस दल की ओर से जो उम्मीदवार खड़े किये गये उन्होंने कांग्रेस के उम्मीदवारों का विरोध किया। बिहार में बाबू जगतनारायण कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ताओं में थे। उनके विचार हिन्दू संगठन के पक्ष में थे। वह हिन्दू सभा में प्रमुख भाग लेने लगे। उस समय कांग्रेस ने हिन्दू सभा का सदस्य होना रोका नहीं था। हममें से बहुतेरे उसके सदस्य थे। ऊपर कहा जा चुका है कि मुजफ्फरपुर के वार्षिक अधिवेशन (हिन्दू सभा) में बोधगया संबंधी प्रस्ताव पास कराने में हमने भी पूरा जोर लगाया था। इसलिए, यद्यपि कुछ लोगों को जगत बाबू का कांग्रेस से इतना घनिष्ठ संबंध होना और हिन्दू सभा को इतना समय देना अच्छा नहीं लगता था, तथापि उनके ऐसा करने में कोई वैधानिक रुकावट नहीं थी। पर जब पं. मालवीयजी और लालाजी ने स्वतंत्र कांग्रेस दल का संगठन कर लिया और कांग्रेस के निश्चय के विरुद्ध कांग्रेसी उमीदवारों का विरोध करने लगे, तो स्थिति बहुत बदल गयी। जगत बाबू कांग्रेस की ओर से उमीदवार खड़े किये गये थे, पर उसे छोड़कर उन्होंने इस नरम दल की ओर से खड़ा होना पसंद किया ! मजबूर होकर उनका विरोध करना पड़ा। कुछ और लोग भी, जो कांग्रेस से नाराज थे अथवा जो कांग्रेस के विरोधी थे अथवा जिनको कांग्रेस ने उमीदवार न बनाकर किसी दूसरे को बना दिया था, इस दल में जा मिले। ऐसे लोगों में सारन जिले के बाबू श्रीनन्दनप्रसाद नारायण सिंह शर्मा भी थे। नतीजा यह हुआ कि बिहार में भी इस चुनाव में काफी गर्मी आ गयी। मालवीयजी तथा लालाजी यहां अपने उमीदवारों के समर्थन में दौरा करने लगे। पंडित मोतीलालजी तथा दूसरे स्वराजी नेता कांग्रेसी उमीदवारों की सहायता के लिए पहुंच गये। मुझसे जो कुछ हो सकता था, मैं कर ही रहा था।

मैं इसी दौरे में छोटानागपुर गया। पुरूलिया से रांची मोटर पर जा रहा था। गाड़ी खूब तेज जा रही थी; क्योंकि उसी दिन रांची में उमीदवारी की दरख्वास्तों की जांच होने वाली थी। ठीक समय से पहुंचना जरूरी था। रास्ते में भैंसा-गाड़ी आ गयी। मोटर को उससे बचने के लिए मोड़ना पड़ा। वह काबू से बाहर होकर एक गाछ से टकरा गयी। मुझे सिर और नाक पर चोट आयी। थोड़ी चोट औरों को भी लगी। गाड़ी का कुछ अंश टूट गया। पर हम लोग किसी तरह कुछ देर के बाद रांची पहुंच गये; क्योंकि यह घटना रांची के नजदीक पहुंचने पर हुई थी। वहां तो कुछ नहीं मालूम हुआ कि मुझे चोट ज्यादा है। डाक्टर

ने पट्टी बांध दी। मैं दौरे का काम करता रहा। छोटानागपुर का काम पूरा करके मैं उत्तर बिहार में चला गया। बेगूसराय, समस्तीपुर इत्यादि होते हुए मुजफ्फरपुर जिले में गया। सीतामढ़ी पहुंचकर, प्रायः घटना के एक सप्ताह के बाद, सिर में दर्द मालूम हुआ। मैंने समझा कि थकावट अथवा सर्दी लग जाने के कारण दर्द है। कुछ दवा खा ली और आगे बढ़ गया। सौभाग्यवश उसी दिन पटना लौटने का कार्यक्रम था। वहां पहुंचते-पहुंचते दर्द बढ़ गया। कई दिनों तक बहुत कष्ट हुआ। डाक्टर लोग भी कुछ निश्चय नहीं कर सकते थे कि यह दर्द क्यों है। पर दो-तीन दिनों के बाद सारे चेहरे पर सूजन आ गयी। तब मालूम हुआ कि वह उस चोट का नतीजा है जो मोटर की दुर्घटना में मुझे लगी थी। मैं इस बीमारी के कारण और कई जगहों में जहां जाना था, नहीं जा सका। चुनाव में बहुत बेहूदा प्रचार किया गया था। पंडित मोतीलालजी पर खुले आम व्यक्तिगत आक्षेप किये गये। कहीं-कहीं भद्दे व्यंग्य-चित्र (कार्टून) भी दिखलाये गये थे। हमने बहुत जोरों से इन सबका विरोध किया। नतीजा यह हुआ कि जिन स्थानों के लिए सदस्य चुने जाने वाले थे उनमें से अधिकांश कांग्रेस के उमीदवार ही चुने गये। स्वतंत्र कांग्रेस दल के बहुत थोड़े लोग चुने गये, जिनमें बाबू जगतनारायण लाल और बाबू श्रीनन्दनप्रसाद नारायण सिंह शर्मा थे। ये लोग पूर्व के बिहार कौंसिल के स्वराज्य दल के नेता श्री जलेश्वर प्रसाद को, जो कांग्रेस की ओर से खड़े किये गये थे, हराकर चुने गये। लोगों के बहुत कहने और जिद्द करने पर मौलाना मजहरुल हक साहब खड़े हुए थे। उनका मुकाबला किया गया। दोनों उम्मीदवारों के पक्ष में बराबर वोट आये। चिट्ठी लगायी गयी तो हक साहब के प्रतिद्वंद्वी के पक्ष में चिट्ठी निकली। इस तरह, यद्यपि प्रांतीय कौंसिल के चुनाव में कांग्रेसी लोग ही अधिक संख्या में चुने गये तथापि हक साहब जैसा व्यक्ति नहीं चुना जा सका और न कांग्रेस का वह उमीदवार जो स्वराज्य पार्टी का नेतृत्व योग्यतापूर्वक कर चुका था। साथ ही, यह भी स्पष्ट था कि चुने लोगों में से, बहुमत रखते हुए भी, कांग्रेस के विरोध में मंत्रिमंडल बन सकेगा, क्योंकि विधान के अनुसार एक अच्छी तायदाद गवर्नमेंट द्वारा मनोनीत सदस्यों की हुआ करती थी। कांग्रेस-विरोधी लोग और ऐसे मनोनीत सदस्य मिलकर कांग्रेस दल से संख्या में अधिक हो जाते थे। केंद्रीय असेम्बली में भी हमारी काफी सफलता रही। वहां जो एक-दो जगहें हमारे हाथ में न आयीं उनमें भी कांग्रेस से सहानुभूति रखने वाले ही चुने गये। बिहार कौंसिल में कई आदमी जो स्वतंत्र चुने गये थे, कांग्रेस के साथ ही रहते थे। स्वतंत्र कांग्रेस दल के लोगों में कुछ कांग्रेस के साथ और कुछ मंत्रिमंडल के साथ हो गये थे। इस तरह, इस चुनाव से कोई बात साफ नहीं हुई। मंत्रिमंडल के साथ कांग्रेस का जो पहले सद्भाव था वह अब न रहा; क्योंकि चुनाव के समय हमको मंत्रियों और उनके द्वारा समर्थित उमीदवारों का विरोध करना पड़ा था। जब वे ही लोग फिर मंत्री बन गये और उनका विरोध करना कांग्रेसी मेम्बरों का प्रधान काम हो गया तब यह अनबन और भी बढ़ती गयी। मंत्री सर गणेशदत्त सिंह, कांग्रेसी उमीदवार के भय से,

कई जगहों से खड़े हुए थे ! पर कहीं से अपने स्थान को सुरक्षित न देख उन्होंने मिल-मिलाकर उमीदवार को, एक ऐसे स्थान से जहां कांग्रेस ने कोई उमीदवार नहीं खड़ा किया था, बिठा दिया और वहां से स्वयं निर्विरोध चुने गये। इस चुनाव में धर्मगत और जातिगत भेद-भावों का प्रचार करके कुछ लोगों ने नफा उठाया। शायद सभी कांग्रेस वाले भी इससे अपने को बचा न सके।

मेरा विचार था, और अब वह और भी दृढ़ हो गया है, कि जो भेद-भाव हिन्दुओं और मुसलमानों में फैल रहा था वह इन्हीं दोनों तक सीमित न रहेगा। हिन्दुओं में जो अनेकानेक जातियां हैं एक-दूसरे से उसी प्रकार आपस में झगड़ने लगेंगी जिस प्रकार हिन्दू-मुसलमान लड़ रहे हैं। मुसलमानों में भी भिन्न-भिन्न दल पैदा हो जायेंगे। शिक्षित वर्ग की लड़ाई सरकारी नौकरियों और सरकार से सम्बद्ध संस्थाओं की मेम्बरी इत्यादि के लिए होती है। किसी-न-किसी समय हिन्दू समाज की भिन्न जातियों में इस प्रकार की स्पर्धा बढ़ेगी और वे आपस में लड़ेंगी। इस चुनाव में ये बातें कुछ-कुछ देखने में आ गयीं। मैंने एक लेख इस आशय का 'देश' में लिखा था, जिसको कुछ लोगों ने नापसंद किया था। उस समय से आज तक के अनुभवों ने मेरे इस विचार को और भी दृढ़ कर दिया है कि जब देश के स्थान पर हम किसी जाति-विशेष अथवा धर्म-विशेष अथवा दल-विशेष को बिठाना चाहते हैं, तब इस तरह की लड़ाई हुए बिना नहीं रह सकती। देश-सेवकों के लिए एक ही रास्ता है कि कम-से-कम तब तक, जब तक देश पूर्णरूपेण स्वतंत्र नहीं हो जाता, किसी स्थान अथवा प्रतिष्ठा के लिए लालायित न हों और केवल सेवा को ही ध्येय बनाकर काम करते जायें। मैं इसको एक प्रवंचना मात्र मानता हूं जब कोई यह सोचता और कहता है कि सेवा करने के लिए उसे किसी पद-विशेष की आवश्यकता है तथा उस पद के बिना वह सेवा नहीं कर सकता। सेवक के लिए हमेशा जगह खाली पड़ी रहती है। उमीदवारों की भीड़ सेवा के लिए नहीं हुआ करती। भीड़ तो सेवा के फल के बंटवारे के लिए लगा करती है। जिसका ध्येय केवल सेवा है, उसका फल नहीं, उसको इस धक्के में जाने की और इस होड़ में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है।

वर्ष समाप्त होने के समय, दिसम्बर में, गोहाटी में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होने वाला था। सभापतित्व के लिए बहुत जगहों से मौलाना मजहरुल हक का नाम आया था। बिहार के लोग बहुत चाहते थे कि वह चुने जायें। यहां से केवल उनका ही नाम भेजा गया था। पर उन्होंने अंतिम चुनाव के पहले ही घोषणा कर दी कि वह इस प्रतिष्ठा के लिए उमीदवार नहीं हैं, लोगों को कोई दूसरा योग्य व्यक्ति चुन लेना चाहिए। इस इंकार का कारण उनके समान व्यक्तित्व और ध्येय वाले महापुरुष के योग्य ही था। उन्होंने लिखा कि वह उस समय अपने सूबे में हिन्दू-मुस्लिम समस्या हल करने के काम में लगे हैं, कांग्रेस के सभापति हो जाने से वह उतना समय अपने सूबे के इस काम को न दे सकेंगे। हममें से बहुतेरों ने सोचा कि उनकी यह

दलील ठीक नहीं थी। पर इसमें दूसरे की बात ही क्या चल सकती थी? उनके हट जाने पर श्री श्रीनिवास ऐयंगर एकमत से निर्विरोध सभापति चुने गये; क्योंकि डाक्टर अंसारी ने भी, जिनका नाम प्रस्तावित हुआ था, अपना नाम हटा लिया था।

भाईसाहब और मैं, सपरिवार दोनों साथ, कानपुर कांग्रेस में गये थे। वहीं मीरा बहन से मेरी पहली मुलाकात हुई। वह कुछ दिन पहले हिन्दुस्तान आ चुकी थीं; पर मुझसे मुलाकात नहीं हुई थी। उन दिनों से ही उनकी भक्ति और विश्वास तथा श्रद्धा की छाप मेरे दिल पर पड़ गयी। वह एक अंगरेज एडमिरल की लड़की हैं। उनके पिता हिन्दुस्तान में एडमिरल रहे थे। उस समय वह भी अपने पिता के साथ बम्बई में थीं। ऐसी महिला का महात्माजी के आश्रम में आना और वहां के लोगों के साथ हिल-मिल जाना अंगरेजों को कब पसंद हो सकता था! कुछ अंगरेजी पत्रों ने यह समाचार छापते हुए लिखा कि गांधीजी ने उनको एक प्रकार से फुसलाकर रख लिया है। बात ऐसी थी नहीं। मीरा बहन ने इसका खंडन किया। बात यह थी कि जर्मन-युद्ध के समय वह युद्ध की मारकाट से ऊब गयीं। वह इस तलाश में घर छोड़ रोमां रोलां के पास गयीं कि वह इस प्रकार के भीषण जीवन से बचने का कोई रास्ता बता देंगे। श्री रोमां रोलां ने उन्हें गांधीजी की पुस्तकें पढ़ने की सलाह दी और कहा कि उनकी पिपासा वहीं बुझ सकेगी। गांधीजी की लिखी जो पुस्तकें मिल सकीं, मीरा बहन ने पढ़ीं। वह जैसे-जैसे पढ़ती गयीं, उनका विश्वास जमता और दृढ़ होता गया। अंत में उन्होंने गांधीजी के पास आना चाहा, पर गांधीजी ने उन्हें रोका। विलायत में ही वह यथासाध्य आश्रम का जीवन बिताने लगीं। अंत में, जब उन्होंने बहुत जिद की, तब गांधीजी ने आने की अनुमति दी। तब से वह बराबर उनके साथ है। जो कुछ उनका अपना था, गांधीजी को समर्पित कर दिया है।

वहीं से मैं कायस्थ कांफ्रेंस का सभापतित्व करने के लिए जौनपुर गया। इसका जिक्र ऊपर कर चुका हूं। कुछ भाइयों ने इस बात को नापसंद किया। उनका कहना था कि कांग्रेसी लोगों को किसी जाति-विशेष की संस्था से लगाव न रखना चाहिए; क्योंकि इससे उनकी राष्ट्रीयता को धक्का पहुंचता है और जनता में बुद्धिभेद हो सकता है। मैंने किसी जाति-विशेष की राजनीतिक उन्नति अथवा उसके अधिकारों की रक्षा के ख्याल से सभापतित्व नहीं स्वीकार किया था। मैंने सोचा था कि हमारे समाज में बहुत कुरीतियां प्रचलित हैं; यदि हम अपने समाज की विशेष संस्था में सम्मिलित होकर उन्हें हटाने में कुछ भी सफल हो सकेंगे तो यह अच्छा ही होगा। मैंने वहां जो भाषण किया वह भी ऐसा ही था कि उसमें राष्ट्रीयता-विरोधी एक भी बात नहीं थी और न जाति-जाति के बीच भेद बढ़ाने वाली कोई बात थी; बल्कि मैंने तो उस मंच से भी राष्ट्रीयता का ही समर्थन किया था। कांफ्रेंस में अन्य जाति के स्थानीय लोग भी आमंत्रित किये गये थे। जो ऐसे लोग वहां उपस्थित थे, उन्होंने मुझे भाषण के लिए बधाई देते हुए कहा कि जातीय कांफ्रेंस के मंच से इसी प्रकार के भाषण हुआ करें तो आपस में झगड़े ही न हों।

कायस्थ कांफ्रेंस पुरानी संस्था है। उसके अनेक बूढ़े और कार्य-कुशल सेवक हैं। मैं उनके लिए एक नया अजूबा व्यक्ति था; क्योंकि उसके पहले मैं कभी कायस्थ कांफ्रेंस में नहीं गया था। मेरा भाषण भी शायद पुराने विचार वाले लोगों में से कुछ को पसंद न आया हो। इसलिए मैं समझ सकता था कि कुछ ने वहां की कार्रवाई पसंद नहीं की; पर अधिवेशन सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। मुझे अफसोस यही है कि जिस आशा और अभिलाषा से मैं शरीक हुआ था वह बहुत करके पूरी न हुई। इसका दोष दूसरों पर न डालकर मुझे अपने ऊपर लेना चाहिए; क्योंकि मैं दूसरे कामों में फंस जाने के कारण अपनी पूरी शक्ति लगाकर प्रयत्न भी न कर सका।

65

बिहार विद्यापीठ और खादी-प्रचार कार्य

उन दिनों मेरा अधिक समय खादी के काम की देखभाल में और बिहार विद्यापीठ के खर्च के लिए रुपये जमा करने में लगता था। शुरू में ही हम लोगों ने देख लिया कि विद्यापीठ के प्रति बहुतेरे भाई एक प्रकार से तटस्थ-से थे। कुछ लोग तो उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। 1921 में इस भाव का कुछ प्रदर्शन होने लगा था। सबसे अधिक आश्चर्य और दुख की बात यह थी कि जिन लोगों ने बहुत जोर देकर उसे कायम कराया था, वे ही लोग या तो उदासीन हो गये या विरोधी। शुरू में इसका आरम्भ किया गया था एक भाड़े के मकान में। प्रायः दो सौ रुपये मासिक भाड़ा दिया जाता था। हमने सोचा कि खर्च यथासाध्य कम करना चाहिए। निश्चय किया कि सदाकत आश्रम में, जिसे मजहरुल हक साहब ने खोल रखा था और जिसमें उन्होंने कुछ मकान भी बनवा लिये थे, इसे ले जाया जाये। हक साहब ने इस बात को बहुत पसंद किया। हम विद्यापीठ वहीं ले गये, कुछ नये मकान भी बनवा लिये गये, जहां प्रायः सभी छात्र और अधिकांश शिक्षक भी रहने लगे। छात्रों की संख्या कम होने लगी थी। जिलों में जो स्कूल खुले थे वे भी जहां-तहां बंद होने लग गये थे। लोगों का उत्साह कम होता गया। बहुतेरे स्कूल अर्थाभाव और छात्राभाव से बंद हो चुके थे। तो भी 1926 के मार्च में 9 हाई स्कूल, 16 मिडिल स्कूल और 30 प्राइमरी स्कूल चल रहे थे जिनमें क्रमशः छात्रों की संख्या 797, 1285 और 1019 और शिक्षकों की संख्या 79, 70 और 34 तथा खर्च 1950 रुपये, 1260 रुपये और 426 रुपये मासिक था—अर्थात स्कूलों की संख्या 55 थी जिनमें 183 शिक्षक काम कर रहे थे और 3636 रुपया मासिक खर्च हो रहा था। पर कुछ स्कूल सभी मुसीबतों को झेलते हुए कायम रह गये और आज तक चल रहे हैं। विद्यापीठ का रहना हमने आवश्यक समझा। इसके लिए रुपये जब-तब, जरूरत पड़ने पर, जमा करते गये।

हमने महाराष्ट्र में देखा था कि कई संस्थाएं लोग वार्षिक चंदे से चलाते हैं। चंदे की रकम किसी एक आदमी की बहुत बड़ी नहीं होती है; पर बहुत-से लोग पांच या दस या इससे भी कम प्रतिवर्ष देने का वादा कर देते हैं और संस्था की वार्षिक रिपोर्ट वी.पी. द्वारा ऐसे सभी मेम्बरों के पास भेज दी जाती है। चंद दिनों में ही चंदे के सभी रुपये वी.पी. के जवाब में आ

जाते हैं। हमने भी कुछ ऐसा ही करने का सोचा। घूम-घूमकर पांच रुपये वार्षिक चंदे वाले मेम्बर बनाये। जो लोग एक-मुश्त बड़ी रकम दे देते उनको आजीवन सदस्य अथवा ट्रस्टी बना लेते। पर हमारे सूबे में लोगों को इस प्रकार नियमित रूप से प्रतिवर्ष चंदा देने की आदत नहीं पड़ी है। जिन्होंने वादा किया और मेम्बरी का फारम भर दिया उन्होंने भी साल के अंत में बड़ी कठिनाई से रुपये दिये, एक-दो बरस के बाद वह भी बंद कर दिया! यह संभव नहीं था कि प्रमुख लोग हर साल मेम्बरों के पास, वादा किया हुआ चंदा वसूल करने के लिए, जायें। इसलिए यह उपाय हमारे लिए कारगर साबित नहीं हुआ। घूम-घूमकर, जहां गये वहां से, हमेशा कुछ लाना ही पड़ता रहा। हां, पटने में कुछ सज्जनों ने मासिक कुछ देना स्वीकार किया। उनमें से बहुतेरे बराबर देते रहे हैं। शुरू में ही एक सज्जन (श्री भगवानदास) ने कुछ जमीन दान कर दी थी, जिसकी थोड़ी आमदनी हर साल मिलती जाती थी। कुछ दिनों के बाद मुजफ्फरपुर के श्री गजाधर प्रसाद साहु ने अपने ट्रस्ट में से विद्यापीठ के लिए भी कुछ दिया, जो रकम बराबर मिलती जाती थी। इस तरह विद्यापीठ की आर्थिक कठिनाई हमेशा बनी रही है।

हमने इस बात की कोशिश की कि अच्छे विद्वानों को वहां बुलावें जिसमें जनसाधारण को उसकी उपयोगिता और वहां मिलने वाली शिक्षा के प्रति विश्वास हो। काशी से प्रसिद्ध विद्वान श्री रामदास गौड़जी आये। इसी तरह बंगाल से कुछ ऐसे विद्वान शिक्षक लाये गये, जिन्होंने युनिवर्सिटी में ख्याति के साथ परीक्षाएं पास की थीं। कुछ दिनों के बाद, प्राचीन भारतीय इतिहास के ख्यातनामा विशेषज्ञ श्री जयचन्द्र विद्यालंकार भी विद्यापीठ में इतिहास के शिक्षक होकर आये थे। उनके साथ मेरा परिचय उसी समय हुआ जो आगे चलकर अधिक घनिष्ठ हो गया तथा भारतीय इतिहास परिषद के जन्म के कारणों में एक मुख्य कारण हुआ। किंतु इतने पर भी विद्यार्थियों की संख्या कम होती गयी। हमने वहां के पाठ्यक्रम में भी जब-तब परिवर्तन किया। इस बात की भी चेष्टा की कि विद्यार्थी केवल पुस्तकी विद्या न पाकर अधिक कार्यकुशल देश-सेवक बनें। पर सब कुछ करने पर भी राष्ट्रीय शिक्षा बहुत ही परिमित क्षेत्र में रह गयी। तब भी, जहां तक रह गयी है, हमारे विद्यार्थी और शिक्षक अच्छे सेवक निकले हैं। सत्याग्रह के समय उन्होंने हमेशा बहुत काम किया है।

मार्च 1926 में, समावर्तन के अवसर पर, दीक्षांत भाषण के लिए, श्री राजगोपालाचारी निमंत्रित किये गये थे। उन्होंने कहा था कि ये विद्यालय हमारे उत्साह की ज्योति को जगाये रखे हुए हैं। यह बात अक्षरशः सत्य है। समावर्तन संस्कार बड़े उत्साह के साथ हुआ। उनका भाषण भी बहुत ही सुंदर और जोरदार हुआ। जो लोग उस उत्सव में शरीक हुए, सबने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। विद्यापीठ और उसके छात्रों की सरलता तथा सरकारी युनिवर्सिटी के समावर्तन-समारोह की शान-शौकत याद करके सब लोग हमारी छोटी संस्था की उपयोगिता मानने लगे थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि विद्यापीठ के अतिरिक्त मेरा अधिक समय खादी के काम में लगता था। जब से खादी का काम आरम्भ हुआ, मेरी दिलचस्पी उसमें थी; पर इन दिनों जितना समय मैं उसमें दे सका उतना पहले कभी न दे सका था और पीछे भी न दे सका। बिहार में खादी का काम 1921 में ही आरम्भ हुआ, जब स्वराज्य कोष के रुपयों में से एक अच्छी रकम बिहार प्रांतीय कमिटी को इस काम के लिए मिली। इस काम के चलाने का भार शुरू में प्रांतीय कमिटी ने ही लिया। कई जिलों में उसकी ओर से कुछ लोग इसके चलाने के लिए नियुक्त किये गये। अनुभव न तो प्रांतीय कमिटी में किसी को था और न उन लोगों में से किसी को। नतीजा कुछ अच्छा नहीं हुआ।

कांग्रेसी कार्यकर्ता श्री रामविनोद सिंह ने स्वतंत्र रूप से यही काम शुरू किया। उनको श्री आचार्य कृपालानी से मदद मिली। मधुबनी में एक उत्पत्ति केंद्र खोलकर वह अच्छी खादी तैयार करने लगे। यह खादी दूसरे प्रांतों तक पहुंची। खादी संबंधी काम में बिहार का नाम उन्होंने ऊंचा किया। आचार्य कृपालानी की सिफारिश और मेरी अनुमति से उनको काम बढ़ाने के लिए एक बड़ी रकम का कर्ज खद्दर बोर्ड की ओर से मिला। प्रांतीय कमिटी का काम उतना सफल न हुआ; क्योंकि काम फैलाया गया बहुत, पर उसमें न तो शास्त्रीय ज्ञान का अधिक उपयोग हुआ और न व्यापार-बुद्धि का ही। इसलिए उसमें घाटा भी काफी रहा। जब अखिल भारतीय चर्खा संघ की स्थापना हो गयी और मैं एजेंट नियुक्त हुआ तथा श्री लक्ष्मीनारायण मंत्री बने, तब नये सिरे से सारे काम का संगठन किया गया। बहुत-से भंडार बंद कर दिये गये। जहां बिना घाटे के काम हो सकता था वहां काम जारी रखा गया। इससे कुछ कांग्रेसी कार्यकर्ता असंतुष्ट भी हुए। जो खादी के काम में आये उनका नियंत्रण भी अधिक होने लगा। एकचित्त होकर इस काम में लगने के लिए उन पर जोर दिया गया। नतीजा यह हुआ कि काम की व्यवस्था बहुत सुधर गयी। खादी की उत्पत्ति और बिक्री बढ़ने लगी।

मैं उन दिनों प्रायः सभी उत्पत्ति केंद्रों में, बरस में एक बार, जाया करता था। वहां एक-एक, दो-दो दिन रहकर काम देखा करता था। भंडार में, जहां सूत की खरीद और रूई की बिक्री होती थी, खुद बैठता भी था। अपने हाथों रूई-सूत तौलता और बेचता-खरीदता था। कपड़े की बुनाई को भी जाकर देखता और तैयार कपड़े पर दाम बैठाने के काम में यथासाध्य भाग लेता। इससे मेरा निजी ज्ञान बढ़ता गया। साथ ही यह भी अनुभव होता गया कि हम इस विषय में कितनी कम जानकारी रखते हैं और इस जानकारी का न होना ही घटी के मुख्य कारणों में था। जो हम खर्च का अनुमान-पत्र बनाते, उसे चर्खा संघ के मंत्री श्री शंकरलाल बैंकर और उनके दफ्तर के लोग खूब जांच-समझकर ही मंजूर कराते। पर तो भी कई बार घाटा हो गया।

उस समय खादी-प्रचार के लिए हम सबकी इच्छा रहती थी। अखिल भारतीय चर्खा

संघ की भी नीति थी कि हम जितनी सस्ती खादी बना और बेच सकें उतना ही अच्छा है। इसी नीति के अनुसार सस्ती-से-सस्ती दर पर सूत खरीदने, कम-से-कम बुनाई देकर उसको बुनवाने और दूकानों में कम-से-कम खर्च करके उसे बेचने का प्रयत्न किया जाता। इसका नतीजा यह होता कि कार्यकर्ताओं की कमी और अयोग्यता के कारण दूकानों में बिक्री ठीक न होती, माल का हिसाब ठीक न रहता और उत्पत्ति केंद्रों का हाल यद्यपि कुछ बेहतर होता तथापि पूरा संतोषजनक न हो पाता था। इसलिए इस देखभाल की बहुत जरूरत होती। इतना हम अवश्य कहेंगे कि उन दिनों जितनी शाखाएं थीं उनमें बिहार की खादी बहुत करके सस्ती और अच्छी भी होती थी। महीन खादी के लिए आंध्र मशहूर था। बिहार की 'कोकटी' सभी सूबों में जाती। इससे बिहार की ख्याति काफी हो गयी। रंगाई-छपाई का काम भी शुरू कर दिया गया था। अब रंग-बिरंग की खादी मिल सकती थी, पर मेरे संतोष के लायक अभी पक्का संगठन नहीं हो पाया था।

जब काम आरम्भ किया गया था तो खादी विभाग का दफ्तर और मुख्य भंडार पटने में ही था। खादी तैयार होती विशेषकर दरभंगा जिले में, पर केंद्र-भंडार पटने में ही था। इसमें असुविधा काफी थी, पर हम सभी पटने में ही रहते थे, इसलिए केंद्र-भंडार और दफ्तर को वहां से हटाने की इच्छा न होती। जब लक्ष्मी बाबू मंत्री हो गये और काम बढ़ाने का विचार हुआ तो निश्चय किया गया कि कारबार पटने से हटाकर मुजफ्फरपुर ले जाया जाये। इसमें पटने के मित्रों का बहुत विरोध हुआ, पर मैंने इसकी उपयोगिता देख ली और हटाने की राय दे दी। मुजफ्फरपुर में, अखाड़ा-घाट पर, गंडकी नदी के किनारे, कुछ झोंपड़े बने, जिनमें कार्यकर्ता रहने लगे और वहां रंगाई इत्यादि का काम होने लगा। स्थान बहुत अच्छा था। मैं भी कभी-कभी जाकर वहां रहता। माल रखने का गुदाम और मुख्य भंडार शहर में, सरैय्यागंज में, भाड़े के मकान में रखे गये थे। यहां से काम बहुत बढ़ा। कुछ दिनों के बाद हमने महसूस किया कि यह प्रबंध भी ठीक नहीं है; क्योंकि उत्पत्ति केंद्र मुख्यतः दरभंगा जिले में थे। वहां से कपड़ा तैयार कराकर मुजफ्फरपुर लाया जाता। मुजफ्फरपुर में धुलाई, रंगाई, छपाई इत्यादि का काम होता। तब वहां से बिक्री के लिए भंडारों में खादी भेजी जाती। इसमें खर्च अधिक पड़ता। इसलिए निश्चय हुआ कि मुख्य भंडार मधुबनी (दरभंगा) में ही ले जाया जाये। इसके पहले रामविनोद बाबू का भंडार वहां था ही। इसलिए चर्खा संघ का काम वहां अधिक न करके पंडौल में ही होता था, ताकि दोनों संस्थाओं में आपस में प्रतिस्पर्धा न हो तथा दोनों स्वतंत्र रूप से काम चलाते और बढ़ाते जायें। पर कुछ दिनों में, रामविनोद बाबू और उनके सहकर्मियों में—जिनमें मुख्य श्री ध्वजा प्रसाद और रामदेव ठाकुर थे—मतभेद हो गया। रामविनोद बाबू का काम भी चर्खा संघ के मुकाबले में कम हो गया। इसलिए अब मधुबनी जाने में ही सुविधा देखी गयी। एक तो वह बहुत बड़ा केंद्र हो सकता था,

दूसरे, अनेक अन्य उत्पत्ति केंद्रों के लिए वह एक ऐसी जगह थी जहां से कार्यकर्ताओं के आने-जाने में काफी सुविधा थी। तीसरे, रेल, तार, डाक, बैंक इत्यादि की भी सुविधा थी। इसलिए मुजफ्फरपुर से दफ्तर और केंद्र-भंडार हटाकर मधुबनी ले जाये गये। आहिस्ता-आहिस्ता वहां चर्खा संघ का अपना मकान बन गया। आज तो वह एक देखने योग्य स्थान हो गया है। इसमें न जाने कितने बरस लगे हैं; पर एक स्थान पर ही इसका जिक्र कर देना ठीक समझा।

1926 में खादी संबंधी मेरा मुख्य काम यह भी रहा कि स्थान-स्थान पर खादी प्रदर्शनी कराऊं। मेरा प्रयत्न था कि खादी में सब लोगों की दिलचस्पी पैदा हो। इसी उद्देश्य से पटने की प्रदर्शनी सफलतापूर्वक की गयी थी, जिसका जिक्र पहले आ गया है। 1926 की प्रदर्शनियों में भी इसकी विशेष चेष्टा की गयी। जहां-तहां अंगरेजों और दूसरे विदेशियों ने भी दिलचस्पी ली। बेतिया (चम्पारन) की प्रदर्शनी का उद्घाटन उस समय के बेतिया राज के मैनेजर मिस्टर एस. सी. प्रायर, आई. सी. एस. ने किया। मिस्टर रुथरफोर्ड के हट जाने पर वही वहां मैनेजर हुए थे। मोतीहारी की प्रदर्शनी का उद्घाटन रेवरेंड जे. जेड. हौज ने किया। वह एक प्रतिष्ठित पादरी थे, जिनका परिचय गांधीजी से और मुझसे पहले से ही था। जमशेदपुर में भी एक मार्के की प्रदर्शनी की गयी। इतने बड़े कारखाने वाले शहर में—जहां की चिमनियां दिन-रात धुंआ उगलती रहती हैं, जहां गला हुआ लोहा नदी के झरने के समान बहता रहता है, जहां लोहे की बड़ी-बड़ी सिलें आसानी से आटे की रोटी की तरह बेल दी जाती हैं और पत्तर अथवा लम्बी-लम्बी रेल-लाइनें बेली जाती रहती हैं—छोटी तकली और चर्खे की प्रदर्शनी एक अजीब-सी चीज थी। इसका आयोजन करना ही एक साहस का काम था। उस बड़े कारखाने के अफसरों को इस छोटी कल की करामात दिखाने की बात तो और भी बड़े दुस्साहस की थी। पर हमने ऐसा ही किया। ताता कम्पनी के बड़े अफसर मिस्टर टेम्पुल से—जो खुद इंजीनियर थे और जमशेदपुर के टाउन एडमिनिस्ट्रेटर भी—प्रदर्शनी के उद्घाटन करने का अनुरोध किया गया। उन्होंने इसे मान लिया। खादी की उपयोगिता पर सुंदर भाषण भी किया। कम्पनी के जेनरल मैनेजर मिस्टर कीनन और उनकी पत्नी, जो दोनों अमेरिका-निवासी थे, प्रदर्शनी में आये। दोनों ने कुछ खादी भी खरीदी। कम्पनी के दूसरे बड़े-बड़े अफसर भी, प्रायः सभी, प्रदर्शनी में आये। खादी की बिक्री भी अच्छी हुई। लोगों के आग्रह से एक और प्रदर्शनी शहर के एक दूसरे मुहल्ले में भी की गयी। इस साल में सूबे के प्रायः सभी बड़े-बड़े शहरों में प्रदर्शनियां की गयीं। उनका उद्घाटन अक्सर स्थानीय प्रतिष्ठित लोगों द्वारा कराया गया। कई जगहों में मैंने ही उद्घाटन किया। इन प्रदर्शनियों से केवल खादी संबंधी प्रचार ही नहीं हुआ, खादी खूब बिकी भी। जो माल नया तैयार हो गया था, उसकी निकासी में पूरी मदद मिली। 1925 में

गांधीजी ने बिहार के कुछ जिलों में जो दौरा किया था उसमें खादी और देशबन्धु दास स्मारक कोष के लिए रुपया जमा किया था। बिहार में प्रायः पचास हजार रुपये जमा किये गये थे। वह रकम पूंजी में जोड़ दी गयी थी। इससे काम खूब बढ़ने लगा था।

किंतु महात्माजी का स्वास्थ्य प्रायः ठीक न रहता। रुधिर का दबाव अधिक हो जाया करता। वह गर्मी के दिनों में मैसूर राज्य के नंदी पहाड़ पर आराम करने के लिए गये। मैं भी वहां गया। उनके साथ कई दिनों तक ठहरा। स्थान बहुत ही रमणीय था। पहाड़ पर चढ़ना कुछ मेहनत का काम था। पर अभी तक मेरा दमा इतना ज्यादा नहीं बढ़ा था। प्रायः गर्मियों में तो मैं अच्छा रहता ही हूं। इसलिए मैं पहाड़ पर पैदल ही चढ़ गया। यों ही वापसी में उतरा भी। उस प्रदेश की यह मेरी पहली यात्रा थी। वहां से महात्माजी के साथ बंगलोर आया और ठहरा। वहां खादी की एक बड़ी प्रदर्शनी हुई, जिसमें विशेष भाग तमिलनाडु और आंध्र की शाखाओं ने ही लिया। अपने ढंग की वह प्रदर्शनी बहुत ही अच्छी हुई। वहीं से मैसूर राज्य में खादी-प्रचार का संगठित रूप से सूत्रपात हुआ। उस अवसर पर खादी संबंधी प्रक्रियाओं के प्रदर्शन के साथ-साथ खादी संबंधी भाषण भी हुए।

हिन्दी-प्रचार का काम भी दक्षिण में हो रहा था। वहां एक विशेष सम्मेलन करके कुछ परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र वितरित किये गये। मैंने पहले-पहल हिन्दी संबंधी उत्साह देखा। एक ही साथ पति-पत्नी, मां-बेटी, सास-पतोहू और पिता-पुत्र हिन्दी सीखने वाले मिले। एक ही साथ परीक्षा में ये बैठते भी। मेरे लिए यह सब नया अनुभव था। उस यात्रा को अपने लिए मैं बहुत ही शिक्षाप्रद मानता हूं।

बंगलोर में प्रदर्शनी समाप्त होने के बाद मैंने दक्षिण के कई स्थानों का भ्रमण किया। तमिलनाडु के मुख्य भंडार को देखा। वह तिरुपुर में था। दूसरे कई और भंडारों को भी जाकर देखा। राजाजी ने अपना आश्रम सेलम जिले में बना रखा था। वहां वह खादी का काम बहुत जोरों से चला रहे थे। वहां भी गया। इस सब जगहों में वहां के काम की परिपाटी और संगठन-विधि का पूरी तरह अध्ययन किया;जो कुछ नया और जानने योग्य वहां मिला उसको अपने सूबे में दाखिल करने का प्रयत्न भी किया। वहां का संगठन और हिसाब रखने का तरीका मुझे बहुत पसंद आया। मैंने उनका अध्ययन कर लिया। उन दिनों सबसे अधिक खादी की उत्पत्ति तमिलनाडु में होती थी। सबसे बढ़िया महीन खादी (कोकटी को छोड़कर) आंध्र प्रदेश में बनती थी। इसलिए मैंने सोचा कि तमिलनाडु का संगठन देखने के बाद आंध्र भी जाना चाहिए। वहां के चर्खा संघ के मंत्री श्री सीताराम शास्त्री का आग्रह भी था कि मैं चलूं और खादी संबंधी भाषण भी करूं।

लौटने के समय मैं आंध्र होते लौटा। मैं आंध्र के कई जिलों में गया। सभी जगहों में मैंने खादी संबंधी भाषण किया। मेरे भाषण वहां अंगरेजी में ही हुए। मैंने देखा कि मैं जिस शास्त्रीय रीति से खादी के संबंध में लोगों को समझाता उसका असर काफी अच्छा

पड़ता—विशेषकर शिक्षित वर्ग पर, जो अक्सर खादी की उपयोगिता और सफलता के संबंध में बहुत शंका-संदेह रखा करता था। वहां के लोगों का कहना था कि मेरी यात्रा से खादी-प्रचार में अच्छी सहायता मिली। जब मैं पटने लौट आया तो कुछ भाइयों का विचार हुआ कि जो कुछ मैंने अपने भाषणों में कहा है वह लेखबद्ध कर दिया जाये तो अच्छा होगा। इसलिए मैंने अपने भाषणों का सारांश लिख डाला। 'एकनोमिक्स आफ खादी' (खादी का अर्थशास्त्र) के नाम से वही एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ। इसका हिन्दी रूपांतर भी 'खादी का अर्थशास्त्र' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस तरह उस साल का बहुत समय खादी के काम में ही बीता।

66

मेरी आसाम यात्रा

कानपुर कांग्रेस के समय आसाम के कुछ लोग आये थे जिनमें एक प्रमुख व्यक्ति श्री नवीनचन्द्र बारदोलाई थे। यह मेरे एक पूर्व-परिचित मित्र थे। इनके साथ उस समय से ही घनिष्ठता हो गयी थी जब हम दोनों कलकत्ता हाइकोर्ट में वकालत किया करते थे। असहयोग आन्दोलन में यह आरम्भ से ही आ गये थे और अपने प्रांत के प्रमुख लोगों में से थे। इन लोगों की इच्छा थी कि कांग्रेस को आसाम में निमंत्रित करें। इस संबंध में इन्होंने मेरी राय ली। मैंने इनको मना किया; क्योंकि गया कांग्रेस के अनुभव ने मुझे बता दिया था कि कांग्रेस का आयोजन बहुत विस्तार ले चुका है और आसाम छोटा प्रांत है। पहले तो काफी रुपये जमा करने में ही मुश्किल हो सकती है; क्योंकि आसाम छोटा ही नहीं, गरीब सूबा भी है। दूसरे, कांग्रेसी लोग सरकारी प्रांत के केवल उसी हिस्से को आसाम कहते हैं जहां की भाषा असमिया है अर्थात ब्रह्मपुत्र की घाटी। जो बंगला बोलने वाला हिस्सा है, जिसे सुरना घाटी कहते हैं, वह तो बंगाल के साथ है। इस तरह सूबा और भी छोटा हो गया है। कार्यकर्ताओं की संख्या भी काफी नहीं है। इतने पर भी उन लोगों का उत्साह बहुत था। उन्होंने मेरी बात नहीं मानी, कांग्रेस को आमंत्रित कर ही दिया।

उन लोगों की यह भी इच्छा थी कि कांग्रेस के पहले ही उस प्रांत में खादी के काम का पुनः संगठन हो जाये। पहले कुछ काम हुआ था; पर वह योग्य कार्यकर्ताओं के अभाव से ठीक चला न था; उसे बंद कर देना पड़ा था। उन्होंने इसके पुनःसंगठन में मेरी सहायता मांगी। मैं इंकार न कर सका। वहां जाने का वचन दे दिया। कुछ दिनों के बाद वहां गया भी। आसाम के कई जिलों में, जहां खादी का काम अच्छी तरह चल सकता था, भ्रमण किया। इस यात्रा का अनुभव बहुत ही अच्छा रहा। खादी के लिए आसाम एक अत्यंत उपयुक्त प्रांत है; क्योंकि इसके लिए वहां जैसी सुविधाएं हैं वैसी शायद ही किसी सूबे में हों। रेशम के कीड़े पालने, उनसे सूत निकालने और उस सूत को बुन लेने की प्रथा अभी तक आसाम में जारी है। कपड़ा बुनना वहां की स्त्रियां उसी तरह जानती हैं जिस तरह हमारे सूबे की स्त्रियां कुछ सीना-पिरोना। अच्छे घरों की लड़कियों की तो शादी ही नहीं हो सकती यदि वे अच्छी तरह बुनाई न जानती

हों। वह बुनाई भी मामूली बुनाई नहीं, वे अपने करघों पर रंग-बिरंगे फूल भी बुन सकती हैं। निहायत खूबसूरत फूलदार किनारी के साथ साड़ियां भी बुन सकती हैं। प्रायः सभी घरों में करघे चला करते हैं। करघे भी बहुत सादा बांस के ही बने होते हैं। बुनाई के अलावा वहां की स्त्रियां सूत कातना भी जानती हैं। मुझे वहां यह देखकर बहुत आश्चर्य और प्रसन्नता हुई कि वहां के खद्दर भंडार में स्त्रियां तैयार कपड़ा लेकर आतीं और उससे रूई बदलकर ले जातीं। अथवा, इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि हम जैसे दरभंगा जिले के भंडारों में रूई देकर सूत बदलते थे वैसे ही वहां के भंडारों में रूई देकर कपड़ा बदला जाता है। हम तो कुछ स्त्रियों से सूत कतवाते हैं। वह सूत फिर बुनकर को बुनने के लिए देते हैं और वह उसे बुनता है। वहां यह बीच का कदम गैरजरूरी हो गया है। उस प्रांत के कुछ हिस्से में रूई भी पैदा होती है, जो बहुत अच्छी तो नहीं कही जा सकती, पर तो भी काम चलाने के लिए ठीक है। इस तरह उस सूबे में खादी-प्रचार के लिए बहुत अच्छा सुयोग मैंने पाया। मैंने चर्खा संघ में आकर बहुत जोर दिया कि इस काम के लिए आसाम को कुछ रुपये दिये जायें। मंत्रीजी यह नहीं चाहते थे, क्योंकि उनका पहला अनुभव ठीक न था। आखिर उन्होंने और कौंसिल ने मेरी बात मान ली। कुछ रुपये दिये गये। वहां का काम फिर संगठित रूप से चलने लगा।

इस यात्रा में मैंने एक बात देखी। नवगांव जिले के गांवों में भ्रमण करते समय देखा कि वहां बहुत जमीन परती है, जो अभी तक आबाद नहीं की गयी है। जमीन पर बहुत अच्छी और हरी घास लगी हुई थी; क्योंकि वहां की जमीन में यों ही काफी नमी रहती है। कहीं-कहीं इन बड़ी परतियों में कुछ झोंपड़े नजर आते थे, जिनमें थोड़े ही आदमी देखने में आये। अभी तक जमीन पर कोई फसल नहीं थी और न जोतने-बोने का कोई चिह्न ही देखने में आता था। पूछने पर मालूम हुआ कि इस तरह की गैर-आबाद जमीन आसाम में कुछ है। वहां का कानून कुछ ऐसा था कि जो आदमी ऐसी गैर-आबाद जमीन में आकर बैठ जाये और उसको आबाद करना शुरू कर दे तो कुछ काल में उस पर उसको स्वत्व प्राप्त हो जाता था। वहां से नजदीक ही बंगाल का मैमनसिंह जिला है, जिसकी आबादी बहुत है और जहां जमीन की कुछ कमी होने लगी है। इसलिए वहां से कुछ लोग आकर इन गैर-आबाद टुकड़ों पर झोंपड़े बनाकर रह जाते हैं। उन्हें वे आहिस्ता-आहिस्ता आबाद करने लगते हैं। इस तरह कुछ दिनों में जमीन पर अपना हक कायम कर लेते हैं। ये लोग प्रायः सभी मुसलमान हैं। इनसे वहां की गैर-आबाद जमीन आबाद होती जा रही है। साथ ही, आगंतुक मुसलमानों की संख्या सूबे के मुसलमानों की संख्या बढ़ाती जा रही है। पूछने पर यह भी मालूम हुआ कि कोई भी इस तरह से आकर वहां जमीन ले सकता है, चाहे वह किसी भी प्रांत का हो। मैंने सोचा कि बिहार में, विशेषकर छपरा जिले में, इतनी अधिक आबादी हो गयी है कि जमीन की कमी के कारण लोगों को लाखों की संख्या में प्रतिवर्ष प्रांत के बाहर मजदूरी करने के लिए जाना पड़ता है। उनमें से न मालूम कितने हजार इसी आसाम में आते हैं। यहां कुछ महीनों तक रहकर

मजदूरी करके कुछ कमा लेते हैं। फिर अपने घर कुछ महीनों के लिए चले जाते हैं। मेरी यात्रा में मेरे जिले के आदमी प्रायः सभी जगहों में मिल जाते थे। अपनी बोली और चाल-ढाल से वे बड़ी आसानी से पहचाने जाते थे। पूछने पर गांव का नाम भी मालूम हो जाता था। मैंने सोचा कि जो लोग इस तरह यहां आकर कुछ महीनों के बाद ही घर चले जाते हैं वे यदि यहां स्थायी रूप से जमीन हासिल करें तो एक पंथ दो काज हो सकता है—छपरे की आबादी में कमी हो सकती है और ये लोग हर चार-पांच महीने पर जो रेल-भाड़े में खर्च करते हैं वह बच जाये तथा इनको जमीन भी मिल जाये।

इस विषय में वहां के लोगों से बातें हुई। उन्होंने इस बात को पसंद किया, क्योंकि बिहारी मजदूरों से उनका परिचय था, उनको वे पसंद करते थे। मैमनसिंह के आदमी उनके काम के नहीं होते। वे उन्हें इसलिए पसंद नहीं करते थे कि मैमनसिंह वालों का व्यवहार वहां के स्थानीय लोगों के साथ अच्छा नहीं होता था। कुछ लोग तो मैमनसिंह के मुसलमानों की अपेक्षा बिहार के हिन्दुओं का वहां जाकर बसना अपने लिए बेहतर समझते थे। कारण, हिन्दू-मुस्लिम झगड़े उन दिनों हुआ ही करते थे। वे चाहते थे कि वहां इस तरह आगंतुक मुसलमानों की संख्या न बढ़े तो वहां के हिन्दुओं के हक में अच्छा होगा। बात भी ऐसी थी कि मुसलमानों की संख्या बंगाली आसाम में अधिक थी और यह गैर-आबाद जमीन शुद्ध आसामी बोलने वाले हिस्से में थी, जहां मुसलमानों की संख्या कम थी। वहां के हिन्दू डरते थे कि यहां यदि मैमनसिंह के मुसलमान इस तरह आकर बसते रहे तो एक दिन उस हिस्से में भी मुसलमानों की संख्या अधिक हो जायेगी। वे खुद सब जमीन आबाद नहीं कर सकते थे। नियमानुसार कोई भी बाहर से आकर आबाद कर सकता था। ऐसी अवस्था में उनके लिए यही बेहतर था कि बिहार के हिन्दू ही आकर बसें। बिहार लौटने पर मैंने इस जमीन का और इसके मिलने के नियम का जिक्र कुछ भाइयों से किया। पर वहां कोई गया नहीं। जहां तक मैं जानता हूं, शायद दो-चार ही बिहारियों ने वहां आकर जमीन ली हो।

मैंने इसका जिक्र अपने भाईसाहब से भी किया। उन्होंने कई बरसों के बाद वहां जाकर जमीन देखी। गैर-आबाद जमीन के सिवा उन्होंने आबाद जमीन लेने की बात भी सोची। स्वर्गीय बाबू शंभूशरण और बाबू अनुग्रहनारायण सिंह के साथ मिलकर एक बंगाली सज्जन ने भी प्रायः एक हजार एकड़ जमीन कई हजार रुपये पर मोल ली। सुना था कि जमीन अच्छी थी। नारंगी का बागीचा था। आबाद करने के लिए मोटर-ट्रैक्टर था। एक बंगला भी था। जमीन जंगल के बीच में थी। वहां जंगली जानवर, विशेषकर शेर और हाथी, आ जाया करते थे। तब भी जमीन आबाद करने का प्रबंध किया गया। बैल वगैरह रखे गये। पर वहां की आबहवा इतनी खराब थी कि जो कोई जाता, मलेरिया ज्वर से ग्रस्त हो जाता। शायद पुराने मालिक के बेचने का भी यही कारण था। भाईसाहब कई बार वहां गये। अनुग्रह बाबू और शंभू बाबू भी गये। मैं कभी न गया। पर उन लोगों के जाने पर भी आबादी का सिलसिला

ठीक जमता न था। कई बरसों के बाद भाईसाहब वहां गये थे। वहीं से ज्वर लिये वापस आये। उसी बीमारी ने उनको मजबूर कर दिया, जिससे उनकी मृत्यु भी हो गयी। उसके पहले ही शंभू बाबू की मृत्यु हो चुकी थी। अब किसी के मन में उत्साह नहीं रह गया। हम लोगों ने जमीन को यों ही छोड़ दिया। मालगुजारी बाकी पड़ जाने से शायद वह नीलाम हो गयी होगी। इसमें हम लोगों का कई हजार रुपयों का नुकसान हुआ था। केवल बाबू महेन्द्रसिंह और श्री रामरक्ष ब्रह्मचारी वहां कुछ जमीन लेकर आबाद कराते और कुछ हासिल कर लेते हैं। ये सब बातें उस एक साल की ही नहीं हैं। यह प्रायः सात-आठ बरसों की घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन है। पर यहां एक ही स्थान पर दे देना ठीक मालूम पड़ा। अब सुना है कि वहां के उस कानून में कुछ परिवर्तन हुआ है। अब उतनी आसानी से बाहर के लोगों को जमीन नहीं मिल सकती। उसका अधिक हिस्सा शायद स्थानीय लोगों के लिए सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गयी है।

67

गोहाटी कांग्रेस

गोहाटी में जो कांग्रेस का अधिवेशन हुआ उसके लिए वहां के लोगों ने बड़े उत्साह के साथ ब्रह्मपुत्र के किनारे ही कांग्रेस-नगर बनवाया था। उस स्थान और शिविर का दृश्य अत्यंत सुंदर था। खादी का काम बहुत आगे बढ़ निकला। वहां की प्रदर्शनी भी बहुत अच्छी हुई। प्रदर्शनी के सफल बनाने में चर्खा संघ का ही मुख्य प्रयत्न हुआ करता था। इसलिए चर्खा संघ में उसके प्रबंधक अनुभव प्राप्त करते जा रहे थे। मुझे याद है कि उस प्रदर्शनी में चर्खा संघ की बिहार शाखा के कार्यकर्ताओं ने बहुत काम किया था। इस बार कांग्रेस के सभापति थे मद्रास के श्री श्रीनिवास ऐयंगर। स्वागताध्यक्ष थे श्री तरुणराम फूकन और मंत्री श्री नवीनचन्द्र बारदोलाई। उन लोगों ने प्राणपण से सुप्रबंध की चेष्टा की थी। ठीक कांग्रेस के अधिवेशन के कुछ दिन पहले एक आततायी मुसलमान ने दिल्ली में स्वामी श्रद्धानन्दजी को उनके घर में घुसकर मार डाला था। इससे सारे देश के हिन्दुओं में बहुत क्षोभ उत्पन्न हुआ, जिसका असर गोहाटी में उपस्थित लोगों पर भी पड़े बिना न रह सका। सबसे बढ़कर हिन्दुओं के दिल दुखाने वाली बात यह हुई कि हत्या करने वाले उस आदमी के मुकदमे की पेशी में मौलाना मुहम्मद अली जैसा नेता भी गया। हिन्दुओं के दिल पर इससे यह असर पड़ा कि मौलाना साहब भी उसके साथ सहानुभूति रखते हैं और शायद इस हत्या को पसंद भी करते हों। स्वामीजी कई बरसों से शुद्धि और संगठन के काम में बहुत दिलचस्पी लेते आ रहे थे। इससे कट्टर मुसलमान उन पर क्रुद्ध थे। उनकी हत्या का यही कारण भी था। उन दिनों किसी-न-किसी धार्मिक कारण से इस प्रकार की कई हत्याएं हिन्दुओं की हुईं। बलवा-फसाद तो हो ही रहे थे। इससे सारे देश का वायुमंडल बहुत बिगड़ गया था। जो सुंदर समां 1921 में देखने में आया था वह एकबारगी जाता रहा।

अधिवेशन में कोई विशेष महत्व की बात नहीं हुई। गांधीजी उन दिनों कांग्रेस में जाते तो थे, पर एक प्रकार से तटस्थ-से रहते थे; क्योंकि उन्होंने इस काम को स्वराज्य पार्टी के हाथों में सौंप दिया था। एक घटना गोहाटी में हुई जो यहां लिख देना अनुचित न होगा। नाभा (पंजाब) के महाराज पदच्युत किये गये थे। उनके कुछ अनुयायी इससे बहुत रुष्ट थे।

वे चाहते थे कि कांग्रेस इस संबंध में सरकार की निंदा करे और दूसरे प्रकार से पदच्युत महाराज की सहायता करे। महात्माजी की गैरहाजिरी में विषय निर्वाचिनी समिति में एक प्रस्ताव स्वीकृत भी हो गया। पर महात्माजी को यह बात पसंद नहीं थी; क्योंकि वह देशी रियासतों के झगड़े में कांग्रेस का पड़ना, रियासतों और कांग्रेस दोनों के लिए, हानिकर समझते थे। इसलिए उन्होंने विषय निर्वाचिनी से इस पर फिर विचार करने का आग्रह किया। उन्होंने इस विषय पर कोई प्रस्ताव न होने दिया। इससे श्री हार्निमैन, जो बम्बई की ओर से प्रतिनिधि होकर कांग्रेस में आये थे, बहुत असंतुष्ट हुए थे। उन्होंने पुनर्विचार का बहुत विरोध किया था। उस समय देशी रियासतों के संबंध में मेरी कुछ भी जानकारी न थी। इस नीति को मैं ठीक-ठीक न समझ पाया था। पीछे, कई बरसों के बाद, कांग्रेस की नीति के संबंध में, कांग्रेसी लोगों में बड़ा मतभेद पैदा हुआ। कई बरसों तक, हर साल, यह एक विशेष विवादग्रस्त विषय बना रहा। इसका जिक्र फिर आगे आवेगा।

गोहाटी कांग्रेस के समय बहुत पानी बरसा जिससे वहां के प्रबंधकों और आगंतुकों को कष्ट उठाना पड़ा था। पर इस विघ्न के पड़ने पर भी वहां का अधिवेशन सफलतापूर्वक हुआ। सब काम निर्धारित रीति से समाप्त हुए, रामगढ़ कांग्रेस की तरह सारा इंतजाम ही तहस-नहस न हुआ। पर इससे खर्च बढ़ गया और आमदनी, जिसका बड़ा हिस्सा दर्शकों के टिकट से ही आता है, घट गयी। स्वागत समिति को बहुत घाटा सहना पड़ा। उसको अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी से सहायता मांगनी पड़ी। सहायता दी गयी, पर पर्याप्त नहीं। श्री फूकन और श्री बारदोलाई को निजी तौर पर नुकसान उठाना पड़ा। यह झगड़ा बहुत दिनों तक चलता रहा। इधर हाल में वर्किंग कमिटी ने उसका बाकी हिसाब चुकाकर वहां के मामले का अंत किया है। मैंने जिस बात से डरकर अपने मित्र श्री बारदोलाई को कांग्रेस को आमंत्रित करने से मना किया था, वह बात होकर ही रही। प्रकृति के प्रकोप ने आमदनी घटाकर आर्थिक स्थिति को और भी जटिल बना दिया।

ऊपर कहा चुका है कि अहमदाबाद के अधिवेशन से ही प्रायः प्रतिवर्ष कोई-न-कोई इस विषय पर एक प्रस्ताव उपस्थित करता कि कांग्रेस का ध्येय केवल स्वराज्य न रखकर पूर्ण स्वतंत्रता बना दिया जाये और यह हर साल नामंजूर कर दिया जाता। गोहाटी के सभापति श्री ऐयंगर इसके समर्थक हो गये। इसमें अब जोर आने लगा। पर गोहाटी तक यह पास न हो सका था।

जब से कांग्रेसी लोग कौंसिलों में गये, कुछ लोग उसी काम में लग गये; कुछ लोग खादी-प्रचार में लगे रहे और कुछ लोग कांग्रेस के संगठन का काम करते रहे। कौंसिलों में जो काम होता उसका समाचारपत्रों में खूब प्रचार होता। लोगों ने काम भी अच्छा किया। केंद्रीय असेम्बली में पंडित मोतीलालजी ही नेता हुए। वहां उन्होंने और दलों के लोगों के साथ मिलकर कई बार सरकारी बजट को नामंजूर करा दिया। दूसरे विषयों पर भी उन्होंने

सरकार के विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकार कराये। श्री श्रीनिवास ऐयंगर भी वहां के सदस्य थे। कई बातों में पंडितजी से उनका मतभेद हो जाया करता; पर अभी बात कुछ बिगड़ी नहीं थी। वहां पर सबसे विशिष्ट बात यह हुई कि श्री विट्ठलभाई पटेल सभापति चुने गये। उन्होंने अपनी विद्वता और प्रतिभा का बहुत सुंदर प्रमाण दिया। हर तरह से निरपेक्ष रहते हुए भी कई बार उन्होनें गवर्नमेंट को बड़ी मुश्किल में डाल दिया।

68

हिन्दू-मुस्लिम समस्याएं

गोहाटी कांग्रेस के बाद श्री श्रीनिवास ऐयंगर ने दो बातों पर विशेष जोर दिया। इन्हीं के संबंध में उन्होंने काम भी किया। जैसा कहा जा चुका है, हिन्दू-मुस्लिम समस्या बहुत जटिल होती जा रही थी। बलवा-फसाद तो होते ही रहते थे। आपस में, कांग्रेसी लोगों में भी, अविश्वास की मात्रा बढ़ती जाती थी। उन्होंने इसका प्रयत्न किया कि यह मामला किसी तरह सुलझ जाये। इस झगड़े के दो पहलू हैं—एक धार्मिक और दूसरा राजनीतिक। साधारण जनता, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, धार्मिक पहलू से अधिक दिलचस्पी रखती है। शिक्षित वर्ग और धनी वर्ग के लोग, जो बाहर-भीतर की कुछ बातों से वाकिफ हैं, राजनीतिक पहलू से ज्यादा दिलचस्पी रखते हैं। दोनों का एक-दूसरे पर असर पड़ता ही रहता है। और, शिक्षित वर्ग, जिसे राजनीतिक वर्ग भी कह सकते हैं, साधारण जनता की इस दिलचस्पी को भी अपने काम में लाता है। दोनों के दो प्रकार के प्रश्न होते हैं और उनके हल भी दो प्रकार के हैं।

हिन्दू गाय के लिए पूज्य भाव और श्रद्धा रखते हैं। गोवध के नाम से ही वे बहुत उत्तेजित हो जाते हैं। यह बात विशेषकर बिहार और युक्तप्रदेश में है। इसी गोवध के कारण न मालूम कितने बलवे हो चुके हैं। यह कोई नयी बात भी नहीं है। मुसलमान बादशाहों ने भी महसूस किया था कि गोवध से हिन्दुओं के दिल को कितनी ठेस लगती है। उनमें जो उदार थे उन्होंने, हिन्दुओं को मर्माहत होने से बचाने के लिए, गोवध का निषेध भी कर दिया था। वह भावना हिन्दुओं में आज तक वर्तमान है। इस भावना से शिक्षित हिन्दू भी एक-दम बचे नहीं हैं। वे भी गोवध से उत्तेजित हो जाते हैं। उधर मुसलमान बकरीद के दिन कुर्बानी करना अपना फर्ज समझते हैं। गरीबों के लिए यह फर्ज गाय की कुर्बानी से ही अदा हो सकता है; क्योंकि उसमें कम खर्च पड़ता है। इसलिए उस दिन जहां-तहां गाय की कुर्बानी के कारण झगड़े हो जाया करते हैं। जहां मुसलमानों की आबादी ज्यादा है वहां तो कुर्बानी हो जाया करती है। पर जहां उनकी आबादी कम है वहां कुर्बानी प्रायः कभी नहीं होती। बहुत करके झगड़ा ऐसे स्थानों में होता है जहां मुसलमान नये तौर पर कुर्बानी करना चाहते हैं। हो सकता है, किसी गांव में पहले कोई ऐसा मुसलमान न था, जो गाय की अथवा कोई भी

कुर्बानी कभी कर सकता हो। अब उनमें से कोई कुछ पैसे कमाकर कुछ समृद्ध हो गया। उसकी इच्छा हुई कि वह भी अपने धर्म के अनुसार कुर्बानी करे। वहां के हिन्दू इस बात को बर्दाश्त न कर सके। बस, झगड़ा हो गया।

बिहार की सरकार ने इस झगड़े को निपटाने के लिए एक फहरिस्त बना रखी है कि किन-किन गांवों में बराबर से कुर्बानी होती आयी है। यदि ऐसे किसी गांव में कुर्बानी पर हिन्दू हस्तक्षेप करते हैं तो उनको दबा करके वहां कुर्बानी करवा देती है। जहां मुसलमान नये सिरे से कुर्बानी करना चाहते हैं वहां उनको भी रोक देती है। यही नीति बहुत दिनों से बिहार सरकार बरतती आयी है। मुसलमान इससे संतुष्ट नहीं होते। वे कहते हैं कि एक तो यह फहरिस्त ही ठीक नहीं है ,क्योंकि कुर्बानी तो हमेशा छिपा करके ही की जाती है, खुले आम कभी नहीं होती; इसलिए इसका सबूत मुसलमानों की गवाही के सिवा दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। हिन्दू तथा सरकारी अफसर भी इस गवाही को जल्दी सच नहीं मानते; दूसरे, उनका हक है कि वे अपने धर्म का पालन करें, इसलिए रवाज की कोई बात हो ही नहीं सकती; जहां रवाज न भी हो वहां वे जब चाहें तब कुर्बानी कर सकते हैं और उनको इसका हक होना चाहिए। यही झगड़े का घर हो जाता है। बकरीद के मौके पर हमेशा अंदेशा रहता है कि कहीं झगड़ा न हो जाये। सरकार भी बहुत चौकन्ना रहती है।

मुसलमानों की ओर से, मसजिद के सामने होकर बाजे-गाजे के साथ हिन्दुओं के जलूस निकालने का, विरोध किया जाता है। कहा जाता है कि मसजिद में नमाज पढ़ने वाले मुसलमानों के ध्यान में बाजे के कारण खलल पड़ता है, इसलिए वे बाजा नहीं बजने देना चाहते। इसलिए भी अक्सर हिन्दुओं के त्योहारों के दिन झगड़े हो जाया करते हैं। यह बात बिहार में उतनी नहीं थी जितनी कई दूसरे सूबों में। जब से आपस का वैमनस्य फैला, मुसलमानों की ओर से जहां-तहां इस पर भी जोर दिया जाने लगा। इसके संबंध में बिहार के हिन्दू कहते हैं कि गाय की कुर्बानी के मुकाबले में रखने के लिए मसजिद के सामने बाजे न बजने देने की बात मुसलमानों ने जबरदस्ती नये सिरे से उठायी है और यह केवल एक अड़ंगा खड़ा करने की बात है। जो हो, बिहार में भी कहीं-कहीं झगड़े होने लगे। कहीं-कहीं तो, जैसे पटना शहर में, यह झगड़ा अभी तक नहीं होने पाया है; क्योंकि यहां के कुछ ऊपर के दर्जे के मुसलमानों ने इसे अपने जोर से रोक दिया और बाजा बजाने का विरोध होने ही न दिया।

बात तो यह है कि प्रतिदिन न मालूम कितनी ही गायें कसाईखानों में मारी जाती हैं। वे मारी जाती हैं या तो गोश्त के लिए अथवा चमड़ा इत्यादि बेचकर पैसे बनाने के लिए। विशेषकर जहां गोरों की फौजी छावनियां हैं अथवा कलकत्ता जैसे शहर में जहां गोरों की अधिक आबादी है, वहां तो अच्छी-अच्छी गायें भी मारी जाती हैं। किंतु इस पर हिन्दू विशेष ध्यान नहीं देते। प्रतिदिन के गोवध को वे सह लेते हैं; पर बकरीद के दिन धार्मिक प्रवृत्ति से

की गयी कुर्बानी को वे नहीं बर्दाश्त करते। इसी तरह, बड़े-बड़े शहरों में बड़ी-से-बड़ी मसजिदों के चारों ओर ट्राम, मोटर, गाड़ी-छकड़े और दूसरे प्रकार की शोर मचाने वाली चीजों का शोर दिन-रात होता रहता है। मुहर्रम के दिनों में मुसलमानों के ही जलूसों में, भयंकर शोर मचता है, बाजे बजते हैं। इनसे तो मुसलमान नहीं घबराते, मगर हिन्दुओं के किसी धार्मिक अथवा सामाजिक जलूस के बाजे को सहन नहीं कर सकते। जो हो, यह एक बीहड़ मसला है। साधारण जनता इससे ही अधिक संबंध रखती है

शिक्षित और राजनीतिक वर्ग के लोग सरकारी नौकरी तथा डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड और म्युनिसिपैलिटी एवं कौंसिल की मेम्बरी इत्यादि में बहुत दिलचस्पी लेते हैं। यदि उनमें मुसलमानों की संख्या उनकी इच्छा के अनुसार न हुई तो मुसलमान बिगड़ जाते हैं; यदि हिन्दुओं की राय में मुसलमानों की संख्या उचित अनुपात से अधिक हो गयी तो हिन्दू बिगड़ जाते हैं। यहाँ जो थोड़ा-बहुत अधिकार हिन्दुस्तानियों को मिला है अथवा मिल सकता है उसके बंटवारे का प्रश्न है। जो लोग उस अधिकार को बरतना चाहते हैं वे उसमें किसी तरह ठेस लगने से आवेश में आ जाते हैं।

श्री श्रीनिवास ऐयंगर की बहुत इच्छा थी कि कोई समझौता हो जाये। पर यह हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न जितना जटिल उत्तर भारत में है उतना दक्षिण में नहीं है। वहां अधिक झगड़ा ब्राह्मण और अब्राह्मण तथा स्पृश्य और अस्पृश्य हिन्दुओं के बीच है। मुसलमानों की संख्या वहां कम है। जिस गोवध के कारण उत्तर भारत में इतने अधिक दंगे हुआ करते हैं उसके लिए उधर उतने झगड़े नहीं होते। हां, उधर कुछ झगड़े बाजे के प्रश्न पर होते हैं और वह ईसाइयों के साथ भी। इसलिए इस समस्या की जटिलता और हिन्दुओं की भावनाओं का अंदाजा दक्षिण भारत के लोग ठीक नहीं आंक सकते श्री श्रीनिवास ऐयंगर कुछ जल्दबाज भी थे। जितनी तेजी से वह बोलते थे उतनी ही तेजी से अपनी राय भी कायम कर लेते थे। एक बार राय कायम कर लेने पर उससे जल्दी हटना नहीं चाहते थे। बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, पर व्यवसायात्मिकता नहीं थी। इसलिए जहां तक कानून के पुस्तकी ज्ञान का संबंध होता था वहां तक तो वह बहुतेरों को मात कर सकते थे; पर जहां कार्यकुशलता की बात आती वहां उनकी बुद्धि उतनी कारगर न होती। उन्होंने अपने सभापतित्व के समय में इस बात का प्रयत्न किया कि हिन्दू-मुस्लिम समझौता हो जाये। पर जिसको वह समझौता मानते थे उसे हिन्दू जनता तो जरूर, और कांग्रेसी हिन्दू भी शायद, स्वीकार न करते। इसलिए उनका यह प्रयत्न सफल न हो सका।

69

साइमन कमीशन और मद्रास कांग्रेस

1920 में नया विधान बना था। उसमें एक नियम था कि दस बरसों पर पार्लियामेंट उस विधान के कार्यान्वित किये जाने की रीति पर और राजनीतिक परिस्थिति पर पुनर्विचार करेगी तथा आवश्यकतानुसार इसकी जांच कराने के लिए किसी को नियुक्त करेगी। जब से यह विधान बना, कांग्रेस ने इसका विरोध ही किया। 1920 के चुनाव में कांग्रेसी लोग शरीक न हुए। उन्होंने, और उनके तथा खिलाफत कमिटी के कहने से प्रायः सभी जानदार हिन्दुओं और मुसलमानों ने, इसका बहिष्कार ही किया था। यों तो कोई-न-कोई चुना जाकर उन जगहों को भर देता था; पर संसार यह जानता था और सरकार भी अंदर-अंदर मानती थी कि जनता के सच्चे प्रतिनिधि उन धारा-सभाओं में नहीं आये थे; क्योंकि कांग्रेसी और खिलाफती लोगों ने अपने को केवल उमीदवारी ही से अलग न रखा था, वरन् मत देने वालों को भी मना किया था कि मत देकर चुनाव में हिस्सा मत लो। इसका नतीजा यह हुआ कि बहुत कम मतदाताओं ने मत दिया था। 1923 के चुनाव में कांग्रेस ने इतना ही किया था, कि जो कांग्रेसी धारा-सभाओं में जाना चाहे वह जा सकता है, पर चुनाव में कांग्रेस भाग न लेगी। इसलिए, यद्यपि उस बार कांग्रेसी चुने गये और कुछ अधिक मतदाताओं ने चुनाव में भाग लिया, तो भी यह नहीं कहा जा सकता था कि यह चुनाव भी सारी जनता के प्रतिनिधि चुनवाने में सफल हुआ था। 1926 के चुनाव में कांग्रेस ने भाग लिया और जनता ने भी खूब जोरों से मत दिया। इस चुनाव का नतीजा यह हुआ कि जहां तक चुनाव में सफलता मिल सकती थी, कांग्रेस को मिली; पर विधान ही ऐसा बना था कि जिससे कांग्रेस का और जनता के प्रतिनिधियों का बहुमत न हो सके। इसलिए, अधिक संख्या में चुने जाने पर भी, सरकारी और सरकार द्वारा नामजद मेम्बरों को मिलाकर जो थोड़े लोग चुने जा सकते थे, कांग्रेस के विरुद्ध बहुमत पा सके, पर वह भी सभी जगहों में नहीं। जो लोग चुने गये वे भी, विशेषकर केंद्रीय धारा-सभा में, पंडित मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में, सरकारी पक्ष को हमेशा हराते रहे। इन सब बातों से सरकार भी शायद सोचती रही कि इस असंतोष को दूर करना चाहिए। इसलिए दस बरसों का इंतजार न करके उसने 1927 में ही एक कमीशन नियुक्त किया और घोषणा की कि वह कमीशन 1928 के आरम्भ में भारत पहुंचकर जांच का काम शुरू करेगा।

इस कमीशन के सभापति सर जान साइमन थे। दूसरे सभी सदस्य अंगरेज थे। एक भी हिन्दुस्तानी उसमें नहीं था। इस घोषणा के प्रकाशित होते ही सारे देश में बहुत असंतोष देखने में आया। कांग्रेसी लोगों का तो कहना ही क्या, जो लोग नरम दल के थे वे भी बहुत असंतुष्ट थे। हिन्दू और मुसलमान सभी इस विषय में प्रायः एकमत हुए। ऐसा मालूम होने लगा कि फिर एक बार सभी मिलकर इसका विरोध करेंगे।

पटने में इस विषय की एक कांफ्रेंस हुई। सर अली इमाम सभापति हुए। सभी दलों के लोग शरीक हुए। निश्चय किया गया कि सब लोग मिलकर इस कमीशन का बहिष्कार करें। इसके नेता सर अली इमाम हुए। मुझे याद है कि इस विषय में उनसे मेरी बातें हुई थीं। मैंने उनसे कहा था कि हम लोगों को यह देखकर बड़ी खुशी है कि उनके जैसे सरकार द्वारा प्रतिष्ठा-प्राप्त और नरम विचार के लोग भी इस कमीशन का विरोध करने पर तैयार हैं—जनता तो इस काम में उनका साथ देगी ही, यदि कांग्रेस तथा दूसरे लोग भी मिलकर काम करेंगे तो इसमें शक नहीं कि बहिष्कार पूरा हो सकेगा। किंतु उन लोगों के विचार में बहिष्कार का अर्थ इतना ही था कि इस कमीशन के सामने आकर कोई अपनी राय न दे और न दूसरे किसी प्रकार से इसके काम में मदद पहुंचाये। पर हम बहिष्कार का अर्थ इससे अधिक लगाते थे। हम जनता को भी इस बहिष्कार में शरीक करना चाहते थे। वह तभी हो सकता था जब बहिष्कार का रूप विरोधी प्रदर्शन का हो जाये। हमने उनसे कहा कि आप लोग कमीशन के सामने मत जायें और न दूसरी तरह से उसकी कोई मदद करें; हम लोग प्रदर्शन द्वारा जनता के अंसतोष को दिखला देंगे। सर अली इमाम जनता के रोष और प्रदर्शन से बहुत घबराते थे। यद्यपि इस चीज को उन्होंने बहुत पसंद नहीं किया तथापि कमीशन से इतने असंतुष्ट थे कि इस बात को मान लिया।

जो बात बिहार में थी वही सारे देश में थी। सभी दल के लोग कमीशन के संबंध में कहने लगे कि इसमें किसी एक भी हिन्दुस्तानी को स्थान न देकर ब्रिटिश सरकार ने भारतवासियों का बड़ा अपमान किया है; इसलिए वे इस कमीशन के साथ किसी प्रकार का सहयोग न करेंगे। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने कमीशन में किसी भारतीय को स्थान तो न दिया, पर इतना कह दिया कि कमीशन के सलाहकार की तरह से कुछ लोग उसके साथ रहेंगे और हर सूबे में इस प्रकार के सलाहकार नियुक्त किये जायेंगे। हिन्दुस्तान में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो ब्रिटिश सरकार का साथ देने को हमेशा तैयार रहते हैं, चाहे सरकार जो कुछ भी करे। इस मौके पर भी ऐसे लोग उसे मिल ही गये। पर यह एक संतोष का विषय है कि किसी भी राजनीतिक दल की ओर से कोई आदमी शरीक न हुआ।

कमीशन को 1928 में आना था। उसके सामने पेश करने के लिए गवर्नमेंट मसाला तैयार करने लगी। दूसरे लोग उसके बहिष्कार की बात करने लगे। इसी बीच में मद्रास में होने वाली कांग्रेस का समय आ पहुंचा। डाक्टर अंसारी सभापति चुने गये। महात्माजी

कांग्रेस में गये । कांग्रेस का यह अधिवेशन एक प्रकार से महत्व रखता है । साइमन कमीशन के आने की बात देश के सामने थी ही । कांग्रेस ने सोचा कि केवल विरोध करना ही काफी नहीं है । इसलिए उसने निश्चय किया कि एक ऐसी कमिटी मुकर्रर की जाये जो और सब दलों के लोगों के साथ मिलकर भारत के लिए एक विधान तैयार करे । यह विधान साइमन कमीशन के सामने पेश करने के लिए नहीं था; पर यह सोचा गया कि इसके द्वारा हम अपने विचारों और मांगों को देश के सामने रख सकेंगे तथा सब दल मिलकर इसे मंजूर करने के लिए ब्रिटिश सरकार को मजबूर कर सकेंगे ।

मद्रास कांग्रेस में भी पूर्ण स्वतंत्रता संबंधी एक प्रस्ताव पेश हुआ । पंडित जवाहरलाल नेहरू कुछ दिनों तक योरोप में रहकर हाल ही में वापस आये थे । वह इसके बड़े समर्थक थे । उन्होंने ही इसे विषय निर्वाचिनी समिति में जोर लगाकर पास कराया । मैंने इसका विरोध किया । मेरा विचार था कि हमको कोई ऐसा प्रस्ताव नहीं पास करना चाहिए जिसको हम कार्यान्वित करने के लिए तैयार न हों । उस समय मैं देश में कोई ऐसी तैयारी भी नहीं देखता था, जिसके बल पर यह भरोसा किया जाये कि हम इस ध्येय को प्राप्त कर सकेंगे । किंतु यह प्रस्ताव बहुमत से पास हो गया । मगर अभी यह एक प्रस्ताव के रूप में ही था । दो बरसों के बाद, लाहौर कांग्रेस में, यह कांग्रेस के विधान में उसका ध्येय बना ।

हिन्दू-मुस्लिम एकता संबंधी एक प्रस्ताव भी, कांग्रेस के सामने पेश करने के लिए, विषय निर्वाचिनी समिति ने स्वीकार किया । उसमें और-और बातों के अलावा गोवध के संबंध में यह कहा गया था कि मुसलमानों को इसका पूरा हक है और वे जहां चाहें आंख बचाकर गोवध कर सकते हैं । यही बात श्री ऐयंगर पहले भी कहते थे । अब यह बात कांग्रेस के प्रस्ताव-रूप में आयी । मैंने समझा कि चाहे इसका औचित्य जो हो, हिन्दू जनता इसको कदापि न मानेगी; यदि मुसलमान इस हक का इस्तेमाल करना शुरू करेंगे तो इसका नतीजा, बहुत बड़े पैमाने पर बलवा-फसाद के सिवा, दूसरा कुछ न होगा; यह किसी तरह से देश के लिए हितकर न होगा । गांधीजी विषय निर्वाचिनी में नहीं आये थे । जब श्री ऐयंगर ने कांग्रेस के पहले यह बात चलायी थी तो मैंने गांधीजी को इसी आशय का पत्र लिखा था । इसलिए महात्माजी पहले से ही इस प्रश्न के दोनों पहलुओं को जानते थे । जब विष्य निर्वाचिनी ने इसे प्रस्ताव-रूप में स्वीकार कर लिया तो मैंने जाकर उनसे कहा । वह स्वयं उसकी दूसरी बैठक में आये । उनके कहने से इस पर पुनर्विचार किया गया । प्रस्ताव का रूप कुछ बदलकर ऐसा बनाया गया जो सबको स्वीकार हो जाये । पर मैं जानता हूं कि कुछ मुसलमान भाइयों को यह बहुत बुरा लगा । आपस के मतभेद की जो खाई बन गयी थी वह और भी चौड़ी हो गयी !

70

लंका की यात्रा

मेरे घर की स्त्रियों की इच्छा हुई कि मद्रास कांग्रेस के समय उधर से ही वे तीर्थाटन भी करती आवें; क्योंकि रामेश्वरजी वहां से करीब है। मेरे साथ भाईसाहब की धर्मपत्नी, मेरी स्त्री और कई अन्य मित्रों के घर की महिलाएं मद्रास गयीं। जाने के समय हम लोग गोदावरी-स्नान के लिए राजमहेन्द्री में ठहर गये थे। कांग्रेस के अधिवेशन के बाद मदुरा, रामेश्वर आदि तीर्थों में और लोगों के साथ गये। रामेश्वरजी के दर्शन के बाद हम लोग लंका चले गये। घर के लोगों को वहीं छोड़ दिया। लंका जाने की सुविधा यह भी थी कि उन दिनों श्री रामोदारदासजी वहां लानिया के एक महाविद्यालय में बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने, कई बरसों तक छपरे में कांग्रेस का काम करके और कई बार जेल-यात्रा करने के बाद, बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन के लिए वहां जाने का निश्चय किया था। उनको वहां संस्कृत पढ़ाने तथा पाली में त्रिपिटकादि ग्रंथों के अध्ययन का सुअवसर मिला। कुछ दिनों के बाद, बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर, वह श्री राहुल सांकृत्यायन के नाम से मशहूर हुए और भिक्षु हो गये। उस समय वह केवल अध्ययन कर रहे थे, बाजाब्ता भिक्षु नहीं बने थे।

जब हम लोग वहां गये, उन्होंने लंका के मुख्य-मुख्य स्थानों में हमें ले जाने का प्रबंध किया। हमने भाड़े पर एक लारी ली और कई दिनों तक वहां घूमते-फिरते रहे। यह हम लोगों के लिए पहला ही अवसर था कि उस सुंदर टापू में हम भ्रमण कर रहे थे। टापू की खूबसूरती और हरियाली ने हम लोगों को मुग्ध कर लिया। कंडी के सुंदर मंदिर में जाकर हमने दर्शन किया। वहां से नूरएलिया के पहाड़ पर जाकर एक रात बितायी। वहां से सीताएलिया गये। कहा जाता है कि यहां पर रावण ने श्री जानकीजी को कैद करके अशोक वाटिका में रखा था। वहां जाते समय एक विचित्र चीज हम लोगों ने देखी। सीताएलिया, नूरएलिया से, कुछ दूर है। नूरएलिया पहाड़ की चोटी पर है और सीताएलिया पहाड़ के नीचे है। इसके चारों ओर पहाड़ है। ऐसा मालूम होता है कि प्रकृति ने मानो एक कटोरा बना दिया है, जिसकी दीवारें पहाड़ की हैं और जिसके पेंदे में एक छोटा-सा झरना है; वहीं एक छोटा मंदिर-सा है जहां श्री जानकीजी कैद की गयी थीं। पहाड़ से उतरने में मोटर को कई बार

चक्कर लगाना पड़ता है। उतरते समय हमने देखा कि कुछ दूर तक चारों तरफ फैला हुआ रक्तापोश का जंगल है। पहाड़ काटकर जो सड़क बनी थी उसकी बगल में दीवार की तरह पहाड़ खड़ा था। उस दीवार में कई तरह की मिट्टी या पत्थर देखने में आते थे। उसमें एक तह, जो प्रायः दो-तीन फुट चौड़ी थी, ऐसी मिट्टी की थी जो बिलकुल राख जैसी थी। हमने इस मिट्टी को खोदकर देखा। ऐसा मालूम होता था कि जैसे ऊपर-नीचे पथरीली मिट्टी की तह है और बीच में यह एक तह राख की है। अशोक के पत्ते और राख हम अपने साथ भी लाये थे। इनको देखकर रामायण में वर्णित अशोक वाटिका और हनुमानजी द्वारा लंका के जलाये जाने की बात याद आ गयी।

अनेक स्थानों को—जिनमें एक सुंदर गुफा भी थी जिसमें बहुत प्राचीन, पर सुंदर चित्र बने थे—देखते हुए हम लोग अनुराधपुर में पहुंचे। यहां एक बहुत बड़ा स्तूप है। कहा जाता है कि अशोक के पुत्र महेन्द्र ने, यहीं पर आकर, गया से लायी हुई महाबोधि वृक्ष की एक शाखा लगायी थी। हम लोग वहां रात में नौ बजे के करीब पहुंचे थे। पीपल के एक वृक्ष के पास बौद्धों की धार्मिक सभा हो रही थी। उसमें एक भिक्षु कुछ उपदेश कर रहे थे। दृश्य बहुत ही सुंदर था। हृदय पर उसका बहुत असर पड़ा। हम उपदेश को समझ तो न सके, पर वहां बैठी हुई श्रोतामंडली बीच-बीच में जो 'साधु ! साधु !' कह उठती थी उसे हम समझ सके। लोगों ने बताया कि पीपल का वह वृक्ष वही है, जिसे महेन्द्र ने लाकर वहां लगाया था। यों तो बोधगया में भी जो महाबोधि वृक्ष है वह भी उस समय का नहीं है, पर उसी स्थान पर उसी वृक्ष का वंशज है। उसी तरह अनुराधपुर का महाबोधि वृक्ष भी महेन्द्र का ही लगाया हुआ नहीं है, उसका वंशज है जो उसी स्थान पर आज तक किसी-न-किसी तरह से कायम है। पर इससे भी अधिक चमत्कार और आश्चर्य की बात हमको यह सुनायी गयी कि वहां जो दीप जल रहा था वह भी महेन्द्र का जलाया हुआ है ! उस समय से आज तक वह दीप कभी बुझा नहीं है। बौद्धों ने उसे बाईस-तेईस सौ बरसों से बराबर जलाये रखा है ! यदि यह सच है तो शायद दुनिया में ऐसी कोई दूसरी अग्नि-शिखा न मिलेगी जो दो हजार बरसों से भी ज्यादा समय से बराबर जलती आ रही हो।

सीलोन की यात्रा समाप्त करके हम लोग रामेश्वरजी लौटे। वहां से परिवार के लोगों को लेकर, जिन तीर्थस्थानों में पहली बार न जा सके थे उनमें होते हुए, छपरे वापस आये। छपरे आकर हमने यह सुना कि हमारी गैरहाजिरी में ही भाईसाहब ने फोते में नश्तर लगवा लिया था। कुछ थोड़ी चीनी उनके पेशाब में आती थी। इससे घाव भरने में कुछ दिक्कत होने लगी। हम लोग सफर में थे, इसलिए हम लोगों को तार द्वारा भी खबर नहीं दी जा सकती थी। पर ईश्वर की दया से, हमारे लौटने के पहले ही, चिंता की अवस्था बीत चुकी थी। अब वह अच्छे हो रहे थे। थोड़े दिनों में फिर बिलकुल चंगे हो गये।

71

मेरी योरप यात्रा

बाबू हरिजी के मुकदमे में डुमरांव के महाराज ने प्रिवी कौंसिल में अपील कर दी थी। अब अपील की पेशी का समय नजदीक आ गया था। बाबू हरिजी चाहते थे कि मैं वहां के बैरिस्टरों की मदद के लिए विलायत जाऊं। मैं पहले ही कह चुका हूं कि उन्होंने असहयोग के आरम्भ के समय से ही मुझसे वचन ले लिया था कि उनके मुकदमे में मैं बराबर काम कर दूंगा। इसी वचन की पूर्ति में हाइकोर्ट की पेशी के समय भी मैंने काम किया था। अब विलायत जाने की बारी आयी तो इंकार नहीं कर सकता था। और, कुछ यह भी लालच हुई कि इसी बहाने विदेश की यात्रा भी हो जायेगी। इसलिए, अब हम वहां जाने की तैयारी करने लगे।

हमारा भतीजा जनार्दन, जो लोहा बनाने का काम सीखने वहां गया था, हाल में ही लौटा था। ताता कम्पनी (जमशेदपुर) में उसे नौकरी भी मिल गयी थी। वहां के रहन-सहन के संबंध में उससे तथा दूसरे मित्रों से सलाह करके मैंने सर्दी के लिए गर्म कपड़े बनवाये। मैं बराबर केवल खादी ही पहना करता था। वहां जाकर भी इस नियम को भंग करना मैंने उचित न समझा। इसलिए कशमीरी ऊन के कपड़े ही खादी भंडार द्वारा मंगाकर बनवाये। कपड़े की काटछांट भी देशी रखी। अंगरेजी पोशाक न पहनने का ही निश्चय कर लिया। फलस्वरूप दो बातें हुईं। बहुत कम खर्च में काम के लायक कपड़े तैयार हो गये। पोशाक चूंकि हिन्दुस्तानी थी, इसलिए उसमें कुछ भूल अथवा भद्दापन भी हो तो कोई विदेशी समझ नहीं सकता था। अंगरेजी पोशाक और रहन-सहन अख्तियार करने पर उन लोगों के फैशन और रीति-नीति के अनुसार ही चलना-फिरना, कपड़ा पहनना और खाना-पीना पड़ता है। अपने रहन-सहन कायम रखने से यह सब झंझट दूर हो जाती है। विशेषकर मुझ जैसे आदमी के लिए यह झंझट कुछ कम नहीं है; क्योंकि मैंने कभी जीवन-भर में कपड़े और फैशन पर ध्यान ही नहीं दिया है। हमने कपड़े को शरीर गर्म रखने और लज्जानिवारण का साधनमात्र समझा है। इसी नीति को बराबर बरतता आया हूं। 45-50 की अवस्था में नये सिरे से विदेशी फैशन को स्वीकार करके उसके तह-पेच को समझना और कपड़े पहनना तथा

समय-समय पर उसे बदलते रहना मेरे लिए कम कठिन काम न होता। और, ऐसा करने से खर्च भी काफी बढ़ जाता। इसलिए, मैंने वहां भी अपनी ही चाल चलना बेहतर समझा। ऐसा ही प्रबंध भी किया।

बाबू हरिजी चाहते थे कि मुझे हर तरह से आराम रहे—इंग्लैंड में भी, जहां तक हो सके, उनका काम करते हुए, आराम से ही रहूं। इसलिए उन्होंने आग्रह किया कि मैं अपने साथ नौकर भी ले जाऊं और बराबर फर्स्ट-क्लास में ही सफर करूं। मेरे सभी दोस्त, जिनको इंग्लैंड का कुछ भी अनुभव था, इसको गैरजरूरी समझते थे; पर उन्होंने नहीं माना। मैंने गोवर्धन को साथ ले लिया। मार्च के आरम्भ में ही, एक शुभ दिन को, जिसे उनके ज्योतिषी ने निश्चित कर दिया था, मैं घर से रवाना होकर बम्बई पहुंचा। वहां खादी भंडार में कुछ और कपड़े तैयार करने को कह दिया। वहां से, महात्मा गांधीजी से विदा लेने के लिए, साबरमती चला गया। रवाना होने के दिन भाईसाहब भी बम्बई पहुंच गये। कैसर-हिन्द जहाज में बम्बई से चला।

यह मेरी पहली विदेश यात्रा थी। मैं यहां भी उन लोगों के संसर्ग में बहुत न पड़ा जो विदेशी ढंग से रहते और खाते-पीते हैं। जाने के पहले एक दिन श्री सच्चिदानन्द सिंह (अब डाक्टर) ने मुझे अपने यहां अंगरेजी ढंग से टेबुल पर खिलाया था। मैंने कांटा-चमचे का इस्तेमाल देख लिया था। इत्तिफाक से जहाज पर मेरे कमरे में एक पारसी सज्जन थे। वह विदेश में सैर करने के लिए ही जा रहे थे। उनसे तो जान-पहचान हो ही गयी, पर दूसरे कोई मुलाकाती भाई या बहन उस जहाज में नहीं थे। मेरी आदत भी कुछ ऐसी है कि मैं किसी से स्वतः मुलाकात या जान-पहचान करने में बहुत सकुचाता हूं। इसलिए जहाज पर किसी भी देशी या विदेशी यात्री से एक-दो दिनों तक मुलाकात या बातचीत नहीं हुई। पर इतना मैं देखता था कि मेरी हिन्दुस्तानी पोशाक की ओर बहुतेरों की आंखें जाती थीं। मैं डेक पर अपनी कुर्सी रखकर कुछ पुस्तकें पढ़ता अथवा टहलता रहता। समुद्र बहुत शांत था। इसलिए किसी किस्म की मतली, चक्कर वगैरह मुझे नहीं आया।

दो दिनों के बाद एक अंगरेज सज्जन, जो आई. एम. एस. (इंडियन मेडिकल सर्विस) के पेंशन पाये हुए अफसर थे, मेरे नजदीक आये। मुझसे वह बातें करने लगे। मेरे खद्दर के कपड़े और एकांत में चुप बैठे रहने से उनका और उनकी स्त्री का ध्यान आकर्षित हुआ था। पेंशन पाने के बाद वह किसी कमीशन के मेम्बर होकर फिर हिन्दुस्तान आये थे। अपना काम पूरा करके वह वापस जा रहे थे। दोनों प्राणी बहुत ही अच्छे मिजाज के थे। वे गांधीजी के संबंध में कुछ जानते थे। खद्दर के संबंध में भी अखबारों में कुछ पढ़ा था। उनकी इच्छा थी कि हिन्दुस्तान में गांधीजी को देखते, पर इसका सुअवसर न मिल सका। जब बातचीत से उनको मालूम हो गया कि गांधीजी के साथ मेरा कैसा संबंध है तो उनकी दिलचस्पी और भी

बढ़ गयी। हमसे वे बराबर बातचीत किया करते। उनको यह जानकर कौतूहल हुआ कि मैं मांसाहारी नहीं हूं। वे स्वयं भी मांसाहारी न थे। उन्होंने मुझसे यह कहकर मुझे चकित कर दिया कि हिन्दुस्तान में शाकाहारी होकर रहना बहुत कठिन है; क्योंकि यहां शाकाहारी के उपयुक्त खाद्य पदार्थ बहुत कम मिलते हैं। उन्होंने मुझे बतलाया कि इंग्लैंड और तमाम योरप में ऐसे बहुतेरे रेस्तरां हैं जिनमें शाकाहारी भोजन मिल सकता है। वहां सब्जी बहुतायत से मिल सकती है—दूध और दूध से बने हुए बहुत तरह के खाद्य पदार्थ मिल सकते हैं। पर वहां के लोग अंडे को भी शाकाहार में ही दाखिल करते हैं! शाकाहारी खूब अंडे खाते हैं। जो लोग पक्के शाकाहारी हैं वे दूध और दूध के बने पदार्थ भी नहीं खाते; क्योंकि वे दूध को जानवर के खून का एक परिवर्तित रूप ही मानते हैं। इसलिए, उन्होंने मुझे चेता दिया कि इंग्लैंड में यदि मुझे किसी रेस्तरां में खाना पड़े, तो खास तौर से मुझे कह देना होगा कि मुझे अंडे से परहेज है, तभी वह बिना अंडे के भोजन देंगे, अन्यथा प्रायः सभी चीजों में किसी-न-किसी रूप में अंडे का अंश रहेगा ही। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा कि बिना अंडे के बिस्कुट इत्यादि भी सब जगह नहीं मिलते; पर यदि कोई दूकानदार कहे कि बिस्कुट या खाने की अन्य वस्तु बिना अंडे के बनी है, तो मुझे उसकी बात मान लेनी चाहिए; क्योंकि उसका स्वार्थ सच बोलने में ही है। अंडा महंगा पड़ता है। ये सब बातें मेरे लिए नयी थीं। पर उस दम्पति की मुलाकात ने मेरे लिए इस प्रकार की बहुत-सी जानने लायक बातें बता दीं। प्रतिदिन के जीवन के काम में आने वाले नुस्खे उन्होंने बता दिये। मैं अपने नियम के अनुसार वहां भी रह सका।

रास्ते में मुझे ऐसा मालूम हुआ कि जब तक जहाज स्वेज नहर में गुजरता है तब तक टामस कुक कम्पनी की ओर से ऐसा प्रबंध रहता है कि जो मुसाफिर चाहे, मोटर द्वारा जाकर 'कैरो' नगर और उससे थोड़ी दूर पर स्फिक्स को देख आ सकता है। मैंने यह देख लेना अच्छा समझा। मेरे ही जैसे कुछ और मुसाफिर भी थे, जिन्होंने टामस कुक के साथ वहां जाने का प्रबंध कर लिया। हम लोग बहुत सवेरे ही, करीब पांच बजे, जहाज से उतरकर मोटर पर कैरो चले गये। कैरो में पहुंचने पर, मुंह-हाथ धोने और कुछ हल्का नाश्ता कर लेने के लिए, एक होटल में हम लोग ले जाये गये। उसके बाद कैरो का अजायबघर देखने गये। वहीं पिरामिडों की खुदाई से निकली हुई चीजें सुरक्षित रखी गयी हैं। यह बड़ा सुंदर संग्रह है। प्राचीन मिस्र के कितने बड़े नामी और प्रतापी बादशाहों के शव (ममी), जो पिरामिडों से निकले हैं, वहां सुरक्षित हैं। अब देखने में वे काले पड़ गये हैं, पर मनुष्य का चेहरा और हाथ-पैर तो ज्यों के त्यों हैं। वे जिस महीन कपड़े में लपेटकर गाड़े गये थे वह कपड़ा भी अभी तक वैसे ही लिपटा हुआ है। यह कपड़ा बहुत ही बारीक हुआ करता था। सुना जाता है कि यह भारतवर्ष से ही जाया करता था। उन दिनों के वहां के निवासियों का विश्वास था कि आराम के सभी सामान यदि मुर्दे के साथ गाड़ दिये जायें तो परलोक में भी उनसे वह

आराम पा सकता है। इसी विश्वास के अनुसार, पिरामिडों के अंदर, शव के साथ, सभी आवश्यक वस्तुएं गाड़ी जाती थीं—पहनने के कपड़े और गहने, बैठने के लिए चौकी इत्यादि, खाने के लिए अन्न, शृंगार के सामान, सवारी के लिए रथ और नाव भी। वे सब चीजें एक-से-एक अच्छी बनी हैं। उससे जान पड़ता है कि उस समय भी लोग सोने का व्यवहार जानते थे।

सुना है कि इसी प्रकार की खुदाई से मोहन-जोदड़ो (सिन्ध) में जो गेहूं निकला वह बो देने पर उग गया। अजायबघर के संग्रह और विशेषकर प्रतापी राजाओं के शव देखकर मनुष्य के जीवन की अनित्यता साफ-साफ दीखने लगी। ऐसे दृश्य देखकर यह मालूम होने लगता है कि हम जो कुछ अपने बड़प्पन के मद में करते हैं, वह सब कितना तुच्छ और अस्थायी है ! जिन बादशाहों के संबंध में कहा जाता कि उन्होंने अपने जमाने में बहुत जुल्म किया था उनके शव उसी तरह आज भी पड़े हैं। जो विशेष करके वहां का इतिहास नहीं पढ़ता उसे उनके नामों तक की अब खबर नहीं है। मैंने कुछ चित्र खरीदे। यद्यपि अजायबघर का सफर बहुत अच्छा रहा, तथापि मेरे दिल पर क्षणभंगुर जीवन की असारता का गहरा असर पड़ा। मैं वहां से उदास ही निकला।

उस म्युजियम को देखने के बाद हम लोगों को शहर की कुछ प्राचीन और प्रसिद्ध इमारतें और दूसरी मशहूर जगहें दिखलायी गयीं, जिनमें एक बड़ी और सुंदर मस्जिद भी है। मिस्र में मुसलमान पूरब रुख मुंह करके नमाज पढ़ते हैं; क्योंकि वहां से काबा पूरब पड़ता है। यह हिन्दुस्तान की मस्जिदों जैसी पूरब रुख की न होकर पश्चिम रुख की होती हैं। यह बड़ी मस्जिद भी वैसी ही थी। वहां की भाषा अरबी है, पर योरपीय भाषाओं में से अधिक प्रचार वहां फ्रेंच का है। लोग साफ मालूम पड़ते थे। पुलिस वाले तुर्की फैज पहने हुए थे। कैरो यद्यपि पुराना शहर है, तथापि जिस हिस्से को हमने देखा वह बहुत कुछ आजकल के शहरों जैसा ही था।

दोपहर का भोजन करके हम लोग कुछ दूर तक मोटर पर पिरामिड देखने गये। एक स्थान पर पहुंचकर मोटर छोड़ देनी पड़ी। ऊंटों पर सवार होकर पिरामिडों तक जाना पड़ा। मेरे लिए ऊंट की सवारी बिलकुल नयी थी; क्योंकि मैं कभी हिन्दुस्तान में ऊंट पर न चढ़ा था। पर एक बार चढ़ जाने पर कोई विशेष बात न हुई। पिरामिडों को नजदीक जाकर देखा। ये बहुत ऊंची चौखूंटी इमारतें हैं। हमारे देश में ईंटों का पजावा जैसे बनता है वैसे ही ये पत्थरों के बहुत बड़े-बड़े चौरस किये हुए टुकड़ों से बने हैं। पजावे की तरह ही नीचे की चौड़ाई ज्यादा है जो ऊपर की ओर कम होती गयी है। ईंटों का पजावा तो छोटा होता है, ये बहुत बड़े और बहुत ऊंचे हैं। जिस परिमाण में ये ऊंचे और चौड़े हैं उसी परिमाण में इनमें लगी हुई पत्थर की ईंटें भी पजावे की ईंटों से लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई में अधिक हैं। मेरा अनुमान है कि एक-एक ईंट शायद चार-पांच हाथ लम्बी होगी। इसी के अनुसार उसकी

चौड़ाई और मोटाई भी होगी। न मालूम कितने दिनों में एक-एक ईंट काटकर इतनी बड़ी इमारत तैयार हुई होगी। इसमें कितने गरीबों ने अपनी जिंदगी का कितना हिस्सा लगाया होगा! यह सब किसी एक राजा के नाम को उसके मरने के बाद भी, कायम रखने के लिए किया गया था! नाम तो अब केवल पुस्तकों में रह गया है! ये इमारतें, जिनसे मनुष्य कोई लाभ नहीं उठा सकता, अपनी जगह पर आज भी, हजारों बरसों के बाद ज्यों की त्यों, खड़ी हैं। उनमें से अनेकों के अंदर की खुदाई हुई है। उन्हीं में से निकले हुए सामान का संग्रह कैरो के अजायबघर में है। मुझे स्मरण है कि हाल में हम लोगों ने अखबारों में पढ़ा था कि कब्रें खोदने वाले की मृत्यु हो जाती थी। जिस किसी ने यह प्रयत्न किया वह मर गया। खोदने वाला मर तो गया; पर वहां की खुदाई से बहुत सामान निकला।

स्फिंक्स एक अजीब चीज है। मनुष्य का मुंह और शरीर जानवर का है। एक बहुत बड़ी मूर्ति उस रेगिस्तान में इसी शक्ल की बनी पड़ी है। सुनते हैं कि प्राचीन काल में इससे प्रश्न किये जाते थे और यह भविष्य की बातें बता देता था। पर यह जो कुछ कहता था, उसका समझना कठिन था। अब ये बातें तो नहीं हैं, पर यह मूर्ति यों ही खड़ी उस प्राचीन समय का स्मरण कराती रहती है।

यह सब देखकर हम लोग संध्या तक वापस आकर रेल पर सवार हुए। पोर्ट-सईद में प्रायः 11 बजे रात के करीब पहुंचे। वहां जहाज पहुंच गया था। हम सब अपने-अपने कमरे में जाकर सो रहे। खाना-पीना रास्ते में रेल में ही हो चुका था।

भूमध्य सागर में पहुंचने पर कुछ सर्दी लगने लगी। लाल समुद्र तो बहुत गर्म था—अरब सागर से भी अधिक। भूमध्य सागर में हवा भी जोर से चलती थी, इसलिए जहाज कुछ हिलता था। मुझे एक दिन कुछ मतली-सी आयी, पर अधिक नहीं। रास्ते में जो देखने को मिला, मैं सब कुछ देखता गया। इटली के नजदीक सिसिली टापू के पास से होकर ही जहाज गुजरा। वहां का शहर कुछ दूर पर देखने में आया। पहाड़ तो साफ नजर आता था। कई दिनों के बाद हम लोग मार्सेल्स (फ्रांस) पहुंच गये। रास्ते में कोई विशेष बात नहीं हुई। कभी-कभी कोई टापू नजर आ जाता था तो सब लोग उसे देखने लगते थे। समुद्र-यात्रा में चारों ओर पानी-ही-पानी दीखता है। इससे दिन-रात पानी देखते-देखते एक-दो दिनों के बाद ही जी ऊब जाता है। अगर कहीं कोई दूसरा गुजरता हुआ जहाज नजर आ गया या जमीन देखने में आ गयी, तो बहुत आनन्द होता है। सभी मुसाफिर उसे इस तरह देखने लगते हैं मानो उन्होंने कभी जमीन देखी ही नहीं है।

हम लोग मार्सेल्स में सवेरे ही उतरे। वहां एक होटल में ठहर गये। वहां भी कुक कम्पनी की कृपा से शहर के सभी देखने योग्य स्थानों को देख लिया। टामस कुक का प्रबंध बहुत अच्छा होता है। यात्रियों को उनका दुभाषिया मुख्य-मुख्य स्थान दिखला देता है। उनकी अपनी मोटर-गाड़ी रहती है। ऐसा अच्छा प्रबंध रखते हैं कि निश्चित समय के अंदर

आदमी सब कुछ देख लेता है। सवेरे जहाज से उतरते ही, रात में रवाना होने वाली गाड़ी में, अपने लिए जगह मैंने ठीक करा ली थी। दिन-भर घूम-घामकर रात की गाड़ी से पेरिस के लिए रवाना हो गया। पेरिस में गाड़ी बदलकर कैले पहुंचा। वहां फिर जहाज पर चढ़कर संध्या होते-होते डोवर में उतर गया। डोवर से रेल पर चलकर रात के प्रायः 9 बजे लंदन पहुंच गया। वहां मैं मार्च के तीसरे सप्ताह में पहुंचा था, पर अभी तक काफी सर्दी थी। स्टेशन पर पहले से वहां पहुंचे हुए मित्र मिल गये। मैं सीधे उस मकान में चला गया जो पहले से किराये पर लिया गया था। वह गोल्डर्सग्रीन में था। हम लोग कुछ दिनों तक वहीं ठहरे रहे।

वहां पर सब प्रबंध पहले से ही था। श्री महावीर प्रसाद बैरिस्टर और श्री कुंवरबहादुर पहले से ही वहां ठहरे थे। इसलिए वहां घर जैसा ही मालूम हुआ। फिर गोवर्धन के मेरे साथ आ जाने से खाना भी हिन्दुस्तानी मिलने लगा। जैसे यहां हम लोग भात-दाल, रोटी-तरकारी खाते हैं वैसे ही वहां भी खाने लगे। मैं तो मुकदमे की पैरवी के लिए गया था। जिस रात मैं पहुंचा, लोगों से कुछ बातचीत करके सो गया। पहुंचते ही मालूम हो गया कि सवेरे उठकर बैरिस्टर के यहां जाना होगा; क्योंकि उसने आपस में बातचीत करने के लिए समय दिया है। इसलिए, लंदन पहुंचने के बारह घंटों के अंदर ही मैं काम में जुट गया। और, जब तक मुकदमा खतम न हुआ, दिन-रात उसी के काम में लगा रहा।

72

लंदन में मेरा कार्यक्रम और मुकदमे की पैरवी

मेरा कार्यक्रम वहां यह था कि मैं अपनी आदत के मुताबिक बहुत सवेरे उठता। वहां लोग सवेरे बहुत देर तक सोये रहते हैं। अधिकतर रात की पहली पहर में ही जागकर काम करते हैं। मैं ऐसा कभी नहीं करता। वहां भी ऐसा न कर सका। जब सब लोग सोये ही रहते थे, मैं मुंह-हाथ धोकर और स्नानकर कपड़े पहन कमरे में बैठ जाता और मुकदमे के कागज पढ़ने लगता।

सब लोग सवेरे प्रायः नौ-साढ़े नौ बजे तैयार होते। उस समय तक मैं प्रायः दो घंटे काम कर चुका होता था। उसके बाद नाश्ता करके प्रायः दस बजे लाइब्रेरी में चला जाता। वहां कानून की पुस्तकें पढ़ने लगता। वहां के हमारे एटर्नी ने लाइब्रेरी में हमारे लिए सुविधा करा दी थी। इससे अंगरेजी कानून की हर तरह की पुस्तकें देखने को मिल जातीं। एक बजे दिन तक इस तरह काम करके मैं नजदीक के ही एक शाकाहारी लोगों के रेस्तरां में चला जाता। वहां कुछ फल, रोटी, दूध इत्यादि खा लेता। कहने से सब कुछ बिना अंडे के वह बना देते। दो-एक दिनों में तो वहां के आदमियों ने मुझे पहचान लिया, इसलिए पहुंचने पर कुछ कहने की भी जरूरत नहीं पड़ती। फिर संध्या तक कोर्ट में काम करके प्रायः छः बजे वहां से वापस आता। आना-जाना रेल से होता, जो जमीन के भीतर से चलती है। घर पर संध्या का भोजन करके शाम को कुछ देर के लिए टहलने जाता और लौटकर कुछ काम करके सो जाता। किसी-किसी दिन बैरिस्टरों के साथ सलाह-बात होती। उसके अनुसार इस कार्यक्रम में तबदीली हो जाती। इस तरह प्रायः दो महीने बीते। अब बाबू हरिजी भी पहुंच गये। इस बीच में मुझे कुछ दिनों के लिए हाइथ में जाकर रहना पड़ा था।

हमारी तरफ के सीनियर बैरिस्टरों में एक श्री लक्समूर थे, जो थोड़े ही दिनों के बाद वहां के हाइकोर्ट के जज हो गये। उनका घर था हाइथ के पास एक गांव में। ईस्टर की छुट्टी में वह अपने घर गये। हमारी ओर से उनसे कहा गया कि यह मुकदमा बहुत पेचीदा है, यदि आप कहें तो कागज पढ़ने में आपकी सहायता करने के लिए हममें से कोई आपके साथ वहां जाये। पहले वह राजी नहीं होते थे, पर बहुत कहने-सुनने पर वह राजी हो गये। मैं हाइथ में

ठहरा। वहां से उनका घर सात-आठ मील की दूरी पर था। रोज सवेरे नौ बजे उनकी मोटर आकर मुझे ले जाती। साढ़े नौ बजे से हम लोग काम करने बैठ जाते। बीच में एक घंटा दोपहर के भोजन के लिए और आधा घंटा चाय के लिए छोड़कर प्रायः साढ़े छः-सात तक काम करते रहते। मैं फिर हाइथ उसी तरह चला आता। दोपहर का खाना उन्हीं के यहां खाता। उनकी पत्नी को मेरे शाकाहारी होने की बात मालूम हो गयी थी। उन्होंने उसके लिए प्रबंध कर लिया था। प्रायः पंद्रह दिनों तक वहां रहा। काम के सिलसिले में उनसे बहुत घनिष्ठता हो गयी।

हमारे सबसे सीनियर बैरिस्टर श्री अपजौन थे। उनकी अवस्था उस समय पचहत्तर से अधिक हो गयी थी। अब भी वह काफी परिश्रम कर लेते थे। स्वास्थ्य उनका बहुत अच्छा था। मुकदमे के कागज प्रायः पंद्रह हजार पृष्ठों में छपे थे। बातें भी बहुत पेचीदा थीं। कहीं-कहीं एक ही कागज पचीस-तीस पृष्ठों का होता, पर उसमें हमारे काम की केवल तीन-चार ही पंक्तियां मिलतीं। हम लोगों के पास पटने से ही पूरा-पूरा नोट तैयार था। हम समझते थे कि हम अगर बैरिस्टरों के साथ बैठें और ऐसे दस्तावेजों के आवश्यक भाग की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर दें तो उनका समय बच जायेगा। इसलिए ही हम चाहते थे कि हमारे साथ वे कागज पढ़ें। पहले कोई राजी नहीं होता था, पर मिस्टर लक्समूर राजी हो गये। मिस्टर अपजौन राजी नहीं हुए। इसके लिए अलग से फीस देने को कहा। यहां हिन्दुस्तान में ऐसा ही हुआ था। कागज पढ़ने के लिए जब हममें से किसी के साथ सीनियर लोग बैठते तो उसके लिए फी घंटा 85 रुपये अलग फीस लेते। प्रायः 15000 पृष्ठ इस तरह 85 रुपये घंटे के हिसाब से पढ़वाये गये थे। बाबू हरिजी चाहते थे कि जो खर्च पड़े, यही बात वहां भी की जाये। पर मिस्टर अपजौन, जिनको हमारी ओर से सबसे पहले बहस करनी थी, इस पर किसी तरह राजी न हुए। उनका कहना था कि जो फीस हमको मिली है वह केवल इजलास पर बैठने या खड़े होने के लिए ही नहीं है, कागज पढ़ना हमारा कर्तव्य है; क्योंकि इसके बिना वहां हमारा जाना बेकार होगा, इसलिए कागज पढ़ने के लिए अलग फीस मैं नहीं लूंगा और मैं अपना काम खुद कर लूंगा—हां, अगर कहीं किसी विषय पर नोट की जरूरत होगी तो मांगूंगा, तुम लोगों को कोई नोट देना हो तो दे देना, मैं उसे देख लूंगा; यहां का रिवाज कागज पढ़ने के लिए किसी दूसरे के साथ बैठने का नहीं है, जब कभी दूसरे लोगों के साथ राय-मशविरा करना होगा तो बुला लूंगा; उसकी उचित फीस—कंसलटेशन की होती है—लूंगा।

बाबू हरिजी कुछ घबराये; क्योंकि वह समझते थे कि इतना वयोवृद्ध इतने कागजों को खुद पूरी तरह शायद न पढ़ सकेगा और पढ़ते-पढ़ते घबरा जायेगा; क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है, किसी बहुत लम्बे कागज में 25-30 पृष्ठ पढ़ने के बाद दो-चार पंक्तियां काम की

मिलेंगी और हो सकता है कि वह उन पंक्तियों को लांघकर आगे बढ़ जाये और यह न समझे कि यह कागज किसलिए दाखिल किया गया है। जब उनसे यह कहा गया कि आपका समय बहुत फजूल चीजों के पढ़ने में व्यर्थ लगेगा तो उन्होंने जवाब दिया कि मैं एक पंक्ति भी बिना पढ़े नहीं छोड़ूंगा—तुम समझते हो कि वही दो-चार पंक्तियां जो तुम बताओगे, जरूरी हैं; पर बहस मुझे करनी है, हो सकता है कि मैं अपनी बुद्धि और अनुभव से दो-चार पंक्तियां ऐसी दूसरी भी निकाल लूं जिनसे हमारा काम निकले और जिनको तुम लोगों ने गैरजरूरी समझा है; इसलिए मैं अकेला ही सब पढ़ूंगा और तब जरूरत पड़ने पर कुछ पूछना होगा तो पूछूंगा।

इसका उत्तर कुछ नहीं था। बाबू हरिजी को चुप रह जाना पड़ा। पर वह शंकित ही रहे।

प्रिवी कौंसिल का कायदा है कि दोनों पक्ष अपनी बहस का सारांश लिखकर दाखिल कर देते हैं। इसे केस पेश करना कहते हैं। केस बड़ी सावधानी से तैयार किया जाता है; क्योंकि उसके बाहर की बातों पर बहस नहीं हो सकती। एक पक्ष को दूसरे पक्ष का केस, अपना केस दाखिल करने के पहले, देखने को नहीं मिलता। इसलिए दोनों पक्षों को, विपक्षी के केस का उत्तर भी, अपने केस में, पहले से ही अंदाज से दे देना पड़ता है। जब मिस्टर अपजौन ने हम लोगों का केस तैयार किया, हमने उसे देखा। हम सब को, विशेषकर बाबू हरिजी को, पूरा विश्वास हो गया कि उन्होंने सारी पेचीदगियों को अच्छी तरह समझ लिया है और सभी कागजों को पूरा-पूरा पढ़ लिया है। इससे हम लोगों को पूरा संतोष हो गया। कानूनदां लोगों के बर्ताव का यह बहुत ऊंचा आदर्श मेरे देखने में आया। मैं तो इस पर मुग्ध हो गया। अफसोस के साथ कहना पड़ता है, अपने देश में इतना ऊंचा आदर्श मैंने नहीं देखा था!

मिस्टर अपजौन से मेरी जान-पहचान विचित्र तरीके से बढ़ गयी। मेरा हिन्दुस्तानी लिबास देखकर वह समझते थे कि मैं या तो बाबू हरिजी हूं या उनका कोई संबंधी, जो मुकदमे की पैरवी के लिए आया है! वह मुझे वकील नहीं जानते थे। एक दिन 'कंसलटेशन' में उन्होंने कुछ प्रश्न किये। मैं पीछे बैठा था, मैंने उत्तर दे दिया। उन्होंने मेरी ओर देखा, पर कहा कुछ नहीं। पीछे हममें से एक आदमी से, जो उनके यहां वकील की हैसियत से जाया-आया करते थे, उन्होंने कहा कि हम लोगों का मवक्किल तो बड़ा होशियार मालूम होता है, उसने मेरे प्रश्नों का अच्छा उत्तर दिया था। इस पर हमारे सहकर्मी ने मेरे बारे में बताया कि मैं मवक्किल नहीं, बल्कि एक वकील हूं और अपनी वकालत छोड़ दी है। इससे उनका कुतूहल कुछ बढ़ गया। पीछे उन्होंने मुझसे बहुत काम लिया। अनेक प्रकार के नोट तैयार करने की फरमाइश की। मैं बराबर तैयार करके दे देता। जब मुकदमे की पेशी का समय आया तो उन्होंने मुझसे पूछा, क्या तुम इजलास पर हाजिर रहना चाहते हो? मेरे 'हां' कहने पर बोले, यह जरूरी नही है, तुम्हारा समय दूसरे तरीके से बेहतर उपयोग में आवेगा,

मुझे बहुत विषयों पर नोट चाहिए, तुम घर पर रहकर तैयार करो । मैंने कहा, यदि मैं नोट तैयार करके दे दिया करूं और घर पर रहना जरूरी न हो तो ? उन्होंने कहा, नहीं, नोटों के तैयार करने में समय लगेगा, तुम हाजिर नहीं हो सकोगे; पर यदि तुम नोट में देरी न करो और इजलास पर भी हाजिर रह सको तो मुझे कोई उज्र नहीं है; पर नोट में देरी मैं बर्दाश्त नहीं कर सकूंगा । यह बात मशहूर थी कि वह बहुत बदमिजाज हैं, अपने विरोधी और साथी बैरिस्टरों तथा जजों से भी उलझ जाया करते हैं । इसलिए मैं बहुत डरता था; पर मैंने देख लिया कि वह मेरे नोटों से संतुष्ट हो जाते थे । वह टेलिफोन कर देते थे कि मैं इजलास लगने के दस या पांच मिनट पहले उनसे मिलूं । वहां वह घर से ही उन विषयों को नोट करके लाते जिन पर मुझसे वह नोट लिखाना चाहते थे । मुझे वह उन नोटों को लिखवा देते । मैं उसके पहले के नोट देखकर आता और उनमें जो कुछ पूछना होता, पूछ लेता। यदि मैं पहले से कागज-पेंसिल लेकर तैयार न रहता तो इस पर भी बिगड़ जाते । समय का इतना सदुपयोग करते कि एक मिनट भी बर्बाद न होने पाता ।

मैंने एक बात और देखी । वह हमारे देश के, विशेषकर पटने और कलकत्ते के, वकीलों और बैरिस्टरों के लिए अनुकरणीय है । जब मैं वकालत करता था, मेरा अनुभव हुआ कि कोर्ट में जाने पर जब तक हम घर लौटकर नहीं आते तब तक का हमारा अधिकांश समय, जो अपने मुकदमे की पेशी में नहीं लगता, प्रायः बेकार-बरबाद हो जाता है । बार एसोसिएशन या पुस्तकालय में बैठकर हम लोग बहुत कम कागज अथवा पुस्तकें पढ़ते हैं । हम लोग अपने मुकदमे की बहस की तैयारी घर पर ही किया करते हैं । कोर्ट में जब मुकदमा पेश होता है और जब तक चलता रहता है तब तक, जिसका मुकदमा रहा उसका समय तो उपयोग में आया, पर जिन दूसरे लोगों की मुकदमे की पेशी नहीं हुई है वे केवल गपशप में सारा समय बिताते हैं । कहीं-कहीं शतरंज की बाजी भी जम जाती है । मेरा अपना अनुभव भी यही था कि वहां पर बैठकर कागज या पुस्तक पढ़ना बहुत मुश्किल है; क्योंकि इसके लिए वहां का वायुमंडल अनुकूल नहीं रहता । जहां सब लोग गपशप और हंसी-मजाक कर रहे हों वहां कोई कैसे पढ़ सकता है ? इसलिए मुकदमों के कागज पढ़ने का सारा समय घर पर ही निकालना पड़ता है । मेरे पास काफी मुकदमे रहा करते थे । इसलिए मुझे बराबर प्रायः 3-4 बजे तड़के ही उठकर तैयारी करनी पड़ती थी । वहां मैंने देखा कि बैरिस्टर अपना सारा काम चाहे लाइब्रेरी में या अपने चेम्बर में ही पूरा करते हैं । इजलास पर जजों के बैठने के कुछ पहले ही आ जाते हैं । फिर इजलास उठ जाने के बाद भी घंटा-दो घंटा बैठ जाते हैं । बीच में जब मुकदमे की पेशी से छुट्टी मिलती है, काम करते हैं । कोई-कोई तो घर पर मुकदमे के कागज ले भी नहीं जाते । यहां तक कि घर में कानून की पुस्तकें भी नहीं रखते । उनका विचार है कि घर तो बस घर ही है—वहां बाल-बच्चों से मिलना, बातें करना, खाना-पीना, दिल बहलाना, अथवा जी चाहे तो इच्छा के अनुसार दूसरी पुस्तकें पढ़ना चाहिए; पेशे का

काम तो दिन-भर में चाहे चेम्बर में, चाहे इजलास पर ही करना चाहिए। इस प्रकार दिन का पूरा समय ठीक उपयोग में आता है तथा रात और सवेरे का समय अपना होता है, जिसे हम जिस तरह चाहें अपने उपयोग में ला सकते हैं।

वहां के बहुतेरे वकील-बैरिस्टर शनिवार और रविवार को लंदन से बाहर चले जाते हैं। मिस्टर अपजौन बिला नागा प्रत्येक शुक्रवार की संध्या को इजलास से उठकर सीधे स्टेशन जाते थे। वहां से रेल द्वारा लंदन से प्रायः 70 मील की दूरी पर अपने गांव के घर में जाकर रहा करते थे। फिर रविवार की संध्या को लंदन चले आते थे। सप्ताह के अंतिम दो दिनों को हमेशा गांव की खुली हवा में ही बिताते थे। हम लोगों की इच्छा थी कि जब तक यह मुकदमा पेशी में रहे, वह लंदन में ही रहें। हम समझते थे कि शनिचर-इतवार को ही दूसरे पक्ष की बहस वाली और अपनी बातें उनसे कहने का मौका मिल सकेगा; क्योंकि और दिनों तो सारा समय इजलास पर ही लग जायेगा। उनसे कहा गया कि आप शनिचर-इतवार को लंदन में ही रहें और उन दिनों के लिए भी वैसे ही फीस लें जैसे पेशी के दिन की लेते हैं। उन्होंने इसे मंजूर नहीं किया। फीस की लालच भी उन्हें अपने इस नियम से न हटा सकी। अंत में बहुत जिद करने पर उन्होंने कहा कि सप्ताह के ये दो दिन यदि गांव की खुली हवा में न बिताऊं तो सप्ताह के बाकी पांच दिन मैं काम के लायक नहीं रहूंगा—क्या तुम समझते हो कि मैं यदि यह नियम न रखता तो आज इस उम्र में इतना काम कर सकता था? मवक्किल को समझा दो कि यहां रहने से मैं उनका काम बिगाड़ूंगा, बनाऊंगा नहीं, इसलिए वह जिद छोड़ दें। हम लोग भी उनकी बात समझे गये। यदि हमारे देश के लोग भी इस तरह समय का उपयोग करते और स्वास्थ्य का ख्याल रखते, तो हमारी जिंदगी कुछ लम्बी हो जाती और हम काम भी अधिक कर सकते।

हम लोगों का, खासकर हमारे बड़े-बड़े बैरिस्टरों का, ख्याल था कि हमारा मुकदमा बहुत मजबूत है, हम जरूर जीतेंगे। मिस्टर अपजौन का कहना था कि हमको शायद बहुत जवाब देने की भी जरूरत नहीं पड़ेगी। मुकदमे की बहस 20-22 दिनों तक दूसरे पक्ष की ओर से चली। अभी शायद एक-डेढ़ महीने तक और उधर की ही बहसें चलती। इसी बीच में कचहरी प्रायः तीन महीनों के लिए बंद होने जा रही थी। इसका नतीजा यह होता कि मुकदमे की पेशी फिर अक्टूबर में होती और शायद दिसम्बर तक चली जाती। उन दिनों सर्दी काफी पड़ेगी और हममें से बहुतेरे उसे सह न सकेंगे; खासकर मैं तो उस सर्दी को बर्दाश्त कर ही नहीं सकता था। बाबू हरिजी इससे बहुत घबराये। एक मौका मिला तो किसी दूसरे से बिना पूछे ही सुलह की बात तय कर ली। वह जानते थे कि वकील-बैरिस्टर सुलह करने की बात पसंद नहीं करेंगे; क्योंकि वे तो मुकदमा जीतने में दृढ़ आशावान थे। तब भी, खर्च बचाने और जाड़े की दिक्कतों से बचने के लिए, बहुत नुकसान उठाकर, उन्होंने सुलह कर ली। सब बातें तय कर लेने पर, लिखकर दाखिल करने के समय, उन्होंने ये बातें सबसे

कहीं। दूसरे को अब कुछ कहना नहीं था। सुलहनामा पेश हो गया। मुकदमा अचानक एक दिन, जुलाई के अंतिम सप्ताह में, समाप्त हो गया। हम सबको छुट्टी मिल गयी।

मिस्टर अपजौन मुकदमे की बातें छोड़ कभी दूसरी बातें नहीं करते थे। उनके साथ मेरा इतना काम पड़ा कि उन्होंने मेरे संबंध में कुछ जानने की इच्छा से श्री कुंवरबहादुर से कुछ बातें पूछीं। उनको यह मालूम हो गया कि अब वकालत छोड़कर मैं गांधीजी के साथ काम करता हूं। इससे उनको आश्चर्य हुआ। एक दिन मुझसे पूछा भी। यह भी कहा कि गांधीजी उनके मवक्किल रहे हैं! जलियांवाला बाग के हत्याकांड के लिए जेनरल डायर पर मुकदमा चलाने के संबंध में उनसे राय ली गयी थी। उन्होंने राय दी भी थी। मैंने उनसे कहा कि गांधीजी डायर पर मुकदमा चलाने के विरुद्ध थे, हो सकता है कि पं. मोतीलालजी और देशबन्धु दास ने आपकी राय मंगवायी हो। इस पर उन्होंने कहा, मैंने समझा कि कांग्रेस की ओर से गांधीजी ने ही मेरी राय मंगवायी है। उस समय तक मैं खुद भी नहीं जानता था कि हत्याकांड का मामला इस हद तक पहुंचा है और विलायत के बैरिस्टर से राय ली गयी है। मेरे संबंध में उन्होंने इतना ही कहा, तुमको वकालत नहीं छोड़नी चाहिए, इस संबंध में मुकदमा खतम होने पर एक दिन बातें करूंगा। लेकिन मुकदमा तो अचानक समाप्त हो गया और मुझे बहुत जल्दबाजी में लंदन छोड़ देना पड़ा; इसलिए उनसे फिर बातें न हुईं।

73

युद्ध-विरोधी सम्मेलन में

लंदन छोड़ने का एक विशेष कारण हुआ। जिस दिन मुकदमा समाप्त हुआ उसके दो ही दिनों के बाद, आस्ट्रिया के एक छोटे गांव सन्तासवर्ग में, जो वियना से कुछ दूर पर है, एक अंतरराष्ट्रीय युद्ध-विरोधी सम्मेलन होने वाला था। मैं इस विषय में कुछ दिलचस्पी रखता था। मिस्टर फेनर ब्राकवे उसके सभापति होने वाले थे। बिहार के ही श्री तारिणी प्रसाद सिंह ने, जो इंग्लैंड में बहुत दिनों से थे और जो उस सम्मेलन में जाने वाले थे, मुझसे कहा कि मैं भी चलूं तो अच्छा होगा। इस तरह के सम्मेलन की बात मैंने पहले से भी सुन रखी थी। उसमें जाने का पहले से ही इरादा कर रखा था। मुकदमा खतम हो जाने से बहुत अच्छा सुयोग मिल गया। इसलिए मैं वहां जाने को तुरंत राजी हो गया। हम लोग एक और पंजाबी मित्र के साथ रवाना हो गये। दूसरे दिन वहां पहुंच गये। रास्ते में कोई विशेष घटना न हुई। योरप के छोटे-छोटे देशों का केवल कुछ अंदाज मिल गया। जब गाड़ी चार-पांच घंटे चलकर ठहर जाती तब जान पड़ता कि अब दूसरे देश की सीमा पर हम पहुंच गये। वहां उस देश के कर्मचारी चुंगी के लिए हमारे सामान देखने आ जाते। हमारे पासपोर्ट (राही परवाना) को भी जांचते। इस तरह आस्ट्रिया प्रायः 24 घंटों में हम पहुंचे। रास्ते में तीन-चार बार सामान दिखलाना पड़ा।

युद्ध-विरोधी सम्मेलन हुआ था एक गांव में, जहां एक छोटी पहाड़ी पर पुराना गिरजाघर था। उसमें जर्मनी, आस्ट्रिया, फ्रांस, इंग्लैंड, प्लस्तीन, चेकोस्लोवेकिया, हालैंड इत्यादि अनेक देशों के प्रतिनिधि उपस्थिति थे। प्रतिनिधि-संख्या बहुत बड़ी नहीं थी; किंतु अपने-अपने स्थान पर सभी बहुत धुन से युद्ध-विरोधी प्रचार के काम में लगे थे। इनमें से वहुतेरों ने इसके लिए सजा भुगती थी, जेलखाने हो आये थे। जब उन लोगों को मेरे बारे में यह मालूम हुआ कि मैं गांधीजी के साथ काम करता हूं तो उनका स्वभावतः मेरी ओर ध्यान आकर्षित हो गया। वे लोग मुझसे गांधीजी के कामों और कार्यशैली के संबंध में बहुत पूछताछ करते रहे। कांफ्रेंस में भी कुछ कहने का मुझसे आग्रह किया गया। मैंने महात्माजी के कार्य के संबंध में कुछ बातें बतायीं। भारत में उन दिनों बारदोली का सत्याग्रह चल रहा था। उसकी कुछ-कुछ खबर हमको वहां मिली थी। मैंने विशेषकर चम्पारन और बारदोली

के सत्याग्रह के संबंध में ही भाषण किया। मैंने यही दिखलाया कि किस तरह उनकी अहिंसा की नीति सार्वजनिक प्रश्नों के हल करने में काम में लायी जाती है और वह कहां तक सफल हुई है। हम लोग वहां दो-तीन दिन ठहरे। बहुत अच्छा समय बीता।

कांफ्रेंस की कार्रवाई—जर्मन, फ्रेंच, अंगरेजी और एसपरेंटो चार भाषाओं में होती थी। एक जर्मन युवक, जिसकी चर्चा पहले कर चुका हूं, चारों भाषाओं का ऐसा पंडित था कि चाहे किसी भी भाषा में भाषण हो वह शीघ्रलिपि (शार्टहैंड) से पूरा भाषण लिख लेता था और अपने नोट को सामने रखकर पूरा-का-पूरा भाषण बाकी तीन भाषाओं में उल्था करके सुना देता था।

कांफ्रेंस में युद्ध-विरोधी प्रस्ताव पास किये गये। यह निश्चय हुआ कि कांफ्रेंस के बाद, कुछ मुख्य स्थानों में, कांफ्रेंस के प्रतिनिधि जाकर युद्ध-विरोधी भाषण द्वारा प्रचार करें। वहां से कुछ दूर पर ग्राट्ज नामक शहर है। वहां डाक्टर स्टांडिनाथ अपनी धर्मपत्नी के साथ रहा करते थे। यह वहां के मेडिकल कालेज में शिक्षक थे। महात्माजी से इस दम्पति का पत्र-व्यवहार हुआ करता था, यद्यपि ये लोग उस समय तक हिन्दुस्तान नहीं आये थे। मेरे योरप आने के समय महात्माजी ने मुझे इनके नाम एक पत्र दिया था और कहा था कि उधर जाना हो तो इनसे मिल लेना। जब ग्राट्ज भी जाने की बात हुई तो मैंने उनको सूचना दे दी और गांधीजी का पत्र भी भेज दिया। कांफ्रेंस के मंत्री इंग्लैंड के श्री रनहम ब्राउन थे। उनके साथ कई और प्रतिनिधि वियना और ग्राट्ज जाने के लिए नियुक्त किये गये। वियना में एक सभा हुई जिसमें वहां के एक प्रसिद्ध पादरी श्री उदा सभापति हुए। वहां की सभा में कुछ ऐसे लोग आये थे जो बीच-बीच में बहुत शोर मचाते रहे। मैं उनकी बात समझ नहीं सकता था; इसलिए यह नहीं कह सकता कि वह क्या बोलते या चाहते थे; पर इतना तो मालूम हुआ कि वे लोग विरोधी विचार के थे। उस सभा में इससे अधिक कोई घटना नहीं हुई।

दूसरे दिन हम लोग ग्राट्ज गये। वहां संध्या को 5 बजे हम पहुंचे। सात बजे से सभा होने वाली थी। स्टेशन पर डाक्टर स्टांडिनाथ अपनी स्त्री के साथ आये थे। उन्होंने मुझे अपने यहां ठहरने के लिए निमंत्रित किया और मैं उनके साथ चला गया। दूसरे साथी कहीं दूसरी जगह ठहरे, जिसका मुझे पता न था; हम समझते थे कि फिर दो घंटों के बाद तो मुलाकात होगी ही। डाक्टर स्टांडिनाथ के घर से थोड़ी ही दूर पर सभा-स्थल था। उनके घर पर हाथ-मुंह धो, कुछ खाकर, उन दोनों के साथ मैं, सभा-स्थान के लिए, समय से कुछ पहले, रवाना हुआ। वहां पहुंचकर उस बड़े कमरे के अंदर गया जहां सभा होने वाली थी। इस तरह की सभा मैंने कभी देखी न थी। एक बड़ा हाल था जिसमें प्रायः चार-पांच सौ आदमी बैठ सकते थे। छोटी-छोटी मेजें सारे कमरे में रखी थीं। प्रत्येक मेज के चार तरफ से पांच-छः आदमी बैठे थे। प्रत्येक आदमी के सामने शराब का गिलास रखा था। प्रायः सभी सिगरेट

या सिगार पी रहे थे। सारा कमरा धुएं से भरा हुआ था। कमरे के अंदर जाने के लिए एक तरफ दरवाजा था। कमरे के दूसरे छोर पर, दीवार के नजदीक, लकड़ी का एक चबूतरा, (प्लेटफार्म) बना था, जिस पर पांच-सात कुर्सियां रखी थीं और एक लम्बी-सी मेज भी। उस प्लेटफार्म के एक कोने के नजदीक एक छोटा-सा दरवाजा भी था, जिसका किवाड़ बंद था। हम लोग कमरे के अंदर घुसे। मेरी पोशाक से ही शायद कुछ लोग समझ गये कि मैं भी उन लोगों में से हूं जो वहां भाषण करने आये हैं। कमरे में घुसते ही मुझसे एक आदमी ने पूछा कि मैं जर्मन में भाषण करूंगा या किसी दूसरी भाषा में ? मैंने कह दिया कि मैं अंगरेजी जानता हूं और जो कुछ कहना होगा, अंगरेजी में कहूंगा—यदि प्रबंधकों ने भाषांतर का कोई प्रबंध किया होगा तो मेरे भाषण का भाषांतर कोई कर देगा।

हम ज्योंही कमरे के बीच तक पहुंचे, एक ओर शोर-गुल शुरू हुआ। मैं कुछ समझ न सका; पर उस दम्पति ने मुझसे कहा, विरोधी लोग यह शोर मचा रहे हैं। हम तीनों सीधे उस मंच की ओर चले गये। प्रोफेसर स्टांडिनाथ उस प्लेटफार्म के कोने वाले दरवाजे की तरफ गये। उसे उन्होंने खोलना चाहा, पर वह बंद था। इस बीच में कोई 10-12 आदमी उछलकर मंच पर चले आये। वे घूंसे-मुक्के से मेरे ऊपर प्रहार करने लगे। उन दोनों (दम्पति) ने बीच में पड़कर कुछ चोटें अपने ऊपर ले लीं। इतने ही में आक्रमणकारियों में से कुछ ने कुर्सियों को पटक-पटक कर तोड़ डाला और उनके टूटे हिस्सों से हम पर प्रहार करना जारी रखा। बेचारे दम्पति घायल हो गये। उनके सिर से लहू बहने लगा। मैं भी घायल हो गया। मेरे सिर से भी लहू चूने लगा। हम लोग समझ ही न सके कि यह क्या हुआ और हम पर क्यों हमला किया गया। उस समय मेरे मन में अनायास यह ख्याल आया कि अब यहां से नीचे उतर जाना चाहिए। हम प्लेटफार्म से कूदकर नीचे उतर गये। हमें पता न था कि नीचे बैठे हुए लोगों का क्या रुख है। जब तक हम पर हमला हो रहा था, कोई न उठा और न कोई कुछ बोला। हम जब नीचे उतर गये तब भी कोई कुछ न बोला। उनके बीच से होकर हम दरवाजे की तरफ चले गये। केवल एक स्त्री हमारे साथ हो गयी और बाहर निकलने पर प्रोफेसर स्टांडिनाथ से कुछ बातें करती रही। हम लोग खून से तर हुए ही घर पहुंच गये। वहां प्रोफेसर ने पहले मेरे घाव को धोकर पट्टी बांधी। उसके बाद अपनी स्त्री के और अपने घाव धोये। वे लोग अंगरेजी कम जानते थे। मुश्किल से वे अपने विचारों को बता सकते थे।

मैंने समझा कि जिन लोगों ने हमला किया था वे उस दल के थे जो युद्ध के पक्ष में हैं, इसलिए युद्ध-विरोधी प्रचार को वे रोकना चाहते थे। अपने साथियों की मुझे कुछ भी खबर न मिली। पीछे सुना कि वे लोग प्लेटफार्म के छोटे दरवाजे के नजदीक हमारे इंतजार में बाहर खड़े थे। उनको पीछे मालूम हुआ कि भीतर यह घटना हो गयी। सभा तो हो ही न सकी, वे लोग भी चले गये। मैं दूसरे ही दिन सवेरे वहां से वियना के लिए रवाना हो गया। मुझे कुछ दूर तक पहुंचाने के लिए स्टांडिनाथ सपत्नीक साथ आये। पट्टी हम तीनों को बंधी हुई थी।

रेल के यात्रियों ने हमारा हाल पूछा। जब डाक्टर स्टांडिनाथ ने सब बातें कह दीं तो एक स्त्री ने अपनी गठरी खोलकर कुछ खाने की चीजें मुझे दीं। पर वे मांस की बनी थीं, हम नहीं ले सके। धन्यवादपूर्वक डाक्टर ने उसे समझा दिया। मैंने देखा कि उस सुदूर विदेश में भी साधारण जनता किसी परदेसी के लिए वही भाव रखती है जो हम हिन्दुस्तान में कहीं भी देख सकते हैं। इस घटना की खबर समाचारपत्रों में छपी। वहां के पत्रों ने इस पर टिप्पणी भी की। यहां हिन्दुस्तान तक खबर पहुंच गयी। महात्माजी को भी इधर-उधर से कुछ सुनने को मिला। मैंने तो उस समय किसी को न लिखा। पर डाक्टर स्टांडिनाथ ने महात्माजी को लिख भेजा। उन्होंने 'यंग इंडिया' में पहले-पहल पूरा हाल छाप दिया।

74

श्री रोमा रोलां से मुलाकात और युवक सम्मेलन में

मैं वहां से सीधे स्विटजरलैंड गया। मेरी बहुत इच्छा थी कि श्री रोमा रोलां से जाकर मिलूं। इसलिए मैं वहां गया जहां वह बराबर रहा करते हैं। पर वहां उनकी बहन से मुलाकात हुई तो मालूम हुआ कि वह गर्मी के कारण कार्टरीगी पहाड़ पर गये हैं। मैं वहां चला गया। रास्ता बहुत ही सुंदर था। रेल ऊंचे पहाड़ पर आहिस्ता-आहिस्ता चढ़ती गयी। वहां बर्फ से ढंके पहाड़ थोड़ी दूरी पर नजर आ रहे थे। मैं एक होटल में ठहराया गया। श्री रोमा रोलां ने ही सब प्रबंध कर दिया था। दो दिनों तक वहां रहा। उनसे भेंट हुई। बातें भी हुईं। पर मुश्किल यह थी कि वह अंगरेजी नहीं बोल सकते थे और मैं फ्रेंच नहीं समझता था! होटल में एक अंगरेजी जानने वाला उन्होंने खोज निकाला। पर उसकी विद्या भी कुछ अंदाज की ही थी। उनसे मिलकर मुझे जितना लाभ होना चाहिए था, न हो सका। उन्होंने ग्राट्ज की घटना का हाल पत्रों में पढ़ा था। मेरे पट्टी बंधे हुए सिर और हाथ को उन्होंने देखा। वहां से रवाना होकर, स्विटजरलैंड के कुछ और शहरों को देखते हुए, मैं लंदन के लिए चल पड़ा। मैंने बर्नवेल, न्युटाटेल, लोसान और जेनीवा शहरों को देखा। न्युटाटेल में एक छोटी, पर अचम्भा पैदा करने वाली, घटना हुई। मैं वहां बाजार में घूम रहा था। एक दूकान में हाथ का बुना हुआ कुछ कपड़ा बिकता था। मैं वहां गया। एक लड़की बेचने का काम कर रही थी। वह अंगरेजी जानती थी। जब मैंने हाथ के बुने कपड़े की बात की और उसने मेरी पोशाक देखी तो समझ लिया कि मैं हिन्दुस्तान का रहनेवाला हूं। मुझे यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि वह गांधीजी का केवल नाम ही नहीं जानती थी, बल्कि जो ग्रंथ उनके संबंध में उसे मिले थे उन्हें पढ़ भी गयी थी। उसने मुझे म्युनिख की एक दूकान का पता दिया जहां हाथ के बुने हुए कपड़े मिल सकते हैं। अपनी दूकान में रखे हुए पुराने स्विस चर्खे का नमूना भी दिखलाया। वह हमारे देश के पुत्तीवाले चर्खे के समान ही था, पर वह ऊंची कुर्सी या स्टूल पर बैठकर चलाया जा सकता है। मैंने वहां पहले-पहल समझा कि गांधीजी के संबंध में श्री रोमा रोलां की पुस्तक ने कितना प्रचार कर दिया है।

स्विटजरलैंड के शहरों को देखता हुआ मैं पेरिस पहुंचा। वहां भी एक या दो दिन ठहर शहर देखकर लंदन पहुंचा। लंदन में अपने मकान पर मैं संध्या समय 6-7 बजे पहुंचा। घर

में पहुंचने पर सन्नाटा पाया, कोई नहीं था। पूछने से मालूम हुआ कि हमारी गैरहाजिरी में एक भयंकर दुर्घटना हो गयी है। श्री सत्यरंजन प्रसाद सिंह, जो हम लोगों के साथियों में थे, एक दिन कहीं से लौटते समय, ठीक अपने मकान के सामने ही, बस से उतरे और सड़क पार करने में मोटर से धक्का खाकर बेहोश हो गिर गये। उनकी अवस्था बहुत खराब थी। सभी लोग उस नर्सिंग होम (शुश्रूषागृह) में गये थे जहां उनकी चिकित्सा हो रही थी। मुंह-हाथ धोकर मैं भी तुरंत वहां गया। चोट लगने के बाद से उनको होश कभी नहीं हुआ। जब मैं पहुंचा, वह बेहोश ही थे। हालत चिंताजनक थी। उसी रात उनकी मृत्यु हो गयी।

मेरी इच्छा थी कि मुकदमा खतम हो जाने पर मैं लंदन देखूंगा और अन्यत्र भी कुछ घूम-फिरकर हिन्दुस्तान लौटूंगा। पर इस दुर्घटना से सभी लोगों का चित्त बहुत उदास हो गया। हम सबकी इच्छा हो गयी कि जल्द-से-जल्द अब हिन्दुस्तान वापस चला जाये। अब वहां ठहरकर किसी चीज को देखने का जरा भी जी नहीं चाहता था। उनकी मृत्यु के बाद दो-तीन दिनों तक वहां मृत्यु संबंधी कोरोनर की जांच के लिए ठहरना पड़ा। उसने फैसला दिया कि दुर्घटना से मृत्यु हुई है, किसी का दोष नहीं है, और हमको शव दे दिया। उसको हम लोगों ने वहां के क्रिमेटोरियम में जलाया। मैं उसी रात एडिनबरा चला गया। वहां से वापस आकर हम सब लोग रवाना हो गये। लंदन मैं कुछ नहीं देख सका। यहां तक कि ब्रिटिश म्युजियम का भी दर्शनमात्र ही हुआ। उसके अंदर जाकर कुछ देख न सका।

हम लोग लंदन से इस इरादा से रवाना हुए कि मार्सेल्स में 'मुल्तान' जहाज पर सवार होंगे, जो अगस्त के अंतिम सप्ताह में किसी दिन वहां से रवाना होने वाला था। बीच में दस-बारह दिन मिल जाते थे। मैंने सोचा कि इन दस-बारह दिनों को योरप के देशों के देखने में लगाऊंगा। इन्हीं दिनों हालैंड में युवकों का एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन होने वाला था। मैं वहां भी गया। उसी सम्मेलन में बंगाल के डाक्टर सन्याल से भेंट हुई। वह भी कुछ-कुछ युद्ध-विरोधी सम्मेलन ही था। उसमें भी कई देशों के युवक आये थे। एक विशेषता यह भी थी कि उसमें अमेरिका के बहुत प्रतिनिधि थे। पूर्वोक्त संतासवर्ग के युद्ध-विरोधी सम्मेलन से यहां प्रतिनिधियों की संख्या बहुत अधिक थी; पर जितनी गम्भीरता और हार्दिक उत्साह वहां था, यहां मैंने नहीं देखा। यह सम्मेलन भी किसी शहर में न होकर एक गांव में ही हुआ था। हम सब किसी मकान में न ठहरकर खीमे में ठहरे थे। प्रबंध बहुत सादा था। समय पर 'साइरेन' बजता था। सभी लोग अपने गिलास और तश्तरी लेकर एक बड़े खीमे में पहुंच जाते। वहां लकड़ियों के पटरे जोड़कर कामचलाऊ मेजें और बेंचें बनी थीं। वहीं खाना या नाश्ता मिल जाता। फिर साइरेन बजने पर सम्मेलन में सभी पहुंचते थे। तब वहां भाषण होते। मैंने देखा कि देश-देशांतर के उन युवकों की पूरी दिलचस्पी सभी राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय विषयों में

है। वहां बड़े उत्साह के साथ राष्ट्र संघ (League of Nations) जैसी संस्थाओं और उनकी कार्रवाइयों तथा उपयोगिता पर बहुत बहस हो रही थी। कुछ जर्मन भी उसमें शरीक थे। मैंने अनुमान किया कि उस देश में आपस में मतभेद है—दूसरे देशों के प्रतिनिधियों में भी वहां की समस्या संबंधी विचार-शैली में भेद है। इस सम्मेलन में भी मैंने भाषण किया।

75

जर्मनी और इटली की सैर तथा स्वदेश वापस

वहां से मैं बर्लिन गया। यहां पर अपने ठहरने और कार्यक्रम का कुछ वर्णन कर देना अच्छा होगा। मैंने एक यात्रा-क्रम बना लिया था जिसमें जर्मनी के तीन शहर रख लिये थे—बर्लिन, लीपजिग और म्युनिख। इटली में वेनिस और रोम तथा फ्रांस के दक्खिन में नीस होते हुए मार्सेल्स पहुंचने का विचार था। समय इतना कम था कि इससे अधिक कहीं जा नहीं सकता था और इन शहरों में भी पूरा समय नहीं दे सकता था। मैं प्रायः रात की गाड़ी से रवाना होता। वहां की गाड़ियों में अधिक महसूल देने पर सोने के लिए जगह मिल जाती है। इसलिए मैं ऐसी गाड़ी चुन लेता जो रात को दस-ग्यारह बजे रवाना होती और लक्ष्य-स्थान पर सवेरे पहुंचती। सोने का टिकट लेकर रात को आराम से गाड़ी में सोता। सवेरे गाड़ी में ही मुंह-हाथ धोकर उतरता ।स्टेशन पर उस कमरे की तलाश कर लेता जहां मुसाफिरों के सामान हिफाजत के लिए रख लिये जाते हैं। प्रायः प्रत्येक स्टेशन पर टामस कुक का प्रतिनिधि मिल ही जाता; केवल लीपजिग में वह नहीं मिला था।

बर्लिन स्टेशन पर उतरने पर पहले कोई परिचित आदमी नहीं मिला। पर जब मैं टैक्सी वाले से सिर्फ अपने इशारों के सहारे अंगरेजी होटल की तलाश करने के प्रयत्न में लगा था, टामस कुक का आदमी नजर आ गया। वह मुझे एक होटल में ले गया। इत्तिफाक से बाबू हरिजी भी उसी होटल में पहुंचे। उनसे मुलाकात हो गयी। दो या तीन दिनों तक मैं वहां ठहरा। घूम-घूमकर बर्लिन देखा। वहां श्री बी. चट्टोपाध्याय से मुलाकात हुई। रूस से उनका कुछ संबंध था। कहते थे कि मैं यदि वहां जाना चाहूं तो वह पासपोर्ट का प्रबंध कर सकेंगे। पर समय की कमी के कारण मैं यह लाभ न उठा सका। बर्लिन में मैं एक ऐसे रेस्तरां में जाकर खाया करता था जहां शाकाहार मिल सकता था। उसी ने सारे योरप के बड़े-बड़े शहरों के शाकाहार वाले रेस्तरां की फहरिस्त दे दी। उसमें सबके नाम और पते छपे थे। स्टेशन पर उतर, उसी कागज को दिखलाकर, मैं ऐसे रेस्तरां तक पहुंच जाता और वहीं भोजन करता। कुछ दिक्कतें अंडे के कारण होतीं; पर मैंने एक-दो शब्द सीख लिये थे (जिनको अब भूल गया हूं) जिनसे यह जता देता कि मुझे अंडे से भी परहेज है।

लीपजिग में केवल दिन-भर ठहरा। वहां टामस कुक का प्रतिनिधि नहीं मिला। इसलिए वहां अपनी बुद्धि से ही काम लेना पड़ा। इंग्लैंड जाने के पहले कई महीनों तक मैंने लुई कोहिनी की जल-चिकित्सा पद्धति से कटि-स्नान (hip bath) किया था, जिससे कुछ लाभ भी हुआ था। उनकी पुस्तक भी अंगरेजी में पढ़ी थी। इसलिए मेरी अभिलाषा हुई कि स्वयं जाकर उनसे मिलूं। इसीलिए मैंने अपने यात्रा-क्रम में लीपजिग को रखा था। स्टेशन से उतरकर सीधे उनके चिकित्सालय में गया। वहां सुना कि उनकी मृत्यु हो गयी है और वह भी विचित्र तरीके से। वह फल खाने के बड़े पक्षपाती थे। अवस्था काफी हो गयी थी, तो भी किसी पेड़ पर फल तोड़ने चढ़े और गिर गये। चोट गहरी लगी, मर गये। उनके लड़के थे, जो अंगरेजी नहीं के बराबर जानते थे। उनसे किसी प्रकार बातें हुईं। उन्होंने मेरे लिए स्नानविधि और भोजनादि संबंधी नुस्खा लिखकर दिया। वहीं एक बार स्नान कराकर दिखला भी दिया। वह नुस्खा जर्मन भाषा में था। मैं उससे लाभ न उठा सका और वहीं पर वह खो भी गया!

खाने के समय मैं वहां एक रेस्तरां में गया। वहां तो एक भी आदमी अंगरेजी जानने वाला न था! मैं बड़ी मुश्किल से नौकर को कुछ बतलाने की कोशिश कर रहा था। एक स्त्री मुझसे कुछ दूर टेबुल पर खाने बैठी थी। उसने मेरी दिक्कत देखी। मेरे पास वह आ गयी। वह अंगरेजी खूब जानती थी। थी तो वह जर्मन, पर उसका पति अमेरिकन था, जो उस समय अमेरिका गया था। उसने मेरी पूरी मदद की। उस दिन टामस कुक के प्रतिनिधि का काम उसी ने कर दिया! घूम-फिरकर तमाम शहर भी दिखला दिया। संध्या को रेल में सवार करा दिया। इस प्रकार की सहृदयता अक्सर नहीं देखने में आती।

अपने यात्रा-क्रम के अनुसार मैं म्युनिख गया। वहां पर वह मशहूर सेलरहौस देखा, जिसमें अक्सर हिटलर के भाषण हुआ करते हैं। वहां के मशहूर म्युजियम को भी देखा, जिसमें वैज्ञानिक वस्तुओं का संग्रह है। वहां तलाश करते-करते उस दूकान तक भी पहुंचा जहां—न्युटाटेल में मुझसे कहा गया था—हाथ के बुने कपड़े मिलते हैं। पर ऐसा कोई कपड़ा मिला नहीं।

म्युनिख से मैं वेनिस गया। अजीब शहर है। समुद्र घर-घर में है। घर से निकलकर नाव पर ही बाहर जाया जाता है। नाव के सिवा वहां कोई दूसरी सवारी नहीं होती। पानी के बीच में चट्टान हैं, उन्हीं पर मकान बने हैं। जो मशहूर गिरजाघर है वहां कुछ खाली जगह है। वहां मैं संध्या समय टहलता रहा। रात के दस-ग्यारह बजे होटल में जाकर ठहरना चाहा; पर वहां इतने मच्छर थे कि मसहरी लगाने पर भी वहां ठहरना मुश्किल हो गया। इसलिए गाड़ी के समय से पहले ही, स्टेशन चला आया।

रोम में दो दिनों तक ठहरा। नयी और पुरानी चीजें, टामस कुक के प्रबंध में, खूब देखीं। इटली के दोनों शहरों में फौज के बहुत-से आदमियों को, जहां-तहां आते-जाते देखा।

मुझे ऐसा मालूम हुआ कि फौज का वहां बहुत जोर है। मेरी यात्रा कुछ ऐसी रही कि यात्रियों द्वारा देखे जाने वाले स्थानों के सिवा मैं और कुछ न देख सका, न किसी से मिल सका। समय भी न था और इसका प्रबंध भी न था। पहले से यदि प्रबंध होता कुछ लोगों से मिलता। समय रहता तो वहां की परिस्थिति जानने का भी प्रयत्न करता। पर ऐसा न हो सका, जिसका अफसोस रहा, पर लाचारी थी।

अंत में मार्सेल्स के लिए रवाना हुआ। रास्ते में नीस में उतरा। वहां भागलपुर-निवासी श्री दीपनारायण सिंह से भेंट हो गयी। चंद घंटों तक उनका साथ रहा। वहां पास ही के मशहूर कैसिनो को भी जाकर देखा, जहां लोग जुआ खेलते हैं। इन सब चीजों के देखने में मेरा जी नहीं लगा। तुरंत मैं मार्सेल्स चला गया। दूसरे ही दिन जहाज पर सवार होना था। बाबू हरिजी से मुलाकात हो गयी। रात-भर एक होटल में ठहरे। दूसरे दिन 'मुलतान' जहाज पर सवार हो गये। जहाज हिन्दुस्तान के लिए रवाना हो गया। इस बार हम लोग आठ-दस आदमी साथ थे, इसलिए जहाज में किसी किस्म की दिक्कत न हुई। मेरी तबियत कुछ खराब हो गयी। एक-दो दिनों तक समुद्र की हवा लगते ही फिर दमा हो गया। पर वह जल्द ही अच्छा भी हो गया। हम लोग बम्बई में, सितम्बर के दूसरे सप्ताह में, उतर गये। जहाज पर कोई विशेष घटना न हुई। ढाका युनिवर्सिटी के वाइस-चांसलर सर फिलिफ हार्टोग उसी जहाज से लौट रहे थे। उनसे मुलाकात हो गयी। जहाज पर अक्सर उनसे बातें हुआ करती थीं।

76

साइमन कमीशन का पुनरागमन और देशभ्रमण

बम्बई में जहाज से उतरकर मैं सीधे अहमदाबाद चला गया। वहां एक-दो दिन ठहरकर फिर पटने लौटा। मेरी गैरहाजिरी में दो बहुत महत्वपूर्ण घटनाएं देश में हो चुकी थीं—(1) बारदोली में जमीन पर 'कर' बढ़ाने के कारण सत्याग्रह, और (2) देश के निमित्त सभी दल वालों से मिलकर विधान तैयार करने के लिए 'नेहरू कमिटी का संगठन'। बारदोली का सत्याग्रह खूब सफल रहा। सरकार ने अपनी ओर से हर तरह से उसे दबाने का प्रयत्न किया। लोगों ने भी उत्साहपूर्वक दमन को बर्दाश्त किया। दमन झेलने में जनता को पूरी सफलता मिली। गांधीजी का आशीर्वाद और साहाय्य तो था ही, आन्दोलन के संचालन का सारा भार वास्तव में सरदार वल्लभभाई पटेल पर ही था। उन्होंने उसे बड़ी चतुरता, धीरता, निर्भीकता और परिश्रम के साथ चलाया था। सभी दल के लोगों ने उसे अत्यंत महत्वपूर्ण आन्दोलन समझा था। सबने सहायता भी दी थी। सरदार ने गुजरात से बाहर के लोगों को आने से मना कर दिया था। इसलिए दूसरे प्रांत के कार्यकर्ता बाहर से ही जो सहायता पहुंचा सकते थे, पहुंचाते रहे। वहां कोई गया नहीं। सारे देश के सामने सत्याग्रह का एक आदर्श नमूना आ गया। लोगों को यह मालूम हो गया कि संगठन और त्याग काफी हो तो अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा जबरदस्त सरकार भी दबायी जा सकती है। जिस चीज की बाट लोग 1921 से ही जोह रहे थे उसे एक तालुके में सरदार ने प्रत्यक्ष दिखा दिया। अब इसके बाद लोग यही सोचने लगे कि सारे देश को बारदोली कैसे बनाया जाये! इस सत्याग्रह ने देश में नयी जान डाल दी। जो सत्याग्रह आगे 1930 में हुआ, उसके लिए जमीन भी तैयार कर दी।

मद्रास कांग्रेस में ही एक कमिटी नियुक्त हुई थी। उसको यह काम सुपुर्द किया गया था कि सभी दलों के नेताओं से मिलकर वह एक योजना तैयार करे। साइमन कमीशन का बहिष्कार तो सबने किया था, पर वह अपना काम करता ही जा रहा था। सोचा गया कि जब तक अपनी ओर से तैयार करके कोई योजना संसार के सामने नहीं रखी जायेगी तब तक यही समझा जायेगा कि हम लोग केवल नुक्ताचीनी कर सकते हैं, कोई रचनात्मक काम नहीं कर सकते। इसलिए इस कमिटी को सब दलों के लोगों से सहायता मिली। पंडित मोतीलाल

नेहरू इसके संयोजक थे, इसीलिए इसका नाम 'नेहरू कमिटी' पड़ा। इस कमिटी ने योजना तैयार कर ली थी। सब दलों के प्रतिनिधियों ने, कुछ बातों को छोड़कर, अधिकांश बातों को स्वीकार भी कर लिया था। अब इस योजना को कांग्रेस के सालाना जलसे के समय एक सर्व-दल सम्मेलन में बाजाब्ता मंजूर करा लेना था। कांग्रेस से भी इसे स्वीकृत करा लेना रह गया था। दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में होने वाला था। पंडित मोतीलाल नेहरू सभापति चुने गये। नेहरू कमिटी की रिपोर्ट पर सारे देश में चर्चा हो रही थी। सब विचारशील लोग इसके बारे में अपने-अपने विचार प्रकट करते जा रहे थे। यह योजना औपनिवेशिक स्वराज्य को भारत का ध्येय मानकर ही बनायी गयी थी। इसलिए, वे कांग्रेसी जो पूर्ण स्वराज्य के पक्षपाती थे, इससे संतुष्ट नहीं थे। इनमें मुख्य थे जवाहरलाल नेहरू, श्री सुभाषचन्द्र बोस और श्री श्रीनिवास ऐयंगर।

स्वदेश में मेरे वापस आने के कुछ दिन बाद, सर्दी शुरू होते ही, साइमन कमीशन फिर हिन्दुस्तान वापस आ गया। जिन सूबों में वह अब तक नहीं जा सका था उनमें जाने लगा। पंजाब में, उसके बहिष्कार और विरोध-प्रदर्शन में, लाला लाजपतराय जी शरीक हुए थे। पुलिस ने प्रदर्शकों पर लाठियां चलायी थीं। पूज्य लालाजी को पुलिस की लाठियों से बहुत चोट लगी थी। वह बीमार पड़ गये। फिर अच्छे भी न हुए। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उनकी मृत्यु, उन लाठियों की करारी चोट के फलस्वरूप, कुछ दिनों में ही हो गयी। जब कमीशन युक्तप्रांत में पहुंचा, वहां भी प्रदर्शकों पर पुलिस ने लाठी चलायी। पंडित जवाहरलाल नेहरू को भी चोट लगी थी। इस तरह यह कमीशन पुलिस की लाठियों के साथ देश का भ्रमण कर रहा था! अब पटने में उसके आने के दिन मुकर्रर हो गये!

मेरी गैरहाजिरी में बिहार में दो महत्वपूर्ण घटनाएं हुई थीं। 'सर्चलाइट' अखबार पर हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस सर कुर्टने टिरल ने अदालत की मानहानि का मुकदमा चलाया था। पटना हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस सर डासन मिलर उसी साल पेंशन लेकर चले गये। वह एक अत्यंत शांत-प्रकृति, पर स्वतंत्र विचार के, जज थे। यद्यपि वह मुकदमों को ठीक समझने में थोड़ा समय लेते थे; पर उनके फैसले बहुत अच्छे हुआ करते थे। सभी लोग उनसे संतुष्ट थे। उनके जाने पर इंग्लैंड से नये चीफ जस्टिस आये, जो लोगों से मिलने-जुलने में तो बहुत अच्छे थे; पर मिजाज के एकबग्गा थे और अक्सर फैसलों में बहक जाया करते थे। इनके एक फैसले पर 'सर्चलाइट' ने कड़ी टीका की थी। इसी के लिए उस पर मुकदमा चला था। इस मुकदमे का महत्व इतना अधिक हो गया कि प्रयाग से श्री मोतीलाल नेहरू और सर तेजबहादुर सप्रू तथा कलकत्ते से श्री शरतचन्द्र बोस बहस करने आये। कुछ दिनों तक पटने में बड़ी चहल-पहल रही। मैंने सुना कि बहुत ही सुंदर और जोशीली बहसें हुईं। अंत में 'सर्चलाइट' को कुछ सजा हुई। इससे शिक्षित जनता में, विशेषकर वकीलों में, काफी खलबली हुई थी।

दूसरी घटना गया डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड से संबंध रखती थी। वहां श्री अनुग्रहनारायण सिंह चेयरमैन थे। पहले कहा जा चुका है कि प्रांतीय कौंसिल के चुनाव में सर गणेशदत्त सिंह का, जो 1921 से ही मंत्री होते चले आते थे और जो मंत्री की हैसियत से सभी म्युनिसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों की देखभाल करते आ रहे थे, कांग्रेस ने विरोध किया था। विरोध की गम्भीरता देखकर वह चार जगहों से उमीदवार थे। सभी जगहों में कांग्रेस के उमीदवार उनका विरोध कर रहे थे। एक जगह गया में, एक दूसरे सज्जन के कारण, जो अपने को कांग्रेस का हमदर्द बताते थे, उमीदवार नहीं खड़ा किया गया था। अंत में, उसी जगह से, उक्त सज्जन की उमीदवारी हटवाकर, सर गणेशदत्त चुने गये थे।

इस चुनाव की एक और घटना लिख देता हूं। बेगूसराय के इलाके से भी सर गणेशदत्त उमीदवार थे। वहां भूमिहार ब्राह्मणों की, जिस जाति के सर गणेशदत्त भी हैं, बहुत अच्छी आबादी है। वह उसी उमीद पर वहां से खड़े हुए थे। किंतु कांग्रेसी उमीदवार भी भूमिहार ब्राह्मण ही थे। फिर भी सर गणेशदत्त की ख्याति अपनी जाति में कई कारणों से बहुत थी। मैं चुनाव के सिलसिले में वहां गया। एक बड़ी सभा हुई। उसमें सर गणेशदत्त के मददगार भी आये। उन्होंने मुझसे प्रश्न किया, सर गणेशदत्त के विरोध में कांग्रेस क्यों उमीदवार खड़ा कर रही है ? उन्होंने सर गणेशदत्त की सभी बातें कहीं, जिनमें मुख्य यह थी कि वह जब से मंत्री बने हैं तब से उन्होंने अपने वेतन का थोड़ा ही अंश अपने खर्च के लिए लिया है, अधिकांश रुपये परोपकार के लिए दान कर दिये हैं। बात सच थी। उन्होंने कई लाख रुपयों का ट्रस्ट कायम करके एक बहुत अच्छा आदर्श पेश किया था, जिसके लिए हम सब उनके बड़े प्रेमी और प्रशंसक थे। पर यह सब होते हुए भी वह कांग्रेस के कार्यक्रम से सहमत नहीं थे और केवल इसी कारण से उनका विरोध करना पड़ा था। मैंने सभा में यही कहा कि कांग्रेस देश-भर की संस्था है, यदि सर गणेशदत्त उनके नियंत्रण में काम करना स्वीकार कर लें तो कांग्रेसी उमीदवार हटा लिये जायेंगे; पर इतनी बड़ी संस्था किसी व्यक्ति को मनमानी करने के लिए छोड़ना नहीं चाहती। मैंने उनके सहायकों से भी कहा कि मैं एक दिन और ठहरूंगा, इस बीच वे लोग उन्हें बुला लावें, अथवा उनका पत्र या तार मंगवा लें, जिसमें वे मेरी शर्त मंजूर करा लें, तो मैं कांग्रेसी उमीदवार हटा लूंगा। सभा में अधिकांश लोग उनकी जाति के ही थे, जिन पर उनको पूरा भरोसा था। मेरी बात को उन सब लोगों ने बहुत पसंद किया। मैं वहां ठहर भी गया; पर उनके आदमी फिर नहीं लौटे। मैंने देखा कि वहां की जनता पूरी तरह कांग्रेस के पक्ष में हो गयी। इसी के बाद सर गणेशदत्त ने गया में उन महाशय को हटाकर किसी तरह अपने निर्विरोध चुने जाने का प्रबंध कर लिया।

यह बात तो बीत चुकी थी; पर उनके हृदय में कांग्रेस के प्रति बहुत रंज था, जिसको वह जब तक सार्वजनिक काम करते रहे, कभी भूले नहीं। गया डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड में उनको अपने उन्हीं मित्र को चेयरमैन बनाना था जिन्होंने अपनी उमीदवारी हटाकर उनको मंत्री बनने का

मौका दिया । इसलिए उन्होंने कई उपायों से वहां के चेयरमैन श्री अनुग्रहनारायण सिंह को हटा दिया—यहां तक कि उनको मेम्बर होने के हक से भी वंचित कर दिया । जब मैं इंग्लैंड से लौटा तो यह षड्यंत्र देखकर मुझे बहुत रंज हुआ । हमारे सभी कांग्रेसी मित्र बहुत ही क्षुब्ध थे । हम लोगों के दिल में यह भी शक था कि उन दिनों देश में साइमन कमीशन भ्रमण कर रहा था और उसके सामने यह बात भी आने वाली थी कि जो थोड़े-बहुत अधिकार दिये गये थे उनका प्रयोग भी हिन्दुस्तानियों ने कहां तक ईमानदारी और सफलता से किया है । बिहार के सबसे ज्यादा आमदनी वाले डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड को इस प्रकार अयोग्य साबित करने का प्रयत्न, हम समझते थे, विशेषकर इसलिए भी किया गया है कि साइमन कमीशन के सामने गवर्नमेंट इसको भी हमारी अयोग्यता के दृष्टांत-स्वरूप पेश कर सके । इसलिए, सारे सूबे में काफी आन्दोलन हुआ । गया में सभा हुई । मैं भी वहां गया । उसमें मेरा एक बहुत ही कड़ा भाषण हुआ, जैसा पहले कभी शायद ही हुआ हो । जो-जो अभियोग जिला-बोर्ड पर लगाये गये थे, उनकी जांच कांग्रेस की ओर से हमने करायी । सब आरोपों को हमने निर्मूल पाया । तब प्रांतीय कांफ्रेंस का अधिवेशन करने का विचार हुआ । वह पटने में ही हुआ । उसके सभापति अनुग्रह बाबू बनाये गये । स्वागताध्यक्ष श्री सच्चिदानन्द सिंहजी हुए । इस कांफ्रेंस की तिथि साइमन कमीशन के पटने पहुंचने के एक या दो दिन पहले रक्खी गयी थी । सोचा गया था कि जो लोग कांफ्रेंस में आवेंगे वे कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन करने में ही शरीक हो सकेंगे । कांफ्रेंस सफलतापूर्वक समाप्त हो गयी । उसके दूसरे दिन सवेरे ही साइमन कमीशन स्पेशल ट्रेन से आने वाला था ।

हमने सुना था कि स्पेशल ट्रेन पटना जंकशन के विशेष प्लेटफार्म पर, जिस पर प्रिंस आफ वेल्स उतारे गये थे, लगायी जायेगी । वह ठीक हार्डिंज पार्क के सामने पड़ता है । वहां, हार्डिंज पार्क के सामने, लकड़ियों के मजबूत बल्ले गाड़कर, जनता की भीड़ को आगे बढ़ने से रोकने के लिए, प्रतिबंध लगाया जा रहा था । हमने पंजाब और युक्तप्रांत में लाला लाजपतराय तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसे नेताओं पर लाठी बरसाने की बात जान ली थी । इससे हमें कुछ आश्चर्य नहीं हुआ । हम समझते थे कि प्रदर्शन के समय कुछ खून-खराबा होगा । परंतु जनता में उत्साह बहुत था, जिसका कुछ नमूना हम प्रांतीय सम्मेलन में देख चुके थे ।

उसी दिन संध्या को श्री सच्चिदानन्द सिंह ने मुझे अपने यहां बुलाया । मैंने वहां पहुंचकर देखा कि पुलिस के इंसपेक्टर-जेनरल मिस्टर स्वेन वहां उपस्थित हैं । उन्होंने मुझसे कहा कि उन्हीं के कहने से श्री सिंह ने मुझे वहां बुलाया है और वह मुझसे साइमन कमीशन के संबंध में बातें करना चाहते हैं । उन्होंने कहा कि वह नहीं चाहते कि जैसी दुर्घटनाएं पंजाब और युक्तप्रांत में हुई हैं वैसी बिहार में भी हों, इसमें हम दोनों की बदनामी है । उन्होंने यह भी कहा कि कोई ऐसा रास्ता अगर निकल सके जिससे पुलिस और प्रदर्शकों में मुठभेड़ न हो तो अच्छा होगा । मैंने कहा,

जनता तो निरस्त्र है ही, वह बिलकुल अहिंसात्मक रहेगी, जो कुछ होगा आपकी ओर से ही होगा। उन्होंने विश्वास दिलाया, वह ऐसा नहीं होने देंगे; परंतु भय इस बात का प्रकट किया कि बहुत भीड़ जमा हो जाने पर कहीं किसी दल के किसी आदमी ने कुछ बेतुकी बात कह दी अथवा बदतमीजी कर दी तो उसका असर सारी जनता पर पड़ जाता है—उसे कोई रोक नहीं सकता; इसलिए भीड़ इकट्ठी होने में ही खतरा है। मैंने साफ-साफ कह दिया कि यह तो नहीं रुक सकता। उनके पूछने पर मैंने यह भी कह दिया कि शायद दस हजार आदमी आ जायें। यह संख्या मैंने डरते-डरते कम करके कही: क्योंकि इस दिसम्बर के जाड़े में साढ़े छः बजे गाड़ी पहुंचती थी, मुझे भय था कि शहर के लोग उस समय बड़ी संख्या में जमा न हो सकेंगे। अंत में उन्होंने कहा कि भीड़ अगर आवेगी ही तो क्या कोई ऐसा उपाय नहीं हो सकता कि दोनों दलों के आदमी एक साथ न हों, अलग-अलग रहें ? मैंने इसे खुशी से स्वीकार कर लिया और कह दिया कि सड़क के एक ओर स्वागत करने वाले रहें और दूसरी ओर विरोधी लोग। इसको उन्होंने बहुत पसंद किया और मैंने भी—विशेषकर इस कारण से कि इस तरह यह बात भी साफ हो जायेगी कि स्वागत करने वाले कितने कम और विरोधी कितने ज्यादा हैं। बात तय हो गयी। मैंने कह दिया कि हमारा कोई आदमी काठ के बने बांध के बाहर नहीं जायेगा—हम शहर की ओर सड़क से उत्तर और दूसरे पक्ष के लोग सड़क से दक्खिन, रेलवे लाइन के पास, रहेंगे।

दूसरे दिन प्रायः तीन बजे रात को ही हम लोग उठे। सारे शहर में प्रभातफेरी लगने लगी। भीड़ स्टेशन की तरफ उमड़ चली। छः बजते-बजते प्रायः 25-30 हजार लोगों की भीड़ हम लोगों के अहाते में आ गयी। उधर तो कुछ लोग मोटर पर सवार होकर आये, कुछ लारियां शहर में लोगों को जुटाकर लाने के लिए घूमती रहीं; पर शायद ही डेढ़ सौ आदमी उधर के अहाते में होंगे, जिनमें अधिकांश सरकारी नौकर और उनके चपरासी वगैरह थे! ऐसा भी देखा गया कि कुछ लोग उनकी लारी पर चढ़कर आये और उस अहाते में गये, पर जब उनको यह मालूम हुआ कि वह स्वागत करने वालों का दल है और विरोधी दल सड़क के उस पार है, तो वहां से सीधे निकलकर इधर चले आये। मैं वहां अपने आदमियों के सामने, जिनको लकड़ी के कठघरे से दो हाथ अलग ही रखा था, टहल रहा था। वहां मिस्टर स्वेन से मुलाकात हुई। उन्होंने इस इंतजाम पर संतोष प्रकट किया और बधाई दी। मैंने उनसे पूछा कि मेरा दस हजार आदमियों के आने का वादा पूरा हुआ या नहीं ? उन्होंने कहा, उससे कहीं अधिक आदमी हैं ! जब मैंने उनकी इस राय को—कि दोनों पक्ष के लोग दो तरफ रहें—मान लेने का कारण बताया, तो वह बहुत हंसे। इस तरह, बहुत ही खूबी और शांति के साथ प्रदर्शन हुआ। काला झंडा दिखलाते और 'साइमन गो बैक' के नारे के सिवा दूसरा कुछ नहीं हुआ।

इस प्रदर्शन में सूबे-भर के कांग्रेसी लोग बड़ी संख्या में शरीक हुए थे। जब वे अपने-अपने स्थान को गये तो इस उत्साहपूर्ण प्रदर्शन की कथा साथ लेते गये। इससे सारे

सूबे में उत्साह उमड़ उठा। कुछ दिनों तक तो जहां-तहां सड़कों पर, यों ही बिना समझे, छोटे-छोटे बच्चे भी 'साइमन—गो बैक' चिल्लाया करते ! इन और इस प्रकार के कारणों से देश में नयी जागृति के लक्षण दीखने लगे थे। ऐसा मालूम होने लगा कि 1921 के दिन फिर लौटेंगे। इसी बीच कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन और सर्वदल सम्मेलन होने के दिन आ गये। सर्वदल सम्मेलन के सभापति डाक्टर अंसारी थे और कांग्रेस के पंडित मोतीलाल नेहरू।

77

कलकत्ता कांग्रेस और सर्वदल सम्मेलन

मैं सर्वदल सम्मेलन में शरीक तो हुआ; पर पहले से सभी बातों को जानता नहीं था, इसलिए कुछ विशेष वहां करता न था। एक रात, मुझे स्मरण है, हिन्दू-मुस्लिम समस्या के कुछ प्रश्नों पर बातें होने लगीं। यह पूरा सम्मेलन नहीं था, कुछ मुख्य-मुख्य लोग इसमें थे। वहां मिस्टर जिन्ना ने, जहां तक मुझे याद है, दो बातों पर बहुत जोर दिया। वह चाहते थे कि केंद्रीय असेम्बली में मुसलमानों के लिए एक तिहाई जगहें सुरक्षित रहनी चाहिए और सूबों को उन सभी विषयों पर अधिकार मिलना चाहिए जो केंद्रीय गवर्नमेंट को साफ तौर पर विधान में न दे दिये गये हों। मुझे याद है कि इन बातों पर बहुत रात तक बहस चलती रही। पर लोगों ने इसे स्वीकार नहीं किया। विरोधियों में सबसे जबरदस्त श्री जयकर मालूम होते थे। उनके साथ हिन्दू सभा वाले लोग थे, पर बोलने वाले वही एक थे। अंत में यह बात तय न हो पायी। सम्मेलन ने यह नीति रखी थी कि जिस विषय पर सबकी राय न हो उसके संबंध में नोट कर लिया जाये कि इस विषय में किसकी क्या राय है। खुले सम्मेलन में मौलाना मुहम्मद अली ने भी कुछ संशोधन पेश किये, जिनको लोगों ने बहुमत से नामंजूर कर दिया। सम्मेलन ने उपरोक्त तरीके से अपना काम तो समाप्त किया; पर यह जाहिर हो गया कि मुसलमानों के साथ बात नहीं पटी। इसी का नतीजा हुआ कि इस सम्मेलन के समाप्त होते ही मुसलमानों का भी एक सर्वदल सम्मेलन हुआ, जिसमें अनेकानेक कांग्रेसी मुसलमान भी जा मिले। उनमें मुख्य अली बंधु-द्वय, मौलवी मुहम्मद शफी प्रभृति थे। यहां से साफ-साफ मुसलमानों का एक प्रभावशाली दल कांग्रेस से अलग हो गया। इस प्रकार, जिस समस्या के हल के लिए यह सम्मलेन हुआ था वह अधिक जटिल हो गयी, जिसका बुरा नतीजा आगे और देखने में आया। मिस्टर जिन्ना ने इसके बाद ही मुसलमानों की ओर से अपनी चौदह मांगें पेश कीं, जिनकी मंजूरी को उन्होंने किसी भी समझौते के लिए अनिवार्य बतलाया।

उधर कांग्रेस में नेहरू रिपोर्ट को लेकर स्वराज्य की परिभाषा के संबंध में बहुत मतभेद था। पहले कहा जा चुका है कि पं. जवाहरलाल, सुभाष बाबू, श्री ऐयंगर प्रभृति पूर्ण स्वराज्य को ही कांग्रेस का ध्येय स्वीकार कराना चाहते थे। दूसरे लोग केवल 'स्वराज्य' शब्द से ही

संतुष्ट थे और सोचते थे कि यह शब्द हमें इस बात के लिए पूरा मौका देता है कि जब समय आयेगा तब हम निश्चय कर सकेंगे कि हम औपनिवेशिक स्वराज्य से संतुष्ट रहेंगे अथवा पूर्ण स्वतंत्रता ही लेंगे। नेहरू रिपोर्ट औपनिवेशिक स्वराज्य को ही ध्येय मानकर तैयार की गयी थी। दूसरा कुछ हो भी नहीं सकता था; क्योंकि उसके तैयार करने में नरम दल के लोगों का—विशेषकर सर तेजबहादुर सप्रू प्रभृति—का पूरा हाथ था। यदि वह न मानी जाती तो शायद वह योजना तैयार होकर एक सर्वदल सम्मेलन के सामने तक पहुंच नहीं पाती। इसलिए, यदि कांग्रेस उस मौलिक भित्ति को ही अपने प्रस्ताव से बदल देती, तो नेहरू रिपोर्ट उस हद तक भी सर्वमान्य होती जिस हद तक उसे सर्वदल सम्मेलन ने स्वीकृत किया था। कांग्रेस की विषय निर्धारिणी समिति में इस विषय पर बहुत बहस हुई। महात्माजी का विचार था कि नेहरू रिपोर्ट मंजूर की जाये। पर गांधीजी हमेशा अपने विचार के विरोधियों के साथ राय कर लेने के लिए तैयार रहते हैं। अंत में उन्होंने पूर्ण स्वराज्य के समर्थकों के साथ, जिनके मुखियों के नाम मैं ऊपर दे चुका हूं, यह समझौता कर लिया कि एक बरस तक कांग्रेस का ध्येय जैसा है वैसा ही रहे—यदि ब्रिटिश गवर्नमेंट इस वर्ष के भीतर नेहरू रिपोर्ट को मान लेती है और हिन्दुस्तान को औपनिवेशिक स्वराज्य दे देती है तो ठीक, नहीं तो एक बरस के बाद कांग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता को ही अपना ध्येय मान लेगी और उसी के लिए काम करेगी, अर्थात एक बरस के भीतर मिल जाये तो हम औपनिवेशिक स्वराज्य से ही संतुष्ट होंगे, नहीं तो फिर औपनिवेशिक स्वराज्य की बात ही न रहेगी, कांग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता पर ही अड़ी रहेगी। यह तय हो जाने पर हम सबने समझा कि अब मामला तय हो जायेगा। पर दूसरे दिन सुभाष बाबू की ओर से मालूम हुआ कि वह इस समझौते को नहीं मानते। इससे महात्माजी को बहुत दुख हुआ; क्योंकि पूर्व-रात्रि में सुभाष बाबू ने उसे मान लिया था। मालूम होता है कि उनके साथियों और अनुयायियों ने इसे पसंद नहीं किया, इसलिए वह फिर मुकर गये। पंडित जवाहरलाल और श्री श्रीनिवास ऐयंगर, चाहे वे पसंद न भी करते हों, समझौते पर अड़े रहे। महात्माजी ने इस बात की कड़ी आलोचना भी की थी। अंत में महात्माजी ने उस समझौते के प्रस्ताव को पेश किया और वह स्वीकृत हो गया।

इस कांग्रेस की विषय निर्वाचिनी में और विषयों पर भी मतभेद रहा। ऐसा मालूम होता था कि कुछ लोग गांधीजी की नीति से संतुष्ट नहीं हैं—जैसे कुछ कम्युनिस्ट लोग, जिनमें मुख्य थे श्री निम्बकर और श्री मोगलेकर, जो अखिल भारतीय कमिटी में बहुत बोला करते थे। इस कांग्रेस में एक विशेष घटना यह हुई कि कलकत्ते के मजदूरों का एक बहुत बड़ा दल, प्रदर्शन करने के लिए जलूस बनाकर, कांग्रेसनगर तक पहुंचा। वह कांग्रेस-पंडाल में जाना चाहता था। कुछ लोगों का अनुमान था कि उनका इरादा पहले से ही पंडाल में जाकर बैठने का था, ताकि अधिवेशन के समय वे वहां से हटें नहीं और इस तरह सब काम तितर-बितर कर दें। पर शायद ऐसी उनकी इच्छा नहीं थी; क्योंकि महात्माजी ने आकर उनसे

कुछ कहा और वे लौटकर चले गये। इस कांग्रेस की स्वागत-समिति से बिहार के लोगों का कुछ मतभेद, प्रबंध के संबंध में, हो गया। बिहार के सभी प्रतिनिधियों ने कांग्रेस में जाने से इंकार कर दिया। सुभाष बाबू को यह खबर मिली। वह स्वयं आये। उन्होंने शिकायत को दूर कर देने का वचन दिया। तब लोग कांग्रेस के अधिवेशन में शरीक हुए।

कलकत्ता कांग्रेस का अधिवेशन एक प्रकार से बड़े महत्व का हुआ। पूर्ण स्वतंत्रता का ध्येय इसी ने एक तरह से स्वीकार कर लिया; क्योंकि इसी ने निश्चय किया कि औपनिवेशिक स्वराज्य से कांग्रेस एक बरस के बाद कदापि संतुष्ट न होगी। हो सकता है कि कांग्रेस में बहुत लोग ऐसे भी हों जो समझते हों कि यह प्रस्ताव मान तो लिया गया; पर एक बरस के बाद फिर देखा जायेगा। किंतु गांधीजी कांग्रेस के प्रस्तावों को बहुत महत्व देते हैं—विशेषकर उस हालत में जब उनमें कोई वादा या प्रतिज्ञा की गयी हो। इसलिए, उन्होंने तो मान लिया कि ब्रिटिश गवर्नमेंट को 1929 के 31 दिसम्बर के पहले ही कुछ करके तय कर लेना चाहिए, नहीं तो अगले अधिवेशन में कांग्रेस को पूर्ण स्वराज्य अपना ध्येय बना लेना ही पड़ेगा।

मैं इस विषय में दुविधा में था। ब्रिटिश विधान का मैं पक्षपाती था। मैं मानता था कि उपनिवेशों को अपने कारबार चलाने की पूरी स्वतंत्रता है। इसलिए, यदि हमको भी वह स्वतंत्रता मिल जाये तो हमारे लिए वही काफी समझना चाहिए। पूर्ण स्वतंत्रता तो गौरव का विषय अवश्य है; पर अंत में दुनिया की जातियों और देशों के बीच किसी-न-किसी प्रकार का ऐसा समझौता जरूर करना पड़ेगा जिससे वे एक-दूसरे के साथ बंधी रहें। यदि ऐसा न हुआ तो लड़ाइयां होती रहेंगी। ब्रिटिश साम्राज्य दुनिया के कई देशों के लोगों का उस प्रकार का एक संगठन है ही, उसमें शरीक रहने में हमारी कोई हानि नहीं है, बल्कि कई बातों की सुविधा ही है। इसके अलावा हम अभी इतने संगठित भी नहीं हैं कि हम ब्रिटिश सरकार को मजबूर करके पूर्ण स्वतंत्रता ले सकें। इन्हीं कारणों से मैंने मद्रास कांग्रेस में पूर्ण स्वराज्य संबंधी प्रस्ताव का विरोध किया था। मुझे कभी-कभी ठेस भी लगा करती थी, जिससे ऊबकर मैं कभी-कभी पूर्ण स्वराज्य की बात भी किया करता था। पर वह ठेस ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशों के हिन्दुस्तानियों के साथ व्यवहार से लगा करती थी—विशेषतः दक्षिण अफ्रिका में हिन्दुस्तानियों के साथ जो व्यवहार हुआ करता था उससे मैं इतना घबराता था कि कभी-कभी तो मैं यह सोचता कि ऐसे साम्राज्य के साथ संबंध रखने से ही हमको क्या लाभ, जिसके किसी भी भाग में हमारे देशी भाइयों के साथ ऐसा बुरा व्यवहार हो सकता है। फिर मैं सोचता कि जब तक हमको वही अधिकार और स्थान प्राप्त नहीं है जो उन उपनिवेशों को हैं तभी तक ऐसा होता है; जब हमको भी वैसा ही अधिकार और स्थान मिल जायेगा तब ऐसी बात न हो सकेगी। इस प्रकार से मैं अपने दिल को संतोष भी दिया करता था।

इसी तरह की उधेड़-बुन मेरे दिल में हुआ करती थी। मैं इसी ख्याल से, विशेषकर उपनिवेशों के विधान और अधिकारों के संबंध में जानकारी हासिल करने के लिए, प्रोफेसर कीथ के ग्रंथों को पढ़ा करता। 1926 में जो इम्पीरियल कांफ्रेंस के निश्चय हुए उन्हें भी मैंने देखा था। सब बातों पर सोच-विचार करने के बाद, बावजूद उन ठेसों के, मैं उस समय तक औपनिवेशिक स्वराज्य से ही संतुष्ट था और पूर्ण स्वराज्य को कांग्रेस का ध्येय मानना अपने रास्ते की कठिनाइयां बढ़ा लेना समझता था। मैं उस समय पं. जवाहरलाल के इस कथन को ठीक नहीं समझता था कि हमारी बात विदेश के लोग नहीं समझ सकते; क्योंकि औपनिवेशिक स्वराज्य तो अंगरेजों ने अपनी जाति और अपने देश के लोगों को ही दिया, जिनके साथ उनके हजारों प्रकार के सांस्कृतिक और सामाजिक तथा धार्मिक संबंध थे; परंतु हमारे साथ तो उनका उस तरह का एक भी संबंध नहीं है; ऐसी अवस्था में न तो वे हमें दे सकेंगे और न हम उसे लेकर संतुष्ट हो सकेंगे। मेरे दिल पर स्वर्गीय गोखले की यह बात इस प्रकार जम गयी थी कि मैं सहसा उसको भी हटा नहीं सकता था। जब 1910 में उन्होंने मुझे सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी में शरीक होने के लिए कहा था तभी उन्होंने यह भी कहा था कि ब्रिटिश साम्राज्य का जो चित्र हम अपने सामने रखते हैं वह तो यह है कि जितने लोग इसके अंदर हैं सभी बराबरी का दर्जा पायेंगे और सभी मिलकर इसका प्रबंध करेंगे, इसलिए जब वह समय आ जायेगा तब साम्राज्य रह ही नहीं जायेगा और अगर रहा भी तो अपनी बहुल संख्या के कारण भारतीय इसको अपना साम्राज्य बना लेंगे। मैं यही सोचता था कि सचमुच हमको भी यदि वही स्थान और अधिकार मिल जायेंगे, जो इंग्लैंड और दूसरे उपनिवेशों को मिले हैं, तो वास्तव में हमें इससे अधिक की आवश्यकता न होगी। जो हो, कलकत्ते में कांग्रेस ने निश्चय कर लिया कि 1929 के अंदर ही औपनिवेशिक स्वराज्य होना चाहिए।

78

मेरे लिए एक दुखद घटना

ऊपर मैं कह चुका हूं कि देश में नयी जागृति के चिह्न दीखने लगे थे। कलकत्ते से लौटकर गांधीजी ने भी कांग्रेस के काम में बहुत अधिक मनोयोग देना शुरू किया। 1929 के अंदर और भी घटनाएं हुईं, जिनके फलस्वरूप जागृति बहुत बढ़ गयीं। गांधीजी का विचार हमेशा यह था कि हमारे देश की गरीबी के कारणों में एक मुख्य कारण यह है कि इस देश से कपड़े का व्यवसाय अंगरेजों ने उठा लिया है, जिसका फल यह हुआ कि चर्खे-कर्घे बंद हो गये और करोड़ों गरीबों की रोजी का जरिया उनके हाथों से छिन गया। इसलिए, वह चर्खे को फिर जिलाना चाहते थे। खादी संबंधी सारी प्रवृत्ति इसी कारण प्रेरित की जा रही थी। वह चाहते थे कि भारत में एक सूत भी विदेशी न आवे। वह इस वस्त्र-व्यवसाय को जगाना चाहते थे जिसमें फिर गरीबों को वह रोजी लौट आवे। इसके लिए वह हर तरह के विदेशी कपड़ों का भारत में आना बंद करना चाहते थे, केवल इंग्लैंड के ही कपड़े का नहीं। दूसरे लोग विदेशी कपड़े के बहिष्कार का अर्थ अक्सर अंगरेजी कपड़े का ही बहिष्कार मान लिया करते थे। उन लोगों की इसमें विशेष दिलचस्पी नहीं थी कि भारत में यह व्यापार गांव-गांव में फिर से जारी हो जाये। वे इतने से ही संतुष्ट हो जाते कि सिर्फ अंगरेजी कपड़ा न आवे। वे यह मानते थे कि केवल अंगरेजों के साथ हमारा झगड़ा है, इसलिए उनके ही देश के सामान का हम बहिष्कार करें और इस तरह उन पर जोर डालें तथा अपनी मांग मानने के लिए उन्हें मजबूर करें। गांधीजी इस प्रकार के बहिष्कार को हिंसामूलक समझते थे और बराबर इसे रोकते थे। कलकत्ता कांग्रेस के बाद स्वदेशी की लहर एक बार और चली। गांधीजी ने उसे केवल ब्रिटिश माल-बहिष्कार का रूप न देकर विदेशी वस्त्र-बहिष्कार का रूप दे दिया। वह केवल बहिष्कार से ही संतुष्ट न थे। इसके साथ-साथ वह चर्खा प्रचार भी उतना ही आवश्यक समझते थे। चर्खा प्रचार का काम तो चर्खा संघ कर रहा था। विदेशी वस्त्र-बहिष्कार के लिए एक कमिटी बनायी गयी, जो इसके लिए बहुत जोरों से प्रचार करने लगी। 1929 का साल इसी काम में लगा। जो कुछ भी जागृति हुई, उससे इसको लाभ पहुंचा और इसका असर उस जागृति पर पड़ा।

गांधीजी ने कई जगहों पर विदेशी वस्त्रों को जलवाया, जिससे जनता में अधिक उत्साह बढ़ने लगा। कलकत्ते में वह एक दिन के लिए आये। बरमा जा रहे थे, रास्ते में ठहर गये।

वहां के लोगों ने सार्वजनिक सभा की। उसमें विदेशी वस्त्र जलाने का भी प्रबंध किया। विदेशी वस्त्र जलाये गये। पर पुलिस ने इसके पहले ही किसी भी स्क्वायर में इस तरह की कार्रवाई करने की मनाही कर दी थी। सभा हो गयी। कपड़े जला भी दिये गये। हम सब वहां से चले भी आये। तब पुलिस ने आकर आग बुझा दी! जो लोग वहां रह गये थे उन्हें तितर-बितर कर दिया। दूसरे दिन महात्माजी पर मुकदमा चला जिसकी सुनवाई प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट के सामने हुई। गांधीजी तो कुछ बोलना नहीं चाहते थे, पर वकीलों ने बहुत बहस की कि यह कार्रवाई गैरकानूनी थी और जिस कानून के आधार पर यह मुकदमा जारी हुआ था वह लागू नहीं था। पर मिस्टर रौक्सबरा ने, जो अब कलकत्ता हाइकोर्ट के जज हैं, फैसला खिलाफ दिया। गांधीजी पर एक रुपया उदूल-हुक्मी के लिए जुर्माना किया! गांधीजी रंगून चले गये थे। वहां से उनके लौटने के बाद ही इसका निपटारा हुआ।

इसी समय, कलकत्ते में गांधीजी के रहते-रहते, एक और बात हुई, जिसके साथ मेरा निजी संबंध था। घटना दुखद है, पर संक्षेप में लिख देना आवश्यक जान पड़ता है। 1921 में ही खादी-प्रचार का काम आरंभ किया गया था। हमारे सूबे में श्री रामविनोद सिंह ने बहुत उत्साह और योग्यता के साथ इसको शुरू किया था। पहले बतला चुका हूं कि उनकी सफलता और कार्य-कुशलता से प्रभावित होकर उन्हें तिलक स्वराज्य फंड से पचीस हजार ऋण दिया गया था, जिससे उन्होंने खादी के काम को बहुत आगे बढ़ाया था। यह भी लिख चुका हूं कि अपने साथियों से उनका मतभेद हो गया; क्योंकि उनके विचार से इस संस्था को रामविनोद बाबू ने अब अपनी निजी सम्पत्ति बना ली थी। ऋण के लिए सिफारिश करने वाले आचार्य कृपालानी भी इसी निश्चय पर पहुंच गये थे। वह भी जोर लगा रहे थे कि चर्खा संघ उनसे रुपये वापस ले ले। बिहार शाखा का एजेंट होने के कारण यह भार मेरे सिर पर आ जाता था। चर्खा संघ के प्रांतीय मंत्री श्री लक्ष्मीनारायण ने, चर्खा संघ के निश्चय के अनुसार, रुपयों का हिसाब मांगा। हिसाब में उनके और रामविनोद बाबू के बीच मतभेद हो गया। बात गांधीजी तक पहुंची। उन्होंने आज्ञा दी कि श्री सतीशचन्द्र दासगुप्त इस बात की जांच करके रिपोर्ट करें।

सतीश बाबू ने कलकत्ते में ही जांच की। लक्ष्मी बाबू वगैरह वहीं सब कागज-पत्र लेकर गये थे। मैं भी था। मैं इस जांच में शरीक नहीं हुआ था; पर उनकी रिपोर्ट से मुझे दुख हुआ। रुपये तो कम या बेश जो कुछ बाकी हों, श्री रामविनोद सिंह से बिहार चर्खा संघ को ही पाना था। पर उन्होंने रिपोर्ट में बिहार शाखा की अयोग्यता की शिकायत की। हिसाब भी जैसा रामविनोद बाबू कहते थे वैसा ही स्वीकार किया। मैंने उसे देखा तो मुझे बहुत बुरा लगा—इसलिए ही नहीं कि बिहार शाखा के विरुद्ध फैसला था, बल्कि इसलिए कि उन्होंने अपने अधिकार की सीमा से बाहर जाकर बिहार शाखा को अकुशल और अव्यावहारिक ठहराया था। मैंने महात्माजी से कहा कि मैं इस फैसले से बहुत असंतुष्ट हूं, आपको स्वंय

हिसाब देखना-समझना होगा; क्योंकि एक ओर सार्वजनिक संस्था है जिसके संचालन का काम कई त्यागी और सच्चे सेवक बहुत उत्साह और परिश्रम के साथ कर रहे हैं तथा दूसरी ओर एक कार्यकर्ता हैं जो व्यवहार-कुशल हैं और जिन्होंने खादी प्रचार का बहुत काम भी किया है, पर जिनके विरुद्ध शिकायत है कि वह सार्वजनिक संस्था के धन द्वारा बनी-बनायी संस्था को अपनी निजी सम्पति मान बैठे हैं—इसमें भी कोई हर्ज नहीं, क्योंकि उन्होंने परिश्रम और समय लगाया है, पर चर्खा संघ के रुपये तो ठीक वापस मिल जाने चाहिए।

बरमा से गांधीजी के लौटने पर, कलकत्ते में, जब सब बातें उनके सामने पेश की गयीं तब उन्होंने सब कुछ स्वयं देखने का वचन दिया। बात बहुत दिनों तक चलती रही। हिसाब की जांच के लिए महात्माजी ने श्री नारायणदास गांधी को तैनात किया। अंत में, जो हिसाब चर्खा संघ की ओर से पेश किया गया था उसे ही श्री नारायणदास ने ठीक समझा। गांधीजी ने रामविनोद बाबू से कहा कि इसमें यदि भूल है तो हमको समझाओ। इसके लिए दिन भी नियत किया गया। पर बात आगे बढ़ी नहीं, वहीं-की-वहीं रह गयी। हां, गांधीजी ने समझ लिया कि हमने जो बात कही थी वही ठीक है।

इस घटना को मैं दुखद इसलिए मानता हूं कि इसके चलते रामविनोद बाबू और श्री सतीशचन्द्रदास गुप्त के संबंध में यहां कुछ लिखना पड़ा। इससे भी अधिक दुख मुझे उस समय की सारी बातों से हुआ था। सार्वजनिक जीवन में हमें इस तरह अनेक बार ऐसे काम करने पड़ते हैं जिनको हम व्यक्तिगत हैसियत से करना पसंद नहीं करते, पर जिन्हें कर्तव्य के अनुरोध से अप्रिय होने पर भी करना ही पड़ता है। श्री रामविनोद सिंह को मैं उस समय से जानता हूं जब वह भागलपुर कालेज में पढ़ते थे और प्रथम जर्मन-युद्ध के समय नजरबंद किये गये थे। उस समय की मुलाकात, गांधीजी के चम्पारन आने पर, अधिक गहरी हो गयी। असहयोग आन्दोलन में, विशेषकर खादी को लेकर, उनसे मेरा सम्पर्क ही नहीं बढ़ा, बल्कि उनकी कार्यकुशलता में मेरा विश्वास भी और बढ़ गया। ऐसे व्यक्ति के संबंध में कुछ भी कहना पड़े तो वह दुखद होता ही है। सतीश बाबू के लिए मेरे हृदय में जो श्रद्धा और प्रेम है, वह मैं कहना नहीं चाहता। उनकी कार्यक्षमता और उनका त्याग अतुलनीय है। उनकी भी कृपा मेरे ऊपर रहती है। इसलिए यह दुर्घटना स्वभावतः मेरे लिए बहुत दुखद हुई थी।

79

राजबंदियों का वर्गीकरण

1929 में एक बहुत मशहूर षड्यंत्र का मुकदमा, 'लाहौर कौंसपिरेसी केस' के नाम से, लाहौर में चला। इसके अभियुक्त थे सरदार भगतसिंह। मुकदमा बहुत दिनों तक चला। मुजरिम लोगों ने जेल के अंदर, असुविधाओं के विरुद्ध, अनशन कर दिया। अनशन कई दिनों तक चला। अनशन करने वालों में से एक नवयुवक श्री यतीन्द्रनाथ दास, साठ दिनों के बाद, शहीद हो गये। सारे देश में काफी सनसनी थी। जब श्री यतीन्द्रनाथ की मृत्यु हो गयी, यह सनसनी और भी ज्यादा बढ़ गयी। उनके शव को गवर्नमेंट ने उनके मित्रों को दे दिया। वह रेल पर बड़े सम्मान के साथ लाहौर से कलकत्ते लाया गया। जिन शहरों से होकर वह गाड़ी आयी उनके स्टेशनों पर बड़ी भीड़ लगी। लोगों ने शव पर पुष्प-हार चढ़ाये तथा दूसरे प्रकार से भी उसकी प्रतिष्ठा की। जो जागृति कुछ पहले से ही हो रही थी वह और भी अधिक हो गयी। सारे देश में बड़ा उत्साह उमड़ आया। श्री यतीन्द्रनाथ की मृत्यु का एक फल यह भी हुआ कि गवर्नमेंट ने कैदियों का—उनके रहन-सहन, शिक्षा इत्यादि के हिसाब से—तीन भागों में वर्गीकरण कर दिया। यह तुरंत तो न हो पाया, पर जब 1930 में सत्याग्रह हुआ तो सत्याग्रही कैदी भी तीन वर्गों में बांटे गये। थोड़े लोगों को ए क्लास मिला, उनसे कुछ अधिक को बी क्लास और बहुत बड़ी संख्या सी क्लास में ही रक्खी गयी। गवर्नमेंट ने इस बात को मंजूर नहीं किया कि राजनीतिक कैदियों का एक अलग वर्ग या क्लास होना चाहिए। यह प्रश्न अभी तक ज्यों का त्यों है।

जिस तरह का वर्गीकरण गवर्नमेंट ने किया वह हमारे लिए हानिकारक है। यह सच है कि जो आदमी अपने घर पर बहुत आराम से रहता आया है वह जेल में उसी तरह से रखा जाये, वही भोजन उसे दिया जाये, वही कपड़े उसे पहनाये जायें, जो मजदूरी करने वाले गरीबों को मिलते हैं, तो उसकी सजा उसके लिए कहीं अधिक कष्टकर हो जाती है। और, यदि कानून की मंशा जुर्म के लिए सबको समान दंड देना है तो इस तरह उसकी सजा यही अधिक हो जाती है। यही कहकर तीन विभागों में कैदी बांटे गये। परंतु, जो लोग एक साथ काम कर रहे हैं और एक ही काम में लगे हुए हैं वे जेल के भीतर जाने पर यदि एक-दूसरे से अलग कर दिये जायें—इधर कुछ को सोने के लिए चारपाई मिले, भोजन में थोड़ा दूध-घी

भी रहे, चिट्ठी लिखने और मुलाकात करने की सुविधाएं भी अधिक हों, और उधर अधिकांश को मिला करे लोहे के तसले में मोटे चावल का भात, लोहे के बर्तन में बनने के कारण अधिक पानी वाली काली दाल, नाममात्र की तरकारी, पहनने के लिए छोटा जांघिया, अधबंहियां कुर्ता, तथा उनके साथ जेल के अधिकारियों का बर्ताव भी उन कैदियों के समान ही हो जो चोरी इत्यादि के लिए जेल में बंद हों, तो उन अधिकांशों के मन में असंतोष पैदा होना स्वाभाविक है। मालूम नहीं, गवर्नमेंट ने किस नीयत से इस प्रकार का वर्गीकरण किया है।

राजनीतिक कैदियों का एक ही वर्ग हो, जो सुविधा ए अथवा बी वर्ग को मिलती है उससे उन्हें कम भी मिले, पर बर्ताव सबके साथ समान हो—इसके लिए की गयी आज तक की सभी कोशिशें निष्फल हुई हैं। गवर्नमेंट अपनी सुविधा के लिए राजनीतिक कैदियों को एक प्रकार से अलग करती है; पर यह कहने पर कि वे अलग समझे जायें और उनके साथ भिन्न व्यवहार हो, हमेशा यह कह दिया जाता है कि गवर्नमेंट राजनीतिक तथा अन्य कैदियों में कोई फर्क नहीं समझती। बिहार प्रांत में, 1930 के आन्दोलन में, 12 से 14 हजार तक, सत्याग्रह के कारण राजनीतिक कैदी हुए। पर इनमें 20 से अधिक को ए क्लास नहीं मिला। बी क्लास वालों की संख्या तीन से चार सौ तक होगी, इससे अधिक नहीं। बाकी सब-के-सब सी क्लास में रक्खे गये। वर्गीकरण भी जिला-मजिस्ट्रेट या किसी दूसरे अधिकारी की इच्छा के अनुसार ही हुआ करता था। सेठ जमनालाल बजाज का लड़का सी क्लास में रक्खा गया। एक ही घर का एक भाई ए या बी में रक्खा गया और दूसरा सी में। इस तरह की गड़बड़ी बहुत रही। इसके अलावा, बिहार में सी क्लास वालों की एक बड़ी—यानी चार-पांच हजार की—जमायत पटना कैम्प जेल में रक्खी गयी। यह जेलखाना खुले मैदान में, जहां कोई वृक्ष नहीं, टिन की दीवारों और छप्परों का बना था। बरसात में, जमीन नीची होने के कारण, नीचे के फर्श में नमी या सील हो जाती थी। गरमी में टिन के दीवार-छप्पर तप जाते थे। मारे गरमी के लोग परेशान हो छटपटा जाते थे। सर्दी में टिन बाहर की सर्दी को रोक नहीं सकता था। कभी-कभी तो हवा की नमी टिन में लगकर पानी हो जाती और बिना बरसात के ही वर्षा होने लगती। कैदियों के कष्टों का कुछ ठिकाना न था। इन सबका नतीजा यह हुआ कि सी क्लास वालों में बहुत असंतोष पैदा हुआ। असंतोष का कुछ हिस्सा उनके प्रति भी था जिनको ए या बी क्लास मिला था। मनुष्य में मामूली तौर पर डाह की कुछ मात्रा होती ही है। कुछ लोग इसके शिकार हो ही गये, यद्यपि इस वर्गीकरण में ए-बी क्लास वालों का कोई दोष नहीं था।

हां, ऐसा भी कहीं-कहीं हुआ होगा कि कोशिश-पैरवी कराकर लोगों ने ए या बी क्लास लिया हो, यद्यपि ऐसे लोगों की संख्या थोड़ी ही होगी। ऐसा भी किसी ने नहीं किया कि वह अपना ए या बी क्लास छोड़ दे और दरखास्त देकर सी क्लास करा ले। कहीं-कहीं कुछ ए या बी क्लास वालों ने अपना खाना छोड़कर कुछ दिनों तक सी क्लास का भोजन किया; पर यह बहुत दिन तक नहीं चला। इसमें कोई शक नहीं कि इस प्रकार के वर्गीकरण से कांग्रेसी

कार्यकर्ताओं में कुछ मनोमालिन्य बढ़ा; पर ऐसा न समझना चाहिए कि यह मनमुटाव बहुत बड़े पैमाने पर हुआ। सी क्लास वालों में अधिक-से-अधिक संख्या ऐसे लोगों की ही रही जिनमें इतनी उदारता थी कि उन्होंने खुद समझा और दूसरों को भी समझाया कि वर्गीकरण में हम लोगों का हाथ नहीं है—जो जेलखाने भेजता है वह जिसे जहां भेजता है, जिसे जिस तरह रखना चाहता है, उसे वहां जाना पड़ता है और वैसे रहना पड़ता है। एक ही कसूर के लिए अगर एक आदमी को तीन महीनों की और दूसरे साथी को तीन साल की कैद मिलती है, तो जिस तरह इसके लिए तीन महीने वाले की शिकायत नहीं की जा सकती, उसी तरह ए-बी क्लास वाले की शिकायत भी बेजा है। यह सब होते हुए भी, कुछ लोगों के दिल में तो वर्गीकरण के कारण दूसरों के प्रति अश्रद्धा हो ही गयी।

गांधीजी का विचार हमेशा रहा है कि हमें कैदी-कैदी में फर्क नहीं करना चाहिए; यदि सब राजनीतिक कैदी अपना अलग वर्ग बना लेंगे तो दूसरे गरीब जो जेल में आते हैं, चाहे उनका जो कसूर हो, उसी हालत में पड़े रह जायेंगे जिसमें वे अब तक रहे हैं; इसलिए हमको यदि आन्दोलन करना हो तो इसलिए करें कि सभी कैदियों की हालत में सुधार हो। ठीक इसी नीति के अनुसार गांधीजी तीसरे दर्जे के डिब्बे में चलते हैं और चाहते हैं कि दूसरे बड़े लोग भी चलें तो रेल के तीसरे दर्जे की हालत सुधर जाये। पर कांग्रेस के अंदर भी सभी लोग इस मत के नहीं हैं। इसलिए अभी तक कुछ ऐसा नहीं हो पाया। जब मैं पहले जेल में गया तो मेरा विचार होता था कि इस मामले का निपटारा बाहर से अधिक सुगमतापूर्वक हो सकेगा, मैं कैदियों द्वारा आन्दोलन कराना पसंद नहीं करता था। पर अब मेरा विश्वास हो गया कि इस संबंध में जो कुछ करें, कैदी ही कर सकते हैं—बाहर के लोग विशेष कुछ नहीं कर सकते। हां, यदि समझदार लोगों के हाथों में अधिकार आ जाये तो वे शायद कुछ कर सकें। अब तक का अनुभव भी यही बतलाता है कि कैदियों की हालत में जो कुछ थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है वह कैदियों के आन्दोलन के कारण ही हुआ है। जो थोड़ी सुविधाएं लोगों को मिली हैं, वह भी श्री यतीन्द्रदास के प्राणत्याग का ही फल है।

80

जमशेदपुर के मजदूरों की हड़ताल

बिहार में जमशेदपुर एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। वहां हिन्दुस्तान का ही नहीं, सारे एशिया का सबसे बड़ा लोहे का कारखाना है, जो संसार के बड़े कारखानों में भी शायद दूसरा या तीसरा स्थान रखता है। उसके साथ अनेक दूसरे कारखाने भी हैं, जो उसके मुकाबले में तो छोटे हैं; पर यदि वह न होता तो बड़े ही समझे जाते। जाहिर है कि ऐसे शहर में मजदूरों का प्रश्न एक अत्यंत महत्व का प्रश्न होता है। इस सूबे में मजदूरों का संगठन एक विशेष महत्व रखता है; क्योंकि यहां कोयले की खानें भी सभी सूबों से ज्यादा हैं। ऊख के कारखाने भी, युक्तप्रांत छोड़कर, इसी सूबे में सबसे अधिक हैं। सब सूबों से अधिक चीनी यहां बनती है।

मैं स्वंय मजदूरों के प्रश्न में कभी दिलचस्पी नहीं लेता था। उसका कारण यह नहीं था कि मैं इसके महत्व को नहीं समझता था, बल्कि कारण यह था कि मेरे हाथ में दूसरा काम इतना ज्यादा था कि इसे हाथ में लेने की मेरी हिम्मत न पड़ती थी। कोई दूसरा भी इसे हाथ में लेना नहीं चाहता था। इसका नतीजा यह हुआ कि हम इस मामले में बहुत पीछे पड़ गये। जमशेदपुर, झरिया इत्यादि स्थानों में, स्थानीय लोगों ने अथवा अन्यत्र से आकर बाहर के लोगों ने, कुछ किया। पर वह हमको संतोषप्रद नहीं प्रतीत होता था। मैं 1921 से ही जब-तब जमशेदपुर जाया करता था। कांग्रेस का प्रचार-कार्य करके चला आता। उसी तरह झरिया के साथ भी मेरा वैसा ही संबंध था। मजदूरों के संगठन को मैंने कभी अपने हाथ में नहीं लिया। जमशेदपुर में एक संघ बना था, जिसके सभापति दीनबंधु एंडरूज हुए थे। गांधीजी वहां गये थे। टाटा कम्पनी के डाइरेक्टर स्वर्गीय आर.जी.टाटा आये थे। मैं भी गांधीजी के साथ था। मजदूर संघ को श्री टाटा ने मान लिया। वह कुछ काम करता चला आया। श्री एंडरूज वहां रहते नहीं थे, कभी-कभी आ जाया करते थे। इसलिए, यद्यपि उनकी सहानुभूति से लाभ तो होता तथापि संगठन उतना मजबूत नहीं हुआ जितना होना चाहिए।

मजदूरों की शिकायतों के कारण 1928 में वहां हड़ताल हुई। हड़ताल कुछ दिनों तक चली। श्री सुभाषचन्द्र बोस कलकत्ते से आये। मजदूर संघ के वह सभापति हुए। अंत में

उन्होंने टाटा कम्पनी के साथ समझौता किया। पर इस समय वहां मजदूरों के संगठन में एक दूसरे सज्जन दिलचस्पी लेने लग गये थे। उन्होंने इस समझौते को मंजूर नहीं किया। कुछ मजदूरों को लेकर उन्होंने अलग संघ कायम कर लिया। श्री सुभाषचन्द्र के विरुद्ध उनकी ओर से बुरी तरह प्रचार होने लगा। पर बात तो तय हो गयी थी और सब मजदूर एक मत के नहीं थे, इसलिए कम्पनी को और कुछ करना नहीं पड़ा। यह सब मेरी गैरहाजिरी में हुआ था। वहां मजदूरों में दो दल हो गये थे। उनकी संस्थाएं भी दो थीं। इन दोनों में आपस का मनोमालिन्य भी काफी था।

इसी समय वहां एक दूसरी कम्पनी के कारखाने में, जिसका नाम टिन प्लेट कम्पनी है, हड़ताल हुई। वहां के लोगों ने भी श्री सुभाषचन्द्र बोस की मदद मांगी। वह आये। हड़ताल चली। पर कम्पनी के मालिकों ने बहुत कड़ा रुख अख्तियार किया। वे किसी तरह से मजदूरों की सुनने को तैयार नहीं होते थे। सुभाष बाबू ने मुझे भी खबर देकर बुलवाया। इस हड़ताल में दिलचस्पी लेने के लिए मुझसे कहा। प्रोफेसर अब्दुल बारी वहां सुभाष बाबू की मदद कर रहे थे। मैंने भी, अपने सूबे में होने के कारण और मजदूरों की मांगों को न्याययुक्त समझकर, इस हड़ताल का समर्थन किया। इसके बाद उसके चलाने का प्रायः सारा भार प्रो. अब्दुल बारी और मेरे ऊपर आ गया। मैं कई बार वहां गया। हड़ताल प्रायः 8-10 महीनों तक चलती रही। मैंने गवर्नमेंट से इस बात की सिफारिश की कि वह यह मामला 'ट्रेड्स डिस्प्यूट ऐक्ट' के अनुसार, पंचायत में दे दे। पर वह इस पर राजी न हुई। तब चीफ सेक्रेटरी और गवर्नमेंट के मेम्बर से मैंने भेंट की। उन्होंने यही कहा कि गवर्नमेंट इस हड़ताल को गलत और अकारण समझती है; क्योंकि जमशेदपुर के मजदूरों के नेता श्री होमी भी इसके विरुद्ध हैं। यह वही सज्जन थे जिन्होंने टाटा कम्पनी में सुभाष बाबू का विरोध करके दूसरी संस्था कायम कर ली थी। इस समय गवर्नमेंट को इनकी राय इसलिए ठीक जंची कि वह कुछ करना नहीं चाहती थी और कम्पनी की मदद करना पसंद करती थी। जो हो, हजार कोशिश पर भी कम्पनी टस से मस न हुई। आठ-दस महीनों तक चलकर हड़ताल समाप्त हो गयी। पर बहुतेरे मजदूर, जिन्होंने काम छोड़ दिया था, अपने काम पर वापस नहीं गये। अथवा, जो जाना भी चाहते थे उन्हें कम्पनी ने उनकी जगह पर वापस नहीं लिया।

81

एक घरेलू घटना और सरकारी घोषणा का अर्थ

1929 का मेरा अधिक समय विदेशी वस्त्र-बहिष्कार में लगा, जिसका रचनात्मक रूप खादी की उत्पत्ति होता है। इसके अलावा जमशेदपुर के मामले ने भी कुछ समय लिया। खादी के काम की देखभाल के लिए मैं मधुबनी में, जहां अब चर्खा संघ का मुख्य केंद्र और प्रांतीय दफ्तर हो गया था, कुछ दिनों ठहरा रहा। काम को आगे बढ़ाने के संबंध में कार्यकर्ताओं से परामर्श किया। वहीं मुझे तार मिला कि मेरे भतीजे जनार्दन के एक पुत्र पैदा हुआ है। स्वभावतः भाईसाहब को खुशी हुई और हम सब खुश थे। पुरानी रीति के अनुसार भाई साहब ने मित्रों के अनुरोध से इस खुशी में कुछ खर्च भी कर दिया। नाच-तमाशे के दिन तो नहीं थे; क्योंकि उन्होंने व्रत ले लिया था कि शादी-ब्याह में भी नाच वगैरह नहीं करायेंगे। इसलिए, इस मौके पर भी नाच वगैरह तो नहीं हुए; परंतु पूजा-पाठ हुआ। अपने नौकरों और सरोकारियों को कपड़े वगैरह उन्होंने खूब बांटे। मैं भी उत्सव में छपरे गया। सब लोग बहुत खुशियां मना रहे थे। यहां यह सब इसलिए लिखना पड़ा कि इसका अंत बहुत दुखद हुआ।

बच्चा बहुत सुंदर और होनहार निकला। हम दोनों भाई उसे बहुत प्यार करते थे; क्योंकि उन दिनों घर में वही एक लड़का था। 1929 के दिसम्बर में बीमार पड़कर मैं दिसम्बर और जनवरी में अपने गांव जीरादेई में कुछ दिनों तक रहा। बच्चा वहीं था। उसको खेलाने और उसके साथ खेलने का सुअवसर मिला। कलकत्ते के श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी भी प्रायः एक महीने तक मेरे साथ वहीं ठहरे थे। रोज-रोज के लाड़-प्यार से लड़के के साथ बहुत स्नेह हो गया। वह जैसे-जैसे बढ़ता गया, स्नेह भी घना होता गया। पर जब वह पांच साल से कुछ अधिक का हुआ तो भाईसाहब की मृत्यु के दो महीने बाद वह भी पटने में टाइफाइड से पीड़ित होकर जाता रहा! मैं पटने में ही था। यथासाध्य डाक्टरों ने भी उसे बचाने की चेष्टा की, पर वह सब निष्फल हुई। अब भी जब उसकी स्मृति आ जाती है, चित्त विह्वल हो जाता है, मैं अपने को मुश्किल से संभाल पाता हूं। इसलिए, जब 1941 में मेरे बड़े लड़के मृत्युंज्य के पुत्र हुआ तो मैंने सख्ती से रोक दिया कि इसके जन्म के कारण किसी प्रकार का उत्सव न मनाया जाये। मैंने आज तक अपने दिल में बैठे हुए इस कारण को कभी किसी से कहा नहीं, आज ही पहले-पहल इसे यहां लिख रहा हूं।

अस्तु । इस समय हिन्दुस्तान के बड़े लाट लार्ड अर्विन थे । वह छुट्टी लेकर कुछ दिनों के लिए इंग्लैंड गये । वहां पर हिन्दुस्तान की परिस्थिति के संबंध में उन्होंने बातें कीं । इस समय वहां भी मजदूर दल का मंत्रिमंडल बना था । श्री रामजे मैकडोनाल्ड प्रधानमंत्री और श्री वेजवुडबेन भारत-मंत्री थे । लार्ड अर्विन ने वहां से लौटकर ब्रिटिश सरकार की ओर से एक घोषणा की । उसमें उन्होंने यह कहा कि जो घोषणाएं ब्रिटिश सरकार की ओर से हो चुकी हैं उनमें भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य निहित है । शायद उन्होंने यह भी कहा कि इस विषय पर विचार करने के लिए एक गोलमेज कांफ्रेंस लंदन में की जायेगी । यह घोषणा यहां की परिस्थिति देखकर की गयी थी । साइमन कमीशन का बहिष्कार भारत के सभी दलों ने किया था । उसके विरुद्ध प्रदर्शनों में लोगों पर लाठियां चली थीं । देश के कई मान्य लोग भी घायल हुए थे । सारे देश में हलचल थी । उसमें लाहौर षड्यंत्र केस के अभियुक्तों की भूख-हड़ताल ने और भी जान डाल दी थी । विदेशी वस्त्र-बहिष्कार का प्रचार जोर पकड़ता जा रहा था । कलकत्ता कांग्रेस ने प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया था कि 1929 के भीतर यदि औपनिवेशिक स्वराज्य न मिला तो कांग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता को अपना ध्येय बना लेगी ।

गवर्नमेंट ने शायद सोचा था कि यह घोषणा इस अशांति को शांत करने में सफल होगी । घोषणा के अर्थ के संबंध में पत्रों में कुछ वाद-विवाद होने लगा । नरम दल वाले कुछ संतुष्ट मालूम पड़ने लगे । पर यदि उसकी अच्छी तरह छानबीन की जाती तो सरकार की सभी घोषणाओं की तरह उसके भी कई अर्थ निकल सकते थे और गवर्नमेंट अपनी सुविधा के अनुसार जब जैसा चाहती उसका अर्थ वैसा निकाल सकती थी । कांग्रेस के लोगों ने उसे कलकत्ता कांग्रेस की मांग की पूर्ति करने वाली घोषणा नहीं समझा । इसका खुलासा पीछे हुआ तो मालूम हो गया कि कांग्रेस का संदेह बिलकुल ठीक था और दूसरों ने अपनी इच्छा के अनुसार अर्थ निकाला था जो शब्दों से नहीं निकल सकता था ।

ठीक लाहौर कांग्रेस के पहले गांधीजी और पंडित मोतीलाल नेहरू लार्ड अर्विन से मिले । उन्होंने वायसराय से इसका अर्थ पूछा तो मालूम हुआ कि जो उन लोगों ने समझा था वही ठीक था, दूसरों ने मनमाना अर्थ निकाला था ! अभी औपनिवेशिक स्वराज्य दूर था ! जो उसे आया हुआ समझे हुए थे उन्होंने श्री वेजवुडबेन के उस भाषण को, जिसमें उन्होंने कहा था कि औपनिवेशिक स्वराज्य तो वास्तव में काम कर रहा है (Dominion Status in action), वाक्चातुरी न समझकर शाब्दिक अर्थ लगाने में भूल की थी । यह हमारे लिए इस बात की एक चेतावनी निकली कि ब्रिटिश गवर्नमेंट की घोषणाओं को खूब बारीकी के साथ देखना चाहिए, उनसे मनमाना अर्थ नहीं निकालना चाहिए । इस चेतावनी के लिए हमें उनका अनुगृहीत होना चाहिए !

82

मेरी बरमा यात्रा

जब हम लोग बाबू हरिजी का मुकदमा समाप्त करके इंग्लैंड से लौट रहे थे, बाबू हरिजी ने ख्वाहिश जाहिर की थी कि मैं एक बार बरमा जाऊं और जियावाडी में जो कुछ उन्होंने किया है उसे देखूं। मेरी भी इच्छा थी कि उनकी उस कीर्ति को भी देखूं और बरमा प्रांत में भ्रमण भी करूं। यह ख्वाहिश 1928 में पूरी न हुई। 1929 में बाबू हरिजी खुद बरमा गये। मैंने भी सोचा कि वहां जाने का यह अच्छा मौका है। इसी बीच एक और बात सामने आ गयी। जिस तरह दीवान जयप्रकाश लाल (बाबू हरिजी के स्वर्गवासी पिता) ने बरमा में, ब्रिटिश गवर्नमेंट के प्रोत्साहन से, जमीन ली थी उसी तरह एक अंगरेज नीलवर मिस्टर मिलन ने भी बरमा में बहुत जमीन ली थी। शाहाबाद जिले में वह नील का काम किया करते थे। उन्होंने भी बिहार से खासकर शाहाबाद से, किसानों को ले जाकर, बाबू हरिजी की तरह ही, अपनी जमीन पर बसाया था। कुछ और लोगों ने भी वहां जमीन ली थी; पर वे उसका ठीक प्रबंध न कर सके; अंत में जमीन उन्होंने छोड़ दी या वह जब्त हो गयी। पर इन दो बड़े जमींदारों ने वहां बहुत बड़ी जमींदारी हासिल कर ली। बहुत परिश्रम और अध्यवसाय से, काफी रुपये खर्च करके, ऐसे जंगलों को—जहां हाथी और शेर बसते थे—काट-काटकर, जमीन साफ करके इन लोगों ने बिहारियों को बसाया था। वहां धान, ईख और दूसरी फसलें भी पैदा होती थीं। मिस्टर मिलन के रैयतों में कुछ अशांति-सी व्याप रही थी। रैयतों ने यहां पत्र भेजा था कि मैं जाकर उनकी मदद करूं। शायद उन्होंने सुना था कि मैंने गांधीजी के साथ चम्पारन में काम किया था, इसलिए मेरी सेवा पर उनका कुछ विश्वास हो गया था। बस, इस दूसरे सुयोग को पाकर मैंने वहां जाने का निश्चय कर लिया। श्री मथुरा प्रसाद जी के साथ नवम्बर में वहां गया। मिस्टर मिलन की जमींदारी का नाम था 'चौतगा' और बाबू हरिजी की जमींदारी का 'जियावाडी'। मैं इन दोनों जगहों में गया। रंगून में भी कुछ दिन ठहरा। कुल मिलाकर शायद पंद्रह दिन वहां रहा। और कहीं नहीं जा सका। इसलिए मंडले वगैरह कुछ न देख सका।

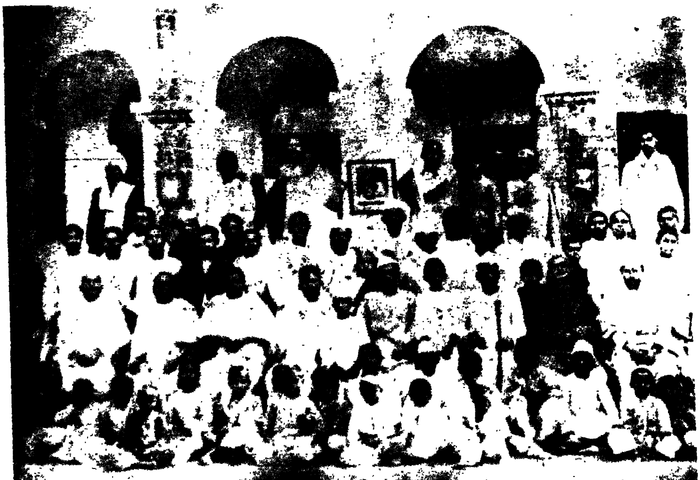
स्टीमर का सफर मामूली था। समुद्र शांत था। जहाज में आराम था। हम लोग मजे में पहुंच गये। कुछ दूर से ही रंगून के बौद्ध मंदिरों के सुनहले कंगूरे और गुम्बद नजर आये। नजदीक पहुंचते-पहुंचते उनका बड़ा अंश दीखने लगा। रंगून के लोगों ने अच्छी खातिरदारी



1906 में राजेन्द्र प्रसाद एम.ए. की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर



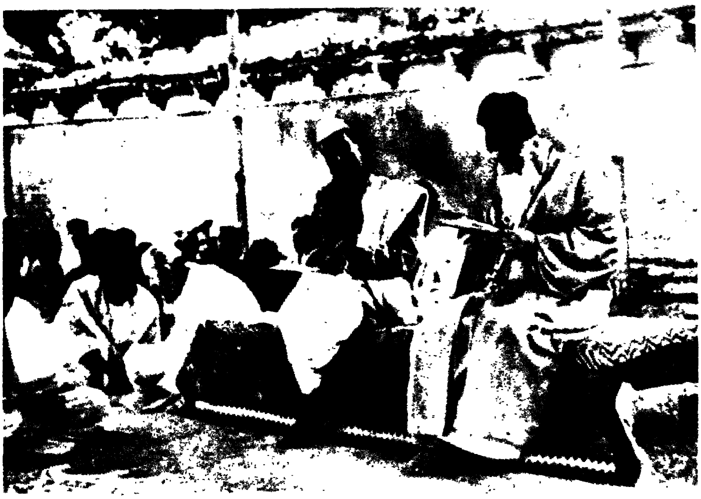
अपने गांव जीरादेई में (1923) कुर्सी पर बाएं से-(1) मृत्युञ्जय प्रसाद (पुत्र), (2) नर्वदेश्वर प्रसाद, (3) महेन्द्र प्रसाद, (राजेन्द्र बाबू के बड़े भाई), (4) राजेन्द्र प्रसाद, (5) भगवती प्रसाद वर्मा, (6) जनार्दन प्रसाद वर्मा। बैठे हुए बाएं से चौथे लवलीन प्रसाद, और पांचवें धनञ्जय प्रसाद (पुत्र)



विद्यापीठ के अभिभावक, अध्यापक तथा विद्यार्थियों के साथ सदाकत आश्रम में राजेन्द्र प्रसाद (1928) बाएं से चौथे श्री बद्रीनाथ वर्मा, पांचवें श्री राजेन्द्र प्रसाद, सातवें बाबू ब्रज किशोर प्रसाद, आठवें श्री मथुरा प्रसाद, अंतिम श्री नथुनी सिंह



राजेन्द्रबाबू श्रीमती राजवंशी देवी (धर्मपत्नी) के साथ (बम्बई कांग्रेस, अक्तूबर 1934)



शान्तिनिकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, दीनबंधु एंड्रयूज के साथ राजेन्द्र प्रसाद



महात्मा गांधी, राजेन्द्र प्रसाद और महादेव देसाई



राजेन्द्र प्रसाद गांधी जी के साथ



अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के कलकत्ता अधिवेशन (1939) में सुभाष चन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू तथा खान अब्दुल गफ्फार खां के साथ राजेन्द्र प्रसाद



परिवार के सदस्यों के साथ राजेन्द्र प्रसाद

बाएं से दाएं-सर्वश्री जनार्दन प्रसाद वर्मा, मृत्युञ्जय प्रसाद, श्रीमती रमा देवी, सुश्री भगवती देवी, राजेन्द्र प्रसाद, श्रीमती राजवंशी देवी (पत्नी)



परिवार के सदस्यों के साथ राजेन्द्र प्रसाद



निजी सचिवों के साथ राजेन्द्र बाबू (1946)

श्री चक्रधरशरण, बाबू मथुरा प्रसाद, वाल्मीकि चौधरी



राजेन्द्र प्रसाद

की। एक सार्वजनिक सभा में मुझे मानपत्र दिया गया। मैंने उसके उत्तर में कहा कि हिन्दुस्तान और बरमा का पुराना संबंध आज के संबंध से भिन्न प्रकार का था। भारत ने भी अपना साम्राज्य दूसरे देशों में स्थापित किया था। पर आजकल के साम्राज्य की तरह वह हिंसा, अस्त्र-शस्त्र और सैन्य बल की नींव पर स्थापित नहीं था। वह धार्मिक साम्राज्य था। भारत का संबंध दूसरों के साथ एक रेशमी डोरी से गुंथे मणियों का-सा था, जो एक-दूसरे के साथ रहते तो हैं, पर एक-दूसरे पर हुकूमत नहीं करते। आज भी जब संसार में होता हुआ खून-खराबा देखता हूं तो मुझे मालूम होता है कि भारतवर्ष की वह धार्मिक एक-सूत्रता, जो सेना के बल से नहीं वरन् धर्म और चरित्र द्वारा ही स्थापित की गयी थी, आज के साम्राज्य से कहीं अधिक स्थायी और प्राणिमात्र के लिए कहीं अधिक लाभदायक साबित हुई है। भारतवर्ष से, विशेषकर अपने जन्मस्थान बिहार से, बौद्ध धर्म एकबारगी उठ गया है, तब भी आज उसे संसार के अधिक-से-अधिक मनुष्य मानते हैं। वे लोग आज भी उस धर्म के प्रवर्तक के साथ संबंध रखने वाले स्थानों को तीर्थस्थान मानते हैं। बुद्धदेव ने जहां जन्म लिया, जहां उन्होंने सिद्धि प्राप्त की, जहां अपना धर्मचक्र चलाया, वे सभी स्थान आज भारत में दुनिया के बौद्धों के लिए पुण्य तीर्थ बने हुए हैं। उन्हीं तीर्थों के कारण संसार के बौद्ध, हमारी आज की पतित अवस्था में भी, हमें आदर की दृष्टि से देखते हैं। किसी राजनीतिक साम्राज्य को यह सौभाग्य न प्राप्त हुआ है और न होगा। बरमा में जाकर मेरे हृदय के अंदर ये सब स्वतः प्रकट हो गये।

वहां चौतगा के रैयतों से मैं मिला। मालिक तो वहां नहीं थे, विलायत में थे; पर उनके कर्मचारी और उनके पुत्र वहां थे। उनसे रैयतों की शिकायतों के संबंध में बातें हुईं। रंग-ढंग से मालूम हुआ कि बातें तय हो जायेंगी। पर अंत में विलायत से कुछ तार आ गया। हाथ में आयी हुई सफलता भी निकल गयी! पर मुझे विश्वास है कि वहां के लोगों की हालत बहुत-कुछ सुधर गयी, यद्यपि सब बातें हमारे सामने तय न पा सकीं।

जियावाडी में भी रैयतों की कुछ शिकायतें थीं। पर बाबू हरिजी की कार्यकुशलता और व्यवहार-पटुता के कारण वे उस समय तक उग्र रूप नहीं धारण कर पायी थीं। हम लोगों को उनके संबंध में कुछ करना नहीं पड़ा। कुछ दिन ठहरकर वहां का हालचाल देखा। वहां के गांवों में जाने पर ऐसा नहीं मालूम होता था कि हम बिहार से बाहर आये हैं। वही भोजपुरी बोली, वही कपड़े, वही रहन-सहन, उसी तरह के मकान और वैसी ही खेती-बारी। मैंने मुकदमे के समय कागजों को पढ़ा था। उनको पढ़ने से ही बाबू हरिजी की कार्य-दक्षता और प्रबंध-शक्ति का मैं कायल हो गया था। अब उस एक समय के, अर्थात 30 बरस पहले के, जंगल को लहलहाते हुए गांवों के रूप में देखकर और भी श्रद्धा हो गयी। आज उनमें हजारों बिहारी रहते और खेती करके सुख से जीवन बिताते हैं तथा बाबू हरिजी को भी लाखों रुपयों की सालाना आमदनी दे देते हैं। हमारे सामने उन्होंने रैयतों की एक सभा भी की

जिसमें खैरखाहों को मुरेठा बांटा और दूसरे प्रकार से भी आदर दिया। बिहार विद्यापीठ के लिए भी कुछ रुपये वहां मिले। रंगून के व्यापारियों ने भी दिये जिन्हें लेकर मैं वापस आया।

रंगून में भी बिहारियों की खासी आबादी है। मुझे यह देखकर आश्यर्य हुआ कि जीरादेई का रहने वाला मेरा एक पुराना नौकर रंगून में आकर मुझसे मिला। वहां वह कहीं नौकरी करता था। मेरे आने की खबर सुनकर वह मुझसे मिलने आया। वहां गुजराती और मारवाड़ी व्यापारी काफी हैं। पर गांवों में ज्यादातर मद्रास के रहने वाले चेट्टी लोग हैं जो अधिक रुपये लगाने या कर्ज देने का काम करते हैं। आंध्र के भी बहुत लोग हैं, पर वे भी बिहारियों की तरह नौकरी या मजदूरी करते हैं। उसी समय आंध्र के श्री नागेश्वरराव पंतलू भी वहां गये थे। रंगून में हम दोनों को भोज दिया गया,जिसमें वहां के बहुतेरे मशहूर बरमी और हिन्दुस्तानी शरीक हुए। मेयर वहां के एक मुसलमान सज्जन थे। श्री अब्बास तय्यबजी के सुपुत्र तय्यबजी रैयतों के काम में बहुत दिलचस्पी लिया करते थे। ये सब लोग भोज में शरीक थे। एक अंगरेज सज्जन भी,जो पीछे वहां की कौंसिल के स्पीकर या सभापति हुए, उस भोज में थे।

मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सभी लोग जमीन पर बैठकर भोजन करते गये। अंगरेज महाशय भी हम लोगों के साथ ही उसी तरह बैठे। बिहार में ऐसा कोई भोज मैंने नहीं देखा था। गांधीजी के आश्रम के सिवा और कहीं भी, उस समय तक, मैंने इस तरह सब लोगों को हिन्दुस्तानी तरीके से जमीन पर बैठकर खाते नहीं देखा था। यह हमारी कमजोरी है कि हम यदि किसी विदेशी को खिलाते हैं या दूसरे प्रकार से उसका आदर करते हैं,तो वह जैसे खाता-पीता या रहता है उसी की हम नकल करते हैं। वह स्वयं तो अपने घर में वैसे रहता ही है और वही भोजन उसी तरीके से किया ही करता है,फिर हमने अपने यहां के भोज में उसे अपनी विशेषता क्या दिखायी? विदेशियों में जो सहृदय होंगे और इस देश के संबंध में कुछ जानने की इच्छा रखते होंगे,वे शायद दिल में चाहते भी होंगे कि हिन्दुस्तानियों के घर में वे अपने ही घर की नकल न देखकर हिन्दुस्तान का भी कुछ देख सकें। पर हम न मालूम क्यों, भद्दी नकल पसंद करते हैं और अपनी रीति-नीति को छुपाने की चीज मान लेते हैं! जो हो,मुझे रंगून में यह देखकर बड़ा आनन्द हुआ। रंगून से मैं जहाज पर कलकत्ते के लिए रवाना हो गया।

83

लाहौर कांग्रेस और मौलाना मजहरुल हक की मृत्यु

जहाज पर दमा का दौरा बहुत जोरों से शुरू हो गया। हालत इतनी खराब हो गयी कि जहाज के डाक्टर को सुई देने की जरूरत पड़ गयी। कलकत्ते में जहाज से उतरकर मैं अपने मित्र श्री योगेन्द्रनारायण मजुमदार बैरिस्टर के घर जाकर ठहर गया। तीन-चार दिनों के बाद मुंगेर में बिहार प्रांतीय राजनीतिक कांफ्रेंस होने वाली थी। मैं उसका सभापति चुना गया था। मैंने सोचा कि कलकत्ते में दो-तीन दिनों तक आराम करूंगा और भला-चंगा होकर मुंगेर जाऊंगा। अब तक मैंने हकीम और वैद्य की दवा के सिवा एलोपैथिक इलाज कराया था। मेरे मित्र का विचार हुआ और मैंने भी पसंद किया कि एक बार होमियोपैथिक को भी आजमाया जाये। एक बूढ़े डाक्टर को जिन पर उनका बहुत विश्वास था, उन्होंने बुलवाया। डाक्टर ने सब बातें देख-सुनकर मुझसे कहा कि वह इसी शर्त पर इलाज करेंगे कि मैं कुछ दिनों तक लगातार उनका इलाज कराऊं और जब तक उनका इलाज होता रहे तब तक दूसरा इलाज न करूं—हो सकता है, उनके इलाज से पहले बीमारी बढ़ जाये; यदि ऐसा हो तो मुझे डरना न चाहिए, यह शुभ लक्षण होगा। मैंने उनकी ये सब बातें मान लीं। उन्होंने एक खूराक दवा दी और कहा कि अब दो महीनों तक दूसरी दवा नहीं लेनी होगी। मैंने वह खूराक वहीं खा ली; दो महीनों के लिए दवा से छुट्टी मिल गयी!

मैं वहीं बैठकर प्रांतीय सम्मेलन के लिए भाषण भी लिख रहा था। तीसरे या चौथे दिन, रात की गाड़ी से, मैं मुंगेर के लिए रवाना हुआ। गाड़ी में भीड़ बहुत थी। रात-भर बैठे रहना पड़ा। शायद हवा भी लगी। नतीजा यह हुआ कि मुंगेर पहुंचते-पहुंचते तबीयत बहुत खराब हो गयी। मैं सम्मेलन में शरीक न हो सका। मेरा भाषण किसी ने पढ़ सुनाया। दिसम्बर का आरम्भ था। थोड़े ही दिनों के बाद लाहौर में कांग्रेस होने वाली थी। पंडित जवाहरलाल नेहरू मनोनीत सभापति थे। देश के सामने औपनिवेशिक और पूर्ण स्वराज्य की बहस चल रही थी। मैंने मुंगेर के अपने भाषण में औपनिवेशिक स्वराज्य का ही समर्थन किया था। मैं तो वहां इतना सख्त बीमार हुआ कि मैं उस सम्मेलन के निश्चयों को भी न जान सका। पर पीछे मालूम हुआ कि मैं प्रांतीय कांग्रेस कमिटी का सभापति चुना गया।

वादे के अनुसार मैंने कोई दवा नहीं खायी। मैंने समझा कि यह उभड़ी हुई बीमारी डाक्टर के कहने के अनुसार ही है—उसकी दवा की प्रतिक्रिया मात्र है और जल्द ही अच्छा हो जाऊंगा। पर ऐसा हुआ नहीं। मुंगेर से किसी तरह भाईसाहब मुझे पटने लाये। यहां भी खांसी और ज्वर का प्रकोप रहा। यहां के डाक्टर बनर्जी बराबर देखते रहे। डाक्टर फणि मुखर्जी ने एक्सरे में फेफड़े की जांच की। उस जांच से वह और डाक्टर बनर्जी कुछ चिंतित हुए। वे लोग मुझे देखते तो थे; पर मैं किसी की दवा नहीं खाता था। कलकत्ते के होमियोपैथिक डाक्टर के पास रोज टेलीफोन किया जाता। उत्तर मिलता कि कुछ घबराने की बात नहीं है और न दवा की जरूरत है। एक दिन पटने के डाक्टर लोग अधिक चिंतित हो गये। उन्होंने स्पष्ट कहा कि दूसरे दिन तक यदि हालत न सुधरी तो चिंताजनक हो जायेगी और वे मुझे दूरवर्ती डाक्टर के आशीर्वाद के भरोसे बिना इलाज के नहीं छोड़ेंगे।

कलकत्ते खबर दी गयी। डाक्टर पटने बुलाये गये। उन्होंने एक दवा देने को कहा, जो पीछे मालूम हुआ कि केवल पानी था। उनके आ जाने से यहां के डाक्टरों ने जवाबदेही से अपने को बरी समझा। वह यहां दो दिन ठहरे, पर दवा कोई नहीं दी। इन्हीं दिनों बीमारी स्वयं कम होने लगी। चार-पांच दिनों में ज्वर के साथ ही खांसी जाती रही। एक्सरे से फिर परीक्षा की गयी। फेफड़ा बिलकुल साफ निकला!

मैं जीरादेई चला गया। जो मित्र लाहौर कांग्रेस में जाने वाले थे, चले गये। मैं न जा सका। जैसा कह चुका हूं, श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी के साथ प्रायः एक महीना घर पर रहा। उनसे बातें करता, अखबारों में कांग्रेस का हाल पढ़ता और एक छोटी-सी पुस्तिका के लिए लेख लिखता। विषय उसका था अहिंसा (Nonviolence)। मैंने उसे सतीश बाबू को दिखलाया। उन्होंने बड़ी प्रशंसा की। कहा कि वह उसे बनारस लौटने पर एक बार अच्छी तरह पढ़ेंगे और कुछ आवश्यक संशोधन भी बतावेंगे, तब छापने लायक होगा। उसे वह लेते गये। उसके बाद ही 1930 का सत्याग्रह छिड़ गया। मैं उसमें इस तरह बझ गया कि फिर उसकी ओर ध्यान ही न गया। न मालूम उस लेख का क्या हुआ!

लाहौर कांग्रेस बड़ी धूमधाम से समाप्त हुई। वहां जाने के पहले ही गांधीजी और पंडित मोतीलाल नेहरू ने दिल्ली में वायसराय से मुलाकात की थी। वहां स्पष्ट हो गया था कि उनकी घोषणा कांग्रेस की मांग पूरी नहीं करती। इसलिए एक प्रकार से निश्चय-सा हो गया था कि वहां कांग्रेस का ध्येय बदला जायेगा। वह बदल भी दिया गया। अब पूर्ण स्वतंत्रता ध्येय हो गया जिसे अब तक हम प्राप्त नहीं कर पाये हैं और जिसके लिए हमें अभी बहुत परिश्रम और त्याग करने की जरूरत है।

उधर लाहौर कांग्रेस हो रही थी, इधर अपने गांव में ठहरे हुए मजहरुल हक साहब का देहावसान हो गया। पटने से जाकर हक साहब छपरा जिले में, ओदर के नजदीक फरीदपुर में, रहा करते थे। वहां उनकी कुछ जमींदारी थी। एक बहुत बड़ा आम का बाग उन्होंने लगाया

था। उसी बाग में एक छोटा-सा बंगला था जिसमें वह रहा करते थे। पास की ही नदी 'दाहा' की बाढ़ में अपने बड़े पुत्र के अचानक डूबकर मर जाने के बाद से वह बहुत उदास हो गये थे। आध्यात्मिक विषय (Spiritualism) पर बहुत पुस्तकें पढ़ा करते थे। इस विषय पर उनके पास एक खासा पुस्तकालय हो गया था। कभी-कभी मैं वहां जाया करता था। वह मुझे भी उस विषय का अध्ययन करने को कहा करते थे। मैंने कुछ पुस्तकें पढ़ीं भी। पर बहुत दौड़-धूप करते रहने से मुझे पढ़ने का समय नहीं मिलता था। वहीं पर, चंद दिनों की बीमारी के बाद ही, उनकी मृत्यु हो गयी। उनका यह गांव मेरे गांव से प्रायः पांच मील की दूरी पर है। खबर पाते ही मैं वहां गया और उनकी बेगम साहबा से भेंटकर संवेदना प्रकट की।

उनकी मृत्यु से हम सबको बड़ा दुख हुआ। हममें से कुछ का विचार था और देश के कई सूबों ने भी इच्छा प्रकट की थी कि वह कांग्रेस के सभापति बनाये जायें; पर उन्होंने स्वयं इस विचार को प्रोत्साहन नहीं दिया, बल्कि लोगों को मना कर दिया कि ऐसी बात न चलाओ। वह एक प्रकार से संसार से विरक्त हो गये थे और एक फकीर का ही जीवन बिता रहे थे। उनके चले जाने से हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और समझौते का बहुत बड़ा स्तम्भ टूट गया। इस विषय में हम निराधार हो गये। सुना कि पटने में सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें उनके नाम पर कोई स्मारक स्थापित करने का निश्चय किया गया। पर वह आज तक, 15 बरसों के बाद भी, प्रस्ताव के ही रूप में पड़ा है! स्मारक अभी तक नहीं बना! मेरा विचार रहा है कि एक राष्ट्रीय भवन (National Hall, कौमी हॉल) बने जो उनका स्मारक हो। पर वह भी अभी तक विचार की श्रेणी से थोड़ा ही आगे बढ़ा है। कुछ जमीन ली गयी है। उसके साथ के दो छोटे मकान भी बन गये हैं। बड़े हॉल के लिए नक्शा भी तैयार हो गया है। पर अभी हॉल की नींव तक नहीं पड़ी है। देखें, ईश्वर इसे कब पूरा करता है!

84

स्वतंत्रता दिवस और नमक सत्याग्रह

लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति को कांग्रेस का ध्येय बना दिया था। साथ ही, उसने इसके लिए सत्याग्रह करने का आदेश भी दिया था। प्रायः पिछले दो बरसों से जो नयी जागृति दीख रही थी उसी का यह फल था। कांग्रेस के अधिवेशन के थोड़े ही दिनों के बाद वर्किंग कमिटी ने सारे देश को आदेश दिया कि तारीख 26 जनवरी को स्वतंत्रता दिवस मनाया जाये। उस दिन उस साल रविवार था। एक सुंदर ओजस्वी वक्तव्य निकाला गया, जिसमें देश की स्थिति और स्वराज्य-प्राप्ति की प्रतिज्ञा थी। आदेश था कि सभी जगहों में बड़ी-बड़ी सभाएं करके उपस्थित लोगों से वही घोषणा दुहरवायी जाये; भिन्न-भिन्न प्रांत के लोग अपनी-अपनी प्रांतीय भाषा में भाषांतर करा लें और ऐसा प्रबंध करें कि जनता उसे समझकर दुहरावे; कोई दूसरा भाषण उस अवसर पर न किया जाये, केवल घोषणा ही दुहरायी जाये; ये सभाएं सेपहर के समय हों, सवेरे जहां हो सके वहां राष्ट्रीय झंडे का अभिवादन किया जाये; यही कार्यक्रम सारे देश में मनाया जाये।

मैं उस समय तक घर पर ही आराम कर रहा था। उसी दिन पहले-पहल घर के बाहर निकलने का निश्चय किया। आस-पास की कई जगहों से लोगों का आग्रह हुआ कि मैं वहां सभा में चलूं। यदि सभाएं एक ही समय पर न होने को होतीं तो मैं दिन-भर में कई सभाओं में शामिल हो सकता; पर ऐसा नहीं करना था। इसलिए मैं मोटर पर गया। आध घंटे आगे-पीछे दो जगहों की सभाओं में शरीक होने का विचार किया—एक तो गांव में होने वाली थी, दूसरी 'सीवान' शहर में। गांव की सभा करके जब सीवान जा रहा था, मोटर बिगड़ गयी ! मालूम हुआ कि सीवान न पहुंच सकूंगा। पर कृपा करके पुलिस वालों ने अपनी गाड़ी पर स्थान दे दिया। मैं ठीक समय पर सीवान पहुंच गया। वहां भी एक बड़ी सभा में एकत्र हुई एकचित्त जनता से उस प्रतिज्ञापत्र को दुहरवा सका।

इस समय देश में जागृति बहुत देखने में आयी। प्रायः सभी शहरों और बहुतेरे गांवों में स्वतंत्रता दिवस का कार्यक्रम पूरा किया गया। इन शुभ चिह्नों से मालूम पड़ता था मानो देश कोई बड़ा कदम उठाने जा रहा है। सभी जगहों में सत्याग्रह की चर्चा हो रही थी।

बारदोली में सत्याग्रह की विजय हाल ही हो चुकी थी। वह लोगों के दिल को बहुत उत्साहित कर रही थी। लोग इस बात की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब, कहां और किस तरह सत्याग्रह का आरम्भ किया जायेगा। गांधीजी के लेख लोगों में नयी जान फूंक रहे थे।

महात्मा गांधी उन दिनों साबरमती के सत्याग्रह आश्रम में रहते थे। वहां वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। उसमें उन्होंने सत्याग्रह आरम्भ करने की बात कही। इस विषय पर बहुत बातचीत होती रही कि देश अभी तैयार है या नहीं। बहुतेरे लोगों का विचार था कि अभी कुछ और तैयारी कर लेनी चाहिए। पर महात्माजी तथा जवाहरलालजी बहुत उत्सुक थे। इस बात पर भी बहुत बहस होती रही कि कौन-सा कानून तोड़ा जाये? महात्माजी का दृढ़ विचार था कि आरम्भ तो नमक कानून से ही किया जाये। उनका कहना था कि इस कानून के कारण नमक पर 'कर' लगता है—गरीबों को जो नमक मुफ्त मिल सकता है, अथवा बहुत कम दाम में मिल सकता है, वह महंगा मिलता है—बहुत-से गरीब इस कारण से उतना नमक नहीं खा सकते जितना उनके स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है—नमक हमारे खाद्य पदार्थों में एक अत्यंत आवश्यक वस्तु है। यह समुद्र के किनारे जमा करने से ही मुफ्त में मिल सकता है; दूसरी जगहों में भी मिट्टी से बनाया जा सकता है; जहां नमक का पहाड़ है वहां भी लोग खोदकर बिना दाम के निकाल सकते हैं, पर गवर्नमेंट केवल 'कर' प्राप्त करने के लिए इसके जमा करने पर प्रतिबंध लगाती है, ईश्वर ने जल और वायु की ही तरह नमक भी मुफ्त बांटने का प्रबंध किया है मगर सरकार लेने नहीं देती। इसलिए गांधीजी का विचार था कि इससे खराब दूसरा 'कर' नहीं हो सकता, इसके विरुद्ध सत्याग्रह करने की बात गरीब भी आसानी से समझ लेंगे, संसार के लोग भी मान लेंगे कि यह न्याय है।

महात्माजी का हमेशा यही तरीका रहा है कि एक छोटी चीज को लेकर उससे बड़ा नतीजा निकालना चाहते हैं। उनका ख्याल था, यदि एक अन्यायपूर्ण 'कर' का हम इस तरह प्रतिरोध कर सकेंगे तो दूसरे सभी करों का नियंत्रण हम कर सकेंगे। इसी तरह जब उन्होंने पंजाब के हत्याकांड और खिलाफत के लिए न्याय पर जोर दिया था तब वह यही समझते थे कि हममें यदि इनके लिए इंसाफ पा लेने की शक्ति आ जायेगी, तो वही शक्ति हमें और-और गैरइंसाफों को भी हटाने की शक्ति दे देगी। इसी तरह, नमक कानून तोड़कर, हम सब प्रकार से अपनी इच्छा के अनुसार सरकार से काम करा लेने की शक्ति प्राप्त कर लेंगे।

ये बातें हम लोग ठीक समझ नहीं पाते थे। हमारे सामने कई दिक्कतें थीं। हममें से बहुतेरे यह नहीं समझपाते थे कि सरकार पर जोर डाले बिना हम उसे मजबूर कैसे कर सकेंगे? साथ ही, इससे भी अधिक अड़चन इस बात की मालूम होती थी कि नमक का कानून हम तोड़ेंगे तो कैसे? जो समुद्र के किनारे रहते हैं वे तो वहां किनारे पर सरकारी आज्ञा के विरुद्ध नमक जमा करके अथवा नमकीन पानी गर्म करके कानून भंग कर सकते हैं। परंतु भारत की अधिकांश जनता जो समुद्र के किनारे नहीं रहती, कैसे कानून तोड़ेगी? हां, बहुत जगहों में,

खासकर बिहार और युक्तप्रांत में, मिट्टी से नमक बनाया जाया करता था। एक जाति 'नोनिया' होती है जो यही काम किया करती थी। अब, जब से बिदेशी या देशी नमक सभी जगहों पर, समुद्र के किनारे से अथवा खेबड़ा से, पहुंचने लगा है तब से उनका रोजगार ही बंद हो गया है। वहां पर यदि सरकारी आज्ञा के विरुद्ध नमक बनाया जाये तो कानून भंग हो सकता था। पर क्या इस तरह नमक बनाने में साधारण लोगों का उत्साह होगा ? क्या पढ़े-लिखे लोग इसमें दिलचस्पी लेंगे ? केवल 'नोनिया' ही इस काम को सफलतापूर्वक कर सकते हैं। पर वे गरीब और अशिक्षित हैं। उनसे इसकी आशा करना ठीक नहीं जंचता। उनको प्रोत्साहन देकर कानून तोड़वाना भी न्याययुक्त नहीं मालूम होता। ये सब बातें गांधीजी से कही गयीं। पर उनका निश्चय अटल रहा कि नमक कानून ही तोड़ना चाहिए, इसमें जनता उत्साह से भाग लेगी, यही चीज सारे देश में चल सकेगी।

मुझे भी इस कार्यक्रम की सफलता में काफी संदेह था। मैंने उनसे कहा कि बिहार में चौकीदारी-टिकस एक ऐसा 'कर' है जो सभी लोगों को देना पड़ता है। उससे गरीब बहुत असंतुष्ट हैं। उसकी वसूली में भी गरीबों पर काफी सख्ती की जाती है। बाकी 'कर' के लिए उनके बर्तन-बासन भी जब्त होकर नीलाम कर दिये जाते हैं। मैंने कहा बिहार में इस टैक्स के बंद करने में ज्यादा आसानी होगी। जनता बहुत जल्द और खुशी से इसका देना बंद कर देगी। बिहार के लिए चौकीदारी टैक्स बंद करने की ही आज्ञा दी जाये। महात्माजी ने कहा, यदि तुम इससे काम शुरू करोगे तो बहुत जल्द हार जाओगे, पहले नमक कानून तोड़कर ही कार्यारम्भ करो, पीछे यदि लोगों में काफी उत्साह आ जायेगा तो टिकसबंदी का विचार करना। मैंने बात सुन तो ली, पर मन में बैठी नहीं। मैं सोचता था कि इस सीधे रास्ते को छोड़कर नमक कानून के फेर में पड़ना क्यों जरूरी है ? पर गांधीजी के इन विषयों के अनुभव का मैं कायल था। मेरा विश्वास हो गया था कि वह बहुत दूर तक देख लेते हैं जहां तक हम नहीं देख सकते। इसलिए, कुछ दिनों से, मैंने अपना यह तरीका बना लिया था कि अपने विचार उनके सामने रख दूं, यदि वह मान लें तो ठीक, नहीं तो उनकी राय के मुताबिक काम करना ही ठीक है। अंत में, मेरा अनुभव बताता था, उन्हीं की राय ठीक निकलती थी। मैंने इस अवसर पर भी निश्चय कर लिया कि बिहार में भी नमक कानून ही तोड़ा जायेगा, यद्यपि मैं अभी तक इस बात को पूरी तरह समझ नहीं पाया।

85

गांधीजी की डांडी यात्रा और बिहार में नेहरूजी का दौरा

वर्किंग कमिटी की बैठक के बाद गांधीजी ने अपने लिए एक तिथि मुकर्रर कर दी। उसी दिन वह आश्रम से निकल पड़ेंगे। प्रायः एक महीना तक पैदल चलकर, सूरत जिले के 'डांडी' नामक गांव में, समुद्र के किनारे पहुंचेंगे। वहीं वह पहले-पहल नमक कानून खुद तोड़ेंगे। इस निश्चय को मंजूर कराने के लिए अखिल भारतीय कमिटी की बैठक साबरमती में की गयी। यह बैठक तो हुई; पर उस समय तक महात्माजी डांडी यात्रा के लिए निकल चुके थे। इसलिए वर्किंग कमिटी के निश्चय को ही अखिल भारतीय कमिटी ने मंजूर कर लिया।

डांडी यात्रा के पहले, जो एक प्रकार से सत्याग्रह का आरम्भ था, गांधीजी ने अपने नियम के अनुसार एक पत्र बड़े लाट को लिख भेजा। उसमें उन्होंने सभी बातें बता दीं। सत्याग्रह के आरम्भ की बात भी लिख दी। यह पत्र उन्होंने एक अंगरेज सज्जन के हाथ भेजा। उनका नाम मिस्टर रेनल्ड्स था। उस समय वह साबरमती में रहते थे। किंतु, जैसा सोचा गया था, कोई संतोषजनक उत्तर नहीं आया। यात्रा आरम्भ करते समय उन्होंने कांग्रेस कमिटियों और कांग्रेस लोगों को मना कर दिया कि जब तक मैं आदेश न दूं, तब तक कोई सत्याग्रह न करे—यदि सरकारी आज्ञाएं बुरी भी लगें, तो भी उन्हें मानना ही चाहिए।

इरादा था कि तारीख 6 अप्रैल तक वह डांडी पहुंच जायेंगे और उसी दिन स्वयं सबसे पहले सत्याग्रह करेंगे। सत्याग्रह-आश्रम के 80 या 81 आदमियों को उन्होंने यात्रा में अपने साथ लिया। क्रम यह था कि सवेरे कुछ दूर तक जाना होता था। दोपहर को किसी निश्चित स्थान में स्नान, भोजन और विश्राम किया जाता था। फिर सेपहर को कुछ दूर जाया जाता। संध्या को कहीं डेरा पड़ जाता। वहीं रात का विश्राम होता। फिर दूसरे दिन सवेरे वही क्रम शुरू होता। यह यात्रा प्रायः एक महीने की हुई। बीच में बहुतेरे गांव और कुछ शहर भी मिले। प्रायः 150 मील की यात्रा थी। प्रायः 12-13 मील रोज चलना पड़ा था। जिस दिन गांधीजी साबरमती से निकले उस दिन आश्रम पर रात-भर बहुत भीड़ लगी रही। सवेरे हजारों आदमियों की जयजयकार के बीच होकर गांधीजी और उनके साथी निकले। उन

लोगों के पास अपनी-अपनी झोली में उनके आवश्यक सामान थे। बड़ा ही उत्साह था। देखने से मालूम होता था मानो सारा अहमदाबाद और वहां का इलाका उमड़ आया है।

गांधीजी ने यह भी घोषणा कर दी कि स्वराज्य के बिना वह अब फिर साबरमती आश्रम में नहीं लौटेंगे। यात्रा का पूरा विवरण समाचारपत्रों में छपता रहा। इसका असर सारे देश पर जादू के ऐसा पड़ता रहा। सभी जगह लोग बहुत आतुर होकर 6 अप्रैल की बाट जोह रहे थे। लोग चाहते थे कि हमको भी सत्याग्रह का सुअवसर मिले। कांग्रेस के लोग बैठे नहीं थे। वे भी बड़े जोरों से चारों ओर प्रचार के काम में लगे थे। गांधीजी जैसे-जैसे बढ़ते गये, देश का उत्साह भी बढ़ता ही गया। सरदार वल्लभभाई, यात्रा का आरम्भ होने के पहले ही, गिरफ्तार कर लिये गये थे। इसलिए वह यात्रा में अथवा उसके बाद आरम्भ होने वाले सत्याग्रह में शरीक नहीं हुए।

इसी बीच में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक अहमदाबाद में हुई। वहां से पंडित मोतीलाल, पं. जवाहरलाल प्रभृति के साथ हम लोग जम्बूसर तक गये। वहीं गांधीजी से मुलाकात हुई। हम लोग भी उनके साथ कुछ दूर तक गये। फिर अपने-अपने स्थान को लौट आये। मैंने बिहार में आकर सब जगह के लोगों को आदेश दे दिया कि जब तक गांधीजी का हुक्म न निकले, कोई सत्याग्रह न करे। पंडित जवाहरलालजी से, चार-पांच दिनों के लिए बिहार में दौरा करने का, आग्रह किया। वह प्रसन्नतापूर्वक राजी हो गये। हमारी इच्छा थी कि जो थोड़ा समय मिलता है उसमें अधिक-से-अधिक स्थानों में सभाएं हो जायें और अधिक-से-अधिक लोगों को उनके ओजस्वी भाषण सुनने का अवसर मिल जाये। इसलिए पहले से कार्यक्रम बना दिया गया। जहां-जहां सभा होने वाली थी, ठीक समय पर लोगों को इकट्ठे होकर इंतजार करने को कहा गया। मुझे याद नहीं है कि वह कहां-कहां और किन जिलों में गये, पर कार्यक्रम मैंने ऐसा बनाया कि सभाओं में उनका कम-से-कम समय लगे। तीन मोटरें साथ थीं। पहली मोटर में कुछ ऐसे लोग थे जो आगे जाकर सभा में राष्ट्रीय गान वगैरह गाकर शांति करा देते। जब सब लोग अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते, मैं दूसरी मोटर में पहुंच जाता। जब तक पंडित जवाहरलालजी तीसरी मोटर से नहीं पहुंच जाते, तब तक मुझे जो कुछ कहना होता सो कह देता। मेरे पहुंचने पर पहली गाड़ी आगे बढ़ जाती। पंडितजी के पहुंचने पर मैं दूसरी गाड़ी पर अगली सभा के लिए रवाना हो जाता। इस प्रकार किसी को किसी दूसरे के भाषण के लिए इंतजार न करना पड़ता। वह समय भी नष्ट न होता जो सभा में पहुंचकर लोगों को शांत करने और उनके उत्साह को संभालने में लगता है; क्योंकि यह काम तो पहले ही हो चुकता। पंडितजी की यह यात्रा बहुत सफल रही। इससे सारे सूबे में, जहां पंडितजी नहीं भी जा सके, पूरा उत्साह उमड़ आया।

86

बिहार में नमक सत्याग्रह

नेहरूजी की यात्रा का अंतिम दिन था। वह प्रयाग चले जाने वाले थे। मुझे जहां तक याद है, यह अंतिम सभा छपरा जिले के महाराजगंज कस्बे में संध्या के समय हुई थी। वहीं पर तार द्वारा या समाचारपत्रों से पता मिला कि 6 अप्रैल से सब लोग अपने-अपने स्थान पर सत्याग्रह का आरम्भ कर सकते हैं, गांधीजी का यही आदेश है। इस सूचना ने एक प्रकार से हमारे कार्यक्रम को गड़बड़ा दिया। हमने अभी निश्चय नहीं किया था कि कौन कहां से सत्याग्रह आरम्भ करेगा। सभी जगहों में रातोंरात खबर दे दी गयी। चम्पारन के लोगों ने पहले से सोच रखा था कि विपिन बाबू मोतीहारी से पैदल चलकर, सात-आठ दिनों की यात्रा के बाद, जोगापट्टी के पास पहुंच सत्याग्रह आरम्भ करेंगे। उन्होंने 6 अप्रैल को ही यात्रा आरम्भ कर दी। मुजफ्फरपुर जिले में भी ऐसा ही हुआ। दो-चार दिनों के अंदर ही सभी जगहों में नमक कानून टूटने लगा। जिस दिन विपिन बाबू ने नमक बनाया, मैं वहां पहुंच गया। पर मेरे पहुंचने के पहले ही वह गिरफ्तार कर लिये गये थे। वहीं एक बगीचे में मजिस्ट्रेट ने कचहरी लगा दी और चटपट मुकदमा देखकर उनको सजा भी दे दी। मैं रास्ते में मोटर से उन स्थानों को देखता गया जहां-जहां सत्याग्रही यात्री लोग ठहरे थे। जिले का प्रायः एक आधा हिस्सा, लम्बाई में, इस यात्रा में पड़ गया था। आरम्भ से अंत तक, सारे रास्ते में, सड़कों पर अनगिनत मेहराब-तोरण-पताका इत्यादि लोगों ने लगाया था। अभूतपूर्व उत्साह का प्रदर्शन था! जहां कानून तोड़ा गया था वहां के लोगों के उत्साह का तो ठिकाना न था।

मजिस्ट्रेट एक ऐसे सज्जन थे, जिन्होंने 1921 में पटना कालेज से असहयोग करके कुछ दिनों तक हमारे राष्ट्रीय महाविद्यालय में निवास किया था। अपने घर वालों के जोर देने पर वह फिर वापस चले गये थे। पढ़ने में वह तेज थे। पुनः कालेज की परीक्षा पासकर शीघ्र ही डिप्टीमजिस्ट्रेट हो गये; 8-10 बरसों की नौकरी के बाद इस दर्जे पर पहुंचे थे। मैंने देखा कि मुकदमे की सुनवाई के समय जब तक इजलास लगा रहा, उन्होंने एक बार भी सिर न उठाया। सिर नीचा किये ही जो कुछ लिखना था लिखा और उसी तरह हुकुम भी सुना दिया। वहां से विपिन बाबू को मोटर पर मोतीहारी जेल ले गये।

मैं भी अपनी गाड़ी पर मोतीहारी तक आकर पटने के लिए या किसी अन्य स्थान के लिए रवाना हो गया। उधर गांधीजी ने नमक जमा किया, पर सरकार ने उनको पकड़ा नहीं। सारे देश में अनगिनत स्थानों पर लोग नमक बनाने लगे। गिरफ्तारियां होने लगीं। अपने लिए मैंने यह कार्यक्रम बना लिया कि सभी जिलों में दौरा करके सत्याग्रहियों को उत्साहित करूं। एक-दो दिनों के भीतर सारे जिले में दौड़ जाता। जहां-जहां नमक बना होता अथवा बनने की तैयारियां होतीं, सत्याग्रहियों से जाकर मिल लेता। जहां तक हो सकता, सार्वजनिक सभाएं भी कर लेता।

मैं दो-चार दिनों के अंदर ही, आधी रात को पहुंचने वाले स्टीमर से, पटना पहुंचा। वहां गंगा-घाट पर ही लोगों ने कहा कि पटना शहर में उस दिन सत्याग्रह आरम्भ किया गया है। उसका रूप यह था कि कुछ सत्याग्रही बाकरगंज मुहल्ले से निकलकर झंडा लिये शहर में जा रहे थे जहां वे नमक बनाने वाले थे। जब वे सुलतानगंज थाने के सामने पहुंचे तो पुलिस ने उन्हें रोक लिया। अभी तक उनका कसूर इतना ही था कि वे झंडा लेकर, पांच-सात आदमियों का जलूस बनाकर, सड़क से जा रहे थे। वे गिरफ्तार भी नहीं किये गये थे; पर पुलिस के सिपाहियों ने कतार बांधकर उनका रास्ता रोक लिया था। वे दिन-भर वहीं खड़े रहे। रात को भी वहीं सड़क पर ही सो गये थे।

मैं सीधे उस स्थान पर गया। देखा कि सिपाही सड़क रोके खड़े और सत्याग्रही खुशी से बीच सड़क पर सोये हैं। उनके सोने के लिए मुहल्ले के लोगों ने बिस्तरे भी दे दिये थे, समय पर उनको भोजन भी करा दिया था। मेरे आने पर वे उठे। मुझसे बहुत प्रेमपूर्वक मिले। रात को तो कुछ होने वाला न था, मैं सदाकत आश्रम चला गया। दूसरे दिन खूब सवेरे ही फिर उस स्थान पर पहुंचा। मैं तो सारे सूबे का चक्कर लगाया करता था और आश्रम में बैठे-बैठे श्री ब्रजकिशोर बाबू सभी जगहों में आवश्यकतानुसार आदेश तथा सहायता भेजा करते थे। इस बार अभी तक कांग्रेस कमिटी गैरकानूनी नहीं करार दी गयी थी और न सदाकत आश्रम ही जब्त हुआ था। इसलिए यह काम वहां से चलता रहा। गिरफ्तारियां भी उन्हीं लोगों की होतीं जो नमक बनाते, और सब की नहीं।

दूसरे दिन सवेरे वहां पुलिस की भीड़ बहुत थी। घुड़सवार भी आ गये थे। सुना कि डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट और पुलिस सुपरिंटेंडेंट भी थाने में मौजूद हैं। इधर जनता की भीड़ भी बढ़ने लगी। मैंने समझा कि सत्याग्रही या तो गिरफ्तार कर लिये जायेंगे या मारपीटकर छोड़ दिये जायेंगे। मुझसे एक आदमी ने आकर कहा कि डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मुझे थाने पर बुलाते हैं। मैं वहां गया। उन्होंने मुझसे कहा कि सत्याग्रहियों को मैं हटा लूं, नहीं तो उनको कार्रवाई करनी पड़ेगी। मैंने कहा, आप उन्हें गिरफ्तार कर सकते हैं। उन्होंने कहा कि वह भीड़ को भी हटावेंगे और ऐसा करने में उनको सख्त कार्रवाई करनी पड़ सकती है। मैंने स्वयंसेवकों को हटाने से इंकार कर दिया। इस पर उन्होंने मुझसे कहा कि इसकी जवाबदेही मेरे ऊपर रहेगी

और वह मुनासिब कार्रवाई करेंगे। मैंने समझा कि हो सकता है, वह लाठी या गोली भी चलवावें। मैंने बेहतर समझा कि और साथियों से सलाह कर लूं। यह मैंने उनसे कहा। उन्होंने कहा कि इसके लिए वह आध घंटे का समय देंगे। जब मैं चलने लगा तो उन्होंने अपनी घड़ी निकाली और कहा कि मैं अपनी घड़ी उनकी घड़ी से मिला लूं। यह मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ। मैंने कह दिया कि मैं इसकी जरूरत नहीं समझता। वह अपनी घड़ी देखते रहे। मैंने यह भी कह दिया, यदि आध घंटे के भीतर मैं उनके संतोष के योग्य उत्तर न दूं तो वह जो मुनासिब समझें करें। मैं सीधे मोटर पर सदाकत आश्रम गया। सबकी राय हुई कि हम कुछ नहीं कर सकते, मजिस्ट्रेट जो चाहें करें। मैंने तुरंत टेलीफोन द्वारा सुलतानगंज थाने में यही उत्तर दे दिया। फिर यह समझकर कि अब वहां कुछ न होगा, मैं जल्दी से मोटर पर वहां के लिए रवाना हुआ।

रास्ते में, बाकरगंज में, उधर से मजिस्ट्रेट को मोटर पर लौटते देखा। उन्होंने भी मुझे देखा। मुसकुराते हुए वह आगे बढ़ गये। मैंने समझा कि वहां कुछ कार्रवाई करके वह लौट रहे हैं। वहां पहुंचने पर मालूम हुआ कि उन्होंने पहले सत्याग्रहियों को चले जाने की आज्ञा दी, जब वे नहीं हटे तो कुछ दूरी पर खड़े घुड़सवारों को घोड़े दौड़ाने की आज्ञा दे दी। जब घोड़े चले तो लड़के सड़क पर लेट गये। इस तरह रास्ते को उन्होंने रोक लिया। घोड़े वहां तक दौड़ते आये, पर उनके पास पहुंचकर रुक गये। तब वे लड़के उठा-उठाकर एक मोटर-लारी में रख दिये गये। इस प्रकार गिरफ्तार कर वे हटा दिये गये।

अब, हमने निश्चय कर लिया कि सत्याग्रही पांच-पांच का जलूस बनाकर दिन-भर वहां जाते रहें। जब एक जत्था गिरफ्तार हो जाये तो दूसरा चले। ऐसा ही दिन-रात हो। अप्रैल का महीना आधा से अधिक बीत चुका था। गर्मी काफी पड़ रही थी। हमारे सत्याग्रहियों को भी धूप लगती थी। पुलिस वाले तो दिन-रात खड़े रहते ही थे। एक-दो दिनों तक इस तरह चला। तब मैंने तरीके में कुछ परिवर्तन कर दिया। दिन-रात गिरफ्तारी का इंतजार न करके समय मुकर्रर कर दिया गया। दिन-रात में चार या पांच जत्थे नियत समय पर जाते। वे शुरू में तो गिरफ्तार कर लिये जाते, पर पीछे जब दर्शकों की बहुत भीड़ जुटने लगी तो घुड़सवार घोड़े दौड़ाते और लोगों को डंडों से पीटते। सत्याग्रही तो इस धक्कमधुक्की में कभी गिरफ्तार होते, कभी नहीं भी होते; पर जनता पर खूब मार पड़ती। यह विशेषकर सुबह और दोपहर के समय, जब जत्था जाता तभी, हुआ करता। मैं भी समय पर पहुंच जाया करता और जनता की भीड़ में रहकर सब देखा करता। शायद पुलिस वाले मुझे पहचानते थे, इसलिए मुझे कभी चोट न लगी। पर प्रोफेसर अब्दुल बारी को बहुत चोट लगी थी।

यह सिलसिला कई दिनों तक चलता रहा। रोज भीड़ बढ़ती गयी। मोर्चे का स्थान सुलतानगंज थाने से पश्चिम की ओर हटता-हटता पटना कालेज के सामने तक आ गया। हमारे आदमी और साधारण जन भी बराबर शांति बनाये रखते। जो मारपीट होती, पुलिस

की ओर से ही। एक दिन का जिक्र है, मिस्टर सैयद हसन इमाम की बीवी ने कहीं से आते समय पुलिस को मारपीट करते देखा। कई आदमियों के सिर फूट गये थे। इसका उनके दिल पर बहुत असर हुआ। उन्होंने जाकर हसन इमाम साहब से कहा कि बहुत खूनखराबा होने की सम्भावना है। उस समय तक मुझे मालूम नहीं था कि हसन इमाम साहब इस बात में कुछ दिलचस्पी ले रहे हैं। इस संबंध में मैं उनसे मिला न था और न उनसे कुछ बातें करने का मुझे मौका ही मिला था। अपनी बीवी की बात सुनकर उन्होंने मुझे तुरंत टेलीफोन से बुलाया। मैंने सब बातें ब्योरे से कह सुनायीं। वह बहुत भावुक सज्जन थे। सब बातें सुनकर उनको भी क्रोध हो आया। वह आवेश में आ गये। उन्होंने कहा कि वह पूरी मदद करेंगे। उनका उत्साह बढ़ता ही गया। यह मैं फिर आगे बताऊंगा।

इसी बीच ईस्टर की छुट्टी आ गयी। मैं इस सत्याग्रह को धार्मिक युद्ध समझता था। मैंने सोचा कि यह यदि धार्मिक चीज है तो इसके द्वारा किसी को अपने धर्मपालन में बाधा न पहुंचनी चाहिए। मैंने डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को एक पत्र लिख दिया कि पुलिस कर्मचारियों में कुछ क्रिस्तान भी हैं जो ईस्टर में कुछ धार्मिक क्रिया करते होंगे, इसलिए सोमवार को जत्था नहीं जायेगा, फिर मंगलवार से नियमानुकूल जत्थे जाया करेंगे। शुक्रवार को भी दोपहर के समय जाने के लिए जो जत्था मुकर्रर था उसको मैंने रोक दिया; क्योंकि घुड़सवारों में अधिक मुसलमान ही थे। मैंने यह पत्र सच्चे दिल से लिखा था। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने पत्र पढ़ने पर टेलीफोन द्वारा मुझसे पूछा कि मैंने जो लिखा है वह क्या सचमुच धार्मिक ख्याल से ही लिखा है? मैंने कह दिया कि वास्तव में सच्चे दिल से ही लिखा है। इस पर उन्होंने कहा कि मैं उनसे मिलूं, वह विचार करेंगे कि यह झगड़ा किस तरह सुलझ सकता है।

दूसरे ही दिन, सोमवार था, मैं गया। बहुत देर तक बातें हुईं। मैंने कह दिया कि यहां झगड़ा बहुत छोटा है। पांच आदमियों का जलूस सड़क से होकर जाना चाहता है। इसमें कोई कानून के विरुद्ध बात नहीं है। वह जलूस को निकल जाने दें, उसे रोकें नहीं, सारा झगड़ा मिट जायेगा। जब जत्था नमक बनाकर कानून तोड़े, गिरफ्तार किया जाये; कानूनन जो सजा हो, दी जाये। उन्होंने दूसरी सड़क से जलूस ले जाने की बात कही। मैं इस पर राजी न हुआ। बात इतने ही तक होकर रह गयी। दूसरे दिन सवेरे जो जत्था गया वह गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तारी के बाद भीड़ खुद हट गयी। मारपीट की नौबत ही नहीं आयी। यह भी देखा गया कि पुलिस की संख्या बहुत कम है, घुड़सवार तो हैं ही नहीं। पुलिस के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट ने गिरफ्तारी की। सत्याग्रही तुरंत कचहरी में पेश किये गये। मुकदमा चल ही रहा था कि दूसरे जत्थे के आने का समय हो गया। वह जत्था सीधे रास्ते से चला गया। किसी ने उसको नहीं रोका। हम लोग कचहरी में ही थे कि यह खबर मिली। उन सत्याग्रहियों को भी कचहरी उठने तक की कैद की सजा हुई। हुक्म सुनाकर हाकिम उठ गये। हम सब सत्याग्रहियों के साथ ही वह भी वहां से निकले। अब साफ हो गया कि जत्थे

को पुलिस नहीं रोकेगी। संध्या को भी जत्था गया। पर कोई रोक-टोक नहीं हुई। इसके बाद जत्था भेजना बंद कर दिया गया। पर नमक बनाने का काम जारी रहा, इसलिए लोग गिरफ्तार होते रहे। पटना शहर में भी गिरफ्तारियां होती रहीं।

87

नमक सत्याग्रह के बाद का कार्यक्रम

उधर गांधीजी कुछ दिनों के बाद गिरफ्तार हो गये। धरासना में, जहां नमक का सरकारी गोला है, सत्याग्रही धावा बोलने लगे। वहां बाहर मैदान में ही नमक बहुत जमा किया पड़ा रहता है। स्वयंसेवक उसे लूटने तो जाते नहीं थे, पर सरकारी आज्ञा के विरुद्ध उस स्थान पर पहुंचना चाहते थे। इसलिए वहां वे खूब लाठियों से पीटे जाते। पहले गांधीजी, उसके बाद श्री अब्बास तैयबजी और श्रीमती सरोजिनी नायडू उन स्वयंसेवकों का नेतृत्व करते रहे। वे एक पर एक गिरफ्तार होते गये। वहां स्वयंसेवकों के बेरहमी से पीटे जाने, लाठियों की चोट से बेहोश होने, बेहोशी की हालत में घसीटकर झाड़ियों में छोड़ दिये जाने और वहां से कांग्रेसियों द्वारा खाटों पर उठा ले जाकर कांग्रेसी अस्पताल में पहुंचाये जाने की रोमांचकारी खबरें छपती रहीं। इनसे उत्साह बढ़ता ही जाता था, घटता न था। यह जानते हुए भी कि बहुत जोरों से मार खाना है, वहां सैकड़ों आदमी रोज जाते। यह बात जब तक बरसात शुरू न हो गयी और वहां जाना-आना असम्भव-सा न हो गया तब तक बराबर जारी रही।

बिहार सूबे में समुद्र-तट तो था नहीं। पर सभी जगहों पर कुछ-न-कुछ नमकीन मिट्टी मिल जाती, उसे जमा करके उसका पानी चुला लेते और उसे हांडी में गर्म करके सुखा देते, कुछ नमक जैसी चीज निकल आती। मैंने खुद कहीं नमक नहीं बनाया, पर जहां जाता वहां के बने हुए नमक को सभाओं में बेचता या नीलाम करता। उससे खर्च के कुछ रुपये भी मिल जाते और खुलेआम कानून भी टूटता; क्योंकि बिना 'कर' दिये नमक बेचना वैसा ही जुर्म है जैसा नमक बनाना। पर मैं बहुत दिनों तक गिरफ्तार नहीं हुआ।

पंडित जवाहरलालजी की गिरफ्तारी शुरू में ही हो गयी। उनके स्थान पर पंडित मोतीलालजी काम करने लगे। वह भी प्रायः जून के अंत तक गिरफ्तार नहीं किये गये। मुझे भी वर्किंग कमिटी का मेम्बर बना लिया था। इस बीच में जब-तब प्रयाग में वर्किंग कमिटी की बैठक भी होती। वहां से आवश्यकतानुसार आदेश निकलते। जिस प्रकार की मदद लोग मांगते, दी जाती। सारे देश में गवर्नमेंट की दमन-नीति जोरों से चल रही थी। गिरफ्तारियां जितनी हो सकती थीं उतनी गवर्नमेंट न करती। उसने यह नीति ठहरा ली कि

कुछ ही कानून तोड़ने वाले गिरफ्तार किये जायें, अधिकांश मारपीटकर ही छोड़ दिये जायें। इसलिए, जहां कहीं लोग जमा होकर नमक बनाते, पुलिस वाले पहुंचते—हांड़ी और चूल्हा तोड़-फोड़ डालते, जो लोग वहां रहते उनमें से एक-दो को गिरफ्तार करते और दूसरों को लाठियों से पीटकर चले जाते। इससे नमक बनना बंद न होता, फिर नयी हांड़ी पहुंच जाती, नया चूल्हा बन जाता और नमक बनाने वालों की तायदाद ज्यों की त्यों बनी रहती। गांव वाले यह काम लुक-छुपकर तो करते नहीं थे, क्योंकि खुलेआम करने की आज्ञा थी। मैं बराबर दिन-रात दौरा कर रहा था। सभी जगहों में देखता कि लोग गांव के किसी मुख्य स्थान में, केले के थम्भ वगैरह गाड़कर, झंडे और बंदनवार लगाकर, घिरी जगह बना लेते। वहीं चूल्हा और मिट्टी से पानी चुलाने के लिए छोटी कोठी बना लेते। गांव के सभी लोग जानते थे कि कहां नमक बनता है। किसी आगंतुक व्यक्ति अथवा पुलिस को नमक बनाने की जगह का अनायास ही पता लग जाता।

ऊपर कह चुका हूं कि मुझे कुछ दिनों तक गवर्नमेंट ने गिरफ्तार नहीं किया। यह भी कह चुका हूं कि सत्याग्रह आरम्भ होने के पहले मुझे नमक सत्याग्रह की सफलता में संदेह था। पर तब भी मैंने इसके लिए पूरा प्रयत्न किया। जैसे-जैसे गांधीजी अपनी यात्रा में डांडी की ओर आगे बढ़ते जाते थे, देश में उत्साह उमड़ता जाता था। यह सब देखकर मेरा विश्वास भी दृढ़ होता गया कि इसमें पूरी सफलता होगी। तब मैं और भी जोर लगाता गया। पंडित मोतीलालजी का भी कुछ ऐसा ही हाल था। उन्होंने भी, प्रयाग के अपने आनन्द भवन में ही, जैसे प्रयोगशाला में कोई प्रयोग होता है वैसे ही, फिल्टर कागज के जरिये मिट्टी से नमक निकाला। उन्होंने उसे बहुत गर्व के साथ हम लोगों को दिखलाया। हम लोगों को भी इसका गर्व रहा। उनकी आज्ञा और सम्मति से, बिहार की स्थिति की ओर ध्यान रखते हुए, मैंने यह कार्यक्रम बनाया कि बिहार में जून तक नमक बनाया जाये—अर्थात इसी पर अधिक जोर रहे; उसके बाद विदेशी वस्त्र-बहिष्कार पर जोर लगाया जाये, साथ ही मद्यनिषेध भी चले; बरसात में नमक नहीं बन सकता, इसलिए जून के बाद विदेशी वस्त्र-बहिष्कार और मद्यनिषेध के लिए पहरे वगैरह का काम चालू किया जाये; बरसात समाप्त होने पर चौकीदारी-टिकस बंद करने का कार्यक्रम चलाया जाये।

इस कार्यक्रम का यह अर्थ नहीं था कि जब नमक बन रहा हो तब विदेशी वस्त्र-बहिष्कार का काम होवे ही नहीं। अर्थ केवल इतना ही था कि उस समय एक चीज पर जोर देकर जनता का ध्यान उसी पर ज्यादा खींचा जाये और उसमें पूरी सफलता प्राप्त की जाये। इस प्रकार, एक काम पर जोर देने से वह अधिक तेजी से चलता।

मुझे खबर मिली थी कि आरम्भ में गवर्नमेंट का विचार मुझे गिरफ्तार करने का नहीं था। मैं तो गवर्नमेंट के विचार की परवाह न करके काम करता ही जाता था। कुछ दिनों के बाद पता चला कि जिला मजिस्ट्रेटों को प्रांतीय सरकार की अनुमति मिल गयी है—अगर वे

चाहें तो मुझे गिरफ्तार कर सकते हैं। मेरा कार्यक्रम ऐसा रहता कि मैं किसी जिले में चला जाता, एक मोटर मंगनी की या भाड़े की ले लेता, सवेरे पांच-छः बजे स्नानादि से निवृत्त होकर एक तरफ निकल जाता, दिन-भर बारह-पंद्रह जगहों में छोटी-मोटी सभाएं करता, रास्ते में जहां-जहां नमक बनता होता उसका मुलाहजा करता, रात में 10-11 बजे दौरे से लौटता। इस तरह हर जिले के काफी बड़े हिस्से का दौरा कर लेता। दो या तीन दिनों में एक जिले का दौरा समाप्त करके दूसरे जिले में निकल जाता। मैंने देखा, गांवों में इस बात की स्पर्धा होती कि उनके अधिक आदमी गिरफ्तार हों। जहां नमक नहीं बना रहता वहां के लोग, जब तक नमक वहां नहीं बनता, लज्जित रहते। मैं लोगों को विदेशी वस्त्र-बहिष्कार, मद्यनिषेध और नमक बनाने की बात समझाता। अक्सर लोग चौकीदारी-टिकस और लगान देना बंद करने की बात पूछते। उनके कह देता कि यह चालू कार्यक्रम पूरा हो जाने पर उसकी आज्ञा निकलेगी। तब तक लोग उसके लिए तैयारी करें। लोग इसे समझ जाते।

88

विदेशी वस्त्र-बहिष्कार और मद्यनिषेध

शहरों का कार्यक्रम, नमक के अलावा, अधिकतर वस्त्र-बहिष्कार और मद्यनिषेध का होता। प्रयाग में वर्किंग कमिटी की बैठक के समय यह मालूम हो गया कि देश की कई जगहों में विदेशी वस्त्र-बहिष्कार का काम भी जोरों से चल रहा है। यह काम बिहार में भी शुरू हो गया। व्यापारियों और जनता दोनों में बड़ा उत्साह था। इसलिए यह बहुत आसानी से आगे बढ़ने लगा। जिस तरह गांव-गांव में नमक बनाने की होड़-सी लग गयी, उसी तरह बड़े-बड़े शहरों में यह होड़ लग गयी कि वहां की दूकानों और आढ़तों में जितना भी विदेशी कपड़ा हो उसकी बिक्री बंद कर दी जाये। महात्माजी ने लिखा था कि इन पर तथा मद्य की दूकानों पर पहरे का काम अधिकतर स्त्रियों के ही हाथ में रहे और वे इसे पूरा करने का भार अपना समझ लें। इसलिए कहीं-कहीं स्त्रियां दूकानों पर पहरा देने लगीं। किसी ने कहीं पर एक तरीका जारी कर दिया और वह प्रायः सभी जगहों में चल पड़ा। वह यह था कि सभी कपड़े के दूकानदार अपनी दूकान के विदेशी वस्त्रों को बांधकर उस पर कांग्रेस की मुहर लगाकर रख देते और लिखकर वादा कर देते कि जब तक कांग्रेस का हुक्म न होगा उस गांठ को फिर नहीं खोलेंगे। व्यापारी अक्सर आपस में ही कमिटी बना लेते जिस पर कांग्रेस की देख-रेख रहती अथवा जिसमें कांग्रेस के प्रतिनिधि भी रहते। वे इस कमिटी पर सारे विदेशी वस्त्र के इस प्रकार बंधवा देने और बिक्री न होने देने का भार डाल देते। यदि कोई व्यापारी वादा-खिलाफी करता तो उसे वह कमिटी जुर्माने का दंड भी देती और इस तरह उन पर पूरा शासन रहता। जो व्यापारी राजी न होता उसकी दूकान पर पहरा (पिकेटिंग) बैठाया जाता और उसकी बिक्री बंद हो जाती।

आज भी यह याद करके बहुत प्रसन्नता होती है कि बिहार के प्रायः सभी शहरों के और बहुतेरे गांवों के छोटे-छोटे व्यापारियों ने भी अपने सभी विदेशी कपड़ों को गांठों में बांधकर कांग्रेस की मुहर लगवाकर अलग रख छोड़ा। सारे सूबे में पहरे का काम थोड़ा ही करना पड़ा और वह बहुत सफलतापूर्वक हुआ। पहरा शुरू करते ही गांठों का बंधना शुरू हो जाता और दो-चार दिनों में ही काम पूरा हो जाता। यह दृश्य मैंने प्रायः सभी जगहों में देखा। विचार तो

था कि आधा जून बीत जाने के बाद इस कार्यक्रम पर जोर दिया जायेगा; पर मेरा ख्याल है कि जून का अंत होते-होते यह काम भी सारे सूबे में पूरा हो गया था। जो काम होता था उसमें देखादेखी का बड़ा प्रभाव होता था। यदि खबर मिल गयी कि किसी एक शहर के व्यापारियों ने गांठ बांधना शुरू कर दिया तो दूसरे शहर के व्यापारी इस पर विचार करने लगते और वहां के कांग्रेसी भी उन पर जोर डालने लगते; बस, वहां भी काम शुरू हो जाता और जल्द ही समाप्त भी। पंडित मोतीलालजी से कानपुर, दिल्ली, पंजाब इत्यादि के बड़े-बड़े व्यापारी मिलते और उनसे बातें करके उन केंद्रों में किस तरह यह काम पूरा कराया जाये और इसमें भारतीय मिल वालों से किस तरह मदद ली जाये, इस पर विचार करते। प्रतिज्ञा-पत्र का मसविदा तैयार कराकर सर्वत्र भेज दिया गया था। जनता और व्यापारी अपनी-अपनी प्रतिज्ञा पर दस्तखत करते।

किसी-किसी सूबे में मद्यनिषेध पर अधिक जोर दिया गया। वहां इसी को लेकर सरकारी दमन चला। लोगों को कैद और गोलियों तक का शिकार बनना पड़ा। ऐसी रोमाचंक घटना सीमाप्रांत में हुई। बहुत-से पठान गोलियों के शिकार हुए। सारे देश में सनसनी फैल गयी। श्री विट्ठलभाई पटेल ने, जो असेम्बली के प्रथम निर्वाचित सभापति (स्पीकर) थे, अपने पद से इस्तीफा दे दिया। वह सीमाप्रांत के गोलीकांड की जांच में जा लगे। उनकी रिपोर्ट को गवर्नमेंट ने जब्त कर लिया। उसका बहुत प्रचार न हो सका। पर जितनी कुछ खबर छपती थी उसी का असर सारे देश में बिजली की तरह बहुत तेजी से काम करता। जब सभी जगहों पर एक-से-एक उत्साहवर्धक कार्रवाइयां हो रही हों तब यह चुनना फर्ज हो जाता है कि किस-किसका जिक्र किया जाये। मुझे इस बात का अफसोस है कि अभी तक देशव्यापी सत्याग्रह का विस्तृत इतिहास नहीं लिखा गया। पर कुछ ऐसी बातें हैं, जिनका जिक्र कर देना अच्छा होगा।

बिहार पर्दा-प्रधान प्रदेश है। जब मैं इंग्लैंड में था, यहां पर्दा हटाने का एक विशेष प्रयत्न आरम्भ हुआ था। दरभंगा जिले के युवक श्री रामनन्दन मिश्र अपने घर के लोगों की इच्छा के विरुद्ध अपनी स्त्री को पर्दे से बाहर ले आये। उसे वह साबरमती आश्रम में भी कुछ दिनों के लिए ले गये। महात्माजी ने श्री मगनलाल गांधी की पुत्री श्री राधा को उनकी शिक्षा और पर्दा-निवारण के काम के लिए बिहार भेजा। श्री मगनलालजी यहां का काम और अपनी पुत्री को देखने आये। वह अचानक बीमार पड़ गये और पटने में उनकी मृत्यु हो गयी। इसका असर विचित्र पड़ा। पर्दा-निवारण का काम जोरों से आरम्भ हुआ। इसके लिए एक प्रांतीय सम्मेलन हुआ, जिसमें अगुआ श्री ब्रजकिशोर प्रसाद जी हुए। काम चलता रहा। जो काम गया कांग्रेस के समय छोटे पैमाने पर आरम्भ हुआ था वह बढ़ता ही गया।

जब 1930 का सत्याग्रह आरम्भ हुआ और गांधीजी ने मद्यनिषेध तथा विदेशी वस्त्र-बहिष्कार को खासकर स्त्रियों का काम बताया, तो स्त्रियों में उत्साह की लहर बढ़

चली। शहरों में जहां-जहां दूकानों पर पहरे का काम होता, स्त्रियां ही करतीं। दूकान पर उनके खड़े हो जाते ही कोई खरीदार उस तरफ झांकने की हिम्मत न करता। दूकानदार भी सहम जाते और उनके साथ भद्रतापूर्वक व्यवहार करते। पटने में इस प्रकार का पहरा दो-चार दिनों के लिए कुछ दूकानों पर बिठाना पड़ा था। इसमें मुख्य काम करने वाली श्रीमती विन्ध्यवासिनी देवी थीं। ऐसी-ऐसी स्त्रियां भी इसमें शरीक हुईं जो कभी घर के बाहर न निकली होंगी। सवेरे ही 8-9 बजे तक कांग्रेसी कार्यकर्ता उनको अपने-अपने घरों से बुला लाकर नियत दूकान पर बिठा जाते। फिर समय हो जाने पर उन्हें उनके घरों पर पहुंचा भी देते। एक दिन का जिक्र है, एक किसी घर की नववधू आ गयी। स्वयंसेवक उसे घर वापस पहुंचा देना भूल गया। रात हो गयी। उसे कोई ले जाने नहीं आया। एक दूसरी काम करने वाली स्त्री के पति अपनी पत्नी को अपने घर ले जाने के लिए आये, तो उन्होंने इस लड़की को एक दूकान पर खड़ी देखा। पूछने पर मालूम हुआ कि उसे घर ले जाने के लिए कोई नहीं आया, इसलिए वह अभी तक वहां खड़ी है। उन्होंने उसे अपनी मोटर पर चढ़ा लिया और चाहा कि उसके घर पहुंचा दें। पर वह अपना घर भी नहीं पहचान सकती थी, क्योंकि घर से बाहर कभी निकली न थी। शहर के सभी घरों को प्रायः एक तरह का देखकर अपना ही बता देती। हमारे यहां रवाज है कि स्त्रियां अपने पति का नाम नहीं लेतीं। इसलिए वह अपने पति का नाम भी नहीं बता सकती थी जिससे उसके घर का पता चले। वह शायद कैथी लिपि में अपना नाम लिख लेती रही हो, इससे ज्यादा पढ़ी-लिखी भी न थी। वह मोटर वाले सज्जन कैथी नहीं जानते थे कि उसके पति का नाम उससे लिखवाकर घर का पता लगा लें। कुछ देर तक यहां-वहां मोटर दौड़ाते रहे। फिर उसके पति का नाम उससे लिखवाकर किसी से पढ़वाया। तब घर का पता लगा। इस तरह उसे उसके घर तक पहुंचा दिया। यह घटना मैंने इसलिए लिख दी है कि पाठक इससे देख सकेंगे कि स्त्रियों में कितना उत्साह था और किस तरह अशिक्षित स्त्रियां भी इस काम में आ लगी थीं।

89

बिहार में बीहपुर का सत्याग्रह

एक बार मैं प्रयाग गया था। वहां वर्किंग कमिटी की बैठक थी। वहां से पटने वापस आया तो सुना कि भागलपुर जिले के 'बीहपुर' गांव में नये ढंग का सत्याग्रह शुरू हो गया है। इसकी कुछ खबर प्रयाग में ही मिल गयी थी। पटने में कुछ अधिक बातें मालूम हुईं। तब मैंने तुरंत वहां जाने का निश्चय किया। 'बीहपुर', गंगा के उत्तर, भागलपुर से थोड़ी ही दूर है। बी. एन. डब्लू. (अब ओ. टी.) रेलवे का छोटा-सा जंकशन है, जहां से भागलपुर-घाट की गाड़ी जाती है। यहां का सारा इलाका बरसात में जलमग्न हो जाता है। ऐसे दियारों में जैसा देखा जाता है, यहां के लोग बड़े बहादुर और लठधर हैं। यहां कांग्रेस के लिए लोगों में बहुत उत्साह था।

1929 में ही एक बार मैं बहुत आग्रह से यहां बुलाया गया था। लोग मुझे आसपास के गांवों में भी ले गये थे। बहुत उत्साह और प्रेम के साथ वहां के लोगों ने मेरा स्वागत किया था। वहां से कुछ दूर गौरीपुर गांव है जहां मैं गया था। लौटने के समय बहुत जोर से पानी बरसने लगा। बीच में एक नदी पार करनी पड़ती थी। हाथी की सवारी थी। नदी पार करके हाथी पर हम लोग खूब भीग गये। जब बीहपुर में सभा-स्थल पर पहुंचे तो देखा कि बहुत भीड़ जमा है—यद्यपि खूब पानी बरस रहा है, तथापि एक आदमी भी हटता नहीं है। मुझे भी उसी बरसते पानी में खड़ा होकर भाषण करना पड़ा। इस तरह वहां के उत्साह का नमूना मैंने कुछ पहले ही देख लिया था। वहां का कुछ इतिहास भी मैंने सुन लिया था। उसमें से एक बात यहां लिखता हूं। वहां एक अंगरेज की जमींदारी थी। रैयतों से एक जमीन की खातिर बहुत दिनों से झगड़ा चला आता था। कचहरियों में बहुत मामले-मुकदमे चले थे। गोरे साहब ने जमीन की रक्षा के लिए कुछ गोरखों को नौकर रखकर रखवाली का काम उन्हें सुपुर्द किया था। सुना जाता है कि बरसात के दिनों में एक रात को उस इलाके के लोगों ने सभी गोरखों को, जिनकी संख्या बीस-पचीस थी, मारकर बढ़ी हुई गंगा में फेंक दिया। पता भी न लगा कि किसने मारा और उनके शव क्या हुए।

ऐसे स्थान की जनता में सत्याग्रह के लिए उत्साह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी; पर वे अहिंसात्मक रह सकेंगे, इसी का डर था, और आश्चर्य भी। वहीं पर एक नये ढंग का

सत्याग्रह, गांजे की एक दूकान के संबंध में, आरम्भ हो गया। रेलवे प्लेटफार्म के पास ही पश्चिम तरफ कुछ जमीन है जिसमें कांग्रेस का आश्रम बना हुआ था। वहां एक छोटी कोठरी थी, जिसमें खादी-भंडार था, जहां सूत खरीदकर रखा जाता था, बेचने के लिए रूई तथा कपड़े रखे जाते थे। दूसरी कोठरियों में कांग्रेस के कार्यकर्ता और स्वयंसेवक रहा करते थे। उन दिनों ये मकान झोंपड़े जैसे थे। अब तो वहां आश्रम के लिए सुंदर पक्का मकान बन गया है, जो रेल के यात्रियों को रेल पर से ही दीख पड़ता है।

स्टेशन के दक्खिन पांच-सात दूकानों का एक छोटा-सा बाजार है। इन्हीं में से एक दूकान में गांजा बिका करता था। कांग्रेसी स्वयंसेवकों ने गांजे की दूकान पर पहरा बैठाया। पुलिस ने एक दिन कार्यकर्ताओं को आश्रम से मार-पीटकर निकाल दिया। आश्रम को भी दखल कर लिया। रूई-सूत-खादी इत्यादि को इधर-उधर फेंकफांक दिया। जब आस-पास के लोगों को मालूम हुआ कि पुलिस ने इस तरह आश्रम पर कब्जा कर लिया है तो उन्होंने आश्रम को दखल करना चाहा। इसके लिए पहले चार-पांच आदमियों का जत्था हाथ में झंडा लिये वहां गया। जाहिर है कि जहां पुलिस का जत्था हथियारबंद बैठा था वहां चार-पांच आदमी खाली हाथ जाकर जबरदस्ती दखल नहीं कर सकते थे। यह सिर्फ सत्याग्रह का एक जरिया था। पुलिस भी इसे वैसा ही समझती थी। वह उन लोगों को, जो जत्था बनाकर जाते थे, गिरफ्तार कर लेती थी। यह काम प्रतिदिन एक बार, तीसरे पहर चार-पांच बजे के करीब, होता।

इस बात की खबर चारों ओर फैली। जैसे पटने में तमाशा देखने के लिए भीड़ जमा हो जाया करती थी वैसे ही वहां भी जत्थे के जाने के समय भीड़ लग जाया करती। कभी-कभी पुलिस जत्थे को गिरफ्तार न करके उनको मारपीटकर छोड़ देती। प्रतिदिन दर्शकों की भीड़ बढ़ती गयी। जब पटने में मुझे सविस्तार समाचार मिला तो मैं कुछ मित्रों के साथ भागलपुर गया। वहां से दूसरे दिन दोपहर को बीहपुर पहुंचा। उस दिन हम लोगों के जाने की खबर फैल गयी। इसलिए भीड़ बहुत बड़ी जमा हो गयी। दिन में तीन बजे के करीब सब लोग एक बगीचे में जमा हुए। मैंने उनको समझाया कि चाहे जो हो, अपनी ओर से शांति रखनी चाहिए, किसी तरह कोई आदमी कोई हिंसात्मक कार्य न करे। जत्थे का समय हो जाने पर सब लोग सड़क पर और उसके इधर-उधर खड़े हो गये। कुछ लोग उस छोटे-से बाजार में भी जमा हो गये। हम लोग भी जहां-तहां खड़े थे। मैं बाजार के सामने एक ऐसे स्थान पर था जहां से वह स्थान नजर आता था जहां पुलिस के आदमी खड़े थे और जहां तक जत्था जा सकता था। वहां पहुंचने पर जत्था चाहे पीटा जाता, चाहे गिरफ्तार कर लिया जाता। भीड़ प्रायः 15-20 हजार आदमियों की थी।

सत्याग्रहियों का जत्था निकला और सड़क से होकर उस स्थान तक पहुंचा जहां पुलिस खड़ी थी। वह सहूलियत के साथ गिरफ्तार कर लिया गया, मार-पीट नहीं हुई। हम लोगों ने

समझा, उस दिन का काम समाप्त हुआ, अब सब लोग चले जायेंगे। जनता अब तितर-बितर होना ही चाहती थी कि आश्रम के अंदर से पुलिस के सुपरिंटेंडेंट कुछ लट्ठधारी सिपाहियों के साथ निकले। सड़क पर खड़ी जनता पर लाठियां बरसाने का उन्होंने हुक्म दिया। सड़क वहां पर ऊंची है, आश्रम और बाजार दोनों ही नीची जमीन में हैं। पुलिस वाले बेतहाशा लाठियां चलाते, भीड़ को चीरते, स्टेशन तक आ गये। न मालूम कितने आदमियों को लाठियां लगीं; पर कोई कुछ न बोला। वहां से पुलिस के सुपरिंटेंडेंट के साथ वे लोग बाजार में पहुंच गये जहां मैं खड़ा था। कुछ दूर पर, एक दूकान के ओसारे से, सुपरिंटेंडेंट ने चारों ओर निगाह दौड़ायी। वहां से चिल्लाते हुए कहा कि मारो सालों को। पुलिस उसी तरह लोगों पर बेतहाशा लाठियां चलाते आगे बढ़ी। मुझ पर चार-पांच लाठियां पड़ीं। एक युवक स्वयंसेवक ने बीच में पड़कर कुछ लाठियों के जोर को अपने ऊपर झेल लिया। इसलिए, यद्यपि मुझे भी चोट लगी तथापि, उतनी न लगी जितनी लग सकती थी। मुझसे कुछ दूर पर श्री बलदेव सहाय और श्री मुरलीमनोहर प्रसाद थे। उनको भी कुछ चोट लगी। कुछ दूर पर प्रोफेसर अब्दुल बारी भी थे। उनको बहुत चोट लगी। वह गिर गये। उनका सारा बदन लहू-लुहान हो गया।

इस प्रकार मारते-पीटते पुलिस का जत्था सुपरिंटेंडेंट के पीछे-पीछे फिर आश्रम में चला गया। भीड़ तो लाठी चलने के पहले से ही छंट चली थी। लोग जहां-तहां चले गये। हम लोग जो भागलपुर से आये थे, वहीं ठहरे रहे; क्योंकि हमारी गाड़ी 7-8 बजे रात को वहां से छूटती थी। भीड़ के छंटने और पुलिस वालों के चले जाने पर उस बाजार में रहने वाले एक डाक्टर आये। वह हम लोगों के घावों को धोकर पट्टी बांधने लगे। हम लोग वहीं बाजार के सामने खुले मैदान में घास पर पड़े थे। इसी बीच पुलिस सुपरिंटेंडेंट, सिपाहियों और पुलिस इंसपेक्टर के साथ, फिर उधर आता नजर आया। हम लोगों ने सोचा, शायद फिर हम पर लाठियों का वार हो; पर वैसा हुआ नहीं। वे लोग कुछ दूर अलग ही ठहर गये। इंसपेक्टर ने भागलपुर के प्रसिद्ध वकील और कांग्रेसीकर्मी श्री पटल बाबू को, जो हम लोगों के साथ आये थे, गिरफ्तार कर लिया। वे लोग उनको साथ लेकर वापस चले गये। हम लोग रात की गाड़ी से भागलपुर पहुंचे। वहां बड़ी सनसनी फैल गयी। मैं भी एक-दो दिन ठहर गया।

भागलपुर, बिहार-भर में, विदेशी कपड़े की आढ़तों का, सबसे बड़ा केंद्र है। और-और जगहों में प्रायः व्यापारियों ने विदेशी कपड़े की गांठे बांधकर मुहरबंद रख छोड़ी थीं, पर अभी तक भागलपुर में ऐसा नहीं हुआ था। उक्त घटना के बाद वहां भी स्त्रियों ने दूकानों पर पहरा देना आरम्भ किया। मेरे पास दूकानदार आकर कहने लगे कि वे गांठ बांधकर मुहर लगवा देने के लिए तैयार हैं। उन्होंने आपस की कमिटी भी बना ली। दो-चार दिनों के अंदर वहां भी सब विदेशी वस्त्र, बिक्री के बाजार से उठाकर, गांठों

के अंदर मुहरबंद करके, रख दिये गये। बीहपुर की घटना का तत्काल फल यह हुआ कि यह काम बिना परिश्रम के वहां हो गया।

हम लोगो के साथ असेम्बली के दो सदस्य, श्री अनंत प्रसाद और श्री कमलेश्वरी सहाय बीहपुर गये थे। भीड़-भाड़ में उनको भी कुछ धक्का तो जरूर लगा था, पर पुलिस के सामने ठीक न पड़ने से वे लाठियों की चोट से बच गये थे। पर सारा खेल उन्होंने अपनी आंखों देखा था। वे भी वहां से बहुत उत्तेजित होकर लौटे थे। उन लोगों की भी राय यही थी कि लाठी बिलकुल बिना कारण चली थी; क्योंकि लाठी चलने के पहले भीड़ का हटना शुरू हो गया था—दो-चार मिनटों के अंदर ही लोग जहां-तहां चले गये होते, और हम लोगों पर किया गया प्रहार तो और भी बिना कारण था। इसलिए, उन्होंने अपने इस्तीफे भेज दिये। आज ठीक स्मरण नहीं है; पर शायद कुछ दूसरे लोगों ने भी, जब इस घटना का हाल सुना तो, इस्तीफे भेज दिये।

सबसे विचित्र एक दूसरी बात हुई। पुलिस वालों में दो दल हो गये। कुछ तो ऐसे थे जो सुपरिंटेंडेंट के हुक्म को ठीक मानते और खूब लाठियां फटकारते थे। पर कुछ ऐसे भी थे जो लाठी के प्रहार को गलत समझते थे और होशियारी से हाथ बचा देते थे। हम लोगों पर जो लाठियां पड़ीं वे एक ही दल की थीं, दूसरे की नहीं। सुपरिंटेंडेंट आगे-आगे चल रहा था और ये लोग उसके पीछे-पीछे चारों ओर लाठियां हरहराते जाते थे। जब लाठी की चोट से अब्दुल बारी प्रायः वहीं बेहोश होकर गिर गये, तब भी एक सिपाही ने उन पर फिर लाठी उठायी। वह अचेत गिरे हुए बारी साहब पर लाठी मारना ही चाहता था कि एक दूसरे सिपाही ने उसकी लाठी को अपनी लाठी पर रोक लिया। एक तीसरे सिपाही ने तो बारी साहब को मारने वाले उस सिपाही को ही लाठी मार दी। दोनों दल इस प्रकार आपस में लड़ते-झगड़ते आगे निकल गये और अब्दुल बारी उस भारी चोट से बच गये। यह बात खुद अब्दुल बारी ने हम लोगों से कही।

हम लोग जब भागलपुर में ठहरे थे तो प्रायः गंगा-स्नान करने जाते थे। वहां दूसरे दिन कुछ आदमियों से घाट पर भेंट हो गयी। वे भी स्नान करने आये थे। उन्होंने यह सारा किस्सा कह सुनाया और इसके बाद की घटना भी कह दी। वे पुलिस के उस दूसरे गोल के थे, जिसने अब्दुल बारी पर दूसरा वार रोका था। उन्होंने कहा, "जब हमने देखा कि हमारा वह साथी, जिसको हमने लाठी मारने से रोका था और जिस पर हमने खुद लाठी का वार कर दिया था, सुपरिंटेंडेंट के पास जाकर नालिश करेगा तो हम जल्द दौड़कर उससे आगे पहुंच गये और जाकर पहले हमने ही नालिश कर दी कि दूसरे दल के सिपाहियों को लाठी चलाना नहीं आता, भीड़ पर लाठी चलाने के बदले वे अपने लोगों पर ही लाठियां झाड़ देते हैं, इसीलिए कुछ पुलिस वाले भी लाठी के शिकार बन गये हैं; यह सब हम कह ही रहे थे कि दूसरे दल वाले भी पहुंच गये, उन्होंने सुपरिंटेंडेंट से

नालिश की कि इन्हीं लोगों ने उन पर लाठियां मारी हैं।" पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने दोनों दलों के बयान सुनकर वहां कुछ न किया, उन्हें सीधे भागलपुर की पुलिस-लाइन में भेज दिया।

एक और विचित्र घटना हुई। पुलिस के इंसपेक्टर छपरा जिले के रहने वाले थे। वह मेरे स्कूल के साथी थे। हम दोनों चार बरसों तक एक साथ पढ़े थे। एक साथ ही एंट्रेन्स भी पास किया था। उसके बाद मैं कलकत्ते पढ़ने चला गया। वह पुलिस की नौकरी में चले गये। तब से हम दोनों की मुलाकात नहीं हुई थी। पर यह मैं जानता था कि वह पुलिस में हैं। अब वह कुछ बूढ़े-से भी हो गये थे। उनके केश प्रायः सफेद हो गये थे। जब उस दिन हम लोग घास पर पड़े थे, सुपरिंटेंडेंट के साथ वह दूसरी बार पटल बाबू को गिरफ्तार करने आये। उन्होंने आहिस्ता से मुझे प्रणाम किया। मैंने उन्हें पहचाना नहीं; पर उन्होंने मुझे पहचान लिया था। पीछे दरियाफ्त करने पर उनका नाम मालूम हुआ। मैंने खादी-भंडार के एक कार्यकर्ता रामविलास शर्मा को बीहपुर भेजा कि वहां के पुलिस-अफसर से कहकर खादी-सूत-चर्खे इत्यादि जो इधर-उधर फेंके पड़े थे उन्हें एकत्र करके लावें और भागलपुर भंडार में जमा करा दें। रामविलास बहुत बोलक्कड़ और शोख मिजाज के हैं। उन्होंने सुन लिया था कि इंसपेक्टर मेरे साथी हैं। वहां पहुंचने पर उन्होंने देखा कि वही महाशय वहां के इंचार्ज हैं। उनसे जाकर वह मिले। कुछ बातें करने पर पता लग गया कि इंसपेक्टर साहब उस दिन की घटना से कुछ लज्जित-से हैं। इस पर शर्मा ने मेरा हवाला देकर उनसे कहा कि मैं उनका साथी हूं और उस दिन उनके प्रणाम करने पर भी उन्हें ठीक न पहचान सकने का मुझे बहुत अफसोस है। वह जैसे-जैसे उनसे ये बातें करते जा रहे थे, उनके चेहरे का रंग बदलता जा रहा था। उन्होंने शर्मा से कहा, इन सब बातों की चर्चा मत कीजिए। इतना कह दूसरी ओर उन्होंने मुंह फेर लिया। रामविलास ने मौका देखकर कुछ और बातें छेड़ दीं। फिर मेरा जिक्र करते हुए कहना शुरू कर दिया कि मुझे इस बात का बहुत अफसोस रहा कि इतने दिनों के बाद देखादेखी हुई तो पुराने साथी से कुछ बातें भी न हो सकीं। इस पर फिर उन्होंने रामविलास को आगे बातें करने से रोका। रामविलास ने देखा कि उनकी आंखें डबडबा गयी थीं।

मैं जानता हूं कि इस प्रकार की घटनाएं अनेक स्थानों में हुईं। एक दूसरे पुलिस-अफसर का भी यही हाल हुआ। उन्होंने रात को मुझसे मुलाकात की। आंसू बहाते हुए मेरे पैर पकड़ लिये। कहा कि उस जिले में उनके रहते-रहते ऐसी घटना हुई कि मैं लाठी से पीटा गया और वह कुछ न कर सके! यहां पर यह भी लिख दूं कि 1933 की जनवरी में जब दुबारा सत्याग्रह के समय मैं पटना जेल से हजारीबाग जेल में पहुंचाया गया, तो हजारीबाग-रोड स्टेशन से हजारीबाग तक जो पुलिस इंसपेक्टर मुझे पहुंचाने गये थे वह यही इंसपेक्टर थे। पर वह रात का समय था। जाड़े के कपड़ों में वह भी खूब छुपे थे और मैं तो था ही। लारी की अगली सीट पर वह बिना कुछ बोले बैठ गये। हम लोग पीछे बैठे और खूब सवेरे ही जेल के

दरवाजे पर पहुंच गये। हम लोगों के उतरते-उतरते ही वह कहीं हट गये। रास्ते में वह कहीं एक शब्द नहीं बोले थे जिससे मैं पहचान सकूं। जेल के फाटक पर भी देखा नहीं। पीछे जेलर ने हमसे उनका नाम कहा। यह भी कहा कि रास्ते-भर वह किसी तरह अपनी पहचान बचाते आये हैं। जेलर भी छपरे के रहने वाले थे। वह हम लोगों के एक दूसरे साथी के छोटे भाई थे। इस कारण हम उन्हें लड़कपन से ही जानते थे।

बीहपुर में लाठी-प्रहार के बाद भी जत्था वैसे ही प्रतिदिन जाता रहा। वह गिरफ्तार होता या पीटा जाता। जब तक गांधी-अर्विन समझौता न हुआ और कांग्रेस ने सत्याग्रह बंद न किया, यह क्रम बराबर जारी रहा। पीछे जत्था वाले बहुत बेरहमी से पीटे जाने लगे। एक स्वयंसेवक आज तक हम लोगों के पास सहायता के लिए आया करता है। उसको बहुत पीटा था। अंत में साइकिल का पम्प उसके कान में लगाकर इस तरह हवा भर दी थी कि उसके कान की झिल्ली फट गयी। वह अभी तक उसकी तकलीफ सह रहा है।

1932 में जब सत्याग्रह फिर आरम्भ हुआ तब गवर्नमेंट ने बीहपुर के आश्रम को जब्त नहीं किया—यद्यपि समझौते के जमाने में बहुत कोशिश करने पर भी इसे छोड़ने पर राजी नहीं हुई थी। जमीन के मालिक ने आश्रम की जमीन कांग्रेस को लिख दी थी। हम लोगों का उस पर पूरा कानूनी हक था। पर सरकारी कर्मचारियों ने किसी दूसरे आदमी को खड़ा करके जमीन लिखवा लेने का प्रयत्न किया था। जब हमने नालिश करने की धमकी दी तब वह आश्रम हमें वापस मिला। जिस समय पुलिस ने आश्रम पर कब्जा किया था, जब्ती का कोई हुक्म नहीं निकला था। पीछे भी कभी बाजाब्ता जब्ती नहीं हुई थी। तो भी वे उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। किसी से लिखवाकर उस पर बिलकुल झूठा दावा कर रहे थे। वहीं हमको साफ मालूम हो गया कि सरकारी कर्मचारी अपना पक्ष-समर्थन करने-कराने के लिए चाहे जो कुछ भी कर सकते हैं ! इसके लिए मुझे उस समय के चीफ सेक्रेटरी मिस्टर हैलेट (अब युक्तप्रांत के लाट सर मौरिस हैलेट) से और बिहार के लाट से भी, समझौते के जमाने में, भेंट करनी पड़ी थी।

90

मेरी गिरफ्तारी : छपरा जेल में

पटना लौटने पर मुझे मालूम हुआ कि अब मेरी गिरफ्तारी के लिए गवर्नमेंट का हुक्म हो गया है। मैंने पूर्ववत् अपना दौरा जारी रखा। कई जिलों में घूम आया, पर कहीं गिरफ्तार न किया गया। पीछे मालूम हुआ कि मैं एक जिले से दूसरे जिले में बहुत जल्दी घूमकर चला जाता हूं। इसलिए जिला मजिस्ट्रेट मुझे गिरफ्तार करके एक बला अपने ऊपर नहीं लेना चाहते। इस तरह मैं बचता चला गया। इसी बीच में एक दिन श्री विट्ठलभाई पटेल पटने में आये। वह हाल ही में केंद्रीय असेम्बली के सभापति-पद को छोड़ चुके थे। इससे लोगों में उनके प्रति श्रद्धा और भी बढ़ गयी थी। पटने में एक सार्वजनिक सभा की गयी। मिस्टर हसन इमाम उसमें खादी का जांघिया और अधबंहियां पहनकर आये। वहीं खबर मिली कि उसी दिन सवेरे पंडित मोतीलालजी गिरफ्तार कर लिये गये। मैंने समझ लिया, अब मेरी गिरफ्तारी में देर न होगी। मैंने चलते समय मिस्टर हसन इमाम साहब से मुलाकात की। उन्होंने बहुत उत्साहपूर्वक आश्वासन दिया। कहा, बच्चू, तुम्हारे गिरफ्तार हो जाने से काम रुकेगा नहीं। मैं उसी सभा के बाद, श्री विट्ठलभाई पटेल को बिहार से विदा करके, खुद छपरा जिले के दौरे पर चला गया।

वहां भी तीन दिनों का कार्यक्रम था। जिले के पश्चिमी भाग से प्रारम्भ करके तीसरे दिन पूर्वी भाग समाप्त कर पटने पहुंच जाना था। पहली रात जीरादेई में और दूसरी छपरे में बितानी थी। तीसरी रात को पटने पहुंचना था। दो दिन बीत चले थे। दूसरे दिन शाम का कार्यक्रम पूरा करते वक्त बहुत रात हो गयी। संध्या के बदले रात 12 बजे छपरा पहुंचा। बिहार-बैंक में पहुंचने पर मालूम हुआ कि भाई कहीं गये हैं छपरे में नहीं है और पुलिस वाले प्रायः 10-11 बजे तक मेरे इंतजार में बैंक में ठहरे रहे हैं। मैं समझ गया कि गिरफ्तारी के लिए खोज कर रहे होंगे। मैं भोजन करके सो गया। सवेरे उठकर स्नानादि से निवृत्त हो, करीब साढ़े आठ बजे, मोटर पर गड़खा के लिए रवाना हुआ। वहीं पर पहली सभा होने वाली थी। पुलिस वालों को मालूम ही था। इसलिए वे लोग गड़खा में जाकर मेरा इंतजार करने लगे। एक दल उस रास्ते पर ठहरा रहा जिधर से मैं गड़खा पहुंचने वाला था। मैं अभी छपरा शहर के बाहर भी नहीं गया था कि गड़खा की ओर एक मोटर पर पुलिस वाले लौटते

हुए मौना मुहल्ले में ही मिल गये। उन्होंने इशारा करके मेरी गाड़ी को रुकवाया। मुझसे कहा कि मेरी खोज में वे पहले दिन से घूम रहे हैं। मैं उनके साथ उनकी गाड़ी पर हो लिया। उन्होंने कहा कि बैक में यदि किसी से मिल लेना हो अथवा कुछ ले लेना हो तो उधर से चल सकते हैं। मैं बैक में गया। वहां घर के लोगों से भेंट कर ली। कुछ खा भी लिया। एक-आध घंटे के भीतर ही तैयार होकर उनकी गाड़ी पर फिर सवार हो गया। अभी तक इस बात की खबर शहर में पहुंची भी न थी कि मैं सीधे जेल ले जाया गया।

जेल का यह मेरा पहला अनुभव था। एक बार मैं छपरा जेल में कुछ मित्रों से मिलने गया था। पर इससे ज्यादा उसके या किसी भी जेल के संबंध में नहीं जानता था। जेल में उस समय प्रायः 300-400 सत्याग्रही कैदी थे। उनको मालूम हो गया कि मैं फाटक के अंदर पहुंच गया। वे जयजयकार करते फाटक के पास पहुंच गये। जेलर कुछ घबरा गये। उन्होंने अंदर का फाटक नहीं खोला। इस पर लोग और भी शोर करने लगे। मैंने जेलर से कहा कि मुझे अंदर ले चलें, सब शांत हो जायेंगे। उन्होंने कहा कि जब तक ये लोग फाटक के नजदीक रहेंगे, फाटक खोलने का नियम नहीं है; इसलिए ये लोग जब चले जायें तभी वह मुझे अंदर ले जायेंगे। मैं सत्याग्रहियों से कुछ कह भी नहीं सकता था; क्योंकि छोटे सुराख से कहां तक बातें हो सकती थीं! मैं जानता था कि यह उत्साह केवल स्वागत के लिए है, मेरे अंदर जाते ही और भेंट होते ही सब शांत हो जायेंगे। पर जेलर इस बात को नहीं समझ सकते थे। कुछ देर के बाद फाटक खोलकर वह मुझे अंदर ले गये। सभी लोग इतना ही चाहते थे। सब मेरे साथ हो लिये और मुझे जहां रहना था वहां तक पहुंचाकर अपने-अपने स्थान को चले गये। इसी बीच में बाहर से जयजयकार की आवाज आने लगी। वहां की जेल में एक दोमहला मकान है। उस पर भी कुछ लोग रहते थे। उन्होंने देखा कि एक बड़ी भीड़ जेल की तरफ जयजयकार करती आ रही है। वह भीड़ बाहर सड़क पर थी। जेलर और भी घबरा गये थे। उन्होंने जेल के वार्डरों को फाटक पर से बंदूक छोड़ने का हुक्म दिया। आवाज हम लोगों ने सुनी और समझा कि शायद कहीं गोली तो नहीं चली। पर बात ऐसी नहीं थी। जेल एक तरह से बीच शहर में है, चारों ओर सड़क है। लोगों ने केवल जेल के इर्द-गिर्द जलूस घुमाकर और नारे लगाकर काम समाप्त किया। पर जेलर अपनी घबराहट में खामखाह बंदूक छुड़वाने लगे। खैरियत थी कि खाली फायर किया जाता था। सुना कि पीछे जब डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को इसकी खबर मिली तो उन्होंने जेलर को डांटा कि यह बड़ी भूल थी—यदि जनता बंदूक छूटते देखकर बिगड़ जाती तो वह झूठे फायर से उसे कैसे रोक सकते, खासकर जब उन्होंने पुलिस या मजिस्ट्रेट को भी खबर नहीं दी थी।

मेरा पहला अनुभव विचित्र रहा; क्योंकि पीछे जब औरों के अनुभव से मैंने अपने अनुभव को मिलाया तो मालूम हुआ कि औरों को ऐसा अनुभव नहीं हुआ था। उस समय तक छपरे में कैदियों के वर्गीकरण का कोई इंतजाम नहीं था। मेरे संबंध में कोई खास हुक्म

भी न था। इसलिए मैं लोहे के तसले में जो कुछ वहां मिलता वही खाता। घर से लोगों ने खाना भेजा; पर मैंने मना कर दिया और उसे नहीं खाया। जेलर का कहना था कि मैं जब तक हाजती (undertrial) हूं तब तक घर का खाना खा सकता हूं, पर फाटक पर जाकर खाना होगा ! मैं तो यों ही इंकार करता, इस शर्त ने और भी मजबूर कर दिया। दूसरे दिन भाई साहब छपरा पहुंचे। मुकदमे की पेशी के समय, जो जेल में ही हुई, आकर मिले। जेलर कायदा बरतने में इतने सख्त थे कि मेरे घर से कुछ आम आये तो उन्हें भी फाटक पर आकर ही खाने के लिए संवाद भेजा। मैंने इंकार कर दिया। आम भी वापस कर देने को कह दिया। तब तक आम लाने वाला आदमी वापस चला गया था। फिर उन्होंने खुद आकर कहा, तो मेरे कारण पूछने पर कहने लगे कि जेल में एक कैदी दूसरे कैदी को अपना खाना नहीं दे सकता, इसलिए उसे बाहर की चीज भी हम अंदर खाने नहीं देते। पीछे मालूम हुआ कि यह मनगढ़ंत नियम था, किसी दूसरी जेल में ऐसा नहीं हुआ।

जिन मजिस्ट्रेट के सामने मेरा मुकदमा पेश हुआ, उनकी-मेरी पहले से मुलाकात थी। मेरे वकालत के दिनों में वह मेरे मवक्किल रह चुके थे। उनके निजी मुकदमे में मैं काम कर चुका था। इत्तफाक की बात, 1933 में जब मैं पटने में गिरफ्तार हुआ, वह पटने के सब-डिवीजनल अफसर थे। उस बार भी उनको ही मेरी सजा सुनानी पड़ी। मुकदमे में कुछ कहना-सुनना तो था नहीं, कोई दफा लगाकर मुझे छः महीने कैद की सजा उन्होंने दे दी।

मुझे कुछ भी मालूम न था कि मुझे वहीं रखेंगे या कहीं अन्यत्र ले जायेंगे। पर इतना मैं जानता था कि सूबे के प्रमुख लोग हजारीबाग जेल में रखे गये हैं। जेलर ने भी कुछ नहीं कहा कि मैं वहीं रहूंगा या हजारीबाग भेजा जाऊंगा। इस तरह पांच-छः दिन बीत गये। एक दिन संध्या को भोजन करके मैं अपने वार्ड के छोटे आंगन में, एक कुर्ता पहने और एक अंगोछा हाथ में लिये, घूम रहा था। जेलर ने आकर कहा कि डिप्टी साहब फाटक पर आये हैं, मुझसे मिलना चाहते हैं। उन दिनों वहां के पुलिस सुपरिंटेंडेंट छुट्टी पर गये थे, एक डिप्टी-मजिस्ट्रेट उनकी जगह काम कर रहे थे। मैंने समझा, वही आये होंगे। मैं गया। फाटक खुला। जैसे ही मैं अंदर घुसा, डिप्टी साहब दूसरी ओर मुंह फेरकर बाहर वाले दरवाजे की तरफ चलते बने ! मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। वार्डर ने मुझे अंदर लेकर भीतर का दरवाजा बंद करके दौड़कर बाहर का दरवाजा खोला। उसके खुलते ही एक दूसरे सज्जन अंदर आ गये जो मिस्टर खां डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट थे। उन्होंने कहा कि मुझे तुरंत चलना है। मैंने पूछा कि सामान अंदर है, जाकर ले आऊं। उन्होंने कहा कि उसकी मैं परवाह न करूं, वह सब आ जायेगा। जेल का एक नियम यह भी था कि पहने हुए कपड़ों और बिस्तर के सिवा दूसरा कुछ अंदर नहीं जाने देते थे। इसलिए थोड़े कपड़े फाटक पर ही थे। मैंने टोपी निकाल ली और उसे पहनकर डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की मोटर पर बैठ गया। उसके चारों ओर पर्दे लगे हुए थे।

मजिस्ट्रेट ने ड्राइवर से कहा कि पच्छिम ले जाओ। मेरे पूछने पर कि कहां जाना है, उन्होंने कहा कि पीछे बताऊंगा। जेल से छपरा जंकशन स्टेशन पश्चिम में पड़ता है। पर जब स्टेशन के सामने मोटर पहुंची तो उधर मोड़ने की बदले उन्होंने सीधे पश्चिम जाने को कहा। कुछ देर में हम लोग शहर के बिलकुल बाहर पहुंच गये। तब उन्होंने पर्दा गिरा दिया। मुझसे माफी मांगते हुए कहने लगे कि उनको अफसोस है कि इस तरह की कार्रवाई उन्हें करनी पड़ती है, मुझे हजारीबाग जाना होगा, पर रास्ता मामूली रास्ता नहीं है; मुझे वह 'मांझी' स्टेशन पर—जो छपरा-बनारस लाइन में सरयू तट पर एक छोटा स्टेशन है—बनारस की गाड़ी में सवार करायेंगे, वहां से मैं बनारस के रास्ते मुगलसराय ले जाया जाऊंगा जहां से ग्रांड-कौर्ड लाइन द्वारा सोनईस्ट-बैंक स्टेशन तक ले जाकर उतार लिया जाऊंगा, फिर वहां से मोटर पर हजारीबाग पहुंचाया जाऊंगा; मेरे लिए रेलवे-पुलिस के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट अपना सैलून लेकर आ रहे हैं, कोई तकलीफ न होगी।

ख़ैर, हम लोग मांझी स्टेशन पर जल्द ही पहुंच गये। थोड़ी देर में डिप्टी साहब भी मेरे सामान के साथ पहुंच गये। गाड़ी भी आ गयी। मैं सैलून में सवार हो गया। पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने मुझसे इतना ही कहा कि मैं लोगों को अपना परिचय न दूं। मैंने कहा कि मैं खुद थोड़े ही किसी को अपना परिचय देता चलूंगा; पर यदि कोई मुझे पहचान ही ले तो मैं क्या करूंगा! इस पर वह हंसे और मजे में हम दोनों के साथ चले। रात का समय था। हमारा डब्बा गाड़ी के आखिरी डब्बे के पीछे जोड़ा गया; इससे वहां तक कोई मुसाफिर भी नहीं पहुंचता था। कुछ रात रहते ही हम बनारस पहुंच गये। वहां से मोटर पर मुगलसराय पहुंचे। वह रिफ्रेशमेंट रूम में मुझे कुछ खिलाने के लिए ले गये; पर मैं अभी तैयार नहीं था। कुछ देर तक वहां बैठा। इतने में गाड़ी आ गयी। इस बीच में शायद दो-चार आदमियों ने मुझे पहचाना हो। खाने के लिए उन्होंने आम खरीद लिये। गाड़ी खुलने पर मैंने मुंह-हाथ धो स्नानादि से निवृत्त होकर नाश्ता कर लिया। सोनईस्ट-बैंक स्टेशन पर गया जिले के पुलिस सुपरिंटेंडेंट मिले। उन्होंने मुझे एक मोटर पर सवार कराकर, हजारीबाग के लिए, एक इंसपेक्टर के साथ, रवाना किया। वहां मैं एक बजे दिन के कुछ पहले पहुंच गया। मित्रों के साथ वहां रखा गया। इस लम्बी-चौड़ी यात्रा की बातें जब मित्रों ने सुनीं तो बहुत चकित हुए। मिस्टर खां ने छपरे में ही पूछने पर इस तरह ले जाने का कारण बताया था—गवर्नमेंट नहीं चाहती कि छपरा, सोनपुर, पटना और गया स्टेशनों पर लोगों की भीड़ जमे और प्रदर्शन हो, इसलिए यह रास्ता सोचकर निकाला गया है। साथ के इंसपेक्टर ने भी कहा कि रास्ते में कहीं भी मोटर न ठहराने का हुक्म है और औरंगाबाद (गया) में जहां कस्बे के बीच होकर सड़क जाती है वहां मोटर को तेज ले जाने का हुक्म है। ऐसा उन्होंने किया भी।

छपरा जेल से मेरे निकल आने पर जब जेलर मेरा सामान लाने अंदर गये तो लोगों को मालूम हो गया कि मैं वहां से हटा दिया गया। वहां के लोगों में बड़ी उत्तेजना फैली। कुछ

लोगों ने कोठे पर से चिल्लाना शुरू कर दिया कि मुझे किसी अज्ञात स्थान में ले गये। शहर के किसी आदमी ने दौड़कर बिहार-बैंक में पहुंच भाई को खबर दे दी। वह अपनी मोटर पर तुरंत छपरा स्टेशन पहुंचे। वहां उन्हें मालूम हुआ कि मैं किसी गाड़ी में नहीं सवार कराया गया हूं। उन्होंने समझा कि शायद किसी आगे के स्टेशन पर सवार करायेंगे। पर उन्हें यह क्या पता कि सोनपुर की ओर न जाकर मुझे बनारस की ओर ले गये हैं। वह सोनपुर तक मोटर से पहुंचे। जब वहां भी मुझे न पाया तो निराश होकर फिर छपरे लौट गये। बाद में जब मालूम हुआ कि मैं हजारीबाग पहुंच गया तो वह आकर मुझसे मिले।

91

हजारीबाग जेल में

हज़ारीबाग जेल के जेलर बाबू नारायण प्रसाद मेरे पूर्व-परिचित थे। उनके एक बड़े भाई मेरे स्कूल के साथी थे, जिनसे मेरी मित्रता थी। मैं उनके घर पर कभी-कभी जाया करता था। वह बड़े कार्यकुशल और विचारशील जेलर थे। उन्होंने मुझे वहीं स्थान दिया जहां रामदयालु बाबू, श्री बाबू, विपिन बाबू प्रभृति रहते थे। जेल में मेरा समय कुछ पढ़ने और सूत कातने में बीतता था। पीछे सुपरिंटेंडेंट मेजर ऐयंगर से कहकर मैं उस कारखाने में, जहां कपड़ा और नेवार बुना जाता था, बुनाई का काम करने लगा। इन पांच-छः महीनों में मैंने प्रायः दो सौ गज नेवार और 14-15 गज कपड़े भी बुन लिये। पर वह कपड़ा चर्खे के सूत का नहीं था, जेल का ही था, इसलिए उसे वहीं छोड़ दिया गया। पर नेवार को चलने के समय दाम देकर खरीद लिया। मैं जुलाई के पहले सप्ताह में गिरफ्तार हुआ था और दिसम्बर के अंत तक वहां रहकर रिहा हुआ। समय बीतते देर न लगी।

इस बीच में श्री दीपनारायण सिंह भी वहां पहुंच गये। वह भी हमारे साथ ही उसी कमरे में रहे। दक्षिण अफ्रिका वाले स्वामी भवानीदयाल भी उसी वार्ड में रहते थे। दूसरे वार्ड में जो मित्र रहते थे वे भी जेलर से इजाजत लेकर जब-तब हम लोगों से मिलते रहते थे या हम ही उनके वार्ड में जाकर उसी तरह मिलते थे। किसी बात की तकलीफ नहीं थी। पुस्तकों के संबंध में कुछ रुकावट थी। कोई पुस्तक, पुलिस अथवा मजिस्ट्रेट के 'पास' किये बिना, हम लोगों को नहीं मिलती थी ! पास करने वाले सज्जन कुछ बहुत पढ़े-लिखे नहीं मालूम होते थे। जिस पुस्तक के नाम में किसी तरह 'पालिटिक्स' या 'पोलिटिकल' शब्द आ जाये उसे वे हरगिज नहीं पास करते। जिसमें ये शब्द न आवें उस पुस्तक को, चाहे उनके दृष्टिकोण से वह कितनी भी खराब पुस्तक क्यों न हो, वे पास कर देते। उदाहरणार्थ, वहां की एक मजाक की बात सुन लीजिए।

किसी ने 'एकनोमिक्स' की एक पाठ्य पुस्तक, जो कालेजों में पढ़ाई जाती थी, मंगायी। उसका नाम था Text Book of Political Economy; उसे उन्होंने नामंजूर कर दिया, चूंकि नाम में 'पोलिटिकल' शब्द था ! पर ABC of Communism और Theory of Leisure Class के पास करने में वे नहीं हिचके ! पहली पुस्तक को न मालूम क्या

समझ कर पास किया, पर दूसरी के संबंध में हम लोगों का अनुमान हुआ कि उन्होंने समझा होगा, इसमें ऐसे लोगों के मनबहलाव की बातें होंगी जिनके पास बहुत अवकाश का समय रहता है।

मैंने जेल में सोचा कि गांधीजी के लेख अधिकतर उनके साप्ताहिकों की फाइलों में ही पड़े हैं। यद्यपि मद्रास के प्रकाशक श्री गणेशन ने उनको इकट्ठा करके पुस्तकाकार में प्रकाशित किया है और उसके लिए मैंने एक लम्बी भूमिका भी लिखी है, तो भी मेरा विचार हुआ कि यदि एक-एक विषय के सभी लेखों का अलग-अलग संग्रह छापा जाये और आरम्भ की छोटी-सी भूमिका में उन लेखों का संक्षिप्त अर्थ दे दिया जाये, जिससे पाठक उस विषय पर उनके विचारों को थोड़े शब्दों में जान लें और तब उनका विस्तारपूर्वक उनके अपने शब्दों में एक जगह अध्ययन करें, तो अच्छा होगा। इसलिए, मैंने उन लेखों को कई विभागों में बांटा, जैसे—अहिंसा, स्वराज्य, सत्याग्रह, शिक्षा, खादी इत्यादि। फिर प्रत्येक विषय पर छोटा लेख लिखा जिसमें उनके विचारों का सारांश था। लेखों को चुन लिया। कुछ मित्रों ने अलग-अलग उनकी नकल भी तैयार कर दी। मेरी भूमिका भी पूरी हो गयी। इसी समय मैं छूट गया।

बाहर आने पर समय न मिला कि उसे फिर एक बार देखकर छपवाऊं। गांधीजी से भेंट होने पर उनसे पूछा कि ऐसा करना क्या वह पसंद करेंगे? उन्होंने अपनी अनुमति दे दी। यह भी कहा कि कुछ दिन पहले किसी ने गुजराती में ऐसा ही संग्रह छापा भी है। कुछ और मित्रों ने भी इसे पसंद किया। विशेषकर पुरूलिया के श्री निवारणचन्द्र दासगुप्त ने इसे बहुत पसंद किया था। उन्होंने भूमिका में कुछ सुधार भी बतलाये थे, जिनको मैंने मान लिया था। 1931 में यह चीज प्रेस में न जा सकी। जब 1932 में फिर हम लोग गिरफ्तार हो गये तो सदाकत आश्रम भी जब्त हो गया। बस, फिर वह लिखी हुई चीज मुझे नहीं मिली। न मालूम कहां रखी गयी और किस तरह गायब हो गयी!

जेल के अंदर चर्खा चलाने और उद्योग-धंधे के अलावा धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन भी हुआ करता था। छपरे के पं. भरत मिश्रजी भी साथ थे। उनसे श्री वाल्मीकीय रामायण की कथा और पं. विष्णुदत्त शुक्ल से दुर्गा सप्तशती की कथा सुनी। स्वयं पहले-पहल मुख्य उपनिषदों को आद्योपांत पढ़ गया।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हजारीबाग जेल में सूबे के प्रायः सभी जिलों के प्रमुख कांग्रेसी लोग भेजे गये थे। मैं बराबर सूबे में बहुत दौरा किया करता था। अधिकतर कांग्रेस कार्यकर्ताओं को जानता था। पर जेल में जितने दिनों तक एक साथ रहने का मौका मिला उतना कभी बाहर नहीं मिला था। वहीं स्वामी भवानीदयाल के साथ बहुत दिनों तक रहकर एक-दूसरे को जानने-पहचानने का मौका मिला। वह स्मृति सदैव एक मीठी स्मृति बनी रहेगी। मुजफ्फरपुर जिले के ठाकुर नवाबसिंह एक पुराने विचार के वयोवृद्ध सज्जन

थे—अथवा यों कहें कि अंगरेजी शिक्षा से अनभिज्ञ, तो बेहतर होगा। गांधीजी के असहयोग आन्दोलन ने गांवों में बहुतेरों को प्रभावित किया था। बिहार में विशेषकर गांवों के लोगों पर ही अधिक प्रभाव पड़ा था। इसके विपरीत पास के ही सूबे युक्तप्रांत में अधिक प्रभाव शहरों पर पड़ा था। चम्पारन में गांधीजी के काम से देहात के लोग परिचित हो गये थे। इसलिए किसानों में, जो अधिकतर गांवों में ही रहते हैं, उनका बहुत प्रभाव था। उसी प्रभाव में पड़कर ठाकुर नवाबसिंह इस आन्दोलन में शुरू से ही आ गये थे। आये भी तो अकेले नहीं। उनके लड़के, भतीजा, पोता—सब-के-सब साथ आये। सीतामढ़ी सबडिवीजन में जो कुछ होना हो, जो कुछ करना हो, ठाकुर नवाबसिंह पर उसका भार पड़ता। वही नेतृत्व करते। आधुनिक रीति से शिक्षित न होकर वह इतने समझदार थे कि सब बातों को जल्द समझ लेते। कांग्रेस की आज्ञा को पूरा करने और कराने में यथासाध्य खूब चेष्टा करते। वह भी अपने पुत्र के साथ उसी जेल में थे। उनको भी अधिक जानने का सुअवसर मुझे वहीं मिला। उन्होंने अपने जीवन के अंत तक अपना विचार दृढ़ रखा। 1942 के अगस्त में, गांधीजी और दूसरों की गिरफ्तारी के बाद, जो हलचल शुरू हुई उसमें वह उसी उत्साह, निर्भीकता और दृढ़ विश्वास के साथ शरीक हुए जिसके साथ वह शुरू में आन्दोलन में आये थे। सीतामढ़ी नेपाल के निकट है। वह पुलिस की धांधली से बचकर काम करने के लिए नेपाल की तराई में चले गये। वहीं से कांग्रेस का काम करते रहे। वहीं बीमार पड़े और हमने जेल में सुना कि उनका देहावसान हो गया।

स्वामी सहजानन्द भी जेल में थे। बहुतेरे लोग उनसे गीता पढ़ते थे। मेरी भी इच्छा थी, पर समयाभाव से यह पूरी न हुई। पर सबसे अधिक मेरी घनिष्ठता श्री निवारणचन्द्र दासगुप्त से बढ़ गयी। वह एक साधु प्रकृति के पुरुष थे। उन्होंने गांधीजी के असहयोग आन्दोलन को केवल एक राजनीतिक आन्दोलन ही न मानकर धार्मिक उत्थान का एक साधन भी माना था। उनके साथ हम लोगों ने पतंजलि के योगसूत्र का अध्ययन किया। वहीं उनकी विद्वता और गम्भीर गवेषणा-शक्ति का पता चला। यह भी मालूम हुआ कि उन्होंने किस तरह अपने जीवन को उन शास्त्रीय नियमों के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया है। कुछ दिनों के बाद क्षय-रोगग्रस्त होकर वह एक ऐसा स्थान खाली छोड़ गये जिसकी अभी तक पूर्ति नहीं हुई है।

जेल में कुछ बातों में आपस की सुखद प्रतिद्वंद्विता भी हुई। कुछ लोगों ने 'बंदी' या 'कैदी' नाम का एक हस्तलिखित मासिक पत्र निकाला। दूसरों ने 'कारागार' नाम का दूसरा मासिक निकाला, जिसमें यह लिखा कि कैदी या बंदी तो आते-जाते रहते हैं, बदलते रहते हैं; पर कारागार तो स्थायी रूप से चलता ही रहता है। इन पत्रों में राष्ट्रीय आन्दोलन संबंधी लेख लिखे जाते थे। एक विशेषांक में सभी जिलों के प्रमुख कार्यकर्ताओं से, अपने-अपने जिले में आन्दोलन की प्रगति पर, लेख लिखवाये गये। मेरा ख्याल है कि उससे बहुत-कुछ ऐसा

मसाला मिलता जिससे आन्दोलन का इतिहास लिखा जा सकता। याद नहीं, वह विशेषांक कहां है। इन पत्रिकाओं के मुख्य प्रबंधक और लेखकों में सर्वश्री स्वामी भवानीदयाल, गंगया के बाबू मथुरा प्रसाद सिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी और उत्साही युवक महामाया प्रसाद थे। एक-दो अंकों में कुछ चित्र भी थे जिनके बनाने या बनवाने का श्रेय गिद्धौर के कुमार कालिका प्रसाद सिंह को था।

इस जेल-यात्रा में हमको जेल की बातों का विशेष ज्ञान या अनुभव नहीं हुआ; क्योंकि एक तो अपने ही लोग इतने थे कि दूसरों की ओर ख्याल अधिक गया ही नहीं; दूसरे, मामूली कैदियों से मिलने का बहुत मौका भी न मिला। हम लोगों के काम कर देने के लिए जो कैदी मिलते थे, अथवा जब मैं कारखाने में नेवार या कपड़ा बुनने जाया करता तो वहां जो कैदी काम करते थे, बस उनसे ही मुलाकात होती थी, दूसरों से नहीं। पर इनमें जो मिले उनमें बहुतेरे अच्छे भी मालूम पड़े। किसी-न-किसी कारण से वे जेल चले आये थे। पर उनमें मामूली तौर पर कोई ऐसी बात नहीं नजर आती थी जिसके लिए उन्हें लम्बी सजा का मिलना उचित मालूम हो। इस संबंध में पीछे अनुभव प्राप्त हुए, जिनका जिक्र किसी दूसरे अवसर पर किया जायेगा।

हम लोगों को शुरू में कोई अखबार नहीं मिलता था, जिसकी जरूरत सभी बहुत महसूस करते थे। पर जेल एक ऐसी जगह है जहां प्रबंध करने पर सब कुछ मिल सकता है! इस विशेष प्रबंध के लिए लोगों ने एक विशेष शब्द खोज निकाला। उसे 'तिकड़म' कहते हैं। कुछ लोग 'तिकड़म' से कभी-कभी कोई-न-कोई अखबार मंगा ही लेते थे। उसे पढ़कर छपी खबरों को दूसरों तक पहुंचा देते थे। कुछ दिनों के बाद एक सज्जन सबकी राय से कहीं से अखबार प्राप्तकर पढ़ लेते और सबको खबर सुना देते। जब खबर सुनाने का समय आता, सभी लोग उत्सुकतापूर्वक उनकी बाट जोहते। उनकी स्मरणशक्ति और कहने का ढंग भी ऐसा था कि सब लोग बहुत प्रसन्न हो जाते। गवर्नमेंट ने कुछ दिनों के बाद अखबार देना मंजूर किया। पर जैसा उसका सब काम हुआ करता है, दिखाने के लिए तो कहा गया कि अखबार दिये जाते हैं; पर हम लोगों को मिलता था सप्ताह में एक ही अखबार एक ही बार, और वह भी 'स्टेट्समैन' का साप्ताहिक संस्करण! वह विदेशों के लिए छपा करता था! उसमें विशेषकर ऐसे विचार रहा करते थे, जिनके जानने की उत्सुकता हम लोगों में शायद ही किसी को होगी। खबरें उसमें केवल ऐसी होतीं जिनमें विदेशी पाठकों की ही अधिक दिलचस्पी हो सकती थी और जो एक सप्ताह पुरानी भी होतीं। भारत में रहने वालों को, विशेषकर सत्याग्रहियों को, उन खबरों से कोई लाभ नहीं। चाहे विधान के रूप में हो, चाहे किसी दूसरे प्रकार के सुधार के रूप में हो, ब्रिटिश सरकार जो सहूलियतें देने की घोषणा करती है, उनकी अधिकतर यही हालत हुआ करती है! कहने के लिए एक चीज दी तो गयी, पर जिसमें कोई सार नहीं, असली तत्व नहीं। इन्हीं चीजों से जेल का समय कटता था।

92

गोल-मेज कांफ्रेंस और पं. मोतीलाल नेहरू की मृत्यु

उन्हीं दिनों, मेरे हजारीबाग पहुंचने के कुछ ही दिनों बाद, लंदन में होने वाली गोल-मेज कांफ्रेंस की बात छिड़ी। सबसे पहले पंडित मोतीलालजी से हुई मुलाकात की बात मिस्टर स्लोकोम्ब ने प्रकाशित की। उसके बाद सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर बीच-बचाव करने लगे। उनके ही बीच-बचाव से पंडित मोतीलाल, पंडित जवाहरलाल और डाक्टर महमूद से—जो नैनी जेल से पूना ले जाये गये जहां महात्मा गांधी और वर्किंग कमिटी के कुछ दूसरे मेम्बर थे—बातें हुईं। पर पटरी नहीं बैठी और मामला टूट गया। मैंने अपने लोगों में, जो हजारीबाग जेल में थे, एक बात देखी। जब समाचारपत्रों में समझौते की कोई खबर छपती तो उसे वे बहुत उत्सुकता से पढ़ते और सभी बातों पर आपस में बहुत बहस करते। ऐसा मालूम होता कि उनमें से बहुतेरे समझौते के लिए उत्सुक हैं। हां, कुछ लोग अवश्य ऐसे थे जो इस बात पर डटे रहते थे कि जब तक स्वराज्य संबंधी संतोषजनक बात न तय पावे, समझौता नहीं होना चाहिए। पर दूसरे ऐसे लोग भी थे जो समझते थे कि गोल-मेज कांफ्रेंस में कुछ-न-कुछ संतोषजनक बात हो जायेगी, इसलिए इस समय यहां अधिक झगड़ा न उठाकर वहां जाना स्वीकार कर लेना चाहिए। जब समझौता न हो सका तो ऐसे लोगों को वह जरूर नापसंद हुआ।

दिसम्बर में जेल से छूटकर मैं सीधे बम्बई गया; क्योंकि उस समय बम्बई ही एक प्रकार से आन्दोलन का केंद्र हो रहा था। वहां आजाद मैदान में सभाएं होतीं और लाठियों द्वारा भंग की जातीं, बहुतेरे घायल होते। सब लोगों की सेवा-शुश्रूषा का प्रबंध कांग्रेस अस्पताल में था। वहां का रूई बाजार बहुत दिनों तक बंद रहा। दूसरे प्रकार से वहां की जनता आन्दोलन में खूब भाग ले रही थी। वहां जाकर मैं सब लोगों से मिला। सरदार वल्लभभाई से भी भेंट हुई।

बिहार में चौकीदारी-टिकस बंद करने का कार्यक्रम चल रहा था। गवर्नमेंट सख्ती से उसे दबा रही थी। जिससे दो-चार आने का भी पावना रहता उसका बहुत माल बरबाद कर दिया जाता। जहां किसी गांव के लोगों ने टिकस बंद किया, गांव ही लूट लिया जाता। मैंने

एक गांव के संबंध में जानकारी हासिल की जो हम लोगों की ही जमींदारी में था। वहां पुलिस ने जाकर एक आदमी को गोली से मार डाला था और दूसरों को खूब पीटा था। एक दूसरे गांव में मैंने खुद जाकर देखा था; वहां घर में घुसकर गल्ला रखने की कोठियां तोड़ डाली गयी थीं, सभी बासन-बर्तन चूर कर दिये गये थे, यहां तक कि चारपाइयों की बुनावट काट दी गयी थी, मकान के लकड़ी के खम्भे भी काट दिये गये थे। एक गांव की यह कैफियत थी कि पुलिस के चले जाने के बाद वहां गाव में न एक घड़ा था और न एक रस्सी, जिससे लोग कुएं से पानी निकालकर प्यास बुझा सकें। इस तरह की बातें अनेक गांवों में हुई थीं। हमारी गैरहाजिरी में अनेक जगहों में गोली भी चली थी। दमन बहुत जोरों से चल रहा था। पीछे जब गवर्नमेंट ने यह देखा कि केवल जेल जाने से लोग नहीं डरते तो जुर्माना करना शुरू किया। जुर्माने की अच्छी-अच्छी रकमों की वसूली में घर वालों के साथ ज्यादतियां की जातीं, एक के बदले दस का माल बर्बाद किया जाता। हाइकोर्ट में किसी ने अपील कर दी तो एक ऐसा फैसला हो गया कि हिन्दू के संयुक्त परिवार में एक आदमी के कसूर के लिए सारे परिवार का संयुक्त धन नीलाम या जब्त नहीं किया जा सकता। इससे कुछ रुकावट पड़ी, तो भी जुर्माना और चौकीदारी-टिकस न देने के कारण जो लूटपाट होती उससे लोगों में आतंक-सा फैलता दीख पड़ा। किंतु इतने पर भी आन्दोलन चल ही रहा था, कहीं भी रुका नहीं था।

प्रायः इसी समय पंडित मोतीलालजी रिहा हो गये। उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था। मैं प्रयाग जाकर उनसे मिला। वह इलाज के लिए कलकत्ता गये। कुछ दिनों तक वहां ठहरकर प्रयाग वापस आये। उन्होंने आन्दोलन-संचालन का भार अपने ऊपर ले लिया था, यद्यपि वह अस्वस्थ थे। मैं उनकी आज्ञा के अनुसार काम करता। इस समय कांग्रेस की वर्किंग कमिटी को गवर्नमेंट ने गैरकानूनी करार दे दिया था। इसी तरह प्रांतीय तथा दूसरी बहुतेरी कमिटियां भी गैरकानूनी हो गयी थीं। इसलिए वर्किंग कमिटी की बाजाब्ता बैठक गैरकानूनी थी, पर बेजाब्ता तौर पर हम लोग बैठक कर सकते थे। उधर इंग्लैंड में गोल-मेज कांफ्रेंस का काम प्रायः समाप्त हो चुका था। कुछ काम आगे न बढ़ा। प्रधानमंत्री मैकडोनाल्ड ने एक भाषण देकर उसे स्थगित किया—उसमें गोल-गोल बातें थीं! उन लोगों की इच्छा जान पड़ी कि कांग्रेस को कांफ्रेंस में शरीक करने का एक और प्रयत्न किया जायेगा। इस भाषण के कुछ पहले ही पंडितजी की राय से वर्किंग कमिटी के वे मेम्बर प्रयाग बुलाये गये जो बाहर थे। सबके पास पत्र भेज दिये गये। इसकी सूचना अखबारों में नहीं दी जा सकती थी और दी भी नहीं गयी थी। लाहौर में पुलिस ने एक सदस्य की तलाशी ली। उनके पास वह पत्र मिल गया। यह बात अखबारों में छप गयी। हम लोगों ने देख लिया। तब तक मिस्टर मैकडोनाल्ड का भाषण पत्रों में आ गया। हम लोग सोच रहे थे कि यह बैठक यदि हुई तो सब लोग एक साथ ही गिरफ्तार कर लिये जायेंगे, जैसा पहले वर्किंग कमिटी के साथ हो चुका था। पंडितजी ने आज्ञा दी कि अखबारों में छपवा दो कि

श्री मैकडोनाल्ड के भाषण पर विचार करने के लिए वर्किंग कमिटी की बैठक अमुक तिथि पर प्रयाग में होगी। उधर मालवीयजी भी अस्वस्थ अवस्था में इसी समय छूटे। वह भी निमंत्रित किये गये।

वह दिन आ गया। वर्किंग कमिटी के जो मेम्बर आ सकते थे, प्रयाग में आ गये। हम सब समझते थे कि गैरकानूनी बैठक में सब लोग गिरफ्तार हो जायेंगे, पर पंडितजी कहते थे कि जब हम मिस्टर मैकडोनाल्ड के भाषण पर विचार करने की घोषणा कर चुके हैं तब वे गिरफ्तार नहीं करेंगे। ऐसा ही हुआ भी। उस दिन तीसरे पहर से रात को देर तक बातचीत होती रही। एक निश्चय तक हम लोग पहुंचे जिसमें हमने मिस्टर मैकडोनाल्ड के भाषण को ना-काफी समझा और उसे नामंजूर किया। पंडितजी अपनी अस्वस्थता की हालत में भी बराबर काम करते रहे, हम लोगों के हजार कहने पर भी नहीं माना। प्रस्ताव तैयार हो गया। पंडितजी का विचार हुआ कि उसे तुरंत प्रेस में दे देना चाहिए; क्योंकि ऐसा न करने से लोगों में यह जानकर ढिलाई आ जायेगी कि कुछ सुलह होने जा रही है। मैंने कहा कि इसे एक बार और देखकर सवेरे प्रेस में दिया जाये। पंडितजी ने इस बात को मान लिया। वर्किंग कमिटी की खबर इंग्लैंड पहुंच गयी थी। वहां से श्री श्रीनिवास शास्त्री, सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर का तार उसी रात हम लोगों के सो जाने के बाद पंडितजी को मिला, जिसमें उन्होंने लिखा था कि वे हिन्दुस्तान लौट रहे हैं और जब तक उनसे वर्किंग कमिटी की मुलाकात न हो ले तब तक वह कोई आखिरी फैसला न करे। दूसरे दिन सवेरे जब मैं पंडितजी से मिला, उन्होंने तार दिखलाया और कहा कि अब उस प्रस्ताव को अखबारों में मत दो, केवल इतना ही दे दो कि वर्किंग कमिटी तार पहुंचने के पहले ही फैसले पर पहुंच गयी थी, पर तार पाकर उसका प्रकाशन स्थगित रखती है। मैं इस समय प्रयाग में प्रायः बराबर स्वराज्य भवन में ही रहा करता था।

इन सब बातों का नतीजा यह हुआ कि गवर्नमेंट ने वर्किंग कमिटी के सभी मौजूदा और भूतपूर्व मेम्बरों को छोड़ दिया। जब से सत्याग्रह शुरू हुआ था, वर्किंग कमिटी के मेम्बर की गिरफ्तारी पर उसके स्थान में कोई स्थानापन्न मेम्बर बना दिया जाता था। इस तरह आरम्भ के और स्थानापन्न मेम्बरों की संख्या खाली हो गयी थी। सब-के-सब छोड़े गये। छूटते ही गांधीजी प्रयाग पहुंच गये। सब लोग बुलाये गये। वहां बातें शुरू हुईं। पंडितजी का स्वास्थ्य दिन-दिन बिगड़ता गया। जवाहरलालजी इसी कारण मीयाद पूरी होने के पहले ही छोड़ दिये गये थे। जब मैं सोचता हूं कि उस बीमारी की हालत में भी पंडितजी बराबर काम करते रहे और बार-बार रोकने पर भी नहीं मानते थे—विशेषतः उस रात को जब वर्किंग कमिटी की बैठक देर तक होती रही और प्रस्ताव बनाने-सुधारने में उन्होंने कितना परिश्रम किया—तो मैं यह समझ जाता हूं कि पंडितजी की बीमारी यद्यपि मामूली बीमारी नहीं थी और उनकी अवस्था भी काफी हो गयी थी, तथापि उन्हें यदि इतना अधिक परिश्रम न करना

पड़ता तो शायद उनकी बीमारी बढ़ती नहीं तथा देश को उनकी बुद्धिमत्ता एवं दृढ़ता से और भी कुछ दिनों तक लाभ उठाने का सुअवसर मिलता। उनके इन अंतिम दिनों में उनके साथ रहने का सौभाग्य मैं अपने लिए बड़े महत्व का समझता हूं। उसी समय उनकी धीरता-गम्भीरता, मेधाशक्ति और देश-प्रेम का पूरा परिचय मुझे मिला। वह एक क्षण भी देश में चलते हुए आन्दोलन, उसकी प्रगति तथा देश के भविष्य की बात छोड़कर कुछ दूसरा सोचते नहीं थे। अपने स्वास्थ्य की कुछ भी परवाह न कर देशोद्धार की चिंता में लगे रहते।

कलकत्ते के कविराज श्री श्यामादास वाचस्पति आये, परिश्रम करने से मना करते रहे, पर पंडितजी कहां मानने वाले थे! अंत में उनकी हालत खराब हो गयी। एक दिन, चिकित्सा के लिए उनको लखनऊ ले जाने का निश्चय हुआ। पंडित जवाहरलाल आ चुके थे। वह उनको लेकर वहां गये। पंडितजी इतने खुश-मिजाज थे कि उस समय भी वह मजाक से नहीं बाज आये। चेहरे पर कुछ सूजन आ गयी थी। जब मैं उनके चलने के समय प्रणाम करने गया तो हंसते हुए उन्होंने वहां उपस्थित लोगों से कहा—मेरा चेहरा देखो, मैं Beauty Competition (सौंदर्य प्रतियोगिता) में Compete (स्पर्द्धा) करने जा रहा हूं। सब लोग जबरदस्ती मुस्कराये; पर सबके दिल में आशंका थी कि शायद अब फिर उनके दर्शन न होंगे! वैसा ही हुआ भी। लखनऊ जाते ही उनका शरीरांत हो गया। मैं अभी उनको लखनऊ के लिए रवाना करके पटने पहुंचा ही था कि यह दुखद समाचार आ गया। मैं उलटे पांव फिर प्रयाग गया; पर मेरे पहुंचने के पहले ही उनके शव का दाहकर्म किया जा चुका था।

इस समय पंडितजी की मृत्यु से सारे देश में हाहाकार मच गया, शोक उमड़ आया। देश-भर में न मालूम कितनी शोक-सभाएं हुईं। प्रयाग की सार्वजनिक शोक-सभा में मैं भी शरीक हुआ और मैंने भी कुछ शब्द कहे थे। पर देश जो क्षति अनुभव कर रहा था वह शब्दों से व्यक्त नहीं की जा सकती थी। उनके अभाव का अनुभव इस कारण और भी खलता और सालता था कि ठीक उसी समय वर्किंग कमिटी के लोग देश की परिस्थिति पर विचार कर रहे थे, गवर्नमेंट से कुछ बातचीत चल रही थी या चलने वाली थी; ऐसे ऐन मौके पर पंडितजी की दूरदर्शिता और नीतिनिपुणता से देश वंचित हो गया।

93

गांधी-अर्विन समझौता

विलायत से लौटे हुए गोल-मेज सभा के सदस्यों की मुलाकात वर्किंग कमिटी से हुई। वहां का सब हाल उन्होंने बताया। और सब चीजों के अलावा महात्माजी इस पर बहुत जोर दे रहे थे कि गवर्नमेंट को इस बात पर राजी होना चाहिए कि आन्दोलन के दबाने में उसके कर्मचारियों ने जो ज्यादतियां की हैं उनके संबंध में एक निष्पक्ष अदालत जांच करे। पर लार्ड अर्विन इस बात को सुनना भी नहीं चाहते थे। प्रयाग में ऐसा मालूम हुआ कि बातें आगे बढ़ेंगी ही नहीं, यहीं पर मामला समाप्त हो जायेगा। महात्माजी भी अपनी बात पर डटे रहे। वायसराय से उनकी भेंट की बात चली; पर जब तक गांधीजी अपनी बात पर अड़े रहते, यह होने वाली न थी। अंत में एक दिन महात्माजी ने अपनी ओर से वायसराय के पास पत्र लिखा और उनसे मिलने की इच्छा प्रकट करते हुए समय मांगा। इसी से मुलाकात का रास्ता खुल गया। दिल्ली में दोनों की मुलाकात हो गयी। हम लोग वर्किंग कमिटी के मेम्बर भी वहां बुलाये गये। मैं भी जाकर डाक्टर अंसारी के मकान पर ठहरा, जहां दूसरे लोग भी ठहरे थे। महात्माजी की मुलाकात लगभग बीस दिनों तक रोजाना होती रही। कभी-कभी तो महात्माजी दिन-दिन-भर वायसराय के यहां रह जाते, कभी-कभी बहुत रात बीतने पर वापस आते। जिस दिन वहीं रह जाते, मीरा बहन उनका भोजन ले जातीं। वहां से वापस आने पर महात्माजी हम सबको इकट्ठा करके वहां की बातचीत का सारांश कह हम लोगों की राय ले लेते। जिस दिन रात में देर करके आते और हम लोग सो गये रहते, तो भी सब उसी समय फिर उठकर उनसे सभी बातें सुन लेते।

गुजरात में किसानों की बहुत जमीन आन्दोलन में जब्त कर ली गयी थी; सरदार वल्लभभाई पटेल इस पर अड़े थे कि वह सब वापस होनी चाहिए। उधर बम्बई की सरकार इस बात को मानती न थी। अंत में, इस विषय की जांच होगी, इसी पर बात तय हुई। नमक के लिए ही सत्याग्रह आरम्भ हुआ था। महात्माजी इस पर बहुत जोर दे रहे थे कि इस संबंध में गरीबों को काफी सुविधा मिलनी चाहिए। पंडित जवाहरलालजी सारी बातचीत से असंतुष्ट थे। उनको डर था कि इस प्रकार के समझौते से देश पीछे हट जायेगा। औरों का विचार था कि संतोषजनक समझौता यदि हो सके तो अच्छा होगा, बुरा नहीं। महात्माजी रोज सवेरे टहलने जाया करते थे, मैं भी साथ जाया करता। एक दिन मैंने कहा कि ऐसा उपाय

कीजिए कि समझौता हो जाये, पर समझौता ऐसा हो जिससे हमारी हार न जान पड़े, जीत ही जान पड़े। महात्माजी हंसे और बोले कि समझौते से हार-जीत थोड़े ही मालूम होगी—यदि जीत है तो, चाहे समझौता जो भी हो, जीत है और लोग ऐसा ही अनुभव करेंगे; यदि हार हुई है तो, चाहे ऊपर से हम कुछ भी कहें, हम हारे ही हैं और लोग भी ऐसा ही समझेंगे। अंत में जो समझौते की शर्तें कलमबंद की गयीं उन पर कई दिनों तक बहुत छानबीन के साथ विचार होता रहा। महात्माजी को उधर लार्ड अर्विन के साथ उसके प्रत्येक शब्द पर विचार करना पड़ता और इधर हम लोगों के साथ भी।

लार्ड अर्विन और महात्माजी, दोनों ही, बहुत ही सहिष्णुता और धीरज के साथ, समझौते के मसविदे को अंतिम रूप दे चुके थे। जब हम लोगों से बातें हुईं तो एक वाक्य उसमें ऐसा था कि महात्माजी उसमें असत्य की गंध देखने लगे। लार्ड अर्विन के साथ बातें करने के समय उनको उन शब्दों का वह अर्थ नहीं सूझा था। जब हम लोगों से बातें होने लगीं तो हममें से किसी ने उस वाक्य का यह नया अर्थ लगाकर कुछ चर्चा की। सुनते ही महात्माजी के कान खड़े हो गये। उन्होंने गौर से फिर पढ़ा और कहा कि यह अर्थ भी हो सकता है; पर यदि यह अर्थ है तो वाक्य असत्य है। इस बीच में लार्ड अर्विन ने विलायत से समझौते की उसी रूप में मंजूरी मंगा ली। जब महात्माजी ने जाकर यह बात उनसे कही तो लार्ड अर्विन भी मुश्किल में पड़ गये। महात्माजी किसी तरह उस रूप में उसको स्वीकार नहीं कर सकते थे; क्योंकि उसमें असत्य की गंध थी। अंत में लार्ड अर्विन ने उस वाक्य को बदल दिया और महात्माजी ने इस संशोधित रूप में उसे स्वीकार कर लिया। बात तय हो गयी। मैं तो समझौते से खुश था। पंडित जवाहरलालजी को छोड़कर प्रायः सभी सदस्य खुश थे। पंडितजी बहुत दुखी थे। महात्माजी ने उनको बहुत समझाया, पर उनको संतोष न हुआ।

अब तक सत्याग्रह स्थगित नहीं किया गया था। समझौते की बातचीत चल रही थी और सत्याग्रह भी जारी था। स्वभावतः बातचीत चलने के कारण सत्याग्रह की प्रगति धीमी पड़ गयी थी; पर इस बीच भी कई स्थानों में गम्भीर घटनाएं हो गयीं। महात्माजी ने वायसराय को उनसे अवगत करा दिया। वायसराय ने उनके संबंध में पूछ-ताछ करने का वचन भी दे दिया। समझौते पर हस्ताक्षर होते ही वर्किंग कमिटी ने सभी सूबों को आदेश दे दिया कि सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाये। गवर्नमेंट ने भी कांग्रेस कमिटियों पर से प्रतिबंध उठा लिया।

उन्हीं दिनों मेरे छोटे लड़के धन्नू की शादी की बातचीत चल रही थी। उसके लिए दिन भी मुकर्रर हो गया था। भाई ने वह दिन यह सोचकर मुकर्रर किया था कि उसके पहले ही लार्ड अर्विन से होने वाली बातचीत समाप्त हो जायेगी और मैं शादी में शरीक हो सकूंगा। पर बात बढ़ती गयी। ऐसा मालूम होने लगा कि उस दिन तक कुछ तय न हो सकेगा। मैंने खबर दे दी कि यदि बात समाप्त हो जायेगी तो मैं आ जाऊंगा, पर यदि न हुई तो मेरे लिए इंतजार न करके नियत दिन पर शादी कर दी जाये। किंतु शादी के ठीक दो दिन पहले

समझौते पर हस्ताक्षर हो गये । मैं उसी दिन जीरादेई के लिए रवाना हो गया। बरात की रवानगी से करीब पंद्रह घंटे पहले जीरादेई पहुंच गया। समझौते की शर्तों में सत्याग्रहियों की रिहाई की बात भी थी। इसलिए, मैंने कुछ मित्रों को, जो हजारीबाग जेल में थे, आमंत्रित कर दिया था; पर कोई पहुंच न सका। मैं किसी तरह बरात में शरीक हो सका।

मेरा विचार है कि लार्ड अर्विन ने समझौता सच्चे दिल से किया। वह चाहते थे कि जो बातें तय पा चुकी हैं वे ठीक-ठीक बरती जायें और पूरी की जायें। समझौते को सिविल सर्विस के लोग पसंद नहीं करते थे। उनके ही बाधा डालने के कारण इसके तय होने में इतना समय लगा था। लार्ड अर्विन ने हिन्दुस्तान में और लेबर गवर्नमेंट ने इंग्लैंड से इस पर जोर डालकर समझौता कराया। हम आशा करते थे कि एक बार बात तय हो जाने पर सब काम ठीक चलेगा और हम लोग चैन से रचनात्मक काम कर सकेंगे। पर दुर्भाग्यवश लार्ड अर्विन का समय पूरा हो गया था। वह शीघ्र ही, एक-ड़ेढ़ महीने के बाद ही, चले जाने वाले थे। उनकी जगह पर लार्ड विलिंगडन वायसराय होकर आये। वह बम्बई और मद्रास के गवर्नर रह चुके थे। हिन्दुस्तान से उनका बहुत पहले का परिचय था। सिविल सर्विस की गतिविधि से भी वह खूब परिचित थे। उन्होंने आकर सिविल सर्विस का ही साथ दिया ! उनके हिन्दुस्तान पहुंचते ही हवा का रुख बदल गया। चूंकि समझौता हो चुका था, उसे खुलेआम तो वह तोड़ना नहीं चाहते थे; पर उसकी शर्तों के पूरी करने में हर तरह आनाकानी होने लगी।

हम यह मानते हैं कि यह समझौता बड़े महत्व का था। पहली बात तो यह थी कि यह पहला ही अवसर था जब ब्रिटिश गवर्नमेंट भारतीय जनता की किसी प्रतिनिधि संस्था से बातचीत और समझौता करने पर तैयार हुई थी। दूसरी बात यह थी कि नमक के संबंध में गरीबों को बहुत-सी सहूलियतें मिल गयीं। तीसरी बात यह थी कि कांग्रेस को गोल-मेज कांफ्रेंस में जाकर विधान-रचना में हाथ बंटाना था। विधान में जो संरक्षण और बचाव की शर्तें अंगरेजों के लिए रक्खी जाने वाली थीं वे अब इस दृष्टि से देखी जाने वाली थीं कि वे भारत के लिए भी हितकर हैं या नहीं और वे तभी मानी जाने वाली हों जब जनता के लिए हितकर हों। चौथी बात यह थी कि सारे भारत के लिए एक केंद्रीय सरकार को कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया था, पर प्रांतों को अपना प्रबंध करने की स्वतंत्रता होने वाली थी और इस केंद्रीकरण में देशी रजवाड़े भी शरीक होने वाले थे। इस तरह कई बातों का चित्र—धुंधला ही सही—सामने आ गया था। इसलिए, मैं तो इसका पक्षपाती था और इससे संतुष्ट भी। अफसोस यही रहा कि ब्रिटिश सरकार की ओर से यह भी, पहले की अनेकानेक घोषणाओं और प्रतिज्ञाओं की तरह, पूरा नहीं किया गया !

94

कराची कांग्रेस

दिल्ली में समझौता हो जाने के बाद कांग्रेस का अधिवेशन करना पक्का हो गया। यह निश्चय हुआ कि अधिवेशन मार्च के अंदर ही कराची में होगा। समय बहुत कम था। पर कराची के कार्यकर्ताओं ने प्रबंध करना स्वीकार कर लिया। लाहौर में बहुत सर्दी के कारण निश्चय हुआ था कि अधिवेशन दिसम्बर में न होकर फरवरी या मार्च में हुआ करेगा। इसलिए जो अधिवेशन मामूली तौर पर लाहौर कांग्रेस तक दिसम्बर में हुआ करता था उसका इस साल मार्च में होना नियमानुकूल ही था। संयोग से समझौता हो जाने के कारण जो अड़चन रास्ते में थी वह भी हट गयी। सरदार वल्लभभाई सभापति चुने गये।

लाहौर-षड्यंत्र के मुकदमे का जिक्र ऊपर आ चुका है। उसकी सुनवाई बहुत दिनों तक चली। उसका अंतिम फैसला अब हुआ। सरदार भगतसिंह को, उनके कुछ साथियों के साथ, फांसी की सजा मिली। दूसरों को लम्बी-लम्बी कैद अथवा कालापानी की सजा मिली। अनशन के कारण श्री यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु से देश में हलचल मच ही गयी थी। अब इस घटना से और भी खलबली मची। विशेषकर युवक ही इस मुकदमे में अभियुक्त थे। मुकदमे की खबरें बहुत दिनों तक अखबारों में छपती रहीं; क्योंकि मुकदमा बहुत दिनों तक चलता रहा। इससे बहुत लोग इसमें दिलचस्पी लेने लग गये थे। सरदार भगतसिंह ने बड़ी बहादुरी के साथ मुकदमे में भाग लिया था, जिसका असर भी लोगों पर बहुत पड़ा था। इसलिए फांसी की सजा से सारे देश में रोष छा गया। महात्माजी ने लार्ड अर्विन से कहा कि फांसी की सजा को बदलकर कैद या कालापानी की सजा कर दें। लार्ड अर्विन के जाने का समय भी बहुत निकट था; वह महात्माजी की बात न मान सके; उन्होंने तो समझौता ही अपने संगी-साथी अफसरों की राय के खिलाफ किया था, अब यह एक और काम उनकी राय के खिलाफ न कर सके। मामला बहुत दिनों तक यों ही टंगा रहा। लोगों को उमीद होने लगी थी कि शायद फांसी से वे बच जायें।

अंत में लार्ड अर्विन ने गांधीजी से अपनी असमर्थता प्रकट की; पर यह कहा कि यदि वह चाहें तो कांग्रेस के बाद तक वह फांसी रोक देंगे। शायद उनका मतलब था कि फांसी से क्षुब्ध होकर कांग्रेस शायद समझौते को नामंजूर कर दे अथवा कांग्रेस के समय गांधीजी से

कांग्रेस में जाने वाले रुष्ट हो जायें। वह इसे बचाना चाहते थे। पर गांधीजी ने इसे मंजूर नहीं किया। उन्होंने कह दिया कि फांसी से उनको रिहा नहीं कर सकते तो अच्छा यही होगा कि जो कुछ करना हो, कांग्रेस के पहले ही कर दिया जाये; क्योंकि ऐसा न करने से देश और कांग्रेस के साथ धोखा होगा। ऐसा ही हुआ। कांग्रेस के ठीक पहले फांसी हो गयी। यह खबर पत्रों में छपी। उसके साथ यह खबर भी छपी कि शव के साथ भी बे-उनवानी की गयी। इससे लोगों में बहुत क्षोभ पैदा हुआ। युवक लोग गांधीजी से भी असंतुष्ट हुए। वे लोग यह नहीं समझ सकते थे कि गांधीजी से जो कुछ हो सका, उन्होंने किया और यदि वह सरदार भगतसिंह को न बचा सके तो इसमें उनका दोष नहीं था। कराची के रास्ते में गांधीजी के सामने विरोध प्रदर्शन किया गया। कहीं तो लोग कपड़े के काले फूल, अपना शोक और गुस्सा दिखलाने के लिए, गांधीजी को देने के लिए ले आये। उन्होंने उन फूलों को स्वीकार किया और जरा भी अपनी ओर से क्रोध अथवा घबराहट के चिह्न नहीं दिखलाये।

कराची कांग्रेस में भी बराबर इसी प्रकार की सनसनी रही। इसका यह अर्थ नहीं था कि लोग गांधीजी के प्रति अनादर का भाव रखते हों। जब सुबह-शाम खुले मैदान में वह प्रार्थना करते, वहां जनता की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी हो जाती। उनके दर्शनों के लिए वैसी ही भीड़ हुआ करती जैसी कहीं भी हुआ करती थी। पर लोगों के दिल को जो चोट पहुंची थी उसके प्रदर्शन का यह एक रास्ता मिल गया, जिससे लोग अपनी मनोव्यथा व्यक्त कर सके। इस मनोव्यथा का एक विशेष कारण था। सरदार भगतसिंह और उनके साथियों की बहादुरी के लिए तो दर्द था ही, उनके विरुद्ध यह भी अभियोग था कि उन्होंने उस अंगरेज अफसर को मारा था, जिसके संबंध में समझा जाता था कि उसी ने साइमन कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन में लाला लाजपतराय पर लाठी चलायी थी, जिससे अंत में उनकी मृत्यु हो गयी थी। जो हो, कराची का अधिवेशन बड़े मार्के का हुआ।

लाहौर में ही निश्चय हुआ था कि जब कांग्रेस फरवरी-मार्च में होगी तो वह संध्या के समय हो सकेगी और इसलिए पंडाल पर छाजन की जरूरत न होगी। इस तरह खुले मैदान में आसमान के नीचे कांग्रेस का यह पहला अधिवेशन था। संध्या से आरम्भ होकर रात को देर तक बैठक होती। दिन में विषय निर्वाचिनी समिति की बैठक सायेदार पंडाल में होती। इससे पंडाल बनाने का खर्च बच गया, पर उसके बदले में रोशनी का प्रबंध काफी करना पड़ा। दृश्य बहुत सुंदर था। उस समय बिलकुल नया होने के कारण बहुत हृदयग्राही भी था। उत्साह का तो कोई ठिकाना न था। सत्याग्रह के बाद यह पहला अधिवेशन था। लोग इस बात को नहीं भूल सकते थे कि सत्याग्रह के फलस्वरूप ब्रिटिश गवर्नमेंट ने कांग्रेस के साथ सुलह की है। बहुतेरे ऐसे लोग थे जो सत्याग्रह में कैद हुए थे और उस सुलहनामे के कारण समय से पहले ही छूटे थे। यद्यपि अभी बहुतेरे नहीं छोड़े गये थे और जिनके छूटने के संबंध में लिखा-पढ़ी चल रही थी अथवा किसी कारण जिनको सरकार सुलहनामे की शर्तों

के अंदर छोड़ने योग्य नहीं समझ रही थी। तो भी समझौते के कारण मुक्त सत्याग्रहियों की खासी संख्या वहां पहुंच गयी थी। लाहौर षड्यंत्र केस के अभियुक्तों को फांसी और सजा का भी असर पड़ा ही था। इन सबका नतीजा वहां की बहस और बातचीत में झलक जाता था।

कराची में दो मुख्य प्रस्ताव हुए। एक प्रस्ताव तो समझौता संबंधी था, जिसमें समझौता मंजूर किया गया। इस पर बहस काफी हुई। समय भी इसमें बहुत लगा। दूसरा प्रस्ताव बड़े महत्व का था। उसमें स्वराज्य-प्राप्त भारत के लिए कार्यक्रम का खाका बताया गया था। इसने एक प्रकार से भारतीयों के मौलिक अधिकारों को, जिनमें आर्थिक स्वतंत्रता की भी कुछ बात आ गयी है, पहले-पहल कांग्रेस के मंच से घोषित किया। नेहरू रिपोर्ट में कुछ बातें इस प्रकार की थीं; पर जितना स्पष्ट और विस्तृत यह खाका था, विशेषकर आर्थिक विषयों को लेकर, उतना नेहरू रिपोर्ट में नहीं था। इस प्रस्ताव के श्रीगणेश का श्रेय पंडित जवाहरलाल नेहरू को ही है। महात्माजी ने और सरदार वल्लभभाई ने उनकी ही राय मानकर इसे स्वीकार किया। यह एकबारगी नया विषय था जिस पर बहुत विचार-विमर्श नहीं हुआ था। विषय निर्वाचिनी के समक्ष भी, जल्दी में और अधिवेशन की समाप्ति के समय ही, पेश हुआ। वहां लोगों को इसकी शिकायत हुई कि इतने बड़े निश्चय पर पहुंचने के पहले प्रतिनिधियों को सोचने-विचारने का पूरा समय नहीं दिया गया। इसलिए प्रस्ताव को कांग्रेस ने स्वीकार तो कर लिया; पर उसके साथ एक बात जोड़ दी। वह बात यह थी कि इस प्रस्ताव पर सभी प्रांतीय कमिटियां अपने विचार प्रकट करें और एक उप-समिति उन पर विचार करके अखिल भारतीय कमिटी में उचित संशोधन पेश करे तथा अखिल भारतीय कमिटी इसे उचित संशोधन के साथ अंतिम स्वीकृति दे।

कराची कांग्रेस में यह भी तय हुआ कि गवर्नमेंट यदि बुलायेगी तो गोल-मेज कांफ्रेंस में कांग्रेस के प्रतिनिधि भी शामिल होंगे। उस समय यह नहीं निश्चय हुआ कि कितने प्रतिनिधि होंगे और इस संबंध में गवर्नमेंट से हमारी क्या मांग होगी। कांग्रेस का पूर्ण स्वतंत्रता संबंधी प्रस्ताव पास हो ही गया था और आगे के लिए विधान कैसा हो, इसका भी थोड़ा स्पष्टीकरण समझौते में तथा कराची के प्रस्तावों द्वारा हो गया था। सोचा गया था कि और जो कुछ होगा उसके मुताल्लिक वर्किंग कमिटी तथा अखिल भारतीय कमिटी आदेश देगी। बातचीत चलने पर महात्माजी की राय वर्किंग कमिटी में हुई कि अगर जाना पड़ा तो कांग्रेस अपना प्रतिनिधि केवल उनको ही भेजे। वहां हाथ गिनकर कुछ होने वाला नहीं है। यदि वे लोग बात मानने वाले होंगे तो एक आदमी काफी होगा। यदि न मानने वाले होंगे तो भारी भीड़ भी उनको मजबूर न कर सकेगी।

95

तिरंगे झंडे का राष्ट्रीय रूप

कराची से लौटने पर मेरा बहुत समय उन सत्याग्रहियों के मुक्त कराने के लिए पत्र-व्यवहार में लगा जो अब तक जेलों में बंद थे। इसी तरह अपने-अपने सूबे में सभी लोगों को बहुत लिखा-पढ़ी करनी पड़ी। समझौते की शर्तों में हमको तो केवल सत्याग्रह बंद कर देना था। उसे हमने एक घोषणा निकालकर और सभी मातहत कमिटियों को आदेश भेजकर पूरा कर दिया। पर सरकार को तो बहुत बातें करनी थीं। लार्ड अर्विन के चले जाने के बाद उसमें बहुत आनाकानी हुई। महात्माजी तथा कांग्रेस के अध्यक्ष सरदार वल्लभभाई पटेल अखिल भारतीय विषयों पर भारत सरकार के साथ पत्र-व्यवहार करते रहे। स्थानीय प्रश्नों पर प्रांतीय कमिटी के लोग प्रांतीय सरकारों से लिखापढ़ी और बातचीत करते रहे। महात्माजी को इस संबंध में सरकारी कर्मचारियों से भेंट भी करनी पड़ी। मुझे भी अपने सूबे में चीफ सेक्रेटरी मिस्टर हैलेट और प्रांतीय गवर्नर सर स्टिफेन्सन से भेंट करनी पड़ी थी। बहुत बातों में सफलता भी मिली। पर इसमें इतना समय लगा और इतनी झंझट हुई कि जी ऊब गया। वहां हमने समझा कि जिसको हम स्पष्ट और निश्चित समझते थे वह किस तरह अस्पष्ट और अनिश्चित कर दिया जाता था। आज इसके उदाहरण याद नहीं हैं; पर उस समय के समाचारपत्रों के देखने से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो जायेगी। उत्साह की केवल एक ही बात थी; वह यह कि पटना कैम्प-जेल या दूसरी जेलों से दल-के-दल बंदी छूटकर सदाकत आश्रम में आते और एक रात या कुछ समय ठहरकर भोजन आदि करके नेताओं की जय मनाते हुए अपने-अपने घरों को चले जाते थे। घर जाने का रेलभाड़ा वगैरह तो उन्हें सरकार से मिल जाता था, मगर कुछ मदद प्रांतीय कोष से भी मुझे देनी पड़ी। स्वराज्य के देशभक्त सैनिकों की यह लहर चित्त के उद्वेग को कुछ-कुछ शांत करती रही।

कुछ दिनों के बाद बम्बई में वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। उस समय एक महत्व का प्रश्न यह भी था कि हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर कांग्रेस का क्या रुख होगा? कलकत्ता कांग्रेस के बाद ही बहुतेरे मुसलमान कांग्रेस से अलग हो गये थे। वे मुसलमानों की अलग संस्था कायम करके अपनी मांगें पेश कर रहे थे। मिस्टर जिन्ना की चौदह मांगें मशहूर हो चुकी थीं। गवर्ममेंट द्वारा की जाने वाली गोल-मेज कांफ्रेंस में शरीक होने के पहले हमें अपने

विचार तो साफ कर लेने चाहिए। इस विषय पर उस अधिवेशन में विचार हुआ। मैं बम्बई पहुंचकर बीमार पड़ गया। इसलिए, यद्यपि मैं जिस कमरे में था उसके पास के ही कमरे में बैठक हो रही थी तथापि, मैं शरीक न हो सका। वहां पर यह निश्चय किया गया कि कांग्रेस मुसलमानों तथा दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के साथ वैसा ही समझौता कर सकती है जो राष्ट्रीय भावना का विरोधी न हो— हां, यदि और सब जातियां किसी समझौते को मान लें तो कांग्रेस भी उसे स्वीकार कर लेगी। समझौते के मुख्य सिद्धांतों की गणना भी संक्षेप में उसमें दे दी गयी थी। इसे वर्किंग कमिटी के मुसलमान मेम्बरों ने स्वीकार ही नहीं किया था, बल्कि उनके ही जोर से वर्किंग कमिटी ने उसे तैयार किया और माना था। वे चाहते थे कि जब दूसरे लोगों ने बहुत बातें कही हैं तो कांग्रेस को भी अपना विचार स्पष्ट कर देना चाहिए, ताकि देश के लोगों को वे बातें मालूम हो जायें और कांग्रेस-प्रतिनिधि को जहां मौका मिले वहां उन्हें अधिकारपूर्वक कह सकें तथा पेश कर सकें।

अखिल भारतीय कमिटी की एक महत्वपूर्ण बैठक हुई, जिसमें मौलिक अधिकारों वाले कराची के प्रस्ताव पर विचार किया गया। सब-कमिटी ने अपना काम पूरा किया था, सभी प्रांतीय कमिटियों की सम्मति प्राप्त करके अपनी रिपोर्ट तैयार की थी। कोई विशेष महत्वपूर्ण संशोधन नहीं हुआ। कुछ मामूली बातें जोड़-घटाकर मौलिक अधिकार उस अधिवेशन में स्वीकृत हो गये।

उस समय एक और झगड़ा चल रहा था। राष्ट्रीय तिरंगा झंडा कभी बाजाब्ता मंजूर नहीं हुआ था; पर 1921 से ही यह प्रचलित हो गया था। उसमें तीन रंग के कपड़े होते थे। सबसे नीचे लाल, उसके ऊपर हरा और सबके ऊपर सफेद; बीच में चर्खे का चित्र होता। गांधीजी ने और दूसरे लोगों ने तीन रंगों का अर्थ बता दिया था जिसे सब लोगों ने मान लिया था। लाल रंग हिन्दुओं का सूचक था और उनकी संख्या सबसे अधिक होने के कारण सबके आधार-स्वरूप वही सबसे नीचे था। उसके बाद मुसलमानों की संख्या है, इसलिए लाल के ऊपर उसका हरा रंग आता था। सफेद रंग में सभी लोग सम्मिलित थे; उनकी संख्या हिन्दू और मुसलमान से कम होने के कारण वह सबसे ऊपर रखा गया था। हम अहिंसात्मक तरीकों के द्वारा ही स्वराज्य-प्राप्ति करना चाहते थे, इसलिए बीच में उसका चिह्न चर्खा दिया गया था। इससे सिक्खों को असंतोष था। वे कहते थे कि उनके लिए एक अलग रंग होना चाहिए और झंडे में उसको भी स्थान मिलना चाहिए। उन लोगों ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन में काफी भाग लिया था। एक जीती-जागती अल्पसंख्यक जाति उनकी है। यद्यपि हिन्दू महासभा उनको भी हिन्दू ही समझती है और ऐतिहासिक विचार से भी वे हिन्दू जाति की ही एक उपजाति हैं, तथापि वे अपने को पृथक करना चाहते थे। इस विषय पर विचार करने के लिए एक सब-कमिटी बनायी गयी। उसने अपनी रिपोर्ट पेश की और झंडे के रूप में परिवर्तन कर दिया। उसी की रिपोर्ट अखिल भारतीय कमिटी ने मंजूर कर ली। झंडा तिरंगा

ही था; पर उसके रंगों में और उनके स्थान में परिवर्तन हो गया। लाल रंग उठा दिया गया, उसके स्थान पर सुनहला केसरिया रंग कर दिया गया। सबसे नीचे हरा रंग, उसके बाद सफेद रंग और सबसे ऊपर केसरिया रहा। सफेद कपड़े पर चर्खे का चित्र। सबसे महत्व की बात यह हुई कि रंगों में जो जातिगत अर्थ लगा दिया गया था वह हटा दिया गया। अब कोई रंग किसी जाति-विशेष का द्योतक न रहा। इस पर सिख भी राजी हो गये। उनका रंग केसरिया है। यद्यपि वह झंडे की खूबसूरती के लिए लिया गया था, तथापि उनके लिए वह संतोषप्रद हुआ। देखने में भी नया राष्ट्रीय झंडा अधिक सुंदर था। इसलिए, इस प्रस्ताव से देश को केवल एक अधिक सुंदर राष्ट्रीय झंडा ही नहीं मिला; बल्कि रंगों के जाति-विशेष-द्योतक होने से जो एक झगड़ा खड़ा हो गया था वह समाप्त हो गया और सारे देश के सामने कांग्रेस ने बाजाब्ता अपने प्रस्ताव द्वारा झंडा उपस्थित कर दिया।

मैं इस वर्ष बिहार के कई जिलों में दौरे पर गया। लोगों को रचनात्मक काम में लगाने के विचार से ही यह दौरा किया गया था और इसमें कुछ सफलता भी मिली। एक अनुभव यहां लिख देना अच्छा मालूम होता है। जब मैं 1921 में संथाल परगना में गया था तो वहां इतना दमन हुआ था कि मुझे कहीं ठहरने की जगह मिलने में दिक्कत होती थी। वहां के पाकुर कस्बे की घटना का जिक्र पहले कर चुका हूं। इस बार मैं जिले के अंदर दूर-दूर गांवों तक गया। बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ। पाकुर में रात के नौ बजे रेल से उतरा। वहां स्टेशन पर लोगों ने दीवाली मनायी थी। रोशनी के मारे चारों ओर जगमग हो रहा था। बहुत धूमधाम के साथ शहर तक जलूस निकला। वहां के बड़े जमींदारों के यहां मैं ठहराया गया। मैंने उनकी ही मोटर पर सारे जिले का दौरा किया। उन्होंने कहा भी कि यह 1921 की कुछ मार्जना है।

96

गोल-मेज सभा में गांधीजी

गोल-मेज कांफ्रेंस के दिन नजदीक आ गये। पर अभी तक समझौते की सभी बातें पूरी नहीं हुई थीं। विशेषकर एक बात थी जिस पर सरदार पटेल का बहुत जोर था। गुजरात के गांवों में जो जमीन जब्त वा नीलाम कर ली गयी थी उसके संबंध में अभी तक जांच का काम आरम्भ नहीं हुआ था। बड़ी कठिनाई सरकार की ओर से पेश की जा रही थी। महात्माजी पत्र-व्यवहार करते-करते ऊब गये थे। इंग्लैंड से जोर था कि महात्माजी को जरूर वहां किसी-न-किसी तरह जाना ही चाहिए। महात्माजी को शिमला भी समझौते के संबंध में जाना पड़ा। मालूम होता था कि इस बार भी कांग्रेस गोल-मेज कांफ्रेंस में शरीक न हो सकेगी। अंत में सभी बातें मान ली गयीं। देर इतनी हो चुकी थी कि यदि महात्माजी उस सप्ताह के जहाज से रवाना न होते तो वहां पहुंचने में बहुत देर हो जाती। इसलिए महात्माजी को शिमले से ही सीधे बम्बई जाकर जहाज पकड़ना पड़ा। जहाज को भी उनके लिए कुछ देर तक इंतजार करना पड़ा था। विशेष प्रबंध द्वारा बड़ी मुश्किल से वह शिमले से बम्बई पहुंचाये गये।

गुजरात में जांच शुरू हुई। सरदार ने मुझे वहां बुलवा भेजा। मैं गया। बारदोली में जांच हो रही थी। श्री भूलाभाई देसाई जनता की ओर से वकालत कर रहे थे। सरकार की ओर से थे उस जिले के सरकारी वकील। मैं भी जांच-कचहरी में कभी-कभी जाता। कई हफ्तों तक जांच चलती रही। अंत में कुछ सरकारी कागज पेश करने की बात आयी, जो पेश नहीं किये गये और हाकिम ने भी इसे मान लिया। श्री भूलाभाई ने उसे इंसाफ का खातमा समझा और जांच में भाग लेने से इंकार कर दिया। इसके बाद एकतरफा सरकार के पक्ष की रिपोर्ट हो गयी। मैं वहां गया था इस ख्याल से कि सरदार को उनके काम में कुछ मदद दूं। पर उनको मेरी मदद की जरूरत ही न पड़ी। वहां के ही काम करने वाले काफी रहे। हां, कांग्रेस प्रेसिडेंट की हैसियत से उनके पास जो पत्र जाते अथवा प्रश्न पूछे जाते उनके संबंध में बातचीत हुआ करती। मैं प्रायः दो हफ्ते तक रहकर वापस चला आया। वहां रहते-रहते मैंने बिहार के पत्रों में कुछ लेख लिखे थे जिनमें गांधीजी की चम्पारन-यात्रा संबंधी कुछ बातें थीं।

महात्माजी इंग्लैंड पहुंचे। पर उनके वहां पहुंचते-पहुंचते वहां का मंत्रिमंडल बदल गया। अब वेजवुडबेन के स्थान पर सर सेमुयल होर भारत-मंत्री हुए। पर मिस्टर मैकडोनाल्ड अपने दल—लेबर पार्टी— के अधिकांश लोगों से अलग होकर प्रधानमंत्री बने रहे। यद्यपि नाम के लिए तो यह सब दलों का मंत्रिमंडल था तथापि, वास्तव में यह कांसर्वेटिव (अनुदार) दल का ही मंत्रिमंडल बना। इसलिए वहां से जो थोड़ी-बहुत उदारता की आशा की जा सकती थी उसका रास्ता भी बंद हो गया। गांधीजी ने कांग्रेस की मांग पेश की। उनकी बहुत आवभगत और खातिरदारी भी हुई। पर हिन्दुस्तान के लिए कुछ भी संतोषजनक विधान न बन सका। पं. मालवीयजी और श्रीमती सरोजिनी नायडू भी वहां आमंत्रित होकर गये थे। कांग्रेस की ओर से केवल महात्माजी ही थे और उसकी ओर से वही बोलते थे। जैसा बराबर होता आया है, दूसरे लोग सरकार के नामजद थे। चुन-चुनकर ऐसी जमायत जुटायी गयी थी जो कभी एकमत शायद हो ही नहीं सकती थी। महात्माजी ने बहुत प्रयत्न किया कि एक ही कांग्रेसी मुसलमान सही, मगर बुलाया जरूर जाये। पर गवर्नमेंट इस पर राजी न हुई। शायद दूसरे मुसलमान मेम्बरों ने इसका विरोध किया था। वहां इस बात का भी प्रयत्न हुआ कि आपस के झगड़े तय हो जायें, पर वह न हो सका। वहां शायद हो भी नहीं सकता था।

एकता तो हुई नहीं; इसके बदले में अंगरेज, मुसलमान और हरिजनों में एक प्रकार का समझौता हुआ। जब आपस में बातें तय न हो सकीं तो मिस्टर मैकडोनाल्ड ने साम्प्रदायिक मसले पर अपना फैसला दिया जिसके द्वारा मुसलमानों की प्रायः सभी मांगें पूरी कर दी गयीं। इससे हिन्दुओं और सिखों में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। इसमें हरिजनों के लिए भी अलग चुनाव की व्यवस्था थी। महात्माजी ने इसका बहुत विरोध किया था। उन्होंने अपने एक भाषण में यहां तक कह दिया था कि हरिजनों के लिए यदि अलग निर्वाचन-क्षेत्र कायम किये गये और उनको सवर्ण हिन्दुओं के चुनने में अथवा सवर्ण हिन्दुओं को उनके चुनने में भाग लेने का अधिकार न मिला, तो इस प्रकार की अलग निर्वाचन-विधि का वह तीव्र विरोध करेंगे तथा अपनी जान तक दे देने के लिए तैयार रहेंगे। ब्रिटिश सरकार को कुछ करना तो था नहीं, इसलिए आपस की फूट को बहाना बना लिया। यहां के जो लोग गये थे, इस बात को समझ गये। उन्होंने आपस में राय करके आगा खां को अपना नेता बनाकर एक संयुक्त विधान तैयार कर पेश किया। पर उनकी भी एक न सुनी गयी। तब, जैसा ब्रिटिश चाहते थे वैसे ही विधान की योजना का उन्होंने आपस में निश्चय कर लिया।

यहां हिन्दुस्तान में भी हालत दिन-दिन बदलती-बिगड़ती जा रही थी। हम समझ गये कि गवर्नमेंट कोई-न-कोई बहाना खोज रही है जिसकी आड़ में समझौते को खतम करके वह कांग्रेस से बदला लेना चाहती है। सिविल सर्विस वालों की राय तो ऐसी बराबर से ही थी। लार्ड विलिंगडन की भी यही राय थी। इसलिए अब किसी उपयुक्त अवसर का ही इंतजार

था। प्राय: दो बरसों से सभी चीजों का दाम घटता गया था—विशेषकर गल्ले का। इस वजह से किसानों को रुपये मिलने में बहुत कठिनाई हो रही थी। वे लगान अदा नहीं कर सकते थे, क्योंकि इतना पैदा ही नहीं होता था जिसे बेचकर वे लगान अदा कर सकते और अपना दूसरा जरूरी काम कर सकते। खासकर युक्तप्रांत की परिस्थिति बहुत नाजुक हो चली थी। 1930 के सत्याग्रह के समय से ही किसानों की हालत खराब हो रही थी और वहां बहुतेरे किसान कांग्रेस से आशा रखते थे कि उनको सहूलियत दिलवाने में कांग्रेस समर्थ होगी। कहीं-कहीं, विशेषकर इलाहाबाद जिले में, लगानबंदी को रोकना था; क्योंकि हमें हर प्रकार के सत्याग्रह को रोक देना था। पर वहां की स्थिति राजनीतिक ही नहीं थी, किसानों की आर्थिक स्थिति इतनी खराब थी कि वे यदि लगान अदा करने चाहते भी तो कर नहीं सकते थे। कांग्रेस सत्याग्रह तो बंद कर देती, पर उनकी इस आर्थिक असमर्थता को दूर करके उनसे लगान दिलवा देना उसके या किसी के बूते की बात नहीं थी। यदि वह लगान देने को न कहे तो समझा जाता कि समझौते को वह पूरा नहीं कर रही है। इसलिए वहां आवश्यक हो गया कि राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति को बिलगाकर, लगानबंदी का आन्दोलन—जो सत्याग्रह का अंग था—न चलाकर, किसानों की आर्थिक स्थिति के अनुसार, उनके लिए सहूलियत प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाये। ऐसा ही किया गया, पर गवर्नमेंट कब इस बात को मानने वाली थी!

उधर जमींदार भी अपनी रकम वसूल किये बिना संतुष्ट होने वाले नहीं थे। गवर्नमेंट ने लगान में कुछ माफी दी, पर वह इतनी कम थी कि उससे बहुत सहूलियत नहीं मिली। इसके अलावा किसानों ने जो थोड़ा-बहुत अदाकारी का प्रयत्न किया और कुछ दिया, उसका असर उनके लिए अच्छा न हुआ; क्योंकि जो बाकी रह गया उसी के लिए उनके खेत की जब्ती हो गयी और अपनी जमीन से वंचित कर दिये गये। पहले का बकाया ज्यों का त्यों पड़ा ही रहा। इस बात की बहुत कोशिश की गयी कि कुछ और माफी कराकर, लगान घटाकर, उनकी मदद हो। पर पहले तो गवर्नमेंट कुछ करने पर राजी नहीं होती और अगर राजी भी होती तो वह इतना कम होता कि उससे किसानों के लिए कोई सुविधा नहीं मिलती। पंडित जवाहरलाल, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और उस समय के प्रांतीय कार्यों के अधिकारी सभापति स्वर्गीय श्री तसद्दुक अहमद शेरवानी ने बहुत प्रयत्न किया कि कुछ हो जाये, पर वे नाकामयाब रहे। कामयाब हों तो कैसे हों? गवर्नमेंट कुछ और ही सोच रही थी। वह अगर कुछ करना भी चाहती थी तो उसे कांग्रेस के आग्रह से नहीं करना था; क्योंकि ऐसा होने से कांग्रेस का प्रभाव किसानों में बढ़ जाता। इसलिए हर तरह से हारकर वहां की प्रांतीय कमिटी ने निश्चय किया कि वह किसानों को परामर्श दे कि वे अपनी असमर्थता के कारण लगान न दें। यह एक प्रकार से लगानबंदी का आन्दोलन समझ लिया गया। अखिल भारतीय वर्किंग कमिटी की अनुमति के बिना वह ऐसा नहीं कर सकती थी। इसलिए उसने अनुमति मांगी।

उधर बंगाल में विकट परिस्थिति हो गयी। वहां की प्रांतीय गवर्नमेंट हमेशा क्रांतिकारी दल से आतंकित रहा करती थी और यों ही बहुतेरे युवकों को जेलों में बंद रखती आ रही थी। गांधी-अर्विन समझौते में सत्याग्रही बंदियों के छूटने की ही बात हुई थी और उनके ही छूटने में बहुत कठिनाई पड़ रही थी। गवर्नमेंट की ओर से तरह-तरह के बहाने निकाले जा रहे थे। क्रांतिकारी लोगों का तो कहना ही क्या था! इससे वहां लोग बहुत क्षुब्ध थे। इसी बीच में हिजली कैम्प-जेल में, जहां क्रांतिकारी नजरबंद और कैदी थे, एक घटना भी हो गयी, जिसमें जेल के अंदर गोली चली और कुछ बंदी घायल हुए और शायद एकाध मारे भी गये। इससे और भी खलबली मची। चटगांव में किसी पुलिस-कर्मचारी को एक क्रांतिकारी ने मार डाला। इसमें कोई हिन्दू-मुस्लिम बात नहीं थी; क्योंकि क्रांतिकारियों ने कितने ही हिन्दू पुलिस-अफसरों को भी मार डाला है। वे किसी भी सरकारी कर्मचारी को उसकी जाति अथवा धर्म के कारण नहीं मारते, बल्कि जिसको देश-द्रोही समझते हैं उसी को मारते हैं, चाहे वह किसी भी जाति व धर्म का हो। पर वहां उसको हिन्दू-मुस्लिम झगड़े का रूप दे दिया गया और वहां के हिन्दुओं के साथ बहुत ज्यादतियां की गयीं जिनमें अंगरेजों और अर्ध-गोरों का भी पूरा हाथ था। इन सब बातों से बंगाल में खलबली थी। गवर्नमेंट भी नये आर्डिनेंस निकालने में हिचक रही थी। बंगाल प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन, ब्रह्मपुर (मुर्शिदाबाद) में, वयोवृद्ध प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता श्री हरदयाल नाग के सभापतित्व में हुआ। सरदार पटेल ने श्री अणे और मुझको कांग्रेस की ओर से वहां भेजा। हम लोगों ने सम्मेलन मे शिरकत की और मैंने बंगला में भाषण भी किया। इसी प्रकार सीमाप्रांत की हालत भी कुछ अच्छी नहीं थी। वहां भी दमन चल रहा था। इस तरह जैसे-जैसे गोल-मेज कांफ्रेंस का काम समाप्त होने पर आ रहा था वैसे-वैसे यहां की परिस्थिति और भी कठिन होती जा रही थी। हम समझ रहे थे कि अब मामला फिर बिखरेगा और झगड़ा फिर होगा।

जब वर्किंग कमिटी के सामने युक्तप्रांत की दर्खास्त पर विचार होने लगा तो हम लोगों ने अपनी बड़ी जवाबदेही महसूस की। अभी तक गांधीजी लौटे नहीं थे। उनकी गैरहाजिरी में लगानबंदी आरम्भ करना हमारे लिए कहां तक उचित होगा और यदि उचित भी हो तो हम कहां तक उसे चला सकेंगे—इत्यादि, हर पहलू से कई दिनों तक हम लोग विचार करते रहे। मेरे मन में संदेह था कि वहां की जनता उस दमन को बर्दाश्त कर सकेगी वा नहीं जो लगानबंदी के कारण अवश्य होगा? बिहार में चौकीदारी-टिकस एक मामूली टिकस है, जो किसी पर भी 12 रुपये सालाना से अधिक नहीं हो सकता है तथा मामूली तरह से गरीबों पर छः या बारह आना सालाना होता है—मामूली किसानों पर एक-डेढ़ रुपया अथवा इससे कुछ ज्यादा, हैसियत के मुताबिक, हुआ करता है। इसके बंद करने पर जितनी ज्यादतियां हुई थीं, मैंने अपनी आंखों गांवों में जा-जाकर देखी थीं। अभी एक बरस भी नहीं बीता था कि यह सब देखने को मिला था। इससे मैं बहुत डरता था कि लगान बंद करने की बात बड़ी गंभीर

हुआ करती है। जमींदार का लगान बंद होने से वह सरकारी मालगुजारी नहीं दे सकेगा। इसलिए सरकारी आमदनी का एक बहुत बड़ा अंश रुक जायेगा और सरकार को भी अपना काम चलाने में अड़चन पड़ेगी। इसलिए इसके बंद किये जाने पर सरकार की ओर से भी बड़ी सख्ती होगी। मैंने इन्हीं कारणों से बार-बार इस बात को पूछा कि जनता कहां तक दमन बर्दाश्त करने के लिए तैयार होगी ? इसका कोई उत्तर निश्चयात्मक रूप से तो दिया नहीं जा सकता था; पर वहां के भाइयों ने इस बात का आश्वासन दिया कि जनता बहुत हद तक मुसीबत बर्दाश्त करने के लिए तैयार है।

सरदार पटेल का विचार था कि जब वहां की प्रांतीय कमिटी और प्रमुख लोग वहां की परिस्थिति ऐसी समझते हैं कि इसके सिवा दूसरा कोई चारा नहीं, और इसके कारण जो दमन होगा उसे भी बर्दाश्त करने के लिए जनता को तैयार मानते हैं, तो हम लोग अखिल भारतीय वर्किंग कमिटी के मेम्बर किस तरह अनुमति देने में आनाकानी कर सकते हैं ? अंत में बहुत सोच-विचारकर, बहुत प्रतिबंधों के साथ, अनुमति दी गयी। वह भी, अभी तुरंत लगानबंदी करने की नहीं, तैयारी करने की। सरकार तो इसी की ताक में बैठी थी। उसने तुरंत ही कार्रवाई शुरू कर दी। असल बात तो यह थी कि गल्ले की कीमत इतनी गिर गयी थी कि लगान अदा करना ही असंभव था। इस बात को कुछ दिनों के बाद वहां के गवर्नर हैली साहब ने खुले तौर पर स्वीकार भी किया। उन्होंने यहां तक कह डाला कि जब तक इस विषम लगान कानून का मौलिक सुधार न होगा, समाज का सारा संगठन डावांडोल रहेगा। पर उस समय कांग्रेस को दबाना ही मंजूर था; दूसरी कार्रवाई शुरू कर दी गयी।

97

सरकार का भयंकर दमन-चक्र

गोल-मेज कांफ्रेंस का काम समाप्त होते ही गांधीजी निराश होकर, हिन्दुस्तान के लिए रवाना हो गये। उनके भारत पहुंचने के दिन बम्बई में वर्किंग कमिटी की बैठक रखी गयी। सब लोग अपने-अपने सूबे से बम्बई के लिए रवाना हुए। बंगाल में दमन-चक्र चल ही रहा था। इसी बीच सीमा-प्रांत में भी खां अब्दुल गफ्फार खां, डाक्टर खां साहब और दूसरे नेता एकाएक गिरफ्तार कर लिये गये। वे अपने सूबे से बाहर नजरबंद करके जहां-तहां भेज दिये गये। युक्तप्रांत में श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और शेरवानी साहब भी गिरफ्तार हो गये। हम जिस गाड़ी से जा रहे थे उसी से पंडित जवाहरलालजी भी बम्बई जा रहे थे। डाकगाड़ी प्रयाग से थोड़ी ही दूर पर, एक छोटे स्टेशन पर ठहर गयी। वहां पहले से मोटर लेकर पुलिस वाले पहुंचे थे। पंडितजी वहीं गिरफ्तार कर लिये गये। हम लोग सीधे बम्बई चले गये।

बम्बई में महात्माजी के स्वागत की बड़ी तैयारी थी। जिन रास्तों से उनको जाना था उनके सब मकान जन-समूह से खचाखच भरे थे। सड़कें भी लोगों से भरी थीं। इस तरह की भीड़ शायद ही किसी दूसरे अवसर पर किसी को देखने के लिए इकट्ठी हुई हो। निश्चित स्थान पर पहुंचते ही गांधीजी से सभी बातें कही गयीं। वह भी समझ गये कि गवर्नमेंट अब दमन खुले तौर पर करना चाहती है। वर्किंग कमिटी की बाजाब्ता बैठक हुई। तत्कालीन परिस्थिति संबंधी एक लम्बा प्रस्ताव स्वीकार किया गया। गांधीजी ने वायसराय को तार दिया जिसमें प्रस्ताव का सारांश बताया और उनसे मुलाकात की अनुमति मांगी। यह सब हो जाने पर हम सब अपने-अपने स्थान के लिए रवाना हुए।

जब मैं रवाना होते समय महात्माजी से अंतिम विदाई लेने गया तो देखा कि मिस्टर बेन्थल उनसे बातें कर रहे हैं। वह भी गोल-मेज कांफ्रेंस में हिन्दुस्तान के अंगरेजों के प्रतिनिधि होकर गये थे। वहां पर उन्होंने मुसलमानों और अंगरेजों का गठबंधन कराने की बहुत-सी कार्रवाइयां की थीं। हम लोग तो समझ गये थे कि अब कुछ होने वाला नहीं है—बहुत शीघ्र दमन होगा और कांग्रेस को मजबूर होकर फिर सत्याग्रह करना पड़ेगा। हम लोगों में से किसी की इच्छा नहीं थी कि सत्याग्रह आरम्भ किया जाये—न इसके लिए तैयारी

थी और न मानसिक तत्परता ही। हां, हमारे मान्य साथियों को गवर्नमेंट ने अकारण गिरफ्तार कर लिया था; उनके संबंध में पहले वायसराय से बातचीत करना जरूरी था। और, जब ऐसी ही मजबूरी हो तो कुछ करना भी लाजिम था। पर गांधीजी के हिन्दुस्तान लौटने के पहले से ही यहां की गवर्नमेंट ने सब तैयारियां कर ली थीं। उसकी ओर से वार भी हो चुका था। उसकी तैयारियों की कुछ खबर हम लोगों को पहले से ही इधर-उधर से मिल गयी थी। यहां तक कि डाक्टर अंसारी को इसका भी पता चल गया था कि किस प्रकार के आर्डिनेंस जारी किये जायेंगे। उन्होंने ये बातें आपस के लोगों को बता दी थीं। अब तो बात और स्पष्ट हो गयी थी।

बम्बई से चलकर मैंने सोचा कि अब तो बिहार में भी दमन होगा ही, इसलिए अपने लोगों से एक बार मिल लेना अच्छा होगा। इटारसी जंकशन से मैंने कई तार भेजे, जिनमें बिहार प्रांतीय वर्किंग कमिटी की बैठक पटने में करने की बात के अलावा उसके मेम्बरों के लिए निमंत्रण भी थे। जब दूसरे दिन सवेरे पटने पहुंचा तो मालूम हुआ कि वहां तार पहुंचा ही नहीं है! तारों को गवर्नमेंट ने रोक लिया था! तब भी कुछ लोग पटने में पहुंच ही गये। वहां वर्किंग कमिटी की बैठक भी हमने कर ली। उस रात को महात्माजी की गिरफ्तारी हो गयी थी। उनके साथ सरदार वल्लभभाई तथा दूसरे कई प्रमुख कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गये थे। यह सब हम अखबारों में देख चुके थे और समझ गये थे कि अब हम लोगों की गिरफ्तारी भी शीघ्र ही हो जायेगी। इसलिए पटने में पहुंचते ही हमने वर्किंग कमिटी का काम कर लिया। सब लोगों के लिए आदेश तैयार करके उसे छपवाने का भी प्रबंध कर दिया। यह सब काम पूरा करके हम जब तक तैयार हुए तब तक पुलिस के आने की सूचना मिली। वह अभी सदाकत आश्रम तक पहुंची नहीं थी, पर आ ही रही थी। हम भी गिरफ्तार होने का इंतजार करने लगे। श्री रामदयालु बाबू, प्रोफेसर अब्दुल बारी तथा दो-एक और सदस्य काम खतम करके चले जा चुके थे। तिरहुत के कुछ सदस्य दोपहर के स्टीमर से दीघाघाट तक आये थे, मगर जेल के बाहर रहकर कांग्रेस का काम करते रहने के ख्याल से उधर ही रह गये।

पुलिस सुपरिंटेंडेंट कई सशस्त्र सिपाहियों के साथ आ धमके! आश्रम को उन्होंने घेर लिया। हम दो-चार आदमी जो बैठे थे उनसे वे पूछने लगे कि क्या हम वर्किंग कमिटी की बैठक कर रहे हैं? हमने स्पष्ट कह दिया कि वह काम पूरा हो चुका और बहुतेरे सदस्य जहां-तहां चले गये। उन्होंने सरकारी विज्ञप्ति दिखलायी, जिसके द्वारा कांग्रेस कमिटी और उसकी सभी शाखाएं गैरकानूनी करार दी गयी थीं। पुलिस ने पहले तो टेलीफोन अपने कब्जे में किया। फिर राष्ट्रीय झंडे के स्थान पर अपना—ब्रिटिश सरकार का—झंडा लगा दिया। तब वहां की तलाशी शुरू की। तलाशी में कोई खास चीज तो मिली नहीं, पर उसमें कई घंटे लग गये। हम सब गिरफ्तार कर लिये गये; पर अभी वहीं रहे। प्रायः दिन के एक-दो बजे से रात के आठ बजे तक हम सब वहीं

रहे। आश्रम और विद्यापीठ की सभी इमारतें जब्त कर ली गयीं। विद्यापीठ के जितने विद्यार्थी और शिक्षक वहां थे, सबको चले जाने की आज्ञा हुई। सर्वश्री ब्रजकिशोर प्रसाद, मथुरा प्रसाद, कृष्णवल्लभ सहाय, जगतनारायण बी.एस-सी. और मैं तथा प्रजापति मिश्र भी गिरफ्तार कर लिये गये। रात में नौ बजे हम लोग बांकीपुर जेल पहुंचाये गये। पुलिस की लारी में अपना सामान लेकर हम सब सवार हुए। पुलिस सुपरिंटेंडेंट भी साथ ही जेल में पहुंचे। अपना-अपना बिस्तर, बक्स वगैरह सब सामान हम लोगों को स्वयं उतारना और ढोना पड़ा। सुपरिंटेंडेंट की यही आज्ञा थी!

रात को एक गंदे 'वार्ड' में, जो खाली रखा गया था, हम लोग बंद कर दिये गये। बिछाने को कुछ कम्बल मिले। खाने के लिए बाजार से पूरी मंगी दी गयी। वहां पेशाब की इतनी बदबू थी कि हम रात-भर चैन से सो न सके। बाजार की पूरी भी कुछ वैसी ही थी जो रुचि से खाते न बनी। दूसरे दिन सवेरे अंगरेज सिविल सर्जन, जो जेल के सुपरिंटेंडेंट थे, आये। उन्होंने कहा कि यदि हम चाहें तो अपना भोजन बाहर से मंगवा सकते हैं। हम लोगों ने कह दिया कि जो कुछ जेल से मिलेगा वही हम लोग खायेंगे। वही लोहे का तसला और वही खाना मिला जो सब कैदियों को मिलता है। हम लोगों ने उसे ही खाया। दो दिनों के बाद गवर्नमेंट का हुक्म आया कि हम लोग 'अपर डिवीजन' (ऊंचे दर्जे) के कैदी समझे जायें। तब से कुछ अलग खाना मिलने लगा। दूसरे दिन से ही हम एक दूसरे वार्ड में ले जाकर रखे गये। जेल में ही हम लोगों पर मुकदमा चलाया गया। ब्रजकिशोर बाबू को 5 महीने और बाकी सबको छः महीनों की सजा मिली। चंद दिनों के बाद हम सब हजारीबाग जेल भेज दिये गये। वहीं हमने अपनी मीयाद पूरी की।

हम लोग तो गिरफ्तार हो गये। इसलिए बाहर के आन्दोलन में कुछ भी भाग न ले सकें; पर बाहर के लोगों ने बहुत काम किया। लार्ड विलिंगडन ने डींग मारी कि दो सप्ताहों में वह सारा मामला खतम कर देंगे, पर यह आन्दोलन भी प्रायः दो बरसों तक चलता रहा। उस समय तो लोगों में बहुत ही उत्साह था। न मालूम कहां से नये नेता निकल आये, जिन्होंने अपने-अपने ढंग के कार्यक्रम भी बना लिये और कानून-भंग का काम जोरों से चलने लगा। कानून तोड़ने में विशेष कठिनाई भी न थी। सरकार की ओर से सभी जगहों में सभा, जलूस इत्यादि की मनाही थी। इस हुक्म का विरोध होने लगा, सभाएं होने लगीं, जलूस निकलने लगे। सभाओं और जलूसों पर लाठियां चलतीं—कहीं-कहीं गोलियां भी चलतीं; पर वे होते ही रहे। सभी कांग्रेस कमिटियों के मकानों और आश्रमों को सरकार ने जब्त कर लिया था। उन पर लोग धावा करते, और जैसे बीहपुर (भागलपुर) के आश्रम पर पिछले सत्याग्रह में बराबर धावे होते ही रहे वैसे ही अनेक आश्रमों पर धावे होने लगे। सदाकत आश्रम पर भी रोज-रोज धावे होते रहे और लोग गिरफ्तार भी होते रहे। यहां के झंडे पर खास हमला होता रहता। 'युनियन जैक' लगे हुए लग्गे को लोगों ने आखिर झुकाकर ही छोड़ा।

यह वार गवर्नमेंट ने 4 जनवरी को आरम्भ किया था। थोड़े ही दिनों बाद 26 जनवरी को स्वतंत्रता दिवस मनाने का निश्चय लोगों ने कर लिया। उस दिन कई जगहों में गोलियां चलीं। मोतीहारी में वहां की जिला कमिटी के मकान के सामने वाले मैदान में बड़ी सभा हुई, जिसमें गांवों से भी बहुत लोग आये थे। वहां पर गोली चली और कई आदमी मारे गये, पर लोग हटे नहीं। आज भी उस स्थान पर शहीदों के नाम का चबूतरा बना हुआ है। अंत में गोली चलाना बंदकर जब पुलिस वाले चले गये, तब भी जनता वहां डटी रही। रात को वहीं रहकर लोगों ने उसी स्थान पर लिट्टी लगाकर खाया। दूसरे दिन जहां-तहां गांव वाले चले गये। मुंगेर जिले के तारापुर और बेगूसराय में भी बहुत लोग गोलियों के शिकार हुए। एक विद्यार्थी ने गोली खाकर मरते दम ये शब्द कहे—"मैं स्वराज्य के लिए मर रहा हूं, लोकमान्य तिलक के निकट पहुंचकर संदेश कहूंगा।" इस तरह की बहादुरी अनेकानेक जगहों के लोगों ने बिहार में दिखलायीं। फिर 1930 की तरह सूबे-भर के सभी जेलखाने भर गये और पटना कैम्प-जेल भी। 1930 से इस बार यही फर्क था कि जेलों में अधिक सख्ती हो गयी। 'अपर डिवीजन' में बहुत थोड़े लोग रखे गये। बिहार में ऐसे लोग यों तो पहले भी कम ही थे; पर इस बार उनकी संख्या और भी कम हो गयी। गवर्नमेंट जितनी जल्दी और तेजी से आन्दोलन बंद करना चाहती थी, न कर सकी, वह चलता ही रहा। हम लोग हजारीबाग में उसी तरह दिन बिताने लगे। नयी बात यह हुई कि इस बार हम लोगों को कारखाने में जाने की इजाजत नहीं मिली; क्योंकि समझा जाता था कि वहां मामूली कैदियों से हमारी मुलाकात होगी और हम उनको बिगाड़ या बहका देंगे। इसलिए हम इस बार उस तरह का कुछ काम नहीं कर सके; पर सूत अधिक काता गया। धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन भी खूब हुआ—कुरान-शरीफ, बौद्ध धर्म के ग्रंथ, बायबिल आदि भी पढ़े गये।

इस बार की जेल-यात्रा में एक अद्‌भुत घटना हुई। श्री महामाया प्रसाद एक बहुत स्वस्थ युवक थे। वह बहुत कसरत वगैरह किया करते थे। हम लोगों के भोजन की देख-रेख उन्हीं के जिम्मे थी। एक दिन एप्रिल में, जब गर्मी काफी हो गयी थी, वह चौके से दोपहर को आये। तबीयत कुछ सुस्त हो गयी थी। सबने समझा कि कोई मामूली-सी बात होगी। दूसरे दिन से आहिस्ता-आहिस्ता उनकी बोली बंद होने लगी। दिन में वह इस तरह बंद हो गयी कि अ-आ ऊं-ऊं भी नहीं कर सकते थे! जो कुछ कहना होता, लिखकर बताते। बातें सुनते-समझते थे, पर बोल नहीं सकते थे। वहां के डाक्टरों और सिविल सर्जन ने देखभाल की, पर कुछ कर न सके। उनकी मीयाद भी पूरी हो चली थी। इसलिए वह छोड़ दिये गये। कलकत्ते में वह इलाज कराने गये। वहां के डाक्टरों और वैद्यों की हजार कोशिश के बाद भी उनकी आवाज न खुली। सभी लोग कहते थे कि आवाज की नली में कोई कसर नहीं है, पर तो भी आवाज निकलती नहीं। यही कैफियत प्रायः दो बरसों तक रही। जब 1934 में डाक्टर अंसारी योरप गये, वह भी उनके साथ गये। वहां वियना (आस्ट्रिया) में एक विशेषज्ञ ने

इलाज किया, जिससे एक-दो हफ्तों के अंदर ही आवाज कुछ-कुछ निकलने लगी। कुछ दिनों बाद पूरा स्वस्थ होकर वह स्वदेश वापस आ गये। अब उनकी आवाज पूर्ववत् हो गयी है। बड़ी-बड़ी सभाओं में भी वह भाषण करते हैं और उनकी आवाज सब लोगों तक पहुंच जाती है।

इस प्रकार सब तरफ कानून-भंग चल ही रहा था कि एक विचित्र बात कांग्रेस के अधिवेशन के संबंध में हुई। ऊपर कह चुका हूं कि इस बार सरकार ने गिरफ्तारियां 4 जनवरी को ही आरम्भ कर दी थीं। कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मार्च में होने वाला था। उत्कल (उड़ीसा) के लोगों ने कांग्रेस को आमंत्रित किया था। वे तैयारियां भी कर रहे थे। जब एकाएक वार शुरू हो गया तो वहां के लोग भी गिरफ्तार हो गये। बिहार और उड़ीसा एक ही (सम्मिलित) प्रांत थे। इसलिए वहां के भी प्रमुख कांग्रेसी लोग, जो अपर डिवीजन में थे, हजारीबाग ही आ गये और हम सब साथ ही थे। उड़ीसा में अधिवेशन होने की बात तो अब थी नहीं; पर जो लोग बाहर थे उन्होंने सोचा कि अधिवेशन मार्च में कहीं-न-कहीं अवश्य होना चाहिए। गवर्नमेंट तुली हुई थी कि अधिवेशन वह किसी तरह न होने देगी। लोगों ने निश्चय किया कि अधिवेशन दिल्ली में होगा। उसके लिए दिन भी नियत करके घोषित कर दिया गया। पंडित मदनमोहन मालवीयजी का सभापतित्व भी घोषित हो गया। बहुतेरे लोग भिन्न-भिन्न सूबों से, किसी-न-किसी तरह, नियत दिन के पहले ही, दिल्ली पहुंचकर जहां-तहां ठहर गये। लोगों ने इस बात की भी घोषणा कर दी कि नियत तिथि पर, 10 बजे दिन को, घंटाघर के सामने, चांदनी चौक में अधिवेशन होगा। मालवीयजी दिल्ली के लिए रवाना हुए। वह सीधे रेल से दिल्ली तक नहीं गये, कहीं रास्ते से मोटर पर हो लिये। गाजियाबाद और दिल्ली के बीच में वह गिरफ्तार कर लिये गये। इसकी भी सूचना लोगों को मिल गयी। ठीक अधिवेशन के दिन भीतर-भीतर यह खबर उड़ा दी गयी कि चांदनी चौक में अधिवेशन न होकर कहीं नयी दिल्ली में होगा। यह खबर इस तरह फैलायी गयी कि पुलिस को इसी पर विश्वास हो गया। इसलिए उस दिन पुलिस की तैयारी चांदनी चौक में न होकर उस दूसरे स्थान में रही। ठीक समय पर बाहर से आये हुए प्रतिनिधि जो घंटाघर के सामने के पास की गलियों में जहां-तहां थे, चारों ओर से निकल आये। वे घंटाघर के सामने बीच सड़क पर ही जमा हो गये। कांग्रेस के नियमानुसार मनोनीत सभापति की गैरहाजिरी में अहमदाबाद के एक मिल-मालिक सेठ रणछोड़दास सभापति चुने गये। उनका छोटा-सा भाषण हुआ। एक समयानुकूल प्रस्ताव बाजाब्ता पेश हुआ और सबने मंजूर किया। यह हो ही रहा था कि पुलिस को इसकी खबर मिल गयी। घुड़सवार और दूसरे जत्थे, जो लारियों पर सवार थे, वहां पहुंच गये और उपस्थित लोगों को लाठियों द्वारा तितर-बितर कर दिया। पर इसके पहले ही सारी कार्रवाई खतम हो चुकी थी। यह खबर अखबारों में छपी। लोगों का इससे बड़ा मनोविनोद रहा। इत्तफाक से सेठ रणछोड़दास गिरफ्तार भी न हुए। मालूम

नहीं कि सचमुच उस नाम के सेठ सभापति हुए थे या यों ही उनका नाम घोषित कर दिया गया। पर इतना ठीक है कि यह अधिवेशन कांग्रेस के बाजाब्ता अधिवेशनों में नहीं गिना गया। दूसरे अधिवेशनों के सभापतियों की तरह इसके सभापति को अखिल भारतीय कमिटी की आजीवन सदस्यता नहीं मिली !

इस बार देश ने कांग्रेस का पूरा साथ दिया। गवर्नमेंट ने पिछली बार ही देख लिया था कि धन की मार बहुत जबरदस्त होती है। इसलिए इस बार बड़ी-बड़ी रकमों के जुर्माने हुए। कांग्रेस की सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। कांग्रेस का मकान तो कहीं था ही नहीं, बैंकों में जो कुछ कांग्रेस के हिसाब में जमा मिला वह भी जब्त हुआ। पर कांग्रेस का बहुत-कुछ गवर्नमेंट को मिला नहीं। गवर्नमेंट तथा दूसरे लोगों का भारी भ्रम है कि कांग्रेस के पास बहुत रुपये हैं और वह रुपयों के बल से काम करा लेती है। 1921 में एक बार कांग्रेस ने बड़ी रकम जमा की थी। वह राष्ट्रीय शिक्षा और खादी में बहुत-कुछ खर्च हुई। इसके अलावा कांग्रेस के संगठन में भी खर्च हुआ। उसके बाद सभी प्रांतों की कमिटियां अपनी जरूरत के अनुसार खर्च जमा कर लिया करती हैं। वह रकम बहुत बड़ी नहीं होती। यदि कांग्रेस के सामने कोई काम आ जाता है तो वह उसके लिए तत्काल पैसे जमा कर लेती है। पर कांग्रेस की किसी भी कमिटी के पास बहुत रुपये नहीं जमा रहते। हां, जहां-तहां छोटे मकान कांग्रेस के हो गये हैं। वे भी स्थानीय लोगों से तत्काल ही जमा किये हुए पैसों से बनाये गये हैं। पर इतना ठीक है कि जब जैसी जरूरत होती है, जनता से पैसे मिल जाते हैं। जहां कांग्रेस का संगठन अच्छा है—कार्यकर्ताओं के प्रति लोगों में श्रद्धा और विश्वास है—लोगों के पास पैसे हैं, वहां अधिक पैसे मिल जाते हैं; पर जहां इनमें किसी बात में कमी है वहां कम मिलते हैं।

गांधीजी का विश्वास है और इसी नीति पर वह चलते हैं कि सार्वजनिक संस्था को अपने खर्च के लिए धन इकट्ठा करके जमा नहीं रखना चाहिए; आवश्यकतानुसार पैसे जमा करके काम चला लेना चाहिए, इससे वह संस्था निरंकुश नहीं हो सकती; क्योंकि यदि उसने काम ठीक नहीं किया तो वह अपनी लोकप्रियता खो बैठेगी और पैसे नहीं मिलेंगे; इस तरह उस संस्था को अपने जीवन के लिए जनता पर निर्भर रहना पड़ता है और वह अपने कर्तव्य को ठीक निबाहने पर ही जीवित रह सकती है। मेरे अनुभव ने इस बात को अक्षरशः सत्य साबित पाया है। हमारा प्रांत एक गरीब सूबा है। बड़े-बड़े जमींदारों से कांग्रेस का संबंध नहीं के बराबर रहा है। पर जब कभी जरूरत पड़ी है, मध्यम वर्ग के लोगों ने आवश्यकतानुसार हमें धन दिया है। मैं मानता हूं कि धन-संग्रह में हमारी शक्ति और हमारा समय बहुत व्यय होता है और यदि इस चिंता से हम मुक्त रहते तो शायद काम अधिक कर सकते। काम करने वाले बहुत रहे हैं —अच्छे समझदार और कांग्रेस के सच्चे अनुयायी; पर रुपयों की कमी के कारण उनको हम आश्रमों में रहने तक के लिए भी खर्च नहीं दे सकते हैं,

उनके बाल-बच्चों और घर वालों के लिए कौन कहे ! बहुतेरे तो इस मजबूरी से दुख के साथ कभी-कभी अपनी रोटी की फिक्र में कांग्रेस के काम से अलग भी हुए हैं। यह सब होते हुए भी, मैं समझता हूं कि धनाभाव से हमारा काम कभी रुका नहीं है। एक प्रकार से हमारी गरीबी हमारी सहायक भी रही है। गरीब सूबे की प्रांतीय कमिटी वहां के जन-साधारण का प्रतिनिधित्व गरीब रहकर ही कर सकती है। इसलिए मैं यह भी मानता हूं कि हम अपने सूबे के ठीक प्रतिनिधि रहे हैं।

यहां मैं एक आवश्यक—पर अप्रस्तुत—विषय की आलोचना में बहक गया ! जो हो, हमारे सूबे में गवर्नमेंट को कांग्रेस के हिसाब में अधिक धन नहीं मिला। पर हमारे मकान सभी जब्त रहे। जब वे हमें वापस मिले, बहुतेरों की हालत रद्दी हो गयी थी।

गवर्नमेंट ने इस बार कांग्रेस या उसके किसी कार्यकर्ता को आर्थिक या किसी तरह की मदद देना जुर्म बना दिया था। कई नये आर्डिनेंस बन गये थे जो मामूली तौर पर लड़ाई के दिनों में ही और मुल्कों में बना करते हैं। इसलिए हमारे बाहर रह जाने वाले कार्यकर्ताओं को बहुत जगहों में किराये पर भी मकान नहीं मिलते थे। सवारी भी जल्दी न मिलती। बहुत आंतक फैलाने का प्रयत्न किया गया। पर काम रुका नहीं; क्योंकि जनता बराबर मदद करती रही। और, कुछ लोग ऐसे थे जो अखिल भारतीय कमिटी के दफ्तर को अपने हाथ में रखकर सारे देश में समय-समय पर आदेश पहुंचाते तथा सभी जगहों की कार्रवाई की खबर लेते रहे।

इस तरह, यद्यपि कांग्रेस गैर-कानूनी संस्था हो गयी, जिसके न घर थे, न दफ्तर, न पैसे, न सदस्य और न पदाधिकारी, तो भी जैसे किसी गुप्त स्थान से भूर में पानी निकलता ही रहता है वैसे ही कांग्रेस का कार्यक्रम भी कहीं गुप्त स्थान से निकल ही आता और उसको पूरा करने वाले भी यथास्थान और यथासमय मिल ही जाते। लार्ड विलिंगडन की वह मदपूर्ण धमकी कि कांग्रेस दो हफ्तों में समाप्त कर दी जायेगी, पूरी नहीं हुई। हजारीबाग जेल के अंदर इतनी कड़ाई थी कि खां अब्दुल गफ्फार खां और डाक्टर खां साहब उसी जेल में थे, पर हम लोगों से उनकी एक बार भी मुलाकात न हुई।

98

हरिजनों के लिए गांधीजी का अनशन

छः महीनों की सजा काटकर मैं हजारीबाग से रिहा हो गया। कुछ घंटों के लिए मुझे हजारीबाग शहर में ठहरना था। उसी समय मुझे जोरों से जाड़ा-बुखार आ गया। मुझे कुछ ठहर जाना पड़ा। जब कुछ स्वस्थ होकर मैं पटने आया तब भी बीमार ही था और कमजोरी तो बेहद थी। मैंने कुछ अच्छा होकर बाहर की परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के कार्यकर्ताओं से मेरी मुलाकात हुई। सूबे में भी जो बाहर थे उनसे भेंट हुई। मुझसे जो कुछ हो सका, मैंने मदद भी की; पर काम चलाने का भार मैंने अपने ऊपर नहीं लिया, जो लोग चला रहे थे उन्हीं पर रहने दिया। अखिल भारतीय कमिटी के काम में ही मैंने अधिक दिलचस्पी ली और समय दिया। मैं काशी में पंडित मालवीयजी से जाकर मिला और वहां कई दिनों तक ठहरा रहा। फिर बम्बई भी गया और कलकत्ते भी। सभी जगहों में कार्यकर्ताओं से मिला और यथासाध्य रुपये जमा करने में उनकी कुछ मदद की। अभी तक पूरा स्वस्थ नहीं हो पाया था, पर ऐसा बीमार भी न था कि काम रुक जाये।

मैं मानता था कि मुझे बाहर नहीं रहना चाहिए और सोच भी रहा था कि कोई उपयुक्त अवसर मिले तो फिर जेल-यात्रा करूं। इतने ही में एक दिन अखबारों में महात्माजी के अनशन की बात पढ़ी। हम जब से बम्बई में गांधीजी से मिलकर अलग हुए थे, उनकी कोई खबर हमको नहीं मिली थी। पर गवर्नमेंट के साथ उनका कुछ दिनों से पत्र-व्यवहार चल रहा था। पहले कह चुका हूं कि गोल-मेज कांफ्रेंस में उन्होंने अस्पृश्य वर्ग के लिए अलग चुनाव-क्षेत्रों का प्राणपण से तीव्र विरोध किया था। मिस्टर मैकडोनाल्ड ने अपने फैसले में अलग क्षेत्र कायम करने की बात कह दी थी। महात्माजी ने अपने उसी भाषण की याद दिलाते हुए कहा था कि गवर्नमेंट इस फैसले को नहीं बदलेगी तो वह आमरण अनशन करेंगे। इसलिए गवर्नमेंट के न मानने पर उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया। सरकार ने सारा पत्र-व्यवहार प्रकाशित कर दिया और उसके प्रकाशित होते ही देश-भर में बड़ी सनसनी पैदा हो गयी।

महात्माजी यरवदा जेल में थे। वहीं अनशन आरम्भ हुआ। मैं खबर पाते ही बम्बई पहुंचा। पूज्य मालवीयजी भी पहुंचे। श्री राजगोपालाचारी भाग्यवश बाहर थे, वह भी आ

गये। और लोग भी जो बाहर थे, बम्बई पहुंच गये। महात्माजी के अनशन को छुड़ाने की कोशिश होने लगी। पर महात्माजी अपनी प्रतिज्ञा से कब डिगने वाले थे ! मिस्टर मैकडोनाल्ड के फैसले में एक बात यह भी थी कि वह फैसला तब तक कायम रहेगा जब तक उन जातियों के लोग, जिनका फैसले से संबंध था, आपस के समझौते से उसके स्थान पर कोई दूसरी बात तय न कर लें। स्वभावतः इस ओर लोगों का ध्यान गया। अब भी इस बात की कोशिश होने लगी कि अस्पृश्य वर्ग के लोगों को ही राजी करके अलग निर्वाचन-क्षेत्र छुड़वाये जायें। बम्बई में डाक्टर अम्बेदकर रहते थे। सरकार ने उनको ही अस्पृश्यों का नेता बनाकर गोल-मेज कांफ्रेंस में भेजा था। उनसे बातें होने लगीं। एक-दो दिन बीत गये, पर कोई बात तब तक तय न हो सकती जब तक गांधीजी से भी राय न ले ली जाये। इस बीच में अस्पृश्य वर्ग की जनता में भी हलचल मच गयी; क्योंकि अस्पृश्यता-निवारण में गांधीजी ने बहुत काम किया था। उस वर्ग के लोग देखने लगे कि इनकी मृत्यु यदि इसी कारण हो जायेगी तो उनके लिए यह एक अमिट कलंक हो जायेगा।

गांधीजी ने जिस कारण से अलग क्षेत्र का विरोध किया था वह कारण भी कुछ लोग अवश्य समझते थे। गांधीजी का कहना था कि अस्पृश्य वर्ग वाले हिन्दू हैं; पर किसी कारण से समाज में ऐसी रूढ़ि हो गयी है कि हिन्दू जाति के इतर वर्ग उनको आज अस्पृश्य समझने लगे हैं। वह खुद इस अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज का कलंक मानते थे, और इसे हटा देना चाहते थे। यों तो जो अस्पृश्य, ईसाई या मुसलमान हो जाता है और इस प्रकार हिन्दू समाज तथा हिन्दू धर्म से अलग हो जाता है, वह उनसे बिलकुल कट जाता है और यद्यपि वहां भी कुछ हद तक अस्पृश्यता रह ही जाती है तथापि वह हिन्दुओं के लिए अस्पृश्य नहीं रह जाता। इसलिए यह प्रश्न उनके संबंध में ही होता था जो हिन्दू रह जाते हैं। गांधीजी समझते थे कि राजनीतिक चुनाव के लिए भी यदि अलग क्षेत्र हो जायेंगे तो यह एक नया अछूतपन हो जायेगा और जहां अछूतपन न दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है तथा जहां इसके दूसरे रूप हट रहे हैं वहां यह उसका एक नया कारण एवं रूप हो जायेगा। अछूतों के शिक्षित नेतावर्ग यह मानते थे कि जब सब अधिकार चुनाव के ही बल पर अवलम्बित होंगे तो उनको भी अपने संख्या-बल का लाभ मिलना चाहिए और वह तभी पूरी तरह मिल सकेगा जब उनके लिए अलग चुनाव-क्षेत्र हो जायेंगे। इसलिए गोल-मेज कांफ्रेंस में डाक्टर अम्बेदकर ने इस पर जोर दिया था।

बम्बई और पूना के बीच में कुछ लोग दौड़-धूप करने लगे, पर यह बहुत असुविधाजनक था। इसलिए सब लोग, जिनको इसमें कुछ करना था, पूना ही चले गये। डाक्टर अम्बेदकर और उनके कुछ साथी भी पूना गये। वहां दो-तीन दिनों तक बातें चलीं। महात्माजी से भी जेल में भेंट करने की अनुमति मिल गयी थी। वहां फाटक के नजदीक ही एक छोटे-से वार्ड में गांधीजी से मुलाकात हुआ करती, जहां एक आम के गाछ के नीचे उनकी

चारपाई रहती। श्री राजगोपालाचारी, पंडित मालवीयजी, श्री ठक्कर बप्पा, सेठ घनश्यामदास बिड़ला, सर पुरुषोत्तमदास ठाकुर दास प्रभृति ने बहुत काम किया। डाक्टर अम्बेदकर, डाक्टर सोलंकी प्रभृति भी अपनी ओर से बराबर बातचीत में शामिल रहे। जैसे-जैसे दिन बीतते जाते, मैं घबराता था; क्योंकि बातचीत में गांधीजी को पूरा परिश्रम पड़ता और मैं डरता था कि वह इतने परिश्रम के साथ बहुत देर तक अनशन बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे। जब-जब बातें होतीं, मैं भी शरीक होता; पर अपनी आदत के मुताबिक बातें बहुत कम करता। गांधीजी ने एक दिन संध्या को डा. अम्बेदकर से बहुत बातें कीं और उनसे जोरदार अपील भी की। बातें तय हो गयीं। मुख्य शर्तें यह थीं कि अलग निर्वाचन-क्षेत्र नहीं होंगे, उनके बदले में चुनाव का तरीका यह होगा कि निर्धारित संख्या में अस्पृश्य वर्ग के लिए जगहें सुरक्षित रहेंगी, चुनाव के समय अस्पृश्य मतदाताओं को अधिकार होगा कि प्रत्येक स्थान के लिए चार उमीदवार मनोनीत कर दें; यदि चार से अधिक उमीदवार हों तो केवल उनके ही वोट से चार ही चुन लिये जायें और इन चार की ही उमीदवारी कायम रहे; चारों नामों पर वोट लिये जायें और वोट सवर्ण तथा अस्पृश्य सभी हिन्दू दें और जो सबसे अधिक वोट पावें वे ही चुने जायें; यह दस बरसों तक रहेगा और उसके बाद इस पर फिर विचार किया जायेगा। मिस्टर मैकडोनाल्ड के फैसले में अस्पृश्यों को जितनी जगहें मिली थीं उनकी संख्या बहुत बढ़ा दी गयी। वह उनकी जनसंख्या के अनुपात से बढ़ायी गयी। ये बातें तय हो गयीं और प्रधानमंत्री मैकडोनाल्ड के पास तार भेज दिया गया। उन्होंने इसे मंजूर कर लिया और अपने फैसले को इस हद तक बदल दिया।

इतना हो जाने पर गांधीजी के अनशन का कोई कारण नहीं रह गया। उसे उन्होंने समाप्त कर दिया। इस समझौते से हम लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई। राजाजी और डाक्टर अम्बेदकर ने अपने कलम आपस में अदल-बदल कर लिये। यह राजाजी की इच्छा से हुआ; क्योंकि वह बहुत ही खुश थे। विलायत से उत्तर आने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ, शायद चौबीस घंटों के अंदर ही मंजूरी आ गयी। पर ये चौबीस घंटे भी हम लोगों को बहुत जब्र गुजर रहे थे। उस दिन सवेरे से ही हम सब परेशान थे। होते-हवाते दोपहर का समय हो गया। मालूम हुआ कि उत्तर आ गया है और जल्द ही जेल में पहुंचने वाला है। उसी दिन विश्वकवि रवीन्द्रनाथ पूना पहुंचे। वह रवाना हुए थे गांधीजी को देखने के लिए। उस समय तक समझौते की खबर उनको नहीं थी। पूना पहुंचने पर उन्हें इसकी खबर मिली। वह ठीक उसी समय जेल में पहुंचे जब समझौते की मंजूरी की खबर वहां पहुंची और गांधीजी के अनशन छोड़ने का समय आ गया। बड़ा ही शुभ मुहूर्त था वह! प्रार्थना की गयी। गुरुदेव ने एक सुंदर गान गाया और आशीर्वाद दिये। इसके उपरांत गांधीजी ने नारंगी का रस पीकर उपवास समाप्त किया। सारे देश में खुशियां मनायी गयीं। अछूतोद्धार की जबरदस्त लहर चल पड़ी।

९९

अछूतोद्धार का प्रयत्न

कुछ राजनीतिक प्रश्नों पर समझौता हो जाने से ही गांधीजी संतुष्ट होने वाले नहीं थे। उनके हृदय में तो अस्पृश्यता को जला देने के लिए एक आग धधक रही थी। वह आग केवल चुनाव में एक क्षेत्र अथवा अस्पृश्यों को कुछ सुरक्षित जगहें मिल जाने के कैसे बुझ सकती थी ? वे सब सवाल उस समय तक उठते ही रहेंगें जब तक उनके साथ अछूतपन का व्यवहार होता रहेगा और हिन्दू जाति उनको मनुष्य की श्रेणी से एक प्रकार अलग ही समझती रहेगी। इसलिए वह यह भी चाहते थे कि इसे निर्मूल कर देने का भी उपाय किया जाये। वहां से बम्बई में आकर एक अच्छी सभा हुई जिसमें हिन्दुओं की ओर से इस बात की प्रतिज्ञा की गयी कि वे अछूतपन को दूर करा देने का पूरा प्रयत्न करेंगे। इस काम को चलाने तथा दूसरे प्रकार से अछूतों की सेवा करने के लिए एक संस्था कायम की गयी। गांधीजी ने उस समय तक 'अछूत' शब्द के बदले में 'हरिजन' शब्द का व्यवहार आरम्भ कर दिया था। इसलिए उस संस्था का नाम 'हरिजन सेवक संघ' रखा गया। उसके सभापति हुए सेठ घनश्यामदास बिड़ला और मंत्री श्री अमृतलाल ठक्कर,जिनको लोग प्रेम से 'ठक्कर बप्पा' कहा करते हैं। वह संस्था अभी तक अच्छी तरह काम कर रही है। सारे देश में उसकी शाखाएं कायम हो गयी हैं। ठक्कर बप्पा के पैरों में मानो चक्र है ! वह अपनी वृद्धावस्था में भी सारे देश का दौरा करते हुए सभी जगहों में हरिजनों की सुविधा तथा शिक्षा का प्रबंध करके हर प्रकार की सेवा करते रहते हैं।

उस समय यह भी विचार हुआ कि अछूतपन दूर करने का एक स्पष्ट तरीका,जिसे सभी समझ और अपनी आंखों देख सकते हैं,यह है कि मंदिरों में जहां उनका प्रवेश निषेध है वहां उनका प्रवेश कराया जाये; मंदिरों को उनके लिए भी वैसे ही खुलवाया जाये जैसे वे दूसरे हिन्दुओं के लिए खुले हैं। इसी तरह सार्वजनिक कुओं में उन्हें जल भरने का भी अधिकार होना चाहिए। जहां दूसरे हिन्दू जा सकते हैं, बैठ सकते हैं, वहां जाने-बैठने आदि का अधिकार और सहूलियत उन्हें भी मिलना चाहिए। गांधीजी के उपवास के समय ही बहुत जगहों में हिन्दुओं ने मंदिरों के दरवाजे उनके लिए खुलवाने शुरू किये और उनके दूसरे

स्वत्व भी बहुत जगहों में स्वीकर किये गये। पर इतने बड़े देश के लिए ऐसे स्थानों की संख्या अभी बहुत कम थी। इस उत्साह का एक नतीजा यह हुआ कि बम्बई की सभा के बाद बहुत जगहों में इस संबंध के सम्मेलन होने लगे जिनमें अस्पृश्यता-निवारण के प्रस्ताव स्वीकृत होते—मंदिर खुलवाये जाते, इत्यादि। इस प्रकार का एक सम्मेलन बिहार में, छपरे में, थोड़ी ही दिनों के बाद, हुआ जिसमें काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान डाक्टर भगवानदास ने सभापति का आसन सुशोभित किया। बहुत उत्साह देखने में आया और जनता की ओर से हरिजनों के प्रति बहुत प्रेम तथा क्रियात्मक सहानुभूति प्रदर्शित की गयी।

बम्बई में ही राजाजी ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उनके साथ मद्रास जाऊं। अछूतपन का कट्टरपन और भयंकर रूप सबसे अधिक उसी इलाके में देखा जाता है। मालाबार में तो अछूतपन यहां तक है कि कुछ जातियां उस सड़क पर नहीं चलने पातीं जिस पर सवर्ण हिन्दू चलते हैं ! जहां उन जातियों के लोग सड़क पर चलने पाते हैं वहां भी उनको पुकारते जाना पड़ता है जिसमें दूसरे अनजान से कहीं उनके नजदीक न पहुंच जायें ! कुआं और तालाब में पानी भरने की तो बात ही नहीं हो सकती। इसके अलावा दक्षिण में बहुत बड़े-बड़े मंदिर हैं। इन मंदिरों का नियंत्रण पंचायत द्वारा होता है। पंच कहीं-कहीं जनता द्वारा चुने जाते हैं और कहीं-कहीं गवर्नमेंट द्वारा मनोनीत होते हैं। यदि उन लोगों में प्रचार हो और वे मंदिरों को खोल दें तो बहुत बड़ी बात हो जायेगी। मैं राजाजी के साथ वहां गया। मदुरा और श्रीरंगम् के मंदिर खुलवाने का बहुत प्रयत्न किया गया। वहां के पुजारियों और संचालकों से बहुत बातें हुईं। कुछ सहानुभूति भी दिखलाते थे। हम लोग कई दिनों तक यह प्रयत्न इन दोनों स्थानों में करते रहे। सार्वजनिक सभाएं की गयीं। पंडितों से भी बहुत बातें होती रहीं। पर इन बड़े मंदिरों के खुलवाने में हम लोग समर्थ नहीं हुए। कुछ दूसरे मंदिर, जिनका उतना अखिल भारतीय महत्व नहीं था, खोले गये। इससे इतना तो अवश्य जान पड़ा कि काम यद्यपि कठिन है, तथापि असम्भव नहीं है। जिन लोगों को हम बहुत कट्टर समझते थे वे भी बात सुनने और बात करने के लिए तैयार थे। हम वहां से निराश होकर नहीं, बल्कि बहुत आशा लेकर उत्तर की ओर आये।

हमारे प्रयत्न का फल तुरंत तो नहीं मिला; पर कई बरसों के बाद मालाबार में, जहां सबसे ज्यादा कट्टरपना था, त्रावणकोर के महाराज ने वहां के सबसे प्रसिद्ध श्री पद्मनाभजी के मंदिर को खोल दिया; सारे राज्य में राज्य के सभी मंदिर खोल दिये गये। मद्रास में भी कानून बनाकर राजाजी ने, जब वह प्रधानमंत्री थे, मदुरा के मंदिर को खुलवा दिया। उसी समय यह बात भी चल पड़ी कि कानून बनाकर मंदिर खुलवाये जायें। कानून का क्या रूप हो और उसमें कैसी शर्तें रहें, इस पर विद्वान लोग विचार करने लगे, जिसका फल पीछे देखने में आया। सबसे बड़ी विचित्र बात दक्षिण में यह देखने में आयी कि वहां के अब्राह्मण सवर्ण हिन्दुओं की अपेक्षा वहां के ब्राह्मण ही इस सुधार के लिए अधिक तैयार पाये गये। वहां से

लौटते समय मैं आंध्रप्रदेश के कतिपय स्थानों में ठहरता हुआ आया। वहां भी वैसी ही सुधार की लहर देखने में आयी। वहां भी मैं कई जगह मंदिर खोलने के उद्योग में शरीक हुआ।

उत्तर भारत में भी इसी तरह लहर दौड़ गयी। अनेकानेक स्थानों में सभाएं होने लगीं, मंदिर खुलने लगे और दूसरे प्रकार से भी अछूतपन दूर करने के प्रमाण क्रियात्मक रूप में दिये जाने लगे। गांधीजी जेल से ही इस विषय पर बयान देते थे। गवर्नमेंट ने इस बात की इजाजत दे दी थी कि अछूतोद्धार संबंधी उनके बयान समाचारपत्रों में छपने के लिए भेजे जा सकते हैं। इस अधिकार का उन्होंने बहुत तत्परता से उपयोग किया और उनके बहुत-से लेख प्रकाशित होने लगे। कुछ दिनों के बाद उन्होंने महसूस किया कि इस तरह पत्रों में बयान छपना काफी नहीं है, इसके लिए एक अपना पत्र निकलना चाहिए। 'यंग इंडिया' उनका बंद हो चुका था। इसलिए हरिजनों की सेवा के लिए अंगरेजी में 'हरिजन' और भारतीय भाषाओं में 'हरिजन-बंधु' तथा 'हरिजन-सेवक' के नाम से साप्ताहिक पत्रों का जन्म हुआ, जो कई बरसों तक चले। पर इसी बीच में और भी बहुत-सी बातें हुईं जिनका जिक्र पहले आना चाहिए।

एक तरफ इस तरह हरिजन-सेवा और अस्पृश्यता-निवारण के लिए अभूतपूर्व उत्साह पैदा हुआ, दूसरी ओर अनपेक्षित दिशाओं से विरोध के कुछ चिह्न भी देखने में आये। एक तो सबसे आश्चर्य की बात यह हुई कि इस सारे प्रयत्न को कुछ हरिजन लोग नापसंद करते थे। उनका कहना था कि यह एक ढोंग मात्र है जो उनकी राजनीतिक जागृति में बाधक होगा, उनको राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हो जायेगी तो अछूतपन स्वयं दूर हो जायेगा; जब तक वह नहीं होती तब तक सवर्णों द्वारा इस प्रकार के प्रयत्न उनको फिर गफलत की नींद में सुला देंगे जिससे वे औरों की अपेक्षा दुनिया की होड़ में पीछे रह जायेंगे। इसलिए वे चाहते थे कि उनमें जो असंतोष है वह और भी बढ़े और उसी से जागृति पैदा होगी। उनकी ओर से 'हरिजन' नाम का भी विरोध किया गया। वे इस प्रश्न को धार्मिक और सामाजिक नहीं समझते थे, इसे केवल आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से ही देखते थे। हरिजन सेवक संघ और गांधीजी के प्रयत्नों का उद्देश्य उनकी राजनीतिक और आर्थिक उन्नति में बाधा डालना तो था ही नहीं—सच तो यह है कि पूना के समझौते से उनको प्रांतीय और केंद्रीय व्यवस्थापिका सभाओं में इतनी जगहें मिल गयी थीं जितनी मि. मैकडोनाल्ड ने भी नहीं दी थीं। और किसी प्रकार का वास्तविक विरोध था भी नहीं, पर उनके दिल में संदेह था और उसका कोई उपाय न था। जब काम जोरों से चलने लगा तो बहुतेरों का संदेह कुछ हद तक दूर हुआ; पर उसने इतनी गहरी जड़ पकड़ ली थी कि पीछे वह फिर स्पष्ट हो गया। उनमें जो शिक्षित थे और देश-विदेश की बातें समझ सकते थे, वे यह भी देखते थे कि जो शासन-विधान बनने वाला है उसमें वोट देने वालों को अधिकार मिलेगा, और इसलिए

अपनी संख्या पर ध्यान रखकर उससे पूरा लाभ उठाना चाहते थे। इसकी कोई शिकायत भी नहीं कर सकता था, पर इसके लिए अछूतपन दूर करने के प्रयत्न को ढोंग समझना बिलकुल गलत था। सवर्ण हिन्दुओं में भी कुछ ऐसे जरूर थे जो उनके इस रुख से बहुत असंतुष्ट हो गये और समझने लगे कि राजनीतिक अधिकार से व्यक्तिगत लाभ उठाने के लिए कुछ पढ़े-लिखे लोगों का ही यह विरोध है। जो हो, विरोध का रूप क्रियात्मक नहीं हुआ, केवल मंतव्यों और बयानों द्वारा ही जहां-तहां प्रकाशित होता रहा।

दूसरी बाधा कांग्रेसी लोगों में से भी कुछ की ओर से पड़ने लगी। यह तो जाहिर है कि जिस समय गांधीजी ने अनशन आरंभ किया, सत्याग्रह चल रहा था, गवर्नमेंट जोरों से दमन कर रही थी, उन लोगों का कहना था कि ऐसे समय में महात्माजी ने इस झगड़े को खड़ा करके जनता का ध्यान सत्याग्रह की ओर से खींचकर एक सामाजिक प्रश्न पर केंद्रित कर दिया—देश के लिए यह समय ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ लड़ने का था, न कि हिन्दू समाज की हजारों बरस की बुराई को दूर करने का। वे लोग समझते थे कि इस तरह यह सत्याग्रह कमजोर कर दिया गया, कांग्रेस के कुछ कार्यकर्ता अछूतोद्धार के काम में लग गये; कुछ तो बाजाब्ता हरिजन सेवक संघ के पदाधिकारी बनकर अपना सारा समय उसी में देने लग गये। यद्यपि यह बात ठीक थी कि ध्यान उस ओर खिंच गया और कुछ काम करने वाले भी हरिजन-सेवा में लग गये, तथापि यह विचारणीय है कि जो लोग सत्याग्रह का काम छोड़कर इसमें आ सके थे, उनमें थोड़े ही ऐसे थे जो सत्याग्रह का काम करने के लिए तैयार थे—किसी-न-किसी कारण से उनमें से बहुतेरे अब उस काम से अलग होना ही चाहते थे, और वे यदि इस काम में लगे भी तो इससे सत्याग्रह संबंधी काम उन्होंने छोड़ा नहीं; यदि यह काम न होता तो भी वे सत्याग्रह छोड़ने वाले ही थे! यह भी एक बात है कि हरिजन सेवक संघ में काम करने वालों में ऐसे लोगों की बहुत बड़ी संख्या थी जो कांग्रेस और सत्याग्रह में नहीं काम करते थे। इसके सबसे बड़े और उत्कृष्ट उदाहरण तो उस संघ के सभापति सेठ घनश्यामदास बिड़ला और मंत्री श्री ठक्कर बप्पा ही हैं।

जो हो, कांग्रेसी दल में इस प्रकार का असंतोष पैदा हुआ। जो लोग इस विचार के थे वे यह नहीं देख पाते थे कि हमारे देश में विदेशी राज्य का मुख्य और मूल कारण हमारी कमजोरियां हैं जो हमारे समाज में अथवा व्यक्तिगत रूप से हममें घर कर गयी हैं। गांधीजी ने आरंभ से ही, इन कमजोरियों को दूर करने के लिए ही, रचनात्मक काम पर इतना जोर दिया है। हम जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, इन कमजोरियों को महसूस करते हैं और देखते हैं कि इनकी वजह से हमारी गाड़ी कदम-कदम पर रुक जाती है। यदि इस कमजोरी को हम दूर कर सकें—करोड़ों भाइयों और बहनों को इनका शिकार होने से बचा सकें, तो यह बहुत बड़ी सेवा होगी। इससे स्वराज्य भी, यदि वह सच्चा है और सबके लिए एक तरह होने वाला है, नजदीक आ जाता है। मैं तो हमेशा रचनात्मक कार्यक्रम का कायल रहा हूं और यथासाध्य

अपनी ओर से प्रयत्न भी करता रहा हूं; पर यह बात कांग्रेस के सभी लोगों की नहीं है। दो विचार-धाराओं का विरोध और टक्कर है। कौन कह सकता है कि कौन-सा विचार ठीक है? हम इतना ही कह सकते हैं कि हम अपने विचार को दृढ़ता और विश्वास के साथ ठीक मानते हैं। हम यह भी समझते हैं कि ऐसा न मानने से ही हमारी बाधाओं को दूर करने का उतना जबरदस्त प्रयत्न नहीं किया जाता जितना किया जाना चाहिए और इसीलिए वे दूर नहीं हो रही हैं।

इन अनपेक्षित विरोधों के अलावा कट्टर सनातनी लोगों का विरोध तो था ही। उसका प्रदर्शन कुछ दिनों के बाद देखने में आया जब गांधीजी दौरे पर निकले। कई जगहों में उन पर हमले किये गये। पूना में ही, जहां इस सारे आन्दोलन के उग्र रूप का जन्म हुआ था, सार्वजनिक सभा में जाते समय गांधीजी पर बम फेंका गया। बिहार जैसे गांधी-भक्त और श्रद्धालु सूबे में गांधीजी की मोटर पर लाठियों के प्रहार हुए। यह कांड देवघर-वैद्यनाथ धाम में हुआ था, जहां मोटर के 'हुड' के कारण ही बापू चोट से बचे, मोटर की छत तो लाठियों से चूर ही हो गयी। आज, इतने दिनों के बाद, जब सारी बातों पर मैं विचार करता हूं तो मुझे मालूम पड़ता है कि जो हुआ और किया गया, सब ठीक ही था। इस कुप्रथा के दूर होने में सफलता भी काफी मिली है, यद्यपि अभी हम यह नहीं कह सकते कि इसमें हम पूरे सफल हुए हैं। वास्तव में अभी बहुत सफर करना रह गया है। पर जब हम यह याद करते हैं कि हजारों बरसों की रूढ़ि—जो हमारी नस-नस में समा गयी है, जिसका हमारे धर्म के साथ एक प्रकार का अविच्छिन्न संबंध-सा जुट गया है—कितनी जबरदस्त है, तो जो प्रगति इसमें अब तक हुई है वह कम नहीं जान पड़ती। कुछ और धक्के लगेंगे और यह पुरानी दीवार गिर जायेगी। काम करने वालों को विश्वास और दृढ़ता के साथ काम करते रहने की जरूरत है।

100

प्रयाग का एकता सम्मेलन

दिल्ली में नव-स्थापित हरिजन सेवक संघ की बैठक हुई। यद्यपि मैं उसकी कार्यकारिणी का सदस्य नहीं था, तथापि बुलाया गया। मैं दिल्ली गया। दुर्भाग्यवश मुझे ज्वर हो गया। दमे का दौरा भी शुरू हो गया। मुझे वहां कई दिनों तक ठहर जाना पड़ा। उन दिनों दिल्ली में श्री ठक्कर बप्पा बिड़ला मिल्स में, सब्जी मंडी में, ठहरा करते थे। मैं भी वहीं ठहरा था; पर जब तबीयत कुछ ज्यादा खराब मालूम पड़ी तो श्री घनश्यामदास बिड़ला ने मुझे नयी दिल्ली के बिड़ला हाउस में, जहां वह खुद रहते हैं, बुला लिया। कलकत्ते में जो होमियोपैथी इलाज मैंने शुरू किया था, अभी तक उसे ही यथासाध्य जारी रखता आया था। इसलिए वहां भी होमियोपैथी इलाज ही कराया। डाक्टर युद्धवीरसिंह जी अच्छे होमियोपैथ डाक्टर हैं और कांग्रेसी भी हैं। उन्हीं की दवा हुई थी। फायदा भी हुआ। अभी कुछ अच्छा हो ही रहा था कि खबर मिली, इलाहाबाद में युनिटी कांफ्रेंस (एकता सम्मेलन) होने जा रही है। उसमें शरीक होने के लिए मैं भी बुलाया गया। मैं दिल्ली से सीधे प्रयाग चला आया।

इस सम्मेलन में मुख्य-मुख्य हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाई नेता शरीक हुए थे। कांग्रेसी लोग तो अधिकतर जेल में ही थे। पर जो बाहर थे वे बुलाये गये थे। मौलाना शौकत अली और मौलाना जफर अली भी शुरू में ही आ गये। कुछ दिनों के बाद मौलाना शौकत अली किसी काम से चले गये। पर दूसरे लोग बराबर भाग लेते रहे। मि. मैकडोनाल्ड का फैसला तो निकल चुका था। उसमें प्रायः सभी मांगें, जो मुसलमानों की ओर से पेश की गयी थीं, मान ली गयी थीं। एक चीज यह रह गयी थी कि केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में मुसलमानों की संख्या एक-तिहाई होनी चाहिए और सिन्ध को एक अलग सूबा बना देना चाहिए। इन विषयों पर अभी फैसला नहीं हुआ था। कांफ्रेंस का काम बहुत लम्बा बढ़ गया। प्रायः तीन हफ्तों तक हम लोग प्रतिदिन सवेरे से दोपहर तक बैठते थे और फिर सेपहर से रात के प्रायः 8-9 बजे तक बैठा करते थे। बैठकें डा. कैलाशनाथ काटजू के निवास-स्थान पर, उनके मकान के बड़े हॉल में, हुआ करती थीं। आपस में हर बात पर बहुत बहस होती। जो कुछ मुसलमानों की ओर से कहा जाता अथवा जो कुछ उन्हें मैकडोनाल्ड-फैसले से मिला था, सबकी मांग सिखों की ओर से होती! यदि मुसलमानों को वायसराय की कौंसिल में

जरूर जगह मिलनी चाहिए तो सिखों को भी अवश्य ही ! यदि मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र हैं तो सिखों के लिए भी जरूर चाहिए ! इस तरह सभी बातों पर बहुत जोरदार बहस होती । सिखों और मुसलमानों में बारीकी और उलझन ढूंढ़ निकालने की होड़-सी लग गयी थी । पर लोगों के मिजाज में गर्मी या तुर्शी नहीं होती थी । इतने दिनों की गरमागरम बहस में दो-तीन ही ऐसे मौके आये जब किसी ने कुछ आवेश में आकर कोई कड़ी बात कह दी अथवा वहां से उठकर चले जाने की तैयारी दिखलायी । मालवीयजी के धैर्य की सीमा नहीं थी । दूसरे लोग तो बहस से थक जाते थे, चाहते थे कि कुछ भी तय हो जाये अथवा जिस बात पर एकमत न हो उसे छोड़कर अन्य बातों पर विचार किया जाये; पर मालवीयजी छोड़ते ही नहीं थे । आखिर बहुत-सी बातों पर एकमत हो भी गया । पर इस बात पर एकमत नहीं हो सका कि केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में मुसलमानों के लिए एक-तिहाई जगहें सुरक्षित रहनी चाहिए। इसमें हिन्दुओं की ओर से सब में तीस प्रतिशत जगहें देने की बात कही गयी । कई दिनों तक बातें करने के बाद सब में एकतीस या बत्तीस प्रतिशत तक जगहें देने की रजामंदी जाहिर की गयी, पर 33-1/3 तक अभी नहीं पहुंचे थे । उसी तरह सिन्ध के अलग सूबा बनाने के बारे में भी एकमत नहीं हो सका था । पर मालूम होता था कि इसमें रजामंदी शायद हो भी जाये ।

अंत में राय ठहरी कि जो दो-तीन बातें इस तरह की अनिश्चित रह गयी हैं उनके संबंध में एक सप्ताह के बाद कलकत्ते में फिर सब लोग मिलें और वहीं अंतिम निर्णय किया जाये । मैकडोनाल्ड-फैसले में यह बात थी कि यह फैसला रद कर दिया जायेगा यदि हिन्दू, मुसलमान और दूसरे लोग आपस में मिलकर कोई दूसरा समझौता कर लेंगे । इसी शर्त के कारण अस्पृश्य लोगों के अलग निर्वाचन-क्षेत्र को, पूना का समझौता हो जाने पर, मि. मैकडोनाल्ड ने हटा दिया। यह सम्मेलन इसी आशा से किया गया था कि आपस का समझौता यदि हो जायेगा तो जो कटुता मैकडोनाल्ड-फैसले से पैदा हुई थी वह दूर हो जायेगी । पर हम लोग अभी ब्रिटिश गवर्नमेंट के हथकंडों को नहीं समझ पाये थे । जब बहुत बातों में एकमत हो गया और ऐसा मालूम हुआ कि अब केवल केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा की जगहों की बात ही रह गयी है और वह भी शायद कलकत्ते में तय हो जायेगी, ठीक उसी समय ब्रिटिश गवर्नमेंट ने इंग्लैंड से एक विज्ञप्ति निकाल दी । हम लोग कलकत्ते जा रहे थे और रास्ते में रेल पर ही यह विज्ञप्ति देखने को मिली । इसमें केंद्रीय असेम्बली में एक-तिहाई जगह की मांग मंजूर कर ली गयी थी ! जिस चीज पर इतनी बहस कर चुके थे तथा जिस पर एक बार और विचार करने के लिए हम कलकत्ते जा रहे थे, वह सरकार ने ठीक इसी अवसर पर दे दी ! हम समझ गये कि अब इस सम्मेलन का काम समाप्त हो गया ! ब्रिटिश गवर्नमेंट मैकडोनाल्ड-फैसले को किसी तरह बदलना नहीं चाहती है । उसके कायम रहने से ही आपस के झगड़े कायम रहेंगे । वह अगर हमारे समझौते के कारण रद कर

दिया गया और उसके स्थान पर हमारा आपस का समझौता रह गया, जिसे सभी मानने के लिए नैतिक रूप से भी बाध्य होंगे, तो फिर ब्रिटिश राज्य को तीतर-बटेरों जैसी लड़ाई कराने और देखने का मौका नहीं मिलेगा, और न बिल्लियों की लड़ाई में बंदर को दोनों के हिस्से खाने का ही सुअवसर प्राप्त होगा। इसलिए, यह अवसर उस फैसले की एक कमी की पूर्ति के लिए ठीक उपयुक्त समझा गया और वह तुरंत घोषित कर दिया गया। सम्मेलन समाप्त हो गया! ! हम कलकत्ते में मिले, पर इस मिलने में कुछ तथ्य नहीं था।

सम्मेलन का इतना अच्छा असर सारे देश पर पड़ा था कि सभी लोग आशा लगाये हुए थे कि अब मामला तय होकर ही रहेगा। इसकी खबर पाकर अलवर के महाराज प्रयाग आ गये थे। उनकी तथा पं. मालवीयजी की इच्छा थी कि सम्मेलन के अंतिम अधिवेशन में, जो खुलेआम सभा के रूप में होगा, वह भी बोलें। वह सभा हुई भी जिसमें बताया गया कि सब बातें तय हो गयी हैं और जो एक-दो बात रह गयी है वह भी तय हो जाने वाली है। महाराज का भी अच्छा भाषण हुआ। पीछे जो उनके साथ व्यवहार हुआ उससे मालूम हो गया कि ब्रिटिश गवर्नमेंट से वह जितना असंतुष्ट थे उससे भी अधिक ब्रिटिश गवर्नमेंट थी। थोड़े ही दिनों के बाद वह गद्दी से उतारे गये। कुछ दिनों के बाद उन्होंने इंग्लैंड में आत्महत्या कर ली।

उस सभा तक हम लोग यही समझ रहे थे कि इस सम्मेलन के द्वारा हम एकता कायम कर लेंगे। मुझे इस सम्मेलन में एक बात से तो आशा हुई, मैंने देखा कि बहुत बातों में एकमत हो गया। पर बहस से मैं भी कभी-कभी ऊब जाता था, यद्यपि मैं बहस में बहुत कम योग देता था। कभी-कभी तो मैं ऐसा अनुभव करता था कि छोटी बातों को लेकर हम आपस में जल्दी एकमत नहीं हो सकते थे। 32 और 33-1/3 में बहुत थोड़ा ही फर्क है, पर हम इसको भी न सुलझा सके! इसके लिए सम्मेलन को स्थगित करना पड़ा, जिसका नतीजा यह हुआ कि ब्रिटिश गवर्नमेंट ने लकड़ी मार दी, और इस गिरह का सुलझना असंभव-सा हो गया।

101

मेरी दुबारा गिरफ्तारी और बिहार की युनाइटेड पार्टी

कलकत्ते मैं गया एकता सम्मेलन के काम से; पर वहां कुछ ठहर जाना पड़ा। मैंने वहां आन्दोलन के लिए भी कुछ काम कर लिया। उन दिनों रुपये की जरूरत थी। इस जरूरत को पूरा करने में मैंने कुछ हाथ बटा लिया। लोगों में आन्दोलन के प्रति उत्साह और श्रद्धा थी, पर लोग बहुत डर गये थे। इसलिए कोई धनी आदमी खुल्लम-खुल्ला मदद करने को तैयार नहीं था। पर चुपचाप पैसे देने वाले बहुत थे। मैं इसका एक बहुत ही अच्छा उदाहरण यहां बता देना ठीक समझता हूं। जब मैं बनारस में ठहरा हुआ था, एक दिन कहीं जाते समय, सड़क पर एक पुराने परिचित मित्र से मुलाकात हो गयी, जो गांधीजी के यहां आया-जाया करते थे। उन्हें देखकर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। वहां उन्होंने मुझसे इतना ही जान लिया कि मैं बाबू शिवप्रसाद गुप्त के यहां ठहरा हूं। वह आकर मुझसे मिले। उन्होंने कहा—सुना है कि आन्दोलन में रुपयों की जरूरत है और यह जरूरत मद्रास तथा बिहार में विशेष महसूस हो रही है। मैंने कहा, रुपयों की जरूरत तो है ही। रुपये वह साथ लाये थे। आज मुझे ठीक स्मरण नहीं है, पर अखिल भारतीय काम के लिए आठ या दस हजार के नोट मेरे हाथों में उन्होंने रख दिये। मैं बहुत कृतज्ञ हुआ और उनकी इच्छा के अनुसार रुपयों को जहां-तहां भिजवा दिया। इसी तरह लोगों की मदद कलकत्ते में भी मिली। कलकत्ते से मैं पटने वापस आ गया।

मुझे जेल से निकले प्रायः छः महीने बीत चुके थे। दिन बीतते देर नहीं लगती। इसी बीच मैं दो बार बीमार पड़ा, गांधीजी के उपवास और पूना के समझौते के समय वहां हाजिर रहा, हरिजन सेवक संघ संबंधी यात्राएं और सभाएं कीं, प्रयाग के एकता सम्मेलन के लम्बे अधिवेशन में काम करना और फिर कलकत्ते में उसी के लिए आना पड़ा। यह सब करता हुआ भी मैं बराबर महसूस किया करता था कि मुझे बाहर नहीं रहना चाहिए। मैं ही कांग्रेस का सभापति अथवा डिक्टेटर समझा जाता था और उस समय की प्रचलित पद्धति के अनुसार अपनी जगह पर किसी को मनोनीत करना था। प्रयाग में एकता सम्मेलन समाप्त होने के समय ही मैंने सोच लिया था कि अब मैं कलकत्ते से लौटकर ही जेल-यात्रा कर दूंगा। वहां पर राजाजी और श्री अणे भी थे। उनसे मैंने सलाह ली और राजाजी को मनोनीत करना

चाहा। पर उन्होंने अभी कुछ देर तक हरिजन-सेवा का काम और करने की इच्छा प्रकट की। आपस की राय के बाद मैंने श्री अणे को मनोनीत कर दिया। मेरी गिरफ्तारी के बाद वही डिक्टेटर हुए।

कलकत्ते से लौटकर मैं पटने में उपयुक्त दिन की इंतजारी कर रहा था। बड़े दिन की छुट्टियां आ गयी थीं। मैंने सोच लिया था कि 4 जनवरी (1933) को मैं किसी तरह गिरफ्तार हो जाऊंगा। 4 जनवरी को ही 1932 में गवर्नमेंट ने गांधीजी को गिरफ्तार करके दमन शुरू किया था। उसकी यादगार में इस वर्ष भी सभी जगहों में एक विज्ञप्ति कांग्रेस की ओर से पढ़ी जाने वाली थी। इसी बीच में एक दिन श्री कृपालानी, जो बाहर थे, मुझसे मिलने आये। वह कुछ रुपयों के बंदोबस्त के लिए ही आये थे। जो कुछ कलकत्ते में हुआ था, मैंने उनको बतला दिया। किसी मित्र के नाम से, जो मुझे याद नहीं है, उनको एक पत्र भी दे दिया। वह उस पत्र को लेकर जा रहे थे। पटना स्टेशन पर वह गिरफ्तार कर लिये गये। गिरफ्तारी होते ही उन्होंने पत्र को फाड़कर फेंक दिया। पर पुलिस ने टुकड़ों को एकत्र कर साट करके पूरा पत्र फिर तैयार कर लिया। उन पर मुकदमा चला। वह बांकीपुर जेल के अंदर ही पेश हुआ। मैं भी पेशी में मुकदमा देखने गया। मुकदमा समाप्त होने पर मैं बाहर निकला। अपनी सवारी पर ज्यों ही सवार होना चाहता था कि पुलिस अफसर ने आकर मुझे खबर दी कि मुझे भी यहां रह जाना चाहिए! मैं तुरंत फाटक के अंदर दाखिल हुआ। कृपालानीजी और बाबू मथुरा प्रसाद पहले ही से वहां आ गये थे—मथुरा बाबू 4 जनवरी की घोषणा पढ़ने के लिए! मैं भी उनका साथी हो गया। एक-दो दिनों के बाद मुझ पर भी मुकदमा चला। मथुरा बाबू को 18 महीने, कृपालानीजी को छः महीने और मुझे 15 महीनों की सजा हुई। मुझे आश्चर्य हुआ कि मुझे 15 महीने क्यों मिले, जब मथुरा बाबू को अठारह महीने दिये गये। मैंने मजाक में मजिस्ट्रेट से पूछा भी। यह वही पूर्व-परिचित मजिस्ट्रेट थे जिन्होंने मुझे छपरे में सजा दी थी और जो मेरी वकालत के समय के मेरे पुराने मवक्किल भी थे। खैर, चंद दिनों के बाद हम लोग हजारीबाग पहुंचा दिये गये।

हजारीबाग में फिर उसी तरह पढ़ने और चर्खा चलाने में समय बीतने लगा। खां साहब दोनों भाई अभी तक वहीं थे। कुछ दिनों के बाद अखबारों से पता चला कि गांधीजी को हरिजनों के संबंध में लिखने की जो सुविधा मिली थी वह बंद कर दी गयी, इसलिए उन्होंने अनशन कर दिया। अंत में सरकार को सुविधा देनी पड़ी और उनको छोड़ देना भी पड़ा। बाहर निकलकर उन्होंने देश की परिस्थिति देखी। उन्होंने हरिजनों के प्रति सवर्ण हिन्दुओं की ओर से प्रायश्चित और उनके कर्तव्यों को जताने के लिए 21 दिनों का उपवास किया। इससे हम लोग बहुत चिंतित हुए। वहां प्रतिदिन हम लोग प्रार्थना करते। यों तो संध्या के समय, ठीक कोठरी बंद होने के पहले, सामूहिक प्रार्थना हम लोग बराबर करते ही थे; पर इस उपवास के दिनों में और भी अधिक प्रार्थना होती। कोई गीता-पाठ करता, कोई रामायण की

आवृत्ति करता, कोई केवल फल खाकर रहता। अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार बहुतेरों ने कुछ-न-कुछ आत्मशुद्धि के लिए वहां किया। जिस दिन यह 21 दिनों का व्रत निर्विघ्न समाप्त हुआ, उस दिन हम लोगों ने इकट्ठे होकर विशेष प्रार्थना की और ईश्वर को धन्यवाद दिया।

इस उपवास के असर से अच्छे हो जाने के बाद गांधीजी ने ऐसे कांग्रेसियों की सभा की, जो बाहर थे। उसमें देश की परिस्थिति पर बहुत विचार-विमर्श हुआ। उस समय पं. जवाहरलालजी भी बाहर आ गये थे। हम लोगों को पूरा पता तो नहीं चला; क्योंकि उन दिनों अखबार भी हमें नहीं मिलते थे—केवल 'स्टेट्समैन' का विदेशों के लिए प्रकाशित साप्ताहिक संस्करण ही मिला करता था। पर कोई-न-कोई बाहर से नया गिरफ्तार होकर आ ही जाता था और उससे कुछ-न-कुछ पता लग जाता था। हम लोगों ने चाहे 'स्टेट्समैन' में पढ़ा अथवा किसी ने बाहर से वहां पहुंचकर कहा कि सत्याग्रह का रूप व्यक्तिगत कर दिया गया है। सभी सूबों में फिर से कुछ जागृति हुई। कुछ लोग व्यक्तिगत रूप से फिर जेलों में गये। इसमें बिहार ने अच्छा उत्साह दिखलाया। यहां छः-सात सौ से अधिक लोग गिरफ्तार हुए। पर हम लोगों को ऐसा भी मालूम होने लगा कि लोगों में कुछ सुस्ती आ गयी है। जनता ने इस सत्याग्रह में भी पूरा उत्साह दिखलाया था और यह सुस्ती आरंभ के प्रायः अठारह महीनों के बाद देखने में आयी। मेरा अपना ख्याल था कि इसके कारणों में एक कारण यह भी था कि काम करने वाले कुछ छुपकर काम करने लगे। सत्याग्रह में जनता की श्रद्धा तभी तक बनी रहती है जब तक काम करने वाले, विशेषकर मुख्य काम करने वाले, हिम्मत से अपने ऊपर गवर्नमेंट की मार झेलते रहते हैं अथवा झेलने के लिए तैयार रहते हैं। जब मुख्य काम करने वाले, आन्दोलन को चलाने के लिए अपनी हाजिरी जरूरी समझ, बाहर रह जाते हैं—कुछ सरकारी दमन से बचने या भागने के लिए नहीं, तब भी लोगों की कुछ धारणा जरूर हो जाती है कि यह अपने को बचा रहे हैं। इससे जनता में त्याग का उत्साह कम होने लगता है।

जब गवर्नमेंट ने बहुत सख्ती के साथ दमन करके कांग्रेस के लिए न मकान रहने दिया, न पैसे और न खुले तौर पर काम करने वाले; तब कुछ लोगों ने संगठन को बनाये रखने के लिए छुप करके ही काम करना शुरू कर दिया। उन्होंने काम भी किया और कांग्रेस के संगठन को टूटने भी नहीं दिया। प्रायः सभी प्रांतों की प्रांतीय कमिटियां काम करती रहीं और उसी तरह जिलों में भी कमिटियों के प्रतिनिधि काम करते रहे। यह शृंखला टूट नहीं सकी। अखिल भारतीय कमिटी के आदेश और मंतव्य सभी प्रांतों में पहुंचते रहे और उनके अनुसार थोड़ा-बहुत काम भी होता रहा। पर साधारण जनता में, जिनमें से नये कार्यकर्ता और सत्याग्रही मिलते, उत्साह कम होने लगा। छुपकर काम करने का असर अंततः अच्छा नहीं हुआ। सत्याग्रह की लड़ाई इस संबंध में अन्य लड़ाइयों से विभिन्नता रखती है। इसमें

नेताओं को ही आगे रण में कूदना पड़ता है—अपने को ही उन्हें सबसे पहले आग में झोंकना पड़ता है। आजकल की शस्त्र की लड़ाई में जनरल आगे नहीं जाता—बहुत करके तो वह लड़ाई के मैदान में भी नहीं जाता—वह पीछे से ही सेना का संचालन करता है। सेना भी यह आशा रखती है कि जनरल पीछे रहकर अपने को सुरक्षित रखता हुआ सेना का संचालन करेगा। इसलिए उसके पीछे रहने से भी सेना पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। पर सत्याग्रह में सेना भी आशा रखती है कि सरदार ही सबसे आगे जूझेगा। इसलिए इसमें उसके पीछे पड़ने से सेना में स्वाभाविक असंतोष और कमजोरी आ जाती है। ऐसा ही 1933 में भी हुआ।

जब मैं बाहर था, 1932 में एक बात इस सूबे में हुई। गोल-मेज कांफ्रेंस वगैरह की कारंवाइयों से इतना निश्चित जान पड़ता था कि कुछ-न-कुछ शासन-विधान में सुधार तो होगा ही चाहे वह सुधार कांग्रेस को संतुष्ट करे या न करे, नये चुनाव तो होंगे ही, जिनमें जनता को भाग लेना पड़ेगा। बिहार ही क्या, सारे देश में किसानों की ही बड़ी संख्या है। उनके हाथों में बहुत वोट होंगे। कांग्रेस का उनमें पूरा प्रभाव था। इसका प्रदर्शन 1923 और 1926 के चुनावों में हो चुका था। 1930 और 1932-33 के सत्याग्रह के बाद वह प्रभाव बढ़ा ही था, घटा नहीं था। यह समझ करके बिहार के गवर्नर ने बिहार के जमींदारों को किसानों में संगठन करने के लिए प्रोत्साहन दिया था। जाहिर था कि किसानों का झगड़ा अभी जमींदारों के साथ ही हुआ करता था। इसलिए उन्होंने एक नयी पार्टी बनायी जिसमें किसानों को भी मिलाने का प्रयत्न किया गया। पार्टी का नाम 'युनाइटेड पार्टी' पड़ा। उन लोगों की इच्छा थी कि जब तक कांग्रेस वाले लड़ रहे हैं, हम लगान-कानून में कुछ ऐसी तब्दीली करेंगे जिससे किसानों को कुछ सहूलियत मिल जाये और इस तरह उनको मिला लेंगे—जब नया चुनाव आवेगा और कांग्रेस उसमें भाग लेगी, तो यह युनाइटेड पार्टी इतनी मजबूत हो गयी रहेगी और किसान इसका इतना साथ देते रहेंगे कि कांग्रेस मुकाबला नहीं कर सकेगी।

इस पार्टी के नियम कुछ बुरे नहीं थे, यद्यपि कांग्रेस की निगाह में वे काफी नहीं थे। इसने भी अपना उद्देश्य औपनिवेशिक स्वराज्य मान लिया और जिस तरह के प्रस्ताव लिबरल फेडरेशन में हुआ करते हैं उस तरह के कुछ प्रस्ताव भी किये। बिहार में कांग्रेस के अलावा कोई दल नहीं था; एक तरफ थी सरकार या उसके मददगारों का दल और दूसरी तरफ कांग्रेस या सरकार से लड़ने वालों का दल; लिबरल जैसे बीच के विचार रखने वाला कोई दल नहीं था। इस पार्टी के लोगों से मेरी भेंट और बातचीत भी हुई थी। मैंने समझ लिया था कि यह प्रयत्न कांग्रेस का प्रतिद्वंद्वी दल खड़ा करने के लिए किया जा रहा है और इसमें गवर्नर का भी इशारा है। तो भी मेरे मन में एक क्षण के लिए भी यह संदेह न हुआ कि यह दल कांग्रेस का मुकाबला कर सकेगा। कांग्रेस का प्रभाव उसकी सेवा और त्याग के कारण है। इस पार्टी में वह बात नहीं हो सकेगी। मैं यह भी समझता था कि जो पार्टी चुनावों में जगह लेने को ही मुख्य उद्देश्य मानकर बनायी जा रही है उसमें आपस के झगड़े हुए बिना

भी न रहेंगे, क्योंकि पार्टी के अंदर उमीदवारों की संख्या जगहों से कई गुना अधिक हो जायेगी। इसके अलावा आपस की प्रतिद्वंद्विता भी होती रहेगी। इसलिए मुझे इसका डर नहीं था कि यह पार्टी कांग्रेस का मुकाबला कर सकेगी। मैंने यह भी समझा कि यदि एक ऐसी बीच वाली पार्टी हो जाये तो कुछ बुरा भी न होगा; क्योंकि जब कभी गवर्नमेंट से लड़ाई करने में कांग्रेस बझ जाती है तो रचनात्मक काम करने वाला भी कोई नहीं रह जाता। शायद इस पार्टी से मौके पर देश की कुछ सेवा हो सकेगी। मैंने यह भी सोचा कि यदि यह किसानों को अपनी ओर से कुछ सहूलियत दे भी देगी तो उससे किसानों को ही लाभ पहुंचेगा—फिर जब कांग्रेस के साथ इसका मुकाबला होगा तो किसान केवल कांग्रेस का ही साथ देंगे और स्वराज्य की बात को नहीं भूलेंगे। इसलिए मैं इस पार्टी के संगठन से बिलकुल निश्चिंत था। इसके मुख्य काम करने वालों से बातें हुईं तो मैंने अपने विचार भी कह दिये। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि मैं इस संबंध में एक वक्तव्य प्रकाशित कर दूं। मैं राजी हो गया। एक छोटा वक्तव्य मैंने पत्रों में दे दिया। उसमें इतना ही लिखा कि यह पार्टी यदि अपने प्रकाशित उद्देश्यों के अनुसार काम करती रहेगी तो मैं आशा रखता हूं कि इससे देश का भला ही होगा, बुरा नहीं।

इस वक्तव्य की खबर हजारीबाग में मित्रों को मिल गयी थी। कुछ लोग इससे असंतुष्ट हुए। वहां मेरे पहुंचने पर इस संबंध में बातें हुईं। मैंने अपने विचार बता दिये। पर शायद वे संतुष्ट न हुए। हम लोग वहीं थे जब इस पार्टी की ओर से लगान-कानून में कुछ संशोधन की बात चल पड़ी। मैं तो यह सब जानता ही था और जान करके भी निश्चिंत था। पर कुछ मित्र इससे और घबराये। वे सोचने लगे, इस तरह पार्टी अपना प्रभाव किसानों में जमा लेगी। उनका विचार हुआ कि इसका विरोध होना आवश्यक है। कांग्रेस तो जेल में थी और गैर-कानूनी संस्था भी बना दी गयी थी; इसलिए किसान सभा ही विरोध कर सकती थी। सभा शायद पहले की ही थी जो कांग्रेस के जोर के कारण कुछ विशेष काम नहीं कर रही थी। उसे कुछ लोग पुनर्जीवित करने का प्रयत्न कर रहे थे। वहां से उन लोगों को प्रोत्साहन के संदेश भेजे गये। स्वामी सहजानन्दजी से विशेष अनुरोध किया गया कि वह किसान सभा का संगठन करके लगान-कानून के सुधार के प्रस्ताव का विरोध करावें। मैं इसको गैर-जरूरी समझता था। कारण ऊपर बता चुका हूं। पर मैं इसका विरोध नहीं कर सकता था। मैं चुप रहा। ब्रजकिशोर बाबू भी किसान सभा जैसी एक दूसरी संस्था की जरूरत नहीं समझते थे। पर उन्होंने बाहर रहकर भी और मैंने भीतर से इसका विरोध नहीं किया। इस तरह किसान सभा का जबरदस्त संगठन हम लोगों की गैर-हाजिरी में ही होने लगा। लगान-कानून-सुधार का विरोध सख्ती से होने लगा। पहले के कुछ किसान सभा के प्रमुख कार्यकर्ता इस किसान सभा का विरोध और सुधार का समर्थन जोरों से करने लगे। यह बात एक-डेढ़ बरस तक चलती रही। जेल से हम लोगों के छूटने तक यह तय नहीं हुई थी।

102

मेरी बहुत सख्त बीमारी

मैं 1933 की जुलाई के पहले सप्ताह में बीमार पड़ गया। कुछ खांसी शुरू हो गयी। शायद अचानक ठंड लग जाने से ही ऐसा हुआ। पहले तो हमने समझा कि यह मामूली खांसी है, जल्द आराम हो जायेगी। पर यह कम न होकर दिन-दिन बढ़ती गयी। दमा भी जोर पकड़ गया। एक बार तो इतने जोर से उठा कि प्रायः दो दिनों तक मैं बहुत परेशान रहा। उसके बाद सुई दी गयी। दमा कुछ कम हुआ और तब कुछ खाने के लिए मैं बैठा। जैसे ही चम्मच में लेकर दूध और रोटी का टुकड़ा मुंह में दिया कि फिर दमा बहुत जोरों से शुरू हो गया और सांस इस तरह घुटने लगा कि मानो प्राणांत हो जायेगा। मैं बेहोश-सा हो गया। जेल-डाक्टर ने आकर कुछ सुंघाया, तब होश हुआ। उसके बाद मल (आंव) बहुत जोर पकड़ गया। दिन में चौबीस-पच्चीस बार दस्त होने लगा। कमजोरी बहुत बढ़ गयी। शरीर बहुत दुर्बल हो गया। जेल के सुपरिंटेंडेंट ने गवर्नमेंट को लिखा, यह पटना अस्पताल में दवा के लिए भेजे जायें। पहले इस पर कुछ ख्याल नहीं किया गया। भाईसाहब को खबर मिली। वह घबराकर वहां पहुंचे। मेरी हालत देखकर बहुत चिंतित हुए। रांची गये। कुछ मित्रों से मिले। अंत में गवर्नमेंट का हुक्म मुझे पटने भेजने के लिए हुआ। यह हुआ सितम्बर के पहले सप्ताह में, बीमारी शुरू होने के दो महीने बाद! हुक्म यह था कि मैं पटना जेल भेजा जाऊं और पटना अस्पताल में बीमारी की जांच की जाये। मुझे जब हुक्म बताया गया तो मैंने कहा कि पटना अस्पताल में यदि नहीं जाना है—पटना-जेल में ही जाना है, तो बेहतर है कि यहीं रहूं। पर मुझको बताया गया कि यही कायदा है लिखने का, इसका अर्थ यह है कि मैं अस्पताल में भेजा जा रहा हूं।

दूसरे दिन सवेरे किसी तरह मुझे पटने ले आये। भाई भी साथ ही आये। यहां पहले जेल में लाकर वहां से फिर तुरंत ही अस्पताल ले गये। अस्पताल में मैं उन मकानों में से एक में रखा गया जिनमें रोगी भाड़े देकर रहते हैं और जिनमें थोड़ी जगह घर के बाल-बच्चों के रहने की भी होती है। मेरी भौजाई, पत्नी और नौकर भी साथ रहने लगे। डाक्टर बनर्जी ने मेरे पहुंचते ही जांच की। हालत खराब देख तुरंत अपनी चिकित्सा आरम्भ कर दी। डाक्टर

रघुनाथशरण तथा दूसरे डाक्टर भी जो पहले से मुझे जानते थे, आया-जाया करते थे। पुलिस का पहरा रहता था; पर किसी के आने-जाने की मनाही न थी। कई दिनों तक तो हालत खराब रही; पर आहिस्ता-आहिस्ता सुधरने लगी। मल और ज्वर कुछ संभाल में आये। खांसी भी कुछ कम हुई। अभी बीमारी गयी नहीं थी, उसका उग्र रूप कुछ कम हुआ। बीमारी को दूर करने के लिए दवा अब शुरू हो रही थी कि एक दिन सेपहर को 3-4 बजे अचानक खबर मिली—गवर्नमेंट का हुक्म आया है कि मैं तुरंत बांकीपुर जेल भेज दिया जाऊं। शायद किसी ने गवर्नमेंट के पास कुछ खबर दे दी थी या चुगली कर दी थी कि मेरे पास बहुत लोग मिलने आते हैं और मैं वहां खाट पर पड़ा आन्दोलन चला रहा हूं। बात बिलकुल झूठी थी। मुझसे लोग मिलने आते थे जरूर—और वह बीमारी के कारण स्वाभाविक था; पर मैंने किसी से आन्दोलन के संबंध में कुछ भी नहीं कहा था।

जो हो, अस्पताल से तुरंत मैं बांकीपुर जेल पहुंचाया गया। डाक्टर बनर्जी साहब खबर पाते ही आये। उनको बहुत अफसोस हुआ; क्योंकि वह बीमारी का इलाज अब शुरू कर रहे थे, अब तक तो उग्र कारणों को ही कम कर पाये थे। वहां जो दवा इत्यादि वह दे रहे थे उसे लिखकर उन्होंने एक रिपोर्ट भी साथ कर दी। जेल के सुपरिंटेंडेंट मेजर स्ट्रिक्लैंड से, जो जिले के सिविल सर्जन भी थे, उनकी बातें भी हुईं। सुपरिंटेंडेंट ने उनके ही इलाज को जारी रखने का इरादा बतला दिया। जेल में वही दवा जारी रही। मैं कुछ अच्छा तो हो ही गया था। जेल में भी सुधार जारी रहा। अब सर्दी के दिन आ रहे थे, जब मेरी तबियत अक्सर खराब हुआ करती है। एक दिन अचानक फिर बड़े जोर का दमा शुरू हो गया। दो दिनों में हालत बहुत खराब हो गयी। सिविल सर्जन ने बहुत प्रयत्न किया, पर कुछ सफल न हुए। हालत देखकर वह भी कुछ घबराये। उन्होंने फिर गवर्नमेंट के पास लिखा या टेलीफोन किया; डाक्टर बनर्जी को भी मुझे देखने के लिए लाये। डाक्टर बनर्जी ने कुछ दवा दी। उस रात को मैं कुछ सो सका, पर बहुत सुधार नहीं हुआ। अंत में सिविल सर्जन ने फिर गवर्नमेंट से बातें करके मुझे जेल से अस्पताल भेजने का प्रबंध किया। जब उन्होंने मुझसे यह कहा कि गवर्नमेंट का हुक्म मुझे अस्पताल भेजने का आ गया, तो मैंने कहा कि इस तरह जेल से अस्पताल और फिर अस्पताल से जेल आना-जाना मैं नहीं बर्दाश्त कर सकता—जो होना होगा, यहीं होगा। इस पर उन्होंने आश्वासन दिया कि इस बार जब तक डाक्टर लोग मुझे आराम करके वापस न करेंगे तब तक मैं अस्पताल में ही रखा जाऊंगा।

बात यह थी कि पहली बार के हुक्म में केवल जांच के लिए ही अस्पताल ले जाने की बात थी; पर वहां डाक्टरों ने दवा करना शुरू कर दिया था, इससे गवर्नमेंट ने उनसे कैफियत मांगी थी! पर जेल के इंसपेक्टर-जेनरल, सिविल सर्जन और अस्पताल के डाक्टर सबने जवाब दिया था कि इलाज से अलग जांच के कोई मानी नहीं है और हालत इतनी खराब थी कि दवा देना आवश्यक था। इस बात की रिपोर्ट डाक्टरी भाषा में गवर्नमेंट को दी भी गयी

थी। इससे गवर्नमेंट का मुंह बंद हुआ, पर तुरंत मुझे वापस भेज देने का हुक्म निकाल दिया गया। जब जेल में दुबारा बीमारी बहुत बढ़ गयी तो सबने मिलकर साफ हुक्म कराया कि आराम होने तक मैं वहीं रखा जाऊं। सिविल सर्जन का इशारा इसी की तरफ था जब उन्होंने कहा कि मुझे आराम होने तक वहीं रहना होगा।

मैं अस्पताल में बहुत बुरी हालत में पहुंचाया गया। इस बार सख्ती भी काफी थी। हुक्म था कि घर की दो स्त्रियां साथ रह सकती हैं और काम के लिए एक या दो नौकर; कोई दूसरा मिलने के लिए नहीं आ सकता; हफ्ते में एक बार घर के लोगों से मुलाकात हो सकती है—वह भी पुलिस और जेल के कर्मचारी की हाजिरी में। मुझे इससे कोई खास तकलीफ नहीं थी, क्योंकि मैं पहले भी किसी से आन्दोलन की बातें नहीं किया करता था, और अभी तो इतना बीमार था कि चारपाई से उठकर कुर्सी पर भी नहीं बैठ सकता था। इस बार की बीमारी पहले से भी बहुत कड़ी थी। हजार कोशिश करने पर भी उसमें कमी नहीं आती थी। कभी-कभी तो ऐसा मौका आया कि सुई पर सुई देनी पड़ी। सांस का फूलना चार-पांच घंटों के लिए कुछ कम हो जाता, फिर ज्यों का त्यों, बस फिर सुई दी जाती। नवम्बर-दिसम्बर बहुत खराब गुजरे। यद्यपि मैं बहुत बीमार पड़ा करता हूं तथापि, इतनी सख्त बीमारी कभी हुई नहीं। दिसम्बर में अस्पताल के डाक्टरों ने गवर्नमेंट को लिखा कि हालत खराब है और बीमारी कब्जे में नहीं आती है, रात को इतनी परेशानी रहती है कि मेडिकल कालेज के दो विद्यार्थी बारी-बारी से जागकर देखभाल करते हैं। पर गवर्नमेंट का काम जल्दी तो होता नहीं। अंत में हुक्म हुआ कि मेडिकल बोर्ड मेरी जांच करे। इस बोर्ड में वही डाक्टर बनर्जी थे, वही सिविल सर्जन थे और एक तीसरे थे मेडिकल कालेज के प्रिंसिपल। मेरा अनुभव था कि दिसम्बर के अंत से हर साल बीमारी का जोर कुछ कम हो जाया करता है। इस साल भी वैसा ही हुआ। जब मेडिकल बोर्ड 1934 की जनवरी के पहले सप्ताह में जांच करने आया, बीमारी में कमी आ गयी थी। सब हालत और प्रतिदिन की रिपोर्ट देखकर बोर्ड ने मुझे छोड़ देने की सिफारिश की। मुझसे यह कहा नहीं गया। एक साल से अधिक जेल में हो चुका था—15 महीनों की सजा थी। शायद डेढ़-दो महीने मीयाद के बाकी रह गये थे। रिपोर्ट पर गवर्नमेंट ने 1934 की 15 जनवरी को विचार किया—मुझे छोड़ देने का निश्चय किया। मैं उस दिन भोजन करके चारपाई पर लेटा हुआ था। एक आदमी ने आकर नौकर से खबर दी कि सर गणेशदत्त सिंह ने संदेशा भेजा है—गवर्नमेंट ने आज निश्चय किया है कि मैं छोड़ दिया जाऊं और अब एक-आध दिन में यह हुक्म जेल की मार्फत पहुंच जायेगा। नौकर ने मेरी भौजाई और पत्नी से कहा, फिर उन्होंने मुझे खबर दी।

103

बिहार का प्रलयंकर भूकम्प

अस्पताल में चारपाई पर लेटे-लेटे मैं सोच रहा था—जब बीमारी का बहुत जोर था, जिस वक्त अब-तब की नौबत थी, उस वक्त तो गवर्नमेंट ने कुछ किया ही नहीं; अब जब कुछ अच्छा हो गया हूं, स्वास्थ्य में दिन-दिन उन्नति होने की संभावना और आशा है तथा मीयाद भी प्रायः पूरी हो चली है, तब यह मुफ्त का अहसान मुझ पर क्यों लादा जा रहा है ! बीमारी की सख्ती के दिनों में तो घर के किसी आदमी से, भाई से भी, हफ्ते में एक ही बार पुलिस के सामने मुलाकात हो सकती थी ! सख्ती इतनी थी कि एक बार मेरी भौजाई चली गयीं और मेरे भतीजे की स्त्री दो-चार दिनों के लिए सेवा करने आयी। उसका एक चार साल का बच्चा था जो उससे कहीं अलग नहीं रह सकता था; इस पर भी उज्र हुआ कि हुक्म दो आदमी के रहने का है, यह तीसरा बच्चा साथ नहीं रह सकता ! उसे चला जाना पड़ा ! अब क्यों यह मुफ्त का अहसान लिया जाये ?

मैं इसी उधेड़-बुन में लगा चारपाई पर करवटें बदल रहा था कि चारपाई हिलती हुई जान पड़ी। फिर मकान के दरवाजे और जंगले हिलने लगे। मुझे आभास हुआ कि मैं बीमारी के कारण इतना कमजोर हो गया हूं और इतनी देर से सोच-विचार में लगा रहा हूं, इसलिए मेरे दिमाग में चक्कर आ गया है। मैं यह सोच ही रहा था कि मेरी भौजाई ने दूसरे कमरे से चिल्लाकर कहा कि धरती डोल रही है। मैं तुरंत समझ गया। कहा कि सब निकल भागो। तुरंत चारपाई से उतरकर बाहर निकल गया। सामने के मैदान में जाकर खड़ा हो गया। धरती इतने जोरों से डोल रही थी कि खड़ा रहना कठिन था। साथ ही भयानक गड़गड़ाहट थी, सैकड़ों रेलगाड़ियों के एक साथ चलने के बराबर आवाज हो रही थी। कुछ दूसरे बीमार, जो आस-पास के मकानों में थे जो चल सकते थे, मेरे नजदीक ही आकर खड़े हो गये। मैदान में बहुत-सी गायें चर रही थीं, वे पूंछ उठाकर इधर-उधर दौड़ने लगीं। एक बार सब मिलकर जहां हम लोग खड़े थे वहां इस तरह दौड़ी आयीं कि जान पड़ा, हम लोगों पर हमला कर रही हैं ! पर ऐसा कुछ न करके हम लोगों के पास दौड़ती आकर खड़ी हो गयीं, मानो उन्होंने उस स्थान को निरापद समझा अथवा हम लोगों को अपना हितैषी मानकर हमारे पास रहना ही अच्छा समझा। इतने में ही, कुछ दूर पर, नर्सों के रहने का बड़ा दोमंजिला

मकान धड़ाम से गिर पड़ा। पर गड़गड़ाहट इतनी थी कि मकान गिरने की आवाज कम ही सुनायी दी, केवल धूल-गर्द को जोरों से उड़ते देखकर ही हमने समझा कि वह मकान गिरा है। अस्पताल के कुछ हिस्से जहां-तहां गिरे, पर सौभाग्यवश कोई मरा नहीं और न कोई घायल ही हुआ। कुछ देर में शांति हुई।

मैंने करीब साढ़े चार मिनट तक भूकम्प जारी रहने का अंदाजा लगाया था। पीछे सूबे के भिन्न स्थानों से खबरें आयीं तो जान पड़ा कि साढ़े चार मिनट से 7 मिनट तक भूकम्प का जारी रहना देखा गया था। सब लोग जहां-तहां से डरे-घबराये निकलने लगे। अब घर के अंदर जाने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी। मैं जब से अस्पताल आया था, यह पहला ही अवसर था कि कमरे के बाहर निकला था और पहला ही अवसर था जो दूसरे लोगों से बातें हुईं। बातें और क्या हो सकती थीं, भूकम्प के बारे में ही थीं। मित्र लोग शहर से दौड़कर देखने आये कि मेरी क्या हालत है। आहिस्ता-आहिस्ता खबर आने लगी कि शहर में बहुत मकान गिरे हैं। कुछ लोग अस्पताल में घायल लाये भी गये। हम लोगों की चारपाई बाहर मैदान में ही निकाल दी गयी थी। वहीं संध्या तक हम पड़े रहे। जनवरी का जाड़ा था। हवा जोरों से चल रही थी। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। मेरे सामने प्रश्न हुआ कि रात को क्या किया जाये ? मकान के अंदर जाकर लोगों ने देखा तो कई जगह दीवार फट गयी थी, पर कोई हिस्सा गिरा नहीं था। मैंने सोचा कि रात में बाहर रहने से तो सर्दी के कारण अवश्य ही मेरी बीमारी बढ़ जायेगी और मैं बच न सकूंगा, यदि फिर रात में भूकम्प आया तो फिर निकल आवेंगे। हिम्मत करके मैं मकान के अंदर चला गया। देखादेखी कुछ और मरीज गये, पर सब नहीं। पास में बच्चों का वार्ड था, उसका एक हिस्सा गिर गया था, दीवारें कुछ कमजोर हो गयी थीं; इसलिए अस्पताल वालों ने सबकी चारपाइयां मैदान में ही रखवा दीं और उसी सर्दी में वे रात काटने लगे। रात को एक बजे भूकम्प का एक धक्का और आया। यह भी जबरदस्त था; क्योंकि चारपाई इतनी हिली कि मैं जाग उठा। सब फिर बाहर निकल आये। पर यह उतनी देर तक न रहा जितनी देर दिन का भूकम्प रहा था। किसी तरह रात कटी। हम लोगों को बाहर की खबर उस दिन कुछ न मिली। शहर की थोड़ी खबर मिली जिससे मालूम हुआ कि शहर की काफी बर्बादी हुई है।

दूसरे दिन सवेरे 10 बजे डाक्टर बनर्जी मुझे देखने आये। मैं उनसे बातें करते-करते बरामदे से नीचे उतर ही रहा था कि एक झोंका और आया। हम दोनों बाहर निकल गये। उनसे पहले-पहल मालूम हुआ कि मुंगेर की हालत खराब है, यद्यपि कुछ भी साफ खबर नहीं मिली है। वह मुंगेर के ही रहने वाले हैं, अतः बहुत चिंतित थे। उन्होंने यह भी कहा कि गवर्नमेंट की आज्ञा हुई है कि जितने डाक्टर मिल सकें, तैयार रखे जायें कि जहां जाने का हुक्म मिले, तुरन्त चले जायें और अस्पताल में भी घायलों के लिए जगह तथा दूसरे प्रबंध ठीक रखे जायें। अब कुछ पता चला कि यह भूकम्प कुछ दूर तक करामात दिखला गया है।

यह भी सुनने में आया कि सरकारी सेक्रेटेरियट का एक हिस्सा गिर गया है, सब काम तितर-बितर है, इसी हल्ले में मेरी रिहाई का हुक्म भी न आ सका। मैं दो दिनों के बाद छोड़ा गया। उस दिन सिविल सर्जन ने आकर मुझसे चार बजे सेपहर को कहा कि मैं छोड़ दिया गया और मैं जो चाहूं कर सकता हूं। पुलिस का पहरा हटा लिया गया। कुछ लोगों की धारणा है कि भूकम्प के कारण गवर्नमेंट ने मुझे छोड़ दिया। जैसा ऊपर बताया गया है, मुझे बीमारी के कारण छोड़ने का निश्चय भूकम्प के चंद घंटे पहले ही हो चुका था और उसकी सूचना भी मुझे मिल गयी थी। भूकम्प से रिहाई में दो दिनों की देर हो गयी; क्योंकि सब मामला ही गड़बड़ में पड़ गया। जब उत्तर बिहार की शोचनीय दशा का पता दो दिनों के बाद कुछ लगने लगा तो गवर्नमेंट ने उधर के रहने वाले कुछ सत्याग्रहियों को छोड़ दिया। उन लोगों को मालूम हो गया कि मैं भी मुक्त हूं। मैं सोच ही रहा था कि भूकम्प-पीड़ित लोगों की सहायता के लिए कुछ-न-कुछ करना होगा, तब तक वे लोग आ गये। उनको मैंने तिरहुत के जिलों में भेजा। कुछ रुपये उधार लेकर उनके लिए कम्बल खरीदवाये, उन लोगों के पास ओढ़ने को कुछ नहीं था, वे सब गरमी में गिरफ्तार हुए थे और चलने के वक्त वही गरमी की धोती और कुर्ता वापस लिये थे। कुछ खर्च के साथ किसी तरह चम्पारन, मुजफ्फरपुर, दरभंगा और सारन की खबर लेने के लिए उनको भेजा। रेल, तार, सब बंद थे। इसका भी पता न था कि वे किस तरह जा सकेंगे। उन्होंने हिम्मत करके नाव पर और पैदल जाकर पता लगाना शुरू किया।

मैंने मदद के लिए रुपयों की फिक्र की और एक अपील निकालने का विचार किया। कई दिन बीत चुके थे, अभी तक कुछ भी ठीक खबर नहीं मिली थी। पर जो थोड़ी-बहुत खबर मिली थी वह बहुत भयानक थी। डाक्टरों ने मुझे अस्पताल में ही रोक रखा था। मैं बहुत कमजोर था, पर न मालूम इस समय कहां से उत्साह और शक्ति आयी। मैंने जिद करके काम शुरू कर ही दिया, पर अस्पताल में से ही। हजारीबाग से मथुरा बाबू और सत्यनारायण बाबू छूटकर अस्पताल में मेरे पास आ गये। कुछ मित्र अस्पताल में ही मिले और राय ठहरी कि एक अपील निकाली जाये तथा रिलीफ कमिटी के नाम से एक कमिटी बना ली जाये। हमने तय कर लिया कि यह कमिटी केवल कांग्रेसी लोगों की ही न होकर सभी दलों के लोगों की होगी। हम बराबर, जब कभी कोई संकट आया, इस तरह का काम करते आये थे। इसलिए इस बार भी वही करना था, पर अभी यह नहीं मालूम था कि यह कितना बड़ा काम होगा। अब तक भी क्षति की पूरी खबर नही मिली थी। गवर्नर ने भी एक सार्वजनिक सभा करने की सोची। मिस्टर सैयद अब्दुल अजीज, जो उन दिनों एक मिनिस्टर थे, मुझसे अस्पताल में ही मिले। उन्होंने कहा कि अलग अपील न करके गवर्नमेंट के साथ मिलकर काम करना ही अच्छा होगा। शफी दाऊदी साहब भी मिले और उनकी भी यही राय हुई। उन्होंने यह भी कहा कि अपील में बहुत मिलने की आशा नहीं की जा सकती है,

क्योंकि सत्याग्रह के कारण कांग्रेस का संगठन तितर-बितर हो गया है तथा काम करने वाले भी बहुतेरे जेलों में हैं। मैंने उन दोनों सज्जनों से कह दिया कि इस मामले में गवर्नमेंट जो कुछ भी करेगी उससे हम लोगों का विरोध तो होगा ही नहीं; पर कुछ ऐसे लोग भी होंगे जो गवर्नमेंट को पैसे न देकर यह चाहेंगे कि गैर-सरकारी संस्था भी काम करे; हम लोग हर संकट के समय कुछ इस तरह का करते आये हैं; इसलिए जनता भी कुछ हमसे आशा रखेगी; गवर्नमेंट से हमारा मुकाबला नहीं है; जो लोग हमको देंगे उसी का अच्छा-से-अच्छा इस्तेमाल करके हम चुप हो जायेंगे और गवर्नमेंट हमसे अगर कुछ काम लेना चाहेगी तो उसके करने में हम नहीं हिचकेंगे। ऐसा कहकर मैंने कुछ मित्रों से बातें कीं तो उन्होंने मेरी राय पसंद की।

एक दिन एक छोटी सभा हुई जिसमें बिहार सेंट्रल रिलीफ कमिटी के नाम से एक संस्था स्थापित की गयी। मैं उसका प्रधान बनाया गया और उसी के नाम से मैंने अपील निकाली। उसके बाद गवर्नमेंट की ओर से सार्वजनिक सभा हुई। उसमें मैं भी शरीक हुआ। उन्होंने भी अपील निकाली। मेरी अपील पर चारों ओर से रुपये और सामान आने लगे। अखबारों में अब ध्वंस का विवरण भी छपने लगा। उसको पढ़-पढ़कर सारे देश में और विदेशों में भी बिहार के प्रति बहुत सहानुभूति उत्पन्न हो गयी। पंडित जवाहरलाल पटने आये। तिरहुत और मुंगेर में तो उन्होंने गिरे मकानों का मलबा खोदकर मुर्दे निकालने में भी मदद की और एक तरह से सबके लिए नमूना पेश किया। बंगाल से 'संकट त्राण समिति' की ओर से श्री सतीशचन्द्र दासगुप्त रुपये और माल-असबाब लेकर चले आये। मैंने गांधीजी को भी तार द्वारा सूचना भेजी। वह उन दिनों बहुत दूर मद्रास प्रांत में कहीं हरिजन-यात्रा में घूम रहे थे। तार पाते ही उन्होंने भी अपील निकाली, और स्वयं पैसे जमा करने लगे। कमिटी की ओर से सभी जिलों में मुख्य कार्यकर्ता नियुक्त किये गये और उनकी मातहती में अनेकानेक काम करने वाले काम करने लगे। हिन्दुस्तान के सभी प्रांतों से रुपये आने लगे—कपड़ा, चावल, दूसरे खाद्य पदार्थ, बर्तन, कम्बल, दवा इत्यादि पहुंचने लगे। सब चीजों की जरूरत थी। पटने से हम आवश्यकतानुसार सबको पीड़ित जिलों में भेजने लगे। दो-चार दिनों के अंदर ही काम बहुत बढ़ गया। हमारे साथी बहुतेरे जेलों में थे। गवर्नमेंट ने प्रायः सबको—जो तिरहुत, भागलपुर और पटना कमिश्नरियों के रहने वाले थे—धीरे-धीरे छोड़ दिया। वे लोग भी आकर काम में जुट गये।

पंडित जवाहरलाल ने एक दिन पटने में ठहरकर केंद्रीय दफ्तर के संगठन और दूसरी बातों में अपनी सलाह से मदद की। वह दो बार इस सूबे में आये और जी-जान से काम में मन लगाने लगे थे; पर खेद है कि इसके बाद ही वह गिरफ्तार कर फिर जेल में बंद कर दिये गये। इसलिए हमको उनके नेतृत्व का अधिक लाभ न मिल सका। सरदार वल्लभभाई पटेल भी जेल में ही थे। उन्होंने गुजरात में, वहां की प्रलयंकारी बाढ़ के समय, लोक-सेवा का जो प्रबंध किया था उसके अनुभव का भी हमको लाभ नहीं मिला। पर महात्माजी, सेठ

जमनालाल बजाज तथा सरदार के सहकारी श्री लक्ष्मीदास पुरुषोत्तम प्रभृति आ गये। युक्तप्रांत से आचार्य नरेन्द्रदेव और श्री श्रीप्रकाशजी पहुंच गये। सब बाहर के आये भाइयों और बहनों के नाम गिनाना मुश्किल है। यदि किसी का नाम छूट जाये तो हमारे लिए शर्म की बात होगी। पर कुछ नाम ऐसे हैं, जिनका उल्लेख न करना अत्यंत कृतघ्नता होगी। इनमें श्री जे. सी. कुमारप्पा हैं। यह हिसाब-जांच का काम किया करते थे, विलायत से इसकी शिक्षा प्राप्त कर बम्बई में बड़ी-बड़ी कम्पनियों के हिसाब जांचा करते थे, गांधीजी के साथ आ जाने पर वह काम छोड़कर गुजरात विद्यापीठ में काम कर रहे थे; जब कांग्रेस ने एक ऐसी कमिटी बनायी जिसके जिम्मे भारतवर्ष पर लादे हुए कर्ज की जांच करने का भार दिया तो यह भी उसके सदस्य बनाये गये; महात्माजी ने इनको हिसाब की देखरेख के लिए यहां भेज दिया। इतना कहना अत्युक्ति नहीं है कि यदि यह न आ गये होते और सारे हिसाब का एक अच्छा संगठन न कर दिये होते तो हम मुश्किल में पड़ते। हमारे काम करने वालों की संख्या प्रायः 2000 से भी अधिक होगी। वे 12 जिलों में बंटे हुए थे। उनमें थोड़े ही ऐसे थे जो हिसाब कुछ भी जानते हों। काम भी बहुत प्रकार के थे और सबका हिसाब अलग-अलग रखना पड़ता था। यह काम इतना फैला हुआ था कि उसका काम संभालना बहुत ही कठिन था। पर इनके बताये तरीके से हिसाब रखने पर सब काम ठीक हुआ।

मैंने शुरू में ही बिहार-बैंक को कमिटी का खजांची बना दिया था। रुपये कमिटी के पास और सीधे बैंक के पास आते थे। एक दिन में 200-300 मनीआर्डर पहुंचते थे। सैकड़ों पार्सल रोज आते और उनमें हर तरह की चीजें आतीं। सबका हिसाब अलग-अलग रखा जाता। केंद्रों में पहुंचकर जब रुपयों अथवा चीजों का खर्च होता तो उसका भी हिसाब केंद्रीय दफ्तर के निरीक्षण में ही रखा जाता। कुछ दिनों के बाद जब हमने पहली रिपोर्ट निकाली और उसके साथ पैसे तथा सामान देने वालों की नामावली छापी तो वह प्रायः 400 पन्ने की पुस्तक हो गयी। हमने जनता से अपील की कि यदि किन्हीं दाता का नाम उसमें न छपा हो तो वह मुझे सूचना दें। हर्ष का विषय है कि यद्यपि कई हजार दाताओं ने सीधे हमारे पास या बैंक के पास पैसे और सामान भेजे थे तथापि मेरे पास थोड़े ही, शायद 10-12 ही, पत्र आये जिनमें शिकायत थी कि उनके नाम नहीं छपे हैं। जब जांच की गयी तो उनके नाम भी छपे मिले, केवल गलती यह हुई थी कि किसी दूसरे सूबे या शहर के नीचे उनके नाम छप गये थे। इसी से सबको संतोष हो गया कि हिसाब का काम बहुत पक्का रहा। इस पर मैंने इसलिए यहां इतना जोर दिया कि सार्वजनिक काम में रुपये-पैसों के मामले में सफाई निहायत जरूरी है। काम करने वाले ठीक और उचित तरीके से पब्लिक के दिये रुपये खर्च करें भी और हिसाब ठीक न रखें तो बदनामी हो जाती है। अक्सर बदनामी बेबुनियाद होती है, क्योंकि खर्च तो हुआ रहता है, पर हिसाब के ज्ञान के अभाव के कारण अथवा काम करने वालों की सुस्ती या आलस के कारण हिसाब ठीक न रहने से बदनामी हो जाती है। जब

आशा से अधिक लोगों में उत्साह दीखा और रुपये बरसने लगे तो मुझे यही चिंता थी कि लोगों का विश्वास कहीं झूठा न पड़े। पर ईश्वर की दया से, और खासकर कुमारप्पा जी और उनके अधीन काम करने वाले सैकड़ों कार्यकर्ताओं की चतुरता एवं मुस्तैदी से, काम भली भांति पूरा हो सका। हम कह सकते हैं कि लोगों के दिये हुए रुपये और सामान का अच्छा-से-अच्छा उपयोग हुआ। वास्तव में जैसा सद्व्यय होना चाहिए था, वैसा ही हुआ।

104

बिहार सेंट्रल रिलीफ कमिटी की सेवाएं

मैं कैद से मुक्त होने के बाद भी 10 दिनों तक अस्पताल में रहा। पर अब बाहर भी आया-जाया करता। डाक्टर बनर्जी से डरता था कि कहीं काम करने से रोक न दें; पर दिन-दिन ताकत बढ़ती गयी। काम की भीड़ इतनी थी कि सवेरे चार बजे उठ जाता और चारपाई पर से ही लिखने का काम शुरू कर देता। पत्रों की भरमार थी। उनका उत्तर देना, पत्रों में आयी हुई खबरों के सारांश को फिर नयी अपील के रूप में भेजकर लोगों को यहां की दुर्दशा की सूचना देना तथा अपने केंद्रों से आये हुए पत्रों के उत्तर देना—यह कुछ कम काम नहीं था। मिस्टर अजीज ने अपना एक छोटा मकान दफ्तर के लिए दिया, पर शीघ्र ही काम इतना बढ़ गया कि वहां जगह ना-काफी हो गयी। तब हमने एक दूसरा बड़ा मकान भाड़े पर लिया। दफ्तर के कई विभाग कर दिये गये। सबके चार्ज में एक-एक प्रमुख कार्यकर्ता रखा गया। शुरू में श्री जयप्रकाशजी ही दफ्तर के इंचार्ज रहे। पीछे जब अनुग्रह बाबू छूटकर चले आये और काम भी बहुत बढ़ गया तो उन्होंने उसे संभाला। जो कमिटी हमने बनायी उसमें सभी दलों और सूबों के लोगों को, जिन्होंने मदद पहुंचायी थी, सदस्य बना लिया।

थोड़े ही दिनों के बाद गांधीजी आये। उनके आने के पहले मैंने सोचा कि मैं उसके पूर्व ही एक बार उन स्थानों को जाकर देख आऊं जहां सबसे अधिक नुकसान हुआ है। यह प्रायः भूकम्प के एक महीने बाद हुआ। अब तक मैं दफ्तर में रहकर काम करता था, कुछ तो कमजोरी के कारण और कुछ काम की भीड़ से। अब सहायक लोग आ गये, काम बंट गया और उन लोगों ने उसे संभाल लिया तो मैं बाहर निकला। मैं जहां-जहां गया वहां की हालत देखकर रिपोर्ट भेजता गया जो छोटी पुस्तिका के रूप में छप भी गयी। अपने कार्यकर्ताओं, दाताओं और सहानुभूति दिखलाने वालों को सब बातों से आगाह रखने के लिए हमने एक 'बुलेटिन' निकालना शुरू कर दिया जो कुछ दिनों तक नियमित रूप से निकला, पीछे अनावश्यक समझकर बंद कर दिया गया।

जिन्होंने कमिटी के पास रुपये और सामान भेजे अथवा स्वयं आकर उसके संगठन में योगदान दिया उनके अलावा बहुतेरी दूसरी संस्थाएं निजी तौर से काम करने आयीं। इन सबका हमारी कमिटी के साथ सहयोग था। हम प्रयत्न करते कि हम सबके काम में विरोध

न हो और न एक ही काम दो संस्थाओं द्वारा दुबारा किया जाये। इससे यह फायदा हुआ कि सार्वजनिक धन, चाहे वह कमिटी के पास आया हो या किसी दूसरी संस्था के पास, अच्छे व्यवहार में ही आया। ऐसी संस्थाएं तो बहुत थीं जिनकी पूरी सूची प्रकाशित रिपोर्ट में मिलेगी। पर सबके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए यहां मुख्य के ही नाम दे सकता हूं। वे थीं मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी, मेमन रिलीफ सोसाइटी और श्रीरामकृष्ण मिशन। बाबा गुरुदत्तसिंहजी के दल ने भी अच्छा काम किया। रेडक्रास और इंडियन मेडिकल ऐसोसिएशन ने भी मदद की। श्री सतीशचन्द्र दासगुप्त की मार्फत बंगाल की संकट त्राण कमिटी ने भी दवा, सवारी आदि की अच्छी सहायता की।

एक ओर गर्वनमेंट की अपील थी और दूसरी ओर बिहार सेंट्रल रिलीफ कमिटी की। कुछ दिनों तक तो जनता का और दान देने वालों का इतना उत्साह रहा कि दोनों के फंड प्रायः बराबरी में चलते रहे। हम भी रोजाना की आमदनी प्रकाशित करते और गवर्नमेंट भी करती। महात्माजी जब आ गये और सेठ जमनालाल बजाज अपने साथियों के साथ बिहार में बैठ गये तो मेरे सिर से बोझ कुछ हल्का हो गया। लोगों को राहत पहुंचाने में कठिनाइयां बहुत थीं। पहले तो रेल-लाइनें टूट गयी थीं। माल रेल पर नहीं जा सकता था। रास्तों के पुल टूट गये थे। इसलिए बैलगाड़ी और मोटर-लारी पर भी ले जाना आसान नहीं था। रहने के लिए बहुत जगहों में मकान नहीं मिलता था। बहुत जगहों में पानी का कष्ट था। हमको रिलीफ कमिटी की ओर से कई मोटर-लारी खरीदनी पड़ीं। आहिस्ता-आहिस्ता सड़कें कुछ सुधरीं। पुल तो नहीं बने, पर उनके पास से होकर, जहां कोई बड़ी नदी नहीं थी, दूसरा रास्ता निकल गया। नदियों में नाव से भी काम लिया जाने लगा। रिलीफ कमिटी के झोंपड़े सभी जगहों में बन गये। कार्यकर्ताओं के संगठन में श्री कृपालानी, श्री हार्डीकर और श्रीमती सोफिया सोमजी ने बड़ा काम किया। काम करने वालों की देख-रेख भी कुछ सहज नहीं थी। कार्यकर्ताओं के लिए हमें सैकड़ों साइकिलें देनी पड़ीं। उनके रहने के लिए झोंपड़े बनाने तथा खाने का प्रबंध करना पड़ा। पर यह जानकर आश्चर्य होगा कि अपने कार्यकर्ताओं के खाने का खर्च दो आने रोज से अधिक हम नहीं देते थे। वे उसी में जो कुछ हो सकता, खाकर काम करते। उतना ही उनके लिए काफी था। महात्माजी भी उन जिलों में गये जहां बहुत क्षति हुई थी। उनका जाना दो दृष्टियों से आवश्यक था। एक तो क्षति को वह खुद देख लें और जहां इतनी और इतने प्रकार की क्षति हुई है वहां किसकी पूर्ति करने का हम प्रयत्न करें, यह निश्चय करने में हमारी सहायता करें। दूसरी बात यह भी थी कि उनके जाने से लोगों की हिम्मत बढ़ती और विपत्ति में ढाढ़स होता। इसलिए सभी जगहों में इस बात पर बहुत जोर दिया गया कि महात्माजी सभी जगहों में जायें। यह तो सम्भव नहीं था, पर तो भी बहुत जगहों में वह गये। उन अभूतपूर्व हृदय-विदारक दृश्यों को उन्होंने देखा जो भूकम्प ने उपस्थित कर दिये थे।

हमारे सामने दो प्रकार के प्रश्न थे। भूकम्प के कारण लोगों के घर गिर गये, जो कुछ घर में था बर्बाद हो गया। खाने को अन्न नहीं, पहनने को कपड़े नहीं। अन्न मिले भी तो उसे पकाने के लिए बर्तन नहीं। रहने को घर नहीं। कुएं भस गये। तालाबों में बालू भर गयी। इसलिए पीने को पानी नहीं। यह सब ऐसी मांगें थीं जिनका तुरंत पूरा होना आवश्यक था। इसलिए महात्माजी के आने से पहले ही भोजन, कपड़ा, बर्तन आदि जहां तक हो सका हमने लोगों को बांटा। उससे भी पहले जहां तक हो सका, मकानों का मलबा हटाने का प्रयत्न किया गया, ताकि उसके नीचे दबे लोग निकाले जायें। इस काम में रिलीफ कमिटी बहुत कुछ नहीं कर सकी। यह काम जो कुछ हुआ, स्थानीय लोगों ने ही किया; क्योंकि रिलीफ कमिटी के संगठित होते और कार्यकर्ताओं के पहुंचते-पहुंचते जो मलबे के नीचे दबे थे वे या तो निकाल लिये गये थे या मर चुके थे; पर जो बच गये थे उनको तत्काल मदद देने के काम में रिलीफ कमिटी ने पूरा हाथ बंटाया। महात्माजी के पहुंचते-पहुंचते यह काम भी बहुत-कुछ हो चुका था, यद्यपि अभी एकबारगी खतम नहीं हुआ था। अब जो कुछ रह गया था वह कुछ अधिक स्थायी काम था। इसमें दो-तीन प्रकार के काम मुख्य थे और हमको निश्चय करना था कि हम कौन काम करें ?

ऊपर कहा जा चुका है कि लाखों-लाख मकान गिर गये थे। मकान बनवाने में लोगों की सहायता करना एक बहुत बड़ा काम था। इसी तरह लाखों-लाख कुएं बालू से भर गये थे। बहुतेरे ऐसे गांव थे जहां कुओं में पानी था ही नहीं। यहां तक कि कहीं-कहीं गहरे गड्ढे इस तरह भर गये थे कि वहां यह पता नहीं चलता था कि यहां कभी गड्ढा रहा है। कहीं-कहीं छोटी-मोटी नदियों का पेट बालू से बिलकुल भर गया था। पानी का घोर कष्ट था। यह किसी एक गांव या इलाके की बात नहीं है। गंगा के उत्तर प्रायः सभी जिलों में, सैकड़ों मील की लम्बाई और प्रायः 40-50 मील की चौड़ाई में, थोड़ी या बहुत एक ही हालत थी। पानी किस तरह पहुंचाया जाये, यह बड़ा बीहड़ प्रश्न था। तीसरा प्रश्न जो हमको बहुत परेशान कर रहा था, वह खेतों में बालू का आ जाना था। खेतों में पानी के फौवारे निकले और पानी के साथ-साथ बालू भी निकली। वह इतनी अधिक निकली कि खेत बालू से पट गये। जब पानी सूखा तो मालूम होने लगा कि सारा इलाका बालुकामय मरुभूमि हो गया ! यदि यह बालू यों ही छोड़ दी गयी तो यहां अब फिर कोई फसल न होगी, ऐसा भय होने लगा। इसलिए यह बालू किसी तरह साफ की जा सकती है या नहीं, यह विचारणीय था। हमने खुद देखा कि कहीं-कहीं बालू पांच-छः फुट गहरी पड़ गयी थी। एक जगह थोड़ी जमीन में बालू साफ करने का प्रयोग करके देखा तो उसमें इतना ज्यादा खर्च पड़ा कि वह असम्भव जान पड़ने लगा।

एक और तात्कालिक प्रश्न ईख के कारण उठ खड़ा हुआ। उत्तर बिहार में चीनी के बहुत कारखाने हैं। लोग ईख की खेती करते हैं और उन कारखानों के हाथ ईख बेच देते हैं।

इससे पैसे मिल जाते हैं। भूकम्प ने प्रायः सभी कारखानों को बेकार कर दिया। वे सब रुक गये। करोड़ों की ईख खेतों में खड़ी थीं। अब वह बेकार होने लगी। हमने यह सोचा कि पुराने कोल्हू फिर चालू किये जायें जिससे कुछ भी तो ईख का गुड़ बन जाये और किसानों को कुछ भी बच जाये। गवर्नमेंट ने भी इसको पसंद किया। दोनों संस्थाओं की ओर से कोल्हू बांटे गये। पर कोल्हू मिलने में भी कठिनाई थी, क्योंकि वे इतनी अधिक संख्या में तैयार नहीं थे। उनके लिए बाजार ही नहीं था, इसलिए उनका बनना एक प्रकार से रुक गया था। तो भी कई हजार कोल्हू हमने और गवर्नमेंट ने बांटे और कुछ ईख इस तरह बचायी गयी। पर भाग्यवश कुछ दिनों के बाद बहुतेरी मिलों की मरम्मत हो सकी और उन्होंने अपना काम शुरू किया। इस तरह, जितनी क्षति हो सकती थी, उतनी नहीं हुई।

इनके अलावा छोटे-मोटे और भी बहुत-से प्रश्न थे। इन पर विचार कर तात्कालिक सहायता का काम समाप्त करके आगे के लिए निश्चय करना था। इसलिए कमिटी की एक बैठक पटने में की गयी। इसमें सभी सूबों के प्रमुख लोग, जो इसके सदस्य थे, आये। इसने प्रस्ताव किया कि गवर्नमेंट के काम में हम हर तरह से सहयोग देने को तैयार हैं। अपने काम के लिए इसने एक कार्यकारिणी बना दी। मामूली नियम भी बना दिये। इतनी बड़ी कमिटी का बार-बार इकट्ठा होना मुश्किल था। इसलिए कार्यकारिणी पर ही काम का सारा भार आ पड़ा। वह बराबर मिला करती और सब बातों पर निश्चय किया करती। महात्माजी की राय हुई और हम सब लोग इससे सहमत हुए कि बालू हटाने का काम हमारे लिए असम्भव है, इसलिए उसमें हम हाथ न लगावें; मकान बनवाने के काम में हम सहायता दे सकते हैं, पर उससे भी अधिक आवश्यक और उपयोगी काम पानी पहुंचाने का था; इसमें व्यक्तिगत मदद का भी मौका रहेगा, इसलिए विशेष व्यक्ति के साथ पक्षपात करने का मौका कम आयेगा तथा हमारा काम भी अधिक स्वच्छ होगा; इसलिए हम पहले कुएं और तालाब बनवायें जिनमें मनुष्य और पशु के लिए पानी की सुविधा हो।

परंतु यह काम भी इतना बड़ा था कि हमारे सब पैसे खर्च हो जाते तब भी इसका थोड़ा अंश भी पूरा न होता। फिर भी पहले इसी पर जोर देने का निश्चय हुआ। इसमें भी प्रश्न उठा कि हम 'ट्यूब वेल' बनवायें अथवा पक्के कुएं ? 'ट्यूब वेल' बहुत जल्द तैयार हो सकते थे और यह काम ठेकेदारों के द्वारा आसानी से हो सकता था। हमने कुछ बनवाये भी। पर हमने देखा कि इनसे काम नहीं चलेगा। एक तो यह कि एक ट्यूब वेल से एक घड़ा पानी निकालने में एक आदमी का जितना समय लग जाता है उतने ही समय में कुएं से चार-पांच आदमी एक साथ ही चार-पांच घड़े पानी निकाल सकते हैं। दूसरे, इनकी मरम्मत का प्रश्न भी विकट था। बिगड़ने पर गांवों के लोग इनकी मरम्मत कैसे करायेंगे? उसके लिए हमको बड़ा 'स्टाक' रखना पड़ेगा। फिर कुछ दिनों के बाद यह बेकार हो जायेगा। यह भी देखा गया कि कहीं-कहीं ट्यूब वेल और कुओं में बराबर ही खर्च पड़ता था। इसलिए हमने कुएं

बनवाने का ही निश्चय किया। सभी जगहों पर कार्यकर्ता लोगों ने गांव वालों के सहयोग से कुएं बनवाना आरम्भ कर दिया। हम चाहते थे कि बरसात के पहले ही अधिक-से-अधिक कुएं बन जायें। इनके अलावा पुराने कुओं की मरम्मत भी जरूरी थी। बालू निकालकर उनको साफ कर देने से ही बहुत जगहों में काम चल जाता था। इन सबमें गांवों के लोग अपने शरीर से मदद कर सकते थे। उसी तरह तालाबों को साफ करा देने से मवेशियों के लिए पानी का प्रबंध हो जाता था। हमने कई हजार नये कुएं बनवाये और अनेक पुराने कुओं की मरम्मत-सफाई भी करायी। कई तालाब खुदवाये या बिगड़े हुए तालाबों की मरम्मत करायी। यह सब काम अप्रैल से जुलाई के पहले ही समाप्त हो गया। क्योंकि उसके बाद दूसरा ही प्रश्न आ खड़ा हुआ और हम उसमें लग गये।

पानी पहुंचाने का निश्चय बहुत ही ठीक रहा, क्योंकि उससे हम एक स्थायी काम कर सके। एक कुआं या तालाब से बहुत लोगों को लाभ पहुंचा सके। यह गांधीजी की दूरदर्शिता का ही फल था कि इतना स्थायी काम हो सका। नहीं तो सब रुपये चाहे मकानों की मरम्मत में या बालू साफ कराने में लग जाते। तब भी फल इतना व्यापक न होता। पक्षपात के—गलत चाहे सही—अभियोग से भी हमारी संस्था न बच सकती।

105

भूकम्प के बाद बाढ़ की समस्या

इस काम में हम लगे ही हुए थे कि दूसरा प्रश्न आ खड़ा हुआ। सभी जगहों में नदी-नाले भर गये थे। अतः भय था कि गंगा, सरयू, गंडक जैसी बड़ी-बड़ी नदियों का पेट भी बालू से कुछ भर गया होगा। जमीन की सतह ऊंची-नीची हो गयी थी। इन सब कारणों से आशंका हो रही थी कि बरसात के दिनों में बाढ़ के कारण नयी विपत्ति आ सकती है। हमको उसके लिए तैयारी करनी पड़ी। गवर्नमेंट ने भी अपनी तैयारी की। हमको बहुतेरी नावें बनवाकर या खरीदकर उन स्थानों में रखनी पड़ीं जहां बाढ़ का अधिक भय था।

भूकम्प के बाद गरीबों के लिए, जो मजदूरी किया करते हैं, काम की कमी न रही। किसी-न-किसी तरह का काम उनको मिलता रहा। पर इस बात का भय था कि बरसात में उन्हें काम नहीं मिलेगा। दो-चार दिनों तक विपत्ति-काल में गरीबों को खाना दे देना अच्छा है; पर बिना काम कराये उनको खैरात खिलाना उन्हें निकम्मा और आलसी बनाना है। इसलिए हमने शुरू से ही यही नीति रखी थी कि यथासाध्य बिना काम कराये मुफ्त न खिलाया जाये। जनता को मजदूरों की जरूरत थी ही। सभी लोग, जो काम करा सकते थे, अपने गिरे-पड़े मकानों को साफ या मरम्मत कराते। बहुतेरे तो नये मकान में भी हाथ लगा देते। खेती का काम भी था ही। रिलीफ कमिटी ने जो हजारों कुएं बनवाये और मरम्मत कराये तथा हजारों तालाब-पोखरे खुदवाये या साफ कराये, उनमें भी बहुतेरे मजदूर काम करते रहे। कई जगहों पर हमने नयी सड़कें बनवा दीं या पुरानी बिगड़ी सड़कों की मरम्मत करा दी। इस तरह हजारों मील सड़कें सारे सूबे में हमने बनवा डालीं या मरम्मत करा दीं। पानी के नाले भठ गये थे। यदि वे बरसात के पहले साफ न कर दिये जाते तो पानी का निकास ही नहीं होता। बरसात में गांवों की हालत दर्दनाक हो जाती। इसलिए इस तरह के नालों को भी हमने बहुत जगहों में साफ कराया।

मुजफ्फरपुर जिले में, सीतामढ़ी जाने के रास्ते पर, भरथुआ का एक मशहूर चंवर है। भूकम्प के पहले से ही वहां की हालत कुछ ऐसी खराब हो गयी थी कि बागमती नदी का पानी हमेशा वहां जमा रहता था। जो पहले हरी-भरी जमीन थी, जहां बहुत अन्न पैदा हुआ करता था, वहां की सारी जमीन इस तरह जलमग्न रहने लगी थी कि कुछ भी पैदा न होता।

वह जल भी इतना बुरा था कि वहां के बड़े-बड़े गाछ-वृक्ष भी सूख गये थे। बड़े-बड़े बगीचे यों सूखे खड़े थे कि देखकर आश्चर्य होता था। इस तरह का दृश्य मैंने कोसी नदी के किनारे कुछ गांवों में देखा है, जहां उसी तरह बड़े-बड़े पेड़ बिना पत्ते के सूखे खड़े हैं। गांधीजी सफर में वहां गये थे और वहां की हालत देखकर दुखी हुए थे। वहां के कार्यकर्ताओं ने इस पर बहुत जोर दिया कि कुछ उपाय होना चाहिए। दरियाफ्त करने से मालूम हुआ कि पहले एक नाला या नहर थी जिससे वहां का पानी निकल जाया करता था। बागमती ने अपना पुराना घाट छोड़ दिया और वह नाला भर गया। उसी का यह फल था कि वहां पानी जम गया, जो निकल नहीं सकता था। यदि वह नाला किसी तरह फिर खोल दिया जाये तो वहां सैकड़ों वर्ग-मील फिर हरा-भरा हो जाये।

हम लोगों ने निश्चय किया कि गवर्नमेंट यदि इसका प्रबंध करने को तैयार न हो तो रिलीफ कमिटी द्वारा यह काम करा दिया जायेगा। हमारे अंदाज से खर्च प्रायः 50 हजार का था। गवर्नमेंट से लिखा-पढ़ी हुई। उस नहर के खुदवाने का भार ले लिया। इस तरह की छोटी-मोटी नहरें हमने और कई जगहों में खुदवाकर बहुत-सी बर्बाद हो रही जमीन हरी-भरी बनवा दी। जहां गरीब स्त्रियां दूसरा काम नहीं कर सकती थीं, चर्खे के द्वारा उनको काम दिया गया। इस तरह रिलीफ कमिटी ने सूत और खादी का काम भी कई जगहों में जारी किया। पीछे जब कमिटी का काम समेटा गया तो यह खादी का सारा काम बिहार चर्खा संघ के जिम्मे कर दिया गया। मकान इतने बनवाने थे कि लोगों को मकान बनाने के सामान की बहुत जरूरत थी। ईंट, खपड़ा, रस्सी, बांस, लकड़ी और लोहे के सामान इत्यादि की बड़ी मांग थी। हमने बहुत जगहों में कमिटी की ओर से दूकानें खोल दीं, जहां लागत-मात्र दाम पर चीजें दी जातीं। पर इससे भी अधिक हमने यह किया कि ईंट, लकड़ी, सिमेंट इत्यादि के व्यापारियों के साथ बातचीत करके लागत दाम पर अथवा बहुत कम मुनाफे पर सामान बेचने का प्रबंध कराया। जो हमारे पुर्जे ले जाते उनको उस नियत दाम पर सामान मिल जाता। कमिटी की ओर से उनको कुछ कमीशन दिया जाता था—कहीं बिना इसके भी काम चल जाता। इस तरह जो हमने कमिटी की ओर से सीधे तौर पर मदद की उसके अलावा इस सब चीजों के दाम के नियंत्रण में बहुत बड़ा भाग लेकर मुनासिब कीमत पर लोगों को सामान मुहैया कराया।

इस बात का भी पूरा अंदेशा था कि बरसात के महीनों में चावल की कमी सूबे के बहुत भागों में होगी। देखने में आया कि चावल का दाम कुछ चढ़ता जा रहा है। हमने बरमा प्रांत से बहुत चावल खरीदकर उन सभी स्थानों में, जहां अभाव का भय था, चावल की रिलीफ दूकानें खोल दीं। इसका नतीजा यह हुआ कि चावल का दाम नहीं चढ़ा और लोगों को मुनासिब दाम पर चावल मिलता रहा। रिलीफ कमिटी के रुपये भी चावल बिक जाने पर वापस आ गये। मलेरिया और हैजे के प्रकोप का भय अलग था। कहीं-कहीं यह हुआ भी।

इसके लिए कमिटी के डाक्टरी विभाग ने अपनी शाखाएं बहुत जगहों में खोल दीं और उनसे लोगों को बहुत लाभ पहुंचा। बाढ़ के दिनों में बहुत मुश्किल से लोगों की मदद की जा सकी। कमिटी और गवर्नमेंट की सलाह से नावें उन स्थानों में रखी गयी थीं जहां बाढ़ का भय था। इन नावों के द्वारा बाढ़-पीड़ितों को मदद पहुंचाने में बहुत सहूलियत हुई।

इसके अलावा हमने बहुत-से लोगों को मकान मरम्मत करने या बनवाने के लिए नगद रुपये भी दिये। कमिटी ने निश्चय कर लिया था कि जो लोग भूकम्प के पहले अच्छे धनी-मानी थे अथवा जिनके बड़े मकान थे अथवा जो बड़ा मकान बनवाना चाहते थे, उनकी मदद करने में कमिटी असमर्थ है; क्योंकि उसके पास इतने पैसे नहीं थे। वह तो गरीब और मझोले दर्जे के लोगों की ही मदद कर सकती थी। इसलिए उसने निश्चय किया कि किसी एक व्यक्ति को 250) से अधिक नगद मदद नहीं दी जायेगी। इसके अलावा रिलीफ-दर पर ईंट, बांस, लकड़ी, सिमेंट इत्यादि चीजें दी जा सकती हैं। गवर्नमेंट ज्यादा रकम की मदद देती थी। हमने उस वर्ग के लोगों की मदद का भार गवर्नमेंट पर ही छोड़ दिया। इस तरह पाठकों को कुछ अंदाज मिल गया होगा कि सहायता कितने प्रकार की देनी पड़ी और कितने प्रकार के काम कमिटी को करने पड़े। उसकी रिपोर्ट समय-समय पर छपती गयी। वह लोगों में, विशेषकर दान-दाताओं में, वितरित की गयी।

एक बहुत महत्वपूर्ण अनुभव का उल्लेख आवश्यक है। जब महात्मा गांधी भूकम्प-पीड़ित क्षेत्रों में घूम रहे थे, उनके साथ इंग्लैंड की दो महिलाएं बहुत जगहों में गयीं। एक थीं कुमारी मुरियल लेस्टर जिनके अतिथि महात्माजी गोल-मेज कांफ्रेंस के समय रह चुके थे। दूसरी थीं वहां की, भारत से सहानुभूति रखने वाली, एक सार्वजनिक काम करने वाली कुमारी अगेथा हरिसन। यों तो और भी बहुत-से विदेशियों ने भूकम्प की क्षति देखी थी। सबने अपने-अपने मित्रों को लिखा था। दीनबंधु एंडरूज तो सभी जगहों में, जहां विपत्ति पड़ती थी, जाया ही करते थे; बिहार में भी आये थे। उन्होंने एक पुस्तक लिखकर इंग्लैंड और अमेरिका में छपवायी थी। इन सब कामों से वहां के लोगों में भी बिहार के प्रति सहानुभूति पैदा हुई थी। गवर्नमेंट की अपील भी वहां पहुंची थी। उस पर लोगों ने पैसे की भी मदद की थी।

योरप में एक संस्था है जिसके सदस्य युद्ध के विरोधी हैं। पर वे मानते हैं कि सेना में जिस प्रकार का नियंत्रण होता है और लोगों को अपना सर्वस्व अर्थात जान तक देने का जो अवसर मिलता है उससे बहुतेरे युवक उस तरफ आकर्षित होते हैं; पर यदि इस उत्साह और त्याग-शक्ति को नर-संहार में न लगाकर जन-सेवा में लगाया जाये तो बहुत बड़ा काम हो जाये। इसलिए, इस संस्था के सदस्य, अपने को सैनिक की भांति नियंत्रण में रखते हुए, जहां कोई विपत्ति आती है वहां जाकर, जनता की सेवा करते हैं। इसमें वे जाति व देश का विचार नहीं करते। योरप में पिछले बड़े युद्ध के बाद कई जगहों में, जहां बहुत विध्वंस हुआ था,

उन्होंने जाकर सेवा की थी। इसी तरह कई जगहों में पीड़ित जनता की सेवा करने का अनुभव उनको था। उनके नेता थे स्विटजरलैंड के पियर सेरेसोल। यह इंजीनियर थे। बड़े ऊंचे खानदान के थे। इनके घर के लोग अपने देश के शासन-विभाग के उच्च पदों को—विशेषकर सेना में—सुशोभित कर चुके थे। इनके पिता शायद वहां के प्रजातंत्र के प्रधान रह चुके थे। इन्होंने युद्ध-विरोधी सिद्धांत के कारण वह सब छोड़ दिया था और फौजी शिक्षा से इंकार करने के कारण सजा भी भोगी थी। बिहार में यह कुछ साथियों को लेकर सेवा के लिए आये।

हम लोगों ने देखा था कि कई जगहें इतनी बरबाद हो गयी थीं कि वहां के लोगों को वहां से हटाना ही ठीक था। हमने बहुत कोशिश की कि लोग स्थान छोड़कर कहीं दूर जा बसना पसंद करें। इसके लिए दूसरे स्थानों में जमींदारों से बातचीत करके जमीन बंदोबस्त कराने का यत्न भी हम कर रहे थे; पर कहीं कोई अपने घर को छोड़कर दूर जाने वाला नहीं मिला। इसलिए किसी बड़े पैमाने पर स्थानांतर अथवा स्थान-परिवर्तन का कार्यक्रम असंभव समझकर हमने छोड़ दिया। पर मुजफ्फरपुर जिले में कुछ गांवों के लोग बाढ़ से इतने पीड़ित थे कि गांव छोड़कर थोड़ी दूर अलग बस जाने पर राजी हो गये। हमने सोचा कि इसमें मकान बनाने इत्यादि में हम उनकी मदद करें। गवर्नमेंट भी इस बात पर राजी हो गयी कि रिलीफ कमिटी और गवर्नमेंट दोनों मिलकर इसमें खर्च करें। काम का भार एक स्थानीय कमिटी को सुपुर्द किया गया। डाक्टर सेरेसोल ने इस काम का भार लिया। हमने रिलीफ कमिटी की ओर से उनको ही उस कमिटी का सदस्य बना दिया और उनकी मदद के लिए अपने कार्यकर्ता श्री फणीन्द्रमोहन दत्त को दे दिया।

वहां पर कई नये गांव बसाये गये। इसमें एक साल से अधिक समय लगा। डाक्टर सेरेसोल वहां बराबर रहे। बीच में एक बार योरप गये भी, तो फिर कुछ दिनों के बाद वापस आकर काम में जुट गये। उनके साथ योरप के कई देशों के चार-पांच साथी थे। उन्होंने अपने शरीर से भी बहुत परिश्रम किया। डाक्टर सेरेसोल की अवस्था साठ से अधिक थी। बहुत लम्बे-तगड़े थे। यहां की गर्मी से परेशान हो जाते थे, तो भी उस गांव में ही रहते थे। वहां भोजन का कष्ट था, आराम का वहां कोई सामान न था जिसके वह आदी थे। तब भी दिन-रात दौड़-धूप करते रहते। उन्हें परिश्रम करते देखकर दूसरों को भी उत्साह हो जाता था। जो गांव बसाये गये उनमें मुख्य गांव का नाम शांतिपुर रखा गया। यह सुंदर सम्पन्न गांव आज भी आबाद है और एक नमूने की बस्ती है।

भूकम्प और बाढ़ के कारण कई जगहों में मलेरिया का बड़ा प्रकोप हो गया। रिलीफ कमिटी की ओर से कई जगहों में, मलेरिया से लोगों को बचाने के लिए, विशेष प्रबंध करने पड़े। इनमें मुख्य हैं रामपुरहरि और मनुसमारा का इलाका—मुजफ्फरपुर जिले में; पंडौल और मधुबनी का इलाका—दरभंगा जिले में; तथा सुपौल का इलाका—भागलपुर जिले में।

यह इतना बड़ा काम हो सका कार्यकर्ताओं के उत्साह और त्याग से ही। उनकी जितनी प्रशंसा की जाये, थोड़ी है। अगर मुशाहरा देकर सभी कार्यकर्ता रखने पड़ते तो रिलीफ कमिटी का बहुत रुपया सिर्फ काम करने वालों पर ही खर्च हो जाता। हम आरम्भ से ही इस बात पर बहुत ध्यान रखते थे कि असहायों को मदद देने में ही हमारा अधिक-से-अधिक खर्च हो और मदद पहुंचाने के काम में कम-से-कम खर्च हो। ऊपर कहा गया है कि सेवकों को मोटा-से-मोटा भोजन हम देते थे जिसका लागत खर्च दो आने रोज के लगभग पड़ता था। काम प्रायः डेढ़ साल चलता रहा। इसलिए दफ्तर में कुछ लोग ऐसे अवश्य रखे गये जिनको कुछ निर्वाह-व्यय भी देना पड़ता; पर वह भी हम किफायत-से-किफायत दर से देते। इसके अलावा दफ्तर के लिए मकान, सामान इत्यादि का खर्च भी करना पड़ता था। माल ढोने के लिए और कार्यकर्ताओं तथा निरीक्षकों को कम-से-कम समय में अपने स्थानों पर पहुंचाने के लिए हमें लारियां और सवारियां भी खरीदनी पड़ी थीं। यह सब खर्च संस्था के नाम से लिखा जाता। हमेशा हम इस बात पर ध्यान रखते कि संस्था-खर्च और सहायता-खर्च का अनुपात जहां तक कम रह सके, रहे। हम अपनी रिपोर्टों में इसका भी बराबर जिक्र करते। शुरू में जब लोगों को अन्न-वस्त्रादि पहुंचाना था तब केंद्र से इनको ढोकर सहायता की जगह पर ले जाने और बांटने का खर्च ज्यादा पड़ा। यह स्वाभाविक था। जब कुआं, पोखरा, तालाब, सड़क, पुल, नहर इत्यादि में हाथ लगाया गया तो संस्था-खर्च कम हो गया। जब मकान के लिए रुपये बांटने का समय आया तो यह खर्च और भी कम हो गया।

यहां एक छोटी घटना का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है। गवर्नमेंट ने अपने सिविल सर्विस के एक सुयोग्य अफसर मि. ब्रेट को रिलीफ-कमिश्नर बनाया था। रिलीफ के सारे काम का भार उन्हीं पर था। उन्होंने रिलीफ संबंधी एक रिपोर्ट लिखी, जिसमें उन्होंने बिहार सेंट्रल रिलीफ कमिटी का भी जिक्र किया और उसके खर्च का सारांश भी उस रिपोर्ट में दिया। वहां उन्होंने लिख दिया कि रिलीफ कमिटी का संस्था-खर्च ज्यादा पड़ा। वह रिपोर्ट लिखकर, अपना काम खतम करके, छुट्टी पर इंग्लैंड चले गये। यह रिपोर्ट उनके चले जाने के बाद छपी। हमने देखा कि यह संस्था-खर्च का हिसाब बिलकुल गलत है। हमने गवर्नमेंट को लिखा कि हमारे जांचे और छपे हिसाब में संस्था-खर्च तो उतना नहीं है, गवर्नमेंट के आंकड़े गलत हैं। हमने जानना चाहा कि वे आंकड़े कहां से कैसे निकले हैं? मि. ब्रेट की गैरहाजिरी में उत्तर मिला कि आंकड़े मि. ब्रेट ने तैयार किये थे और गवर्नमेंट को मालूम नहीं कि वह कैसे उन आंकड़ों तक पहुंचे थे। ऐसी अवस्था में उचित होता कि गवर्नमेंट अपनी भूल स्वीकार कर लेती; पर ऐसा भी नहीं किया गया और गवर्नमेंट की रिपोर्ट में वे गलत अंक आज भी पड़े हैं!

जब रिलीफ का काम खतम हो गया तो जो रुपये बचे थे वे एक ट्रस्ट के जिम्मे कर दिये गये। जब कभी इस तरह की विपत्ति बिहार में आवेगी तब वे खर्च होंगे। सौभाग्यवश कोई

बड़ी विपत्ति तब से नहीं आयी है। जहां-तहां छोटी-मोटी बाढ़ आयी तो थोड़ी-बहुत सहायता की जरूरत पड़ी। वह सहायता उसी में से दी गयी है। ट्रस्टियों ने रुपयों को खाली न रखकर, महात्माजी की सलाह से, अधिकांश चर्खा संघ को कर्ज दे रखा है। चर्खा संघ कुछ ब्याज देता है और चर्खा द्वारा रुपये गरीबों की सेवा में लगे भी हैं। इस तरह एक पंथ दो काज हो रहा है। ट्रस्टी थे सरदार वल्लभभाई पटेल, सेठ जमनालाल बजाज और मैं। सेठजी के स्वर्गवास के बाद अब दो ही रह गये हैं।

106

सत्याग्रह स्थगित

रिलीफ कमिटी के काम से जब महात्माजी ध्वस्त जगहों का दौरा कर रहे थे, एक घटना हुई जिसका असर यहां की राजनीति पर बहुत पड़ा। ऊपर कहा जा चुका है कि 1933 के मध्य भाग में ही सत्याग्रह आन्दोलन में सुस्ती आ गयी थी। व्यक्तिगत सत्याग्रह से कुछ जागृति देखने में आयी, पर वह भी धीरे-धीरे जाती रही। जिस समय भूकम्प हुआ, गांधीजी दक्षिण भारत में हरिजन-संबंधी दौरा कर रहे थे। वहां से ही वह बिहार आये थे। अब तक नये सुधारों की बात इंग्लैंड में कुछ आगे बढ़ चुकी थी। दूसरी गोल-मेज कांफ्रेंस के बाद कुछ और कार्रवाई हुई और एक श्वेत पत्र (White Paper) निकला जिसमें वे सिद्धांत निश्चित किये हुए थे जिनके अनुसार नया विधान बनने वाला था। लोग समझते थे कि शीघ्र ही श्वेत पत्र के अनुसार कानून बन जायेगा और नया विधान काम में आने लगेगा। कुछ लोग सोच रहे थे कि यह नया विधान चाहे कितना भी खराब क्यों न हो और चाहे उसके अनुसार काम करना हम स्वीकार करें या न करें, कांग्रेस को चुनाव में भाग लेना चाहिए। इस बात की चर्चा चारों ओर चलने लगी और कांग्रेस लोगों में भी यह बात चली। डाक्टर अंसारी, डाक्टर विधानचन्द्र राय और श्री भूलाभाई देसाई ने यह बात कांग्रेसियों में चलायी। मैं तो रिलीफ के काम में ही व्यस्त था। इसलिए मुझे तो इस ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं था। महात्माजी शायद कुछ-न-कुछ सोचते रहे होंगे।

उत्तर बिहार के सफर में एक दिन भागलपुर जिले के 'सहरसा' नामक गांव में हम लोग ठहरे। दूसरे दिन सोमवार था, महात्माजी का मौन-दिन। महात्माजी मौन में कुछ लिखते रहे। मैं यों भी कभी उनका समय व्यर्थ नहीं लेता, उस दिन तो वह लिख रहे थे। इसलिए दिन-भर मैं उनसे कुछ बातें न कर सका। संध्या 4-5 बजे के करीब उन्होंने मेरे हाथ में एक कागज दिया और लिखकर कह दिया कि इसको पढ़कर अपनी सम्मति दो। मैं उसको पढ़ गया। उसमें सत्याग्रह बंद कर देने की बात थी और चुनाव संबंधी संकेत था। उन्होंने उसमें यह बताया था कि कुछ उनके विश्वासी लोगों ने, जो जेल से निकले हैं, ऐसी बातें कही हैं जिनसे उनको इस नतीजे पर पहुंचना पड़ा है। देश में व्याप्त सुस्ती के अलावा मेरे सूबे में

भूकम्प के बाद से दूसरा ही वातावरण हो गया था। यहां सत्याग्रह तो हो ही नहीं रहा था, बल्कि हम लोगों के प्रायः सभी साथी जेलों से मुक्त कर दिये गये थे और रिलीफ के काम में उनका अगर पूरा सहयोग नहीं था तो किसी प्रकार का विरोध भी नहीं था। अगर पूरे सहयोग में किसी प्रकार की कमी थी तो वह हमारे कारण से नहीं थी, गवर्नमेंट ही पूरा सहयोग नहीं चाहती थी और हमारे सभी कामों को संदेह की दृष्टि से देखती थी। इसलिए आन्दोलन को, जो बहुत-कुछ स्वयं बंद हो चुका था, बाजाब्ता बंद कर देने की बात मुझे खटकी नहीं। और बातें भी ऐसी नहीं थीं जिनसे कुछ चोट लगे। इसलिए ध्यान से पढ़ने के बाद मैंने उस वक्तव्य के साथ अपनी सहमति प्रकट कर दी। तुरंत उसकी नकल की गयी और महात्माजी का विचार हुआ कि उसे अखबारों में भेजा जाये। वहां से तो तार भी नहीं जा सकता था। इसलिए मैं किसी को उसके साथ पटने भेजने का प्रबंध कर रहा था कि इतने में एक आदमी पटने से आ गया।

पटने में डाक्टर अंसारी का तार आया था। उसी को लेकर एक आदमी को वहां के लोगों ने भेज दिया था। पटने में लोगों ने समझा था कि सहरसा में तार नहीं मिल सकेगा। उस तार में डाक्टर अंसारी के पटने आने की बात थी। वह इन्हीं विषयों पर महात्माजी से बातें करने आ रहे हैं। उनके साथ डाक्टर विधानचन्द्र राय और श्री भूलाभाई देसाई भी आवेंगे। यह तार पाकर महात्माजी ने अपने वक्तव्य को अखबारों में भेजने से रोक दिया और पटने जाने का निश्चय किया। डाक्टर अंसारी के पहुंचने के समय हम लोग पटने पहुंच गये। डाक्टर अंसारी प्रभृति से महात्माजी की बातें हुईं और उसके बाद वह वक्तव्य अखबारों में भेज दिया गया। इस वक्तव्य के निर्णय से बहुतेरे कांग्रेसी संतुष्ट थे; पर जो कारण बताया गया था उसे वे पसंद नहीं करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि अब प्रमुख कांग्रेसियों का इकट्ठा होकर इस विषय पर विचार करना आवश्यक हो गया। महात्माजी का बिहार का दौरा अभी पूरा नहीं हुआ था। छोटानागपुर जाना बाकी था; उधर भूकम्प से नुकसान नहीं हुआ था; पर गांधीजी ने हरिजन-संबंधी काम से उधर का भी दौरा करना पसंद किया। वह उधर चले गये। सलाह-मशविरे के लिए प्रमुख कांग्रेसियों को रांची में बुलाया गया। यह कोई बाजाब्ता बैठक नहीं थी, लोगों की राय जानने के लिए ही बुलाहट हुई थी। वहां मैं भी गया। सभी सूबों से बहुतेरे लोग आये। दो-तीन दिनों तक बातचीत हुई। निश्चय हुआ कि पटने में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की बाजाब्ता बैठक की जाये। इस बीच में महात्माजी और जगहों का दौरा कर लेंगे। मई (1934) के महीने में पटने में यह बैठक हुई।

इस बैठक की विशेषता यह थी कि अब तक सभी कांग्रेस कमिटियां गैर-कानूनी थीं। उनमें से किसी की भी बैठक गैर-कानूनी होती। पर गवर्नमेंट ने भी रंगढंग समझ लिया था। उसकी ओर से किसी तरह की रोक-टोक नहीं हुई। श्रीमती राधिकासिंह-हॉल में बैठक हुई

और संध्या समय उसी के मैदान में। दो प्रकार के लोग थे। जो प्रस्ताव वर्किंग कमिटी की ओर से पेश किया गया उसमें सत्याग्रह स्थगित करने का आदेश था, केवल गांधीजी को सत्याग्रह करने का अधिकार दिया गया था। कौंसिल के चुनाव में भाग लेने की भी बात थी। साथ ही, महात्माजी के वक्तव्य का समर्थन था। कुछ लोग तो प्रस्ताव के साथ सहमत थे। कुछ लोगों ने उसका बहुत तीव्र विरोध किया। विरोध उस निश्चय के साथ तो था ही, महात्माजी के वक्तव्य में जो कारण बताया गया था उसके साथ भी था। कुछ लोग, जो सत्याग्रह बंद करने के विरोधी नहीं भी थे, कौंसिल चुनाव में भाग लेने के विरुद्ध थे। बहुत गरमा-गरम बहस के बाद प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इस विरोध में अधिक भाग उन लोगों का था जिन्होंने 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' बनायी। पटने में ही, इसी अवसर पर, सोशलिस्ट लोगों ने अपनी एक अलग कांफ्रेंस की। उन्होंने अपनी पार्टी, कांग्रेस के अंदर रहकर ही, संगठित की। इसके मुख्य कार्यकर्ता और नेता आचार्य श्री नरेन्द्रदेव और श्री जयप्रकाशनारायण थे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी में विरोधियों में मुख्य आचार्य नरेन्द्रदेव ही थे।

जो हो, अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। इसके बाद अब गवर्नमेंट के लिए भी रास्ता खुल गया। उसने कुछ दिनों के बाद कांग्रेस कमिटी पर से गैर-कानूनी होने का हुक्म उठा लिया। कुछ दिनों में वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। उसने आदेश दिया कि कांग्रेस का पुनर्संगठन जल्द-से-जल्द कर लिया जाये और सभी कमिटियां बाजाब्ता काम करना शुरू कर दें। इस बार दोनों पक्षों ने अपने-अपने मंतव्य स्वतंत्र रूप से प्रकाशित कर दिये थे। इसलिए किसी पर किसी का दावा या बंधन नहीं था। गांधी-अर्विन समझौते के बाद उसकी शर्तों को पूरा कराने में बड़ी कठिनाई हुई थी। इस बार वह सब बखेड़ा नहीं था। कुछ दिनों के बाद गवर्नमेंट ने एक-एक करके सभी आश्रमों और कांग्रेस-भवनों को वापस कर दिया। वे जिस अवस्था में थे उसी दशा में उन्हें हमको ले लेना था और फिर मरम्मत वगैरह का सारा काम हमको स्वयं करना था। इसलिए, इस बार लिखा-पढ़ी में न समय लगाना पड़ा और न सिर खपाना पड़ा। वर्धा में वर्किंग कमिटी की बैठक हुई जिसमें एक कौटुम्बिक विपत्ति के कारण मैं नहीं जा सका। इन दिनों सेठ जमनालाल बजाज स्थानापन्न सभापति बनाये गये और वही कांग्रेस का संचालन करने लगे। निश्चय हुआ कि कांग्रेस का विशेष अधिवेशन किया जाये। यही अधिवेशन अक्टूबर में बम्बई में हुआ। सभी सत्याग्रही अभी तक छूटे नहीं थे। सरदार वल्लभभाई, पंडित जवाहरलाल प्रभृति अभी तक जेल में ही थे। सरदार तो बम्बई कांग्रेस के पहले ही निकल आये; पर पंडित जवाहरलालजी बम्बई कांग्रेस के बहुत बाद तक जेल में ही रहे।

107

भाई की मृत्यु और ऋण संकट

इधर मेरे घर में बड़ी विपत्ति आ गयी। मैं, इसी कारण से, पटना में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक हो जाने के बाद वर्धा में होने वाली वर्किंग कमिटी में शरीक न हो सका। अखिल भारतीय कमिटी की बैठक समाप्त होने के बाद बहुत जल्द ही यह विपत्ति आयी।

रिलीफ के काम में भाई ने भी बहुत परिश्रम किया था। छपरे में ही उनको अधिक काम करना पड़ा था। प्रांतीय काम में भी उन्होंने अच्छा भाग लिया था। मैंने ऊपर एक जगह लिखा है कि उन्होंने आसाम में कुछ जमीन ली थी। कभी-कभी वहां जाया करते थे। अभी तक उसका कोई समुचित प्रबंध न हो सका था। वह मई के महीने में वहां एक बार गये। वहां से लौटकर आये तो उनको ज्वर हो गया। वह जगह बहुत मलेरिया-ग्रस्त थी। उनको मलेरिया ने वहीं पकड़ा जिसका असर यहां घर लौटने पर मालूम हुआ। पर उससे वह अच्छे हो गये। मैं एक दिन छपरे गया तो उनको अच्छा पाया, पर देखा कि वह बैंक का काम करने लगे हैं। उस समय वह बहुत कमजोर थे। मैंने मना किया, कहा कि अभी कुछ और आराम कर लें, शक्ति हो जाने पर ही काम करें। यह सब कहकर मैं पटने चला आया। मेरे पटना लौटने के दो-चार दिनों के अंदर ही एक दिन दोपहर को छपरे से तार आया कि उनकी तबीयत खराब है, डाक्टर रघुनाथशरण को मैं भेज दूं अथवा साथ लेकर आऊं। तार पढ़कर मेरी चिंता बढ़ गयी। यह तार छपरे के सिविल सर्जन डाक्टर राजेश्वरप्रसाद की राय से दिया गया था।

जब तक डाक्टर शरण से मिलकर छपरा जाने का निश्चय हो रहा था तब तक दोपहर का स्टीमर, जो गंगा-पार जाता है, निकल गया। हम लोगों ने रात तक ठहरना मुनासिब नहीं समझा। मोटर पर डाक्टर शरण के साथ मैं रवाना हो गया। नाव से मोटर को गंगा-पार करके हम लोग आगे चले। भूकम्प के कारण सड़कें तो यों ही खराब हो गयी थीं, रेल बंद हो जाने से जो बहुत बैलगाड़ियां और लारियां चली थीं उससे सड़कों की हालत और भी रद्दी हो गयी थी। हम लोग प्रायः दस बजे रात को छपरे पहुंचे। वहां के सभी डाक्टर बहुत चाव और प्रेम से चिकित्सा कर रहे थे। डाक्टर राजेश्वरप्रसाद तो दिन-रात वहीं रहते थे। जब उन्होंने

हालत काबू के बाहर देखी तभी तार दिया था। ज्वर के अलावा इस समय 'किडनी' की हालत खराब हो गयी थी। इसलिए पेशाब और खून का जांचना अत्यंत आवश्यक था। उनको पहले कुछ चीनी की शिकायत थी और उसकी चिकित्सा भी करायी गयी थी जिससे वह कुछ संभल गयी थी; पर कमजोरी की हालत में शायद उसने भी जोर कर दिया था।

रात को ही पेशाब इत्यादि लेकर आदमी पटने भेजा गया। डाक्टरों ने बहुत परिश्रम किया, पर दिन-दिन बीमारी बढ़ती गयी। पटने से वैद्यराज पंडित ब्रजबिहारी चौबेजी को भी बुलाया। उन्होंने भी कुछ उपचार किया, पर किसी का कुछ असर न हुआ। अंत में डाक्टरों की राय हुई कि शायद एक 'किडनी' निकालने से कुछ लाभ हो। डाक्टर राजेश्वरप्रसाद अच्छे सर्जन हैं, पर वह यह जवाबदेही अकेले लेना नहीं चाहते थे। डाक्टर बनर्जी के बुलाने का प्रयत्न किया गया, पर वह मेडिकल कालेज बंद होने के कारण पटने में नहीं थे। मुंगेर में डाक्टर बटुकदेव प्रसाद वर्मा सिविल सर्जन थे। वह भी अच्छे सर्जन हैं। वह बुलाये गये, पर उनके हाथ में कोई दूसरा मरीज था, जिसको तुरंत छोड़कर वह कहीं बाहर जा नहीं सकते थे। लखनऊ में तार दिया कि वहां के नामी सर्जन डाक्टर भाटिया बुलाये जायें, पर वह भी न आ सके। कलकत्ते तार दिया तो वहां के मित्रों ने नामी सर्जन डाक्टर पंचानन चटर्जी को भेजा। पटने के कर्नल एलेक्जेंडर को भी बुलाया। सबने देखकर यही कहा कि कमजोरी इतनी है कि छुरी लगाना ठीक न होगा। हार मानकर नश्तर की बात छोड़ी दी गयी। इसके दो दिनों के अंदर ही उनका स्वर्गवास हो गया!

हमने तार देकर जमशेदपुर से जनार्दन और उनके स्त्री-बच्चे को बुला लिया था। लखनऊ से दामाद और लड़की भी आ गयी। शिकारपुर की बबुनी मृत्यु होने पर पहुंची। पटने से साथ-ही-साथ भाई मथुरा प्रसादजी आये थे। पूज्य ब्रजकिशोर बाबू भी आ गये। इस तरह सभी इष्ट-मित्रों के बीच, बाल-बच्चों से घिरे हुए, उन्होंने शरीर-त्याग किया। हम सब राम-नाम ले रहे थे और गीता-पाठ कर रहे थे। हम सबके लिए तो आफत का पहाड़ टूट पड़ा। हमने घर से कभी संबंध रखा ही न था। सब कुछ वही करते थे। जब मैं वकालत कर रहा था और रुपये कमा रहा था तब भी वही मेरी देखभाल करते थे। जब मैं असहयोग करके फक्कड़ बन गया तब भी वही मेरी देखभाल करते थे। मेरी स्त्री और लड़के भी उनके ही साथ बराबर रहे थे। मैं जब कभी जाता था तो उनसे मिल आता था। उन्होंने घर की स्त्रियों को कभी एक-दूसरे से अलग न होने दिया, लड़कों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया। लड़के भी उनको ही पिता जानते और मानते थे। यह विपत्ति अचानक आ पड़ी। वह भी ऐसे समय आयी जब मैं दूसरे काम में व्यस्त था।

हम लोग जल्द ही दाह-क्रिया के लिए सरयूजी चले गये, जो उन दिनों छपरा शहर से कुछ दूर पर थीं। दाह-क्रिया करते देर हो गयी। दूसरे दिन सवेरे, घर के सब लोगों के साथ, मोटर पर हम जीरादेई चले गये। वहीं घर पर श्राद्धादि क्रिया की गयी। भाई सारे सूबे में

विख्यात थे। वह सार्वजनिक सेवा में बहुत समय लगाते थे। इसके अलावा छपरे में और दूसरी जगहों में भी लोगों की सेवा-सहायता किया करते थे। किसी के घर में यज्ञ हो, वह प्रबंध में मदद करते। किसी प्रकार का सभा-सम्मेलन कहीं हो, वह प्रबंध में जुट जाते थे। व्यक्तिगत व्यवहार लोगों के साथ इतना अच्छा रखते थे कि किसी को कोई जरूरत हो तो उसको पूरा करने में हिचकते नहीं थे। इसलिए उनकी मृत्यु की खबर जब छपी तो सारे सूबे से बहुत मित्रों के सहानुभूति-सूचक तार और पत्र आने लगे। इन सबसे मुझे बढ़ा ढाढ़स हुआ। महात्माजी के सांत्वना-सूचक शब्दों का असर तो पड़े बिना रह ही नहीं सकता था।

यह सब होते हुए भी मेरे लिए यह बहुत ही कठिन और दुख का समय हुआ। मैं कह चुका हूं कि घर के कारबार से मेरा कुछ सरोकार नहीं रहा करता था। सब कुछ भाई ही देखा करते थे। यहां तक कि जब मैं रुपये पैदा किया करता था तब भी मेरे निजी आराम और जरूरत की चीजों का ख्याल वही किया करते थे। जब पटने आते, नौकर से पूछते कि मेरे कपड़े तो ठीक हैं न, मेरी धोतियां अच्छी हैं या पुरानी हो गयी हैं, मेरे पास कुर्ते कितने हैं, मैं नाश्ता क्या करता हूं—इत्यादि। और, जरूरत के मुताबिक उस नौकर को, चाहे मेरे क्लर्क मौलवी शराफत हुसैन को, जिनको हम सब 'मुंशीजी' कहा करते थे, हिदायत दे जाते। मैं भी, जो कुछ खर्च के बाद बच जाता सब उनके ही हवाले कर देता। घर पर थोड़ी जमींदारी थी जिससे 400 रुपये से 500 रुपये तक मासिक बचत होगी। पिताजी, जमींदारी के काम से अलग ही रहते थे, इससे कुछ बदइंतजामी हो गयी थी, जिसके कारण इतनी आमदनी होते हुए भी कभी-कभी कष्ट हो जाया करता। मैं पहले ही लिख चुका हूं कि जब भाई प्रयाग में बी.ए. में पढ़ रहे थे तब परीक्षा के समय उन्होंने युनिवर्सिटी-फीस के लिए रुपये मांग भेजे; इतनी रकम कोई बड़ी चीज नहीं थी; पर इंतजाम का सारा भार दीवान पर था, दीवान जल्दी न दे सके तो पिताजी ने कर्ज लेकर रुपये भिजवाये। यह तो एक साधारण उदाहरण है। रुपये की दिक्कत हमेशा रहा करती।

मैं छपरे में जब पढ़ता था, वहां नगद रुपयों की बहुत कम जरूरत होती। दो मोदियों से बात पक्की हो गयी थी। मैं पुर्जा लिख देता, वे जरूरत की चीजें दे देते। सब पुर्जे लेकर वे जीरादेई जाते और रुपये वहीं से पाते, केवल स्कूल-फीस और पुस्तक अथवा कपड़ा खरीदने के लिए नगद रुपये की जरूरत होती। जब कोई घर से जमींदारी के मुकदमे की पैरवी के लिए आता तो मैं ले लेता। इसके लिए एक आदमी, जिनका नाम किन्नू राय था, नियुक्त थे। वह हमेशा छपरा आते-जाते रहते। इसलिए मुझे कभी कोई तकलीफ नहीं हुई। पर यह बात भाई के साथ नहीं थी। उनको पटने या प्रयाग में खर्च के लिए हर महीने नगद रुपये चाहिए था। इसके लिए उनको बहुत कष्ट झेलना पड़ा था। इस बात को वह भूले नहीं थे। इसलिए, पिताजी के देहांत के बाद, जब उन्होंने जमींदारी का इंतजाम संभाला तो मेरे पास खर्च भेजने का बहुत अच्छा प्रबंध कर दिया; बल्कि सच तो यह है कि पिताजी के जीवन-काल में ही, जब

वह प्रयाग से बी.ए. पास करके आ गये, जमींदारी का काम देखने लगे। प्रबंध उन्होंने अच्छा कर दिया।

पिताजी के मरने के समय थोड़ा कर्ज था। उनकी मृत्यु के बाद एक भतीजी की शादी हुई, उसमें भी कुछ कर्ज हो गया। इस तरह कई हजार का कर्ज था। पर इतनी जमींदारी के लिए यह कर्ज कुछ इतना बड़ा न था कि अदा ही न हो सके, विशेषकर अगर कुछ बाहर की नगदी आमदनी हो जाये। भाई साहब बिहार-बैंक की छपरा-शाखा के मैनेजर थे। पर उनको इतना वेतन नहीं मिलता था कि वहां का सब खर्च चलाकर वह कुछ बचा सकें। मैं कुछ कमाता था जरूर; पर खर्च भी काफी करता था। इसलिए यह कर्ज अदा न हो सका। एक और लड़की की शादी आ गयी। उसमें भी खर्च पड़ा। चाची मर गयीं। उनके श्राद्ध में खर्च पड़ा। पर इन सबसे कर्ज बढ़ा नहीं; बल्कि आमदनी कुछ बढ़ गयी; क्योंकि 1200 रुपये की सालाना आमदनी जो चाची को तीर्थाटन के लिए मिली हुई थी, अब बचने लगी। तो भी किसी तरह बोझ हल्का न हुआ। पर सब लोग बड़े आराम से रहते। ऊपरी ठाठ-बाट बहुत अच्छा था। नाम और यश अच्छा फैला। भाईसाहब बहुत ही उदार थे। खर्च काफी किया करते थे, किसी व्यसन या शौकीनी में नहीं; पर तरह-तरह के दूसरे खर्च थे। इसलिए अच्छा प्रबंध होने पर भी पहले का कर्ज अदा न हो सका। वह आशा लगाये थे कि मैं इतने पैसे कमा लूंगा कि कर्ज आसानी से अदा हो जायेगा। जब मैंने वकालत छोड़ने का निश्चय कर लिया तो उनकी सब आशाओं पर पानी फिर गया। पर कभी उन्होंने एक शब्द भी मुझसे कहा नहीं।

वह जानते थे कि सार्वजनिक सेवा की ओर मेरी अभिरुचि उनके ही प्रोत्साहन से हुई थी। जहां तक हो सका, वह बराबर इसमें मेरी मदद ही करते थे। कभी असंतोष प्रकट न करते। मुझे इस तरह के काम से रोकने का खयाल भी अपने मन में न आने देते। इसलिए, अपनी सब सांसारिक आशाओं पर पानी फिरते देखकर भी वह खुश ही रहे और हमेशा मुझे खुश रखने के प्रयत्न में ही लगे रहे। उन्होंने यह सोचा कि बैंक की नौकरी से आमदनी ज्यादा नहीं हो सकती। ज्यादा मुशाहरा वाली दूसरी नौकरी चाहते तो मिल जाती; क्योंकि चुस्त मैनेजर होने की उनकी काफी ख्याति थी। पर जिस बैंक के स्थापित होने में उन्होंने मदद की थी उसको किसी तरह छोड़ना नहीं चाहते थे। इसके अलावा उसमें सुविधा भी थी। वह नौकर की तरह नहीं, मालिक की तरह काम करते। उतना परिश्रम शायद ही कोई नौकर (मैनेजर) किसी बैंक का करता हो। साथ ही, वह प्रायः रविवार को जीरादेई चले जाते और घर का कारबार देख आते। सार्वजनिक कामों में भी वह बहुत समय लगाते। बैंक के अधिकारियों की ओर से इसमें कभी रुकावट नहीं डाली जाती। उन्होंने इन्हीं कारणों से बैंक से अलग होना तो गैरमुनासिब समझा, पर सोचा कि किसी दूसरे उपाय से कुछ आमदनी बढ़ायी जाये। इसलिए उन्होंने चावल की एक मिल खोली।

मैं तो कांग्रेस के काम में व्यस्त था, मिल का काम बहुत आगे बढ़ जाने पर मुझे इसका पता लगा। भाई के हाथ में बैंक का काम, कोआपरेटिव सोसाइटियों का काम और दूसरे-दूसरे इतने अधिक काम थे कि वह इस मिल की देख-रेख में कुछ समय न दे सके। उन्होंने दूसरों पर भरोसा किया। दूसरे लोग, चाहे अनुभव के अभाव से, चाहे सुस्ती से, चाहे और किसी कारण से, ठीक प्रबंध न कर सके। मिल में रुपयों की कमी हो गयी। धान का मौसम बीतता जाता था। यदि उस समय धान न खरीदा गया तो मुनाफा न होगा। पर आशा की जाती थी कि यदि किसी से रुपये लेकर लगा दिये जायें तो मौसम बीतने पर चावल बिक जाने से रुपये वापस आ जायेंगे और महाजन को अदा कर दिये जायेंगे। बाजार की हालत ऐसी समझी जाती थी कि लागत रुपयों के ब्याज देने के बाद भी अच्छा मुनाफा रहेगा। उन्होंने ऐसा ही समझा और मुझसे कहा कि सेठ जमनालालजी से एक 'सीजन' के लिए कुछ रुपये ला दो। सेठजी ने इस बात को मंजूर कर लिया। रुपये आ गये। मिल खूब जोरों से चलने लगी। तैयार होने के पहले ही चावल बिक जाता। खरीदारों की भीड़ लगी रहती। सब समझते थे कि खूब मुनाफा होगा। मिल के संचालक महाशय ने दाम लगाने में ही भूल कर दी थी। लागत से कम दर पर ही चावल बिक रहा था। ऐसी अवस्था में खरीदारों का टूट पड़ना कोई आश्चर्य नहीं था। जितना ज्यादा चावल बनता और बिकता, घाटे की रकम उतनी ही बढ़ती गयी। सेठजी के रुपये आ जाने से मैंने भी थोड़ी दिलचस्पी ली। एक दिन मिल में गया। वहां ठहरकर हिसाब देखा। मालूम हुआ कि लागत से कम पर ही चावल बिक रहा है। मैनेजर मेरी बात मानते नहीं। अंत में भाईसाहब को भी समय लगाना पड़ा। उन्होंने भी हिसाब लगाकर देखा और समझ लिया कि बहुत नुकसान हो चुका है। नतीजा यह हुआ कि सेठजी का रुपया समय पर नहीं दिया जा सका। आहिस्ता-आहिस्ता कुछ-कुछ अदा हुआ, पर बहुत ज्यादा बाकी रह गया।

जब ऐसी अवस्था मालूम पड़ी तो हम दोनों बहुत शर्मिंदा हुए, पर कुछ कर नहीं सकते थे। तकाजा होता रहा, पर रुपये अदा न हो सके। सेठजी के एक मारवाड़ी मित्र श्री बैजनाथ केडिया बिहार में कहीं थोड़ी जमीन लेकर खेती करना चाहते थे। एक बार सेठजी और केडियाजी दोनों जीरादेई आये। मेरी जमींदारी में 70-80 बीघे जमीन ऐसी है जो अपने जोत में रहती है। उसमें धान, गेहूं, ऊख इत्यादि सब प्रकार की फसलें पैदा हो सकती हैं। मेरे मकान से प्रायः एक मील के अंदर ही वह जमीन है। सेठजी के और दूसरे कर्ज मिलकर 60-65 हजार होते थे। वह इस पर राजी हो गये कि यह जमीन और मकान उनको हम बेच दें तो वह सबका सब कर्ज चुकता कर देंगे। मकान पक्का है, भड़कदार है; बना तो था दादा के समय में, पर भाईसाहब ने उसमें कई हजार लगाकर उसे बढ़ाया था और कुछ हिस्से को दोमहला बनाया था। यदि मकान और जीरात की जमीन हम उस समय बेच देते और कर्ज से मुक्त हो जाते तो हर तरह अच्छा होता। इसके बाद भी कम-से-कम 500 रुपये मासिक

की आमदनी जमींदारी से बेदाग बच जाती। हां, घर कहीं अन्यत्र बनाना पड़ता। पर इस समय घर के लोग अधिक छपरा रहा करते थे। छोटा घर कहीं अपनी जमींदारी में बना लेना मुश्किल नहीं था। मैंने इस राय को पसंद किया और इस पर जोर दिया कि कर्ज अदा करने का इससे बेहतर रास्ता इस समय नहीं हो सकेगा। इसलिए इसे तय कर देना चाहिए।

सेठ लोगों से बातचीत हुई। वे तो राजी थे ही। सेठ जमनालाल बजाज ने भी बहुत जोर दिया कि यह बोझ हटा देना चाहिए, नहीं तो आगे चलकर यह गला दबा देगा। भाई साहब बाप-दादा के बनाये और हम सबके जन्म-स्थान पुराने मकान को बेचने से बहुत हिचके; पर मजबूरन कुछ-कुछ राजी भी हुए। पीछे घर की स्त्रियों और कुछ मित्रों की राय से, जिनमें बाबू मथुरा प्रसाद भी थे, प्रभावित होकर वह मकान और खेत बेचने पर राजी नहीं हुए। मामला खत्म हो गया। पैतृक मकान और जीरात के खेत तो नहीं बिके; पर थोड़े ही दिनों में दूसरे महाजनों का इतना जोर हुआ कि काफी जमींदारी बेचनी पड़ी।

चावल-कल के घाटे से तो दबे थे ही, उन्होंने कुछ दूसरा व्यापार करना चाहा! छपरे में बिजली का कारखाना खोलने का प्रबंध किया। 1930 में, जब मैं जेल में था, यह बात तय हुई। रुपये अपने पास तो थे नहीं, छपरा इलेक्ट्रिक सप्लाई कम्पनी कायम की गयी। गवर्नमेंट ने लाइसेंस उनको ही दिया, कम्पनी को नहीं। इसलिए बिजली-कल उन्होंने ही बनवायी। रुपये कर्ज के थे। कुछ बैंक से लेकर कम्पनी ने दिया। कुछ 'शेयर' बेचकर और कुछ उन्होंने अपनी जवाबदेही पर कर्ज लेकर रुपये लगाये। पहले का और अबका कर्ज मिलकर बहुत हो गया था। मरने के एक-दो साल पहले ही उनको प्रायः 2,200 रुपये सालाना आमदनी की जमींदारी बेच देनी पड़ी। तो भी अभी सब कर्ज अदा न हुआ। सेठ जमनालालजी के रुपये तो बाकी रह ही गये। दूसरे भी कई जगहों के रुपये बाकी थे। मुझे सेठजी के सिवा दूसरों के कर्ज की खबर नहीं थी। जब जमींदारी बिकी तो मैंने सोचा था कि अब बोझ हल्का हो गया होगा। पर यह कहां होने वाला था? कुछ तो खर्च के कारण और कुछ इस तरह के व्यापार के कारण कर्ज बढ़ता ही गया। कभी-कभी वह कहा करते थे कि बिजली के हिस्से अगर बिक जायें और जो रुपये लगाये गये हैं वे उतर आवें तो बोझ हल्का हो सकता है। पर यह भी उन्होंने आशावादी होने के कारण ही कहा था। कुछ हिस्से बेचने का प्रयत्न भी किया गया, पर चूंकि बिजली-कल पर कम्पनी का स्वत्व ही नहीं था, हिस्से बिकने में कठिनाई हुई। इस तरह अपने ऊपर कर्ज का भारी बोझ बढ़ता गया। ब्याज भी बढ़ता गया और अदाकारी का कोई सामान नजर नहीं आता था। लड़के लोगों में मेरा भतीजा इंग्लैंड से लोहा बनाने का काम सीखकर आया और ताता कम्पनी में उसे जगह मिल गयी थी। वहां उसको 300-350 रुपये के लगभग मिलता था; पर वहां का खर्च और घर के लोगों के वहां रह जाने का खर्च इतना अधिक होता कि वह बहुत बचा नहीं सकता। शायद भाईसाहब जिस तरह मुझसे कभी कुछ नहीं मांगते और न मुझे आर्थिक चिंता में कभी

डालना चाहते, उसी तरह उससे भी कभी कुछ न चाहते और न कहते। उनकी मृत्यु हो जाने के बाद हमको इसका पता लगा कि हम कितने गहरे पानी में उतर गये हैं। लोगों का उन पर इतना विश्वास था कि बिना किसी लिखा-पढ़ी के लोगों ने हजारों-हजार का कर्ज उन्हें दे दिया था। अगर वह जीते रहते तो और भी न मालूम कितने हजार उनको लोगों से मिल जाते।

उनके मरने के बाद जब मुझे यह सब देखने की नौबत आयी तो पहले तो मुझे यही नहीं मालूम था कि किसको कितना देना है और किससे कितना पाना है। मैं छपरे में ठहर गया। उनके एक विश्वासी बैंक के नौकर थे जो उनके निजी लेनदेन की भी पूरी खबर रखते थे। उन्होंने मुझे कुछ बताया और पीछे महाजन लोग एक-एक करके खुद मेरे पास आये और कहने लगे। जब मुझे पूरा पता चल गया कि कितना देना है तो मैं बहुत परेशान हो गया; क्योंकि सब कुछ बेच देने पर भी सबका कर्ज अदा होना कठिन था। हां, यदि अच्छी कीमत आ जाये तो किसी तरह शायद सब अदा हो सके। पर अब जमींदारी की अच्छी कीमत देता कौन है और वह भी जब जल्दी में बेचना हो! इतने कर्ज का भार सिर पर रखना मेरे लिए असह्य था। मैं चाहता था कि किसी तरह लोग जमींदारी ले लेते और हमको मुक्त कर देते तो बड़ी कृपा होती। पर सभी महाजन जमींदारी लेना नहीं चाहते थे। मैंने सबसे कहा कि मैं कोई-न-कोई प्रबंध करके एक साल में रुपये अदा करने का प्रयत्न करूंगा और जो जमींदारी लेना चाहें उनको तो तत्काल ही लिख देने को तैयार हूं। लोगों का भाईसाहब पर इतना विश्वास था—उनके साथ इतना प्रेम था और मुझ पर भी विश्वास था कि सभी बिना हिचक के मेरी बात मान गये। मैं चाहता था कि अब सब काम छोड़-छाड़कर जमींदारी बेचने के प्रबंध में लग जाऊं और इस बोझ को हटाकर फिर सार्वजनिक काम में आ लगूं।

108

ऋणमुक्ति और बम्बई कांग्रेस

इतने ही में बम्बई में होने वाली कांग्रेस का समय नजदीक आने लगा और सभापति के लिए मेरा नाम आया। कराची कांग्रेस के बाद उड़ीसा में होने वाली कांग्रेस के सभापतित्व के लिए भी मेरा नाम आया था और एक प्रकार से मैं चुना भी गया था। पर सत्याग्रह छिड़ जाने के कारण वह कांग्रेस हुई ही नहीं। जब फिर बाजाब्ता कांग्रेस होने लगी तो स्वाभाविक रीति से मेरा ही नाम लोगों को जंचने लगा। इसके अलावा भूकम्प संकट निवारण के काम से सारे देश में मेरे प्रति बहुत प्रेम और विश्वास बढ़ गया था। गांधीजी भी चाहते थे कि मैं ही सभापति होऊं।

भाई की मृत्यु के आघात से मैं घायल था ही। उस पर कर्ज के बोझ का पता लगते ही मैं और भी कातर हो गया था। मैंने ऐसी अवस्था में कांग्रेस के सभापतित्व का बोझ लेना अनुचित और असम्भव समझा। महात्माजी की ओर से श्री महादेव भाई देसाई ने लिखा कि भूकंप संबंधी काम से संतुष्ट होकर देश मेरे प्रति विश्वास और श्रद्धा दिखलाना चाहता है, मुझे इस भार को लेना उचित है; कर्ज के संबंध में सेठ जमनालालजी से कुछ बातें हुई हैं, वह देखेंगे। शायद वहां यह समझा गया था कि उनका ही अधिक कर्ज है तो वह कोई उपाय सोचकर कोई प्रबंध कर देंगे।

सेठजी एक बार मेरे घर के लोगों से मिलने जीरादेई आये। घर के लोगों के साथ भी उनका बहुत प्रेम हो गया था। मेरी भौजाई, मेरी स्त्री और दो पतोहुएं बहुत दिनों तक साबरमती आश्रम में रही थीं। वहीं उनसे सबकी मुलाकात हो गयी थी। इसलिए भाई के मरने पर पुछार करने वह आये थे। घर का सब हाल और कर्ज का भी कुछ हाल सुना था। उनका ख्याल था कि सब जमींदारी यदि ठीक कीमत पर बिक जाये तो सब कर्ज अदा हो सकेगा, पर जमींदारी की लालच एकदम छोड़नी पड़ेगी। मैं इस पर राजी था ही। इसलिए महात्माजी ने उनका हवाला दिया और कर्ज की चिंता उन पर छोड़कर कांग्रेस का भार उठाने को कहा। यहां महाजनों ने भी एक साल का समय दे ही दिया था। मैंने सभापतित्व का गुरुतर भार स्वीकार कर लिया। सेठजी ने अपने मुनीम को भेज दिया कि सब महाजनों से

हिसाब कर लें जिससे इसका पूरा पता लग जाये कि कितना देना है और उनसे बातचीत भी करके यह पता लगावें कि उनमें से कौन जमींदारी लेने पर राजी हैं।

पर मेरी विपत्ति का अभी अंत नहीं था। मेरे भतीजे जनार्दन का एक बच्चा था। करीब छः बरस का हो चुका था। जैसा पहले भी लिख चुका हूं,उसे सभी बहुत प्यार करते थे। मेरी भी बहुत मुहब्बत थी। उसको ज्वर हो गया। उसके सिर में कभी-कभी दर्द हुआ करता था। भाईसाहब की मृत्यु के समय वह अपनी मां के साथ जमशेदपुर से आया था। इलाज कराने के लिए मैं उसे पटने ले आया। यहां उसे टाइफाइड हो गया। 18-20 दिनों तक बीमार रहकर वह भी चल बसा। इसकी चोट हमको बहुत लगी। भाईसाहब तो चले ही गये थे,अब यह होनहार बच्चा भी चला गया। इन सब कारणों से मैं बहुत व्यथित था। पर कांग्रेस का सभापतित्व स्वीकार कर लिया था,एक तरह से अच्छा ही हुआ,उसमें जी लग गया और अब घर की चिंता करने का समय ही नहीं रह गया। कांग्रेस के सभापतित्व की बात कहने के पहले घर की बात पूरी कर देना अच्छा होगा,यद्यपि यह अध्याय सभापतित्व के बाद भी कुछ दिनों तक चलता रहा।

जब कर्ज का सब हिसाब देख लिया गया और सेठजी को रिपोर्ट दी गयी तो इस बात का प्रयत्न किया गया कि जो राजी हों उनको जमींदारी दे दी जाये। कुछ महाजन राजी हुए। उनके हाथ जमींदारी बेच दी गयी। महाजन लोगों में प्रायः सभी, एक को छोड़कर, बहुत अच्छी तरह पेश आये। एक महाशय ने कसकर सूद-ब्याज लिये—एक पैसा भी,जैसा सभी महाजन फारखती के समय किया करते हैं,छोड़ा नहीं। और सबों ने,भाईसाहब की मृत्यु के बाद के अदाकारी के दिन तक, जो उसके सात-आठ महीने बाद हुई, ब्याज नहीं लिया। किसी-किसी ने और भी कुछ छोड़ दिया। जमींदारी वगैरह का अधिकांश बेच डालने पर भी, कुछ महाजनों के—जो जमींदारी लेना नहीं चाहते थे—और सेठजी के रुपये बाकी रह गये। मैंने बाकी सारी जमींदारी सेठजी के नाम में जरपेशगी लिख दी और उन्होंने दूसरे महाजनों के नगद रुपये अदा करा दिये। सब रुपये उस समय वह अपने पास से नहीं दे सकते थे,तो उन्होंने सेठ घनश्यामदास बिड़ला से कुछ दिलवाये और कुछ खुद दिये। इस तरह सारा-का-सारा कर्ज अदा हो गया। पर एक धूर जमीन भी अपनी जमींदारी की नहीं रह गयी। सेठजी को बिहार में जमींदारी तो लेनी नहीं थी। उस समय उन्होंने उसे इसलिए लिखवा लिया कि आहिस्ता-आहिस्ता जमींदारी बेचकर उनके रुपये अदा कर दिये जायेंगे। यही विचार घनश्यामदासजी का भी था। इस तरह मैं कर्ज के बोझ से मुक्त हो गया।

हां,जमींदारी बेचकर सेठों के रुपये अदा करने थे। जब तक अदा न हो,सूद देना था। अब जमींदारी में से एक पैसा भी हम घर-खर्च में नहीं ले सकते थे। जीरात की जमीन भी जरपेशगी में थी। पर सबकी आबादी वगैरह हम लोगों को ही कराना था और उन लोगों को सूद सालाना अदा करते जाना था। जमींदारी का ठेका उन्होंने मेरे छोटे लड़के धन्नू के नाम

से लिख दिया था। इस तरह, यद्यपि कानूनी तौर पर जरपेशगीदार सेठजी हुए, तथापि जमींदारी और जीरात हमारे ही कब्जे में रही। उनको सिर्फ सालाना सूद मिलना था और जैसे-जैसे हो सके असल रुपये भी पाने थे। लड़के लोग कुछ-न-कुछ पैदा कर रहे थे, इसलिए जमींदारी पर भोजन के लिए भरोसा करने की जरूरत नहीं थी। मैंने इस बात की कोशिश की कि बची हुई जमींदारी बिके, पर अब जमींदारी की कीमत और भी घटती गयी। कांग्रेस मिनिस्ट्री ने लगान घटाकर आमदनी भी कम कर दी। अब जमींदारी की न वह कीमत रही और न वह इज्जत। इसलिए जमींदारी अभी तक बिकी नहीं है। पर मैं केवल उसे बेचने के ही भरोसे बैठा न रहा। चम्पारन में कुछ जमीन मैंने वकालत के जमाने में ही ली थी। वहां पास में ही चीनी-कल बन जाने से ऊख से कुछ पैसे मिलने लगे। जीरादेई के पास की जीरात में भी ऊख से कुछ पैदा होने लगा। कुछ जनार्दन की कमाई से, कुछ धन्नू के ऊख के ठेके की बचत से, कुछ घर के पुराने कीमती शाल-दुशाले बेचकर, हमने सूद और असल अदा करना शुरू कर दिया। यानी जो कुछ आता और बचता, सब इसी काम में लगा दिया जाता। इस तरह अब तक उस कर्ज की अच्छी रकम अदा हो चुकी है। पर अब भी कुछ रकम बाकी है। सूद हमेशा अदा होता गया है। अब ऐसी हालत है कि मैं आशा करता हूं, असल भी कुछ दिनों में इसी तरह से, जमींदारी बिना बेचे ही, अदा हो जायेगा। वे दिन मेरे लिए बहुत ही अंधकारमय थे जब अपने ऊपर इतने कर्ज का भार मैंने पाया। सेठ जमनालालजी की चतुरता और उदारता ने रास्ता निकाला और घनश्यामदासजी की सहायता लेकर उन्होंने मेरे सिर के बोझ को हल्का कर दिया। जमीन तो नहीं बची, पर इज्जत बच गयी, ईमान बच गया, सब महाजनों का जो हम पर विश्वास था वह भी बच गया—साथ ही, देश के महत्वपूर्ण काम का भार उठाने की शक्ति भी बच गयी।

भाईसाहब गये। जमनालालजी ने उनका स्थान ले लिया। मैं पहले-जैसा ही निठल्ला बना रहा। उनके प्रति शब्दों द्वारा कृतज्ञता नहीं प्रकट की जा सकती। साथ ही, मैं अपने भतीजे जनार्दन और दोनों लड़के मृत्युंजय तथा धनंजय को भी हृदय से आशीर्वाद देता हूं कि ऋणसंकट के इस कठिन समय में भी वे अधीर नहीं हुए। घर का सब कुछ खुशी-खुशी हंसते-हंसते उन्होंने दे डाला। एक प्रकार से पहला काम उनका इस बोझ को ढोना और कर्ज को अदा करने के लिए दस्तावेज पर दस्तखत करना ही हुआ। उन्होंने न कभी शिकायत की और न मुंह बनाया। अब वे अपना कमाते-खाते हैं। जो बोझ अभी रह गया है उसको भी हटाने की चिंता में वे हैं। इस हिम्मत और सब्र के लिए उनको भी बधाई है। ईश्वर उनका भला करेगा। अभी ही अच्छे दिन लौटते दिखने लगे हैं।

बम्बई कांग्रेस के दिन निकट आ गये। 1931 के मार्च के बाद कांग्रेस का बाजाब्ता अधिवेशन यही होने वाला था। इस बीच में दूसरी बार का सत्याग्रह हो चुका था। ब्रिटिश गवर्नमेंट ने सुधार संबंधी अपनी नीति श्वेत पत्र के रूप में प्रकाशित कर दी थी। विलायत

में नया विधान उसी के अनुसार बन रहा था। कांग्रेस गैर-कानूनी संस्था अब नहीं थी। वह इन विषयों पर अपनी राय देने वाली थी। साथ ही,1934 के नवम्बर में ही—अर्थात कांग्रेस अधिवेशन के चंद हफ्तों के अंदर ही,केंद्रीय असेम्बली के सदस्यों का चुनाव होने वाला था। इस संबंध में भी कांग्रेस को अंतिम फैसला देना था। भावी विधान संबंधी नीति भी निर्धारित करनी थी। इसलिए अधिवेशन का महत्व काफी था। मैंने परिपाटी के अनुसार अपना भाषण लिखा। पर वह अभी पूरा न हो पाया था। मैंने सोचा था कि कुछ पहले ही वर्धा चला जाऊंगा और वहां एकांत में बैठकर उसे समाप्त करूंगा। वहां गांधीजी से भी बातें कर लेने का मौका मिलेगा। पर जो भाषण मैंने लिखा था उसमें प्रस्तावित विधान की काफी आलोचना थी। मैंने उसे डाक्टर सच्चिदानन्द सिंह को दिखलाया कि कहीं किसी अंश में, अज्ञान अथवा असावधानी के कारण,मैंने कुछ भूल तो नहीं की है। उन्होंने उसे देखा और मुझे विश्वास दिलाया कि आलोचना ठीक है और कोई भूल नहीं है। मैं पटने से जमशेदपुर गया। वहीं से वर्धा जाने वाला था। पर वहां मुझे ज्वर और दमा का दौरा हो गया। वहीं ठहर जाना पड़ा। अच्छा होकर वर्धा गया। वहां की अच्छी आब-हवा में जल्द ही अच्छा हो गया। भाषण भी वहीं समाप्त कर सका।

109

बम्बई में कांग्रेस की तैयारी और कार्यवाही

बम्बई वालों को कांग्रेस अधिवेशन के प्रबंध के लिए कम समय मिला था। पर उन्होंने बहुत ही अच्छा और विशाल आयोजन कर लिया था। जैसे रिलीफ कमिटी के रुपये जमा करने के समय लोगों में उत्साह हो गया था वैसे ही इस अधिवेशन के लिए भी काफी उत्साह हो गया था। लोग समझते थे कि यह दिखला देना चाहिए कि कांग्रेस मरी नहीं है। उन्होंने एक कांग्रेसनगर बसाया था। वहां समुद्र के किनारे, खुले मैदान में, अधिवेशन के लिए, आसमान के नीचे, विराट पंडाल बनाया जिसमें प्राय: एक लाख आदमी बैठ सकते थे। खादी प्रदर्शनी का भी वैसा ही सुंदर और विस्तृत प्रबंध किया। सभापति के स्वागत के लिए विशेष प्रबंध था। 'कल्याण' स्टेशन पर ही मैं नागपुर मेल से उतार लिया गया। वहां मुंह-हाथ धोकर नाश्ता-पानी करके मैं तैयार हो गया। कल्याण में ही कई संस्थाओं की ओर से मुझे मानपत्र दिये गये। वहां से मैं घर के लोगों और कुछ मित्रों के साथ स्पेशल ट्रेन पर गया। कल्याण स्टेशन पर ही श्री दीपनारायण सिंह उतर पड़े और मेरे साथ हो लिये। उनकी कृपा मुझ पर बहुत दिनों से थी। मुझे सभापति होते देखकर उनकी खुशी का ठिकाना न था। खासकर इसीलिए वह वहीं उतरकर मेरे साथ हो गये।

बहुत धूम-धाम से मैं बम्बई पहुंचा। जहां-जहां रास्ते में गाड़ी ठहरी, स्वागत का हजूम रहा। फूल-मालाओं से डब्बा भर गया। रंग-बिरंगी चीजें लोगों ने भेंट कीं। बम्बई स्टेशन पर इतनी भीड़ थी कि मुझे उतारकर सवारी तक ले जाना कठिन था। लोगों ने चार घोड़ों की गाड़ी पर चढ़ाकर मुझे जलूस में ले जाने का प्रबंध किया था। मैं कमजोर था। पर लोगों की इच्छा और स्वागतकारिणी के निश्चय तथा प्रबंध के प्रतिकूल कुछ भी करना असम्भव था। इसलिए श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री नरीमन और अपनी स्त्री के साथ मैं गाड़ी पर सवार होकर जलूस में चला। उस दिन तक बहुत लोग यह नहीं जानते थे कि मेरी स्त्री हैं; क्योंकि वह कभी मेरे साथ सभा इत्यादि में नहीं जाया करती थीं। उस दिन भी, यदि श्रीमती नायडू उनको न ले लेतीं तो वह शायद और लोगों के साथ सीधे निवासस्थान पर चली जातीं।

जलूस बहुत लम्बा था। शहर की तैयारी भी अनोखी थी। लोगों की भीड़ भी वैसी ही

थी। तमाम दुकानें सजायी गयी थीं। जगह-जगह लोगों ने सुंदर मेहराबें बनवायी थीं। बाजार में जहां जिस चीज की मुख्यता थी वहां उसी चीज की प्रधानता सजावट और मेहराब में नजर आती। जहां कलों की दुकानें थीं वहां की सजावट कलों से ही की गयी थी। रूई बाजार की मेहराब रूई की गांठों की थी। मैंने सुना कि उस मेहराब में, जो बहुत ही विशाल थी, लाख रुपये से अधिक की गांठें लगी थीं। रास्ते-भर में अनगिनत स्थानों पर लोगों ने फूल, माला, आरती इत्यादि से स्वागत किये। न मालूम कितनी ही चीजें भेंट देते गये। गाड़ी इन चीजों से बिलकुल भर गयी थी। इस जलूस और स्वागत के संबंध में लोगों का कहना था कि इस तरह का स्वागत किसी का कभी बम्बई में उसके पहले नहीं हुआ था; 1918 में हसन इमाम साहब का भी बहुत स्वागत हुआ था, जब वह विशेष कांग्रेस के सभापति बने थे; पर इस बार की तैयारी उससे भी कहीं ज्यादा थी, क्योंकि 1918 के मुकाबले जनता में जागृति अब कहीं अधिक थी। जलूस में प्रायः तीन घंटे से अधिक लगे। अंत में कांग्रेस-भवन होता हुआ मैं निवास-स्थान पर, जो कांग्रेसनगर में ही था, पहुंचाया गया। बहुत ही थक गया था, पर बीमार नहीं पड़ा।

दूसरे दिन से अखिल भारतीय कमिटी और विषय निर्वाचिनी समिति की बैठक होने वाली थी। महात्माजी तथा दूसरे नेता भी पहुंच गये। विषय-समिति की बैठक में बहस बहुत गरमागरम होती रही। कई बातें ऐसी हो गयी थीं जिनसे ऐसा होना स्वाभाविक था। कांग्रेस के अधिवेशन के कुछ पहले गांधीजी ने एक वक्तव्य निकाला था। उन्होंने उसमें यह कहा था कि वह कांग्रेस से अलग हो जायेंगे और उसकी जो कुछ सेवा-सहायता होगी वह कांग्रेस के बाहर रहकर ही करेंगे। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा था कि कांग्रेस के विधान में हेर-फेर करना आवश्यक है जिसमें वह और भी अधिक चुस्त और जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था हो जाये। महात्माजी के इस विचार से देश में एक प्रकार की खलबली-सी हो गयी थी। यद्यपि महात्माजी ने इस बात का पूरा आश्वासन दिया था कि बाहर से भी वह कांग्रेस की पूरी सहायता कर सकेंगे और उनके इस प्रकार हटने से कांग्रेस में कमजोरी न आकर उसकी शक्ति बढ़ेगी, तथापि लोगों को इस आश्वासन से संतोष नहीं होता था। मैंने अपने भाषण में महात्माजी के इस निश्चय का भी समर्थन किया था। पर अखिल भारतीय कमिटी के लोगों में इससे बड़ा असंतोष था।

मैं सोचता था कि महात्माजी का यह निश्चय कांग्रेस को कमजोर करने अथवा उसकी किसी तरह बुराई करने के लिए तो किया नहीं गया था; हम जब चाहेंगे उनसे सलाह-मशविरा कर सकेंगे और सभी महत्वपूर्ण बातों में उनका पथ-प्रदर्शन हमेशा हमें मिला करेगा; पर उनके हट जाने से एक बात अवश्य होगी—सभी निश्चयों का भार उनको ही सोच-समझकर लेना होगा, जो लोग रह जायेंगे। जब से महात्माजी कांग्रेस में आ गये हैं, उनके व्यक्तित्व के सामने दूसरे लोग कुछ फीके पड़ जाते हैं। दूसरे लोग कुछ ऐसे-वैसे नहीं हैं। हमारे नेताओं

में काफी योग्यता, दूरदर्शिता और त्याग है। वे सभी प्रश्नों पर हर पहलू से विचार कर सकते हैं। देश के भले के लिए वे समुचित निश्चयों पर पहुंच सकते हैं। पर गांधीजी के नेतृत्व में हममें से कुछ उन पर इतना ज्यादा भरोसा करते हैं कि वह जो कुछ कह देते हैं उसे हम मान लेते हैं। हम अपनी बुद्धि और विचार-शक्ति को काम में लाने की जरूरत नहीं समझते। तो भी मैं मानता हूं कि जो निश्चय गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने किये हैं, बिना समझे-बूझे नहीं किये हैं। महात्माजी समझते थे कि वह अलग होकर सोचने-विचारने का भार सब लोगों पर डाल देंगे। और, जो यह देखने में आता है कि जो कुछ होता है उनके कहने से होता है, यह भावना दूर हो जायेगी।

मैंने इन बातों से सहमत होकर ही उनके निश्चय का समर्थन किया था। पर दूसरे लोग इस बात पर इस दृष्टि से विचार नहीं कर रहे थे। कुछ तो घबराते थे कि महात्माजी के हट जाने का अर्थ उनका कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जाना है और अब उनकी सलाह-सम्मति भी नहीं मिलेगी। कुछ यह मानते थे कि उनके हट जाने से कांग्रेस पर जनता का उतना विश्वास नहीं रह जायेगा जितना आज है, इसलिए कांग्रेस कमजोर हो जायेगी। कुछ शायद यह भी समझते थे कि कांग्रेस के भीतर भिन्न-भिन्न विचार वाले लोगों के आ जाने से गांधीजी रुष्ट होकर हट जा रहे हैं, उनको किसी-न-किसी तरह जरूर रखना ही चाहिए। इन कारणों से विषय निर्वाचिनी में इस विषय पर बहुत बहस हुई। वहां गांधीजी से अनुरोध किया गया कि वह अपने विचार बदल दें और जिस तरह नेतृत्व करते आये हैं, करते रहें। पर वह अपने निश्चय पर डटे रहे। वह इसी बात पर जोर देते रहे कि उनके हटने से कांग्रेस का कुछ नुकसान नहीं होगा। साथ ही, पूछे जाने पर सलाह-मशविरा देते रहने का आश्वासन भी देते जाते थे और कांग्रेस के विधान में संशोधन की बात भी करते जाते थे। अंत में, जब यह स्पष्ट हो गया कि वह अपने निश्चय से किसी तरह डिगने वाले नहीं हैं तब और चर्चा चलने लगी।

विधान के संशोधन में भी काफी बहस रही। एक सब-कमिटी बनायी गयी जिसने संशोधन का मसविदा तैयार किया। उसमें विशेष हाथ गांधीजी का और नयी बनी हुई सोशलिस्ट पार्टी का ही रहा। एक और विवादग्रस्त विषय था जिसका संबंध प्रस्तावित भारतीय विधान के साथ था। ऊपर कहा जा चुका है कि गोल-मेज कांफ्रेंस के समय प्रधानमंत्री मैकडोनाल्ड ने साम्प्रदायिक निर्णय दिया था, जिसके एक अंश के विरुद्ध गांधीजी को अनशन करना पड़ा था और जो हरिजनों के साथ पूना में समझौता करके बदलवाया गया था। उस निर्णय में और भी ऐसी बातें थीं जिनको कोई भी राष्ट्रीय भावना का आदमी स्वीकार नहीं कर सकता था। पर उसमें एक शर्त लगा दी गयी थी। वह यह थी कि यदि वे सभी लोग, जिनका संबंध उससे था अथवा जिनके स्वत्व पर उसका असर पड़ता था, आपस में मिलकर समझौता कर लें और इस समझौते के द्वारा उसे बदलना चाहें तो वह बदल दिया जायेगा। इसी शर्त के

अनुसार उसका वह हिस्सा, जिसका संबंध हरिजनों के साथ था— उनके साथ समझौता करके, बदलवा दिया गया था। कांग्रेस की वर्किंग कमिटी ने उस निर्णय को अन्यायपूर्ण मानते हुए भी निश्चय किया था कि वह उसे न तो मंजूर करती है और न उसका विरोध ही करती है।

वर्किंग कमिटी के इस निर्णय का अर्थ यह नहीं था कि वह उसका समर्थन करती है अथवा उसे न्याय-संगत समझती है। उसने उसकी निंदा कड़े शब्दों में की थी। इसलिए कोई यह नहीं कह सकता था कि वह किसी तरह उसका समर्थन करती है। पर वह उसका विरोध नहीं करना चाहती थी; क्योंकि विरोध का अर्थ होता था दूसरों के साथ खुल्लमखुल्ला झगड़ा, और यह विरोध अनावश्यक भी था। कमिटी ने तो सारे विधान को ही नामंजूर कर दिया था। इसलिए विधान का यह अंश भी सबके साथ ही नामंजूर हो गया था। अलग से नामंजूर करने का अर्थ यह भी होता था कि हम परोक्ष रूप में और अंशों को मान लेते हैं, तभी तो एक अंश को विशेष करके नामंजूर करते हैं। साथ ही, विधान का यही अंश ऐसा था जिसको बदलने का अधिकार हमारे हाथ में था; दूसरे किसी अंश के बदलने की शक्ति हमको विधान द्वारा नहीं मिली थी। इन्हीं विचारों से प्रेरित हो वर्किंग कमिटी ने अपना निश्चय प्रकट किया था, जिसका सारांश यह था कि कमिटी सारे विधान को नामंजूर करती है और सारे विधान के साथ-साथ यह अंश भी गिर जायेगा। और, यद्यपि वह इसे राष्ट्रीयता की दृष्टि से घातक समझती है तथापि उपरोक्त कारणों से वह इसे न स्वीकार करती है और न इसका विरोध करती है। इस विषय पर पं. मदनमोहन मालवीयजी और श्री अणे के साथ बहुत बातें हुई थीं। पर न वे गांधीजी को समझा सके और न गांधीजी उनको समझा सके ! कांग्रेस की विषय निर्वाचिनी समिति में इस विषय पर भी काफी बहस रही। पर यह स्पष्ट था कि वर्किंग कमिटी की राय से ही कांग्रेस सहमत है। कई दिनों तक गरमागरम बहस के बाद प्रस्ताव तैयार हुए और कांग्रेस के आम जलसे का समय आ गया।

मैं यद्यपि बहुत कमजोर हो गया था तथापि उस समय न मालूम कहां से शक्ति आ गयी और सब काम ठीक से अंजाम देता गया। सोशलिस्ट दल के लोग संगठित रूप से बहस में भाग ले रहे थे। उनमें अच्छे विद्वान और बोलने वाले थे। वे सभी बातों में अपने स्वतंत्र विचार रखते थे। मेरे सामने अक्सर नियम के प्रश्न आते रहे। मैं कभी किसी असेम्बली या कौंसिल का मेम्बर नहीं था। कांग्रेस की नियमावली में ऐसे विषयों पर नियम नहीं हैं। वहां जब इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं तो उनका निपटारा अंगरेजी पार्लियामेंट और सभा-सोसाइटियों के नियमानुसार किया जाता है। यहां की असेम्बली और कौंसिल के नियम भी उसी आधार पर बने हैं। देश की सभा-समितियों के नियमों के भी वे ही आधार हैं। उन नियमों से मेरा कोई विशेष परिचय नहीं था। इस मौके पर बहुतेरे प्रश्न उठाये गये जिनका निर्णय मुझे वहीं तत्काल देना पड़ा। मैंने अपनी बुद्धि से, जो मुझे ठीक मालूम हुआ,

निर्णय दिया। पीछे मुझे यह जानकर संतोष हुआ कि मेरे निर्णय नियमानुकूल होते गये।

मैंने कांग्रेस के अधिवेशन में अपना पूरा भाषण नहीं पढ़ा। गांधीजी की राय से हमने सोच लिया था कि कांग्रेस का अधिवेशन निर्धारित समय के भीतर ही समाप्त करना चाहिए। स्पष्ट था कि जिस तरह के विवादग्रस्त प्रश्न आने वाले थे उनका निपटारा, यदि समय न बचाया जाता तो, नहीं हो सकता था। मैंने अनुभव से यह भी देखा है कि सभापति के छपे भाषण का वहां पढ़ा जाना लोग बहुत पसंद भी नहीं करते—उसे ध्यान देकर सुनते भी नहीं; क्योंकि छपी प्रति उनके हाथों में होती है और उसे वे अपने सुभीते से पढ़ लेते हैं। बेलगांव कांग्रेस में गांधीजी ने अपने भाषण को अधिवेशन के पहले ही बंटवा दिया था और कह दिया था कि प्रतिनिधिगण उसे पढ़कर अधिवेशन में आवें। मैंने भी, इन विचारों से, भाषण पढ़ने में कांग्रेस का समय नहीं लिया। कुछ अंश पढ़ दिया। उसके बाद मुख्य प्रस्ताव पर बहस छिड़ गयी। वह भारतीय विधान संबंधी प्रस्ताव था। उसमें वर्किंग कमिटी के तत्संबंधी निश्चय का समर्थन था। पं. मालवीयजी ने उसके संशोधनार्थ प्रस्ताव दिया और बहुत जोरदार भाषण भी किया। दूसरे दिन भी उस पर बहुत जोरों से बहस चली।

अंत में, जब उस पर राय लेना का समय आया, पं. मालवीयजी उस पर फिर कुछ बोलना चाहते ते। नियमानुसार उनको कुछ कहने का अधिकार नहीं था; पर उन्होंने खाहिश जाहिर की। मेरे लिए बड़ी कठिन समस्या खड़ी हो गयी। यदि उनके व्यक्तित्व के कारण मैं नियम भंग करूं तो फिर दूसरे के लिए भी वैसा ही करना पड़ेगा। मैंने निश्चय कर लिया कि उनको मैं इसकी इजाजत नहीं दूंगा। बहुत नम्रतापूर्वक मैंने उनको नियम का हवाला देकर अपनी मजबूरी जाहिर कर दी। उनको जो कुछ कहना था उसका सारांश कांग्रेस को स्वयं कह देने का वचन भी दिया। मैंने ये सब बातें कांग्रेस से भी कह दीं। वहां कांग्रेस में जबरदस्त जोरदार लाउडस्पीकर लगे थे। वहां जो कुछ हो रहा था, महात्मा गांधी अपनी झोंपड़ी में बैठे-बैठे सुन रहे थे। उन्होंने वह बात भी सुनी। उन्होंने दूसरे दिन मुझसे हंसते-हंसते कहा भी कि तुमने मालवीयजी को बोलने से रोक दिया! मुझे इस बात का दुख हुआ कि ऐसे पूज्य व्यक्ति की बात मैं नहीं मान सका; पर वहां मैं राजेन्द्र नहीं था, कांग्रेस के सभापति की हैसियत से बैठा था, और दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। सम्मति लेने पर बहुत बड़ा बहुमत वर्किंग कमिटी के पक्ष में निकला। पर कुछ लोग, जो उसके विरोधी थे, आपे से बाहर हो गये। दो-चार आदमियों ने जूते दिखलाये जो तेज रोशनी में साफ मुझे दीख पड़े!

कांग्रेस के दूसरे प्रस्तावों पर बहुत बहस नहीं हुई। कांग्रेस नियमावली वाला प्रस्ताव तो एक प्रकार से सबकी राय से बिना बहुत बहस के ही मंजूर हो गया, क्योंकि उस पर बाहर ही बहुत बहस हो चुकी थी। यह प्रस्ताव बड़े महत्व का था। अब तक कांग्रेस के प्रतिनिधियों की संख्या प्रदेश की आबादी के हिसाब से होती थी। इसका फल यह होता था कि चाहे किसी प्रदेश में कांग्रेस का काम कुछ होता हो वा न होता हो, चाहे वहां कांग्रेस कमिटियां

काम करती हों या न करती हों, पर वहां की आबादी के अनुसार प्रतिनिधियों और अखिल भारतीय कमिटी के सदस्यों की संख्या पक्की रहती थी। दूसरे प्रांत, अधिक काम करके भी, अपनी संख्या से अधिक सदस्य नहीं भेज सकते थे। बम्बई के विधान में प्रतिनिधियों की संख्या कांग्रेस-सदस्यों की संख्या के अनुपात में बना दी गयी। यह नियम बन गया कि प्रत्येक प्रतिनिधि के लिए कम-से-कम नियमित संख्या में सदस्य अवश्य होने चाहिए। जहां उतने सदस्य न हों वहां प्रतिनिधि चुनने का अधिकार न रहे। बम्बई में 500 सदस्यों पर एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। यह संख्या पीछे बदल दी गयी है। साथ ही, यह भी ख्याल था कि सभी प्रांतों के प्रतिनिधित्व की संख्या वहां की आबादी के हिसाब से भी रहे। इससे यह हुआ कि यदि सारे सूबे में जितने प्रतिनिधि आबादी के हिसाब से होते थे उतने 500 सदस्य नहीं हुए तो सूबे के प्रतिनिधियों की संख्या कम हो जायेगी। यदि प्रत्येक प्रतिनिधि पर 500 से अधिक सदस्य हो गये तो प्रत्येक प्रतिनिधि के चुनाव के लिए 500 से अधिक सदस्यों के क्षेत्र बनाये जायेंगे। इस तरह सदस्य बनाने पर जोर डाला गया। साथ ही, आबादी का भी ख्याल रखा गया।

दूसरा महत्व का प्रश्न यह था कि अल्पसंख्यक मत वालों का प्रतिनिधित्व कैसे हो? यदि सीधे तौर पर सम्मति ली जाती है तो उनका एक आदमी भी नहीं चुना जा सकता, पर उनके मत वाले सूबों को यदि इकट्ठा किया जाये तो कुछ आदमी उनके चले आते हैं। सोशलिस्ट लोगों ने, जिनकी संख्या कम थी, परिवर्तनीय सम्मति द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional representation by single transferable vote) पर जोर डाला। कांग्रेस के प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए तो यह सम्भव नहीं था, पर अखिल भारतीय कमिटी के सदस्यों के चुनाव के लिए यह विधान मंजूर कर लिया गया। विधान में जो परिवर्तन किये गये उनको कार्यान्वित करने पर उनमें कई त्रुटियां जाहिर हुईं। उसके बाद से कई बार परिवर्तन करना पड़ा है, पर नियमों का जो आधार वहां बना वह अभी तक अपने स्थान पर है। हां, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के संबंध में बहुत मतभेद रहा है; पर अब बहुत लोग इस बात को मानने लगे हैं कि बहुत थोड़े लोगों के हाथ में चुनाव का अधिकार रहने से यह बहुत बुरा परिणाम भी पैदा करता है। कांग्रेस के नियमानुसार आठ प्रतिनिधि पर अखिल भारतीय कमिटी का एक मेम्बर होता है—अर्थात यदि आठ आदमी मिल जायें तो एक आदमी को चुन सकते हैं। चुनावों में देखा गया है कि आठ आदमियों को किसी ऐसे व्यक्ति के लिए जुटा लेना कठिन नहीं है जो अपने को चुनवाने पर उतारू हो जाये। जो इस प्रकार अपने को चुनवाने के काम में दिलचस्पी नहीं लेता, अथवा जिसके मित्र उसे चुनवा देने में दिलचस्पी नहीं लेते, वह चाहे कितना भी अच्छा काम करने वाला क्यों न हो, नहीं चुना जाता। इससे छोटे-छोटे दलों की वृद्धि होती है, अच्छे-अच्छे लोग नहीं चुने जाते और दलबंदी करने वाले चुन लिये जाते हैं। इसलिए, अब, बहुतेरे लोग, इतने दिनों के अनुभव के

बाद समझ गये हैं कि यह हमारे काम की चीज नहीं है। पर यह अभी तक नियम में है। वहां बम्बई अधिवेशन के समय यह समझा जाता था कि इसके विरोध का एक ही अर्थ हो सकता है—वह है सोशलिस्टों को अखिल भारतीय कमिटी में घुसने न देने का इरादा। जो हो, वहां तो यह स्वीकृत हो गया।

कांग्रेस का अधिवेशन, निर्धारित समय पर, रात बारह बजे के करीब, तीसरे दिन समाप्त हो गया। मैंने काम पूरा कर दिया। लोग बड़े उत्साह के साथ अपने-अपने स्थान को गये। जाते ही केंद्रीय असेम्बली के मेम्बरों के चुनाव लड़ने थे। कांग्रेस के उत्साह से वहीं स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस की जीत इन चुनावों में होगी।

मैं कांग्रेस का काम समाप्त करके अपने निवास-स्थान पर गया और रात दो बजे से दमा का दौरा शुरू हो गया। दूसरे दिन कोई दूसरा विशेष काम नहीं था, वर्किंग कमिटी बना लेना था। यह भार मेरे ही ऊपर था। मैंने कुछ तो वहीं निश्चय कर लिया और कुछ पीछे। नाम अखबारों में दे दिये गये। सबसे महत्व का प्रश्न मंत्री का चुनाव था। मैं ऐसे आदमी को चाहता था जो अपना पूरा समय इसी काम में दे सके और जिसका मत मेरे साथ सभी बातों में मिलता हो। मैंने बहुत सोचने के बाद आचार्य कृपालानी को नियुक्त किया।

बंगाल से मैं एक आदमी को वर्किंग कमिटी में लेना चाहता था। पर कुछ ऐसा संयोग पड़ा कि मैं किसी को न ले सका। इससे वहां के मित्र मुझसे बहुत रुष्ट हो गये। मुझे बहुत गालियां भी खानी पड़ीं। मेरा बंगाल के साथ पुराना परिचय और घनिष्ठ संबंध था। मैं बंगाल के महत्व को भली भांति जानता हूं। बंगालियों में मेरे कई घनिष्ठ मित्र भी हैं। पर वहां कुछ ऐसा संयोग हुआ कि बात नहीं बनी। इसका मुझे पूरा अफसोस रहा। वहां दो दल थे और किसी एक को वर्किंग कमिटी में लेना दूसरे को दुश्मन बनाना था। दो के लिए जगह थी नहीं। यदि होती भी तो वहां का झगड़ा वर्किंग कमिटी में आ जाने का भय था। इसलिए अपने ऊपर बदनामी लेकर भी मैंने वर्किंग कमिटी को इस झगड़े से सुरक्षित रखा।

मैंने बम्बई में ही सोच लिया था कि जब गांधीजी के कथनानुसार हमने उनको कांग्रेस के प्रतिदिन के काम से मुक्त कर दिया है और महत्व के प्रश्नों पर ही उनसे राय लेना ठीक है, तो मैं उनको अधिक कष्ट नहीं दूंगा और प्रत्येक वर्किंग कमिटी तथा अखिल भारतीय कमिटी में उनको आने का कष्ट नहीं दूंगा। हां, जो महत्व की बातें होंगी उनके संबंध में उनसे मिलकर बातें कर लिया करूंगा। मैंने अपने सभापतित्व-काल में इसी नीति से काम लिया भी; गांधीजी को कमिटियों में आने का कष्ट नहीं दिया। मैं वर्धा बराबर जाता-आता रहा और वहीं उनसे राय ले लिया करता।

110

केंद्रीय असेम्बली का चुनाव संघर्ष

बम्बई से मैं पटने आया। पहला काम जो कांग्रेस को करना था वह केंद्रीय असेम्बली के लिए अपने उमीदवारों को खड़ा करना और उनको चुनवाना। गवर्नमेंट समझती थी कि 1930-1934 के सत्याग्रह के कारण उसने कांग्रेस को इतना दबा दिया है कि वह अब फिर उठ न सकेगी। लार्ड विलिंगडन ने 1932 के आरम्भ में, जब राउंड-टेबुल से लौटने के बाद फिर सत्याग्रह पर गांधीजी और वर्किंग कमिटी को मजबूर किया गया था, कहा था कि दो-चार हफ्तों में आन्दोलन दबा दिया जायेगा। उन्होंने इसका पूरा प्रयत्न भी किया था। पर दो-चार हफ्तों के बदले दो बरसों तक आन्दोलन चलता रहा और शुरू में तो बहुत जोरों से चला था। तो भी अभी कोई ऐसा मौका नहीं आया था जहां कांग्रेस की लोकप्रियता का पूरा परिचय मिल जाता। भूकम्प की सहायता और बम्बई के अधिवेशन से कुछ-कुछ पता चला था; पर अब भी सब लोगों को और विशेषकर गवर्नमेंट के लोगों को इस बात का विश्वास नहीं था कि कांग्रेस सारे देश में लोकप्रिय संस्था है। इस चुनाव में एक प्रकार से इस बात की जांच होने वाली थी कि कांग्रेस कहां तक जनता का प्रतिनिधित्व करती है। हम भी इस चुनाव को इसी कारण बहुत महत्व देते थे।

मद्रास प्रांत में 1920 से ही वहां की जस्टिस पार्टी की मिनिस्ट्री चल रही थी। उसने अपनी शक्ति बढ़ाने और अपने को सुसंगठित करने में कोई बात उठा नहीं रखी थी। उसमें योग्य लोगों की भी कमी नहीं थी। उस दल में ब्राह्मणेतर प्रायः सभी जाति के लोग शरीक होते थे। इसलिए इसमें भी कोई शक नहीं था कि साधारण जनता के ब्राह्मणेतर सभी लोगों की तरफ से वह बोला करती थी। उसने एक प्रकार से ब्राह्मण-अब्राह्मण का इतना झगड़ा खड़ा कर दिया था—लोगों में इतना प्रचार किया था कि मालूम होता था, वहां कांग्रेस का अर्थ ब्राह्मण समझा जाता है, इसलिए वह कांग्रेस को ही अपनी परम विरोधी संस्था मानती थी। गवर्नमेंट का भी उस पर पूरा भरोसा था, क्योंकि वहां के जमींदार और दूसरे धनी वर्ग तथा साधारण जनता का बहुत बड़ा बहुसंख्यक अंश उन्हीं जातियों का था जो उसमें शरीक समझी जाती थीं और जो ब्राह्मणेतर थीं।

चुनाव तो सारे हिन्दुस्तान में होने वाला था। सभी सूबों में एक दिन चुनाव के लिए नहीं रखा गया था। यह जरूर सोचा गया था कि एक जगह के चुनाव का असर दूसरी जगहों पर जरूर पड़ेगा। ऐसा प्रबंध तो सम्भव नहीं था कि एक ही सूबे में, अलग-अलग जिलों में चुनावों में समय का इतना अंतर हो कि एक का नतीजा मालूम होने पर दूसरी जगह में चुनाव हो। पर सारे देश के लिए यह सम्भव था और ऐसा ही इंतजाम अधिकारियों ने किया भी। चूंकि वे मद्रास पर सबसे अधिक भरोसा रखते थे, उन्होंने सबसे पहले मद्रास प्रांत में चुनाव रखा, उसके बाद ही और प्रांतों में। चुनाव में सभी जगहों में कांग्रेस ने अपने उमीदवार खड़े किये और सभी जगहों में विरोधी लोग भी खड़े हुए। वे ऐसे ही लोग थे जिनकी या तो सरकार के साथ अच्छी बनती थी अथवा जो किसी विशेष दल की ओर से खड़े हुए थे। पर जस्टिस पार्टी के सिवा दूसरी कोई ऐसी जबरदस्त संस्था नहीं थी जिसकी ओर से कांग्रेस का विरोध करने के लिए उम्मीदवार खड़े किये गये हों।

मैं तो बम्बई से बीमार ही लौटा और हसब-मामूल दिसम्बर तक बीमार ही पड़ा रहा। इसी बीच सारा चुनाव हो गया। मैं उसमें कोई विशेष भाग न ले सका। पर दूसरों ने, विशेषकर सरदार वल्लभाई पटेल ने, बहुत सिरतोड़ परिश्रम किया। वह बिहार में भी दौरे पर आये। दूसरे कई सूबों में भी गये। मैं बिहार में ही दो-चार जगहों में जा सका, ज्यादा कुछ नहीं कर सका। मद्रास में चुनाव का नतीजा सबसे पहले मालूम होने लगा; क्योंकि वहीं सबसे पहले चुनाव हुआ। वह नतीजा सरकारी हलकों में बहुत ही अचम्भा उत्पन्न करने वाला हुआ। वहां केवल इतना ही न हुआ कि सभी जगहों में कांग्रेसी चुने गये, बल्कि सभी कांग्रेसी बहुत बड़े बहुमत से चुने गये। जो ऐसी जगहें थीं, जिनके संबंध में जस्टिस पार्टी वालों को कोई संदेह नहीं हो सकता था और जिनको जीतना हम भी मुश्किल समझते थे, वहां भी कांग्रेस की भारी जीत हुई। उदाहरणार्थ, दो जगहें ऐसी मानी जाती थीं। एक जगह थी वह जिसमें श्री सत्यमूर्ति चुने गये। इनके विरोधी एक अत्यंत योग्य और जस्टिस पार्टी के नामी मुख्य आदमी सर रामस्वामी मुदालियर थे। दूसरी जगह वहां के व्यापारियों के प्रतिनिधि की थी। वहां से कांग्रेस के विरोध में खड़े हुए थे श्री (अब सर) षण्मुखम चेट्टी और कांग्रेस की ओर से श्री वेंकटाचलम चेट्टी। श्री षण्मुखम चेट्टी पहले पंडित मोतीलालजी के साथ कांग्रेस की ओर से चुने जाकर केंद्रीय असेम्बली के मेम्बर रह चुके थे और कांग्रेस सदस्यों में भी उनकी योग्यता को लोग मानते थे। उन्होंने काम भी अच्छा किया था। पर सत्याग्रह के समय वह कांग्रेस से अलग हो गये थे। अब इस चुनाव में उन्होंने कांग्रेस का विरोध किया। वह चेट्टी जाति के थे। चेट्टी लोग ही मद्रास प्रांत में व्यापार का काम अधिक करते हैं। वह अब्राह्मण भी थे। जस्टिस पार्टी ने उनको अपनी ओर से उमीदवार बना लिया था। फिर क्या था! सफलता के सभी कारण उनके साथ मौजूद थे। इसके अलावा, कहा जाता था कि लार्ड विलिंगडन उनको बहुत मानते थे। पर उन्होंने भी बड़ी गहरी हार खायी।

जैसे ही मद्रास के नतीजे अखबारों में निकलने लगे, विशेषकर कांग्रेस के पक्ष के मतों की संख्या, देश में उत्साह बढ़ता गया। सभी सूबों में कांग्रेस की बड़ी जीत हुई। बिहार में भी वैसी ही हुई। यहां एक बड़े मार्के की बात यह हुई कि एक बहुत ही बड़े सेठ से मुकाबला हो गया। वह थे सेठ रामकृष्ण डालमिया। इनकी सहानुभूति कांग्रेस के साथ रहा करती थी। पहले जब-तब पैसे से सहायता भी किया करते थे। इस चुनाव में इन्होंने खड़ा होने का निश्चय कर लिया। पीछे मुझसे कहा कि कांग्रेसी उमीदवार श्री अनुग्रहनारायण सिंह हटा लिये जायें। यह सम्भव नहीं था, क्योंकि कांग्रेस की नीति थी कि यथा-साध्य सभी जगहों पर उमीदवार खड़े किये जायें। श्री डालमिया कांग्रेस के अनुशासन के अंदर आना भी नहीं चाहते थे। पर उनके साथ हम सबकी व्यक्तिगत सद्भावना बनी रही। उन्होंने बहुत खर्च किया, पर वह भी करारे ढंग से हारे।

एक तरफ तो इस तरह की सफलता हुई जिससे सभी लोगों को बहुत आनन्द हुआ, दूसरी तरफ एक ऐसी बात भी इस चुनाव में हुई जो बहुत दुखद थी। पहले कहा जा चुका है कि बम्बई कांग्रेस के पूर्व से ही प्रधानमंत्री मैकडोनाल्ड के साम्प्रादायिक निर्णय के कारण कांग्रेसी लोगों में मतभेद हो गया था और बम्बई कांग्रेस में पंडित मालवीयजी ने उस प्रस्ताव का विरोध किया था जिसमें कांग्रेस का नव-विधान संबंधी मत प्रकट किया गया था— उनका संशोधन-प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से नामंजूर किया गया था। उस विचार के लोगों ने अपनी ओर से उमीदवार खड़े किये। बिहार में भी श्री जगतनारायण लाल खड़े हुए। बंगाल में तो प्रायः सभी जगहों के लिए उमीदवार खड़े किये गये। और सूबों में भी कुछ लोग खड़े हुए। ये लोग यों तो और सब बातों में कांग्रेस से सहमत थे, पर एक इसी विषय पर ये कांग्रेस से अलग थे। कांग्रेस ने श्री अणे के विरुद्ध कोई उमीदवार नहीं खड़ा किया और वह निर्विरोध चुने गये; पर और जगहों में दो प्रकार के कांग्रेसियों में मुठभेड़ हो गयी। बिहार में तो कांग्रेस से कोई नहीं जीता, पर बंगाल में प्रायः सभी जगहों में कांग्रेस को हार खानी पड़ी और उस दल के लोगों की जीत हुई। इसका विशेष कारण यह था कि श्री मैकडोनाल्ड के निर्णय से बंगाल के सवर्ण हिन्दुओं की सबसे अधिक हानि हुई थी। वहां मुसलमानों की संख्या प्रायः 55-56 और हिन्दुओं की 44 प्रतिशत के लगभग होती है। अल्प-संख्यक होने के कारण हिन्दुओं को वहां कुछ सुविधा मिलनी चाहिए थी। पर उस निर्णय के अनुसार दस प्रतिशत स्थान योरोपियनों को मिल गये और बाकी 90 के बंटवारे में 51 मुसलमानों को और 39 प्रतिशत हिन्दुओं को मिले, अर्थात अपनी संख्या के अनुपात से भी उनको कम जगहें धारा-सभाओं में मिलीं। इसके बाद जब अछूतों से, महात्माजी के उपवास के बाद पूना में, समझौता हुआ तो हरिजनों के लिए सुरक्षित स्थानों की संख्या भी बहुत बढ़ गयी जो हिन्दुओं के स्थानों में से ही हो सकती थी। इसलिए वहां सवर्ण हिन्दुओं में बहुत असंतोष था। वे चाहते थे कि इस निर्णय का जबरदस्त विरोध किया जाये। इसमें कांग्रेसी और

गैरकांग्रेसी सभी हिन्दू शरीक थे। इसलिए वहां के चुनाव में कांग्रेस की हार हुई और इस नये दल की जीत हुई, जिसमें कांग्रेसी लोग ही चुने गये जो और बातों में कांग्रेस का ही साथ देने वाले थे। नवम्बर के अंत तक सारे देश में चुनाव हो गया और कांग्रेस की बहुत बड़ी जीत हुई। कांग्रेस ने अब नीति भी निर्धारित कर दी थी। उसी के अनुसार केंद्रीय असेम्बली में काम होने वाला था।

111

श्री जिन्ना से समझौते की बातचीत और देश-भर का दौरा

यद्यपि चुनाव में कांग्रेस की जीत हुई थी और दूसरे प्रकार से भी मालूम पड़ता था कि कांग्रेस जीवित है, तथापि हम यह आवश्यक समझते थे कि उसका संगठन मजबूत बना दिया जाये, क्योंकि चार बरसों की लड़ाई में, जब कांग्रेस कमिटियां गैरकानूनी संस्था करार दे दी गयी थीं, कांग्रेस का संगठन तितर-बितर हो गया था। उसको एक बार पुनर्जीवित और सुसंगठित करना आवश्यक था। इसलिए एक बार सभी जगहों का दौरा करना आवश्यक जान पड़ा। प्रांतीय कमिटियों की ओर से इस बात का तकाजा भी हुआ कि मैं सभापति की हैसियत से दौरा करूं। जाड़ों में तो मेरे लिए यह सम्भव नहीं था, पर मैंने सोचा कि जाड़ा कम होते ही मैं बाजाब्ता सिलसिलेवार दौरा शुरू करूंगा—इस बीच में, अपने स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए, अगर हो सका तो जहां-तहां जाऊंगा।

दिल्ली में असेम्बली का काम जनवरी में शुरू होने वाला था। वहीं वर्किंग कमिटी की बैठक भी की गयी। वहां महात्माजी भी इत्तफाक से आ गये थे। वहां के लोगों की इच्छा भी थी कि कांग्रेस के सभापति का दौरा वहीं से शुरू किया जाये। इसलिए जब मैं वहां पहुंचा तो वहां के लोगों ने भी बड़ी शान से स्वागत किया। बम्बई ने स्वागत का एक खासा नमूना कायम कर दिया था। दिल्ली में भी उसी प्रकार का स्वागत बहुत बड़े जलूस में किया गया। शहर के लोगों ने बहुत उत्साह दिखलाया। मैं अभी तक कमजोर ही था, इसलिए स्वागत की भीड़ बर्दाश्त करना कुछ आसान नहीं था; पर मैंने उसे किसी तरह संभाल लिया।

मैं जलूस के कुछ बाद ही महात्माजी से मिला। उनको सब खबर मिल चुकी थी। उन्होंने एक मार्के की बात कही जिसका जिक्र शायद मैंने स्वतंत्र रूप से ऊपर किया है। उन्होंने कहा कि अंत में हमको मजबूरन सत्याग्रह बंद करना पड़ा था, क्योंकि जनता का उसमें उत्साह नहीं रह गया था और लोग कुछ दब-से गये थे; पर कांग्रेस के प्रति उनका प्रेम कम नहीं हुआ था, लोग चाहते थे कि कोई मौका मिले तो उसे दिखलावें; इसलिए इस प्रकार के

स्वागत में इतना उत्साह देखने में आता है, जैसा तुमने बम्बई में देखा अथवा दिल्ली में देख रहे हो—ऐसा ही स्वागत जहां जाओगे लोग करेंगे।

मैं इस प्रकार के भीड़-भड़क्के से बहुत घबराता हूं। विशेषकर स्वागत और जलूस से तो बहुत डरता हूं। पर मैंने इसे उस पद की खातिर बर्दाश्त करना मंजूर कर लिया। महात्माजी ने मेरी इस राय को पसंद किया कि मैं सभी सूबों में दौरा करूं। मैंने यह कांग्रेस के संगठन के विचार से जरूरी समझा। मैंने देखा कि जहां 1932-33 में बहुत जगहों में लोग कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को अपने यहां ठहराने से भी हिचकते थे वहां 1935 में कांग्रेस के अध्यक्ष का इतने जोर-शोर से स्वागत करने पर तैयार थे। सभी जगहों से इस दौरे के संबंध में मेरे साथ पत्र-व्यवहार होने लगा। तिथियां सोची जाने लगीं। इस यात्रा को शुरू करने के पहले अपने साथ निजी काम के लिए श्री चक्रधर शरण को रख लिया। वह मुजफ्फरपुर जिले के बेलसंड थाने के अंतर्गत परतापुर गांव के रहने वाले हैं। 1920 से ही वह कांग्रेस का काम करते आये हैं। भूकम्प के समय मुजफ्फरपुर में उन्होंने अच्छा काम किया था। रिलीफ में भी बड़े उत्साह और ईमानदारी से काम किया था।

पर इस यात्रा को शुरू करने से पहले एक दूसरा प्रश्न था जिसका हल आवश्यक था। श्री मैकडोनाल्ड ने साम्प्रदायिक निर्णय देकर मुसलमानों को बहुत खुश कर दिया था; पर हिन्दू उनसे बहुत क्षुब्ध थे। सभी समझदार लोग मानते थे कि यदि कोई समझौता हो जाये तो वह सबसे अच्छा होगा। उसके लिए डाक्टर अंसारी बहुत ही उत्सुक थे। उन्होंने श्री जिन्ना से लिखा-पढ़ी शुरू की थी। दिल्ली में वर्किंग कमिटी के सामने उन्होंने यह बात पेश की। वर्किंग कमिटी ने कहा कि यदि कोई रास्ता निकल सके तो उसे जरूर ढूंढ निकालना चाहिए। इसी बीच श्री जिन्ना भी दिल्ली पहुंच गये। एक दिन डाक्टर अंसारी के मकान पर वर्किंग कमिटी के मेम्बरों से उनकी मुलाकात और कुछ बातचीत हुई। पर वह बातचीत ऐसी नहीं थी कि इतने लोग एक साथ ठीक तरह से कर सकें और वह इतनी जल्दी तय हो जाये। अंत में श्री जिन्ना की राय हुई कि वह और कांग्रेस के अध्यक्ष ही बातें करें, अगर कुछ रास्ता निकल आवे तो अपनी-अपनी संस्था से उसकी मंजूरी करा लेवें। डाक्टर अंसारी के घर पर पहले दिन जो बातें जिस ढंग से हुईं उनसे और उस ढंग से मुझे कुछ विशेष आशा नहीं मालूम हुई, तो भी यह बात ऐसी थी कि इसमें अपनी ओर से किसी तरह की कोताही नहीं की जा सकती थी, इसलिए मैं इसमें दिलोजान से पड़ गया। मुझे इस बात का शंक था कि मैं इस तरह के काम के लिए कहां तक योग्य हूं। पर मुझे डाक्टर अंसारी और सरदार वल्लभभाई पटेल की पूरी मदद थी। महात्माजी का आशीर्वाद भी था। इससे मैं समझता था कि कोई भूल न होने पावेगी। बातचीत बहुत लम्बी चली। मुझे कई हफ्तों तक दिल्ली में रह जाना जाना पड़ा। श्री जिन्ना और मैंने खुलासगी और सफाई से बातें कीं। जहां तक मैं समझ सका,

हम दोनों का एक-दूसरे के प्रति भाव भी अच्छा ही रहा। मैं बातचीत के बाद जो कुछ बातें हुई रहतीं उनका खुलासा उसी दिन लिख लिया करता। उस समय के वे बराबर लिखे हुए नोट आज भी कहीं मौजूद मिलेंगे। मंत्री श्री कृपालानी भी प्रायः बराबर दिल्ली में ही रहे। उनसे तथा डाक्टर अंसारी से सभी बातें मैं बता दिया करता। श्रीमती सरोजिनी नायडू भी बहुत करके दिल्ली में रहीं। उनको भी सब बातें मालूम हो जातीं। महात्माजी तथा सरदार को भी मैं पत्रों द्वारा सब बातों से आगाह रखता। सब बातों को यहां विस्तार से देना अनावश्यक है।

अंत में बात खत्म करनी पड़ी। समझौता नहीं हो सका। इसका मुझे बहुत अफसोस रहा; क्योंकि मैं समझता था कि हम जिन शर्तों पर समझौता करना चाहते थे और जिन पर हमने श्री जिन्ना को राजी कर लिया था वे शर्तें देश के लिए हितकर होतीं। इससे भी अधिक अफसोस इसलिए हुआ कि जिस कारण समझौता न हो सका वह ऐसी बात थी जिसका कोई विशेष महत्व नहीं था—उसको न मानना अथवा उस पर जिद्द करना, मेरे ख्याल से, दोनों ही बेकार थे।

मैंने बातचीत शुरू करने के पहले ही यह साफ कर लिया था कि मैं केवल कांग्रेस की ओर से बातें कर रहा हूं; मुझे किसी दूसरे दल की ओर से बातें करने का अधिकार भी नहीं है और मैं दूसरों की जवाबदेही ले भी नहीं सकता—हां, हम जो कुछ तय करेंगे वह कांग्रेस से हम मंजूर करा लेंगे; उसी तरह श्री जिन्ना से भी हम यही आशा रखेंगे कि वह भी मुस्लिम लीग से समझौते को मंजूर करा देंगे। उन्होंने यह मंजूर किया था। वह देख चुके थे कि अभी हाल में ही हमने कांग्रेस में साम्प्रदायिक निर्णय के संबंध में अपना न्यारा रुख रखा था और उसके लिए हमको पं. मालवीयजी जैसे मान्य एवं धुरंधर नेता का भी विरोध करना पड़ा था। वह यह भी देख चुके थे कि हम एक सूबा छोड़कर प्रायः सभी सूबों में चुनाव में भी जीते हैं। इसलिए वह इस पर राजी थे। मैंने यह भी साफ कह दिया था कि यदि वह मुसलमानों के लिए अलग चुनाव-क्षेत्रों को कायम रखने पर तुले होंगे तो बातचीत की कोई गुंजाइश नहीं है; क्योंकि हम अलग चुनाव को राष्ट्रीयता की दृष्टि से इतना घातक मानते हैं कि यदि वह रह जाये तो किसी समझौते से कोई काम न होगा। इसलिए बातचीत इसी आधार पर शुरू होगी कि वह अलग निर्वाचन-क्षेत्र छोड़ने पर तैयार हो जायें। इस पर उनकी ओर से यह प्रश्न हुआ कि यह चीज मुसलमानों को मिल चुकी है और वे इसे कुछ दिनों से काम में लाते रहे हैं; इसके बदले में उनको जब तक कुछ निश्चित रूप से न मिले तब तक उनको मनाना और राजी करना संभव न होगा।

मैंने उनके लिए उतने ही सुरक्षित स्थान मान लिये जितने उनको साम्प्रदायिक निर्णय से मिले थे। हम दोनों ने इन दो बातों को मान करके ही आगे बात चलायी थी। उनकी ओर से यह मांग हुई कि चुनाव-क्षेत्रों में, जहां मुसलमान मतदाताओं की संख्या उनकी आबादी के अनुपात से कम हो, मताधिकार के लिए आवश्यक गुण (qualification) को कम करके

भी मुसलमान मतदाताओं की संख्या उनकी आबादी के अनुपात के अनुसार बना दी जाये। वह कहते थे कि मुसलमान गरीब हैं और बहुत जगहों में उनमें शिक्षा भी कम है, इसलिए जहां टैक्स देना ही मताधिकार की पहचान होगी वहां बहुतेरे मुसलमान छंट जायेंगे और मतदाताओं में उनकी संख्या आबादी के अनुपात से बहुत कम हो जायेगी; इसलिए यह होना आवश्यक है। पंजाब के संबंध में जो कुछ भी आंकड़े मिल सके, मैंने उनका खूब अच्छी तरह से अध्ययन किया। मुझे जहां तक पता चला, उनमें मतदाताओं की संख्या आबादी के अनुपात से कई जगहों में कुछ कम होती थी, पर यह बहुत बड़ा फर्क नहीं था—शायद दो प्रतिशत या इससे भी कम ही का फर्क था। जब हिन्दू और मुसलमान दोनों का संयुक्त चुनाव-क्षेत्र होने वाला था तो मुसलमानों की यह मांग कि मतदाताओं में उनकी संख्या आबादी के अनुपात में हो, मुझे न्याययुक्त मालूम पड़ी और मैंने इसे मान लिया—विशेषकर जब कांग्रेस ने यह निश्चय कर लिया था कि चुनाव का मताधिकार सभी बालिग लोगों को दिया जाये तो यह मांग मान लेने में मुझे कोई आपत्ति नहीं मालूम हुई। पर जब सिखों और हिन्दुओं से मैंने बातें कीं तो सिखों ने इसका जबरदस्त विरोध किया। पंजाब के हिन्दुओं से बातें होने पर उनमें से कतिपय मुख्य व्यक्तियों ने इसे मान लिया; पर बंगाल के हिन्दू इसे किसी तरह मानने पर तैयार न हुए। जो लोग बंगाल से केंद्रीय असेम्बली में चुनकर गये थे उनसे मेरी पहले बातें हुईं। उन्होंने सब बातें सुन-समझकर समझौते को पसंद किया, पर वे बंगाल के और लोगों की राय लेना आवश्यक समझते थे।

पंडित मालवीयजी से बातें हुईं तो उन्होंने सिखों और बंगाल के हिन्दुओं का हवाला देकर कहा कि जब तक वे न मानेंगे तब तक वह कुछ नहीं कर सकते। मैंने बंगाल के आंकड़े बहुत खोजे; पर मुझे गवर्नमेंट की किसी रिपोर्ट अथवा पुस्तक से कुछ भी पता न चल सका कि वहां की वस्तु-स्थिति इस संबंध में क्या होगी। इसलिए, जिस तरह मैं पंजाब के हिन्दुओं के सामने आंकड़े रखकर बहस कर सका उस तरह बंगाल के हिन्दुओं के साथ नहीं। तब मैंने श्री जिन्ना से बहस की कि वह इस मांग पर न अड़ें; क्योंकि इसमें कोई तत्व की बात नहीं है। जहां मुसलमानों का बहुत बड़ा बहुमत है वहां सैकड़े एक या दो की कमी से चुनाव के नतीजों पर कोई विशेष प्रभाव या फर्क नहीं पड़ेगा। पर वह इस पर राजी नहीं होते थे। कांग्रेस की ओर से मैं उसे मान लेने पर भी राजी था। पर उन्होंने इस पर जोर दिया कि पंडित मालवीयजी की अनुमति भी आवश्यक है; क्योंकि समझौता अगर हुआ भी और पंडित मालवीयजी के नेतृत्व में साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध आन्दोलन होता ही रहा तो मुसलमानों को इस समझौते से कोई लाभ न होगा।

उधर उन्हीं दिनों दिल्ली में साम्प्रदायिक निर्णय विरोधी एक सम्मेलन हुआ जिसमें बंगाल के कुछ लोग आये। उन्होंने इसका पूरा विरोध किया। मैं पंडित मालवीयजी को किसी तरह राजी न कर सका। अंत में उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि जितनी जगहें

मुसलमानों को मिली हैं, विशेषकर बंगाल और केंद्र में, उन्हें भी घटाना चाहिए और जब तक वे घटायी न जायेंगी तब तक वह राजी नहीं हो सकते। उधर श्री जिन्ना भी इस बात पर तुल गये कि जब तक पंडित मालवीयजी का हस्ताक्षर नहीं होगा तब तक वह राजी नहीं होंगे। अपनी ओर से वह यह कहते थे कि मुसलमान नेताओं की मंजूरी वह दे सकेंगे। इस प्रकार, यद्यपि यह बातचीत कांग्रेस की ओर से मैंने शुरू की थी—और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के अध्यक्षों के बीच ही यह चली थी—तथापि अंत में यह इसलिए टूट गयी कि श्री जिन्ना केवल कांग्रेस के साथ समझौते पर राजी नहीं हुए और हिन्दू सभा की अनुमति जरूरी समझने लगे।

इधर तो बात दूसरी ही हो गयी है। अब वह चाहते हैं कि कांग्रेस, मुस्लिम लीग को मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था मान ले और स्वयं हिन्दुओं की ओर से समझौता करने पर राजी हो जाये! कांग्रेस न उस समय केवल हिन्दुओं की संस्था थी और न आज है। वह हमेशा से राष्ट्रीय संस्था रही है जिसमें सब जातियों और सब धर्मों के लोगों के लिए स्थान है और रहेगा। उसकी नीति भी वैसी ही राष्ट्रीय नीति है और रहेगी। उस दिन समझौता नहीं हुआ। यह दुख की बात है, क्योंकि उसके बाद परिस्थिति बराबर बिगड़ती ही गयी है, और आज तो वायुमंडल भी विषाक्त है।

जब तक यह बातचीत चलती रही, मैं दिल्ली में ही रहा। पर बीच-बीच में जहां-तहां एक-दो दिनों के लिए चला जाता। मैं इलाहाबाद और आगरा इन्हीं दिनों में हो आया। मार्च में बाजाब्ता सिलसिलेवार दौरा करने का निश्चय किया। मैंने सबसे पहले पंजाब जाने का निश्चय किया। मार्च में वहां गया। सबसे पहले मैं जालंधर में उतारा गया। वहां से कुछ दूर पर खादी का मुख्य केंद्र आदमपुर में है। मैं वहां गया और वहां का काम देखा। जालंधर से लाहौर गया। वहां से दूसरे स्थानों में जाने का कार्यक्रम बना था। लाहौर में मेरे रेल से उतरने पर हसब-मामूल बड़ा जलूस निकाला गया। कुछ दूर जलूस जाने के बाद ही बहुत जोरों से पानी बरसने लगा। मैं खूब भीग गया। पर जलूस समाप्त करके ही मुझे फुर्सत दी गयी। जलूस समाप्त होते कुछ रात हो गयी। मैं लोक सेवक समिति (Servants of People Society) के लाजपतराय भवन में भोजन करने के लिए गया। भोजनोपरांत डाक्टर सत्यपाल के घर पर ठहरने के लिए गया। पानी में भीगना और उसके बाद रात की सर्दी लग जाना मुझे बर्दाश्त न हो सका। दूसरे दिन सवेरे ही खांसी-दमा शुरू हो गया। मैंने उमीद की कि मेरे स्वास्थ्य के लिए अच्छे दिन आ गये और यह व्यक्तिक्रम दो-एक दिनों में ठीक हो जायेगा। पर वैसा न हो सका, मैं बीमार पड़ गया। नतीजा यह हुआ कि मुझे सारे कार्यक्रम को बदल देना पड़ा। लाहौर में मैं कई दिनों तक पड़ा रहा। पानी भी कुछ-न-कुछ कई दिनों तक बरसता रहा। मेरे अच्छा होते-होते वह सारा समय, जो मैंने पंजाब-भ्रमण के लिए दिया था, समाप्त हो गया। पंजाब का दौरा स्थगित करके मैं सीधे बिहार वापस आ गया।

यह दुख की बात है कि पंजाब जैसे सूबे में कांग्रेसी लोगों में आपस का मतभेद बहुत है। यह उस समय भी बहुत जोरों पर था। मुझे कुछ हद तक इसका शिकार भी बनना पड़ा था। वह बात विनोदपूर्ण है,इसलिए यहां कह देना बुरा न होगा। इसमें किसी पर दोष लगाने का अभिप्राय नहीं है। पाठकों के मनोविनोद और उन्हें यह जता देने के लिए कि आपस के मतभेद से आगंतुक अतिथि को भी कहीं-कहीं असुविधा हो सकती है,यह लिख रहा हूं।

पहले से निश्चय था कि हमको जालंधर उतरना है। हम जिस गाड़ी से गये थे वह सवेरे 3-4 बजे के क़रीब वहां पहुंचती थी। जालंधर में दो स्टेशन हैं—एक सिटी और दूसरा छावनी वाला। मुझे मालूम नहीं था कि किस स्टेशन पर उतरना है; पर मैं समझता था कि जहां-कहीं उतरना होगा, कुछ लोग आवेंगे ही और उतार लेंगे। इसलिए मैं इस विषय में निश्चिंत था। जो स्टेशन पहले मिला, वहां कुछ लोग आये और उन्होंने मुझे उतरने को कहा। मेरे साथ कृपालानीजी भी थे। हम लोग वहां उतर गये। वे लोग हम लोगों को स्टेशन के मुसाफिरखाने में ले गये और वहां मुंह-हाथ धोकर तैयार हो जाने को कहा। हमने समझा कि लोगों का विचार है कि सवेरा हो जाने पर वहां से ले जायेंगे। पर हमको आश्चर्य हुआ कि जिन सज्जन के यहां हम ठहरना चाहते थे और जिनको हमने तार दे दिया था वह (रायजादा हंसराज) स्टेशन पर नहीं आये हैं। हमने सोचा कि शायद वह सवेरा होने पर आवेंगे और तब हमें साथ ले जायेंगे। हम लोग मुंह-हाथ धो ही रहे थे कि कुछ देर बाद मोटर पर रायजादा साहब आ गये। मालूम हुआ कि वह दूसरे स्टेशन पर इंतजार कर रहे थे, जब हम लोग वहां नहीं पहुंचे तो वह यहां तलाश करने आये; जिन साहबों ने हमको उतार लिया था वे दूसरे दल के थे जो यह नहीं चाहते थे कि हम रायजादा साहब के साथ ठहरें—उन्होंने कहीं अन्यत्र हमें ठहराने का प्रबंध किया था! अंत में तय हुआ कि हम रायजादा साहब के यहां दोपहर का भोजन करें और सवेरे उन महाशय के यहां नाश्ता करें जिनके यहां ठहराने का दूसरे लोगों ने निश्चय किया था। मैं रायजादा साहब को पहले से खूब जानता था। इसी लिए उनको तार दे दिया था। पर वहां के लोगों की यह हालत देखकर जो प्रबंध उन्होंने किया वही मानना पड़ा। हम लोग रायजादा साहब के यहां गये। मुंह-हाथ धोकर नाश्ता करने दूसरी जगह गये। वहां से आदमपुर गये। फिर लौटकर रायजादा साहब के यहां भोजन करके,रेल से लाहौर के लिए रवाना हो गये।

पर हमारी दिक्कतें यहीं समाप्त न हुईं। लाहौर में कहां ठहरना होगा,यह समस्या अभी तक हल नहीं हुई थी। रेल में एक आदमी डाक्टर सत्यपाल की पत्नी का पत्र लेकर आया और मिला। डाक्टर साहब उस समय जेल में थे। वही प्रांतीय कमिटी के सभापति थे। यदि वह बाहर रहते तो सारा प्रबंध उनका ही होता। उनके न रहने से दूसरों ने प्रबंध किया था। मुझे मालूम हुआ कि लोक सेवक समिति के सदस्यों ने, जिनमें कई परिचित मित्र थे, सभा-भवन में ठहराने का प्रबंध किया है। श्रीमती सत्यपाल ने लिखा कि उनके पति जेल में

हैं, अतः आशा रखती हैं कि और कुछ नहीं तो इस कारण से भी मैं उन्हीं के यहां ठहरने का निश्चय करूंगा। मैं फिर संकट में पड़ गया। दोनों पक्षों के लोगों के बीच रेल में ही कहा-सुनी होने लगी। कृपालानीजी अपने उग्र स्वभाव के अनुसार बिगड़े। उन्होंने दोनों को डांटा कि तुम लोग आपस में बातें तय नहीं कर लेते और अतिथि को संकट में डालते हो। यह भी मालूम हुआ कि उस दिन संध्या के भोजन के लिए लोक सेवक समिति ने शहर के कितने ही माननीय पुरुषों को भी निमंत्रित कर लिया है और यदि मैं वहां नहीं गया तो उनके प्रति भी अनादर होगा। अंत में बात यह तय पायी कि संध्या का भोजन तो लाजपतराय भवन में हो, पर मैं जाकर ठहरूं डाक्टर सत्यपाल के घर पर ही। जलूस में भीगने का कारण भी कुछ ऐसा ही था। प्रबंधकों ने निश्चय कर लिया था कि जलूस किन सडकों से जायेगा। वे जलूस के रास्ते को, कुछ सड़कों को छोड़कर, कुछ छोटा न बना सके।

मैं डाक्टर साहब के घर पर ठहरा। दुर्भाग्यवश बीमार पड़ गया। अब जरूरत पड़ी किसी डाक्टर या वैद्य की; यह बात भी तय न हो सकी। पहले जो डाक्टर आये उनसे दूसरे दल को संतोष न था; वे अपना डाक्टर बुलाना चाहते थे! अंत में ऐलोपैथिक छोड़कर होमियोपैथिक पर बात गयी। कुछ अच्छा होते ही मैं बिहार वापस चला आया।

अप्रैल से जो यात्रा-क्रम बना था उसे मैं निर्विघ्न प्रायः जून के अंत तक ठीक-ठीक पूरा करता रहा। अप्रैल में जबलपुर में अखिल भारतीय कमिटी की एक बैठक की गयी। इस बैठक के लिए कोई विशेष कार्यक्रम अथवा महत्व का प्रश्न नहीं था। पर मैंने सोचा कि साल में दो-तीन बार अखिल भारतीय कमिटी को अवश्य मिलना चाहिए ताकि सदस्यों को कांग्रेस संबंधी प्रश्नों पर विचार करने का अवसर मिले। मध्यप्रदेश में बहुत लोगों की इच्छा के अनुसार वहीं बैठक बुलायी। वह सफलतापूर्वक समाप्त हुई। वहां से मैं यात्रा पर निकल गया। यात्रा का आरम्भ बरार प्रांत में हुआ। वहां प्रांतीय राजनीतिक कांफ्रेंस थी जिसके सभापति पंडित गोविन्दवल्लभ पंत थे। कांफ्रेंस समाप्त करके मैं बरार के सभी जिलों में गया।

सभी जगहों में सभाएं होतीं, स्वागत होता, जलूस निकलता; लोगों में उत्साह काफी दीखता। मेरे लिए इस प्रकार की यात्रा का, अपने सूबे के बाहर, यह पहला ही अनुभव था। वह अनुभव अच्छा और सुखद था; क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रांतों को देखने के अलावा कांग्रेस के संगठन को सुदृढ़ बनाने का कुछ मौका मिलता और जन-साधारण से सम्पर्क बढ़ता।

बरार की यात्रा समाप्त करके मैं सीधे कर्नाटक चला गया। यहां के सभी जिलों में दौरा किया। उसके बाद सारे महाराष्ट्र में गया। मैं सवेरे उठता और नहा-धोकर प्रायः 7 बजे मोटर पर निकल जाता। स्थान-स्थान पर सभा करता हुआ दिन के 12 बजे तक कहीं पहुंचता, जहां भोजनादि का प्रबंध रहता। भोजन और विश्राम के बाद प्रायः दो बजे फिर निकल जाता और रात के 8-9 बजे तक सभा करता। रात को विश्राम के स्थान पर पहुंच जाता। रेल पर कम

चलता, अधिकतर मोटर पर ही सारी यात्रा समाप्त हुई। बरार, कर्नाटक और महाराष्ट्र की यात्रा में ही प्रायः आधा अप्रैल, पूरा मई और प्रायः पूरा जून समाप्त हो गया। इस बीच में, केवल दो-तीन दिनों के लिए, मैं एक बार अपने घर गया—भाईसाहब के वार्षिक श्राद्ध के लिए, जून के आरम्भ में।

सभी जगहों में बड़े-बड़े जलूस निकले, बड़ी-बड़ी सभाएं हुईं। छोटे-छोटे कस्बों और गांवों तक में मुझे जाने का और लोगों से मिलने का मौका मिला। कर्नाटक के जंगलों और पहाड़ों से होते हुए समुद्र के किनारे से लेकर मैसूर तक गया। फिर वहां से लौटते वक्त शोलापुर, सतारा, पूना, बेलगांव, मालवन, रत्नागिरी, नासिक, अहमदनगर इत्यादि नगरों में भी जाने का मौका मिला। सुंदर-से-सुंदर प्रदेश और दृश्य देखने को मिले। पहाड़ों की प्राकृतिक छटा, जंगलों के सुंदर सुहावने दृश्य, दक्षिण भारत की हरियाली और समुद्र की अनंत जलराशि, सबके दर्शन हुए। मोटर पर जाने के कारण इन दृश्यों के देखने की और भी सुविधा हुई। लोगों की रंग-बिरंग वेशभूषा तथा भाषा की विभिन्नता देखी। पर इन सबकी तह में भारत की एकता झलक रही थी। वह कहीं भी खो नहीं सकती थी। एक तरफ सतारा और शोलापुर की तपती धूप मिली तो दूसरी ओर मैसूर और कुर्ग के जंगलों की ठंडी हवा शरीर को सुख पहुंचाती मिली। मरकरा में ऊंची पहाड़ी के समतल पर सभा के लिए एक अत्यंत मनोरंजक स्थान है। वहां हजारों फुट की ऊंचाई पर एक ओर सभा होती थी और दूसरी ओर हजारों फुट नीचे, जहां तक नजर पहुंच सकती थी, हरा-भरा जंगल-ही-जंगल दीख रहा था। जमीन कहीं ऊंची कहीं नीची, पर सभी जगह सब्ज-सब्ज ही नजर आती। वहां के लोगों की पोशाक भी अपने ढंग की निराली थी। स्त्रियां सिर पर एक बेनी बांधती हैं। पुरुष अंगरखा पहनते और एक प्रकार की कुकड़ी या तलवार कमर में बांधते हैं। जंगल इतने घनघोर हैं कि सुना वहां हाथी भी होते हैं और शेर वगैरह तो होते ही हैं।

महाराष्ट्र की यात्रा में एक बात हुई जिसका जिक्र कर देना ठीक मालूम होता है। मैंने देखा कि वहां के लोगों को फूलों का बहुत शौक है। स्वागत के लिए वे फूल की मालाएं बहुत लाते। वहां का यह भी रिवाज है कि जब कोई प्रतिष्ठित अतिथि आता है तो उसके स्वागत में बहुत-सी संस्थाएं शरीक होती हैं और सभी की ओर से अलग-अलग हार दिये जाते हैं। इस तरह एक-एक सभा में कितने ही हार मुझे दिये जाते। फूल के हार कुछ ठहरने वाले तो होते नहीं, दिन समाप्त होते-होते मुरझा जाते और उनको फेंक देना पड़ता; रास्ते में वे गाड़ी के लिए भी बोझ बढ़ा देते। जहां स्थानीय बाजार में हार न मिलते वहां लोग दूर-दूर से पार्सल करके हार मंगवाते। इसमें पैसे भी लगते और उनसे कोई काम भी पूरा न होता। इसलिए मैंने एक अपील निकाल दी कि लोग यदि स्वागत-सम्मान करना चाहते हैं तो बेहतर हो कि फूल के हार न देकर हाथ के कते सूत का हार मुझे दें। श्री शंकरराव देव ने मेरी इस उक्ति को पसंद किया। उन्होंने भी इस पर जोर दे डाला। इसका नतीजा यह हुआ कि

महाराष्ट्र और दूसरे प्रांतों में, जहां-जहां मैं सफर में गया, सूत के हार मुझे दिये गये। मैं सूत की मालाओं को जमा करके साथ ले आया। बुनवाने पर इतना ज्यादा कपड़ा हुआ कि मित्रों को कुछ बांटने के बाद भी मुझे कई वर्षों तक खादी खरीदने की जरूरत न पड़ी।

महाराष्ट्र कमिटी ने यह भी निश्चय किया था कि मैं जहां जाऊं, लोग कुछ पैसे भी भेंट करें। उसी प्रांत में यह बात आरम्भ की गयी। छोटी-छोटी सभाओं में लोग कुछ-न-कुछ पहले से जमा करके रखते, थैली भेंट देते। छोटे-छोटे गांवों में भी इस तरह की भेंट मिलती। कहीं-कहीं रास्ते में भी गाड़ी रोककर भेंट दी जाती। इस तरह प्रायः 20-22 हजार रुपये जमा हो गये। इसका थोड़ा अंश अखिल भारतीय कमिटी के लिए कृपालानीजी ने ले लिया और प्रायः तीन-चौथाई से भी अधिक वहीं की प्रांतीय कमिटी को वहां के काम के लिए दे दिया गया। इस सारे सफर से महाराष्ट्र के कार्यकर्ताओं की कार्यकुशलता और कारबारी तरीके से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। यात्रा-क्रम ऐसा बनाया गया था कि मुझे ठीक समय से सभी स्थानों में पहुंचने का मौका मिला। श्री शंकरराव देव मुझे यह भी कह देते कि किस स्थान पर कितनी देर ठहरना है और मैं उसी के अनुसार अपने भाषण में भी समय लगाता। अगर कुछ भी देर होने लगती तो वह छड़ी दिखला देते। चाहे सवेरे रवाना होने में, चाहे दोपहर के आराम के बाद चलने में, चाहे किसी स्थान की सभा समाप्त करने में, वह सर्वत्र पूरी कड़ाई से समय पर काम करते-कराते। इससे यह हुआ कि बिना कष्ट के सारा कार्यक्रम दिन-भर में समाप्त होता और भोजन तथा आराम के लिए यथोचित समय मिल जाता।

ऐसा सभी सूबों में नहीं हुआ। कहीं-कहीं तो रात में एक या दो बजे भी जाकर सभा करनी पड़ी। हमारे अपने प्रांत में ही, जब 1937 में पंडित जवाहरलालजी आये, बांकीपुर में रात के बारह बजे और पटना सिटी में रात के दो बजे—जनवरी के महीने में—सभा हुई। जनता उस कड़ी सर्दी में, संध्या छः बजे से दो बजे रात तक, खुले मैदान में बैठी रही! जब मैं महाराष्ट्र का वह संगठन स्मरण करता हूं तो वहां के लोगों की कार्य-दक्षता की सराहना किये बिना नहीं रह सकता। पर अपने सूबे की अव्यवस्था के लिए क्या कहूं! जनता का उतनी देर इंतजारी करना उसके उत्साह और धैर्य का सूचक था, तो अतिथि के पहुंचने में उतनी देर हमारी अव्यवहार्यता का सूचक था। पर मैंने देखा है कि इस देर के कारण में जनता का भी पूरा हाथ रहता है। जन-समूह भारी संख्या में जमा होता है। वह यदि पहले से अपने स्थान पर ठीक नियंत्रण में बैठा रहे तो अतिथि को मंच तक पहुंचने में कठिनाई न हो और वहां पहुंचकर वह अपना काम भी जल्द-से-जल्द समाप्त कर सकता है। पर ऐसा होता नहीं। जनता की भीड़ अतिथि को घेर लेती है। उसका आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। उसके बाद मंच तक पहुंचने में भी काफी समय लग जाता है। फिर उसके बाद भी कुछ समय जनता को बैठाने और शांत करने में लगता है। कार्यक्रम बनाने में हम इन सबकी गुंजाइश नहीं रखते। यदि उन जगहों के लिए, जहां सभाएं होने वाली हैं, गुंजाइश रखें भी, तो रास्ते में भीड़ गाड़ी

रोक लेगी, और जो जगह कार्यक्रम में नहीं है वहां भी अतिथि को कुछ कहने के लिए मजबूर करेगी ! इसको तो हम न पहले से जानते हैं और न इसके लिए कार्यक्रम में समय ही देते हैं। इसलिए समय पर कहीं भी पहुंचना कठिन हो जाता है।

मैंने महाराष्ट्र की जनता में संयम भी देखा। उन्होंने कार्यक्रम के विरुद्ध कहीं भी रोका नहीं। न कहीं लोगों ने इस तरह की भीड़ ही की कि व्यर्थ समय नष्ट करना पड़े। इसका एक सुंदर नमूना शोलापुर में देखने को मिला। वहां लोगों ने स्वागत के लिए बड़ी तैयारी की थी, सारा शहर सजाया था। वहां पहुंचने पर मालूम हुआ कि गवर्नमेंट ने जलूस रोक दिया। कार्यकर्ताओं ने हुक्म तो मान लिया, पर सब लोगों को मुझे देख लेने का सुंदर प्रबंध कर दिया। यह सब चंद घंटों में ही कर दिया गया। लोगों को कह दिया गया कि सब अपने-अपने स्थान पर—सड़कों पर या दूकानों पर और मकानों में—ठहरे रहें। मुझे उन सभी रास्तों से वे ले जायेंगे जिधर से जलूस निकालने की बात थी। इस तरह लोग मुझे देख भी सकेंगे और लोगों ने जो स्वागत की तैयारी की थी उसे मैं भी देख सकूंगा। लोगों ने प्रबंधकों का आदेश अक्षरशः माना। मैं निवास-स्थान से एक खुली गाड़ी में, जो सुगंधित फूलों से खूब सजायी गयी थी, चला। आहिस्ता-आहिस्ता उन सभी सड़कों से गुजरा जहां जलूस जाने वाला था। गाड़ी के साथ केवल एक-दो और गाड़ियां थीं जो आगे और पीछे चलती थीं। सड़कों और मकानों तथा दूकानों के बरामदे लोगों से ठसाठस भरे हुए थे। पर कोई अपने स्थान से हमारी गाड़ी के पीछे या बगल में नहीं दौड़ा। गाड़ी धीरे-धीरे चली, इसलिए सभी मुझे अच्छी तरह देख सके। गाड़ी के धीरे चलने पर भी इस चक्कर में उससे कम समय लगा जितना जलूस में लगता। जहां लोग चाहते, गाड़ी रोक दी जाती, लोग हार इत्यादि से स्वागत कर लेते। इस तरह मुझे शहर देखने का भी अच्छा मौका मिला। साथ-साथ दौड़ती हुई भीड़ की गर्द से और कान फाड़ने वाले शोर-गुल से मैं एकबारगी बच गया। लोग भी दौड़-धूप के कष्ट से बच गये। गवर्नमेंट ने जलूस रोका था कि लोग स्वागत में शरीक न हो सकें और भीड़भाड़ न हो। अच्छी सूझ वाले कार्यकर्ताओं की प्रवीणता और जनता के संयम का फल यह हुआ कि लोगों पर जलूस से जितना असर पड़ता उससे कहीं अधिक असर पड़ा।

सभी जगहों में, हर हालत में, जहां गवर्नमेंट की रुकावट न हो वहां भी क्या ऐसा नहीं हो सकता है ? हो सकता है, और अवश्य होना भी चाहिए। हमारे काम करने वालों का बहुत समय भीड़ के संभालने में लग जाता है। कुछ मनचले लोग जलूस का प्रबंध बिना किसी अधिकार के अपने हाथों में ले लेते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि कुछ लोग अतिथि की गाड़ी के साथ-साथ चलते हैं जिससे वह छुप जाता है और बगल में खड़े लोग उसे देख नहीं पाते। तब फिर न देख सकने वाले भी कुछ दूर तक साथ हो जाते हैं। इस तरह जलूस में गड़बड़ी मच जाती है। इतने लोगों के साथ ही चलने से खूब धूल उड़ती है। साथ के लोग

हमेशा नारे लगाते चलते हैं। अतिथि की नाक गर्द से और कान नारे से फटने लगते हैं। वह यदि मेरे जैसा दमा का मरीज हुआ तो उसे इसका नतीजा उस दिन नहीं तो शीघ्र ही भोगना पड़ता है। जलूस में अधिक समय लगने के कारण वे लोग, जो अतिथि को देखने की इच्छा से सचमुच दूर से आते हैं, महरूम रह जाते हैं और आगे के कार्यक्रम में भी देर हो जाती है।

मैंने इसी यात्रा में कहीं क्वेटा में भयंकर भूकम्प की खबर सुनी। शुरू में कई दिनों तक वहां का पूरा हाल नहीं मिला। पर जब तफसील अखबारों में आने लगी तो मालूम हुआ कि वहां की स्थिति भी कुछ बिहार-जैसी ही होगी। मैंने एक रिलीफ कमिटी बना दी और मैं ही उसका सभापति बना। रुपये जमा होने लगे। बिहार और क्वेटा में दो बातों का बड़ा अंतर था। क्वेटा का भूकम्प क्वेटा शहर और आसपास के लिए उतना ही प्रलयंकारी था जितना बिहार का। पर उसका क्षेत्र बिहार-सा विस्तृत नहीं था। क्वेटा एक फौजी छावनी है। इसलिए वहां फौज मौजूद थी जो लोगों को मदद पहुंचाने के काम में लगायी गयी। पर इसी कारण वहां कोई भी गैर-सरकारी संस्था काम न कर सकी। अखबारों पर रोक लगा दी गयी कि वे सरकारी मंजूरी के बिना कोई खबर न छापें! एक-दो पत्रों के साथ, खबर छाप देने के कारण, बहुत सख्त व्यवहार किया गया! बाहर से लोगों का वहां जाना एकदम बंद कर दिया गया। इसलिए वहां की वास्तविक स्थिति क्या थी, इसका पता किसी को न लगा। जो खबर मिली वह केवल सरकारी विज्ञप्तियों द्वारा ही; दूसरा कोई चारा न था। इस बात को लेकर अखबारों में जोरों की चर्चा हुई। पर सुनने वाला कोई न था ! फौज और सरकारी अफसरों ने जो मुनासिब समझा, किया। वहां के सरकारी कर्मचारियों और फौज के विरुद्ध बहुत तरह की शिकायतें, वहां से आये हुए लोगों की जबानी, सुनने में आयीं। पर इनको कोई प्रकाशित न कर सका और न इनकी सचाई के संबंध में किसी ने जांच ही की। पर इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार वहां अखबारों का जाना रोक देना और किसी भी बाहरी आदमी के वहां जाने की मनाही कर देना एक अजीब बात थी। इससे आम लोगों ने यह अर्थ निकाला कि शिकायतें सही हैं और उन्हीं पर परदा डालने के लिए यह कार्रवाई की गयी है। लोगों की इच्छा थी और बहुत संस्थाएं तैयार थीं कि वहां जाकर पीड़ितों की सहायता करें; पर किसी को वहां जाने की इजाजत ही न मिली।

वहां बहुत-से लोग सिन्ध और पंजाब के थे। जो बचे उनमें बहुतेरे सिन्ध और पंजाब वापस आ गये। उन लोगों से ही तरह-तरह की खबरें फैलीं। बाहर के लोगों ने ऐसे निराश्रय लोगों की ही सहायता की। इनकी भी सहायता जरूरी थी; क्योंकि इनका सर्वस्व वहां खो गया था। बहुतेरों के कारबारी और कमाने वाले कुटुम्बी वहां मर गये थे। उनको पहले तो किसी ऐसे स्थान पर पहुंचा देना जरूरी था जहां वे रह सकें। परंतु वैसे स्थान में पहुंचने पर भी उनको कोई ठिकाना मिलने की आशा नहीं थी। इसलिए उन्हें कहीं भी ले जाकर कुछ दिनों के लिए उनके रहने और खाने-पीने का प्रबंध कर देना तथा फिर किसी रोजगार में उन्हें

लगा देना जरूरी था। मेरी बहुत इच्छा थी कि मैं वहां जाऊं और जो थोड़ा-बहुत अनुभव बिहार के भूकम्प में काम करने से मिला था उसका लाभ वहां के लोगों को देकर उनकी सहायता करूं। पर गवर्नमेंट ने इजाजत नहीं दी। इस बात पर समाचारपत्रों ने सरकार की निंदा की; पर वह टस से मस न हुई।

मैं कराची चला गया जहां बहुतेरे लोग क्वेटा से भागकर आये थे। सिन्ध के उन शहरों में भी गया जहां ऐसे पीड़ित लोगों के आने की खबर मिली। हजारों शरणार्थियों से मुलाकात की। उनकी दुख-गाथा सुनी। तब गवर्नमेंट को एक पत्र लिखा। उसमें उन सभी शिकायतों का जिक्र किया जो सुनने में आयी थीं। वहां जाने की इजाजत भी मांगी। इसका उत्तर उस समय के भारत सरकार के गृहसचिव श्री हैलेट—युक्तप्रांत के गवर्नर सर मौरिस हैलेट—ने दो सतरों के पत्र में दिया कि इजाजत नहीं मिल सकती और शिकायतों को भी गवर्नमेंट जांच करने के योग्य नहीं समझती। इसलिए मुझे बाहर से ही सेवा-कार्य करना पड़ा। मैं क्वेटा तो नहीं गया, पर कराची, जैकोबाबाद, सक्खर, शिकारपुर आदि सिन्ध के शहरों में गया। डेरागाजीखां, मुलतान, लाहौर इत्यादि पंजाब के शहरों में भी गया जहां लोग भागकर वहां से आये थे। मैंने सभी जगहों में उनकी सहायता के लिए कमिटियां बना दीं। कमिटियों ने उनकी यथासाध्य सहायता की। क्वेटा रिलीफ कमिटी की अपील पर कई लाख रुपये भी आ गये जिनका वितरण किया गया। यहां सहायता का रूप बिहार से बिलकुल भिन्न था। बिहार में की गयी विविध सहायता का वर्णन पहले किया जा चुका है। यहां क्वेटा में उस स्थान पर तो हम पहुंचे ही नहीं जहां सहायता की जरूरत थी। इसलिए खास क्वेटा जाकर हम कुछ करने से मजबूर रहे। इधर ही कुछ रुपये शरणार्थियों को खिलाने-पिलाने और उनके दवादारू में खर्च हुए। पर अधिक खर्च उनको व्यक्तिगत रूप से कहीं फिर जीवन आरम्भ करने के साधन पहुंचाने में ही किया गया। इस काम का भार सिन्ध में श्री जयरामदास और पंजाब में डाक्टर गोपीचन्द भार्गव ने ही उठाया। उनके सहायक स्थानीय लोग थे जिन्होंने बड़ी तत्परता से काम किया।

ऊपर कहा गया है कि सफर में ही मुझे क्वेटा की खबर मिली। कुछ दिनों तक तो मैंने दौरा रोका नहीं, पर जब वहां की स्थिति की भयंकरता का ठीक पता चला तो मुझे दौरा रोककर उधर जाना पड़ा। उस समय मैं नागपुर का दौरा कर रहा था। उसके बाद ही, बरसात के कारण, दौरा रोकना था ही। इसलिए चंद जगहों का दौरा ही रोकना पड़ा। बरसात शुरू हो गयी। मैं सिन्ध और पंजाब में चला गया। वहां बरसात बहुत कम होती है। जो होती भी है वह देर करके होती है। इसलिए कुछ हिस्सा जून का और पूरा जुलाई का महीना उन प्रांतों में बीता। वहां के दौरे के कारण में और कार्यक्रम में, दोनों में, कुछ फर्क पड़ गया। पर काम जो राजनीतिक दौरे से होता है वह तो होता ही गया। जहां गया वहां पहले अस्पताल में जाकर क्वेटा के घायलों को देखता। फिर उनके लिए जो छावनी बनी होती वहां जाता और आश्रयी

लोगों से मिलता। वहां के लोगों से कुछ रुपये जमा करता । रिलीफ के काम की निगरानी करता और सार्वजनिक सभा में भाषण भी। सिन्ध और पश्चिम-पंजाब में तो केवल यही काम हुआ। पर जैसे-जैसे क्वेटा से दूर पूरब-पंजाब पहुंचता गया, दूसरा काम भी कुछ कर सका। इस तरह वे महीने, जिन्हें दूसरे सूबों के दौरे में बरसात के कारण नहीं बिता सकता था, सिन्ध और पंजाब में बिताये। वहीं जो कुछ हो सका, किया। इस यात्रा में भी, विशेषकर पंजाब में, बहुत करके मोटर पर ही घूमना पड़ा। इसलिए बीच और पूरब के पंजाब में कई जिलों के अंदर घुसकर वहां की हालत अच्छी तरह देख सका।

112

कांग्रेस का इतिहास और देशी राज्यों की समस्या

कांग्रेस का जन्म 1885 के दिसम्बर में हुआ था, जब उसका पहला अधिवेशन बम्बई में किया गया था। 1935 के दिसम्बर में उसके 50 वर्ष पूरे होते थे। इसलिए यह निश्चय किया गया था कि कांग्रेस की अर्धशताब्दी (स्वर्णजयंती) धूमधाम से मनायी जाये। इसके लिए कार्यक्रम बनाया गया था, जिसका जिक्र आगे आवेगा; पर एक बात यहां कह देना आवश्यक है। यद्यपि कांग्रेस के प्रायः 50 बरस बीत चुके थे तथापि कांग्रेस का कोई ठीक इतिहास, शुरू से आज तक का इकट्ठा लिखा, नहीं मिलता था। डाक्टर पट्टाभि सीतारमैया ने एक इतिहास लिख रखा था, पर वह अभी छपा नहीं था। राय हुई कि इस जयंती के अवसर पर एक इतिहास भी प्रकाशित किया जाये। डाक्टर सीतारमैया से मैंने अनुरोध किया कि अपने लिखे इतिहास को वह पूरा कर दें और कांग्रेस की ओर से वह छपवाया जाये। उन्होंने इतिहास पूरा कर दिया। बरसात में, मैं और वह, वर्धा में बैठकर, उसे दुहरा गये। इसमें कई दिन लगे। जो कुछ बाकी रह गया था उसे मैं इलाहाबाद में, स्वराज भवन में बैठकर, दुहरा गया।

वह इतिहास अंगरेजी में लिखा गया था। हमने यह भी निश्चय किया कि देशी भाषाओं में भी उसके संस्करण उसी समय निकाले जायें। इसलिए हिन्दी, मराठी, कनाड़ी, तेलगू, तामिल, उर्दू प्रभृति भाषाओं में उसका अनुवाद छापने का भी प्रबंध कर दिया गया। अंगरेजी संस्करण के छापने के खर्च का भार तो अखिल भारतीय कमिटी ने लिया, क्योंकि हम जानते थे कि इसमें जो पैसे लगेंगे वे पुस्तक के बिक जाने पर वापस आ जायेंगे। दूसरी देशी भाषाओं में अनुवाद कराने और उन्हें छापने का भार कुछ प्रकाशकों ने अथवा उन प्रांतों की कमिटियों ने ले लिया जहां की भाषा में अनुवाद हुआ था। जिस दिन कांग्रेस की जयंती मनायी गयी उस दिन—जहां तक मुझे स्मरण है—अंगरेजी, हिन्दी, मराठी, कनाड़ी, तेलगू, तामिल और उर्दू के संस्करण छपकर तैयार हो गये थे। उस अवसर पर जो खरीदना चाहते थे उनको पुस्तक मिल सकी थी। यदि पुस्तकें कुछ और पहले छपकर तैयार हो सकी होतीं तो और भी बहुत प्रतियां बिक सकतीं। तो भी हिन्दी

और मराठी के दो संस्करण उन चंद दिनों के अंदर ही निकालने पड़े। अंगरेजी का भी कई हजार का संस्करण पूरा-का-पूरा बिक गया और कुछ दुबारा छापना पड़ा जिसकी कुछ प्रतियां पीछे तक बची रहीं। मुझे इस पुस्तक के दुहराने में काफी समय लगाना पड़ा था और इसके लिए एक भूमिका भी लिखनी पड़ी थी।

इस जयंती के अवसर पर कांग्रेस संबंधी छोटी-मोटी और भी बहुतेरी पुस्तकें छपीं। एक में कांग्रेस के सभी स्वीकृत प्रस्ताव इकट्ठे करके छापे गये थे। एक दूसरी में सभी नहीं, पर मुख्य-मुख्य प्रस्ताव छापे गये थे। मद्रास के श्री जे. ए. नटेशन ने कांग्रेस के सभापतियों के भाषणों को इकट्ठा करके पहले ही छापा था। उन्होंने उसे 1934 तक के भाषण के साथ छापकर पूरा कर दिया। इस तरह इस साल में कांग्रेस संबंधी साहित्य बहुत छपा और बिका।

बरसात की हवा मेरे स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं होती। इस साल भी कुछ तबीयत खराब रही। पर कोई विशेष तकलीफ नहीं हुई। मेरा काम नहीं रुका। काम भी एक स्थान में बैठकर अधिक करना पड़ा। इसलिए दौड़धूप के कारण जो व्यक्तिक्रम हुआ करता है वह नहीं हुआ। मैंने पहले से ही सोच रखा था कि बरसात के बाद दक्खिन भारत की यात्रा करूंगा। इसलिए मद्रास प्रेसिडेंसी के तीन सूबों—तामिलनाडु, केरल और आंध्र—के लिए यात्राक्रम बनाया गया। मैंने सोचा कि दशहरे के बाद यह यात्रा शुरू करूंगा। यात्रा शुरू करने के पहले मद्रास में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक करने का निश्चय किया। वह एक विशेष कारण से आवश्यक हो गया था।

कांग्रेस की नीति शुरू से यह रही थी कि देशी रजवाड़ों और रियासतों के अंदरूनी मामलों में वह हस्तक्षेप नहीं करेगी। पहले चाहे जिस कारण से यह नीति मानी गयी हो, अब इसके संबंध में बहुत मतभेद होने लगा था। देशी रियासतों में प्रजातंत्र नहीं है। राजाओं का मनमाना ही चलता है। कहीं-कहीं अच्छे दीवान सलाहकार मिल गये तो राज्य-प्रबंध अच्छा हुआ और प्रजा का कुछ लाभ भी हुआ। पर कहीं भी राज्य-शासन में प्रजा को अधिकार नहीं था। ये रजवाड़े संख्या में छः-सात सौ हैं। इनमें कुछ बीघे के क्षेत्रफल और चंद आदमियों की आबादी वाले छोटे राज्य से लेकर हजारों वर्गमील के विस्तार और करोड़ों की जनसंख्या वाले बड़े-बड़े राज्य तक हैं। इनके अधिकार भी इसी तरह भिन्न-भिन्न हैं। जो बड़े-बड़े राज्य हैं वे अंदरूनी मामलों में प्रायः स्वतंत्र हैं। वे अपनी अदालत, कचहरी, थाना, पुलिस वगैरह सब कुछ रखते हैं। जो बहुत छोटे हैं, वे जमींदार व जागीरदार के समान ही हैं। इनमें से कुछ का संबंध ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ सुलहनामे के जरिये बना हुआ है और बहुतेरों का संबंध सनद द्वारा निर्धारित किया गया है। आरंभ में चाहे जो संबंध रहा हो, अब तो ब्रिटिश गवर्नमेंट सबका सिरताज है। वह यद्यपि उनके प्रतिदिन के कारबार में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नहीं करती, तथापि ब्रिटिश रेजिडेंट या दूसरा नियुक्त अफसर अपने हलके वाले राज्य पर

काफी असर रखता है। खासकर दीवान और मंत्री की नियुक्ति में उसकी बात खूब चलती है। इस तरह, ब्रिटिश गवर्नमेंट, परोक्ष रीति से, उनके अंदरूनी मामलों में भी, काफी दिलचस्पी लेती है।

किसी भी देशी राज्य में ब्रिटिश गवर्नमेंट की मर्जी के खिलाफ कोई महत्वपूर्ण काम नहीं हो सकता। इसके अलावा जब कोई राजा या नवाब ब्रिटिश गवर्नमेंट को नाखुश कर देता है, चाहे वह जिस कारण से हो, तो उसकी खैर नहीं होती। उसे शीघ्र ही अपनी गद्दी छोड़नी पड़ती है। उसके लिए कोई-न-कोई कारण आसानी से सामने आ जाता है। यों तो कहा जाता है कि ब्रिटिश गवर्नमेंट ने अपने हाथों में इस बात का अधिकार रखा है कि यदि कोई राजा कुशासन करे, प्रजा पर जुल्म करे, तो वह पदच्युत किया जा सकता है। पर अधिकतर बात ऐसी हुई है कि ब्रिटिश गवर्नमेंट को नाखुश करने पर ही कुशासन की खोज की जाती है और कुशासन के नाम पर वह पदच्युत किया जाता है! यदि कुशासन के साथ-साथ कोई राजा ब्रिटिश गवर्नमेंट को खुश भी रख सका तो वह निर्भय और निरंकुश है! पर यदि कुशासन के साथ वह ब्रिटिश गवर्नमेंट को भी नाखुश करता है तो उसके लिए फिर कहीं कोई जगह नहीं रह जाती। इस तरह प्रायः प्रतिवर्ष एक-आध राजा पदच्युत होते देखे जाते हैं। इतने पर भी इन राज्यों का दावा है कि वे अपना संबंध केवल ब्रिटिश ताज के साथ रखेंगे और वे स्वतंत्र हैं! यह दावा बिलकुल खोखला है; क्योंकि जब भारतीयों के खिलाफ उनको खड़ा करना होता है तो ब्रिटिश सरकार उनके साथ सुलहनामों की दुहाई देती है; पर जब उसे उनके साथ अपनी मनमानी करनी होती है तो वह जो चाहती है कर गुजरती है—उनकी तथा उनकी प्रजा की एक भी नहीं सुनती! ब्रिटिश-सरकार के साथ ऐसा संबंध रखते हुए भी इन राज्यों का दावा है कि अपने राज्य में वे जो चाहेंगे, करेंगे। इसलिए वे अपने यहां प्रजातंत्र को फटकने नहीं देना चाहते।

ब्रिटिश भारत में पचास बरसों से अधिक काल से राजनीतिक सभाएं होती रही हैं। यहां जनता में काफी जागृति आ गयी है। ब्रिटिश गवर्नमेंट को मजबूर होकर तथा ब्रिटिश राजनीति की प्रजातंत्रात्मक पद्धति के कारण भारत के लिए भी प्रजातंत्र स्थापित करने की घोषणा करनी पड़ी है। जो विधान समय-समय पर बनते गये हैं वे भारत को उसी ओर ले जाते रहे हैं। यह दूसरी बात है कि हम जहां तक जाना चाहते हैं वहां तक वह हमें नहीं पहुंचने देती है। तो भी इससे इंकार नहीं है कि यहां के विधान का रुख उस ओर है। ब्रिटिश भारत और देशी रियासतें दोनों इस तरह मिले-जुले हैं कि कोई उनमें मामूली तौर पर भेद नहीं देख सकता है। भेद शासन-पद्धति में है, पर दोनों की जनता में भेद नहीं है। वही लोग जो सरहद के एक तरफ रहते हैं, सरहद के दूसरी तरफ भी बसते हैं; एक ही बोली बोलते हैं; एक ही धर्म मानते हैं; एक ही संस्कृति रखते हैं; आपस में लेन-देन और शादी-ब्याह भी किया करते हैं। पर शासन-प्रणाली में बहुत फर्क पड़ जाता है। इसलिए जब ब्रिटिश भारत में जागृति हुई तो उसका असर देशी रजवाड़ों की प्रजा पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। उन लोगों में भी

अपने राज्य-शासन में अधिकार पाने की इच्छा और अभिलाषा उत्पन्न हुई। वहां की नादिरशाही के कारण इस अधिकार की आवश्यकता भी खूब महसूस होने लगी। वहां भी लोगों ने कुछ संगठन शुरू किया। वे लोग भी ब्रिटिश भारत के राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने लगे। इस तरह यहां के विचारों को अपने राज्यों के अंदर अपने साथ ले जाने लगे। इसलिए कांग्रेस की पुरानी नीति कि वह देशी राज्यों के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी, लोगों को खटकने लगी।

नागपुर कांग्रेस के समय, 1920 के दिसम्बर में, जब कांग्रेस ने नये सिरे से कांग्रेस का विधान बनाया, और भाषाओं के अनुसार कांग्रेसी सूबों का संगठन किया, तो उसने देशी रजवाड़ों की प्रजा को अपने पास के ब्रिटिश भारतीय कांग्रेस सूबों की कमिटियों में शरीक होने का अधिकार दे दिया। इस तरह उन सभी देशी रजवाड़ों की प्रजा को, जहां गुजराती बोली है, गुजरात प्रांतीय कांग्रेस कमिटी की मातहत कमिटियों में मेम्बर चुने जाने का अधिकार मिला। गुजरात प्रांतीय कमिटी को अखिल भारतीय कमिटी के लिए अथवा कांग्रेस अधिवेशन के लिए उतने ही सदस्य या प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मिला जितने ब्रिटिश गुजरात और रजवाड़ों वाले गुजरात (काठियावाड़) की आबादी के अनुपात से मिलना चाहिए था—अर्थात गुजरात की आबादी केवल ब्रिटिश गुजरात की ही आबादी नहीं मानी गयी, उसके साथ रजवाड़ों वाले गुजरात की भी आबादी जोड़ दी गयी, जहां गुजराती बोली जाती है। इस तरह, अजमेर एक छोटी जगह है जो ब्रिटिश सरकार के अंदर है। कांग्रेस विधान में वह भी एक सूबा है और उसकी आबादी केवल उस छोटे हलके की आबादी नहीं मानी गयी, बल्कि उसके साथ पूरे राजपूताने की आबादी भी जोड़ दी गयी, जिससे अजमेर को बहुत अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल गया।

इस नियम का अर्थ और कारण तो यह था कि कांग्रेस देशी राज्यों के भीतर कांग्रेस कमिटियां स्थापित करना नहीं चाहती थी; क्योंकि यदि ऐसा किया जाये, और वहां के शासन से किसी बात में मतभेद हो जाये, अथवा, वे कांग्रेस कमिटियां स्थापित होने देना पसंद न करें, तो उनके साथ मुठभेड़ हो सकती है; कांग्रेस इसे पसंद नहीं करती थी। जब देशी रियासतों की जनता में जागृति होने लगी तो उनकी ओर से कांग्रेस में मांग हुई कि कांग्रेस अपनी नीति को बदल दे और रियासतों में भी प्रजातंत्र के लिए कांग्रेस उसी तरह से प्रयत्न करे जिस तरह वह ब्रिटिश भारत के लिए करती है। उनकी इस मांग में न्याय था; क्योंकि दोंनों की जनता में कुछ भेद नहीं था और कांग्रेस के लिए भी दोनों में अंतर करना ठीक नहीं था। कांग्रेस दोनों में अंतर करना चाहती भी नहीं थी, पर वह इस झगड़े को भी हाथ में लेकर अपनी कठिनाइयों को बढ़ाना नहीं चाहती थी। वह यह भी मानती थी कि यदि हम ब्रिटिश सरकार की शक्ति के साथ कुछ कर लेंगे और यहां प्रजातंत्र स्थापित कर सकेंगे तो देशी राज्यों में भी यह आसानी से हो जायेगा; क्योंकि वे भी ब्रिटिश सरकार की शक्ति

पर ही बहुत कुछ अवलम्बित हैं। यह सब होते हुए भी इधर कई बरसों से इस विषय में रियासती प्रजा में काफी खलबली हो रही थी। इसके कई कारण थे।

गोल-मेज कांफ्रेंस में ब्रिटिश सरकार ने रजवाड़ों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया था। वहां सारे भारत के लिए विधान बनाने का प्रयत्न किया गया था जिसके अंदर ब्रिटिश भारत और देशी भारत दोनों का ही समावेश था। दोनों के लिए एक ही विधान बनाने का आरंभ तभी हो सका जब गोल-मेज में उपस्थित राजाओं ने इसे मंजूर किया कि यदि संतोषप्रद विधान बना और उनके स्वत्व उसमें सुरक्षित रहे, तो वे भी उस विधान के अंदर अपनी रियासतों को ला सकेंगे। 1935 के विधान में जो केंद्रीय असेम्बली बनने वाली थी उसमें दो-तिहाई प्रतिनिधि ब्रिटिश भारत के और एक तिहाई प्रतिनिधि देशी रियासतों के रखे जाने वाले थे। पर इसमें एक बहुत बड़ा अंतर होगा कि ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि तो वहां की प्रजा द्वारा चुने जायेंगे; पर रजवाड़ों के प्रतिनिधि वहां के राजा द्वारा नामजद किये जायेंगे! यह बात वहां की प्रजा को तो खटकती ही थी, हम सबको भी बहुत बुरी लगती थी; क्योंकि हम समझते थे कि इस तरह से ब्रिटिश सरकार कहने के लिए केंद्रीय असेम्बली को प्रतिनिधित्व का हक देती है; पर वास्तव में उसके एक तिहाई सदस्यों की नियुक्ति में, रेजिडेंटों की मार्फत, वह पूरा-पूरा हाथ बंटा सकेगी। यह भी एक विशेष कारण था जिससे कांग्रेस पर जोर दिया जाने लगा कि अब देशी रजवाड़ों के अंदर भी कांग्रेस उसी तरह काम करे जिस तरह वह ब्रिटिश भारत के अंदर जन-संगठन का काम करती है।

देशी राज्यों में कहीं-कहीं के शासकों ने आधुनिक वायुमंडल से प्रभावित होकर कुछ सुधार किया और कहीं-कहीं सिर्फ नाम के लिए बहुत कम अधिकारों के साथ धारा-सभाएं भी कायम हो गयीं। पर उनमें से किसी में भी अभी तक उतने अधिकार नहीं मिले हैं जितने ब्रिटिश भारत में 1920 के विधान के अनुसार प्रांतों को मिले थे। पर कहीं-कहीं—जैसे बड़ोदा, मैसूर, ट्रावंकोर आदि राज्यों में—शिक्षा संबंधी और कुछ दूसरे सुधार ऐसे हुए हैं जो किसी-किसी बात में ब्रिटिश राज्य से भी आगे हैं। पर प्रजा को शासन में अधिकार अभी तक वहां भी नहीं मिले हैं। इस तरह के सुधार भी अभी तक इने-गिने चंद राज्यों में ही हो पाये हैं। प्रजा में, बहुत जगहों में जागृति हो रही है। ब्रिटिश भारत तथा कुछ देशी राज्यों की हालत देखकर सब राज्यों की प्रजा अपनी-अपनी रियासतों में भी सुधार चाहती है।

1930-1934 के सत्याग्रह आन्दोलन में देशी राज्यों की प्रजा ने बहुत जगहों में काफी भाग लिया था। गुजराती लोग और मारवाड़ी लोग व्यापार में बहुत आगे बढ़े हुए हैं। वे बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े-बड़े नगरों में व्यापार के लिए जाते हैं। वहां जो आन्दोलन बढ़ा तो वे उससे अपने को अलग न रख सके। जब बम्बई और कलकत्ता जैसे शहरों के गुजराती और मारवाड़ी वहां के सत्याग्रह में शरीक हुए तो वे अपनी रियासतों में भी स्वभावतः इस आन्दोलन को उन्हीं अधिकारों के लिए ले जाना चाहते थे जिनके लिए वे ब्रिटिश भारत में,

कांग्रेस में शरीक होकर, लड़ रहे थे। इस तरह कांग्रेस के अंदर एक खासा बड़ा दल तैयार हो गया था जो कांग्रेस की नीति में परिवर्तन कराना चाहता था। कांग्रेस के अंदर ब्रिटिश भारत के रहने वालों में भी बहुतेरे ऐसे थे जो ब्रिटिश भारत और देशी भारत में कोई अंतर देखना नहीं चाहते थे। इसलिए बम्बई कांग्रेस के समय ही यह आवाज उठायी गयी कि कांग्रेस की नीति बदली जाये।

स्वयं महात्मा गांधी का जन्म एक देशी राज्य में हुआ था। वह काठियावाड़ के राज्यों से अच्छी तरह परिचित हैं। ब्रिटिश गुजरात देशी राज्यों से केवल घिरा ही हुआ नहीं है, बीच-बीच में दोनों के गांव एक-दूसरे से इस तरह मिले-जुले हैं कि यह कहना कठिन होता है कि कहां ब्रिटिश राज्य है और कहां किसी देशी राज्य का शासन है। इस तरह, उनको और सरदार वल्लभभाई पटेल को, दोनों को, देशी रजवाड़ों की स्थिति का पूरा अनुभव है। वहां की प्रजा से भी उनका काफी परिचय है। महात्माजी का विचार था कि यदि हम ब्रिटिश भारत से देशी रजवाड़ों में काम करना शुरू करेंगे तो वहां काम ठीक न हो सकेगा; वहां की प्रजा को अपने पैरों पर खड़ा होने का वह सुअवसर भी न मिलेगा जिससे उसमें आवश्यक शक्ति पैदा हो सके। इसलिए, वह देशी राज्यों की प्रजा के साथ काफी सहानुभूति रखते हुए भी यह नहीं चाहते थे कि कांग्रेस अपना काम रजवाड़ों में भी उसी तरह जारी करे जिस तरह वह ब्रिटिश भारत में करती है। हां, वहां की प्रजा इस तरह का आन्दोलन अवश्य कर सकती है और कांग्रेस की सहानुभूति उसके लिए अवश्य है तथा रहेगी—वह सहानुभूति, आवश्यकता और सुविधा के अनुसार, क्रियात्मक भी हो सकती है और होगी; पर वहां के आन्दोलन और संगठन का भार कांग्रेस अपने ऊपर अभी नहीं ले सकती।

महात्माजी ने अपने एक वक्तव्य में यह मत प्रकाशित कर दिया। पर उन लोगों को इससे संतोष न हुआ जो देशी राज्यों के मामले में कांग्रेस का सीधा हस्तक्षेप चाहते थे। मैंने कांग्रेस के सभापति की हैसियत से एक बयान निकाला, पर उससे भी लोग संतुष्ट न हुए। अंत में, वर्किंग कमिटी ने भी एक वक्तव्य निकाला। इसलिए मद्रास में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक करने का एक कारण यह भी था कि वर्किंग कमिटी के निश्चय पर वह विचार कर सके। अखिल भारतीय कमिटी ने वर्किंग कमिटी के वक्तव्य को मंजूर कर लिया और यह झगड़ा कांग्रेस के अंदर चलता रहा; शायद अभी तक वह पूरी तरह से खत्म नहीं हुआ है।

पर इन सबका एक नतीजा वह है जो हर तरह से वांछनीय था और जो गांधीजी की नीति का उद्देश्य था। अब रजवाड़ों के अंदर वहां की प्रजा ने अपनी संस्थाएं स्थापित कर ली हैं। बहुतेरे रजवाड़ों में प्रजामंडल या किसी दूसरे नाम की संस्थाएं बन गयी हैं। अखिल भारतीय देशी राज्य-प्रजामंडल भी बन गया है। इस तरह वहां के लोग अपना आन्दोलन स्वयं चलाने लगे हैं। कांग्रेस भी, जहां आवश्यकता होगी, जरूर उनकी मदद करेगी। इस

स्थिति तक पहुंचने में कई साल लग गये हैं। 1935 में अभी बहुत जोरदार बहस चल रही थी। इसलिए नीति निर्धारित करके घोषणा करना आवश्यक था। वह मतभेद केवल राजनीतिक आन्दोलन के संबंध में ही था। जहां तक वहां की प्रजातंत्रात्मक शासन-पद्धति की बात थी, कांग्रेस भी उसे पूर्णरूपेण उसी तरह अपना उद्देश्य समझती थी जिस तरह वह ब्रिटिश भारत के लिए समझती है। इसकी घोषणा भी वह कर चुकी थी। रचनात्मक काम के संबंध में कोई मतभेद न था। कई रियासतों के अंदर अछूतोद्धार संबंधी कार्य, और खादी की उत्पत्ति तथा उसके प्रचार का काम, कई वर्षों से खूब चलता रहा है; इसमें भी कोई मतभेद न था।

113

दक्षिण भारत का दौरा

मैं वर्धा से मद्रास के लिए रवाना हुआ। वहां पर अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के बाद दक्षिण भारत की यात्रा आरम्भ की गयी। यहां का भी कार्यक्रम वैसा ही था—दिन-भर मोटर पर चलना, रास्ते में स्थान-स्थान पर भाषण देते जाना, दोपहर को कहीं कुछ देर के लिए भोजन और विश्राम के वास्ते ठहर जाना, फिर रात के 9-10 बजे तक वही सिलसिला जारी रखना। प्रायः संध्या तक किसी बड़े स्थान पर पहुंच जाता था जहां रात को रहता और जहां संध्या के बाद ही सभा होती।

दक्षिण भारत की यात्रा में भाषा का प्रश्न उपस्थित हुआ। मध्यप्रदेश और प्रायः महाराष्ट्र तक में मैंने हिन्दी में ही भाषण किये। कहीं-कहीं, खासकर गांवों में, श्री शंकराव देव मेरे भाषण का उल्था कर देते; पर अधिकांश जगहों में हिन्दी से ही काम चल जाता। पर तामिलनाडु में यह बात नहीं थी। वहां तो मद्रास से ही मुझे अंगरेजी में भाषण करना पड़ा। मैं जो कुछ कहता उसके प्रत्येक वाक्य का भाषांतर कोई स्थानीय सज्जन कर दिया करते।

दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का काम 1918 से ही, महात्मा गांधीजी की प्रेरणा से, हो रहा है। तामिल प्रदेश में भी हजारों स्त्री-पुरुष ऐसे हो गये हैं जो हिन्दी बोल और समझ लेते हैं। मैं जिस बड़े शहर में पहुंचता, हिन्दी-प्रचारक से मुलाकात हो जाती। कुछ तो वहां के ही निवासी थे जिन्होंने हिन्दी सीख ली है; कुछ उत्तर भारत के रहने वाले हैं जो बिहार तथा युक्तप्रांत से जाकर वहां उस काम में लगे हुए हैं। वहां के लोगों का हिन्दी के प्रति प्रेम और श्रद्धा अवर्णनीय है। हिन्दी-प्रचार का काम विशेषकर पढ़े-लिखे लोगों में ही अधिक हुआ है। स्त्रियों ने इसमें उतना ही रस लिया है जितना पुरुषों ने। हिन्दी पाठशालाओं में बूढ़े और बच्चे, स्त्रियां और पुरुष, एक साथ शिक्षा पाते हैं। जब मैं एक बार और दक्षिण में गया था तो मैंने देखा था कि एक ही सभा में पिता और पुत्र, माता और पुत्री को हिन्दी-परीक्षा पास करने के प्रमाणपत्र एक साथ ही दिये गये थे। यह सिलसिला अभी तक जारी है। लाखों लोगों ने हिन्दी का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। तो भी हिन्दी में भाषण करना अभी सम्भव न था; क्योंकि हजारों की संख्या में जो लोग जमा होते उनमें हिन्दी समझने वाले थोड़े ही होते। अंगरेजी

जानने वालों की संख्या हिन्दी जानने वालों से कहीं ज्यादा होती; तो भी सारी जनता में उनकी गणना भी बहुत थोड़ी ही होती। इसलिए, मैं चाहे अंगरेजी में बोलता या हिन्दी में, सभा में उपस्थित सौ आदमियों में प्रायः 90 ऐसे होंगे ही, जो न हिन्दी समझते होंगे न अंगरेजी, और उनके लिए भाषण का भाषांतर हर हालत में आवश्यक होता।

मद्रास जैसे बड़े शहर में शायद अंगरेजी जानने वालों की संख्या गांवों की अपेक्षा बहुत अधिक होती; पर वहां भी अंगरेजी में भाषण समझने वालों की गिनती थोड़ी ही होगी। पर जो थोड़े अंगरेजी जानने वाले होते उनके बराबर भी हिन्दी जानने वाले न होते। किंतु इससे भी अधिक बड़ा कारण अंगरेजी में भाषण करने का यह होता कि अंगरेजी से तामिल में उल्था करने वाला आसानी से सभी जगहों में मिल जाता; किंतु हिन्दी से तामिल में उल्था करने वाला मिलना कठिन होता। इसलिए मुझे तामिलनाडु में और केरल प्रदेश में अधिकतर अंगरेजी में ही भाषण करने पड़े। बहुत दिनों से अंगरेजी अधिक बोलने की आदत छूट गयी थी; पर दो-चार सभाओं के बाद ही फिर मुंह खुल गया और मैं अच्छी तरह से भाषण कर सका।

एक और चीज थी जिसका जिक्र कर देना अच्छा होगा। मद्रास में 'हिन्दू' नामक अंगरेजी दैनिक पत्र बहुत पुराना और प्रतिष्ठित है। इसकी बिक्री बहुत काफी है। छपाई इत्यादि भी बहुत सुंदर है। इसका सम्पादन और समाचार-संग्रह भी बहुत ही अच्छा होता है। यदि यह कहा जाये कि हिन्दुस्तान के सभी हिन्दुस्तानी पत्रों में, जो अंगरेजी में छपते हैं, यह सबसे अच्छा है तो अतिशयोक्ति न होगी। इसका मुझे अनुभव वहां पूरी तरह से हो गया। मैं जिस दिन मद्रास पहुंचा, स्टेशन पर लोगों ने स्वागत किया। वहीं एक छोटी-सी सभा हो गयी—छोटी इस माने में कि जो सभा समुद्र के किनारे होती उसके मुकाबले में वह छोटी ही थी। पर तो भी वहां हजारों आदमी मौजूद थे। वहां मुझे सम्मान के साथ उतारकर लोग ले गये। वहीं मुझे पहले-पहल उस प्रांत में कुछ कहना पड़ा। वहां से जलूस निकला, जो शहर के कई हिस्सों से गुजरता हुआ मैलापुर गया, जहां मुझे ठहरना था। रास्ते में 'हिन्दू' का आफिस पड़ता था। जलूस जब 'हिन्दू'-आफिस के सामने पहुंचा, 'हिन्दू' का एक अंक, जो उन दिनों संध्या के समय निकला करता था, मेरे हाथ में दिया गया। उसमें मैंने स्टेशन के स्वागत का वर्णन और वहां के दृश्य का चित्र तथा अपना भाषण भी देख लिया। मैं जहां कहीं गया, 'हिन्दू' का संवाददाता मौजूद मिला करता। वह मेरे पूरे भाषण को, जो अंगरेजी में ही हुआ करता था, पूरा-पूरा अपने पत्र के पास लिख भेजा करता। इस तरह तामिलनाडु में और केरल में मेरे भाषणों की जैसी पूरी और अच्छी रिपोर्ट छपी वैसी और कहीं नहीं। 'हिन्दू' के संवाददाता सभी जगहों में होते। ऐसा नहीं था कि कोई संवाददाता मेरे साथ-साथ सफर में फिरता रहा हो। स्थानीय संवाददाता भी शीघ्रलिपि जानते थे, अंगरेजी की अच्छी लियाकत रखते थे और अपने काम में इतने तत्पर होते थे कि मद्रास से किसी को मेरे साथ घूमने की जरूरत न हुई।

उन सभी स्थानों का नाम देना तो कठिन है जहां-जहां मैं गया। यदि मैं ऐसा कहूं कि सारे सूबे में शायद ही कोई तालुका या शहर होगा जहां मैं नहीं गया, और एक तालुका से दूसरे तालुका तक के रास्ते में शायद ही कोई मुख्य स्थान होगा जहां मैं कुछ देर के लिए न ठहरा होऊं, तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस सफर में भी प्रायः सारा रास्ता मोटर पर ही कटा। कहीं-कहीं ऐसा हुआ कि एक रास्ते पर दो बार जाना पड़ा, तो वहां एक ओर से रेल पर सफर किया गया।

मैंने ऊपर कहा है कि मद्रास में ब्राह्मण-अब्राह्मण का झगड़ा कुछ वैसा ही है जैसा उत्तर भारत में हिन्दू-मुसलमान का अथवा बंगाली-बिहारी का बिहार में। जस्टिस पार्टी अब्राह्मणों का दल है। वहां मेरे जाने के एक वर्ष पहले ही वह केंद्रीय असेम्बली के चुनाव में कांग्रेस से हार चुकी थी। पर उसका असर तो अभी बहुत-कुछ बाकी था। इसलिए कहीं-कहीं इस तरह के सवाल किये जाते थे जिनसे यह टपकता था कि वे लोग कांग्रेस को ब्राह्मणों की संस्था समझते हैं। मैंने कई जगहों में साफ-साफ कहा कि कांग्रेस में सबके लिए स्थान है और आज भी उसकी वर्किंग कमिटी में बहुत-से अब्राह्मण हैं। उदाहरणार्थ—महात्मा गांधी, सरदार वल्लभभाई पटेल, आचार्य कृपालानी, और अपना नाम भी मैंने लिया। मैंने देखा कि चाहे कारण जो हो, इस तरह के प्रचार का यह बुरा फल हुआ है कि कांग्रेस जैसी संस्था के संबंध में भी लोगों में संदेह पैदा कर दिया गया है।

पर इससे भी अधिक एक दिलचस्प चीज और कहीं-कहीं देखने में आयी। वहां पर एक दल अब्राह्मणों का कायम हुआ था जो अपने को स्वाभिमानी दल (सेल्फ रिस्पेक्ट पार्टी) कहा करता था। उस दल की ओर से कहीं-कहीं कुछ लोग स्वागत के समय, काले झंडे दिखलाते और 'गो बैक'—'लौट जाओ' का नारा लगाते। पर यह दल इतना छोटा होता कि केवल एक मजाक की चीज ही बन जाता। मुझे याद है कि एक सभा में कुछ लोग 'गो बैक' के नारे लगाकर शोर मचा रहे थे। मैंने हंसकर सभा से पूछा कि कितने लोग चाहते हैं कि मैं वापस चला जाऊं और कितने चाहते हैं कि मैं न जाऊं? लोगों ने जो हाथ उठाकर अपनी राय बतलायी तो साफ हो गया कि 'गो बैक' कहने वालों की संख्या बहुत थोड़ी थी। मैंने भाषण इसी प्रश्न से शुरू किया—इतने अधिक लोग चाहते हैं कि मैं न जाऊं और इतने थोड़े लोग चाहते हैं कि मैं जाऊं, तो ऐसी अवस्था में क्या करूं? मेरे प्रश्न करते ही सारी सभा में हंसी हुई। लोग इतना हंसे कि 'गो बैक' कहने वाले भी अपनी हंसी न रोक सके, वे भी उस हंसी में शरीक हो गये। उसके बाद सभा शांति से हुई।

एक दूसरे स्थान में रात को सभा हो रही थी। कुछ लोग शोर मचाने लगे। पर सभा बहुत बड़ी थी। मुझ तक उस शोर का असर नहीं पहुंचा था। पर वहां के लोग उससे ऊब गये। पुलिस वाले भी गुस्से में आ गये। शोर मचाने वालों की संख्या बहुत थोड़ी थी। पुलिस ने उनको पकड़कर पास के ही एक मकान में बंद कर दिया। जब तक सभा होती रही,

उनको बंद ही रखा। इसकी खबर मुझे पीछे लगी। पर मैंने यह देखा कि जो काले झंडे दिखलाने के लिए आते वे भी कुछ देर तक शोरगुल मचाकर भाषण होने लगने पर चुप हो जाते और उसे ध्यान से सुनते। बीच-बीच में, विशेषकर जलूस और स्वागत के समय ही, वे अपनी शक्ति खर्च करते, मेरे भाषण के समय नहीं।

तामिलनाडु, केरल और आंध्र प्रदेशों में बहुत जबरदस्त स्वागत हुआ। प्रचार-कार्य भी काफी हुआ। आंध्र में मैं सबसे पीछे आया। वहां एक नयी बात यह हुई कि मेरे पूरे सफर में हिन्दी प्रचार सभा के श्री सत्यनारायण साथ रहे। वह आंध्र के रहने वाले हैं। पर हिन्दी का ज्ञान उनका इतना अच्छा है कि यदि वह भाषण देने लगें तो किसी हिन्दी-भाषी को यह संदेह न होगा कि वह हिन्दी-भाषी नहीं हैं। इसलिए वहां मेरे भाषणों के भाषांतर का प्रश्न बहुत आसान हो गया। आंध्र में तामिल की अपेक्षा हिन्दी-प्रचार अधिक हुआ भी है। वहां मैंने यह भी देखा कि बहुत जगहों में लोग मेरा भाषण हिन्दी में ही सुनना चाहते थे। इसलिए, आंध्र में कुछ स्थानों को छोड़कर और सब जगहों में मैंने हिन्दी में ही भाषण किया। सत्यनारायणजी जैसा भाषांतरकार साथ में था। जहां तक मैं समझ सकता था, मेरे भावों का वह बहुत सुंदर रीति से तेलगू में उल्था करके बता देते थे। बात तो यह है कि वहां भी सौ में 90 ऐसे ही लोग हुआ करते थे जो न हिन्दी जानते थे और न अंगरेजी; उनको तेलगू-उल्था के लिए हर हालत में इंतजार करना पड़ता था—चाहे मैं अंगरेजी में बोलूं या हिन्दी में। यही बात तामिलनाडु में भी थी। पर आंध्र के जो थोड़े अंगरेजी जानने वाले होते वे भी या तो हिन्दी समझ लेते या तेलगू-भाषांतर के लिए इंतजार करने को तैयार होते। तामिलनाडु के अंगरेजी जानने वाले इतना सब्र नहीं कर सकते।

इस यात्रा से मुझे इस बात का पता चला कि हिन्दी प्रचार सभा ने कितने महत्व का काम किया है और वह काम राष्ट्र-निर्माण में कितना सहायक हुआ है तथा आगे कितना सहायक होगा। एक बात और देखने में आयी। मैं जहां गया वहां जो थोड़े मुसलमान मिले उनमें बहुतेरे टूटी-फूटी हिन्दी कुछ-न-कुछ समझ लेते थे। उनकी बोली तो शायद उस स्थान की ही बोली होगी, पर वे न मालूम किस तरह कुछ-कुछ ऐसी बोली समझ लेते जिसे मैं समझ सकता। वह न शुद्ध हिन्दी होती और न फारसी-मिश्रित शुद्ध उर्दू। वह तो होती एक ऐसी सरल भाषा जिसे प्रत्येक हिन्दी-भाषी समझ सकता है। इस भाषा को वहां के लोग 'मुसलमानी' कहा करते थे। इससे अनुमान हुआ कि इसे मुसलमान ही उत्तर भारत से उस तरफ ले गये थे।

तामिलनाडु की यात्रा में मैं दो स्थानों का उल्लेख जरूरी समझता हूं। मैं तिरुवन्नमलय में जब पहुंचा तो मालूम हुआ कि यहीं रमण महर्षि निवास करते हैं। यात्रा का क्रम इतना कड़ा था कि वहां मैं ठहर न सका। चंद मिनटों के लिए उनका दर्शन मात्र कर सका। पर मेरी इच्छा हो गयी कि यदि हो सका तो कभी आकर अच्छी तरह से दर्शन करूंगा। कुछ दिनों के

बाद श्री शंकरलाल बैंकर ने भी मुझे वहां जाने की सलाह दी। वह स्वयं वहां कई बार गये थे और उनके हृदय पर अच्छा प्रभाव पड़ा था। इसलिए कई बरसों के बाद एक बार सेठ जमनालालजी के साथ मैं वहां गया। कई दिनों तक वहां ठहरकर महर्षि के दर्शन करता रहा। दूसरी जगह, जिसका उल्लेख करना चाहता हूं, चिदम्बरम है। वहीं पर अन्नमलय युनिवर्सिटी राजा अन्नमलय चेट्टियर के दान से बनी है। उन दिनों श्री श्रीनिवास शास्त्री वहां के वाइस-चांसलर थे। उन्होंने मुझे लिखा था कि जब मैं वहां जाऊं तो उनके ही साथ ठहरूं। मुझे यह बात बहुत पसंद आयी। मैं दो दिनों तक उनका अतिथि रहा। यों तो श्री शास्त्रीजी से मेरा पहले का परिचय था; पर यह पहला ही अवसर था जब मैं उनके साथ एक-दो दिनों तक ठहरा। इसका असर यह हुआ कि मेरी श्रद्धा उनके प्रति और भी बढ़ गयी।

केरल प्रांत में मैं कोचीन भी गया। वहां तातापुरम में तेल के बड़े कारखाने को देखा। पर मैं ट्रावनकोर राज्य में दो-एक स्थानों को ही देख सका। इनमें एक कन्याकुमारी है। वहां पर जाकर कुछ समय मैंने बिताया। हिन्दुस्तान का सबसे दक्षिणी अंतरीप, जहां बंगाल उपसागर और अरब सागर मिलते हैं, भारत के लिए और संसार के लिए, एक विशेष महत्व रखता है। लोगों ने भारत के नक्शे पर भारत-माता को एक स्त्री के रूप में चित्रित दिखलाने का प्रयत्न किया है। चित्र में माता के चरण यहीं पड़ते हैं। मैंने सुना है कि जब स्वामी विवेकानन्द इस स्थान पर पहुंचे और यहां की चट्टानों को, जो माता के चरण हैं, देखा—जिनको समुद्र बराबर अपनी लहरों से धोता रहता है—तो वह अनायास वहां साष्टांग दंडवत करके माता के चरणों में गिर पड़े। मेरी भावना भी उस स्थान पर कुछ वैसी ही हुई। फिर जब मैंने यह सोचा कि कन्याकुमारी के सामने दक्खिन में दक्षिण-ध्रुव तक कोई दूसरा टापू अथवा जमीन का टुकड़ा नहीं मिलता, तो यह भावना और भी दृढ़ हुई कि प्रकृति ने यहीं पर एक प्रकार से पृथ्वी का अंत किया है। जमीन उत्तर-ध्रुव से साइबीरिया, चीन, तिब्बत, हिमालय होते भारत को पार करके वहां (कन्याकुमारी) तक फैली है। वहीं उसका अंत हो जाता है। उसके दक्खिन केवल जल-ही-जल है जो दक्षिणी-ध्रुव तक फैला हुआ है। वह सचमुच हमारे लिए एक अत्यंत सुंदर, मनोहर एवं पवित्र स्थान है जिसको देखकर कोई भारतवासी भारत की एकता और एकसूत्रता को भूल नहीं सकता।

कन्याकुमारी से उत्तर प्रायः श्री जगन्नाथपुरी तक मैं बराबर मोटर पर घूमा। यह तो भारत के पूर्वी हिस्से में समुद्र के किनारे-किनारे भ्रमण हुआ। उसी तरह, पश्चिमी किनारे पर भी कर्नाटक और महाराष्ट्र की यात्रा में, बंगलोर से लेकर गुजरात तक, मोटर पर भ्रमण कर चुका था। बीच के शहरों में भी वहां के प्रायः सभी मुख्य स्थानों को देखने का अवसर मिला था। जो थोड़े स्थान ऐसे थे जहां नहीं जा सका था वहां पीछे गया। इस प्रकार, केवल हैदराबाद राज्य के अंदर के स्थानों को छोड़कर, मैं विंध्य के दक्खिन सारे भारत का पूरा दौरा कर चुका हूं।

कार्यक्रम ऐसा बना था कि दिसम्बर की 20 या 21 तारीख तक मैं प्रायः तीन महीनों में सफर समाप्त करके वर्धा पहुंच जाऊं और वहां से बम्बई जाऊं जहां कांग्रेस की जयंती मनाने का प्रबंध किया गया था। मैं आंध्र में सबसे पीछे विशाखापट्टनम (विजगापट्टम) में पहुंचा। वहां से ट्रेन पर सवार होकर रायपुर आया। रायपुर में, श्री पंडित रविशंकर शुक्लजी के आग्रह से, वहां की सेवा समिति के उत्सव में शरीक होने का, पहले से ही वचन दे चुका था। उस उत्सव को देखकर वर्धा गया। वर्धा में एक या दो दिन ठहरकर बम्बई चला गया।

114

कांग्रेस की स्वर्ण जयंती

कांग्रेस जयंती के अवसर पर सारे देश में उत्सव मनाने का प्रबंध किया गया था। मुख्य उत्सव बम्बई में ठीक उसी स्थान पर होने वाला था जहां कांग्रेस का पहला अधिवेशन सन् 1885 के दिसम्बर में हुआ था। बम्बई की प्रांतीय कमिटी ने इस उत्सव के लिए समुचित प्रबंध किया था। जब मैं बम्बई पहुंचा, मुझे यह मालूम हुआ कि सर दिनशा वाचा बहुत बीमार हैं। उस समय शायद वही एक मात्र जीवित व्यक्ति थे, जिन्होंने कांग्रेस के पहले अधिवेशन में भाग लिया था। पंडित मदनमोहन मालवीयजी शायद एक या दो वर्ष बाद से कांग्रेस में आने लगे। सर दिनशा वाचा केवल सबसे पुराने कांग्रेसी ही नहीं थे, वह सबसे बूढ़े कांग्रेस के सभापति भी थे जो उस समय जीवित थे। इसलिए मैंने अपना कर्तव्य समझा कि उत्सव का कार्यारम्भ उनका दर्शन करके और उनके आशीर्वाद के साथ करूं। इधर कई बरसों से उनका कांग्रेस के साथ बहुत गहरा मतभेद हो गया था। वह कांग्रेस से बहुत दूर हो गये थे। तो भी उनकी सेवाओं को, कांग्रेस के इतिहास से परिचय रखने वाला, कोई भी भारतीय भूल नहीं सकता। उनके दर्शन मैंने प्रायः उनकी बेहोशी की हालत में किये, पर यह भी मेरे लिए सौभाग्य की बात थी।

जयंती का उत्सव बड़े समारोह से बम्बई में हुआ। भारत के प्रायः सभी शहरों में वह बहुत धूमधाम से मनाया गया। लोगों ने दिवाली मनायी, बड़ी-बड़ी सभाएं कीं, कांग्रेस के इतिहास संबंधी भाषण किये। एक विशेष वक्तव्य जो निकाला गया था उसे पढ़कर सर्वत्र लोगों को बतलाया गया। मैंने और कहीं के उत्सव को तो नहीं देखा, पर उनके वर्णन पढ़े। पटने लौटने पर पटने में मनाये गये उत्सव का हाल साथियों से सुना। शायद इस तरह का उत्सव इसके पहले कभी सारे देश में जनता ने इतने उत्साह से नहीं मनाया था। उसी साल ब्रिटिश बादशाह पंचम जार्ज के राज्य के 25 वर्ष पूरे हुए थे, जिसके लिए रजत जयंती मनायी गयी थी। लोगों के दिल में शायद यह भी स्पर्धा थी कि राष्ट्रीय महासभा की जयंती भी शान-शौकत से मनायी जाये। इस भावना को उन्होंने इस उत्सव के अवसर पर कार्य-रूप में प्रदर्शित किया।

इस सफर में मेरे भाषणों का लक्ष्य और तात्पर्य एक ही था—कांग्रेस के संगठन को मजबूत बनाना चाहिए। जहां तक मैं समझ सका, इस दौरे का असर अच्छा ही पड़ा; क्योंकि जनता चाहती थी कि 1930-34 के सत्याग्रह के बाद, जब गवर्नमेंट ने अपने जानते कांग्रेस को खूब दबा डाला था, उसे यह दिखलाने का मौका मिले कि वह अब भी कांग्रेस के प्रति वही प्रेम और श्रद्धा रखती है। मैंने अपने सभापतित्व-काल को इस तरह बहुत दौड़-धूप करके बिताया। शायद मेरे पहले किसी सभापति ने इतना लम्बा-चौड़ा सफर नहीं किया था। पंडित जवाहरलालजी ने, जो मेरे बाद ही फिर दूसरी बार सभापति हुए, इस सिलसिले को जारी रखा। अपनी जबरदस्त शारीरिक शक्ति से उन्होंने इससे भी ज्यादा कठिन यात्रा की।

1929 के दिसम्बर में लाहौर कांग्रेस में निश्चय हुआ था कि कांग्रेस का अधिवेशन फरवरी या मार्च में हुआ करे। इसी निश्चय के अनुसार कराची का अधिवेशन 1930 के दिसम्बर में न होकर 1931 के मार्च में ही होना था। 1930 के दिसम्बर में सत्याग्रह चल रहा था। इसलिए उस समय अधिवेशन नहीं हो सकता था। पर नियमानुकूल उसे 1931 के मार्च में ही होना था और वह कराची में हुआ भी। 1932-33 में सत्याग्रह के कारण बाजाब्ता अधिवेशन नहीं हुआ। पर पुलिस की आज्ञा के विरुद्ध, दिल्ली और कलकत्ते में, नियमानुसार समय पर, लाठियों के प्रहारों के बीच, अधिवेशन हुए। 1934 में बाजाब्ता अधिवेशन हुआ, पर मार्च में नहीं; क्योंकि उस समय कांग्रेस गैर-कानूनी संस्था थी। वह अधिवेशन अक्टूबर में बम्बई में हुआ। अब 1935 के मार्च में यदि अधिवेशन होता तो वह पिछले अधिवेशन के पांच महीने बाद ही पड़ता। इसलिए निश्चय किया गया कि 1935 के बाद ही अधिवेशन किया जाये—1936 के फरवरी-मार्च में। पंडित जवाहरलालजी बम्बई अधिवेशन के समय जेल में थे। बाद में जेल से छूटने पर, श्रीमती कमला नेहरू की बीमारी के कारण, वह उनके पास योरप चले गये, जहां देवीजी का देहांत हो गया। पंडित जवाहरलालजी ही कांग्रेस के सभापति चुने गये थे। इसलिए उनके वापस आ जाने पर और आ जाने के बाद देश की परस्थिति समझ लेने पर ही अधिवेशन हो सकता था। इसलिए दूसरा अधिवेशन 1936 के अप्रैल में लखनऊ में हुआ। 1935 के अंत तक मैं सफर और जयंती में लगा रहा। उसके बाद सर्दी के कारण कुछ अस्वस्थ भी हो गया। कुछ आराम कर लेना भी आवश्यक था। इसलिए ज्यादा लम्बा सफर नहीं कर सका।

जिस दिन पंडित जवाहरलालजी योरप से कमलाजी का 'फूल' लेकर हवाई जहाज से उतरे, मैं उनके स्वागतार्थ प्रयाग गया। वह शोक का दिन था; क्योंकि कमलाजी जैसी निपुण काम करने वाली और देश के साथ प्रेम रखने वाली स्त्री विरल ही मिलती है। इस पर उनका विदेश में देहांत होना और जवाहरलालजी का उनकी राख के साथ वापस आना—सभी दुख को बढ़ाने वाली बातें थीं। बड़े समारोह के साथ उनका अस्थि-विसर्जन त्रिवेणी-संगम पर किया गया। इसके बाद से ही लखनऊ कांग्रेस की तैयारी होने लगी।

एक प्रश्न जवाहरलालजी के सभापतित्व के संबंध में उठा था। उस समय तक कांग्रेस का एक अलिखित नियम माना जाता था कि जिस सूबे में सालाना अधिवेशन हो उस सूबे का आदमी सभापति नहीं हो सकता। जवाहरलालजी युक्तप्रांत के रहने वाले ही नहीं थे, वहां की प्रांतीय कमिटी के प्रधान या सभापति नहीं तो प्रधान काम करने वालों में जरूर थे। इसलिए कुछ लोगों ने यह प्रश्न उठाया कि वह सभापति हो सकते हैं या नहीं ? पर गांधीजी ने राय दी कि ऐसी कोई बात विधान में नहीं है और इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है; इसलिए पंडितजी के सभापति चुने जाने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

115

लखनऊ कांग्रेस

लखनऊ के अधिवेशन के पहले वर्किंग कमिटी की एक बैठक दिल्ली में हुई जिसमें महात्माजी भी आये। जवाहरलालजी बहुत दिनों के बाद लौटे थे और विलायत जाने के पहले भी बहुत दिनों से जेल में थे। इसलिए उनकी इच्छा थी और यह मुनासिब भी था कि भावी सभापति वर्किंग कमिटी से, कांग्रेस के अधिवेशन के कुछ पहले ही, मिल लें और अधिवेशन के विचारार्थ विषयों पर भी विचार-विनिमय कर लें। जवाहरलालजी के विचार पहले से ही साम्यवाद के पक्ष में हैं और योरप की यात्रा के बाद उनके विचार अधिक पुष्ट हो गये थे। हम सब उस विषय को न तो बहुत समझते थे और न मानते थे। देश में कांग्रेस के अंदर सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हो ही गया था। पंडितजी यद्यपि उस पार्टी में शरीक नहीं हुए तथापि बहुत-से विषयों में एक विचार होने के कारण उनकी राय उस पार्टी के साथ मिल जाती थी। दिल्ली की बैठक में हमने देखा कि कई विषयों पर उनका और मेरा मतभेद है। यह मतभेद कार्यक्रम के संबंध में उतना नहीं होता जितना दृष्टिकोण के संबंध में। हम दोनों यदि किसी कार्यक्रम के संबंध में एक राय भी रखते तो उस नतीजे पर हम दो रास्तों से पहुंचे होते। यदि एक ही बात को कहना भी चाहते तो उसे दो प्रकार की भाषा में कहते। यदि एक ही रास्ते पर चलना भी चाहते तो दो प्रकार की सवारियों पर चलना चाहते। यदि एक ही प्रस्ताव करना चाहते तो उसकी अलग-अलग भूमिका बनाते। इतनी भूमिका यहां दे देना आवश्यक है; क्योंकि पीछे चलकर वह मतभेद प्रकट हो गया और लखनऊ कांग्रेस में तो सर्वथा स्पष्ट हो गया।

लखनऊ अधिवेशन के कई दिन पहले प्रयाग में वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। अनुभव से देखा गया है कि वर्किंग कमिटी में कांग्रेस के लिए प्रस्तावों के तैयार करने में काफी समय लगता है। शुरू में तो हम सुस्ती से काम करते हैं, अर्थात छोटी-मोटी बातों में भी अधिक समय लगाते हैं; पर जब विषय निर्वाचिनी की बैठक का समय पहुंच जाता है तो जल्दी-जल्दी उसके लिए प्रस्ताव तैयार करने पड़ते हैं। इसका नतीजा होता है कि सब प्रस्ताव ठीक समय पर तैयार नहीं हो पाते या ठीक समय से छपकर सदस्यों में बांटे नहीं जा सकते

और इस बात की उनकी शिकायत रह जाती है। इसीलिए लखनऊ कांग्रेस के कुछ पहले सोचा गया कि वर्किंग कमिटी की बैठक कुछ पहले ही हो और प्रस्ताव तैयार करके प्रकाशित कर दे अथवा छपवा ले ताकि विषय निर्वाचिनी के समय जल्दी न करना पड़े। हां, अगर कोई नयी बात पैदा हो जाये अथवा कोई ऐसा विषय उपस्थित हो जाये जिस पर विचार करना आवश्यक है तो उस पर उस समय भी विचार किया जा सकता है। इसलिए, यद्यपि नियमावली में कोई ऐसी बात नहीं थी तथापि यह बैठक कई दिन पूर्व ही की गयी। वहीं कुछ प्रस्ताव तैयार किये गये और कुछ लखनऊ के लिए छोड़ रखे गये।

लखनऊ अधिवेशन में, जैसा ऊपर कहा गया है, मतभेद रहा। यदि कोई यह कहे कि किस विषय में मतभेद रहा, तो शायद इसे उस रीति से बता देना कठिन है; पर जैसा ऊपर कहा गया है, मतभेद अधिकतर दृष्टिकोण का ही था। ऊपर कहा जा चुका है कि बम्बई कांग्रेस के समय सुधार संबंधी ब्रिटिश गवर्नमेंट के प्रस्ताव मालूम हो चुके थे, यद्यपि अभी पूरा कानून नहीं बना था। बम्बई कांग्रेस ने उसे नामंजूर कर दिया था। मेरे दक्षिण भारत के दौरे में मुझसे इस संबंध के प्रश्न किये जाते—विशेषकर यह कि कांग्रेस नये विधान के अनुसार मंत्रिपद ग्रहण करेगी या नहीं ? कांग्रेस के अंदर एक दल पैदा हो गया था जो यह कहा करता था कि कांग्रेस को मंत्रिपद ग्रहण करना चाहिए, दूसरा दल इसके विरुद्ध था। विरोधियों में सबसे अधिक बोलने वाले सोशलिस्ट लोग ही थे। कांग्रेस ने यद्यपि विधान को नामंजूर कर दिया था, तथापि उसने इस बात का निश्चय नहीं किया था कि वह अपनी नामंजूरी को किस तरह व्यक्त करेगी। कांग्रेस के नामंजूर कर देने से वह कानून रद नहीं हो जाता था। इसलिए, उसके अनुसार जो चुनाव होंगे उनमें कांग्रेस भाग लेगी वा नहीं; चुनाव का बहिष्कार उस तरह करेगी या नहीं जिस तरह उसने 1920 के चुनाव का किया था ? यदि चुनाव में भाग लेगी तो उसके बाद वह क्या करेगी ? यदि कांग्रेस को बहुमत मिल जाये तो उस हालत में क्या वह स्वयं मंत्रिमंडल न बनाकर दूसरों को भी बनाने न देगी ? अथवा, वह किसी दूसरे प्रकार से अड़ंगा-नीति द्वारा उस विधान को बेकार बनावेगी ? उसकी नीति का सफल होना या न होना बहुत करके उसके सदस्यों के बहुमत से चुने जाने पर ही निर्भर था; इसलिए चुनाव के पहले कुछ भी निश्चित रूप से तय कर देना सम्भव और उचित नहीं था। अतः मुझसे जब कोई प्रश्न करता तो मुझे यही कहना पड़ता कि कांग्रेस ने विधान को नामंजूर कर दिया है, पर वह नामंजूरी किस तरह कार्यान्वित होगी, इसका निश्चय अभी नहीं हुआ है, समय आने पर ही निश्चय किया जायेगा। इस उत्तर के लोग तरह-तरह के अर्थ लगाते। पर बात यह थी कि कांग्रेस ने इससे ज्यादा अभी तक निश्चय किया ही नहीं था। यदि मैं सभापति की हैसियत से कुछ कह देता तो अभी से आपस का मतभेद इस विषय पर केंद्रित हो जाता—दिन-रात यही बहस चलने लगती।

एक दूसरा प्रश्न था जिसके संबंध में यद्यपि मतभेद मौलिक नहीं था, तथापि जब-तब

सामने आ जाता था। यूरोप में युद्ध का वातावरण पैदा हो गया था। इटली ने अबीसीनिया पर चढ़ाई करके उसे दखल करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। इंग्लैंड ऊपर से शायद इटली की इस कार्रवाई को नापसंदीदा बताता था—अथवा इंग्लैंड के कुछ लोग इसकी निंदा करते थे। पर वह सचमुच इस बात को लेकर इटली से भिड़ना नहीं चाहता था। राष्ट्र संघ (League of Nations) ने अबीसीनिया के साथ सहानुभूति दिखलायी; पर इससे कुछ अधिक नहीं किया। कुछ दिनों तक इंग्लैंड ने इटली पर आर्थिक दबाव डालने का भी प्रयत्न किया। पर वह भी कुछ ऐसे ही वैसे। हमारे कांग्रेसी सोशलिस्ट चाहते थे कि हम इस प्रकार का प्रस्ताव पास करें कि भारतवर्ष किसी लड़ाई में अंगरेजों की मदद नहीं करेगा और साथ ही वे अबीसीनिया के साथ हमदर्दी भी दिखलाना चाहते थे। जहां तक सताये हुए मुल्क के साथ हमदर्दी का सवाल था, किसी प्रकार का मतभेद नहीं था; पर और तरह से इस प्रकार के अंतरराष्ट्रीय विषय पर अपनी राय दे देना मुझे कांग्रेस के लिए कबल-अजवक्त मालूम पड़ता था। पर इसका अर्थ यह नहीं था कि मैं ब्रिटिश सरकार को लड़ाई में मदद देने के पक्ष में था। इसलिए यदि ऐसे विषय पर कोई प्रस्ताव मुझे बनाना पड़ता तो मैं केवल सहानुभूतिसूचक प्रस्ताव बनाता। पर दूसरे पक्ष के लोग सहानुभूति के साथ युद्ध-विरोधी राय भी प्रकट करना चाहते थे।

जो हो, पं. जवाहरलालजी की राय हमारी राय से नहीं मिलती थी। पर अंतरराष्ट्रीय विषयों में हम मानते थे कि वह हमसे कहीं अधिक जानकारी रखते हैं और उनके विचारों की हम बहुत कद्र करते थे। इसलिए, उनकी ही बात मान लेते। मिनिस्ट्री के संबंध में भी उनकी राय स्पष्ट थी कि वह मिनिस्ट्री में कांग्रेस की शिरकत नहीं चाहते थे। हमने अभी तक अपनी राय पक्की नहीं की थी। हम सचमुच इस प्रश्न को उस समय तक उठाना नहीं चाहते थे जब तक हमारे सदस्यों की संख्या और शक्ति का ठीक पता न लग जाये। जवाहरलालजी ने अपने विचारों को जाहिर कर दिया—यद्यपि उसके साथ-साथ उन्होंने यह भी कह दिया कि ये उनके निजी विचार हैं, कांग्रेस ने अभी तक कोई निश्चय नहीं किया है।

आज यह कहना मुश्किल है कि लखनऊ में किन बातों पर मतभेद हुआ। पर इतना निश्चय है कि कई विषयों पर हुआ और कमिटी में कई बातों में बहुमत हमारे साथ रहा। पर जैसा ऊपर कह चुका हूं, वे कोई मैलिक बातें नहीं थीं जिनके कारण हम दोनों का अलग हो जाना अनिवार्य हो जाये—जैसा गया में स्वराज्य पार्टी और अपरिवर्तनवादियों के लिए हो गया था; विशेषकर कार्यक्रम में कोई मौलिक भेद नहीं था। हम लोग जवाहरलालजी की कार्यदक्षता, त्याग, परिश्रम और विचारगाम्भीर्य के कायल थे। उनसे अलग होना हम हरगिज किसी तरह पसंद नहीं करते थे। वह भी समझते ते कि सूबों में काम करने वालों और असर रखने वालों में शायद हम लोग ज्यादा जबरदस्त थे, इसलिए वह भी हमको अलग करना या हमसे अलग होना नहीं चाहते थे। बात यह थी कि दोनों पक्ष परस्पर पूरा सम्मान का भाव

रखते थे और जानते थे कि देश के लिए आपस की जुदाई हितकर नहीं होगी। शायद हम यह भी समझते थे कि हम एक-दूसरे की त्रुटियों को पूरा करते थे। हम यह भी समझते थे कि चाहे हममें जितना भी मतभेद हो, देश यह नहीं बरदाश्त करेगा कि हम एक-दूसरे से अलग हो जायें। यहां पर मैंने एक ही जगह कितनी बातें कह दीं ! इससे यह न समझना चाहिए कि उसी समय कोई दो दल बन गये थे। दो विचार-धाराएं मात्र थीं—किसी ने कोई दलबंदी नहीं की थी और न नये मतभेद उसी दिन इतने स्पष्ट हो गये थे कि हमारे लिए अलग होने की बात उठ खड़ी हुई हो। एक तरह से यह विचार-भेद की धारा भीतर-भीतर तब से आज तक चली आ रही है। गांधीजी उस समय लखनऊ कांग्रेस में आये तो जरूर थे, पर उन्होंने इस बहस में बहुत भाग नहीं लिया और जो कुछ हमने किया, अपनी समझ के अनुसार ही किया। पीछे जब यह बहुत बड़ा लोकव्यापी युद्ध खड़ा हुआ तो बातों में गांधीजी के साथ भी मतभेद मालूम हो गया।

कांग्रेस के बाद जब वर्किंग कमिटी के संगठन का समय आया तो जवाहरलालजी को कुछ कठिनाई अवश्य हुई। वह नये विचार वाले लोगों को उसमें लेना चाहते थे। हम भी इसके विरोधी नहीं थे; पर हम यह अवश्य चाहते थे कि यदि हम वर्किंग कमिटी में रहें तो उसका संगठन ऐसा हो कि हमारी बातें भी सुनी जायें। महात्माजी ने इस विषय में जवाहरलालजी को राय दी कि वह जिनको उचित समझें, समाजवादियों में से वर्किंग कमिटी में ले लें और शायद उन्होंने उनके नाम भी बताये। हमने भी इसे मान लिया। वर्किंग कमिटी बनी जिसमें दो प्रकार की विचार-धारा चलती, यद्यपि अभी कार्यक्रम में कोई अंतर नहीं था। समाजवादियों से मत का जो भी भेद हो उसके कारण काम में बाधा नहीं आती थी, पर उनके प्रचार की रीति कुछ ऐसी थी कि हमें वह अच्छी नहीं लगती थी। बहुत बातों में जो नीति गांधीजी ने कांग्रेस में 1920 से ही चला रखी थी उसका वे प्रत्यक्ष और परोक्ष रीति से विरोध करते और हम पर यह असर होता कि वे उस सारे कार्यक्रम और नीति को तहस-नहस करना चाहते हैं जिसको गांधीजी ने चलाया था—जिस पर कांग्रेस काम करती आ रही थी और जिस पर चलकर वह देश को इतना आगे ले जा चुकी थी। इस विषय में, जहां तक मैं समझता हूं, जवाहरलालजी भी उन लोगों के साथ सहमत नहीं थे; क्योंकि बहुत-सी बातों में गांधीजी से मतभेद होने पर भी वह उनके नेतृत्व के महत्व को जानते और मानते थे—उसे किसी तरह कमजोर करना नहीं चाहते थे। यह बात दूसरों में नहीं थी। यही कारण था कि मतभेद होते हुए भी हम जवाहरलालजी के साथ काम कर सकते थे और दूसरों के साथ चलना कठिन हो जाता था। जो हो, कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हुआ। सब लोग अपने-अपने स्थान के लिए रवाना हुए।

116

नागपुर का हिन्दी साहित्य सम्मेलन और राष्ट्रभाषा का प्रश्न

मुझे लखनऊ से ही नागपुर जाना था। वहां अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन होने वाला था जिसका मैं सभापति निर्वाचित हुआ था और वह ठीक कांग्रेस के बाद तीन-चार दिनों के अंदर ही होने वाला था। इसलिए मैं उसी गाड़ी से गया जिससे महात्माजी गये। उनके साथ ही वर्धा गया और वहां से सम्मेलन के दिन नागपुर आया।

वर्धा में बैठकर मैंने भाषण लिखा। कुछ दिनों से इस बात पर बहस चल रही थी कि हिन्दी की शब्दावली में विदेशी भाषाओं के शब्दों को लेना चाहिए या नहीं। सच पूछिए तो प्रश्न को यह रूप देना भी उचित नहीं है; क्योंकि कोई भी हिन्दी का लेखक—चाहे वह कितना भी विदेशी शब्दों का विरोधी क्यों न हो—सभी विदेशी शब्दों का बहिष्कार नहीं करना चाहता, और न अपने लेखों अथवा भाषणों में उनका बहिष्कार करता है। यह झगड़ा हिन्दी और उर्दू का है। हिन्दी में, जैसा उसका रूप आज हो गया है और होता जा रहा है, संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य होता है। उर्दू में, जिस तरह वह आज बढ़ और फूल-फल रही है, अरबी और फारसी शब्दों की बहुतायत हुआ करती है। दोनों में बहुतेरे अच्छे सुलेखक हैं जो सादी और सहज भाषा भी लिखते हैं। दोनों में कुछ ऐसे लोग भी हैं जो संस्कृत, फारसी या अरबी शब्दों को देख करके घबड़ाते हैं और डरते हैं कि इनसे हिन्दी का रूप विकृत हो जायेगा और वह उर्दू बन जायेगी तथा उर्दू बिगड़कर हिन्दी बन जायेगी। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो हिन्दी को हिन्दुओं की और उर्दू को मुसलमानों की भाषा मानते हैं। इस तरह इस झगड़े में कुछ साम्प्रदायिकता भी आ गयी है—यद्यपि बहुतेरे मुसलमान कवि और लेखक हुए, जिन्होंने हिन्दी की सेवा की है तथा उसी तरह बहुतेरे हिन्दुओं ने उर्दू की सेवा की है।

कांग्रेस के विधान में जहां भाषा का जिक्र है वहां न 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार किया गया है न 'उर्दू' शब्द का, बल्कि वहां 'हिन्दुस्तानी' शब्द का ही इस्तेमाल हुआ है। जब गांधीजी ने दक्षिण भारत में राष्ट्र भाषा का प्रचार 1910 में आरम्भ किया था तब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्वावधान में ही आरम्भ कराया था। उसी समय वह इन्दौर में साहित्य

सम्मेलन के सभापति हुए थे। कांग्रेस के विधान में 'हिन्दुस्तानी' शब्द का व्यवहार महात्माजी और श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने ही किया था। उनके ही शब्द को कांग्रेस ने मान लिया था। दक्षिण भारत में जिस सभा के द्वारा राष्ट्रभाषा-प्रचार का काम आज भी लिया जा रहा है उसका नाम दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा है। इससे स्पष्ट है कि गांधीजी ने जब से इस काम को हाथ में लिया है, उन्होंने हिन्दी और उर्दू को दो भिन्न-भिन्न भाषा नहीं माना है। यद्यपि दोनों की शब्दावली में अंतर है और वह अंतर दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, तथापि दोनों का व्याकरण प्रायः एक ही है और वह व्याकरण दूसरी किसी भाषा के व्याकरण से पूरा-पूरा नहीं मिलता। भाषा-तत्वविदों का कहना है कि भाषा की विभिन्नता शब्दावली से उतनी नहीं होती जितनी उसके वाक्यों की गढ़न और व्याकरण के नियमों के कारण होती है। इसलिए यह मानना अनुचित और भाषा-विज्ञान के नियमों के प्रतिकूल नहीं है कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा का नाम है अथवा एक ही भाषा की दो शैलियां हैं—दो विभिन्न भाषाएं नहीं। 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी भी है और उर्दू भी; क्योंकि वह प्रायः क्लिष्ट शब्दों को काम में नहीं लाती। वह अपना रूप ऐसा रखती है जिसको हिन्दी वाले और उर्दू वाले दोनों ही अपना समझ सकें।

मैं इस बात का हिमायती हूं कि जिस भाषा का शब्द-भंडार जितना भरा-पूरा होगा वह भाषा उतनी ही अधिक उन्नत होगी। यदि एक ही अर्थ में कई शब्द होंगे तो समय पाकर उनके अर्थ में थोड़ा-बहुत भेद होता जायेगा और उसमें बारीकियां आती जायेंगी। विचार की सूक्ष्मता को व्यक्त करने की शक्ति ऐसी भाषा में अधिक होती जायेगी। जीती-जागती भाषा दूसरी भाषाओं के सम्पर्क से, यदि उसमें ग्रहण और संग्रह करने की शक्ति है तो, लाभ उठाती जायेगी और उसका शब्द-भंडार बढ़ता जायेगा। वह इस बात से डरकर घोंघे की तरह अपनी खपड़िया के अंदर घुसकर अपने को बंद नहीं कर लेती कि बाहर की हवा से, बाहर के शब्दों से, वह पिस जायेगी और अपना अस्तित्व ही खो देगी। वह हिम्मत के साथ खुलेआम संघर्ष में आवेगी और दूसरी भाषाओं के अच्छे भावग्राही शब्दों को अपने में मिला लेगी। हां, ऐसा करने में वह अपने नियमों को, अपने रूप को, नहीं बदलेगी—अपनी पोशाक और अपनी सजावट को भले ही बदल ले और उसमें भले ही विचित्रता लावे।

मैंने अपने भाषण का यही विषय रक्खा और हिन्दी साहित्य-सेवियों के विचारार्थ यह प्रश्न उपस्थित किया। मेरा कहना था कि हिन्दी को विदेशी शब्दों के ग्रहण करने में हिचकना नहीं चाहिए—चाहे वे फारसी और अरबी के हों या अंगरेजी के, पर जो शब्द हिन्दी में आवें उन्हें हिन्दी बन जाना चाहिए—अर्थात हिन्दी में आकर वे अपने साथ अरबी-फारसी या अंगरेजी का व्याकरण हिन्दी में न दाखिल करें, बल्कि वे हिन्दी व्याकरण के अनुशासन के अधीन होकर रह जायें। मेरा यही विचार आज भी है। उस समय से आज तक इस बात पर बहुत बहस छिड़ी रही है; पर मैं अपने विचार में अधिक दृढ़ होता गया हूं। और, केवल इन

तीन भाषाओं के ही शब्द नहीं लेने पड़ेंगे, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनते-बनते बहुतेरे ग्रामीण शब्दों को भी अपने में ले लेना पड़ेगा—जो प्रांतीय भाषाएं हैं उनकी शब्दावली के भी बहुतेरे शब्दे ले लेने पड़ेंगे।

इस संबंध का एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न भी है जिस पर विचार कर लेना आवश्यक है। क्या आज की आधुनिक हिन्दी और उर्दू एक हैं या हो सकती हैं ? व्याकरण प्रायः एक होते हुए भी शब्दावली का अंतर बहुत बढ़ता जा रहा है। आज केवल हिन्दी अथवा उर्दू जानने वालों की सभा में ऐसी भाषा बोली जा सकती है जिसे वहां के श्रोता न समझ सकें—ऐसी संस्कृत-मिश्रित हिन्दी जिसको उर्दू जानने वाले न समझ सकें और ऐसी फारसी-अरबी-मिश्रित उर्दू जो हिन्दी-दां के लिए आम-फहम न हो। यह भी संभव है—बहुत कठिन नहीं है—कि ऐसी भाषा बोली जाये जिसको केवल हिन्दी जानने वाले और सिर्फ उर्दू जानने वाले अच्छी तरह समझ जायें। मैं इसी को 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'हिन्दुस्थानी' नाम देता हूं। बड़ी-बड़ी सभाओं के लिए, साधारण समाचारपत्रों के लिए, किस्से-कहानियों के लिए और दिल पर असर करने वाली कविता के लिए भी इस तरह की सुगम भाषा हो सकती है, इसमें संदेह नहीं है। हां, जब उच्च कोटि की वैज्ञानिक पुस्तक लिखनी हो तो उसके लिए बहुतेरे वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों की जरूरत पड़ सकती है। ऐसे शब्द हमेशा सहज और सुबोध नहीं हो सकते। यह किसी भी भाषा में नहीं है। अंगरेजी एक उन्नत भाषा समझी जाती है। यदि अंगरेजी में कोई विज्ञान की पुस्तक अंगरेजी के अच्छे ज्ञाता को भी दी जाये, तो वह उसे ठीक समझ न सकेगा; क्योंकि उसमें पंक्ति-पंक्ति में इस तरह के पारिभाषिक शब्द मिलेंगे, जिनको केवल अंगरेजी साहित्य का जानने वाला साधारणतः नहीं जानता—जानता केवल वही है जो उस विज्ञान-विद्या से परिचित है। यों तो अब इस प्रकार की कहानियां और ऐसे उपन्यास भी लिखे जाते हैं जिनमें बहुत-सी वैज्ञानिक बातें रहती हैं—वैज्ञानिक शब्द आ जाते हैं। पर मैं इस समय इस प्रकार की विशेष पुस्तकों पर विचार नहीं कर रहा हूं। साधारणतया किसी भी मामूली अंगरेजी जानने वाले के सामने भौतिक विज्ञान की अथवा चिकित्सा-विषय की कोई अंगरेजी पुस्तक रख दी जाये, तो वह उसे प्रायः ठीक-ठीक नहीं समझेगा, यद्यपि उसका व्याकरण उसके लिए सरल होगा। पर उसके बहुतेरे शब्द ऐसे होंगे जो उसके लिए अपरिचित-से होंगे।

इसी तरह, यदि हिन्दी और उर्दू में इस प्रकार के वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथ लिये जायें तो उनकी भाषा एक भिन्न प्रकार की होगी। पारिभाषिक शब्द किसी संस्कृत (अथवा संस्कारयुक्त) भाषा से ही लिये जा सकते हैं, अथवा किसी संस्कृत वा संस्कार-युक्त भाषा की मदद से बनाये जा सकते हैं—वह भाषा चाहे संस्कृत हो या अरबी। अंगरेजी में भी इस प्रकार के शब्द बहुतायत करके लैटिन से ही बने होते हैं। यहां पर मैं मानता हूं कि इन वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों के लिए हमको संस्कृत अथवा अरबी की ओर जाना

होगा—हो सकता है कि यूरोपीय भाषा के बहुतेरे शब्दों को ज्यों का त्यों ले लेना पड़े। किंतु भारतवर्ष में तो इस प्रकार के शब्द यदि अधिकतर संस्कृत के ही होंगे तो उनका ज्यादा प्रचार होगा; क्योंकि यहां तक कि दक्षिण भारत की भाषाएं भी संस्कृत से बहुत ज्यादा प्रभावित हुई हैं। यदि उनको भी नये शब्द लेने पड़ें, जिन्हें वे स्वयं नहीं बना सकतीं, तो वे संस्कृत से ही लेना पसंद करेंगी। उदाहरणार्थ, यदि हमको 'ज्योतिष' शब्द लेना पड़े तो वह 'इल्मनजूम' की अपेक्षा अधिक सुगमता से हिन्दी-भाषी प्रांतों में समझा जायेगा—बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, तामिल, तेलगू, केरल, पंजाब इत्यादि में भी लोगों की समझ में आवेगा। उसी विज्ञान के शब्द 'नक्षत्र' और 'ग्रह' को भी लोग सारे भारतवर्ष में अधिक सुगमता से समझ लेंगे। इसलिए मैं समझता हूं कि इन पारिभाषिक शब्दों के लिए राष्ट्रभाषा को, चाहे हम उसे जिस नाम से पुकारें, हमको संस्कृत पर ही निर्भर करना होगा। हो सकता है कि विदेश से कुछ शब्द ऐसे आ गये हों जो प्रचलित हो गये हैं। उनको वैसे ही रहने देना उचित और अनिवार्य है। पर जहां नये शब्द गढ़ने हों वहां संस्कृत की सहायता लेना ही उचित और सुकर है। इसमें उर्दू वालों का यदि आग्रह हो तो वे जैसे चाहें अपने शब्द बना लें। पर वे ध्यान रक्खें कि उनके वे शब्द सार्वदेशिक न हो सकेंगे—सिर्फ उर्दू के ही रह जायेंगे। इसलिए, जहां तक मामूली बोलचाल और समाचारपत्रों की भाषा का संबंध है, हम ऐसी ही भाषा व्यवहार में ला सकते हैं जो हिन्दी और उर्दू दोनों के लिए ग्राह्य हो। पर जहां पारिभाषिक शब्दों का काम पड़ेगा वहां दोनों विलग हो सकती हैं—यद्यपि यह भी आवश्यक या अनिवार्य नहीं है। और, जैसा ऊपर कहा गया है, वह (पारिभाषिक) तभी सर्वमान्य और सार्वदेशिक शब्द हो सकता है जब वह संस्कृत की सहायता से बना हो।

राष्ट्र-भाषा का संबंध विशेषकर प्रतिदिन के कारबार से ही रहता है। इसलिए, जहां तक में समझ सकता हूं, वह ऐसी होनी चाहिए जिसे हिन्दी और उर्दू वाले दोनों ही अपनी समझ सकें। वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथों की, शायद उच्च कोटि के साहित्य की भी, भाषा हिन्दी और उर्दू में अलग-अलग होगी। यदि हम इस विभेद को मान लें तो हिन्दी-उर्दू का झगड़ा बहुलांश में मिट सकता है। हम तो सारे भारत के आपस के व्यवहार के लिए एक राष्ट्र-भाषा चाहते हैं—वह अंगरेजी नहीं हो सकती, वह हिन्दी ही हो सकती है, चाहे उसे हम हिन्दुस्तानी कहें या हिन्दी कहें अथवा उर्दू कहें। आज की प्रचलित प्रांतीय भाषाओं के स्थान को उसे नहीं लेना है; वे अपने-अपने स्थान पर ज्यों की त्यों कायम रहकर प्रांतीय काम में और प्रांतीय साहित्य में व्यवहृत होती रहेंगी। सार्वदेशिक व्यवहार के लिए ही हमको राष्ट्र-भाषा चाहिए। यदि उसको हम फारसी-अरबी के बहुत-से अप्रचलित शब्दों से भरकर कठिन बना देंगे तो वह बंगाल, आसाम, उत्कल, आंध्र, तामिल, केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात इत्यादि में मुश्किल से प्रवेश पा सकेगी। अतएव उसको वहां के लिए सुगम बनाने में जहां तक हो सके इन प्रांतीय भाषाओं के प्रचलित शब्दों को लेना हितकर और सहायक होगा। साथ ही, हम

यह भी नहीं भूल सकते कि पंजाब, सीमा-प्रांत और कुछ पश्चिमी युक्तप्रदेश की भाषा में भी उर्दू का पुट अधिक है—विशेषकर शिक्षित मुसलमानों में वहां फारसी-अरबी के शब्द अधिक आसानी से बोले और समझे जाते हैं। राष्ट्र भाषा ऐसे लोगों को भी अपने दायरे के बाहर नहीं कर सकती। इसलिए राष्ट्र भाषा को उदार नीति ग्रहण करनी पड़ेगी और बहिष्कार-नीति छोड़नी पड़ेगी।

मैंने स्वयं अपने देशव्यापी दौरे में देखा है कि मुझे दो प्रकार की हिन्दी बोलनी पड़ती है। जब मैं सीमा-प्रांत और पंजाब में गया—विशेषकर ऐसी सभाओं में जहां मुसलमानों की संख्या अधिक थी—तो मैं फारसी-मिश्रित हिन्दी बोलकर अपने विचारों को व्यक्त कर सका और लोगों को समझा सका। बंगाल, महाराष्ट्र इत्यादि और दक्षिण भारत में भी, जहां कुछ हिन्दी समझी जाती थी, मैं संस्कृत-बहुल हिन्दी ही बोलकर अपना काम कर सका। मैं न तो अरबी-फारसी का आलिम हूं और न संस्कृत का पंडित। अरबी का ज्ञान तो बिलकुल नहीं है। फारसी का थोड़ा ज्ञान है। संस्कृत का भी वैसा ही अंदाज का परिचय है। पर मैं दोनों प्रकार की भाषाएं कुछ-कुछ बोल सकता हूं। दोनों प्रकार के श्रोताओं में मेरे भाषण आसानी से समझ लिये जाते हैं। इसका एक विशेष कारण इन भाषाओं का अपना अज्ञान ही मैं समझता हूं। इसलिए, मैं मानता हूं कि मेरे जैसे लोगों के लिए—और ऐसे लोगों की संख्या अधिक है और रहेगी—ऐसी राष्ट्रभाषा का प्रयोग सहज है। आलिमों और पंडितों के लिए उसमें अधिक कठिनाई है और रहेगी; इसलिए हम अपनी छोटी निधि में से ही काम की चीज खोज निकालने को बाध्य होते हैं, जो अधिकतर मेरे जैसे लोगों के लिए विशेष परिचित ही होगी।

मैंने यहां पर राष्ट्रभाषा संबंधी अपने विचारों को विस्तारपूर्वक कह दिया; क्योंकि सम्मेलन से इनका संबंध है। मैंने इसी प्रकार के विचारों को अपने भाषण में रक्खा। सम्मेलन राष्ट्रभाषा-प्रचार का काम भी करता आया है। इसलिए उसे दो बातों पर ध्यान रखना पड़ता है। एक ओर उसे हिन्दी साहित्य में उच्चकोटि के ग्रंथों के निर्माण पर और दूसरी ओर, भाषा के प्रचार पर भी दृष्टि रखनी पड़ती है। इन दोनों उद्देश्यों में प्रायः पार्थक्य अथवा विरोध न होना चाहिए, पर कहीं-कहीं होना असम्भव भी नहीं है। आगे चलकर सम्मेलन के अंदर कुछ इस विषय पर मतभेद हुआ भी। नागपुर में ही वह मतभेद दीखने लगा। पर वहां के कार्यक्रम में कोई अंतर नहीं आया। सम्मेलन ने राष्ट्र भाषा प्रचार समिति बना दी जिसका सभापति मैं बनाया गया। सम्मेलन में एक प्रचार समिति भी नियमानुसार हुआ करती है। नागपुर सम्मेलन ने महसूस किया कि प्रचार समिति हिन्दी-भाषी प्रांतों में साहित्य-प्रचार का काम किया करे और राष्ट्र भाषा प्रचार समिति उन प्रांतों में राष्ट्र भाषा का प्रचार करे जहां की भाषा हिन्दी नहीं है। दक्षिण भारत में—आंध्र, तामिल, केरल और कर्नाटक में—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा बहुत अच्छा काम करती आ रही है और उसके द्वारा प्रचार का काम खूब

जोरों से चलाया गया है। पर दूसरे अ-हिन्दी प्रांतों में यह प्रचार-व्यवस्था नहीं हुई थी। इसलिए गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल, आसाम, उत्कल इत्यादि प्रांतों में प्रचार-कार्य करने का भार इस राष्ट्र भाषा प्रचार समिति को सौंपा गया। मैं इसका सभापति तो बना; पर इसके नीति-निर्देश का काम गांधीजी ने लिया और अर्थ-संग्रह का सेठ जमनालाल बजाज ने। इसमें सम्मेलन के कई प्रमुख व्यक्ति—श्री पुरुषोत्तदास टंडन, पंडित दयाशंकर दुबे, डाक्टर बाबूराम सक्सेना प्रभृति—सदस्य बनाये गये। कुछ अ-हिन्दी प्रांतों के प्रतिनिधि-स्वरूप वहीं के हिन्दी-प्रेमी सम्मिलित किये गये। यह समिति तीन बरसों के लिए ही बनायी गयी थी। पर वह तीन बरस बीतने पर फिर मनोनीत कर दी गयी। 1936 से 1942 तक छः बरसों में, इस समिति ने अ-हिन्दी प्रांतों में—विशेषकर गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश के महाराष्ट्री जिलों, उत्कल और आसाम में—बहुत काम किया। विद्यार्थियों के लिए पुस्तकें बनवायीं, परीक्षाएं लीं। हजारों की संख्या में विद्यार्थियों ने परीक्षाएं दीं, और उत्तीर्ण भी हुए। सेठ पद्मपत सिंघानिया ने पांच बरसों तक 15000 रुपये वार्षिक—कुल 75000 रुपये—का दान देकर इसके अर्थाभाव को बहुत-कुछ दूर कर दिया। श्री काका कालेलकर, श्री सत्यनारायण, श्री श्रीमन्नारायण और दादा धर्माधिकारी के परिश्रम तथा उत्साह ने, गांधीजी के वरद हस्तों के नीचे, इसे एक व्यापक प्रभावशाली, उच्चाकांक्षा वाली, सफल संस्था बना दिया।

नागपुर में एक और सम्मेलन हुआ। गांधीजी ने देखा था कि हिन्दी-उर्दू का पारस्परिक वैमनस्य बढ़ता जाता है। वह चाहते थे कि इन दोनों के समन्वय का प्रयत्न किया जाये। इसके लिए एक ऐसी संस्था की जरूरत थी जिसमें दोनों भाषाओं के विद्वान शरीक हों और जो बिना किसी खींचतान के केवल भाषा की अभिवद्धि की दृष्टि से काम करें। उन्होंने इसमें श्री कन्हैयालाल मुंशी को, जो गुजराती साहित्यकारों में बहुत ऊंचा स्थान रखते हैं, लगाना चाहा। मुंशी प्रेमचन्द और मौलवी अब्दुल हक साहब की सहायता भी लेनी चाही। संस्था (राष्ट्रभाषा परिषद्) का अधिवेशन नागपुर में ही किया गया। उपरोक्त सज्जन तथा दूसरे लोग निमंत्रित किये गये। उसी सभा में मौलवी अब्दुल हक साहब से मतभेद हो गया। उन्होंने सम्मेलन के बाद कुछ ऐसे लेख लिखे जिनमें गांधीजी पर भद्दा आक्रमण किया गया। इसलिए यह परिषद् मुसलमानों की सहायता न कर सकी। पर मुंशी प्रेमचन्द और श्री कन्हैयालाल मुंशी ने, काशी के हिन्दी मासिक पत्र 'हंस' को, परिषद् की ओर से, कुछ दिनों तक चलाया। दुख की बात है कि मुंशी प्रेमचन्द थोड़े ही दिनों के बाद स्वर्गवासी हो गये। परिषद् बहुत दिनों तक जीवित न रह सकी—यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी अंत्येष्टि क्रिया भी कर दी गयी है।

117

प्रांतीय धारा-सभाओं का चुनाव

1936 का साल 1937 में होने वाले प्रांतीय धारा-सभाओं के नये विधान के अनुसार चुनाव की तैयारी में बीता। लखनऊ में निश्चय हो चुका था कि कांग्रेस अपनी ओर से उमीदवार खड़ा करे और चुनाव लड़े। यह पहला अवसर था जब इस नये विधान के अनुसार करोड़ों स्त्री-पुरुषों को चुनाव में भाग लेने का अवसर मिला था। उन करोड़ों मतदाताओं का इस प्रकार संगठन करना कि वे कांग्रेस के सभी उम्मीदवारों को वोट दें, कोई आसान काम नहीं था। कांग्रेस 1935-36 में पुनः संगठित हो गयी थी। 1934 में वह केंद्रीय असेम्बली के लिए चुनाव लड़ चुकी थी। उसमें वह बहुत बड़े अंश में विजय भी प्राप्त कर चुकी थी। पर उस चुनाव के मुकाबले में यह चुनाव कहीं अधिक विस्तृत था। उसमें करीब 100 सदस्यों के चुनाव की बात थी। इसमें प्रायः 2000 जगहों के लिए आदमी चुनवाने थे। इसमें खर्च भी बहुत पड़ने वाला था। उमीदवारों को नामजद करना भी कोई आसान काम न था।

सबसे पहले काम था एक ऐसा घोषणा-पत्र तैयार करना जो कांग्रेस की ओर से मतदाताओं के सामने रखा जाये और जिसको पूरा करने के लिए उनसे वोट मांगा जाये। कांग्रेस के प्रस्तावों और इस प्रकार की घोषणाओं का मसविदा पहले महात्माजी तैयार किया करते थे। इधर जबसे पं. जवाहरलालजी सभापति हुए, यह काम उनको ही अधिक करना पड़ता था। उन्होंने दिल फड़काने वाली भाषा में एक बहुत सुंदर घोषणा तैयार की। अखिल भारतीय कमिटी ने उसे मंजूर कर लिया।

हमारे सामने एक दिक्कत थी। कांग्रेस ने अभी तक यह निश्चय नहीं किया था कि वह अपने सदस्यों को मंत्रिमंडल में शरीक होने देगी या नहीं। कुछ लोग चाहते थे कि प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनें और जो कुछ भी अधिकार विधान द्वारा मिले हैं उनका वे इस्तेमाल करें। दूसरे लोग ऐसे थे जो चाहते थे कि कांग्रेसी केवल अड़ंगा-नीति से ही काम लें—न मंत्रिमंडल बनावें और न बनाने दें, यदि वे बन भी जायें तो उनके कामों में अड़ंगा लगाते रहें। कांग्रेस ने विधान को नामंजूर कर दिया था, पर साथ ही चुनाव में भाग लेने की इजाजत दी थी। हां, यह नहीं बतलाया था कि चुने जाने के बाद सदस्य क्या करेंगे। इसलिए इस

घोषणा-पत्र में यह साफ कहा नहीं जा सकता था कि हम मंत्रिमंडल बनावेंगे और वहां रहकर अमुक-अमुक काम करेंगे। उसमें यह भी कहना मुश्किल था कि हम वहां कुछ नहीं करेंगे और न किसी को कुछ करने देंगे। इसमें बड़ी होशियारी से ऐसी बातें कही गयीं, जो कराची कांग्रेस में, अपने मौलिक और आर्थिक अधिकारों वाले प्रस्ताव में, मंजूर की गयी थीं। ऐसा करने से, बिना इस बात का वादा किये कि हम मंत्रिपद ग्रहण करेंगे या नहीं करेंगे, कौंसिल के लिए कार्यक्रम बतला दिया गया। यह घोषणा सारे देश के लिए थी। इसके अनुसार सभी कांग्रेसी सदस्य, चाहे वे जिस सूबे में हों, काम करेंगे। इसके अलावा, प्रांतीय कमिटियों को अधिकार दिया गया कि वे अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार यदि वहां के लिए कोई घोषणा निकालना चाहें तो निकाल सकती हैं।

इस घोषणा-पत्र में अधिकतर किसानों की दशा सुधारने की बात कही गयी थी। उसके लिए लगान कानून में तरमीम करके उनको अपनी जमीन पर, जिसे वे जोतते-बोते हैं, स्थायी स्वत्व देने की बात थी। लगान कम करने पर भी जोर था। मजदूरों की भी दशा सुधारने का वादा था—उनकी नौकरी को स्थायी बनाकर, उनकी रहन-सहन की सुव्यवस्था कराकर और उनकी मजदूरी में वृद्धि कराकर। साथ ही, मजदूर संघों के स्थापित और संगठित करने के अधिकार दिलवाने तथा दूसरे प्रकार से उनकी अवस्था सुधारने की बात भी कही गयी थी। देश में मद्यनिषेध कराने का वादा था। अर्थात इसमें वे सब बातें थीं जो कोई भी लोकप्रिय मिनिस्ट्री कर सकती है। हम समझते थे कि यदि हमने मंत्रिपद ग्रहण किया तो ये सब काम करेंगे ही; पर यदि न भी किया तो इस तरह की बातें जो भी मिनिस्ट्री हो उसके द्वारा करा सकेंगे और करायेंगे।

दूसरा कठिन कार्य था इतने अधिक उमीदवारों को चुनना। स्पष्ट है कि यह काम अखिल भारतीय कमिटी की वर्किंग कमिटी सारे देश के लिए कर नहीं सकती थी। एक तो उसके पास इतना मसाला न होगा कि वह यदि स्वयं इस बात पर विचार करने बैठे कि दो उमीदवारों में से किसको कांग्रेस-टिकट देना चाहिए तो इसका निर्णय वह कर सके। उसको ख्वाहमखाह प्रांतीय कमिटियों अथवा उनकी कार्यकारिणी पर ही अधिक भरोसा करना पड़ता। तो भी यह स्पष्ट था कि कहीं-कहीं स्थानीय कमिटियों में दलबंदियां थीं, और हो सकता है कि इस दलबंदी के कारण किसी उमीदवार के साथ बेइंसाफी हो जाये, अथवा ऐसे उमीदवार चुन लिये जायें जो जनता के सामने जवाबदेह या कामयाब न हो सकें। कहीं-कहीं की प्रांतीय कमिटियां चाहती भी थीं कि अंतिम निर्णय अखिल भारतीय वर्किंग कमिटी के ही हाथों में रहे तो अच्छा होगा। इसलिए यह निश्चय हुआ कि अंतिम निर्णय अखिल भारतीय कमिटी ही करेगी। पर वर्किंग कमिटी ने भी इस काम के लिए अपने सभी सदस्यों को एकत्रित करना मुश्किल समझा। इसलिए उसने तीन सदस्यों की एक पार्लियामेंटरी कमिटी बना दी जिसके जिम्मे यह सब काम सौंप दिया गया। इस पार्लियामेंटरी कमिटी के

प्रमुख बनाये गये सरदार वल्लभभाई पटेल। इसके सदस्य हुए मौलाना अबुल कलाम आजाद और मैं। जब चुनाव का समय नजदीक आया तब अनुभव से पता चला कि इन सदस्यों का भी हमेशा मिलकर किसी बात का फैसला करना, समय की कमी और एक से दूसरे की दूरी के कारण, असंभव हो जाता था। यदि सारी वर्किंग कमिटी के जिम्मे यह काम रहता तो शायद उसे महीनों एक स्थान पर बैठे रहना पड़ता। शुरू में मुझे बम्बई में कुछ दिनों तक इस कमिटी के काम से रहना पड़ा था। पर वहां के जलवायु की प्रतिकूलता के कारण मैं बरसात में वहां न रह सका। हम तीनों ही अपने-अपने स्थान से काम करने लगे।

सदस्यों की नामजदगी प्रांतीय कमिटियों की कार्यकारिणी कमिटी ही करती। पर वह अपने मन से मंजूर किये गये सभी नामों को पार्लियामेंटरी कमिटी के पास भेज देती। कोई आदमी, जो प्रांत के फैसले से नाराज हो, पार्लियामेंटरी कमिटी के पास अपील कर सकता था और उस संबंध के सभी कागज-पत्र, रिपोर्ट इत्यादि प्रांत से उसके पास जाते। जिन स्थानों के संबंध में कोई भी अपील या नाराजगी न होती वे तो बिना संकोच प्रांतीय कमिटी के निश्चयानुसार ही रह जाते। पर जिसके संबंध में अपील होती, पार्लियामेंटरी कमिटी उसकी जांच करती। यदि आवश्यकता पड़ती तो उसके सदस्य उस स्थान पर जाकर, वहां के लोगों से मिलकर और उनसे दरियाफ्त करने के बाद, अंतिम फैसला कर देते। यह काम आसान नहीं था। पर संतोष की बात है कि बहुत कम निश्चयों के संबंध में ही पार्लियामेंटरी कमिटी तक अपील पहुंची। जो अपीलें पहुंचीं भी, उनमें बहुतेरों का निबटारा लिखा-पढ़ी करके सबकी रजामंदी से हो गया। थोड़े ही ऐसे स्थान थे जिनके लिए किसी एक आदमी या दल के खिलाफ फैसला देना पड़ा।

चुनाव के मामले में दो बातें मुख्य थीं। एक तो यह थी कि मनोनीत उमीदवार, कांग्रेस के कार्यक्रम के अनुसार, ठीक सचाई और ईमानदारी के साथ, काम करेगा या नहीं ? दूसरी बात यह थी कि उसके चुने जाने की पूरी आशा है या नहीं ? एक तीसरी बात और थी जो इन दो बातों के मुकाबले में गौण समझी जा सकती है, पर जो अपना काफी महत्व रखती थी। वह यह है कि उमीदवार चुनाव के लिए जरूरी खर्च खुद कर सकेगा वा नहीं, और यदि नहीं तो उसके लिए पार्लियामेंटरी कमिटी को क्या मदद देनी पड़ेगी ? पहली बात का निर्णय उमीदवार की पूर्वसेवाओं और कांग्रेस के साथ उसके संबंध तथा उसकी कार्रवाइयों पर विचार करके ही हो सकता था। दूसरी बात का निर्णय जनता में उसकी लोकप्रियता पर निर्भर था। इस लोकप्रियता के बहुतेरे कारण हो सकते थे। कोई आदमी कांग्रेस द्वारा सेवा के कारण बहुत लोकप्रिय है; कोई किसी विशेष क्षेत्र में दूसरे प्रकार की सेवाओं द्वारा लोकप्रिय हो गया है। कोई क्षेत्र ऐसा था जहां किसी खास जाति अथवा समाज के लोगों का बाहुल्य था। वहां सेवा के अलावा उस विशेष जाति अथवा समाज का आदमी होना ही लोकप्रियता का—अर्थात वोट पाने की शक्ति का—कारण हो सकता था। कोई क्षेत्र ऐसा हो

सकता था जहां अधिक काम नहीं हुआ है और जहां कांग्रेस का प्रभाव बहुत नहीं है, वहां और कारणों से ही उमीदवार के चुने जाने की आशा हो सकती थी। इन सभी बातों का निर्णय अधिकतर प्रांतीय कमिटियां ही कर सकती थीं। इसलिए उनकी ही बातें मान्य होतीं।

सबसे बड़ी कठिनाई वहां पड़ती जहां कांग्रेस के दो सेवक एक ही स्थान के लिए उमीदवार हो जाते और उनमें से कोई हटने को तैयार न होता! सेवा की दृष्टि से दोनों में भेद करना असंभव नहीं तो कठिन जरूर होता। जनता में भी दोनों के प्रति प्रेम और श्रद्धा होती। ऐसी अवस्था में किसी एक को नाराज करके ही फैसला देना पड़ता। पैसे का सवाल भी कुछ हल्का न था। 2000 स्थानों के लिए चुनाव का खर्च बहुत पड़ता है। थोड़ा-थोड़ा भी खर्च पड़े तो बहुत हो जाता है। प्रतिद्वंद्विता के कारण भी खर्च कुछ बढ़ जा सकता है। यदि प्रतिद्वंद्वी धनी हुआ और अधिक खर्च करने पर उतारू हो गया, तो अपनी ओर से भी खर्च की मात्रा बढ़ा देनी पड़ती है; क्योंकि प्रतिद्वंद्वी के प्रचार का प्रतिकार करना आवश्यक है।

इस बात का संतोष है कि इन सब कठिनाइयों को पार्लियामेंटरी कमिटी, सरदार वल्लभभाई के नेतृत्व में, हल कर सकी। मुझे अखिल भारतीय चुनावों के अलावा अपने सूबे का काम भी देखना था। मैं जब से कांग्रेस का सभापति हुआ था, सूबे में कांग्रेस का काम कुछ भी नहीं कर सकता था। जैसा पहले कहा है, बराबर सारे देश में दौड़-धूप करता रह गया। अपने सूबे में तो उस दौरे में भी नहीं आ सका था। 1930 से ही सत्याग्रह के काम में हमारा सूबा संलग्न था। उस समय मुझे अपने सूबे में बहुत घूमने का मौका मिला था। एक बार 1931 में गांधी-अर्विन पैक्ट के समय में भी कुछ स्थानों में भ्रमण कर सका था। 1934 में, केवल भूकम्प संबंधी काम के लिए ही, जहां जा सका वहां गया। उसके बाद सभापति बनकर तो और-और सूबों में ही घूमता रहा। इस तरह प्रायः पांच-छः बरसों से मेरा और सूबे का सम्पर्क बहुत कम हो गया था। तो भी मुझे यह काम तो देखना ही था। शायद मैं इस साल सूबा-कमिटी का सभापति भी चुना गया था। इसलिए सूबे के उमीदवारों के चुनाव में मुझे बहुत समय देना पड़ा और बहुत कष्ट भी उठाना पड़ा। ऊपर जितनी बातें मैंने कही हैं, सबका अनुभव और सब पर निर्णय सूबे की वर्किंग कमिटी को करना पड़ा जिसका मैं सभापति था!

हमारे सूबे में एक और बात है जो प्रायः दूसरे सूबों में शायद बहुत मात्रा में नहीं देखी जाती है। जिला कमिटियां अधिकतर निर्णय प्रांतीय वर्किंग कमिटी पर ही छोड़ना चाहती थीं; क्योंकि वे समझती थीं कि यदि वे फैसला करेंगी तो आपस के मतभेद बढ़ जायेंगे और इस कारण चुनाव में कठिनाई भी बढ़ जायेगी। पर प्रांतीय वर्किंग कमिटी के लिए फैसला देना आसान नहीं था; क्योंकि वह भी स्थानीय परिस्थिति से पर्याप्त परिचय नहीं रखती थी। तो भी मैं समझता हूं कि प्रांतीय कार्यकारिणी के जिम्मे यह काम छोड़ना अच्छा न हुआ। उसके प्रायः सभी निर्णय सर्वसम्मति से हुए। कुछ में मतभेद हुआ और कभी-कभी यह

मतभेद तीव्र भी हो गया; पर अंत में सभी बातें सबकी राय से तय हो सकीं। मुझे कई निश्चयों के संबंध में बड़ी कठिनाई से अपने को मनाना पड़ा। पर मैंने अपने निजी विचारों को—जिनका संबंध व्यक्ति से ही था—दबा दिया और कमिटी के बहुमत को ही मान लिया। जहां तक मुझे स्मरण है, मैंने कभी यह नौबत भी न आने दी कि मेरे कारण किसी नाम के संबंध में मत लेने की जरूरत पड़े। हां, जहां जरूरत होती, अपनी राय बता देता; पर उसको संयत भाषा में बतलाता जिसमें कटुता न आने पावे। जो हो, सूबे की नामजदगी एक प्रकार से हो गयी।

सूबे में हमने इस बात पर जोर दिया कि ऐसे ही लोग विशेषकर लिये जायें जो कांग्रेस के काम करने वाले सेवक हैं। एक तो ऐसे ही लोगों पर अधिक भरोसा किया जा सकता था; क्योंकि उन्होंने अपने काम से अपनी विश्वसनीयता का परिचय दे दिया था और उनसे आशा भी थी कि कांग्रेस की जैसी आज्ञा होगी वैसा ही वे करेंगे। पर कहीं-कहीं परिस्थिति ने इसके लिए भी मजबूर किया कि ऐसे लोग भी लिये जायें जो कांग्रेस के साथ सहानुभूति तो रखते थे और जिन्होंने उसकी सेवा भी कुछ की थी, पर जो कार्यकर्ताओं में नहीं समझे जा सकते थे—यह स्थानीय दिक्कतों के कारण, और कहीं-कहीं खर्च के ख्याल से भी, करना पड़ा।

एक विशेष अवस्था हमारे सूबे में थी। यहां पर किसान सभा काम करती आ रही थी। वह किस तरह 1933-34 में, स्वामी सहजानन्द सरस्वती के अधिनायकत्व में, प्रोत्साहित की गयी, इसका जिक्र कुछ ऊपर आ गया है। वह इन तीन-चार बरसों में कहीं-कहीं—गया और पटना जिलों में विशेषकर—जनता में जोरों से काम कर सकी थी। कांग्रेस का और किसान सभा का विरोध नहीं था। दोनों के अनेकानेक और प्रभावशाली कार्यकर्ता एक ही थे। जहां जैसी जरूरत पड़ती, कांग्रेस उनकी मदद भी करती थी। जब चुनाव के लिए उमीदवार नामजद किये जाने लगे तो स्वामी सहजानन्द, जो प्रांतीय वर्किंग कमिटी के सदस्य थे, कुछ ऐसे लोगों के ले लिये जाने पर जोर देने लगे जो किसान सभा से विशेष संबंध रखते थे। और सदस्यों का ऐसे लोगों से कोई विशेष विरोध नहीं था; पर कहीं-कहीं ऐसा मौका आया कि किसान सभा के कार्यकर्ता और कांग्रेस के कार्यकर्ता में ही मुकाबला हो गया। तो भी, कार्यकारिणी ने इस बात को भी संभाल लिया। अंत में जो बातें तय हुईं, वे ऐसी ही हुईं जिनको सब लोगों ने पसंद और मंजूर किया।

एक और चीज है जिसका जिक्र करना आवश्यक है। उमीदवारों के चुनने में हमको इस बात पर ध्यान रखना पड़ा कि कौन उमीदवार किस जाति का है। कांग्रेस के लिए यह कोई संतोष की बात नहीं थी; पर परिस्थिति के कारण हम इससे अपने को अलग नहीं रख सकते थे। इस सूबे के लिए यह दुख और शर्म की बात है कि हम इस नामजदगी में जाति को एकदम भूल न सके और हमें यह सोचना पड़ा कि अमुक स्थान में अमुक जाति के उमीदवार

के चुने जाने की अधिक सम्भावना है तथा यह भी देखना पड़ा कि यदि अमुक उमीदवार को हम नहीं नामजद करते तो इसका असर उस जाति के लोगों पर तो बुरा पड़ेगा ही, चुनाव के लिए भी बुरा होगा! हमको यह भी सोचना पड़ता था कि जितने उमीदवार नामजद किये गये उनमें सभी जातियों के उमीदवार लिये गये वा नहीं—यदि लिये गये तो इतनी संख्या में लिये गये वा नहीं कि हम उस जाति के लोगों को संतुष्ट कर सकें! ये बातें राष्ट्रीय संस्था के लिए गौरवप्रद नहीं हैं। पर हमको चुनाव भी जीतना था और साथ ही हमको इस बात का संतोष भी था कि सभी जातियों में कांग्रेसी काम करने वाले ऐसे मौजूद थे कि उनको हम कांग्रेस की नीति की दृष्टि से चुन भी सकते थे। इसलिए किसी के चुनने में हमें अधिक चोट भी नहीं लगती; क्योंकि जिनको हम नामजद करते वे प्रायः और विचारों से भी योग्य होते। पर सिद्धांत की दृष्टि से इस विचार का आने देना ही ठीक न था।

पूना में जो समझौता दलित जातियों (हरिजनों) के साथ हुआ था उसमें यह निश्चय हुआ था कि हरिजनों के निमित्त सुरक्षित स्थानों के लिए एक प्राथमिक चुनाव हो जिसमें केवल हरिजन ही भाग लेंगे। इस चुनाव में यदि चार या इससे कम हरिजन उमीदवार हुए तो वोट लेने की जरूरत नहीं होगी, सब-के-सब नामजद समझे जायेंगे। यदि इससे अधिक हुए तो केवल हरिजन लोग वोट देकर जिन चार को चाहें चुन लेंगे। फिर दूसरे चुनाव में हरिजन और दूसरे सभी लोग वोट देंगे और जिसको सबसे अधिक वोट मिलेगा वही चुना जायेगा। इसका नतीजा यह होता था कि सवर्ण हिन्दुओं को अंतिम चुनाव में भाग लेने का मौका मिलता था, पर वे जिसको चाहें उसे नहीं चुन सकते थे, वे उन्हीं चार में से एक को वोट दे सकते थे जिनको हरिजनों ने पहले चुनाव में चुन लिया है। इस समझौते का यह फल होता था कि हरिजनों को दो बार वोट देने का हक मिल जाता था। साथ ही, हरिजन उमीदवारों को एक बार केवल हरिजन मतदाताओं में और दूसरी बार हरिजन मतदाताओं तथा सवर्ण मतदाताओं में प्रचार करना पड़ता, जो आसान नहीं था; क्योंकि इसमें खर्च बहुत पड़ता। इस सूबे में हरिजनों की सोलह जगहें थीं। हमने प्रयत्न किया कि उन सभी जगहों पर कांग्रेसी उमीदवार खड़े किये जायें और वे ही जीतें भी। इसलिए जो उनके प्रमुख काम करने वाले और प्रभाव वाले लोग थे उनसे राय ले करके ही हमने अपने हरिजन उमीदवार खड़े किये। इसका नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस को ऐसे हरिजन मिल गये जो उसके नियमानुकूल काम करना चाहते थे। हरिजनों ने भी उन्हें पसंद किया; क्योंकि वे उनकी राय से ही चुने गये थे। इसमें खर्च भी बहुत कम हो गया; क्योंकि अधिकांश स्थानों में केवल एक ही हरिजन उमीदवार खड़ा हुआ जो पहले चुनाव में बिना विरोध चुना गया और दूसरे चुनाव में एक ही उमीदवार होने के कारण उसके नाम पर वोट लेने-देने की बात ही नहीं हुई। हां, चंद जगहें ऐसी हुई जहां चुनाव लड़ना पड़ा, पर अंत में 16 में 15 जगहें कांग्रेस उमीदवारों को ही मिलीं। और सूबों में यह इतनी खूबी से न हो सका, जिसका नतीजा यह हुआ कि हरिजनों के

एक से अधिक दल हो गये। कुछ कांग्रेस के साथ हुए और कुछ कांग्रेस के विरोधी। इस विरोध के कारण हरिजनों को कांग्रेस के प्रति अश्रद्धा भी हुई। हम इन सब कठिनाइयों से बच गये। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि यहां उनमें शिक्षा का बहुत अभाव है इसलिए उनमें ऐसे लोग बहुत नहीं थे जो अपनी महत्वाकांक्षा के लिए अपना अलग संगठन आवश्यक समझते।

नामजदगी हो जाने के बाद सारे देश में प्रचार का काम संगठित करना आवश्यक था। इसके लिए पैसे जमा करने का काम भी पार्लियामेंटरी कमिटी के ही जिम्मे था। यह काम विशेषकर सरदार वल्लभभाई ने ही किया। आवश्यकतानुसार प्रांतीय कमिटियों को मदद दी गयी। प्रांतीय कमिटियों ने अपना-अपना अलग प्रबंध भी यथा-साध्य किया। बिहार में, जैसा ऊपर कहा गया है, अधिक उमीदवार ऐसे ही थे, जो कांग्रेस कार्यकर्ता थे। कांग्रेस कार्यकर्ता, विशेषकर बिहार में, पैसे वाले नहीं हैं। जिनके पास घर में कुछ खाने-पीने लायक है भी, वे भी चुनाव के लिए बहुत ज्यादा खर्च करने योग्य नहीं हैं। तो भी जिससे जहां तक हो सका उसने अपना खर्च किया। प्रांत की ओर से वहीं मदद दी गयी जहां बहुत जरूरत समझी गयी। सारे सूबे में जो प्रचार हुआ उसका खर्च प्रांत ने दिया और विशेष क्षेत्रों का खर्च वहां के उमीदवार ने। जिस उमीदवार को मदद की जरूरत हुई, प्रांत ने उसको मदद की। इस तरह से प्रांत को खर्च तो करना पड़ा, पर यदि हम यह विचार करें कि कितने क्षेत्रों में प्रांत ने कितने खर्च से सफलता प्राप्त की, तो वह खर्च बहुत नहीं जान पड़ता। कुछ खर्च तो अनिवार्य हैं। क्षेत्र बहुत विस्तृत हैं। इतना तो अवश्य करना ही चाहिए कि उमीदवार और दूसरे कांग्रेसी कार्यकर्ता सभी जगहों में जाकर वहां की जनता तक कांग्रेस का संदेशा पहुंचा दें तथा मतदाताओं के साथ उमीदवार की मुलाकात हो जाये। इसमें ही बहुत खर्च पड़ता था।

कांग्रेस का घोषणा-पत्र और कांग्रेस संबंधी दूसरा साहित्य छापकर बांटना भी आवश्यक है। वह केवल चुनाव के लिए ही नहीं, जनता की शिक्षा और ज्ञानवृद्धि के लिए भी। इस प्रकार के खर्च तो हर हालत में अनिवार्य हैं। पर इसकी भी जरूरत थी कि केवल सभाओं द्वारा ही प्रचार न किया जाये। वोट के लिए प्रत्येक मतदाता तक भी कहीं-कहीं पहुंचना अधिक आवश्यक था—विशेषकर जहां कोई जबरदस्त प्रतिद्वंद्वी था। इसमें बहुत खर्च पड़ता था। आजकल के चुनाव मोटर के बिना तो हो ही नहीं सकते; क्योंकि बिना तेज सवारी के सभी जगहों में पहुंचना असम्भव-सा है। जब प्रतिद्वंद्वी वहां बार बार पहुंच रहा है तो हमको भी वैसा ही करना पड़ता है। तो भी मेरा अनुमान है कि बिहार में खर्च बहुत अधिक नहीं पड़ा और हमने अपना काम किफायत से निबाहा! पर हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि हमने चाहे जितना भी कम खर्च किया, गांधीजी के आदर्श से तो वह बहुत नीचे ही दीख पड़ा।

गांधीजी का विचार तो यह था कि कांग्रेस पर लोगों का इतना विश्वास होना चाहिए यह विश्वास कांग्रेस अपनी निःस्वार्थ सेवा द्वारा ही अर्जित कर सकती है—और उसके उमीदवार ऐसे सच्चे और लोकप्रिय सेवक होने चाहिए कि कांग्रेस को अपनी ओर से केवल घोषणा-पत्र छापकर बांट देना और अपने उमीदवारों के नाम प्रकाशित कर देना ही काफी हो—जनता में इतना उत्साह होना चाहिए कि वह, बिना किसी प्रेरणा और प्रोत्साहन के, ठीक समय पर जाकर अपना वोट कांग्रेस के उमीदवारों के पक्ष में दे दे। इसका अर्थ यह है कि चुनाव के समय का प्रचार उतना अधिक आवश्यक नहीं जितना जनता के बीच हमेशा रहकर उसकी सेवा करना। जनता की सेवा ही प्रचार का सबसे अधिक बलवान साधन होना चाहिए।

बात तो ठीक है; पर अभी हमने इतनी सेवा नहीं की है। जिस हद तक हमारी सेवा पहुंची है उसी हद तक हम लोकप्रिय बन सके हैं और उसी अनुपात से चुनाव में हमको कम कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। पिछले बीस बरसों की सेवा बेकार नहीं गयी है; पर उसको अधिक विस्तृत और स्थायी होना चाहिए। इसमें जहां स्वार्थ की मात्रा आती जायेगी, हमारी कठिनाइयां आगे बढ़ती जायेंगी।

यह खेद के साथ लिखना पड़ता है कि चुनावों के अनुभव ने मुझे यह मानने पर मजबूर कर दिया है कि बहुतेरे कांग्रेसी कार्यकर्ता अपनी सेवाओं का मूल्य आंकने लगे हैं—उनके बदले में कुछ-न-कुछ खोजने लगे हैं—चाहे वह असेम्बली या कौंसिल की मेम्बरी हो, चाहे वह जिला बोर्ड या म्युनिसिपैलिटी की सदस्यता वा कोई दूसरा पद हो, चाहे और कुछ न हो तो कांग्रेस कमिटियों के अंदर ही कोई प्रतिष्ठा और अधिकार का स्थान हो। इसमें कोई शक नहीं कि इन स्थानों पर जाकर मनुष्य सेवा कर सकता है—कहीं-कहीं तो सेवा की शक्ति बढ़ भी जाती है। यदि इस भावना से उन पदों या स्थानों की इच्छा की जाये तो ठीक है। पर कौन कह सकता है कि इस इच्छा में सेवा-भाव का प्राबल्य है अथवा अपनी महत्वाकांक्षा का ? यह तो शायद मनुष्य का हृदय भी ठीक नहीं बता सकता; क्योंकि वह अपने को अक्सर ऐसे मामलों में धोखा दे देता है और इस प्रकार मनुष्य अपने मन को ही समझा लेता है कि वह महत्वाकांक्षा से प्रभावित न होकर सेवा के लिए ही लालायित है।

गांधीजी ने एक अवसर पर कहा था कि जो आदमी कांग्रेस के सभापतित्व के लिए लालायित हो उसे सभापति नहीं बनाना चाहिए। जो इसे प्रतिष्ठा के लिए नहीं, सेवा के लिए स्वीकार करता है वह इसके लिए इच्छा नहीं करता—अवसर आ जाने पर उसे शिरोधार्य कर लेता है। यही बात उन सभी स्थानों के लिए होनी चाहिए जिनके लिए जनता चुनकर सेवक नियुक्त करती है। पर आज की प्रचलित पद्धति ऐसी है कि अपना ढोल अपने राम को ही पीटना पड़ता है ! स्वभाव का स्थान महत्वाकांक्षा लेती है। हम इन स्थानों को अपने जीवन में अपने लिए उन्नति का साधन मानते हैं, और संसार की होड़ में इन्हें अपने को आगे बढ़ाने

का एक जरिया समझते हैं। यह हमारी सभ्यता और संस्कृति के प्रतिकूल है; पर आधुनिक पाश्चात्य विचारों के अनुकूल ही है। आज इससे बचना कठिन हो गया है। हम देखते हैं कि हमारे सामने आज यह आदर्श रखने में भी संकोच होता है कि चुनाव के लिए किसी को स्वयं नहीं खड़ा होना चाहिए—जिनको चुनने का अधिकार है उन पर ही योग्य व्यक्ति को खोज निकालने का भार डाल देना चाहिए—यदि उनकी दृष्टि हम पर पड़ जाये और वे हमें चुन लें तो उनकी आज्ञा मानकर अपनी शक्ति-भर उनकी सेवा, जो उस स्थान से सम्भव हो, कर देनी चाहिए। संसार में सच्ची प्रजातांत्रिक व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती जब तक कुछ इस प्रकार की बात न चलायी जाये। इसके लिए त्याग की भावना दृढ़ होनी चाहिए, भोग की भावना कमजोर करना चाहिए; हमारा ध्येय होना चाहिए—सेवा, न कि प्रतिष्ठा अथवा दूसरे प्रकार का स्वार्थ।

इधर पार्लियामेंटरी कमिटी इस तरह से चुनाव की तैयारी में लगी थी, उधर पंडित जवाहरलालजी देश के भिन्न-भिन्न स्थानों का दौरा करके लोगों में उत्साह पैदा कर रहे थे। उन्होंने इस समय जैसे परिश्रम और उत्साह से दौरा करके लोगों को जगाया, शायद वैसा जबरदस्त प्रचार किसी सभापति ने अपने सभापतित्व-काल में न किया होगा। उनका कहना था, और वह ठीक ही था, कि इस प्रकार के चुनाव में, जहां करोड़ों आदमियों से वोट लेने थे, एक-एक वोटर तक पहुंचने की आशा व्यर्थ है; और अगर हम पहुंच भी सकें तो इसका भरोसा नहीं किया जा सकता कि ठीक समय पर हमारे पहुंचने का फल मिलेगा। सबसे अधिक आवश्यकता है वायुमंडल को बदल देने की, जिससे यदि कोई बाहर निकलने का प्रयत्न भी करे तो न निकल सके। उन्होंने ऐसा ही वायुमंडल तैयार करने में अथक परिश्रम किया। नतीजा बहुत अच्छा हुआ।

118

फैजपुर में कांग्रेस का सबसे पहला ग्रामीण अधिवेशन

लखनऊ का अधिवेशन अप्रैल में हुआ था। वहां एक निश्चय यह भी हुआ था कि कराची का वह नियम बदल दिया जाये जिसके अनुसार दिसम्बर में कांग्रेस का सालाना जलसा न करके फरवरी-मार्च में करने का निश्चय किया गया था। इसलिए इसके बाद का वार्षिक अधिवेशन 1936 के दिसम्बर में ही होने को था। यह केवल आठ महीनों के भीतर ही पड़ता था। देश ने जवाहरलालजी को तीसरी बार सभापति फिर चुना। यह अधिवेशन फैजपुर में हुआ। यह स्थान बम्बई प्रांत—कांग्रेसी महाराष्ट्र प्रांत—के पूरब खानदेश जिले में है। यह एक गांव मात्र है या कस्बा कहें तो एक छोटा कस्बा। गांधीजी ने विचार प्रकट किया था कि कांग्रेस का अधिवेशन गांवों में हुआ करे तो जनता को उससे विशेष लाभ पहुंच सकता है। पहली बात तो यह होगी कि गांव के लोगों को उसके प्रबंध में भाग लेना पड़ेगा और इस तरह उनके लिए उसकी सब कार्रवाइयों में रस पैदा होगा। दूसरी बात यह होगी कि अतिथियों के स्वागत-सत्कार और रहन-सहन के लिए जो इंतजाम किया जायेगा उससे गांव वालों को आर्थिक लाभ भी पहुंचेगा। गांधीजी चाहते थे कि प्रबंध भी ऐसा हो कि उसमें गांव की चीजों से ही काम लिया जाये। इस तरह वह ग्रामोद्योगों के प्रोत्साहन का कारण भी हो। उन्होंने महाराष्ट्र के लोगों से अनुरोध किया कि वे इस कांग्रेस का प्रबंध यथासाध्य ग्रामोद्योगों द्वारा उत्पन्न वा उपस्थित की हुई वस्तुओं से ही करें। काम कठिन था, पर स्वागत समिति ने यथासम्भव प्रयत्न किया।

आजकल कांग्रेस का अधिवेशन एक बहुत बड़े पैमाने पर करना पड़ता है। जहां-कहीं भी वह किया जाये, बहुत विशाल आयोजन करना पड़ता है। गांवों में इस आयोजन का विस्तार और भी बढ़ जाता है। वहां तो कोई चीज मिलती नहीं, सब कुछ जुटाना ही पड़ता है। जहां लाखों आदमी जमा होने वाले हैं, वहां उनके लिए केवल पानी जुटाना ही एक मुश्किल काम हो जाता है। उनके ठहरने और खाने का, रोशनी और सफाई का, प्रबंध कुछ कम कठिन नहीं होता। साथ ही, जहां इतने लोग इकट्ठे हों वहां उनके देखने योग्य कुछ कला की चीजों का होना भी आवश्यक होता है। गांधीजी की आज्ञा से वहां यथाशक्ति गांव की चीजों का ही व्यवहार किया गया।

बंगाल की 'विश्वभारती' के प्रसिद्ध कलाकार श्री नन्दलाल बसु ने वहां जाकर कांग्रेसनगर और पंडाल तथा प्रदर्शनी की सजावट इत्यादि का बहुत सुंदर इंतजाम कराया। तारीफ की बात यह थी कि सजावट के लिए गांव में मिलने वाले बांस और लकड़ी से ही काम लिया गया था। जो फाटक बने थे, या दूसरी सजावट की चीजें बनी थीं, उनकी सादगी में भी बड़ी खूबसूरती थी। यह देखकर लोगों को आश्चर्य हुआ कि इन छोटी-मोटी मामूली चीजों से कलाकार कितनी विचित्रता और रोचकता पैदा कर सकता है। आखिर प्रकृति की सुंदरता तो इन्हीं चीजों की बनी होती है। हम क्या प्रकृति से भी अधिक सुंदर कोई चीज बना सकते हैं ? पर हमारी दृष्टि आज दूषित हो गयी है। हम प्रकृति के सौंदर्य को ठीक समझ नहीं सकते। हम कला को प्रकृति से कोई अलग वस्तु मान बैठते हैं। जो हो, फैजपुर की विशेषता वहां की सरलता थी, सुंदरता थी।

पानी के लिए वहां लोगों ने बहुत बड़ा कुआं खुदवाया जो कांग्रेस के बाद भी वहां की जनता को लाभ पहुंचाता रहेगा। रहने के लिए झोंपड़े बनवाये जिनमें गांव के ही खर-पात, बांस, चटाई इत्यादि का उपयोग हुआ था। इस प्रकार फैजपुर का अधिवेशन पहला ग्रामीण अधिवेशन हुआ जिसमें ग्रामोद्योगों की ही प्रधानता रही। इनमें खादी का स्थान तो प्रमुख रहता ही, और खादी का ही सभी जगहों में बोलबाला रहा।

पर अधिवेशन दिसम्बर के अंतिम सप्ताह में हुआ, जब बहुत सर्दी पड़ा करती है। इसलिए बाहर के आये हुए हजारों-हजार लोगों को बहुत कष्ट हुआ; क्योंकि उस छोटे स्थान में ऐसे आगंतुकों के ठहरने के लिए भी कोई मकान या धर्मशाला या झोंपड़े तक भी नहीं मिल सकते थे। वे हजारों की संख्या में यों ही खुले मैदान और खेतों में रात को पड़ रहते थे। गांधीजी को यह बात बहुत लगी। उन्होंने उस नियम को फिर बदलवा दिया। तब से फिर कांग्रेस मार्च (वसन्त) में होती आ रही है।

फैजपुर का अधिवेशन चुनाव के चंद दिन ही पहले हुआ था। इसलिए यहां चुनाव के संबंध में बहुत उत्साह था। कई जगहों के कितने ही प्रमुख कार्यकर्ता, अपने स्थान पर चुनाव के प्रबंध में लगे रहने के कारण, नहीं आये। यहां भी नये विधान को नामंजूर करने तथा चुनाव में भाग लेने की बात की गयी। इस चीज को अखिल भारतीय कमिटी के लिए छोड़ दिया गया कि चुनाव के बाद वह निश्चय करे कि मंत्रिमंडल में शरीक होने के संबंध में कांग्रेस की क्या नीति होगी। जवाहरलालजी के विचार इसके विरोधी थे और मालूम थे; पर वहीं पता लग गया कि कांग्रेस मंत्रिमंडल बनाने के पक्ष में है और यदि प्रस्ताव उपस्थित होता तो उसे वह मंजूर करती। परंतु अभी यह समय उस निश्चय तक पहुंचने का नहीं था; इसलिए वह अधिकार अखिल भारतीय कमिटी को ही देकर रख छोड़ा गया।

इसी अधिवेशन के कुछ पहले, श्री एम. एन. राय (मानवेन्द्रनाथ राय), विदेश से लौटने के बाद, सजा काटकर जेल से निकले थे। वह इस अधिवेशन में पहले-पहल शरीक हुए। हो सकता है कि जब वह इतने विख्यात नहीं थे, विदेश जाने के पहले, कांग्रेस में शरीक हुए हों;

पर इधर यह उनका पहला ही अवसर उसमें शरीक होने का था। हमसे भी पहले-पहल वहीं मुलाकात हुई। अभी उनके विचारों से देश परिचित नहीं था और कांग्रेस में स्वाभाविक कौतूहल था। वह युक्तप्रदेश की ओर से प्रतिनिधि और अखिल भारतीय कमिटी के सदस्य भी चुन लिये गये थे। इस तरह उनको कांग्रेस में अच्छी तरह भाग लेने का सुअवसर मिल गया था।

119

चुनाव का दौरा और नतीजा

कांग्रेस के बाद सब लोग अपने-अपने सूबे के चुनाव में भाग लेने के लिए गये। वहीं हमने पंडित जवाहरलाल से बिहार के कुछ भागों में दौरा करने का वचन ले लिया। वह चंद दिनों के बाद ही बिहार में दौरा करने आये। मैं भी दौरा करने योग्य हो गया था। अपने लिए भी मैंने यात्राक्रम बनाया। सभी जगहों में जवाहरलालजी का जाना सम्भव नहीं था; क्योंकि उनको तो सारे देश में दौरा करना था। इसलिए हमने ऐसा प्रबंध किया कि जहां वह न जायें वहां मैं जाऊं। मैं उनके साथ दौरे में नहीं गया। मैंने अपना दौरा अलग आरम्भ किया। इस तरह, हम दोनों ने मिलकर प्रायः सारे सूबे का दौरा कर लिया। पंडित गोविन्दवल्लभ पंत प्रभृति दूसरे नेता भी आये। जहां-जहां कमजोरी दीख पड़ी, वहां वे गये। जनता में अपूर्व उत्साह था। दौरे के बाद हमारे दिल में सफलता के संबंध में किसी प्रकार का शक-शुबहा नहीं रह गया। जब चुनाव का नतीजा निकला तब मालूम हो गया कि हमने जितनी आशा की थी उससे भी अधिक सफलता मिली। ऊपर कहा जा चुका है कि हरिजनों के 16 सुरक्षित स्थानों में से 15 पर कांग्रेसी उमीदवार चुने गये। स्त्रियों के लिए जो सुरक्षित स्थान हैं उनमें तीनों गैर-मुस्लिम जगहें कांग्रेस को मिलीं। मजदूरों के लिए सुरक्षित जगहों में से एक को छोड़ सभी कांग्रेस के उमीदवारों को ही मिलीं। आदिवासियों की जगहों में भी चंद को छोड़कर सभी कांग्रेसी लोगों ने ही जीत लीं। हां, जमींदारों की जगहें कांग्रेस को नहीं मिलीं। पर एक के सिवा और किसी के लिए कांग्रेस ने उमीदवार भी नहीं खड़ा किया था, उसमें भी कांग्रेस की हार हुई। हम यह जानते भी थे, इसलिए हताश होने का यह कोई कारण न हुआ।

बिहार की असेम्बली में मुसलमानों के लिए 39 या 40 जगहें सुरक्षित हैं। चुनाव के बहुत पहले से ही कांग्रेसी मुसलमानों और दूसरे राष्ट्रीय विचार वाले मुसलमानों में बातचीत चलती रही। कुछ का विचार था कि जहां तक हो सके, कांग्रेस की ओर से ही सभी जगहों पर उमीदवार खड़े किये जायें। कुछ का विचार था कि राष्ट्रीय मुस्लिम जमायतों—जैसे जमाअत-उलेमा—के साथ समझौता कर लिया जाये जिससे कांग्रेसी और दूसरे दल में कोई विरोध न हो। परंतु कांग्रेसी मुसलमान ही एकमत नहीं थे, इसलिए कांग्रेस कमिटी कुछ

मुश्किल में थी। तो भी चंद जगहों के लिए कांग्रेसी उमीदवार खड़े किये गये। इनमें से चंद के लिए राष्ट्रीय मुसलमानों ने मुकाबले में उमीदवार नहीं खड़े किये। चंद जगहों में मुकाबला हुआ भी। पर राष्ट्रीय मुसलमानों के अलावा कुछ दूसरे मुसलमान दल भी थे—उन्होंने भी चुनाव में भाग लिया। मुस्लिम लीग का कोई जोर नहीं था। जहां तक मुझे याद है, लीग की ओर से शायद ही कोई उमीदवार खड़ा किया गया था। जमाअत-उलेमा की मदद से एक दल बना जिसके खास मददगार हुए जमाअत-उलेमा के मान्य नेता और इमारत-शरायत के नायब-अमीर मौलाना अबुल मुहासिन मुहम्मद सज्जाद। इसी दल में मिस्टर मुहम्मद युनुस शरीक हुए। मुसलमानों का यही दल सबसे जबरदस्त दल मालूम पड़ता था। इसी दल के साथ कांग्रेस की बातचीत हुई जिसका नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस ने चंद जगहों के लिए ही उमीदवार खड़े किये। कई ऐसे मुसलमान, जो हर तरह से कांग्रेसी समझे जा सकते थे और जिन्होंने कांग्रेस के कार्यक्रम के अनुसार जेल-यात्रा तक की थी, उस दल की ओर से खड़े हुए। उस दल को काफी सफलता मिली। असेम्बली में मुसलमानों की सबसे अधिक संख्या इसी दल की थी। पीछे जब मुस्लिम लीग का जोर बढ़ा तो शायद अब यह बात नहीं रह गयी है; पर वह तो असेम्बली की बैठक होने पर ही मालूम होगा कि किसके साथ अधिक मुसलमान सदस्य हैं। युनिवर्सिटी की जगह श्री सच्चिदानन्द सिंह ने कांग्रेस उमीदवार को हराकर ले ली।

बिहार का चुनाव पहले ही समाप्त हो गया। इसलिए यहां के कतिपय कार्यकर्ता युक्तप्रदेश में चले गये। यहां की सफलता की बात वहां पहले पहुंच चुकी थी और इन लोगों ने भी जाकर कुछ काम किया। मैं भी चंद दिनों में वहां गया। चंद दिनों के लिए मध्यप्रदेश में भी गया। वहां के लोगों ने जहां मुझे ले जाना मुनासिब समझा, ले गये। मध्यप्रदेश में बिलासपुर जिले में मुझसे अधिक काम लिया गया। वहां से एक दिन के लिए जबलपुर जिले में कटनी के पास के क्षेत्र में भी जाना पड़ा। वहां बिलासपुर के एक क्षेत्र में श्री राघवेन्द्र राव कांग्रेस के उमीदवार का मुकाबला कर रहे थे। उसमें कांग्रेस की हार हुई; पर दूसरी जगहों में जहां मैं गया, कांग्रेस की जीत हुई। उसी तरह कटनी में भी कांग्रेस की जीत रही। युक्तप्रदेश में अवध के कई जिलों में मैं गया। फिर धामपुर जिले में गया जहां बहुत जोरदार मुकाबला था। धामपुर से कुछ दूर तराई में जाना था जहां मुश्किल से मोटर पहुंच सकी। लोगों का कहना था कि वहां कोई कांग्रेसी नेता पहले नहीं आया था। इसलिए वहां बहुत बड़ी भीड़ जमा हुई थी। लोगों में काफी उत्साह था। जाना अच्छा रहा; क्योंकि वहां कांग्रेस की जीत महज चंद वोटों से ही हुई।

युक्तप्रदेश से मैं फिर महाराष्ट्र और कर्नाटक चला गया। महाराष्ट्र में कई दिनों तक दौरा किया। पर वहां उतनी सफलता नहीं मिली जितनी और जगहों में। एक स्थान पर तो प्रतिद्वंद्वी ने हमारे पहुंचने के पहले ही सभा में, जो मेरे लिए एकत्र हुई थी, भाषण करके लोगों

को अपने-अपने घर चले जाने के लिए कह दिया ! उन्होंने कृपा करके कारण भी बता दिया कि मैं नहीं पहुंच सका और वहां नहीं आने वाला हूं ! शायद यह भी कह दिया हो कि कोई कांग्रेसी कार्यकर्ता ही यह संदेश लेकर आया है तो आश्चर्य नहीं ! पर और जगहों में सभाएं खूब हुईं। बहुतेरी जगहें मिलीं भी; पर जितनी आशा थी उतनी नहीं। सबसे अधिक हार रत्नागिरि में हुई जहां से लोग बहुत आशा रखते थे। महाराष्ट्र से मैं कर्नाटक चला गया। कई जिलों में घूमा। वहां अच्छी सफलता मिली। एक स्थान में हार हुई जहां के संबंध में वहां के लोग बहुत आशा रखते थे। वहां के उमीदवार भी कांग्रेस के अच्छे कार्यकर्ता श्री हनुमन्त राव कौजलजी थे। पर चुनाव में इस तरह की बातें हुआ ही करती हैं।

इस समय तक और जगहों में चुनाव का काम प्रायः समाप्त हो चुका था। मैं आंध्र के एक ही जिले—'बेलारी'—में जा सका। वहीं पर दौरा समाप्त करके वर्धा वापस आ गया। इस तरह मेरा दूसरा दौरा महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रदेशों के कई जिलों का हुआ। कई परिचित स्थानों को दुबारा देखने का अवसर मिला। इस तरह सारे देश में चुनाव-संघर्ष समाप्त हुआ। कांग्रेस की जीत बम्बई, मद्रास, मध्यप्रदेश, युक्तप्रदेश, बिहार, उड़ीसा और आसाम में काफी हुई। पंजाब, बंगाल और सिन्ध में भी कांग्रेसी लोग चुने गये; पर उनकी संख्या इतनी नहीं थी कि और दलों से वह अधिक हो। सीमाप्रांत में भी कांग्रेस का सबसे बड़ा दल रहा। पर एकबारगी बहुमत कांग्रेस को उस समय नहीं मिला।

चुनाव के बाद अब यह निश्चय करने का अवसर आ गया कि कांग्रेस मंत्रिपद लेगी वा नहीं। इतने सूबों में बहुमत पाकर क्या वह मंत्रिपद लेकर काम करेगी वा बिना पद लिये ही —इस विषय पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कमिटी की बैठक दिल्ली में की गयी। सभापति का विचार हुआ कि सभी कांग्रेसी मेम्बर वहां उस अवसर पर बुलाये जायें और सभी कांग्रेस सदस्यों का भी एक जलसा किया जाये जिसमें वे कांग्रेस के प्रति अपनी श्रद्धा और वफादारी की सौगंध लें। यह परिषद् (convention) बड़े उत्साह के साथ हुई। इस परिषद् में सभी उपस्थित सदस्यों ने एक साथ कांग्रेस के आज्ञापालन और देशोद्धार के काम में लगे रहने की प्रतिज्ञा की। वहीं अखिल भारतीय कमिटी की भी बैठक हुई जिसमें यह निश्चय हुआ कि कांग्रेस मंत्रिमंडल तभी बनायेगी जब गवर्नर इस बात का वादा कर दें कि जो विशेष अधिकार उनको विधान द्वारा दिये गये हैं उनका वह व्यवहार न करेंगे, बल्कि सब बातों में मंत्रियों की सलाह से ही काम करेंगे। गांधीजी ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि इस प्रकार का वादा कराये बिना कांग्रेस को मंत्रिपद नहीं लेना चाहिए; क्योंकि विधान में गवर्नरों के लिए बहुत अधिकार सुरक्षित रखे गये हैं—यदि वे उनका व्यवहार करेंगे तो कांग्रेसी मंत्रिमंडल कोई बड़ा और महत्व का काम नहीं कर सकेगा; इसलिए यद्यपि कांग्रेस को मंत्रिमंडल बनाने से इंकार नहीं करना चाहिए, तथापि वह तभी स्वीकार करे जब गवर्नर उपरोक्त वादा कर दें।

जिस समय विधान बन रहा था, इन सुरक्षित अधिकारों के संबंध में बहुत टीका-टिप्पणी हुई थी। उस विधान के नामंजूर होने के कारणों में गवर्नर के इस प्रकार के अधिकार एक विशेष कारण थे। उस समय ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भारत के इस विचार पर ध्यान नहीं दिया और अपनी इच्छा के अनुसार विधान बना दिया। अब गांधीजी की इस सूझ ने प्रांतीय गवर्नरों के इन अधिकारों को निकम्मा कर देना चाहा; क्योंकि पुस्तक में यदि ये अधिकार लिखे रह भी जायें और गवर्नर इन्हें काम में न लावें, तो विधान की एक बहुत बड़ी शिकायत की बात दूर हो जाये। हममें से जो लोग मंत्रिपद लेने के जबरदस्त हिमायती थे वे भी इससे नाराज हुए; क्योंकि वे समझते थे कि इस अपरोक्ष रीति से ब्रिटिश गवर्नमेंट विधान की उन धाराओं को रद नहीं करेगी और यदि कांग्रेस इस शर्त पर अड़ी रही तो मंत्रिमंडल नहीं बनेंगे। पर जो लोग मंत्रिमंडल बनने के विरोधी थे वे खुश थे; क्योंकि वे भी समझते थे कि ब्रिटिश गवर्नमेंट इस शर्त को नहीं मानेगी और इस तरह मंत्रिमंडल नहीं बनेगा। गांधीजी इस पर अड़े रहे। उन्होंने साफ कह दिया कि उनके मत में मंत्रिपद न लेना बड़ी भूल होगी; पर उससे भी बढ़कर यह भूल होगी कि मंत्रिपद बिना इस शर्त के लिये जायें। अंत में यही बात मंजूर हुई। कांग्रेसी मेम्बरों को आदेश दिया गया कि वे अपने नेता चुन लें—जब नेता को गवर्नर मंत्रिमंडल बनाने के लिए बुलावें तो वही यह शर्त पेश करें और कहें कि गवर्नर यदि अपने विशेष अधिकारों को व्यवहार में न लाने का प्रकाश्य रूप से वादा करें तो वह मंत्रिमंडल बनाने के लिए तैयार हैं अन्यथा नहीं।

1937 की पहली अप्रैल से नये विधान के अनुसार मंत्रिमंडल बन जाने चाहिए थे। उसी दिन सभी सूबों का शासन भी उस विधान के अनुसार आरंभ हो जाना चाहिए था। कांग्रेस के इस निश्चय के बाद, गवर्नरों को और उनको आदेश देने वाले वायसराय को अब सोचना पड़ा कि वे क्या करें। विधान के अनुसार उन्हें उस दल के नेता को, जो सबसे बड़ा वहां की असेम्बली में था, कह देना था कि वह मंत्रिमंडल बनावें। असेम्बली के पार्टी-मेम्बरों को भी अपना नेता चुन लेना था। इसलिए सबसे पहले सभी सूबों के मेम्बरों के लिए यह आवश्यक था कि अपने-अपने स्थान पर एक बार मिलकर नेता चुन लें। बिहार में पार्टी और प्रांतीय कमिटी की बैठक एक ही दिन हुई जिसमें नेता का चुनाव करना था। मैं नहीं चाहता था कि इस विषय में आपस में दलबंदियां हों। मैं समझता था कि सर्वसम्मति से नेता का चुना जाना ही सबसे अच्छा होगा। मैंने देखा कि कुछ लोग किसी व्यक्तिविशेष के संबंध में आपस में बातें कर रहे थे। मेरे पास भी कुछ लोग आये। मैंने दलबंदी करने की मनाही की और यही राय दी कि जिस किसी के संबंध में वे बातें करते हों, पहले उससे ही पूछ लें कि इस बात को क्या वह पसंद करते हैं। जब सभा बैठी तो उसने यह निश्चय किया कि मैं ही हर जिले के प्रमुख लोगों से अलग-अलग बातें कर लूं और जैसी लोगों की राय मालूम हो उसके अनुसार निर्णय दे दूं तो वोटावोटी की नौबत न आवे।

मैंने सब बातों पर विचार कर अपनी राय निर्धारित कर ली थी कि श्री श्रीकृष्ण सिंह ही पार्टी के नेता बनाये जायें। यह निश्चय करने में मुझे इस बात से काफी मदद मिली थी कि दूसरे व्यक्ति भी—श्री अनुग्रहनारायण सिंह, जिनके संबंध में कुछ लोग बातें कर रहे थे—मुझसे निजी तौर पर कह चुके थे कि वह इस पद को नहीं चाहते और जो लोग उनके बारे में औरों से कह रहे हैं वे उनकी इच्छा के अनुसार काम नहीं कर रहे हैं। तीसरे सज्जन, जिनके संबंध में कुछ विचार होता था, डाक्टर सैयद महमूद थे। वह कई बरसों से अखिल भारतीय कमिटी और वर्किंग कमिटी के मेम्बर रह चुके थे। खिलाफत कमिटी के दिनों में उसके प्रधानमंत्री भी रहे थे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के मंत्री रह चुके थे। राष्ट्रीय विचारों के वह पक्के और पुराने पोषक तथा समर्थक रहे हैं। उनका त्याग किसी से कम नहीं रहा है। तथापि, वह बिहार सूबे में, विशेषकर सूबे के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में, उपरोक्त दो सज्जनों के मुकाबले कम लोकप्रिय रहे हैं। सूबे के बाहर अधिक काम करने के कारण उनसे सबका उतना परिचय नहीं है जितना इन दो सज्जनों से। इन दोनों में भी बाबू श्रीकृष्ण सिंह अपनी वक्तृत्व-शक्ति के द्वारा अपने को अधिक लोकप्रिय बना सके हैं। त्याग की मात्रा और निर्भीकता में भी वह लासानी हैं। अनुग्रह बाबू की संगठन-शक्ति और आफिस चलाने की शक्ति के सभी कायल हैं। इन्हीं कारणों से मेरा विचार श्रीकृष्ण बाबू के पक्ष में था। जब मैंने सभी जिलों के लोगों से बातें कीं तो अधिकांश लोगों की भी राय मेरी राय से मिल गयी। श्री रामदयालु सिंह भी प्रांत के एक ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं कि उनके संबंध में भी कुछ लोगों का विचार हो सकता था; पर इसमें शक नहीं कि कुछ लोग उनका काफी विरोध भी करने वाले थे, जिनमें उनके अपने जिले के भी कुछ लोग थे। कुछ लोग मुझसे नाराज हुए और कहने लगे कि मैंने एक सज्जन के संबंध में प्रचार करके जिले के लोगों से उनको मनवा लिया। बात ऐसी नहीं थी; पर यदि होती भी तो मुझे इसका अफसोस या इसकी शर्म नहीं होती; क्योंकि जहां तक मैं समझ सकता और देख सकता था, जिले के लोग श्री कृष्ण बाबू और अनुग्रह बाबू में से ही एक को नेता बनाना चाहते थे, पर अनुग्रह बाबू इस होड़ में पड़ना नहीं चाहते थे। इसलिए, यदि मैंने कुछ किया भी हो तो उसका असर इतना ही मात्र था कि मैंने दो नाम प्रस्तावित नहीं होने दिये। अंत में एक ही नाम आया और वह श्रीकृष्ण बाबू का, जिसको लोगों ने सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया।

पीछे इस बात से मुसलमानों में—विशेषकर कांग्रेस के बाहर के मुसलमानों में—कुछ कटुता बढ़ी। उन लोगों ने अपनी यह राय भी जाहिर की कि डाक्टर महमूद केवल मुसलमान होने के कारण नेता नहीं बनाये गये—यद्यपि वह अखिल भारतीय कमिटी में औरों के मुकाबले अधिक विख्यात थे और अधिक काम कर चुके थे। यह बात मौलाना अबुल कलाम आजाद साहब तक पहुंचायी गयी। मैं आज भी जब सब बातों पर विचार करता हूं तो मुझे ऐसा नहीं मालूम होता कि डाक्टर साहब को नेता न बनाने में मैंने कुछ भूल की। इसका

अर्थ यह नहीं है कि उनके प्रति मेरा वह प्रेम और आदर नहीं है जो श्रीकृष्ण बाबू के प्रति है। मैं उनके गुणों का कायल हूं। पर जब ऐसा समय आ जाता है कि दो या अधिक मित्रों में से किसी एक को ही किसी स्थान के लिए देश की दृष्टि से चुनना पड़ता है, तो उनमें से भी एक को निकाल लेना ही पड़ता है। पर यदि कोई यह कहे कि एक-एक करके वे सब बातें बता और सुझा दी जायें जिनके कारण 'क' लिया गया और 'ख' नहीं, तो यह असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। यह कठिनाई इस कारण से नहीं होती कि हम सब बातें किसी के संबंध में कहना नहीं चाहते। मेरा अनुभव है कि ऐसे मामलों में सब सोच-विचार करके आदमी एक निश्चय पर पहुंचता है और उसके सब कारणों को वह स्वयं भी इतना नहीं जानता कि स्पष्ट रूप से सबके सामने उन्हें रख सके—तब भी उसके अपने हृदय में संतोष रहता है कि वह ठीक कर रहा है। यही बात यहां भी है। मुझे इस बात का संतोष है कि जब पीछे यह बात शिकायत के रूप में मौलाना अबुल कलाम आजाद के सामने रखी गयी तो उन्होंने शिकायत करने वालों से यही कहा कि यदि वह मेरे स्थान पर होते तो वह भी सब विचार करके शायद वही फैसला करते जो मैंने किया था।

बिहार में यह पहला मरहला इस तरह से खूबी के साथ तय हो गया। पर सभी सूबों में ऐसा नहीं हुआ। कई जगहों में, जैसे मध्यप्रदेश और उड़ीसा में, आपस में काफी मनोमालिन्य हो गया जिसका नतीजा पीछे मालूम हुआ जब आपस की दलबंदियां फूटकर निकल आयीं। युक्तप्रांत में शायद किसी किस्म का मतभेद न हुआ। बम्बई में एक ऐसे सज्जन नेता बनाये गये जिनके चरित्र और योग्यता के बारे में तो किसी को संदेह न था, पर जो वहां के अधिक विख्यात लोगों में नहीं थे। यह थे बाला साहब खेर। यह हमेशा अपने को पीछे रखा करते थे। यद्यपि विचार के पक्के और काम में निपुण थे, तथापि इनको बाहर के लोग कम ही जानते थे। इसका एक घटना से प्रमाण मिलता है। फैजपुर कांग्रेस के समय इनके जिम्मे स्टेशन पर कांग्रेस-यात्रियों से मिलने और उनका स्वागत करने का काम था। वहां भी जो लोग इनको पहले से नहीं जानते थे वे शायद ही जान सके कि बम्बई सूबे के भावी प्रधानमंत्री—वह भी एक अत्यंत सफल और कार्यदक्ष प्रधानमंत्री—उनका स्वागत कर रहे हैं, उनके असबाब को गाड़ियों पर लदवा रहे हैं अथवा खुद आगे बढ़कर उनको गाड़ियों पर सवार करा रहे हैं। युक्तप्रदेश में भी पं. गोविन्दवल्लभ पंत को सभी जानते और चाहते थे। केंद्रीय असेम्बली में उन्होंने जिस तरह काम किया था उससे वहां या दूसरे सूबों के लोगों के दिल में यह ख्याल ही नहीं उठ सकता था कि उनके सिवा वहां कोई दूसरा इस पद पर चुना जा सकता है। यही बात मद्रास प्रांत के प्रधानमंत्री श्री राजगोपालाचारी के संबंध में थी।

गवर्नरों ने अपने-अपने सूबे में, जहां कांग्रेस का बहुमत था अथवा जहां सबसे बड़ा दल कांग्रेसियों का था, कांग्रेस पार्टी के नेता को बुलाया और विधानानुसार उनको मंत्रिमंडल बनाने में सहायता देने को कहा। उन नेताओं ने अपनी ओर से वही बात पेश की जिसका

आदेश अखिल भारतीय कमिटी से उनको मिला था। गवर्नर कहीं भी इस बात पर राजी नहीं हुए कि वे अपने विशेष और सुरक्षित अधिकारों को काम में नहीं लावेंगे। उनका कहना था कि विधान के बदलने का अधिकार उनको नहीं था और वे उसे इस तरह वादा करके परोक्ष रीति से नहीं बदल सकते। जहां तक मुझे मालूम है, सबसे पहले मद्रास के गवर्नर ने ही राजाजी को बुलाया। जो बात वहां हो गयी वही सभी जगहों में दुहरायी गयी। वहां की खबर अखबारों में छप गयी कि राजाजी ने गवर्नर के इंकार करने पर मंत्रिमंडल बनाने से इंकार किया। यही सब जगहों में हुआ।

पर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने इस तरह से इस विधान को, जिसके बनाने में उसने कई साल लगाये थे और जिसके संबंध में इतना प्रचार किया गया था, जन्म लेने के पहले ही मरने देना पसंद नहीं किया। उसके कर्मचारियों के हृदय में शायद आशा लगी थी कि कांग्रेस वाले मंत्रिपद के लोभ का संवरण नहीं कर सकेंगे; इसलिए अगर 1 अप्रैल को नहीं तो कुछ दिनों में उनमें फूट डालकर पीछे उनका बहुमत इधर-उधर कर दिया जा सकेगा। इसलिए उन्होंने निश्चय कर लिया कि चाहे जिस तरह से हो, जिस-किसी का हो, चंद दिनों के लिए ही सही, असेम्बली के बहुमत के विरुद्ध ही क्यों न हो, मंत्रिमंडल बन जाना चाहिए—किसी-न-किसी को प्रधानमंत्री और उसके साथ कुछ औरों को जुटाकर 1 अप्रैल को मंत्रिमंडल के नाम अवश्य प्रकाशित करा देने चाहिए। अब यही कोशिश सभी सूबों में होने लगी। किंतु यह कांग्रेस के लिए बड़े गौरव की बात रही कि किसी भी सूबे में एक भी कांग्रेसी ऐसा न मिला जो इस चकमे में आकर मंत्रिपद स्वीकार करे! इसलिए, कांग्रेस के बाहर के लोगों में से ही कुछ लोगों को नियुक्त करना अत्यावश्यक हो गया। गवर्नर ऐसा कर भी सकते थे; क्योंकि विधान के अनुसार, छः महीनों तक, असेम्बली की बैठक कराये बिना भी, शासन का काम, गवर्नर की अनुमति और उनके बजट मंजूर कर देने से, चल सकता था। उन्होंने इसी आशा से सभी जगहों में मंत्रिमंडल बना दिये कि इन पांच-छः महीनों में शायद हवा बदल जाये—शायद कांग्रेसियों का कुछ दाव बदल जाये।

बिहार सूबे में गवर्नर ने यह काम मि. मुहम्मद युनुस को सुपुर्द किया। यह सज्जन मुसलमानों की इंडिपेंडेंट पार्टी की ओर से चुने गये थे जिसके प्रमुख सहायक थे मौलाना अबुल मुहासिन मुहम्मद सज्जाद। मौलाना सज्जाद जमीयत-उलेमा के प्रमुख व्यक्ति थे। समझा जाता था कि कांग्रेस के साथ उनकी पूरी हमदर्दी है। चुनाव में भी उनसे यदि सुलह नहीं तो कोई झगड़ा भी नहीं हुआ था। कितने ही कांग्रेसी मुसलमानों ने उनकी पार्टी में इसलिए अपने नाम लिखाये थे कि वे उस तरह आसानी से चुने जा सकेंगे—विशेषकर जब वे यह समझते थे कि कांग्रेस की नीति से मौलाना सज्जाद बहुलांश में सहमत हैं। पर इस मौके पर मौलाना चूके। उन्होंने अपनी पार्टी में निश्चय किया कि वह मंत्रिमंडल बनाये। मालूम नहीं कि वहां क्या बातें हुईं! तरह-तरह की बातें उस समय की हवा में थीं। कुछ लोग

कहते थे, कांग्रेसी विचार वाले मुसलमानों ने विरोध किया, पर उनकी संख्या औरों के मुकाबले एक या दो घटती थी। कुछ लोग कहते थे, पार्टी को आखिरी फैसला देने का मौका ही नहीं मिला; क्योंकि जब एक जगह में बैठकर पार्टी इस विषय पर विचार कर रही थी कि वह मंत्रिमंडल बनावे या न बनावे तब मि. युनुस गवर्नर के पास जाकर वादा कर आये कि वह मंत्रिमंडल बनाने के लिए तैयार हैं तथा गवर्नर के कहने पर उन्होंने मंत्रियों के नाम भी दे दिये, जिनको गवर्नर ने मंजूर कर लिया, और तब उन्होंने आकर पार्टी की सभा में—जो उनका इंतजार कर रही थी—यह खबर दी कि मंत्रिमंडल की नियुक्ति हो गयी! पार्टी इसके बाद कुछ न बोल सकी—शायद उसने भी अब इस विषय पर कुछ कहना फजूल समझा! मालूम नहीं, सच क्या है!

इस संबंध में बिहार में एक बड़ी बात हो गयी। हमको खबर मिली कि मि. युनुस कांग्रेस के दूसरे मेम्बरों को तो नहीं फोड़ सके हैं, पर वह हरिजन मेम्बरों पर बहुत जोर डाल रहे हैं और उन्होंने श्री जगजीवनराम को मंत्रिमंडल में एक स्थान देना मंजूर किया है! यह भी खबर लगी कि वह श्री जगजीवनराम को साथ लेकर गवर्नर के पास गये भी हैं अथवा कहीं अन्यत्र उनसे बातें करने के लिए उन्हें ले गये हैं ! सब लोग कुछ चिंतित होने लगे कि शायद एक कांग्रेसी आदमी को भी फोड़ने में वह सफल न हो जायें। पर मुझे इस बात की चिंता नहीं थी; क्योंकि मुझे पहले ही खबर मिल चुकी थी कि मि. युनुस की कोशिश जरूर है, मगर श्री जगजीवनराम इस तरह बहकावे में आने वाले नहीं हैं। अंत में ऐसा ही हुआ। मंत्रिमंडल बना; पर उसमें शामिल होने से श्री जगजीवनराम ने साफ इंकार कर दिया—कोई भी दूसरा कांग्रेसी आदमी शरीक न हुआ। इस तरह यह पहला जबरदस्त प्रयत्न असफल रहा। मिनिस्ट्री बनने से हमें कोई चिंता नहीं थी; क्योंकि हम जानते थे कि छः महीनों के अंदर या तो मिनिस्ट्री टूटेगी या विधान ही रद होगा या उसे बदलना पड़ेगा। कारण यह कि इतने अधिक बहुमत से कांग्रेसी चुने गये हैं कि कोई दूसरी पार्टी या सभी दूसरे लोग मिलकर भी असेम्बली में कांग्रेस का मुकाबला नहीं कर सकेंगे—यदि असेम्बली और कौंसिल दोनों का संयुक्त अधिवेशन ही हो, तो भी कांग्रेस का ही बहुमत रहेगा। जिस दिन मिनिस्ट्री बनी उस दिन पटने में कुछ लोगों ने मि. युनुस के विरुद्ध प्रदर्शन किया जिनमें मुख्य थे श्री जयप्रकाश नारायण। वह गिरफ्तार कर लिये गये। उन पर मुकदमा चलने के बाद उनको कुछ सजा भी मिली। पर पीछे मि. युनुस ने मीयाद पूरी होने के पहले ही उनको छोड़ दिया।

इसी तरह और सूबों में भी मंत्रिमंडल बन गया। कम-से-कम यह दिखलाने के लिए हो गया कि नये विधान के अनुसार शासन होने लगा। पर यह बात गवर्नर लोग जानते थे और मंत्री लोग भी कि यह चंदरोजा तमाशा है। वे लोग इस प्रयत्न में थे कि यदि वे फोड़-फाड़कर बहुमत न बना सकेंगे तो कोई-न-कोई रास्ता कांग्रेस के साथ मेल करने का निकालना ही चाहिए। कांग्रेस में जो लोग मंत्रिमंडल बनाने के विरोधी थे, खुश थे कि किसी तरह कांग्रेस

तो इसमें नहीं पड़ी और उनकी अड़ंगा-नीति के काम में आने का अब भी मौका है। जो पक्ष में थे वे यह समझते थे कि आज नहीं तो चंद दिनों के बाद कांग्रेसी मंत्री होंगे ही और जब होंगे तब गवर्नर के विशेषाधिकारों को स्थगित करा करके ही होंगे। इसलिए,इस समय,इस संबंध में, कांग्रेसी निश्चिंत थे। मंत्रिमंडल अपने को लोकप्रिय बनाने की फिक्र में था और गवर्नर लोग तथा वायसराय इस जिच्च के हल निकालने में लगे थे। गवर्नमेंट की ओर से जब-तब विज्ञप्तियां निकलतीं और कांग्रेस की ओर से उनको ना-काफी बताकर छोड़ दिया जाता।

तीन महीनों के बाद वायसराय ने एक विज्ञप्ति निकाली जिस पर वर्किंग कमिटी ने विचार करके कुछ और स्पष्टीकरण चाहा तथा कांग्रेस पार्टी के नेताओं को आदेश दिया कि यदि वह स्पष्टीकरण उनको संतोषदायक मालूम हो तो वे मंत्रिपद ग्रहण कर सकते हैं। बात यह थी कि ब्रिटिश गवर्नमेंट यह बात साफ-साफ शब्दों में तो कह नहीं सकती थी कि विधान की कुछ धाराएं उड़ा दी गयीं; क्योंकि उसको यह कहने का अधिकार भी नहीं था। पर उसने अपनी नीति घुमा-फिराकर बता दी कि अधिकार रखते हुए भी गवर्नर उनसे काम नहीं लेंगे। चूंकि यह बात स्पष्ट शब्दों में नहीं कही गयी थी,स्पष्टीकरण आवश्यक था। वर्किंग कमिटी के इस निश्चय के बाद मालूम हो गया कि अब शीघ्र ही फिर कांग्रेसी लोग मंत्रिमंडल बनाने के लिए बुलाये जायेंगे।

इसी समय बिहार प्रांतीय कांफ्रेंस का अधिवेशन सारन जिले के 'मसरक' गांव में करने का निश्चय हुआ था। प्रोफेसर अब्दुल बारी इसके सभापति मनोनीत हुए थे। वहां पर सब गये और कांफ्रेंस का काम समाप्त करके छपरे पहुंचे। वहीं मालूम हुआ कि गवर्नर ने श्री बाबू को बुला भेजा है और एक चपरासी पत्र लेकर वहीं आकर उनसे मिला। वहां हम लोगों को मौका मिला कि मंत्रिमंडल के संबंध में हम कुछ बातें कर लें। पर अभी तक हम यही निश्चय कर सकते थे कि वर्किंग कमिटी के आदेशानुसार यदि स्पष्टीकरण संतोषजनक होता है तो हम मंत्रिमंडल बनाने के लिए तैयार हैं—यदि गवर्नर मंत्रिमंडल बनाने को कहें तो इसके लिए समय लेकर श्रीकृष्ण बाबू वापस आ जायेंगे और तब हम लोग एकत्र बैठकर विचार कर लेंगे कि कौन-कौन मंत्रिमंडल में लिये जायें। छपरे में कुछ प्रारंभिक बातें हो गयीं। विचार-विनिमय भी हो गया जिसके आधार पर हम चंद आदमी,जो वहां मिले थे,इस बीच में सोच सकेंगे।

मंत्रियों को चुनना कठिन समस्या थी। पहली बात तो यह थी कि कितने मंत्री हों? मेरा विचार था कि इसके पहले चार आदमी थे जो शासन के सारे काम को संभालते थे और जो सभी विभागों की निगरानी कर लिया करते थे। इनमें दो तो गवर्नर के एग्जिक्युटिव कौंसिल-मेम्बर हुआ करते थे और दो मिनिस्टर। इसलिए मैं समझता था कि जब इस नये विधान के पहले चार आदमी सब काम संभाल लेते थे तो अब भी चार मंत्रियों को ही सब

काम संभाल लेना चाहिए। अधिक मंत्री बनाने से खर्च अधिक होगा और कुछ ऐसा मालूम होगा कि ये लोग अपने लिए पद पाने की अभिलाषा से आये हैं तथा जितना हो सकता है उतने पद पैदा करके आपस में बंटवारा कर रहे हैं। जहां-जहां मंत्रिमंडल पक्के तौर पर बना था, मंत्रियों की संख्या अधिक रखी गयी थी और हमने इस बात पर कुछ टीका भी की थी! यद्यपि कांग्रेस के मंत्रियों के लिए अखिल भारतीय कमिटी ने मकान और सवारी के अलावा 500 रुपये मासिक नियत कर दिया था, और इस तरह खर्च बहुत कम हो जाता था, तो भी मैं इस विचार में दृढ़ था कि मंत्रियों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए—विशेषकर बिहार में चार से अधिक की गुंजाइश नहीं है। मुझे यह कह देना उचित मालूम होता है कि पीछे मैंने देखा कि मेरा विचार गलत था; क्योंकि हमारे सभी मंत्री इस प्रकार के काम में अभी नवसिखुए थे और पहले का कुछ विशेष अनुभव नहीं रखते थे। इसके अलावा हमारे मंत्रियों को पहले के चलाये हुए ढर्रे पर ही काम नहीं करना था—लकीर नहीं पीटनी थी; उनको बहुतेरे नये प्रोग्राम चलाने थे, इसलिए उन प्रोग्रामों के संबंध में जानकारी हासिल करने और विचार निश्चित करने में समय लगने वाला था। अतः कुछ दिनों के अनुभव के बाद मैंने सोचा कि शायद चार से अधिक मंत्री रखना ही अच्छा होता। पर उस दिन मैं अपने विचार में दृढ़ था और सोचता था कि चार से अधिक मंत्री रखना बिहार के लिए उचित न होगा।

इसके अलावा एक बात और थी जिसका कुछ-न-कुछ असर इस निश्चय पर पहुंचने में जरूर पड़ता था। हम लोग सोच रहे थे कि प्रांत में कुछ ऐसे प्रमुख व्यक्ति हैं जिनके संबंध में किसी किस्म का मतभेद नहीं हो सकता; पर जब हम उनसे आगे बढ़ते थे तो कुछ ऐसे लोग सामने आ जाते थे जिनमें से चुनाव करने में—किनको लेना, किनको न लेना, यह निश्चय करने में—काफी कठिनाई सामने आती थी। इसलिए भी विचार होता कि उन प्रमुख व्यक्तियों तक ही यदि हम अपना चुनाव परिमित रखें तो बुरा न होगा।

एक-दो और बातों का भी उल्लेख उचित होगा। इस विषय में प्रायः सभी सहमत हो गये थे कि एक हरिजन का मंत्री बनना आवश्यक है। यदि और विचारों को छोड़ भी दिया जाये, तो भी उन्होंने मि. युनुस की बात न मानकर—बहुत बड़े प्रलोभन का लोभ संवरण करके—मंत्रिपद के लिए अपना दावा साबित कर दिया है। इसलिए यह एक निर्विवाद बात सबके मन में खुद-ब-खुद तय हो चुकी थी।

हजारीबाग के श्री रामनारायण सिंह चाहते थे कि छोटानागपुर की ओर से वहां का कोई मंत्री अवश्य नियुक्त किया जाये। उनका कहना था कि सूबे का वह हिस्सा पिछड़ा हुआ माना जाता है और कांग्रेस भी उसकी ओर पूरा ध्यान नहीं देती। इसकी शिकायत वह हमसे मित्र-भाव से बराबर किया करते थे कि मैं भी उस हिस्से पर काफी ध्यान नहीं देता हूं। इसके समर्थन में वह कहा करते थे कि मैं वहां जाकर कभी कुछ दिनों के लिए नहीं रहता हूं। मैं भी उनसे मजाक में कहा करता था कि पिछले बीस-बाईस बरसों में जितना मैं एक साथ

छोटानागपुर में रहा हूं उतना किसी दूसरे एक स्थान में नहीं; क्योंकि जेल-जीवन बराबर हजारीबाग में ही काटना पड़ा है ! यह मजाक के लिए तो ठीक उत्तर होता; पर उनको इससे संतोष नहीं हो पाता । इसलिए उन्होंने जोर लगाया कि छोटानागपुर का भी एक मंत्री अवश्य होना चाहिए । वह स्वयं वहां के प्रमुख काम करने वाले थे । उस समय वह केंद्रीय असेम्बली के मेम्बर थे । प्रांतीय चुनाव के समय वह प्रांतीय असेम्बली के लिए खड़े नहीं हुए थे । इसलिए, यदि वह मंत्री बनाये जाते तो इसका यह अर्थ होता कि कहीं जगह खाली करके उन्हें ही कुछ दिनों के अंदर प्रांतीय असेम्बली का मेम्बर भी बनवाना पड़ता । जो चुने हुए कांग्रेसी लोग थे, वे इसे बहुत बुरा मानते; क्योंकि वे यह मानते और ठीक ही मानते कि उनमें कोई इस पद के योग्य नहीं समझा गया, इसलिए चुने हुए लोगों को छोड़कर बाहर से एक आदमी लेना पड़ा है । इन विचारों से उनको मंत्रिमंडल में लेना असंभव हो गया । इससे वह बहुत असंतुष्ट हुए । उन्होंने मेरे पास कई पत्र भी भेजे जिनका मैंने उत्तर तो दिया, पर शायद उन्हें संतोष न दे सका । सार्वजनिक जीवन में ऐसा कभी-कभी करना पड़ता है । मुझ जैसे आदमी के लिए, जिसे किसी के साथ कटुता पैदा करने में बहुत दुख होता है, ऐसा अनचाहा काम भारी मुश्किल पेश कर देता है । पर कर्तव्य की दृष्टि से आज भी मैं समझता हूं कि इस संबंध में मेरा जो निश्चय हुआ वह ठीक ही हुआ ।

अंत में, हमको एक और कठिनाई सुलझानी थी । हरिजनों में दो प्रमुख कांग्रेसी थे— एक श्री जगलाल चौधरी, जो 1920 में कलकत्ता मेडिकल कालेज के अंतिम दर्जे में पढ़ रहे थे और कुछ महीनों में ही एम. बी. पास करके डाक्टर हो जाने वाले थे, पर कांग्रेस की पुकार पर परीक्षा छोड़कर तब से बराबर एकचित्त हो कांग्रेस की सेवा में, विशेषतः रचनात्मक काम में, लगे रहे—सत्याग्रह में भी भाग लेकर जेल-यात्रा कर आये थे; दूसरे श्री जगजीवनराम, जो बड़े उत्साही और सुयोग्य कार्यकर्ता थे, थोड़े दिनों से ही कांग्रेस का काम करने पर भी काफी प्रभाव रखते थे और मि. युनुस की दी हुई मिनिस्ट्री ठुकरा चुके थे । सब बातों पर बहुत सोचने के बाद हमने श्री जगलाल चौधरी को ही मंत्री और श्री जगजीवनराम को पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी बनाने का निश्चय किया ।

120

कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का निर्माण

इस तरह, हमने निश्चय कर लिया कि श्रीकृष्ण सिंह प्रधानमंत्री हों। उनके साथ डाक्टर सैयद महमूद, श्री अनुग्रहनारायण सिंह और श्री जगलाल चौधरी मंत्री हों तथा चार मंत्रियों के साथ आठ पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी हों। श्री रामदयालु सिंह स्पीकर मुकर्रर हो ही चुके थे और प्रो. अब्दुल बारी डिप्टी-स्पीकर। पार्लियामेंटरी सेक्रेटरियों में श्री कृष्णवल्लभ सहाय, श्री शारंगधर सिंह, श्री जीमूतवाहन सेन, श्री विनोदानंद झा, श्री शिवनन्दन मंडल, श्री जगजीवनराम और श्री सदीदुल हक नियुक्त किये गये। उस समय मैंने समझा कि ये नियुक्तियां ठीक की गयी थीं और पीछे भी मुझे अपनी राय बदलने का मौका न हुआ—यद्यपि कुछ लोगों का विचार था कि इससे बेहतर चुनाव हो सकते थे। जहां तक मैं समझ सका, सभी मंत्रियों की भी इस बात में मेरे साथ सहमति थी।

मैं दो बातों का कहना भूल गया—यद्यपि उनको पहले ही कहना चाहता था। एक बात का संबंध था प्रांतीय लेजिसलेटिव कौंसिल के चुनाव के साथ और दूसरी बात थी असेम्बली के सभापति या स्पीकर के चुनाव की। कौंसिल के मतदाता अधिकतर ऐसे ही लोग हैं जो धनी वर्ग के हैं, अर्थात जिनमें जमींदारी का अधिक माल देने वालों अथवा काफी इनकम-टैक्स देने वालों की ही संख्या ज्यादा है। इसलिए हमको जैसे जमींदारों की जगहों के चुनाव में जीतने की आशा नहीं थी वैसे ही इन जगहों के जीतने में भी कम आशा थी। पर इसमें दो तरह से सदस्य चुने जाते हैं—कुछ तो ऐसे होते हैं जो मतदाता द्वारा चुने जाते हैं और कुछ असेम्बली के मेम्बरों द्वारा। असेम्बली द्वारा चुने जाने वाले लोगों में तो कांग्रेसी लोग काफी लोगों को चुन ले सकते थे; पर मतदाताओं में उनके उतने अधिक मददगार शायद नहीं थे। इसलिए हमने पहले से ही सोच रखा था कि हम सभी जगहों के लिए उमीदवार नहीं खड़े करेंगे। पर जो चंद जगहें मिल सकती थीं, उनके लिए हमने खड़े किये और जीते भी; पर हमारी शक्ति असेम्बली द्वारा ही प्रदर्शित हो सकती थी।

स्पीकर का चुनाव करने के लिए एक दिन असेम्बली की बैठक हुई। उस दिन के लिए गवर्नर ने श्री सच्चिदानन्द सिंह को सभापति नियुक्त कर दिया था। मैं भी उसी एक दिन

असेम्बली में गया। उसके पहले कभी बिहार असेम्बली में नहीं गया था। उसके बाद भी फिर कभी जाने का सुअवसर नहीं मिला। खैर, श्री रामदयालु सिंह चुने गये। चुनाव के बाद श्री सच्चिदानन्द सिंह ने एक मजेदार भाषण किया जिसमें उन्होंने रामदयालु बाबू का स्वागत करते हुए मेरे एक भाषण का उद्धरण दिया था। उस उद्धरण में कहा गया था कि जो उमीदवार कांग्रेस की तरफ से चुने जाते हैं वे तो कांग्रेस के नियंत्रण में और उसकी नीतियों तथा नियमों के बंधन में रहेंगे; पर जो स्वतंत्र रूप से चुने जाने के लिए खड़े हुए हैं वे छुट्टे सांड हैं जिन पर किसी प्रकार का बंधन अथवा नियंत्रण नहीं है। मेरे इसी वाक्य को लेकर उन्होंने बड़ा मजाक किया था।

इस तरह मिनिस्ट्री मुकर्रर हो गयी। मैंने नियुक्ति के दिन ही मंत्रियों से कहा कि सबसे अच्छा तो यह होगा कि कुछ दिनों तक सभी मंत्री एक ही साथ रहें, यदि ऐसा न हो सके तो किसी-न-किसी बहाने वे प्रतिदिन आपस में मिलकर अपने सभी विभागों के संबंध में बे-जाब्ता तरीके पर विचार-विनिमय कर लिया करें; इस तरह सभी विभागों के काम से सबका परिचय रहेगा और सभी को किसी भी महत्वपूर्ण निश्चय पर पहुंचने के पहले दूसरों के विचारों एवं अनुभवों का लाभ मिल जायेगा—विशेषकर जब कभी कोई महत्वपूर्ण विषय उपस्थित हो अथवा किसी विशेष स्थान के लिए कोई नयी नियुक्ति करनी हो तो वे आपस में जरूर विचार-विमर्श कर लिया करें। यह इसलिए भी आवश्यक था कि अभी इस तरह के काम में सभी अनुभवहीन थे और सबके लिए यह आवश्यक था कि हमेशा चौकन्ने रहकर एक-दूसरे के अनुभवों से लाभ उठाते रहें। पर खेद है कि ऐसा हो नहीं सका! पीछे मालूम हुआ कि सब मंत्रियों को अपने विभाग के सिवा दूसरे विभागों की सभी बातों की जानकारी नहीं रहती थी। इससे कहीं-कहीं कुछ शिकायतें भी पैदा हो गयीं। बम्बई में श्री खेर ने इस नीति को शुरू से ही बरता। वहां के मंत्री प्रायः प्रतिदिन एकत्र मिल लिया करते और इस प्रकार एक-दूसरे की कार्रवाइयों से पूरी तरह परिचित रहते। युक्तप्रदेश और मद्रास में तो श्री गोविन्दवल्लभ पंत और श्री राजगोपालाचारी का व्यक्तित्व ही ऐसा था कि वे स्वयं मंत्रियों की कार्रवाइयों से अपने को पूरी तरह परिचित रखते; इस तरह वहां भी ठीक काम चलता रहा।

मुझे मिनिस्ट्री के सिलसिले में उड़ीसा भी जाना पड़ा। वहां पार्टी के नेता के चुनाव के समय आपस का मतभेद मालूम हुआ था। यह बात पार्लियामेंटरी कमिटी तक आयी थी। पं. नीलकंठ दास उड़ीसा के प्रमुख व्यक्तियों में हैं। 1921 से ही उन्होंने कांग्रेस में बहुत काम किया था। वह स्वर्गीय पं. गोपबन्धु दास के सहकर्मियों में से थे। 1930-34 के सत्याग्रह आन्दोलन में हम लोगों के साथ ही हजारीबाग जेल में थे। उन दिनों भी उनकी राय मालूम होती थी कि जो नया विधान बने उसमें कांग्रेस को मंत्रिपद स्वीकार करना चाहिए। जब 1934 में केंद्रीय असेम्बली के लिए चुनाव हुआ तो वह उड़ीसा के क्षेत्र से कांग्रेसी सदस्य

चुने गये थे। 1937 में नये विधान के अनुसार, जब बिहार से उड़ीसा अलग हो चुका था, उसकी असेम्बली के लिए सदस्यों का चुनाव हुआ तो वह स्वयं किसी क्षेत्र से प्रांतीय असेम्बली के लिए खड़े नहीं हुए। पर जब कांग्रेस का बहुमत हो गया और यह मालूम हो गया कि जब कभी कांग्रेस मंत्रिपद लेगी तो असेम्बली का नेता ही प्रधानमंत्री होगा, तब उन्होंने वहां के मेम्बरों से नेता चुने जाने की इच्छा प्रकट की। प्रांतीय चुनाव में उन्होंने परिश्रम भी किया था। उस चुनाव की सफलता में उनका हाथ था। पर वहां के सदस्यों के सामने अब यह प्रश्न उपस्थित हो गया कि किसी ऐसे आदमी को, जो असेम्बली का सदस्य नहीं था, असेम्बली-पार्टी का नेता वे कैसे चुनें ? असेम्बली-पार्टी के नेता को असेम्बली में हाजिर रहना चाहिए। वहां रहकर ही वह अपना काम पूरा कर सकता है। इसके अलावा, यदि गवर्नर बुलावेगा तो वह असेम्बली के किसी सदस्य को ही बुलाना चाहेगा, और किसी बाहर के व्यक्ति को बुलाने में उसे दिक्कत होगी। यह दूसरी बात है कि बाहर का आदमी भी इस शर्त पर मिनिस्टर हो सकता है कि छः महीनों के अंदर वह कहीं से सदस्य चुना जायेगा। पर पं. नीलकंठ दास केवल मंत्री होना नहीं चाहते थे। वह प्रधानमंत्री ही हो सकते थे; क्योंकि वही पद उनके योग्य था। पार्लियामेंटरी कमिटी की राय हुई थी कि मेम्बरों में से ही कोई नेता चुना जा सकता है। इसलिए श्री विश्वनाथ दास ही नेता चुने गये, जो ब्रह्मपुर जिले के रहने वाले हैं और जो पहले मद्रास असेम्बली के मेम्बर रह चुके थे जब उनका यह जिला मद्रास प्रांत का भाग था।

मुझे इसलिए जाना पड़ा कि वहां आपस के इन झगड़ों से कुछ मतभेद होने का भय था। मैं वहां गया। सबसे नाजुक प्रश्न यह उठा कि मुसलमानों में मंत्री कौन बनाया जाये ? वहां की असेम्बली में मुसलमानों की संख्या बहुत थोड़ी है। जो चंदरोजा मिनिस्ट्री बनी थी उसमें एक मुसलमान सज्जन मिनिस्टर थे। दूसरा कोई ऐसा व्यक्ति नहीं नजर आया जो कांग्रेस की ओर से चुना गया हो और मिनिस्टर का काम कर सकता हो। जो ऐसे व्यक्ति थे जिनमें काम चलाने की योग्यता थी, कांग्रेस-टिकट पर चुने नहीं गये थे और अब भी कांग्रेस में शरीक होने के लिए तैयार न थे। मैं दो या तीन दिनों तक कटक में ठहरा रहा। इस बात की पूरी कोशिश हुई कि कोई उपयुक्त मुसलमान मंत्री बनाया जाये; पर इसमें सफलता नहीं हुई। अंत में, बिना किसी मुसलमान के ही उस समय मंत्रिमंडल बना दिया गया; पर इस बात का अंतिम निर्णय पीछे मौलाना आजाद से पूछ करके करने पर छोड़ दिया गया।

युक्तप्रदेश में भी मुसलमान मिनिस्टर के संबंध में दिक्कत थी; क्योंकि वहां भी कांग्रेस-टिकट पर एक-ही-दो मुसलमान चुने गये थे, दूसरे लोग स्वतंत्र रूप से चुने गये थे। मौलाना आजाद ने वहां के संबंध में बातें की थीं। कुछ मुसलमान—जो कांग्रेस से सहानुभूति रखते थे, पर कांग्रेस की ओर से चुने नहीं गये थे—मौलाना के साथ कुछ समझौते के लिए तैयार थे। यदि वह समझौता हो गया होता, तो शायद जो झगड़ा लीग के साथ उठ

खड़ा हुआ वह नहीं होता। पर उस समय प्रांत के प्रमुख कांग्रेसी इस बात पर राजी नहीं हुए। मौलाना को भी वहां ठहरने का पूरा समय न मिला—बम्बई चला जाना पड़ा। इसलिए वहां के मंत्रिमंडल में एक कांग्रेसी मुसलमान श्री रफी अहमद किदवई और दूसरे—जो कांग्रेस-टिकट पर नहीं चुने गये थे—हाफिज मुहम्मद इब्राहिम मिनिस्टर बनाये गये। यहां यह कह देना उचित है कि हाफिज साहब ने असेम्बली से इस्तीफा दे दिया और फिर कांग्रेस-टिकट पर चुन लिये गये। बम्बई की दिक्कत मौलाना की राय से तय हो गयी और मिस्टर नूरी मिनिस्टर बने। इसी तरह मध्यप्रदेश में भी मिस्टर शरीफ मिनिस्टर हुए।

मुसलमान मिनिस्टरों के संबंध में इतना लिखना इसलिए आवश्यक हो गया कि पीछे चलकर मुस्लिम लीग ने इस विषय को लेकर बहुत हो-हल्ला मचाया। उस समय तक कांग्रेसी और दूसरे लोग, चुनावों में तथा विधान के अनुसार बनी हुई मिनिस्ट्रियों में, इंग्लैंड के मंत्रिमंडल जैसा ही चित्र देख रहे थे। वे लोग वहां की रीति-नीति के अनुसार ही यहां के मंत्रिमंडल का भी संगठन और उसकी कार्रवाइयां करना चाहते थे। इसी कारण सभी संगठित दलों ने अपने-अपने उमीदवार खड़े किये थे। चुनाव के समय कुछ नये दल भी बने थे, जैसे बिहार की इंडिपेंडेंट पार्टी। चुनाव के बाद जब एक पार्टी—कांग्रेस का बहुमत कई सूबों में जबरदस्त हो गया तो उसको अपने दल के बाहर से किसी को मंत्री बनाने की बात इस प्रकार की विधान कार्य-प्रणाली के विरुद्ध मालूम हुई। साथ ही, कांग्रेस-दल में भी मुसलमान थे। उनको छोड़कर बाहर जाना उनके प्रति अन्याय होता था। चुनाव तक मुस्लिम लीग का कुछ वैसा जोर भी नहीं था। बहुत कम जगहों के लिए मुस्लिम लीग ने उमीदवार खड़े किये थे। जहां उसके उमीदवार खड़े हुए, बहुत सफल भी नहीं हुए थे। इस कारण, मुस्लिम लीग के लिए मंत्री बनाना, प्रायः सभी जगहों में जहां कांग्रेस का बहुमत था, अवैध होता। कांग्रेस ने एक घोषणा-पत्र के अनुसार चुनाव को लड़कर जीता था। उसके अनुसार काम करना उसका कर्तव्य था। उसी के सभी मेम्बरों ने सौगंध ली थी कि उसकी आज्ञानुसार वे काम करेंगे और जब आज्ञा होगी तब पदत्याग कर देंगे।

कांग्रेस के पास पद-त्याग का एक अस्त्र था जिसके द्वारा वह, वैध रीति से मतभेद होने पर, गवर्नर को दबा सकती थी। यदि वह किसी गैर-कांग्रेसी को, बिना इन शर्तों को कबूल कराये, मंत्री बना देती तो उसके हाथ में कोई दूसरा शस्त्र रह ही नहीं जाता जिसके द्वारा गवर्नर पर वह अपना प्रभाव जता सकती। वैधानिक मंत्रिमंडल में सभी की समान जवाबदेही मानी जाती है, जिसका अर्थ यह होता है कि चाहे किसी भी मंत्री ने कोई भी काम किया हो उसकी जवाबदेही उसके सभी साथियों पर है। इस तरह सभी एक-दूसरे की मदद करते हैं और एक-दूसरे की कार्रवाइयों पर अंकुश भी रखते हैं। यदि मतभेद हो गया तो जो बहुमत से अलग राय रखता है उसे हट जाना पड़ता है। यदि दो संस्थाओं की आज्ञाओं को मानने के लिए बाध्य अथवा वचनबद्ध मंत्री कहीं किसी मंत्रिमंडल में हो, और उन दोनों संस्थाओं ने

एक साथ मिलकर काम करने का निश्चय और प्रबंध न कर लिया हो, तो हो सकता है कि दोनों संस्थाओं की विरोधी आज्ञाएं आवें और मंत्री लोग अपनी-अपनी संस्था की आज्ञा का पालन करें, तो मंत्रिमंडल की कार्रवाइयों में ही विरोध पैदा हो जाये। इसलिए, यह आवश्यक था कि मंत्रिमंडल के सभी मंत्री किसी एक ही संस्था के हुक्म मानने के लिए बाध्य या वचनबद्ध हों, अथवा आपस में कम-से-कम कुछ ऐसा समझौता हो जिससे इस प्रकार के विरोधी कार्यक्रम उपस्थित न हो सकें, और अगर हों भी तो उनका निपटारा शीघ्रता और बिना कटुता के हो जाये। जब किसी धारा-सभा में, जहां इस तरह का वैधानिक मंत्रिमंडल काम करता हो, किसी एक दल का बहुमत नहीं होता और मंत्रिमंडल एक से अधिक दलों में से लिये हुए लोगों से बनता है, तब वहां पहले से उन दलों में बातचीत करके इसके लिए रास्ता तय कर लिया जाता है। फिर जब कभी मतभेद हुआ तो जिस दल के मंत्री से मतभेद होता है वह मंत्रिमंडल से अपने मंत्री को हटा लेता है और दूसरे मंत्रियों को अपने दल की सहायता से वंचित कर देता है। यहां पर यह बात इसलिए नहीं हुई कि यहां कांग्रेस का इतना बड़ा बहुमत था कि और सभी दल यदि एक साथ मिलते तो भी कांग्रेस अकेले ही उन सबसे कहीं अधिक सदस्यों को अपनी तरफ से खड़ा कर सकती और सबको अकेले ही वोट में हरा देती। यहां किसी दूसरे दल के साथ समझौते का प्रश्न उठता ही नहीं था। तो भी जहां तक मुसलमानों का सवाल था, हमने प्रयत्न किया कि दूसरे दल के मुसलमानों के साथ हम समझौता कर लें, पर हुआ नहीं।

हमने उस समय समझा था और आज भी मेरी वही राय है कि वैधानिक विचार से कांग्रेस ने कोई गलती नहीं की। हां, यह दूसरी बात है कि उसको इंग्लैंड के विधान का अनुसरण नहीं करना चाहिए था और जो प्रजातंत्र के प्रचलित नियम तथा रीति-नीति हैं उनसे अलग अपना नियम और अपनी रीति-नीति बनानी चाहिए थी। किसी ने उस समय इस तरह की बात कही भी नहीं और मैं नहीं जानता कि मुस्लिम लीग के सिवा आज भी कोई विचारशील व्यक्ति अथवा संस्था है जो यह कहे कि भारतवर्ष में प्रजातंत्र नहीं चल सकता और न ही चलना चाहिए। यदि प्रजातंत्र न चलना हो तो देश कोई दूसरा विधान, जो उचित समझे, बनावे। पर जब तक प्रचलित प्रजातंत्रों के रास्ते पर हमको चलना है, उस प्रजातंत्र के नियमों और रीति-नीति से हम अपने को अलग नहीं कर सकते। मैं यह भी मानता हूं कि देश कभी प्रजातंत्र को छोड़ किसी अन्य प्रकार के विधान को न मानेगा और इसमें, मैं मानता हूं, हिन्दू और मुसलमान तथा सभी दूसरे लोग सहमत होंगे। प्रजातंत्र छोड़ने का अर्थ होता है किसी एक व्यक्ति अथवा किसी एक गुट के हाथों में भारत के भाग्य का निर्णय सौंप देना—भारत के शासन की बागडोर दे देना। मैं नहीं मानता कि मुसलमान भी यह चाहते हैं कि जनता के हाथों में अधिकार न देकर किसी एक व्यक्ति वा गुट के हाथों में दे दिया जाये। दूसरे किसी की ओर से किसी संस्था ने आज तक इस तरह की बात कही भी नहीं है कि

भारत में प्रजातंत्र नहीं होना चाहिए और न ही चल सकता है। यह थोड़े दिनों से केवल मुस्लिम लीग ने कहा है, और वह भी पूरे भारतवर्ष के लिए ही, केवल उसके सूबों के ही लिए नहीं; क्योंकि जब से पाकिस्तान की बात उठायी गयी है तब से उसमें भी यह बात नहीं कही गयी है कि पाकिस्तान में अथवा उस दूसरे हिस्से में—जिसे लीग के लोग हिन्दुस्तान कहते हैं—प्रजातंत्र से अलग कोई दूसरा शासन-विधान होगा। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान, दोनों में वहां की जनता द्वारा मनोनीत सदस्य ही शासन करेंगे—कोई एक व्यक्ति अथवा गुट नहीं। जो हो, मंत्रिमंडल बनने के बाद—सच पूछिए तो कांग्रेस मंत्रिमंडल के इस्तीफा के बाद—इस तरह की बातें अधिक होने लगी हैं।

ठीक जुलाई 1937 में तो नहीं—जब और सूबों में चंदरोजा मंत्रिमंडलों ने इस्तीफे दे दिये और कांग्रेसी मंत्रिमंडल बन गये; पर उसके कुछ बाद, सीमा-प्रांत में भी, वहां के मंत्रिमंडल को इस्तीफा देना पड़ा। उस सूबे में, चुनाव के समय, कांग्रेस दल के लोग ही सबसे अधिक चुने गये थे; पर उनकी संख्या इतना ज्यादा नहीं थी—जैसा दूसरे सूबों में हुआ था—कि वह अकेले ही और सभी दलों को वोट में हरा दे। इसलिए वहां का मंत्रिमंडल और लोगों को मिलाकर कुछ देर तक चलता रहा; पर वह भी देर तक टिक न सका—उसे असेम्बली की बैठक के बाद इस्तीफा देना पड़ा। दूसरे सूबों में असेम्बली की बैठक के पहले ही चंदरोजा मंत्रिमंडलों ने इस्तीफे दे दिये। मौलाना अबुल कलाम आजाद के साथ मुझे वहां भी जाना पड़ा और वहां के मंत्रिमंडल के संगठन में मदद करनी पड़ी। इसमें कुछ अधिक कठिनाई नहीं पड़ी। जो कुछ करना था, मौलाना साहब ने ही किया। सबसे बड़ी बात यह थी कि डाक्टर खां साहब और खां अब्दुल गफ्फार खां के रहते कुछ अधिक करने की जरूरत ही नहीं थी। मैंने तो इस अवसर को उस सूबे में जाने के लिए एक बहाना मात्र माना।

121

सीमा-प्रांत का सफर

सरहदी सूबे में मेरे जाने का यह पहला ही अवसर था। हम लोग पहले सीधे अबटाबाद गये जहां उन दिनों गवर्नर रहते थे और जहां मंत्रिमंडल बनने की बातें हो रही थीं। यह एक पहाड़ी स्थान है जहां गर्मियों के कारण वहां की असेम्बली की बैठक होती है। जाने के समय वहां पहुंचने पर बाजाब्ता जलूस की तैयारी थी। मौलाना साहब तो जलूस में शरीक नहीं हुए—मुझे होना पड़ा। पर रास्ते में ही पानी जोरों से बरसने लगा। हम सब भीग गये। जलूस भी तितर-बितर हो गया। मंत्रिमंडल के संगठन का काम पूरा करके हम लोग चंद जगहों में चले गये। मानसेहरा एक जगह है जो पहाड़ पर है और जहां पर डाक-बंगले से चारों ओर का बहुत ही सुंदर दृश्य देखने में आता है। हम लोग वहां थोड़ी देर के लिए गये। वहां से हम पेशावर आये। फिर खां साहब के गांव 'उत्मानजई' में, चरसद्दा होते हुए, गये। उनके बंगले पर कुछ देर तक ठहरे। वहां से आजाद इलाके को देखते हुए फिर पेशावर लौटे। दूसरे दिन हम दूसरी तरफ एक चक्कर लगा आये। फिर खैबर की घाटी पार करके अफगानिस्तान की सरहद तक पहुंचे जहां ब्रिटिश सरकार और अफगान सरकार के संतरी अपनी-अपनी सरहद पर डटे पहरा देते रहते हैं। खैबर की घाटी एक विचित्र सौंदर्य से पूर्ण घाटी है—यों तो पहाड़ बिलकुल बिना घास-पात और पेड़-पौधे के हैं, गर्मियों में मानो आग-से जलते रहते हैं; पर पहाड़ों के बीच होकर रास्ता बहुत ही सुंदर और सुहावना मालूम होता है।

तमाम घाटी-भर में, जो कई मील लम्बी है, बचाव के लिए फौजी प्रबंध है। एक बड़ा किला बीच में है और एक जमसद में, जहां घाटी आरम्भ होती है। सड़क के पास-ही-पास रेल भी चलती है जिसके बनाने में बहुत बुद्धि, कौशल और पैसे लगे होंगे। सारी घाटी में, सड़क को छोड़कर, ब्रिटिश की कोई चीज नहीं है। सुना कि केवल सड़क और उसके आसपास दोनों ओर की कुछ फुट चौड़ी जमीन ही ब्रिटिश की है तथा पास की आबादी सारी-की-सारी आजाद कौमों की है जो अपने स्थान पर स्वतंत्र हैं। उस आजाद इलाके में ब्रिटिश कानून नहीं चलता। इसलिए सड़क से चंद फुट बाहर यदि कोई वाकया हो जाये तो

उसकी जांच ब्रिटिश अधिकारी नहीं कर सकते। सुनने में आया कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यदि कोई यात्री सड़क से हटकर आजाद इलाके में चला जाता है तो उसे वहां के लोग, अपने हक को कायम रखने और जताने के लिए, गोली मार देते हैं। हमने यह भी देखा कि आजाद इलाके के लोग जब घर से बाहर जाते हैं तो अपने साथ बंदूक उसी तरह ले जाते हैं जिस तरह हमारे सूबे में कहीं-कहीं के लोग लाठी-डंडे लेकर निकलते हैं।

वहां के गांव भी कुछ अनूठे ढंग के हैं। हर गांव में एक ऊंचा स्थान बना होता है जो प्रायः किसी मकान में एक गुम्बद जैसा रहता है जहां से आदमी चारों तरफ दूर तक देख सकता है। कबीले के लोग वहां से बराबर इस बात को देखा करते हैं कि कहीं किसी तरफ से कोई गांव पर हमला करने तो नहीं आ रहा है। वहां के लोग देखने में बहुत गरीब मालूम होते थे; क्योंकि जमीन उस पहाड़ी इलाके में कुछ बहुत अच्छी नहीं मालूम होती थी। पानी की बहुत दिक्कत थी। ये आजाद कबीले विशेषकर इस पहाड़ी इलाके में ही रहते हैं। पेशावर जिले के चरसद्दा के आसपास की जमीन, जहां स्वात और दूसरी नदियां हैं, बहुत अच्छी मालूम होती थी; मगर पहाड़ी जमीन उपजाऊ नहीं है। आजाद कबीलों की गरीबी ही उनकी अव्यवस्थित दशा का विशेष कारण है। मैं नहीं जानता कि उनकी आर्थिक दशा सुधारकर कभी उनके जीवन को सुव्यवस्थित बनाने का कोई भी प्रयत्न किया गया है। शायद ब्रिटिश गवर्नमेंट की नीति उनको सदा अव्यवस्थित रहने देने की ही है; क्योंकि यदि इस ओर ध्यान दिया गया होता तो जितना खर्च वहां फौजी काम के लिए किया गया है और किया जाता रहता है उतने खर्च में अब तक वह भू-भाग हरा-भरा बन गया होता—कबीले वाले दूसरे सूबों के लोगों के साथ सभी बातों में मुकाबला करते होते। शायद जब तक वे आजाद हैं तब तक ऐसा करना ब्रिटिश गवर्नमेंट के लिए सम्भव नहीं। पर सुव्यवस्थित जीवन वाले आजाद अच्छे पड़ोसी भी तो हो सकते हैं। उन्हें आजाद रहने देकर भी उनकी शिक्षा और सुव्यवस्था में वह खर्च किया जा सकता था जो खर्च उनको समय-समय पर तोपों और हवाई जहाजों के गोलों का शिकार बनाकर दबाने में किया जाता है। वह खर्च उनके और भारत के—दोनों के लिए—ज्यादा लाभदायक होता।

सीमा-प्रांत से लौटते समय मैं और मेरे साथी बाबू मथुरा प्रसाद, जो मेरे साथ वहां गये थे, दोनों हीं, रास्ते में पड़े तक्षशिला के खुदे हुए खंडहरों को देखने गये। वहां खुदाई से निकली हुई चीजों को वहां के अजायबघर में देखा। खंडहरों को तो घूम-घूमकर देखा। देखने से मालूम हुआ कि एक बहुत ही विस्तृत शहर वहां था, जिसमें चौड़ी सड़कें थीं और सड़कों के दोनों बगल मकान बने थे—मकानों में रहन-सहन और आराम के लिए सभी प्रकार का प्रबंध था। सब कुछ देखने से मालूम होता था कि ये एक अत्यंत उन्नत स्थान के खंडहर हैं। ये प्राचीन भारत के उन स्मारकों में हैं जिनके कारण आज भी हम अपना सिर ऊंचा रख सकते हैं। यहां एक जगत-प्रसिद्ध विद्यापीठ स्थापित था, जहां भारतवर्ष के बाहर से

भी विद्यार्थी आया करते थे। यहां के विद्यार्थी भारतवर्ष के सभी स्थानों में जाकर अपनी कीर्ति फैलाये हुए थे। हमने यह भी सुना कि सारे सीमा-प्रांत में बौद्धकालीन स्मारक पाये जाते हैं। यदि हम वहां कुछ दिन ठहर सकते तो इस प्रकार के स्मारकों को देख सकते, पर इसके लिए समय नहीं था। हमको इसके लिए भी समय न मिला कि हम कोहाट और डेरा इस्माइल खां के इलाके तक जा सकें। इसलिए हम केवल हजारा और पेशावर के कुछ हिस्सों को देखकर ही अफसोस के साथ वापस आये।

हम जैसे बिहारी के लिए, जिसको दानापुर की फौजी छावनी के सिवा और कहीं कोई विशेष फौजी सामान या सैनिक पड़ाव देखने का मौका नहीं मिलता, सीमा-प्रांत एक बड़े फौजी अड्डे के समान जान पड़ा। जहां जाइए, जिधर जाइए, फौजी छावनी मौजूद है—फौजी सड़कें और फौजी अड्डे हर तरफ सामने आ जाते हैं। यह सिलसिला पंजाब से ही शुरू होता है और जैसे-जैसे पश्चिम की ओर बढ़ते जाइए, यह फौजी नजारे बढ़ते जाते हैं। सीमा-प्रांत तो मानो सारा-का-सारा फौजी अड्डा ही है।

खैबर की घाटी देखकर एक बात चित में आये बिना नहीं रह सकती। यह एक ऐसी घाटी है जहां बचाव बहुत आसानी से किया जा सकता था—विशेषकर जब हवाई जहाज नहीं थे। ईश्वर ने इस देश के उत्तर की ओर हिमालय खड़ा करके, पूर्वीय और पश्चिमीय सीमाओं पर पहाड़ी श्रेणियों की दीवारें खड़ी करके, एक ऐसी हदबंदी कर दी है जिसे तोड़कर कोई मनुष्य बाहर से भारत पर हमला नहीं कर सकता। इस तरह, एक तरफ प्रकृति ने जमीनी हमले से इस देश को सुरक्षित बना दिया और दूसरी तरफ समुद्र ने इसके लिए एक जबरदस्त खाई का काम किया। पर, तो भी, हम इस देश के लोग इतने अभागे हैं कि इस बनी-बनायी घाटी की भी, आपस की फूट के कारण, रक्षा न कर सके! अंगरेजों के पहले, आज तक जितनी चढ़ाइयां भारत पर हुई, प्रायः सभी इस घाटी के द्वारा ही हुई हैं। अंगरेज भी बराबर डरते रहे हैं कि कहीं रूस उस रास्ते से भारत पर चढ़ाई न कर दे। इसीलिए वहां फौज की इतनी तैयारी है। रूस का भय कम होने पर उनको जर्मन का डर बना रहता है। शायद मुसलमानी देशों से भी वे डरते हैं! शायद अब, जब हवाई जहाजों का बोल-बाला हो गया, उस घाटी का महत्व उतना न रहे; परंतु इस पर दुख हुए बिना नहीं रह सकता कि रक्षा की सभी सामग्रियां ईश्वर जुटा भी दे और मनुष्य अपने निकम्मेपन से उनका सुदुपयोग न कर सके, तो उसकी रक्षा नहीं हो सकती। खैबर की घाटी और भारत का इतिहास इसके साक्षी हैं कि जो अपनी मदद नहीं करता उसकी मदद ईश्वर भी नहीं कर सकता, और जो ईश्वर-प्रदत्त साधनों को भी काम में लाने की योग्यता नहीं रखता उसका पतन अवश्यम्भावी है। जैसे कन्याकुमारी में पहुंचकर भारत की महत्ता का आभास आंखों के सामने झलक गया था, वैसे ही खैबर की घाटी को देखकर भारतवासियों की अकर्मण्यता का चित्र आंखों के सामने नाचने लगा।

122

मंत्रिमंडल की कुछ वैधानिक कठिनाइयां

मंत्रिमंडल का काम आरम्भ हो गया और चलने लगा। बिहार में एक प्रश्न शीघ्र ही सामने आया जिसका सुलझाना कुछ कठिन था और जिसने पीछे हमारे लिए दिक्कतें पेश कीं। जब मिस्टर युनुस मिनिस्टर हुए, उन्होंने सर सुलतान अहमद को बिहार का एडवोकेट-जेनरल नियुक्त कर दिया। सर सुलतान कई वर्षों से सरकारी एडवोकेट थे। नये विधान में गवर्नमेंट-एडवोकेट की जगह एडवोकेट-जेनरल नियुक्त करना था। वह उसी समय गवर्नमेंट आफ इंडिया में कुछ दिनों के लिए वायसराय की एग्जिक्युटिव कौंसिल के मेम्बर नियुक्त हो गये। सुना गया कि उन्होंने वायसराय की कौंसिल में कांग्रेस के साथ समझौता कर लेने की बात पर जोर भी दिया था। जब वायसराय का वक्तव्य निकलने के बाद कांग्रेसी मंत्रिमंडल बना तब भी वह वायसराय की कौंसिल के मेम्बर थे। बिहार मंत्रिमंडल के सामने यह प्रश्न आया कि वह नये सिरे से एडवोकेट-जेनरल की नियुक्ति करे अथवा मिस्टर युनुस की नियुक्ति को ही बहाल रखे।

एडवोकेट-जेनरल गवर्नमेंट और मंत्रिमंडल का प्रधान कानूनी सलाहकार होता है। नये विधान में उसको बिना मेम्बर हुए ही असेम्बली और कौंसिल में किसी विषय पर भाषण करने का अधिकार है। यह अधिकार इसलिए दिया गया कि कोई कानूनी बहस उठ जाने पर एक ऐसा आदमी होना चाहिए जो अधिकारपूर्वक गवर्नमेंट और मंत्रिमंडल की ओर से बातें कर सके। इंग्लैंड में सबसे बड़ा कानूनी अफसर, जो सभी जजों के भी ऊपर समझा जाता है, लार्ड-चांसलर होता है। वह लार्ड-सभा में सभापति का काम करता है। जब उस सभा के सामने कानूनी तौर पर अपील पेश होती है तब भी वह सभापतित्व करता है। इसलिए वह हमेशा एक नामी कानूनदां आदमी हुआ करता है। यह तो हुई जजों के सरदार की बात। सबसे बड़ा कानूनी सलाह देने वाला अटर्नी-जेनरल भी मंत्रिमंडल का एक सदस्य हुआ करता है। वह कामन्स-सभा का मेम्बर होता है। इन दोनों स्थानों पर मंत्रिमंडल के साथ ही नियुक्ति हुआ करती है, अर्थात जो प्रधानमंत्री होता है वही अपने अन्य साथी मंत्रियों के साथ-साथ इनकी नियुक्ति के लिए भी नाम दिया करता है और उन्हें ही सम्राट मुकर्रर कर देते हैं।

हमारे यहां लोगों का विचार हुआ कि इंग्लैंड में जो अटर्नी-जेनरल का स्थान है वही स्थान एडवोकेट-जेनरल का भी होना चाहिए, उसकी नियुक्ति और इस्तीफा भी मंत्रिमंडल के साथ ही होना चाहिए। यदि गवर्नर के साथ मतभेद होने के कारण, अथवा असेम्बली के अविश्वास प्रकट करने के कारण, मंत्रिमंडल इस्तीफा दे तो उसे भी हटना चाहिए। और, जो नया मंत्रिमंडल बने उसे नये आदमी को उस स्थान पर नियुक्त करने का अधिकार होना चाहिए—जैसा इंग्लैंड में है। इसके लिए काफी कारण भी हैं। मंत्रिमंडल को ऐसा कानूनदां सलाहकार रखने का अधिकार होना चाहिए जिस पर उसका विश्वास तो हो ही, वह उसके विचारों तथा कार्यक्रम से पूरी तरह परिचित एवं सहमत हो, ताकि वह मंत्रिमंडल के कार्यक्रम चलाने में, कानूनी तौर पर हर तरह से, पूरी मदद कर सके। बिहार में मंत्रिमंडल के आगे सबसे बड़ा प्रश्न लगान-कानून के संशोधन का था। इस विषय में मतभेद की काफी जगह थी। मंत्रिमंडल का विचार था कि कोई पक्का कांग्रेसी, जिसका विचार मंत्रिमंडल के विचारों से मिलता हो, एडवोकेट-जेनरल होना चाहिए। सर सुलतान कुछ ऐसे आदमी नहीं थे जो मंत्रिमंडल की हां में हां मिलाया करेंगे। यदि कहीं किसी विषय में मंत्रिमंडल से उनका मतभेद हो गया तो फिर मंत्रिमंडल को उनके विचारों और उनकी योग्यता का लाभ नहीं मिलेगा। इसी कारण, इंग्लैंड में भी अटर्नी-जेनरल मंत्रिमंडल की पार्टी का ही आदमी हुआ करता है। यह सोचकर मंत्रिमंडल ने मेरी राय से निश्चय किया कि वह अपना एडवोकेट-जेनरल नियुक्त करेगा। वह इस परिपाटी को चलाना भी चाहता था कि उसको अपना कानूनी सलाहकार चुनने और मुकर्रर करने का अधिकार होना चाहिए। यदि यह परिपाटी चल जाये तो यह केवल कांग्रेस के लिए ही नहीं होगी—चाहे जिस दल के लोग हों, जब अपना मंत्रिमंडल बनावेंगे तब अपना सलाहकार मुकर्रर करेंगे, इस परिपाटी से लाभ उठायेंगे।

यही प्रश्न बम्बई प्रांत में भी उपस्थित हुआ। वहां एक अंगरेज एडवोकेट-जेनरल थे। कांग्रेस जिनको नियुक्त करना चाहती थी वह सज्जन उस समय कहीं विदेश गये हुए थे। जब यह बात गवर्नर से कही गयी तो उन्होंने यह मंजूर करना नहीं चाहा कि मंत्रिमंडल को एडवोकेट-जेनरल नियुक्त करने का अधिकार है। पर उन्होंने सर सुलतान को शायद सब बातें लिख भेजीं। सर सुलतान ने शिमले से इस्तीफा लिख भेजा। इत्तफाक से केंद्रीय सरकार में काम करने वाली उनकी अवधि भी किसी कारण से बढ़ गयी। इसलिए, देखने में तो मामला सुलझ गया और कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने श्री बलदेव सहाय को एडवोकेट-जेनरल नियुक्त कर दिया; पर आगे चलकर मुसलमानों ने इस बात को हिन्दू-मुसलमान झगड़े का रूप दे दिया। कुछ कहने लगे कि सर सुलतान केवल इसलिए हटा दिये गये कि वह मुसलमान हैं। मैं तो इस विचार-विमर्श के समय मंत्रिमंडल के साथ बराबर रहा, इसलिए मैं कह सकता हूं कि इस नियुक्ति के समय हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न किसी के ध्यान में एक मिनट के

लिए भी न आया। प्रश्न यही था कि राजनीतिक दृष्टि से, और विशेषतः लगान-कानून के सुधार को सामने रखते हुए, किससे अधिक मदद मिलेगी तथा कानूनी सलाहकार की नियुक्ति में इंग्लैंड की परिपाटी चलाना अच्छा होगा वा नहीं। उसी परिपाटी के अनुसार विधान में ऐसे संशोधन कराने का सबका विचार था कि गवर्नर केवल वैधानिक गवर्नर रह जाये और सभी अधिकार मंत्रिमंडल के हाथ में आ जायें। जब विधान में संशोधन अभी नहीं हो सकता तो कांग्रेस ने गवर्नरों से 'विशेष अधिकारों को न बरतने' का वादा लेकर उस कमी को एक प्रकार से दूर कराया था। यह एक विषय और था जिसमें यहां का विधान इंग्लैंड के विधान के नजदीक पहुंचाया जा सकता और कांग्रेस मंत्रिमंडल ने उसी उद्देश्य से इस बात पर जोर दिया।

बम्बई में अंगरेज एडवोकेट-जेनरल ने इस्तीफा दे दिया। किसी ने फिर इसकी शिकायत कुछ नहीं सुनी। पर बिहार में इसका वैधानिक रूप तह में डाल दिया गया, इसका साम्प्रदायिक महत्व हो गया! अफसोस की बात है; पर हम इस बात को आज भी मानते हैं कि ऐसा करने में मंत्रिमंडल ने साम्प्रदायिक विचारों को अपने नजदीक नहीं आने दिया। जब लगान-कानून का संशोधन पेश हुआ तो यह बात स्पष्ट हो गयी। पर जहां साम्प्रदायिक बातें उठा दी जाती हैं वहां हमारी आंखें और सब चीजों को देखने में असमर्थ हो जाती हैं।

123

किसानों और जमींदारों का समझौता

मंत्रिमंडल बनाने के बाद मेरे ऊपर इसकी जवाबदेही रही कि यथासाध्य मैं उनकी, विशेषकर बिहार में, आवश्यकतानुसार सहायता करूं। शुरू में ही मेरे सामने दो प्रश्न आ गये। युक्तप्रदेश में प्रधानमंत्री पंडित गोविन्दवल्लभ पंत ने चाहा कि कानपुर में मिल मजदूरों की स्थिति के संबंध में जांच की जाये और उनकी हालत सुधारने का भी प्रयत्न किया जाये। इसके लिए वह एक कमिटी बनाना चाहते थे। उन्होंने मुझे उसका अध्यक्ष बनाना चाहा। काम जरूरी था, पर मुझमें इसके लिए कोई विशेष योग्यता नहीं थी; क्योंकि मैंने न तो कभी मजदूरों के बीच कुछ काम किया था और न उनके विशेष प्रश्नों का अध्ययन ही। पंतजी का विचार था कि एक प्रकार से यही मेरी विशेष योग्यता थी; क्योंकि मैं सब बातों को जानकर जो मुझे उचित जान पड़ेगा, कह सकूंगा और पूर्वार्जित कर्मों या विचारों के बंधन से मुक्त होने के कारण मैं परिस्थिति के अध्ययन के आधार पर ही अपनी राय कायम करूंगा। इसके अलावा, वह यह भी समझते थे कि मुझमें मजदूर और मिल-मालिक दोनों पक्षों का विश्वास होगा और मेरी नियुक्ति से दोनों संतुष्ट होंगे। मैं पहले तो बहुत इंकार करता रहा, पर मुझे अंत में इस पद को स्वीकार करना पड़ा। जिस समय मैं सीमा-प्रांत में वहां के मंत्रिमंडल के संगठन के लिए जा रहा था, मैं लखनऊ में कुछ देर के लिए ठहर गया। एक प्रकार से इस कमिटी के काम का श्रीगणेश उसी समय हो गया, यद्यपि कार्यारम्भ उधर से लौटने के बाद ही हुआ।

दूसरा काम जो मुझे शीघ्र शुरू करना पड़ा वह था अपने सूबे के किसानों और जमींदारों से बातचीत करके, लगान-कानून के संशोधन के लिए, यदि हो सके तो दोनों को एकमत कर देना। इसका आरम्भ भी मंत्रिमंडल बनने के थोड़े ही दिनों के बाद हुआ। जिस समय हम लोग 1930-34 के सत्याग्रह में लगे थे, बिहार के गवर्नर के प्रोत्साहन से यहां एक पार्टी बनी थी जिसका नाम था युनाइटेड पार्टी। उस समय नये विधान के संबंध में इंग्लैंड में बातें चल रही थीं। यह समझा जाता था कि नये विधान में कुछ-न-कुछ अधिकार तो जनता के प्रतिनिधियों को मिलेगा ही। इसलिए यदि कोई ऐसी पार्टी बने, जो जनता द्वारा निर्वाचित

हो सके और जो कांग्रेस जैसी बिलकुल स्वतंत्र न हो, तो गवर्नमेंट के लिए भी वह सुविधाजनक होगी। इसी विचार से उस पार्टी के जन्म देने में उस समय के गवर्नर ने हाथ बंटाया था। उसी उद्देश्य से उस समय की कौंसिल में जमींदारों की ओर से एक बिल पेश किया गया था जिसके द्वारा लगान-कानून में कुछ संशोधन पेश किये गये थे। ये संशोधन किसानों के हक में ठीक थे। उमीद की गयी थी कि इस तरह किसान, जिनकी संख्या स्वभावतः मतदाताओं में बहुत अधिक होगी, युनाइटेड पार्टी के पक्ष में कर लिये जायेंगे और वह पार्टी चुनाव में सफल हो सकेगी। कुछ दूरदर्शी जमींदार यह भी जरूर सोचते थे कि जब इस प्रकार से किसानों के हाथ में अधिकार जा ही रहा है तो उनको खुश रखना ही हमारे लिए हितकर होगा। कुछ ऐसे भी जमींदार जरूर होंगे जो किसानों की मांगों को न्याय्य मानते होंगे और इसलिए कानून में संशोधन जरूरी समझते होंगे। जो हो, कुछ ऐसे लोग भी, जो पहले किसानों में कुछ काम किया करते थे और जो किसानों के पथ-प्रदर्शक तथा नेता समझे जाते थे, इस पार्टी में शरीक हो गये।

स्वामी सहजानन्द ने किसान सभा को जाग्रत बनाकर इसी बिल का विरोध किया। उस विरोध के लिए किसान संगठित भी हो गये। उन दिनों कांग्रेस गैरकानूनी संस्था थी। उसके नाम से कोई काम नहीं हो सकता था। उसके कार्यकर्ता भी बहुत बड़ी संख्या में, जो इस काम को कर सकते थे, जेलों में बंद थे। इस विरोध का नतीजा यह हुआ कि संशोधनों में और संशोधन हुआ। अंत में, जब हम लोग 1934 में जेल से बाहर निकले तो हम लोगों से भी बातें हुईं कि संशोधन सबकी राय से किये जायें। हम लोगों के आदमी उन दिनों कौंसिल में नहीं थे। बात इतनी आगे तक पहुंच गयी थी कि हम कांग्रेस की ओर से विशेष कुछ कर भी नहीं सकते थे। जो कुछ संशोधन हुआ और उससे जो कुछ लाभ पहुंच सकता था वह किसानों को मिला, पर मामला तय नहीं हुआ। चुनाव के समय तक पार्टी भी कुछ असंगठित हो गयी। चुनाव में यह भी पता चल गया कि किसानों को जमींदारों से मिलाने का प्रयत्न भी सफल नहीं हुआ। कांग्रेस के घोषणा-पत्र में किसानों की दशा सुधारने पर जोर दिया गया। जमींदार भी जानते थे कि इस विषय में मंत्रिमंडल जरूर जल्दी कुछ-न-कुछ करेगा ही। वे भी चाहते थे कि यदि सलाह से कोई बात हो जाये तो उनके लिए भी अच्छा होगा; क्योंकि तब वे इस बदनामी से बच जायेंगे कि वे अपने स्वत्वों पर चिपके रहे और कांग्रेस ने जबरदस्ती कानून बनाकर किसानों की भलाई की। मिनिस्ट्री बनने के बाद ही उनके कुछ मुखिया मंत्रिमंडल से मिले। उन्होंने यह सवाल पैदा किया कि लगान-कानून और किसानों की दशा सुधारने के संबंध में गवर्नमेंट जो कुछ करना चाहे उसके लिए जमींदारों से बातें कर ले। वे तैयार भी थे कि यथासाध्य वे सहायता करेंगे। मंत्रिमंडल की राय हुई, जिससे मैं भी सहमत था, कि लगान-कानून के संशोधन के संबंध में यदि कोई चीज बातचीत से तय हो जाये तो अच्छा होगा; क्योंकि उस हालत में जो भी कानून बनेगा वह जल्द और आसानी से

असेम्बली तथा कौंसिल में पास हो सकेगा। उससे किसानों को गवर्नमेंट जल्द-से-जल्द लाभ भी दिलवा सकेगी और आपस का वैमनस्य भी घटेगा। जमींदार विरोध करके कानून का बनाना रोक तो नहीं सकेंगे; क्योंकि कांग्रेस का बहुत बड़ा बहुमत था, पर हर कदम पर वैध तरीके से बहस-मुबाहसे के द्वारा कुछ समय तक रोक सकेंगे।

कांग्रेस का निश्चय था नये विधान को नामंजूर करने अर्थात उसे विफल बनाने का। हो सकता है कि जल्द ही कुछ अनुभव के बाद मंत्रिपद छोड़ देने का निश्चय करना पड़े, इसलिए जो कुछ हो सके और जहां तक जल्द हो सके, जनता की सेवा और भलाई हो जाये तो ठीक रहेगा। इसके अलावा जमींदार धनी हैं, अपना प्रबंध कर लेने की शक्ति रखते हैं; पर किसान गरीब हैं और उतने संगठित नहीं हैं। कानून बनने पर भी उसको बेकार बनाने के हजारों तरीके वकील निकाल सकते हैं। यदि संशोधन झगड़े के बाद होगा तो गवर्नमेंट की कोशिशों के बाद भी उससे लाभ उठाने में किसानों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। इन सब विचारों से मंत्रिमंडल ने, मेरी सम्मति से, चाहा कि यदि कोई बात सुलह से तय हो सके तो अच्छा होगा। हां, यदि सुलह के प्रयत्न से कोई संतोषजनक फल न निकले तो फिर जैसा मुनासिब होगा, किया जायेगा। सुलह के प्रयत्न से, विशेषकर जब जमींदार भी उसे चाहते थे, लाभ ही होगा। इसलिए सोचा गया कि समय पाकर मैं उनसे बातचीत आरम्भ करूं। पार्लियामेंटरी कमिटी के एक सदस्य मौलाना आजाद भी थे। जमींदार उनसे भी मिले। उन्होंने भी इस बात को पसंद किया। इस तरह मौलाना आजाद और मैं, दोनों मिलकर पटने में जमींदारों के प्रतिनिधियों से बातें करने लगे।

इस संबंध में एक प्रश्न यह भी था कि किसान सभा अथवा उसके मुख्य कार्यकर्ताओं से हमारा क्या संबंध रहेगा? हम यह मानते थे कि कांग्रेस के प्रति किसानों का पूरा विश्वास था और हम भी उनके हितों का विचार करके, उनकी भलाई के लिए, जो कुछ हो सकता था, कर सकेंगे। हम जमींदारों और किसानों को छोड़ दें और वे आपस में समझौता कर लें तो यह सबसे अच्छा होगा। पर जहां तक हम देख और समझ सकते थे, इसकी आशा नहीं होती थी कि दोनों पक्ष किसी बात पर राजी हो सकेंगे। इसलिए हमको बीच में पड़ना ही पड़ेगा। हम कांग्रेस को इसके लिए योग्य भी समझते थे। हम जानते थे कि जब कोई बात समझौते से तय होती है तो उसमें किसी पक्ष की पूरी बात नहीं मानी जा सकती, दोनों को कुछ-न-कुछ उतरना या झुकना पड़ता है। इसलिए उन दोनों पर भार न छोड़कर यदि कांग्रेस ही यह काम कर ले तो बुरा न होगा। इसका एक नतीजा तो किसानों के हक में यह जरूर रहेगा कि जो रियायत उनको मिलेगी उसे वे खुले पेशानी से ले सकेंगे और उससे जो ज्यादा वे जरूरी समझेंगे उसे मांगते रहेंगे; क्योंकि वे किसी समझौते के बंधन से बंधे नहीं होंगे। यह बात जमींदारों से भी कह दी गयी। उन्होंने भी इसे समझ लिया कि हम किसान सभा की ओर से बातें नहीं कर रहे हैं, यद्यपि उनके नेताओं से भी हम बातों में बराबर राय लेते रहेंगे।

एक दूसरी बात और तय कर लेनी थी। क्या यह समझौता केवल लगान-कानून के संबंध में ही होगा अथवा यह अन्य विषयों से भी संबंध रखेगा ? गवर्नमेंट को आमदनी बढ़ाने की जरूरत थी। उसके लिए वह एक नया 'कर' बैठाना चाहती थी जिसमें जमींदारों को विशेष देना पड़ेगा। हमने सोच लिया कि हो सके तो उसको भी हम समझौता द्वारा ही तय कर लेंगे। कई दिनों तक बातचीत चली। सदाकत आश्रम में ही बैठक होती। मैं कुछ अस्वस्थ भी था। इसलिए लोग मुझे आने-जाने के कष्ट से बचा देना भी चाहते थे। सभी प्रश्नों पर जमींदारों की राय सुन लेते, मंत्रिमंडल से भी बातें कर लेते, उनकी राय अच्छी तरह समझ लेते, किसानों के नेताओं से भी बातें करके उनकी राय भी जान लेते। इस तरह, सब दृष्टिकोणों से पूरी तरह विचार करने के बाद, कुछ तय कर लेते जिसे हम और जमींदार दोनों स्वीकार करते।

तीन-चार प्रश्न मुख्य थे। लगान में जो कमी होनी चाहिए वह किस तरह और किस परिमांण में हो कि किसी के साथ बेइंसाफी न हो और सबको लाभ भी पहुंच सके ? यह सरसरी तौर पर रुपये में कुछ आने लगान कर देने से हो सकता था। पर सारे सूबे की एक-सी स्थिति नहीं थी। सूबे में काश्तकारी जमीन पर चार आने से बीस-पचीस रुपये बीघे तक लगान लगता है। कहीं हाल में ही मालगुजारी में बढ़ती या इजाफा हुआ है और कहीं नहीं हुआ है—कहीं इजाफा बहुत अधिक हुआ है, कहीं बहुत थोड़ा और कहीं बिलकुल नहीं। कहीं भावली लगान बदलकर नकदी कर दिया गया है और कहीं तो ऐसा हुआ ही नहीं है। यदि सभी जगहों में हरसट्टे एक ही दर से लगान घटा दिया जाये तो कुछ किसान बहुत मुनाफे में रह जायेंगे, कुछ को केवल नाम-निहादी रियायत मिलेगी, कुछ जमींदारों के प्रति अन्याय हो जायेगा और कुछ मजे में बच जायेंगे। खासकर जो किसान, बहुत कड़ा लगान होने के कारण, बहुत कष्ट में हैं उनको बहुत थोड़ी रियायत मिलेगी; या इसे यों कहें तो अत्युक्ति न होगी कि जिस किसान पर अधिक बोझ है वह तो प्रायः वैसा-का-वैसा ही बोझ ढोता रह जायेगा और जिस पर बोझ कम है उस पर और भी कम हो जायेगा—जिसको रियायत की सबसे अधिक जरूरत है उसे वह नहीं के बराबर मिलेगी और जिस पर पहले से ही किफायत लगान है उसको और भी अधिक रियायत मिल जायेगी। इसलिए सरासरी लगान घटाने की बात जमींदारों ने और हमने नामंजूर कर दी। एक ऐसा नुस्खा निकाला गया जिससे खासकर वहां अधिक रियायत मिले जहां बहुत अधिक लगान हो गया है, चाहे वह इजाफा के कारण हो या भावली से नकदी लगान कर देने के कारण; और जहां कम है वहां कम रियायत मिले या बिलकुल न मिले। हमने मोटामोटी हिसाब लगाकर सोचा था कि इस तरह सारे सूबे के लगान में एक रुपये में चार आना घट जायेगा। कहीं-कहीं तो रुपये में आठ-दस आने तक की कमी होगी और कहीं-कहीं बिलकुल नहीं। जिस जमींदार ने जितनी शक्ति से काम लिया होगा और जितना लगान बढ़ाया होगा उसकी आमदनी उसी मात्रा में अधिक या कम

होगी। जिसने कम बढ़ाया होगा उसकी आमदनी कम घटेगी। अंत में, जब गवर्नमेंट के कर्मचारियों ने लगान में कमी की कार्रवाई की और लगान में कमी की गयी, तो मालूम हुआ कि हम लोगों का वह अंदाजी हिसाब—कि सूबे में एक-चौथाई लगान कम हो जायेगा—प्रायः ठीक ही निकला।

दूसरा प्रश्न था किसानों को अपनी काश्तकारी हस्तांतरित करने का। बंगाल लगान-कानून के अनुसार, जो बिहार में भी लागू होता था, यह हक उनको मामूली तौर पर नहीं था। इसलिए कोई काश्तकार काश्तकारी बेच नहीं सकता था। पर वकीलों की बुद्धि और जजों के फैसले ने कानून को घोल-मट्ठा बना रखा था। जो आदमी कानूनदां न होता उसके लिए यह समझ लेना आसान न था कि काश्तकारी जमीन किस हालत में और किस तरह से हस्तांतरित की जा सकती है—एकबारगी बेचकर या सूद-भरना लगाकर या जरपेशगी करके; और यदि हस्तांतरित की जा सकती है तो किस मात्रा में—सब-की-सब जमीन या उसका कुछ हिस्सा मात्र, और यदि हिस्सा मात्र ही तो वह भी कितना? ऐसे बहुतेरे जटिल प्रश्न उठे थे। समय-समय पर हाइकोर्ट के फैसले भी हुए थे; कभी दो जजों ने फैसला किया तो उस पर पुनर्विचार तीन या पांच जजों ने किया, कभी फैसला बदला गया तो कभी उसमें कुछ और नयी बारीकी ला दी गयी। बंगाल से बिहार के अलग हो जाने पर यहां के हाइकोर्ट ने अपना ही विचार रखा, जो हमेशा कलकत्ते के विचार से नहीं मिलता था। इसलिए यह आवश्यक था कि इस विषय में कानून साफ हो जाये जिसे सभी लोग, विशेषकर किसान, आसानी से समझ सकें। इसके दो तरीके थे, या तो हस्तांतरित करने का अधिकार बिलकुल न दिया जाये और कानूनन इसे एकबारगी बंद कर दिया जाये, या यह अधिकार पूरा-पूरा दे दिया जाये और इसमें किसी प्रकार की रुकावट न रहे। किसान सभा के लोग निर्विवाद रूप से जमीन बेचने की मुकम्मिल आजादी चाहते थे। जमींदार इसे मंजूर नहीं करते थे; क्योंकि उनका दावा था कि जमीन उनकी है और उन्होंने केवल आबाद करने के लिए ही उसे किसान को दी है, इसलिए किसानों को हक बेचने का नहीं है—हां, यदि जमींदार बेचने की अनुमति दे दे तो वे बेच सकें। इस विषय में किसान सभा का बहुत ही जोर था।

मेरा अपना विचार था और आज भी है कि बिना रोक-टोक यदि जमीन बेचने का हक किसानों को दे दिया जाये, तो इसका नतीजा यह होगा कि छोटे-छोटे किसानों के हाथ से जमीन निकलकर दूसरों के हाथ में चली जायेगी; इसलिए उनकी रक्षा के ख्याल से उनको यह अधिकार पूरी तरह नहीं मिलना चाहिए। मैं समझता हूं कि आज भी इस बात की यदि जांच की जाये तो पता लग जायेगा कि इस तरह बहुत-सी जमीन कुछ दिनों के बाद गरीबों के हाथ से निकलकर धनी लोगों के हाथों में चली जायेगी और खेत-हीन मजदूरों की संख्या बहुत बढ़ जायेगी। यह मेरा व्यक्तिगत विचार था। पर मैं जानता था कि जितने बोलने वाले किसान थे, इसके विरोधी थे। जमींदारों ने भी अपने संशोधन वाले कानून में एक प्रकार से

हस्तांतरित करने के अधिकार को पूरा-पूरा मान लिया था—केवल एक शर्त रखी थी कि जमीन बिक्री करने पर उनको कुछ मिल जाया करे। हमने भी उनसे तय किया कि बेचने का अधिकार वैध हो जाये, पर जो सलामी जमींदार को मिलती थी वह और भी कम हो जाये।

तीसरी बात यह थी कि लगान यदि बाकी रह जाये तो जमींदार को बिहार में यह हक नहीं था कि लगान बाकी रखने के कारण किसान को वह खेत से बेदखल कर दे। वह अदालत में बाकी लगान के लिए नालिश करके डिग्री हासिल कर सकता था और उस डिग्री को जारी कराकर उसके सारे जोत को नीलाम करवा सकता था। किसानों की शिकायत थी कि थोड़ा माल बाकी रह जाने पर भी सारा जोत नीलाम हो जाया करता है जिससे उनका बहुत नुकसान होता है। जमींदारों का कहना था कि बगल के सूबे युक्तप्रदेश में बाकी लगान के लिए रैयत अपनी जमीन से बेदखल किया जा सकता है, यहां तो उससे बहुत कम कड़ाई होती है; यदि किसानों पर इतना दबाव भी न रहेगा तो वे लगान देने में बहुत आनाकानी करेंगे और वसूल करने में जमींदार की दिक्कत और भी बढ़ जायेगी। इसके बारे में यह तय हुआ कि लगान जितना बाकी पड़े उतनी ही कीमत की जमीन नीलाम की जाये, सारा जोत नहीं। हां, जो रैयत बराबर लगान बाकी रखता चले और अदालत उसे इस तरह का हमेशा बाकी लगाने वाला असामी करार दे तो उसका सारा जोत नीलाम किया जा सकता है।

चौथी बात भावली के संबंध में थी। बिहार के पटना, गया और कुछ हिस्सा मुंगेर के जिलों में बहुत करके यह प्रथा जारी थी कि पैदा हुए गल्ले के एक हिस्से के रूप में लगान नगदी होकर मिलता था। अक्सर आधी पैदावार जमींदार को और आधी किसान को बांट दी जाती थी। बांटने के भी दो तरीके थे। खेत में जो कुछ गल्ला पैदा होता था, जमींदार के सामने ही दौनी-ओसौनी करके खलिहान में तैयार किया जाता था। फिर तौलकर उसके दो हिस्से कर दिये जाते थे जिनमें से एक किसान लेता था और दूसरा जमींदार; इसे भावली बटाई कहते थे। दूसरा तरीका यह था कि जब फसल पककर करीब-करीब तैयार हो जाती तो जमींदार का एक गुमाश्ता या खुद जमींदार खेत के एक छोटे हिस्से की फसल काटकर देख लेता कि कितना गल्ला हुआ और उसी हिसाब से सारे खेत की पैदावार कूत ली जाती, जिसका आधा जमींदार का समझा जाता जो वह समय पर वसूल कर लेता। इसे दानाबंदी कहते थे। बटाई में रैयतों की शिकायत थी कि जब तक जमींदार का आदमी हाजिर न रहे वे फसल को काट नहीं सकते; जब जमींदार उनको कष्ट पहुंचाना चाहते तब दानाबंदी करने जाते ही नहीं अथवा और किसी कारण से यदि देर कर देते हैं तो वे (किसान) अपने खलिहान में तैयार गल्ला रखकर भी अन्न के बिना कष्ट पाते हैं, और यदि वे जमींदार की गैरहाजिरी में गल्ला तैयार करके अपने घर उठा ले जायें तो जमींदार उन पर दबाव डालकर उनसे मनमाना वसूल कर लेते हैं, और दबंग जमींदार तो कई तरह के झूठे दावे भी कर देते हैं। दानाबंदी के संबंध में भी रैयतों की शिकायत होती कि हमारे खेतों की पैदावार का मनमाना तखमीना

लगाकर दानाबंदी कर दी जाती है और नाम के लिए तो पैदावार का आधा ही जमींदार को देने की बात होती है; पर वास्तव में हमें उनको बहुत अधिक देना पड़ता है। कानून में पहले एक दफा थी जिसके द्वारा रैयत और जमींदार दोनों को यह हक दिया गया था कि अगर वे भावली रखना न चाहें तो अदालत के द्वारा भावली को नकदी बनवा सकते हैं। अदालत, सब बातों पर विचार करके, जिनमें पिछले कई वर्षों की वसूली का औसत भी एक मुख्य जुज था, जो मुनासिब समझे, नकदी लगान मुकर्रर कर दे सकती है।

1914-18 के योरपीय महायुद्ध के बाद बड़ी महंगी का समय आया। किसानों को गल्ले का आधा हिस्सा देना जब्र मालूम हुआ। बहुतेरों ने अदालत द्वारा नकदी लगान मुकर्रर करा लिया। पर महंगी में गल्ले की कीमत ज्यादा होने के कारण वसूली का औसत भी ज्यादा हुआ। जब 1929-30 के बाद बहुत सस्ती आ गयी तो वह नकदी लगान किसी तरह अब पैदावार से अदा नहीं हो सकता था। लगान घटाने के कारणों में यह एक मुख्य कारण था। ऊपर कहा गया है कि जहां लगान ज्यादा हो गया था वहां ज्यादा घटाया गया। अब इस संशोधन से निश्चय किया गया कि रैयत की दर्खास्त पर भावली के बदले में नकदी लगान जरूर कर दिया जाये और मालिक का हिस्सा भी आठ आने के बदले कुछ कम कर दिया जाये। कुछ कम कर भी दिया गया।

लगान-कानून के मुख्य संशोधन यही थे। इसके अलावा गवर्नमेंट एक नया 'कर'—एग्रिकल्चरल इनकम टैक्स—लगाना चाहती थी। उसके संबंध में भी जमींदारों से समझौता हुआ कि वह किस पर लगाया जायेगा, उसकी क्या दर होगी और उससे कौन बच सकेंगे। यह सब मैंने मोटा-मोटी बतला दिया। पर इन सबमें तफसीली बातें बहुत थीं जिनके तय करने में बहुत समय लगा। मेरे और मौलाना आजाद के साथ बातें तय हो जाने के बाद कानून बनाने और कानून के शब्दों को ठीक करने में भी बहुत समय लगा। बहुत बातचीत भी करनी पड़ी। प्रधानमंत्री ने कानून बनाते समय उन लोगों से बातचीत तय की। इस समझौते का यह असर हुआ कि यह कानून दोनों पक्षों की सम्मति से चंद महीनों के अंदर ही पास हो सके, और 1938 में ही गवर्नमेंट ने अपने बहुतेरे अफसरों को—जो बिलकुल नये थे और केवल इसी काम के लिए बहाल किये गये थे—तैनात कर दिया कि वे नये कानून के अनुसार रैयतों के लगान घटाकर उनके खतियान (Records of right) को दुरुस्त कर दें।

जब 1939 के नवम्बर में कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने इस्तीफा दे दिया तो बिहार में लगान घटाकर खतियान दुरुस्त करने का काम प्रायः पूरा हो चुका था और नया 'कर' भी जमींदारों पर लग चुका था। ऐसा और किसी सूबे में नहीं हो पाया। युक्तप्रदेश में सुलह नहीं हुई। वहां कानून बनाने में कदम-कदम पर जमींदारों के विरोध का मुकाबला करना पड़ा। यद्यपि इस्तीफा के कुछ पहले तक कानून वहां पास हो चुका था, तथापि उस पर गवर्नर की मंजूरी इस्तीफा के बाद मिली। मुझे नहीं मालूम कि उसके अनुसार कहां तक और कब कार्रवाई की

गयी। उड़ीसा में कानून पास ही न हो सका। मद्रास में मंत्रिमंडल ने एक कमिटी मुकर्रर की। उसने बहुत परिश्रम से रिपोर्ट तैयार की। लेकिन इस पर काम होने के पहले ही मंत्रिमंडल ने इस्तीफा दे दिया। वह रिपोर्ट ज्यों की त्यों पड़ी रह गयी। बंगाल में यद्यपि कांग्रेसी मंत्रिमंडल नहीं था तथापि, वहां भी एक कमिटी बनी। उसने भी रिपोर्ट दी जिस पर अभी तक कोई काम नहीं हुआ है। बिहार में इस समझौते से किसानों को जल्द-से-जल्द रियायत दी जा सकी। चूंकि सब बातें समझौते से तय हुई थीं, इसलिए आपस में वैमनस्य बहुत नहीं बढ़ा—यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि मंत्रिमंडल पर दोनों पक्ष वार करते रहे, जमींदार भी शिकायत करते और किसान सभा के लोग भी! मेरा विश्वास है कि यदि किसान सभा के लोग बुद्धिमानी से काम लेते और मंत्रिमंडल की कार्रवाई से लाभ उठाते हुए अपनी और-और शिकायतों के भी दूर करने के प्रयत्न में लगे रहते, तो मंत्रिमंडल और भी काम कर सकता। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे जमींदारों से भी अधिक मंत्रिमंडल पर ही वार करते रहे। उसकी दिक्कतों के बढ़ाने में उनका काफी हाथ रहा।

एक चीज के बारे में कोई माकूल बात तय नहीं हो पायी थी जिसके कारण मंत्रिमंडल को काफी तकलीफ उठानी पड़ी और किसान सभा को भी उसकी शिकायत या बदनामी करने का काफी मौका मिला। जो जमीन बाकी लगान के लिए नीलाम कराकर जमींदार खरीद लेता है वह अगर किसी भी काश्तकार रैयत के साथ बंदोबस्त कर दी जाये, तो बंदोबस्ती के साथ ही उस रैयत को काश्तकारी का हक हो जाता है। कई जगहों में जमींदारों के पास इस तरह की नीलाम में खरीदी हुई रैयती जमीन बहुत पड़ी थी। इसे कानूनी भाषा में 'बकाश्त मालिक' कहते हैं। वे रैयतों को काश्तकारी हक नहीं देना चाहते थे; क्योंकि एक बार काश्तकारी हक हो जाने पर रैयत का जमीन पर पूरा हक हो जाता है। वह उसके मरने के बाद उसके वारिस को भी मिलती है। मालिक केवल लगान वसूल कर सकता है, रैयत को बेदखल नहीं कर सकता और अब तो वसूली में सारे जमा को नीलाम नहीं करा सकता था। इसलिए जमींदार, यदि हो सके तो, उसे स्वयं जोतना चाहते थे अथवा किसी-न-किसी उपाय से बाजाब्ता बंदोबस्त करके रैयत को काश्तकारी हक हासिल होने देना नहीं चाहते थे। उधर रैयत देखते थे कि अगर हम काश्तकारी हक पर बहुत जोर देते हैं तो जमींदार जमीन देता ही नहीं, अपने कब्जे में रख लेता है। इसलिए बहुतेरे रैयत इस हक की ओर ध्यान न देकर, साल-भर के लिए ही सही, जोतने के लिए जमीन लेते और फिर जमींदार साल के अंत में चाहे वापस ले लेता या इस शर्त पर छोड़ देता कि वे हक-काश्तकारी का दावा न करें। इस तरह, ऐसी जमीन बहुत थी जिस पर कानूनी तौर से तो हक-काश्तकारी हो गया होगा, पर उस हक के साबित करने का कोई साधन या प्रमाण रैयत के पास नहीं था। बड़ी जमींदारियों में, नीलाम में खरीदी हुई जमीन अक्सर फिर बंदोबस्त कर दी जाती होगी; क्योंकि वे सारी जमीन को खुद आबाद कराने का भार नहीं ले सकतीं। पर छोटे-छोटे जमींदार इसे आसानी

से कर सकते थे। कुछ बड़े जमींदार भी अब मोटर वाले हलों के द्वारा बड़े पैमाने पर खेती करने की बातें सोच रहे थे। इसलिए वे बकाश्त जमीन को किसानों के कब्जे में नहीं जाने देना चाहते थे। इस झगड़े का कोई निपटारा उस समय नहीं हो सका। कई जगहों में किसानों ने इस तरह की बकाश्त जमीन पर जाकर सत्याग्रह द्वारा कब्जा करना चाहा। गवर्नमेंट को यह रोकना पड़ा। जब तक कांग्रेस मंत्रिमंडल रहा, यह झगड़ा जारी रहा। इसके कारण उसे बहुत शिकायतें और गालियां सुननी पड़ीं। पर कांग्रेसी मंत्रिमंडल के इस्तीफा के बाद यह झगड़ा खुद-ब-खुद खत्म हो गया-सा मालूम पड़ता है; क्योंकि इसके बाद सत्याग्रह की बात कहीं सुनने में नहीं आयी। इस समझौते के आधार पर किसान सभा के कुछ लोगों ने मंत्रिमंडल के साथ मेरी भी काफी शिकायत जहां-तहां फैलायी। पर मैं समझता हूं कि इस समझौते के द्वारा हमने किसानों के लिए जितनी रियायत दिलवा दी उतनी किसी सूबे में नहीं मिली।

किसान सभा समझौते में शरीक नहीं थी। उसको पूरा हक था कि इससे जो लाभ हो उसे वह ले ले और बाकी के लिए अपनी मांगें बनाये रखे, मंत्रिमंडल और जमींदारों पर उनके लिए तकाजा करती रहे और बेकार झगड़े में अपनी शक्ति का अपव्यय न करके उसे रचनात्मक रीति से किसानों की दशा सुधारने में लगावे। पर दुर्भाग्यवश उसकी शक्ति का बड़ा हिस्सा मंत्रिमंडल के विरोध में ही खर्च हुआ। जहां सत्याग्रह ठाना गया वहां मंत्रिमंडल को काफी कष्ट उठाना पड़ा, बदनामी भी उठानी पड़ी।

124

कानपुर की मजदूर कमिटी और मेरी सख्त बीमारी

इस समझौते को पूरा करते-करते मैं बीमार पड़ गया। कुछ दिनों के लिए,1937-38 के जाड़ों में, अपने गांव चला गया। कुछ आराम करके मुझे फिर कानपुर की मजदूर कमिटी के काम में लगना था, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। मैं वर्किंग कमिटी की बैठक में वर्धा गया। वहीं से कानपुर आने वाला था। रास्ते में शायद कुछ खाने में गलती हो गयी। पीछे शक हो गया कि खाने में जहर का असर आ गया था। जब लखनऊ होते कानपुर पहुंचा तो तबीयत खराब हो गयी। पर कमिटी का काम करता गया। जहां तक जांच का काम था, समाप्त किया। इस कमिटी में कुछ मुझ जैसे तटस्थ लोगों के अलावा मिल-मालिक और मजदूर दोनों के प्रतिनिधि भी मेम्बर थे। जल्दी ही हमें इस बात का अनुभव हुआ कि दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों को साथ लेकर कमिटी का काम पूरा करना कठिन होगा; यदि ऐसे लोग मेम्बर होते जो मिल-मालिकों और मजदूरों की बात समझ-बूझकर अपनी राय दे सकते— जो सीधे उनके ऐसे प्रतिनिधि न होते जिनको उनके कहने के मुताबिक ही राय देनी पड़े, तो इतनी कठिनाई न होती। वहां भी शायद उन पर ऐसी मजबूरी नहीं थी। पर सारी जांच एक ही जगह और उस जगह के भी एक ही प्रकार के कारखाने के संबंध में थी। वहीं के मिल-मालिकों और वहीं के मजदूरों के प्रतिनिधियों के लिए अपनी नैतिक जिम्मेदारी भी आ जाती थी कि वे उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करें। इन विचारों से गवर्नमेंट ने श्री शिवराव को एक सदस्य मुकर्रर कर दिया जिनको मद्रास प्रांत में मजदूर संगठन का काफी अनुभव था। प्रो. रुद्र पहले से ही मेम्बर थे। यद्यपि मिल-मालिक और मजदूर सभा के प्रतिनिधि जांच-कमिटी के सामने पेश होने वाले कागजों और गवाहियों के संबंध में पूछ-ताछ और जिरह वगैरह कर सकते थे, और उन्होंने किया भी, तथापि अंतिम रिपोर्ट का भार हम तीनों पर ही रह गया। मैं बीमार होने पर भी इजहार लेने वगैरह का काम समाप्त कर सका। हां, मिलों में घूमकर मैं सब बातें देख न सका; क्योंकि बहुत कमजोर हो गया था। इसलिए काम समाप्त करके मैं पटने आया। सोचा कि कुछ आराम करके, और मेम्बरों से मिलकर, रिपोर्ट तैयार की जायेगी।

पटने में प्रांतीय कमिटी की बैठक थी। उसमें उस लगान कानून संबंधी समझौते पर विचार होने वाला था। वहां बहुत बहस हुई। प्रांतीय कमिटी ने उसे बहुत बड़े बहुमत से मंजूर किया। पर मुझे अभी कानपुर की कमजोरी सता रही थी। यहां भी काफी परिश्रम पड़ा। मैं प्रायः दो बार काम करते-करते बेहोश हो गया। पर मैंने अपनी इस दशा को किसी पर जाहिर नहीं होने दिया। मैं चाहता था कि उसी दिन काम पूरा करके, आराम करने के लिए, जीरादेई चला जाऊं। उसी इरादे से चला भी। अनुग्रह बाबू गया जिले में किसी काम से गये थे। वहां दाऊदनगर के पास, रात के समय, उनकी मोटर सड़क की पटरी से उतरकर दरख्त से लड़ गयी। वह बहुत सख्त घायल हो गये। उनके साथ पंडित पारसनाथ त्रिपाठी थे जो वहीं मर गये। मोटर चलाने वाला भी घायल हुआ, पर विशेष नहीं। अनुग्रह बाबू किसी तरह पटने लाकर अस्पताल में रखे गये। मेरे कानपुर जाने के पहले ही यह घटना हो चुकी थी। मैं उनके कष्ट को देखकर बहुत दुखी रहता। मैंने सोचा कि जीरादेई जाने के समय उनको अस्पताल में देखकर उधर ही से स्टीमर पर चला जाऊंगा—ऐसा ही किया भी। पर स्टीमर पर पहुंचते-पहुंचते कुछ ऐसा परीशान हो गया कि वहां जाकर तुरंत लेट गया। बड़ी कठिनाई से किसी तरह सोनपुर की गाड़ी में सवार हो सका। पर इत्तफाक से मेरा भतीजा जनार्दन जमशेदपुर से छुट्टी में उसी गाड़ी से घर आ रहे थे। उन्होंने मेरे लिए जगह बनायी।

हम दोनों भंटापोखर स्टेशन पर रात के नौ बजे पहुंचे। वहां रेल से उतरते ही जोरों से कै आना शुरू हो गया, जैसा कानपुर में भी हुआ था। मैं किसी तरह पालकी पर जीरादेई पहुंचा। मैं सोचता था कि वहां कुछ दिन आराम कर लेने से सब अच्छा हो जायेगा। पर रात को हालत खराब हो गयी। जनार्दन और मृत्युंजय उस दिन वहीं थे। हालत बिगड़ती देख पटने में खबर कर दी। सीवान के डाक्टर सवेरे पहुंचे। कुछ देर के बाद छपरे से भी डाक्टर सूर आ गये। सबको शक था कि खाने में जहर का असर था। वे उसी की चिकित्सा करने लगे। रात में पटने से डाक्टर बनर्जी और डाक्टर शरण भी पहुंच गये। दो-तीन दिनों में हालत सुधरी। मगर अब जोरों से दमा का दौरा शुरू हो गया। डाक्टर घोषाल भी पटने से पहुंच गये थे। एक सप्ताह तक वहीं पर दवा होती रही। ज्यों ही डाक्टरों ने देखा कि मैं पटने लाने लायक हो गया हूं, वे मुझे पटने ले आये। यहां मैं अस्तपाल में ही रखा गया। घर के लोग भी साथ थे। बीमारी कुछ दिनों तक जोर पर रही। पर आहिस्ता-आहिस्ता कम हुई। कुछ दिनों में मैं भी उसी काटेज में ले जाया गया जहां अनुग्रह बाबू थे। यद्यपि हम दोनों एक ही जगह थे—वह नीचे के कमरे में और मैं ऊपर के, तथापि हम लोग कई दिनों तक मिल नहीं सके। वह तो चारपाई पर करवट भी नहीं बदल सकते थे। मैं सीढ़ी पर उतर-चढ़ नहीं सकता था। वहीं प्रायः दो महीनो तक मैं रहा। आहिस्ता-आहिस्ता कुछ शक्ति भी शरीर में आयी। कुछ दिनों के बाद मै नीचे उतर कर आता और अनुग्रह बाबू के पास बैठता। वह

चारपाई पर लेटे-लेटे सरकारी कागजों को देखकर उन पर हुक्म लिखा करते। शुरू के चंद दिनों को छोड़कर, जब वह एकदम लाचार थे और कुछ काम नहीं कर सकते थे, उन्होंने बराबर काम जारी रखा।

125

मंत्रिमंडल का इस्तीफा और हरिपुरा कांग्रेस

जब हम दोनों उसी मकान में थे, हरिपुरा कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। हम दोनों नहीं जा सके। कांग्रेस ने जुलाई 1937 में मंत्रिमंडल बनाया था। हरिपुरा अधिवेशन 1938 की फरवरी में हुआ। उन सात-आठ महीनों में मंत्रिमंडल ने अपना काम सभी सूबों में जोरों से शुरू कर दिया था। पर अभी तक कोई काम पूरा नहीं हो सका था। इसी समय एक अड़चन आ पड़ी। कांग्रेस के चुनाव-पत्र में एक वादा यह भी था कि हम राजबंदी लोगों को छुड़ायेंगे। इसका प्रयत्न वे करने लगे, पर पूरी सफलता न होती। इसी बीच अंडमान टापू के राजबंदियों ने अनशन आरम्भ कर दिया। बहुत कष्ट के बाद भारत सरकार इस बात पर राजी हुई कि वे टापू से हटाकर हिन्दुस्तान में अपने-अपने सूबे में भेज दिये जायें। जब वे यहां आ गये तो अब प्रायः प्रांतीय सरकारों के अधिकार में हो गये। इस तरह उनको मुक्त करने का प्रश्न आया। मंत्रिमंडल उन्हें छोड़ना चाहता था। पर गवर्नर इस पर राजी नहीं होते थे। मेरी बीमारी की हालत में ही मौलाना अबुल कलाम आजाद पटने आकर मुझसे अस्पताल में मिले। मैं उनसे बहुत बातें न कर सका। वह यहां से जाकर सरदार वल्लभभाई और महात्माजी से मिले। सबका फैसला हुआ कि गवर्नर यदि उन बंदियों को छोड़ने पर राजी न हों तो मंत्री लोग इस्तीफा दे दें। युक्तप्रदेश और बिहार में मंत्रिमंडल ने बहुत जोर लगाया, पर गवर्नर राजी न हुए। अंत में, हरिपुरा कांग्रेस में जाने के पहले, मंत्रिमंडल ने दोनों जगहों में इस्तीफा दे दिया। उसे गवर्नर ने उस समय मंजूर नहीं किया। यह कहकर बात टाल रखी कि जब तक वह इस बात पर विचार करते हैं और दूसरे मंत्री ढूंढ़ते हैं तब तक वे काम जारी रखें। बिहार के और मंत्री लोग तो हरिपुरा चले गये, सिर्फ अनुग्रह बाबू चारपाई पर पड़े काम करते रहे। मैं भी वहीं उनका साथ देता रहा।

इस इस्तीफा का असर देखना था। यद्यपि एक प्रकार से वायसराय और गवर्नरों ने अपने विशेष अधिकार को काम में न लाने का वचन दे दिया था, तथापि यह पहला ही अवसर था जब उन्होंने उसे काम में लाना चाहा। कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने, युक्तप्रांत और बिहार में, उसे नहीं माना, पदत्याग कर दिया। यह बात सारे देश में और ब्रिटिश गवर्नमेंट पर भी जाहिर हो गयी कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल अपनी बात पर अड़ा रहेगा, यदि वह ऐसा न करने

पावेगा तो पद-त्याग कर देगा—अपनी बात न छोड़ेगा। यह पहला इम्तहान था जिसमें ब्रिटिश गवर्नमेंट और मंत्रिमंडल दोनों की परीक्षा हो रही थी। ब्रिटिश गवर्नमेंट ने मंत्रिमंडल की बात मान ली और राजबंदियों को छोड़ने का भार उन पर ही दे दिया। वहां हरिपुरा में इस्तीफा की खबर पहुंचते ही वायुमंडल एकदम बदल गया। जो लोग मंत्रि-पद के विरोधी थे, और कहा करते थे कि मंत्रि-पद ग्रहण कर लेने पर ये लोग अपनी जगहों के साथ चिपके रह जायेंगे तथा अपने वादे भी भूल जायेंगे, उनकी भी आंखें खुल गयीं—यदि वे सचमुच ऐसा मानते थे तो उनको भी अपने विचार बदलने पड़े। मैं तो कांग्रेस में जा ही न सका; पर जो कुछ सुना उससे मालूम हुआ कि इस इस्तीफा के कारण जो थोड़ा-बहुत विरोध मंत्रि-पद ग्रहण करने के संबंध में था वह अब जाता रहा।

हरिपुरा कांग्रेस का समारोह भी अपूर्व था। श्री सुभाषचन्द्र बोस सभापति थे। वहां का प्रबंध इतने बड़े पैमाने पर और इतने खर्च के साथ किया गया था कि उसका मुकाबला अभी तक और किसी अधिवेशन ने नहीं किया। हम लोगों के अस्पताल में रहते-रहते ही हरिपुरा से लोग वापस आ गये। इस्तीफे भी वापस हो गये। मंत्रिमंडल फिर काम करने लगा। अभी तक जो कार्यक्रम बन चुके थे उनका काम सात-आठ महीनों में पूरा नहीं हो पाया था, इसलिए मंत्रिमंडल का फिर अपनी जगह पर आ जाना अच्छा ही हुआ। अब अधिक उत्साह के साथ काम होने लगा; क्योंकि कोई कह नहीं सकता था कि कब और किस विषय को लेकर फिर इस्तीफा देना पड़े, इसलिए जो कुछ हो सके, कर गुजरना ही अच्छा होगा।

126

बिहार की मजदूर कमिटी

मंत्रिमंडल ने निश्चय किया कि बिहार के मजदूरों की हालत जांचने और सुधारने के लिए एक कमिटी बनायी जाये। कानपुर का काम एक प्रकार से समाप्त हो चुका था। इसलिए मैं अब इस काम को अपने हाथ में ले सकता था। कमिटी नियुक्त हुई। मैं उसका अध्यक्ष बनाया गया। अपनी अस्वस्थता के कारण कानपुर का काम मैं अपने संतोष के लायक नहीं कर सका था। वहां की रिपोर्ट पर जब गवर्नमेंट ने कार्रवाई करनी चाही तो मिल-मालिकों का विरोध हुआ। मजदूरों की ओर से हड़तालें हुईं। नतीजा यह हुआ कि बहुत दिनों तक कशमकश चलती रही। मुझे मालूम नहीं कि हमारी सिफारिशों में कितनी मंजूर हो सकीं। मुझे इसका अफसोस बना ही रह गया कि यदि मैं स्वस्थ होता और समय कुछ अधिक लगा सकता तथा कानपुर जाकर रिपोर्ट देने के पहले दोनों पक्षों से खुलकर बातें कर लेता, तो शायद रिपोर्ट का इतना जबरदस्त विरोध न होता; हो सकता है कि सिफारिशों में भी कुछ हेरफेर होता—कम-से-कम जो भी सिफारिशें होतीं, मिल-मालिकों में इतना कड़वापन नहीं आता।

जो हो, अब तो वह बात बन नहीं सकती थी। पर बिहार में फिर उसी प्रकार का काम मुझे करना पड़ा और वहां से भी यहां की समस्या अधिक जटिल थी; क्योंकि वहां तो केवल एक ही शहर के एक ही प्रकार के कारखानों के मजदूरों की हालत जांचनी थी। पर यहां कमिटी के जिम्मे सभी प्रकार के मजदूरों की—जो कारखानों में काम कर रहे थे—हालत जांची गयी। जहां तक मैं समझता हूं, जितने प्रकार के कारखाने हिन्दुस्तान में हैं प्रायः सभी प्रकार के बिहार में मौजूद हैं। शायद बहुत चीजों में बिहार और सभी सूबों से इस बात में बढ़ा हुआ है। यहां पर खानों का काम बहुत फैला हुआ है। कोयले की खानें इतनी हैं जितनी किसी भी दूसरे प्रदेश में नहीं, या यों कहें कि कोयले की जितनी खानें बिहार में हैं उतनी सारे हिन्दुस्तान के अन्य सभी सूबों को मिलाकर भी नहीं हैं तो ठीक ही होगा। यही हालत लोहे और तांबे की खानों की है। अबरख की खानें भी इतनी हैं कि और किसी भी सूबे में उतनी नहीं हैं, सब सूबों को मिलाकर भी नहीं—शायद सारे संसार के और किसी देश में इतनी नहीं जितनी बिहार में हैं। और कई चीजें भी थोड़ी-बहुत बिहार की खानों से ही निकलती हैं।

ऊख की खेती भी यहां काफी होती है। पिछले बारह वर्षों में चीनी के कारखाने भी बहुत बन गये हैं ! युक्तप्रदेश को छोड़कर और किसी सूबे में उतने कारखाने नहीं हैं जितने बिहार में। जमशेदपुर में ताता कम्पनी का लोहे का कारखाना हिन्दुस्तान का ही नहीं, एशिया का सबसे बड़ा कारखाना माना जाता है और संसार के बड़े-से-बड़े कारखानों में एक है। वहां और भी बहुत किस्म के कारखाने हैं—टिन के पत्तर बनाने के लिए—तार, टेलीफोन और बिजली के तार बनाने के लिए—खेती के औजार (फावड़ा, गैंता वगैरह) बनाने के लिए—लोहे के तार और कांटे बनाने के लिए, अनेकानेक कारखाने हैं। कई तो जमशेदपुर के आसपास भी बने हैं। इसके अलावा और भी लोहे के कारखाने दूसरे स्थानों में हैं। लाही की खेती छोटानागपुर के जगंलों में विशेष होती है। जितनी लाह बिहार में पैदा होती है उतनी और कहीं नहीं। लाही से लाह बनाने के कारखाने स्वाभाविक रीति से छोटानागपुर और संताल परगने में हैं, जहां जंगलों से काफी लाही मिलती है। जहां-तहां जूट बुनने और रूई से कपड़ा बनाने के कुछ कारखाने भी हैं; पर और सूबों के मुकाबले में कम हैं।

इस तरह बिहार की कमिटी को प्रायः सभी प्रकार के मजदूरों की हालत जांचनी थी। जमशेदपुर के कारखानों के मजदूर एक आधुनिक ढंग के नये बने हुए बड़े शहर में रहते हैं। वहां के कारखाने दिन-रात चौबीसों घंटे काम करते हैं, साल में एक दिन भी बंद नहीं होते। कुछ मजदूर ऐसे हैं जो गांवों में अपने-अपने घरों में रहते हैं और साल में चार-पांच महीने ही चीनी के कारखानों में काम करते हैं। कुछ मजदूर और जगहों की तरह विभिन्न कारखानों में आवश्यकतानुसार बराबर कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। फिर खानों के अंदर काम करने वालों की हालत इन सबसे भिन्न है; क्योंकि वहां का काम ही दूसरे ढंग का है। खानों में भी सब काम करने वाले न तो एक तरह का काम करते हैं और न उनके रहन-सहन का एक-सा तरीका ही है। झरिया में कोयले की खानों का जमघट है। चंद मीलों के अंदर बहुतेरी खानें हैं। इसलिए वहां मजदूरों की आबादी कुछ मिली-जुली-सी है। अबरक की खानें, एक-दूसरी से अलग, जंगलों में और पहाड़ियों पर दूर-दूर हैं। इसलिए उनके मजदूरों के रहने का किसी एक स्थान में प्रबंध नहीं है। झरिया में तमाम कारखानों के मजदूरों के लिए एक ही पानी-कल से पानी मिलने का प्रबंध है। ऐसा अबरक-खान वालों के लिए नहीं है और शायद हो भी नहीं सकता है। इस तरह बहुत प्रकार के कामों के कारण बहुत तरह के मजदूर हैं। उनके रहन-सहन के प्रबंध में और मजदूरी में भी स्वभावतः बहुत अंतर है। बिहार-कमिटी को इन सबकी जांच करके सिफारिश करनी थी। काम के विस्तार और गुरुता को देखकर मैं सहम गया, पर छुटकारा न पा सका। मैंने भी सोच लिया था कि समय अधिक लगे, पर इसे अच्छी तरह से और पूरा-पूरा करना चाहिए। ऐसा ही किया भी गया।

इसके अलावा और भी प्रश्न उपस्थित थे जिनके संबंध में मुझे कुछ-न-कुछ करना पड़ा। मंत्रिमंडल बनते ही ऊख संबंधी एक प्रश्न उसके सामने उपस्थित हो गया जिस पर

उसे शीघ्रता से कुछ करना ही था। बिहार में चीनी के बहुतेरे कारखाने बन जाने के कारण यहां के किसान ऊख की खेती बहुत करते हैं और ऊख को कारखानों के हाथ बेच देते हैं। कारखानों के बनने के पहले काश्तकार उतनी ही ऊख की खेती करता था जितनी को वह खुद अपने कोल्हू से पेरकर गुड़ बना सकता था। खेती के काम का कुछ ऐसा सिलसिला है कि जिन दिनों में ऊख पेरने का काम होता है उन दिनों में बैलों को और दूसरा काम बहुत नहीं रहता; क्योंकि ऊख पेरने का काम कार्तिक के बाद शुरू होता है जब रबी बोने का काम खत्म हो गया रहता है। इसलिए किसान उतने ही अंदाज से ऊख बोया करते थे जितने को वे अपने बैलों से पेर सकें। इस तरह ऊख की खेती का दूसरी फसलों के साथ एक स्वाभाविक निपात हो जाया करता था। जब से कारखाने बन गये, किसान ऊख पेरने के झगड़े से छुट्टी पा गये। वे उसे कारखाने तक या नजदीक के स्टेशन तक पहुंचा देने का ही काम करते और पेरने का काम कारखाने कर लेते। ऊख से नगद पैसे भी मिलते हैं। इसलिए ऊख की खेती बहुत बढ़ गयी। अगर किसी कारण कारखाने ऊख न लें तो किसान बिलकुल बेबस हो जाते हैं। उनकी साल-भर की कमाई बरबाद हो जाती है। ऐसी परिस्थिति 1934 में हुई थी जब भूकम्प के कारण बहुतेरे कारखाने बेकार हो गये थे। गवर्नमेंट और रिलीफ कमिटी को, खेतों में लगी ऊख की फसल को बचाने के लिए, काश्तकारों को फिर कोल्हू चलाने के लिए प्रोत्साहन देना पड़ा था। लाखों रुपये खर्च करके कोल्हू बांटे गये थे। तो भी इन कोल्हुओं से काम पूरा होने वाला न था। पर कुछ दिनों के बाद कारखानों की मरम्मत हो सकी। वे चालू हो गये। किसानों की फसल का कुछ हिस्सा बच सका। किसानों को ऊख का दाम कारखाने वाले दिया करते हैं। गवर्नमेंट ने देखा कि किसान कारखानों के इतने परवश हैं कि वे जब चाहें तब दाम घटा सकते हैं। इसलिए कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनने के बहुत पहले से ही ऊख का दाम मुकर्रर करने का अधिकार कानून द्वारा गवर्नमेंट ने अपने ही हाथ में ले रखा था। वह कह दिया करती कि इतने आने फी मन से कम दाम पर कोई ऊख नहीं खरीद सकता—हां, कोई यदि अधिक देना चाहे तो दे सकता है। इस तरह किसानों को एक रकम अवश्य मिल जाती। यदि कारखानों में होड़ हुई तो उससे अधिक भी मिल सकती थी।

1936 में किसी कारण ऊख की खेती कम हुई। कारखानों में खूब होड़ हुई। इससे किसानों को अधिक दाम मिले। उन्होंने दूसरे साल ऊख की खेती अधिक कर दी। 1937 में इतनी ऊख थी कि मालूम होता था, कारखाने सब ऊख नहीं ले सकेंगे। चीनी का दाम भी इतना गिर गया कि गवर्नमेंट का मुकर्रर किया हुआ दाम भी बहुत कम था; कारखाने उतने दाम पर भी ऊख लेने को तैयार नहीं थे। नतीजा यह हुआ कि किसान बहुत तबाह हुए। उसी समय चंदरोजा मिनिस्ट्री बनी थी। उसने भी कुछ कोशिश की, पर वह अप्रैल में आयी जब ऊख का काम प्रायः समाप्ति पर रहता है। उसके पहले से ही हमने कारखाने वालों से बातचीत करनी शुरू कर दी थी कि वे किसी तरह से ऊख जरूर ले लें। कुछ राजी भी हुए।

अपने इलाके की ऊख उन्होंने ले ली। जब तक वह खत्म म हुई, कारखाने चलते रहे, यद्यपि मामूली तौर पर आधे अप्रैल के बाद ऊख से चीनी की मात्रा कम निकलती है। जब जुलाई में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बना तो उसे इस विषय पर विचार करना था कि जो अनुभव किसानों को 1937 के मार्च-अप्रैल में हुआ था और उन्हें जो कार्रवाई उस समय करनी पड़ी थी उसका सामना उनको फिर न करना पड़े। इस संबंध में मेरी और इस विभाग के मंत्री डाक्टर महमूद की बातें हुईं और एक कांफ्रेंस भी की गयी। देखा गया कि ऊख की खेती सबसे अधिक युक्तप्रांत और बिहार में ही होती है। इसलिए जो कुछ करना हो, दोनों सूबे मिलकर करें तो ठीक होगा। दोनों के सामने समस्या एक थी। दोनों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल थे। इसलिए दोनों सूबे के मंत्रिमंडलों ने मिलकर एक कांफ्रेंस की। उसी में अपना कार्यक्रम भी ठीक किया। मुझे भी उसमें भाग लेना पड़ा था। चूंकि हिन्दुस्तान में जितनी चीनी बनती है उसका तीन-चौथाई से भी ज्यादा हिस्सा इन्ही दोनों प्रांतों में बनता है, इसलिए लोगों ने सोचा कि ये दोनों मिलकर जैसा प्रबंध चाहेंगे, कर सकेंगे।

दोनों सूबों ने कानून बनाये। उसके अनुसार केवल ऊख का ही नहीं, चीनी का भी दाम ठीक करने का अधिकार गवर्नमेंट ने अपने हाथों में लिया। कुछ कारखाने वालों ने विरोध किया। पर अंत में सब राजी हुए। कारखाने वालों का एक संघ बना। वही सभी कारखानों पर नियंत्रण रखता। जो कारखाना संघ में शरीक न हो उसे ऊख पेरने की सनद (लाइसेंस) गवर्नमेंट न देगी। इस तरह, जो न भी चाहते थे उनको भी मजबूरन उस संघ में शरीक होना पड़ा। किसानों को उस साल दाम ठीक मिला। मेरे दिल में कुछ संदेह था; क्योंकि मैं समझता था कि कारखानों के साथ यदि ज्यादा सख्ती की जायेगी तो हो सकता है कि वे इन सूबों के बाहर के कारखानों के साथ, जहां किसी तरह का हस्तक्षेप या प्रतिबंध नहीं था, मुकाबला न कर सकें। इसलिए मैंने कहा कि बेहतर हो यदि सभी सूबों के साथ मिलकर कुछ किया जाये। भारत सरकार कुछ करने पर तैयार नहीं थी। इसलिए सूबों के साथ ही बातचीत हो सकती थी। दूसरे सूबों के मंत्रिमंडल—कांग्रेसी मंत्रिमंडल भी—इन दोनों के साथ मिलकर अपने यहां के कारखानों को नियंत्रित करने पर राजी न हुए। इसका नतीजा यह हुआ कि उन सूबों के कारखानों को, विशेषकर देशी रियासतों के कारखानों को, बहुत सुविधा मिल गयी। वहां नये कारखाने बने। पुरानों ने बहुत मुनाफा किया। बिहार के एक-दो कारखाने बिककर सूबे से बाहर चले गये। पर इसमें कुछ संदेह नहीं कि जो कुछ कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने किया उससे किसानों को उस समय बहुत लाभ पहुंचा। और, जब तक कांग्रेसी मंत्रिमंडल रहा, लाभ होता रहा।

127

बिहार में शिक्षा संबंधी कार्य और बाढ़ सम्मेलन

शिक्षा का विषय अत्यंत महत्व रखता है। डाक्टर महमूद इस विभाग के इंचार्ज थे। उन्होंने चाहा कि मुझे पटना युनिवर्सिटी के सिनेट का मेम्बर बना दें। मैंने सिनेट की मेम्बरी से सन् 1921 में इस्तीफा दे दिया था। उन्होंने बहुत जिद किया कि मुझे यह फिर से स्वीकार कर लेना चाहिए। श्री सच्चिदानन्द सिंह वाइस-चांसलर थे। उन्होंने भी इसरार किया। इसलिए मैंने मेम्बरी ले ली। सिनेट की बैठक में मैंने एक प्रस्ताव पेश किया। उसका आशय यह था कि गवर्नमेंट शिक्षा की योजना सुधारने के प्रश्न पर विचार करे और इसके लिए एक कमिटी नियुक्त करे जो प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक की योजना बनावे। इस प्रस्ताव के उपस्थित करने के समय मैं बीमार था। बड़ी मुश्किल से सिनेट की बैठक में जा सका। पर मैंने अपना भाषण लिख लिया था। एक मित्र ने उसे पढ़ दिया। उसमें प्रचलित शिक्षा-पद्धति की कड़ी समालोचना थी। कुछ सदस्यों ने, जिसमें विशेष शिक्षक ही थे, टीका की। पर प्रस्ताव सर्वसम्मति से मंजूर हुआ। कुछ दिनों के बाद जब वह प्रस्ताव गवर्नमेंट के पास भेजा गया तो उसे मंजूर करके मंत्रिमंडल ने एक कमिटी बना दी। मैं भी उसका एक सदस्य बनाया गया। अध्यक्ष बनाये गये बम्बई वाले श्री के. टी. शाह।

मेरे प्रस्ताव के उपस्थित होने के पहले ही महात्मा गांधी ने एक योजना उपस्थित करके शिक्षा संबंधी प्रश्न को सारे देश की जनता के सामने ला दिया था। उन्होंने कई लेख 'हरिजन' में लिखे। उनकी योजना की मुख्य बात यह थी कि बच्चों की शिक्षा, जो आज केवल अक्षरों द्वारा दी जाती है, केवल अक्षरों अर्थात पुस्तकों द्वारा ही न दी जाकर कुछ हुनर या हाथ की कला द्वारा दी जाये। उनका कहना था कि यदि ऐसा किया जायेगा तो बच्चे जो काम करके कमायेंगे उसी से प्राथमिक शिक्षा का खर्च भी निकल आवेगा। उन्होंने इस तरह एक तीर से दो शिकार करने की योजना बना दी। उसके अनुसार शिक्षा भी आज की शिक्षा से बेहतर होगी और उसके लिए खर्च भी गवर्नमेंट को नहीं करना पड़ेगा। इसके पहले जब कभी यह प्रश्न उठाया जाता था कि सभी बच्चों की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबंध किया जाये तो गवर्नमेंट की ओर से यही उज्र पेश किया जाता था कि उसके पास इतने रुपये

नहीं कि वह इसे कर सके। स्वर्गीय गोखले के समय से ही इस बात पर जनता की ओर से जोर दिया जाता रहा और गवर्नमेंट द्रव्याभाव के बहाने से विरोध करती आ रही थी। कहीं-कहीं निःशुल्क शिक्षा का और कहीं-कहीं निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का भी प्रयोग किया गया था। पर वह इतने कम स्थानों में और इतने छोटे पैमाने पर ब्रिटिश भारत में हुआ था कि उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि यह प्रयोग सारे भारत में कभी पूरा हो सकेगा।

बिहार के छपरा जिले में कुछ हद तक निःशुल्क शिक्षा का प्रबंध किया गया था। इसमें मुख्य दिलचस्पी लेने वाले दो व्यक्ति थे, मेरे भाईसाहब बाबू महेन्द्र प्रसाद और छपरा जिले के स्कूलों के उन दिनों के डिस्ट्रिक्ट इंसपेक्टर बाबू राधिका प्रसाद। पर गवर्नमेंट ने यद्यपि इसे नामंजूर नहीं किया तथापि कभी इसे प्रोत्साहन भी नहीं दिया। किसी तरह से यह प्रयोग चल रहा था। गांधीजी ने अपनी योजना से हलचल-सी मचा दी। उन्होंने कुछ ऐसे लोगों का, जो शिक्षा से प्रेम रखते हैं और उसके प्रचार में तत्पर रहते हैं, एक सम्मेलन वर्धा में किया। वहां उनकी योजना पर विचार हुआ। सम्मेलन ने एक उपसमिति बना दी। जामे-मिल्लिया (दिल्ली) के प्रमुख डाक्टर जाकिर हुसैन उसके अध्यक्ष हुए। सब-कमिटी ने एक योजना तैयार की। वह वर्धा योजना के नाम से प्रख्यात हुई। गांधीजी की योजना का ही उस सब-कमिटी ने बहुत अंशों में समर्थन किया और प्राथमिक शिक्षा दस्तकारियों द्वारा देने की सिफारिश की। सब-कमिटी खर्च के संबंध में उस हद तक जाने को तैयार नहीं थी जहां तक गांधीजी का विचार था, पर वह भी इसका विरोध नहीं करती कि खर्च का कुछ अंश यदि बच्चों की दस्तकारियों से निकल आवे तो निकाल लेना चाहिए।

इस तरह जो शिक्षा-शास्त्री वहां जमा हुए उन्होंने योरप और अमेरिका के शिक्षा-शास्त्रियों के विचारों से गांधीजी के विचारों को पुष्टि दी। और मालूम हुआ कि बिना उनके विचारों और पुस्तकों का मनन किये ही गांधीजी ने जो कुछ कहा है वही आधुनिक शास्त्रियों के भी विचार हैं। इसलिए जब मैंने अपना प्रस्ताव पेश किया था तो मेरे दिल में यह बात भी थी कि वर्धा योजना पर भी वह कमिटी विचार करेगी। यदि इसकी राय भी उससे मिल गयी तो गांधीजी जो कराना चाहते थे वह बिहार में गवर्नमेंट आसानी से कर सकेगी। मैंने इस कमिटी का मेम्बर होना स्वीकार कर लिया। इसका काम भी जारी हो गया। पर इस कमिटी के काम का भार इसके अध्यक्ष श्री के. टी. शाह पर ही अधिक रहा।

बिहार सरकार के शिक्षा विभाग ने एक और कमिटी मुकर्रर की। उसका भी मैं एक सदस्य बनाया गया। हिन्दी-हिन्दुस्तानी के संबंध में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन में, मैंने अपने विचार प्रकट किये थे। बिहार में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि यहां की पाठ्य-पुस्तकों में ऐसी भाषा कहां तक चल सकती है जिसे हिन्दी और उर्दू जानने वाले दोनों ही मान्य समझें, और इसके लिए शब्दकोष बनाने का भी प्रयत्न किया जाये। डाक्टर

महमूद ने मुझे ही इसका प्रमुख बनाया; पर मैंने इसे स्वीकार नहीं किया; क्योंकि मेरे पास दूसरे काम बहुत हो गये थे, इसलिए मैं इसमें न तो काफी समय दे सकता था और न ऐसे गुरुतर काम की योग्यता अपने में समझता था। इसलिए इसके अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद साहब बनाये गये। इसका काम भी आरंभ हुआ। इस प्रकार मेरे जिम्मे अपने सूबे में बहुत काम आ गया। वर्किंग कमिटी द्वारा नियुक्त पार्लियामेंटरी कमिटी का मेम्बर तो मैं था ही। 1937 से 1939 तक का बहुत समय प्रायः इन्हीं कामों में लगा। समय काफी लगा; क्योंकि जिन प्रश्नों पर विचार करना था वे गम्भीर थे और उनका निपटारा आसानी से नहीं किया जा सकता था। जो सिफारिशें होतीं उनका भी असर काफी पड़ता। इसलिए यद्यपि मैं मंत्रिमंडल में नहीं था, तथापि अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार यथासाध्य मदद देना मेरा आवश्यक कर्तव्य हो गया था।

एक और विषय था जिस पर बहुत विचार किया गया, पर कुछ रास्ता अभी तक नहीं निकला। वह है बिहार के कुछ हिस्सों में बाढ़ के प्रकोप का। छपरा और पटने के बीच में सरयू, गंगा, सोन और गंडक नाम की चार बड़ी-बड़ी नदियों का संगम है। जब कभी इन नदियों के उद्गम-स्थान अथवा रास्ते में लगातार बहुत बरसात हो जाती है तो इनमें एक साथ ही बाढ़ आ जाने से इनके आसपास के स्थानों की हालत बहुत ही खराब हो जाया करती है। ऐसा पहले से ही होता चला आ रहा है। पर 1934 के भूकम्प के बाद से बाढ़ का प्रकोप बढ़ गया है। कुछ लोगों का अनुमान है कि भूकम्प के कारण नदियों की गहराई कम हो गयी है, उनमें उतना पानी निकाल ले जाने की अब शक्ति नहीं रह गयी जितना वे पहले निकाल ले जाया करती थीं। इसलिए अब पानी दूर तक बाहर फैल जाता है और जहां जाता है वहां पानी की गहराई भी अधिक होती है। पर इस इलाके के अलावा, जहां नदियों के जमघट के कारण अक्सर बाढ़ आया करती है, बिहार के—विशेषकर उत्तर बिहार के—और भी हिस्से हैं जहां बाढ़ बहुत आया करती है। बाढ़ के कारणों में, लोगों का मत है, एक जबरदस्त कारण रेलवे के बांध भी हैं जो पानी को रोक देते हैं और उसे आसानी से बहकर निकलने नहीं देते। इन बांधों में काफी पुल और पानी के निकास के रास्ते नहीं हैं। कहीं-कहीं तो इन बांधों के कारण बहुत अनर्थ हो जाया करता है। रेलवे वाले, लोगों की कुछ सुनते नहीं। रेलवे के अलावा दूसरे भी बांध हैं जो खास तौर से पानी रोकने के लिए ही बनाये गये हैं। उनके असर के संबंध में भी मतभेद की गुंजाइश है। इसमें संदेह नहीं कि बाढ़ का प्रश्न बिहार के लिए बहुत महत्व रखता है। मैंने इस संबंध के कुछ लेख लिखे थे और जब कांग्रेसी मंत्रिमंडल बना तो उसको इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक जान पड़ा। उसने एक सम्मेलन किया जिसमें अनुभवी इंजीनियरों और जनता के प्रतिनिधियों को बुलाया। बहुत विचार-विमर्श हुआ। पर कोई संतोषजनक फल नहीं निकला; क्योंकि न तो कारण के संबंध में सब

एकमत हो सके और न उपाय के संबंध में। कांफ्रेंस में मैं बीमारी के कारण शरीक न हो सका। पर मेरे विचार वहां पेश हुए थे। बिहार के ये बड़े-बड़े प्रश्न थे जिनसे मेरा संबंध था। इनके अलावा और बहुतेरे छोटे-मोटे प्रश्न हुआ करते जिनके संबंध में मेरी राय लोग पूछ लिया करते। दूसरी जगहों के मंत्रिमंडलों से मेरा उतना संबंध न रहा जितना बिहार के। यह स्वाभाविक था।

128

गांधी सेवा संघ

मैं अस्पताल में मार्च के अंतिम सप्ताह तक रह गया। जब तबीयत कुछ अच्छी हो गयी और ताकत भी आ गयी तो वहां से निकला। गांधी सेवा संघ का वार्षिक सम्मेलन उस साल उड़ीसा में, पुरी के पास 'डेलांग' गांव में, होने वाला था। वहीं मैं सीधे चला गया। महात्माजी भी वहां आने वाले थे। मेरी बहन, मृत्युंजय की मां और मेरी भौजाई भी साथ गयीं। वहां हम लोग कई दिनों तक रहे। दूसरे सम्मेलनों की तरह यहां भी तात्विक विषयों पर चर्चा होती रही। सब लोग मिलकर एक साथ चर्खा चलाते। संध्या के समय जनता जमा हो जाती तो कुछ लोग व्याख्यान देते। गांधी सेवा संघ के सम्मेलन चार-पांच ही बार हुए, पर इनका महत्व यह था कि वहां गांधीजी के समक्ष सभी सदस्यों को कई दिनों तक रहने का सुअवसर मिल जाता। सिद्धांत की बातों पर आपस में बहुत बहस होती। उपस्थित विषयों पर गांधीजी की सम्मति मिल जाती। जो सदस्य जहां जिस काम में लगा रहता वहां उत्साह के साथ जाकर फिर काम करता।

संघ के सदस्य अधिकतर रचनात्मक काम में ही लगे थे। कोई चर्खा संघ द्वारा अथवा स्वतंत्र रूप से खादी और चरखे के प्रचार-कार्य में लगा था, तो कोई हरिजन-सेवा में अपना समय लगा रहा था। कोई ग्राम्य उद्योगों को ही पुनः जीवित और संगठित करना अपना मुख्य कर्तव्य मानकर उसी में संलग्न था, तो कुछ लोग वर्धा योजना के प्रचारार्थ स्थापित तालीमी संघ में शिक्षा-प्रचार का काम कर रहे थे। कुछ लोग गो-सेवा में लगे थे जिसमें मुर्दा पशुओं की खाल निकालने, पकाने और उससे जूते, बाकस इत्यादि सामान बनवाना भी शामिल थे। विशेषकर इन्हीं सब प्रवृत्तियों में, जिनके लिए गांधीजी ने प्रेरणा दी थी, संघ के लोग दत्तचित्त थे। कुछ ऐसे भी जरूर थे जो कांग्रेस के संगठन का काम करते थे, जहां-तहां कांग्रेस कमिटियों की सेवा कर रहे थे। पर ऐसे सदस्यों की संख्या बहुत कम थी। वहां भी उनसे अधिकतर रचनात्मक काम करते रहने की ही अपेक्षा रहती थी। जब कौंसिलों का चुनाव होने लगा और कुछ सदस्य उमीदवार बनाये गये तो इस विषय पर संघ के सम्मेलन में बहुत चर्चा हुई थी। कुछ लोगों का विचार था कि संघ के लोगों को इस काम में नहीं पड़ना चाहिए। पर संघ ने कुछ को इजाजत दी थी। इस विषय पर, मुझे जहां तक स्मरण है, दो सम्मेलनों में

विचार होता रहा। अब तो उसके सदस्य श्री जगलाल चौधरी मंत्री और श्रीकृष्णवल्लभ सहाय पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी हो गये थे। संघ ने उनसे वादा ले लिया था कि संघ से उनको जो निर्वाह-व्यय मिलेगा उसी से उनको संतुष्ट रहना पड़ेगा। इसलिए जब उनको कुछ वेतन के रूप में मिलने लगा तो उन लोगों का निर्वाह-व्यय संघ की ओर से बंद कर दिया गया। जो वेतन उन्हें मिलता था उसका भी पूरा-पूरा हिसाब वे संघ को देने लगे। संघ की सदस्यता, नैतिक दृष्टि से, मनुष्य को—यदि वह सचाई से काम लेता—ऊंचा उठा सकती थी। उससे आशा रखी जाती थी कि गांधीजी के सत्य-अहिंसा संबंधी सिद्धांतों को वह यथासाध्य अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करेगा। संघ-सदस्यों में से बहुतेरों का जीवन हम सबके लिए आदर्श हो सकता है।

इस संघ का उद्देश्य कभी कोई राजनीतिक दल तैयार करने का नहीं था। इसने कभी ऐसा किया भी नहीं। कभी इस संघ की ओर से किसी ने किसी चुनाव में भाग नहीं लिया, चाहे वह कांग्रेस का हो या म्युनिसिपैलिटी या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड या असेम्बली या कौंसिल का। अधिकांश तो इन सभी संस्थाओं से अपने को अलग रखते थे। वे किसी चुनाव से संबंध नहीं रखते थे। अगर कहीं कोई चुनाव में आता भी तो व्यक्तिगत रूप से, अपनी सेवा के बल पर, न कि संघ की सदस्यता से लाभ उठाकर। संघ में सेठ जमनालाल बजाज, सरदार वल्लभभाई पटेल और मुझ जैसे लोग भी थे जो कांग्रेस की वर्किंग कमिटी के सदस्य थे तथा अपने-अपने स्थान में कांग्रेस के काम में प्रमुख भाग लेते थे। स्वयं गांधीजी सदस्य तो नहीं थे, पर मार्ग-प्रदर्शक तो थे ही। तो भी यह कहना बिलकुल बेबुनियाद था कि जैसे कांग्रेस के अंदर स्वराज्य पार्टी अथवा कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनी थी वैसी ही संस्था यह भी थी। इसका उद्देश्य सेवक तैयार करना था, उनके द्वारा रचनात्मक काम में यथासाध्य मदद पहुंचाना था। उन सेवकों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने जीवन और उदाहरण से गांधीजी के सिद्धांतों का यथासाध्य प्रचार करते रहेंगे। पर कुछ लोगों ने उस पर यह आक्षेप लगाया कि वह भी एक दल है। रामगढ़ कांग्रेस के कुछ पहले जो संघ का वार्षिक अधिवेशन बंगाल में हुआ था, उसमें संघ को विघटित करने का निश्चय कर लिया गया।

129

ग्रामसुधार योजना और नासिक में निवास

उड़ीसा में ही हम लोगों को मालूम हुआ कि वहां की असेम्बली की कांग्रेस पार्टी के अंदर बहुत मतभेद चल रहा है—मंत्रिमंडल के विरुद्ध कुछ लोगों की शिकायतें हैं। सरदार वल्लभभाई और मैं, पार्लियामेंटरी कमिटी के दो मेम्बर वहां मौजूद थे। हमने उचित समझा कि दोनों पक्षों से बातें कर ली जायें और हो सके तो इस झगड़े को तय कर दिया जाये। एक तरफ मंत्रिमंडल था और दूसरी ओर पंडित नीलकंठ दास, पंडित गोदावरीश मिश्र प्रभृति थे। श्री गोपबन्धु चौधरी किसी दल के नहीं थे। वहां पर हमने सभी बातें सुनकर अपनी राय दे दी। श्री गोपबन्धु दास को, जो गांधी सेवा संघ की ओर से वहीं कटक में आश्रम बनाकर रचनात्मक काम में लगे हुए थे और कांग्रेस कमिटी से अलग हो गये थे, कांग्रेस का काम संभालने के लिए, दोनों पक्षों की राय से, कहा गया। हम समझते थे कि झगड़ा शांत हो जायेगा। पर ऐसा हुआ नहीं। पीछे इसके बहुत बुरे फल देखने में आये जिसका जिक्र समय पर आवेगा।

एक घटना वहां हो गयी जो वर्णनीय है। जो सम्मेलन में गये थे उनमें से कुछ श्री जगदीश के दर्शनार्थ पुरी चले गये। उनमें हमारे घर की स्त्रियां भी थीं। उनके संबंध में तो नहीं, पर दूसरों के संबंध में महात्माजी को इससे बहुत दुख हुआ। श्री जगन्नाथजी का मंदिर अभी तक हरिजनों के लिए नहीं खुला है, अर्थात हरिजन वहां उस तरह दर्शन-पूजा नहीं कर सकते जिस तरह सवर्ण हिन्दू। महात्माजी स्वयं ऐसे मंदिर में नहीं जाते जहां हरिजन नहीं जा सकते हैं। उनका विचार है कि यदि उनको दर्शन-पूजा का अधिकार नहीं है तो हमें भी न होना चाहिए। इसलिए जब सम्मेलन में आये हुए निकटवर्ती लोगों के संबंध में उन्होंने सुना कि वे भी दर्शनार्थ गये तो उनको चोट लगी। पुरी जाना वह बुरा नहीं मानते थे और न दर्शन-पूजा ही। पर दर्शन-पूजा हम वहीं तक करें जहां तक करने का अधिकार हरिजनों को भी है। इस बात की चर्चा वहां चली। जो लोग अपने को गांधीजी का अनुयायी समझते हैं उनको भी इतनी सख्ती कुछ खटकी। पर इससे हरिजनों के प्रति गांधीजी के प्रेम और सहानुभूति की गहराई का पता लग गया।

अस्पताल से निकलने पर डाक्टरों की राय थी कि मुझे अभी कुछ और आराम कर लेने की जरूरत है। इसलिए जब गर्मी शुरू हुई तो मैंने निश्चय किया कि कुछ दिनों तक किसी स्वास्थ्यकर स्थान में जाकर रह जाऊं। इसलिए मैंने नासिक में जाकर रहने का निश्चय किया। वहां पर सेठ बिड़ला का एक मकान था जिसका वह 'खासकर हवा बदलने के लिए निवासस्थान' की तरह इस्तेमाल करते हैं। मैंने वहीं जाकर ठहरने का निश्चय किया। सेठ रामेश्वरदास बिड़ला ने बम्बई से भी सब प्रबंध कर दिया। नासिक जाने का विचार एक और कारण से हुआ। मई के महीने में बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होने वाली थी। सोचा कि नासिक बम्बई के नजदीक है, वहां से आसानी से सभा में शरीक हो सकूंगा।

नासिक जाने के पहले एक और काम था जिसके संबंध में मुझे कुछ कर लेना था। बिहार मंत्रिमंडल का विचार था कि गांवों के सुधार के लिए सरकारी तौर पर कुछ काम किया जाये। इसके लिए वह एक विभाग बनाना चाहता था। इसके लिए एक ऐसी योजना बनानी थी जिसके अनुसार काम किया जाये। इस काम के लिए एक ऐसा आदमी भी चाहिए था जो उस दृष्टि से इस काम को चलावे जिसे मंत्रिमंडल पसंद करता हो। अब तक ग्राम-सुधार का काम गवर्नमेंट की ओर से कुछ भी नहीं हुआ था। यह पहला प्रोग्राम था। इसमें विशेषकर गांवों के रहने वालों की हालत हर तरह से सुधारने का ही विचार था। अब तक जो लोग सरकारी काम किया करते थे वे एक प्रकार से जनता के मालिक और शासक बनकर ही किया करते थे। जरूरत थी कि कुछ लोग सेवक बनकर काम करें। यही काम इस विभाग के जिम्मे लगाने का निश्चय किया गया। मैंने एक योजना बनायी। गवर्नमेंट ने पंडित प्रजापति मिश्र को इस विभाग का चार्ज दिया। दूसरे कार्यकर्ताओं की नियुक्ति भी हुई। इनमें बहुतेरे कांग्रेसी कार्यकर्ता नियुक्त किये गये। इसका यह कारण नहीं था कि कांग्रेसी लोगों को नौकरी देनी थी। वह काम ही ऐसा था जिसका थोड़ा-बहुत अनुभव अगर किसी को था तो कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को ही, दूसरों को नहीं; क्योंकि किसी ने बिहार प्रांत में इस प्रकार का कोई काम किया ही न था। पर इनके साथ-साथ दूसरे लोग भी नियुक्त किये गये। समझा गया कि सबको कुछ दिनों के लिए शिक्षा देकर तैयार कर दिया जायेगा। जो योजना मैं बना रहा था वह पूरी नहीं हो पायी थी, इसीलिए पंडित प्रजापति मिश्र नासिक में आकर मुझसे मिले। वहीं पर हमने उसे पूरा किया। जब तक यह विभाग काम करता रहा, उसी सांचे पर काम हुआ। मेरा विचार है कि इससे जनता की भलाई हो रही थी; पर मंत्रिमंडल के इस्तीफा देने के बाद इसका रुख आहिस्ता-आहिस्ता बदलने लगा। अंत में गवर्नमेंट ने इसे तोड़ दिया।

नासिक यात्रा में मेरे साथ श्री चक्रधर शरण नहीं जा सके। उनका स्थान श्री अम्बिकाकान्त सिंह ने लिया। एक और साथी मिले जिनका कुछ जिक्र कर देना आवश्यक मालूम होता है। वह थे एक सज्जन जिनका नाम था श्री देवव्रतजी ब्रह्मचारी। वह कर्नाटक

प्रदेश में समुद्र के किनारे पर बसे गोकर्ण नामक तीर्थस्थान के ब्राह्मण थे। मुजफ्फरपुर में सुहृद संघ के वार्षिकोत्सव में मैं गया था। वहीं उनसे पहली मुलाकात हुई थी। वहां उन्होंने एक प्रशंसापत्र की तरह की चीज तैयार की थी जिसको पढ़ सुनाया था। संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। पर वहां उनसे अधिक बातें या परिचय नहीं हो सका था। एक दिन मैं सदाकत आश्रम में बैठा था। मेरी बहन भी थीं। उस दिन कोई पुण्य तिथि थी जिस कारण बहुत लोग गंगास्नान के लिए आये थे। मैंने देखा कि वह सज्जन भी उनमें थे। बहन का ख्याल उनकी ओर गया। उनका आदर-सत्कार उन्होंने किया। जब बातें हुई तो उनकी विद्वता इत्यादि का कुछ पता चला। मैंने उनको निमंत्रण दिया कि आप मेरे साथ कुछ दिनों तक रहें। उन्होंने उसे स्वीकार किया। वह यों ही भ्रमण करते-करते बिहार आ गये थे। मैं जीरादेई गया। वह भी वहां आये। कुछ दिनों तक हम लोग साथ रहे। इनको मैंने नासिक भी बुला लिया। वह वैदिक ब्राह्मण थे। वेद उनको प्रायः मुखस्थ थे। उपनिषद् तो वह बिना पुस्तक देखे ही सुना जाते थे। उनसे मालूम हुआ कि कर्नाटक में आज भी यह परिपाटी है। वहां ब्राह्मण वेदों और उपनिषदों को कंठस्थ कर लेते हैं। वे अपना काम करते हुए, खेती करने के समय भी, इनका पाठ किया करते हैं। उस समय वह एक नक्शा बना रहे थे जिसमें वह वेदों के अनुसार सृष्टि-क्रम एक चंद्रमा के रूप में दिखलाना चाहते थे। उसी में वह उपयुक्त ऋचाओं और मंत्रों को इस प्रकार लिखाते थे कि समझने वाला पुरुष-मंत्रों को भी पढ़ सके और बहुत-कुछ उस चित्र से भी समझ ले। उनका कहना था कि इस काम में उन्होंने कई बरस लगाये हैं, पर वह अभी तक पूरा नहीं हुआ था। वह इस काम को अपने पर्यटन में ही कर रहे थे। उनकी अद्‌भुत स्मरण-शक्ति और विद्वता का यह एक दृश्य प्रमाण था; क्योंकि उनके पास एक भी पुस्तक नहीं थी और उन्होंने सब कुछ अपनी स्मृति से ही तैयार किया था। नासिक में हम लोग घूमते-फिरते, खूब टहलते और वह संध्या के समय उपनिषद् की व्याख्या करते। वह योगी थे। उनका विचार था कि मैं यदि कुछ क्रिया नियमपूर्वक किया करूं तो दमा छूट जाये। मैंने धौति क्रिया उनकी देख-रेख में आरम्भ की। पर नासिक में कुल पंद्रह-सोलह दिन ही रह सका। उसके बाद बम्बई जाना पड़ा। वहां बहुत बीमार पड़ गया।

देवरातजी का समागम बहुत ही अच्छा रहा। वहीं मालूम हुआ कि वह पहले कुछ दिनों तक श्री रमण महर्षि के साथ तिरूवन्नमलय में भी रह चुके हैं। श्री महर्षि की जीवनी में उनकी विद्वता और उनके प्रेममय नाट्‌य का जिक्र है। वह महर्षि के साथ रहने वाले उद्‌भट विद्वान गणपति शास्त्री के शिष्य थे। इसी सम्पर्क से वहां आश्रम में जाकर कुछ बरस पहले रहे थे। वह गोकर्ण में एक पाठशाला और गोशाला चला रहे हैं। उत्तर भारत में तो भ्रमण के लिए वह चले आये थे। हिन्दी भी उन्होंने अच्छी सीख ली थी। उनकी भाषा सुनकर उनके संबंध में कोई ऐसा नहीं कह सकता था कि वह दक्षिण भारत के रहने वाले हैं। उनके साथ नासिक से हम त्र्यम्बक भी दर्शनार्थ गये। यह स्थान गोदावरी का उद्‌गम-स्थल समझा जाता

है। पहाड़ पर मुझे कुर्सी पर बिठाकर ले गये; क्योंकि मैं इतनी ऊंचाई पर चढ़ नहीं सकता था। आसपास की पहाड़ियों में पुरानी गुफाएं हैं जिनको मैंने जाकर देखा। इनसे ही उन पुराने दिनों की कला के साथ उस युग के तपस्वियों के जीवन का भी कुछ पता चलता है। मैंने इस तरह की बहुत जगहों का भ्रमण किया है और उन्हें देखा है; पर मेरा काम दूसरा है और जी हमेशा उसी की ओर लगा रहता है। इसलिए इन दृष्यों पर न तो मैं बहुत ध्यान देता हूं और न मुझे इनका बहुत स्मरण ही रहता है।

नासिक में कई और चीजें देखने को मिलीं। वहीं वह सरकारी छापाखाना है जहां नोट, सभी प्रकार के अदालती और पोस्ट आफिस के स्टाम्प छपते हैं। कारखाना बहुत बड़ा है। पहरा सख्त है। कागज की कीमत बहुत है; क्योंकि कागज के टुकड़ों से ही ये सब बनते हैं। वहां एक अंगरेज अफसर था जो योरप वाली 1914-18 की बड़ी लड़ाई में फौजी आदमी था। वहां घायल होकर लंगड़ा हो गया था। उसने हमको सभी जगहों में ले जाकर सब कुछ एक-एक करके दिखलाया। हमने पोस्टकार्ड और लिफाफे छपते और बनते देखे। पोस्ट आफिस के टिकट बनते भी देखे। नोट छपते देखे। उस सारी प्रक्रिया को देखा जहां सबसे पहले नोट का मान-चित्र बनाया जाता है। इसके लिए कलाकार लोग नियुक्त हैं जो हमेशा इसी काम में लगे रहते हैं। उसी मान-चित्र के आधार पर, जब वह मंजूर हो चुकता है, नोट छापने का सामान तैयार किया जाता है। दूसरी एक और चीज देखी जो छोटी है, पर जिसका भी महत्व इन्हीं चीजों जैसा है। दियासलाई पर 'कर' लगाया जाता है। इसके वसूल करने का तरीका यह है कि प्रत्येक दियासलाई की पेटी या डिब्बी पर एक कागज की पतली धारी-सी साट दी जाती है और जब तक वह न तोड़ी जाये, अंदर से सलाई नहीं निकाली जा सकती। कारखाने से कोई पेटी उस धारी के साटे बिना बाहर नहीं जा सकती। कारखाने वाले 'कर' अदा करके ही उस धारी को सरकार से खरीद सकते हैं। वह धारी भी, जो लम्बे फीते के रूप की होती है, इसी कारखाने में छपती है। मैंने ऊपर कहा है कि यहां कागज की बहुत कीमत है। कागज का हिसाब बड़ी कड़ाई से रखा जाता है। एक इंच कागज भी इधर से उधर नहीं हो सकता; क्योंकि यदि ऐसा न किया जाये तो कौन कह सकता है कि खोये हुए कागज पर नोट छपकर निकल नहीं गया है। इसलिए यदि कहीं छपाई की गलती से या किसी दूसरे कारण से कोई टुकड़ा खराब भी हो जाता है तो वह भी उतनी ही हिफाजत से रखा जाता है जितनी हिफाजत से ठीक छपा हुआ नोट। सभी काम करने वालों को कारखाने में जाने के समय और वहां से निकलने के समय सब कपड़े खोलकर अपनी पूरी जामा-तलाशी देनी पड़ती है। कोई आदमी बिना वैसी तलाशी के अंदर नहीं जा सकता है। हमारे साथ उन्होंने इस नियम का सख्ती से बर्ताव नहीं किया; पर हमारे साथ भी उनके कई अफसर सभी जगहों में रहे। एक विचित्र बात यह थी कि यद्यपि वहां काम करने वाले न मालूम कितने लाखों-करोड़ों के नोट छापते होंगे और प्रतिदिन छापकर जहां-तहां भेजते

होंगे; पर उन बेचारों की मजदूरी प्रायः वही है जो दूसरे कारखानों में मिलती है ! उनमें बहुतेरे काफी गरीबी की जिंदगी काटते हैं ! जो प्रतिदिन लाखों का कागजी नोट बनाता है वह शायद एक रुपया रोजाना पाता होगा ! कैसी विचित्र लीला है ! कैसा आज का संसार है !

130

मध्यप्रदेश के मंत्रिमंडल का दुखद झगड़ा

नासिक से मैं बम्बई गया। वहां वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होने वाली थी। हरिपुरा कांग्रेस के बाद अखिल भारतीय कमिटी का यह पहला अधिवेशन था जिसमें श्री सुभाषचन्द्र बोस सभापतित्व करने वाले थे। आठ-दस महीनों से कांग्रेसी मंत्रिमंडल काम करते आ रहे थे। कुछ लोग उनकी कड़ी टीकाएं करते आ रहे थे। कहीं-कहीं कांग्रेसी लोग ही उनके विरुद्ध आपस में दलबंदी कर रहे थे जिससे उनके काम में कुछ कठिनाई भी पड़ रही थी। मुमकिन था कि इस विषय पर वहां विचार हो, यद्यपि हरिपुरा के समय दो सूबों में उनके इस्तीफा देने से वायुमंडल में बहुत फर्क पड़ गया था। तो भी जो लोग असंतुष्ट थे, अपनी हरकतों से बाज नहीं आ रहे थे। मैं तो वहां जाकर बीमार पड़ गया। अधिवेशन में शरीक न हो सका। एक काम महत्व का हुआ। वहीं निश्चय हुआ कि सारे देश-भर के लिए एक प्लैनिंग कमिटी बनायी जाये, जो सभी सूबों से राय और मदद लेकर एक कार्यक्रम बनावे, जिसके अनुसार सभी सूबों में मंत्रिमंडल काम करें। पंडित जवाहरलाल नेहरू इसके सभापति और प्रोफेसर के. टी. शाह मंत्री बनाये गये। सभी सूबों के कांग्रेसी मंत्रिमंडल इस कमिटी की पूरी मदद करने लगे। दूसरे सूबों के लोगों ने भी मदद देना मंजूर किया। यह कमिटी कई उपसमितियों में बंटकर काम करती रही। इसकी रिपोर्ट प्रायः तैयार हो चुकी थी। पर पूरी तैयार होने के पहले ही कांग्रेस का गवर्नमेंट से झगड़ा छिड़ गया। वह रिपोर्ट पास होकर देश के सामने न आ सकी।

बम्बई में मुझे 'ब्रोंको न्युमोनिया' हो गया। ज्वर बहुत बढ़ गया। खांसी भी काफी जबरदस्त हो गयी। मैं वहां बिड़ला हाउस में ठहरा था। उन लोगों ने हर तरह से मेरी शुश्रूषा का प्रबंध किया। एक छोटी घटना उल्लेखनीय है। उन दिनों हिटलर द्वारा निकाले गये बहुतेरे यहूदी इधर-उधर देश छोड़कर चले गये थे। इनमें कुछ डाक्टर थे जो बम्बई आकर अपना पेशा कर रहे थे। उनमें से एक बिड़ला हाउस में आया-जाया करता था। उसी ने मेरी चिकित्सा आरम्भ की। दो-तीन दिनों तक उसकी दवा हुई। पर अभी कुछ आराम नहीं हो रहा था। सुना कि बम्बई के कुछ मित्र डाक्टर, जिनमें श्री पुरुषोत्तम पटेल (अब स्वर्गीय) भी थे, यह जानकर कुछ रुष्ट हुए हैं कि उन लोगों को न बुलाकर एक जर्मन डाक्टर की चिकित्सा

हो रही है। जब यह खबर मिली तो वे बुलाये गये। पीछे डाक्टर गिल्डर भी आये, जो उन दिनों बम्बई के एक मंत्री थे। उन लोगों की दवा होने लगी। जब मैं अच्छा न हुआ तो महात्माजी की राय हुई, और मैं भी उससे सहमत हुआ कि मैं वर्धा चला जाऊं। बम्बई की हवा में नमी रहती है जो मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसलिए मैं वर्धा चला गया। डाक्टरों की रंजिश इस बात से थी कि उन लोगों के रहते किसी अनजान विदेशी डाक्टर की चिकित्सा क्यों करायी गयी। इसमें उनका प्रेम टपकता था। साथ ही, यह भी इससे जाहिर होता था कि वहां के डाक्टर अपने कौशल पर इतना विश्वास रखते हैं और इतने देशाभिमानी हैं कि वे मेरे जैसे एक देश-सेवक की चिकित्सा दूसरों के हाथों देखना सहन नहीं कर सके। वर्धा में भी पहुंचकर मैं तुरंत अच्छा नहीं हुआ। वहां से तार देकर पटने से डाक्टर बनर्जी और डाक्टर शरण को बुलाना पड़ा। डाक्टर शरण तो नहीं आ सके, पर डाक्टर दामोदर प्रसाद के साथ डाक्टर बनर्जी वर्धा आ गये। वे दो या तीन दिनों तक वहां ठहरे। तबीयत अच्छी होने पर मैं वहीं ठहर गया।

बम्बई में ही मालूम हुआ था कि मध्यप्रदेश के मंत्रिमंडल में आपस का बहुत मतभेद हो गया है। एक-दूसरे की शिकायतें करते हैं। उसी समय पार्लियामेंटरी कमिटी ने निश्चय किया कि वह इस बात की जांच करेगी। उन दिनों पंचमढ़ी में गवर्नमेंट रहा करती थी। इसलिए सरदार वल्लभभाई और मौलाना साहब वहां गये। मैं नहीं जा सका; क्योंकि मैं बीमार था। झगड़ा प्रधानमंत्री डाक्टर खरे और पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र में था। हिन्दुस्तानी मध्यप्रदेश में मंत्रिमंडल बनने के पहले दो दल थे—एक में पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र समझे जाते थे और दूसरे में पंडित रविशंकर शुक्ल। जिस समय 1937 में असेम्बली का चुनाव हुआ था उसी समय एक मुकदमा पंडित द्वारका प्रसाद के खिलाफ चलने की खबर निकली। उन्होंने वर्किंग कमिटी को खबर दे दी कि चूंकि उनके विरुद्ध मुकदमे की बात चल रही है, इसलिए जब तक वह उससे निकलकर अपने चरित्र की सफाई न दे दें तब तक वह कांग्रेस के सभी पदों से अलग रहने को तैयार हैं। वहां कोई भी कांग्रेस पार्टी का नेता नहीं हो सकता था जब तक उसे हिन्दुस्तानी विभाग के मेम्बरों की पूरी सहायता न मिले। पंडित द्वारका प्रसाद ने डाक्टर खरे की मदद की। उनकी मदद से ही वह नेता चुने गये। जब मंत्रिमंडल बनने का समय आया तो उनको ही गवर्नर ने मंत्रिमंडल बनाने का आदेश किया। जो मुकदमा पंडित द्वारका प्रसाद पर चलने वाला था उसे बेबुनियाद समझकर वहां के हाकिमों ने उठा लिया। उसके बाद पंडित द्वारका प्रसादजी भी मंत्रिमंडल में आये। इस तरह यह समझा जाता था कि उनकी और डाक्टर खरे की बड़ी मित्रता थी। बात भी ऐसी ही थी। पंडित रविशंकर शुक्ल भी मंत्री बने थे। कांग्रेस के काम में वह पंडित द्वारका प्रसाद के प्रतिद्वंदी समझे जाते थे। मंत्रिमंडल के काम में शुक्लजी और मिश्रजी की राय बहुत-सी बातों में एक हुई। दोनों का डाक्टर खरे से मतभेद हुआ। यदि इतना ही रहता तो कोई हर्ज नहीं; क्योंकि मित्रता एक

अलग चीज है और देश-सेवा संबंधी मतभेद दूसरी चीज। डाक्टर खरे ने मिश्रजी की शिकायत की और मिश्रजी ने भी डाक्टर साहब की।

इन्हीं शिकायतों को दूर करने के लिए सरदार पंचमढ़ी गये। वहां पर कुछ बातें तय हुईं। आशा की गयी कि मामला तय हो जायेगा और दोनों काम चलाने लगेंगे। पर बात ऐसी नहीं हुई। डाक्टर खरे अपना विचार नहीं बदल सके। उन्होंने सोच लिया कि मिश्रजी के साथ उनकी नहीं निभेगी। उधर मिश्रजी के साथ काम करते-करते शुक्लजी उनके साथ अधिक मिल-जुल गये। ऐसा मालूम हुआ कि डाक्टर खरे उन दोनों को किसी-न-किसी तरह मंत्रिमंडल से हटावेंगे। पर जो प्रयत्न इस झगड़े को हटाने का हुआ वह विफल हुआ। आपस का वैमनस्य बढ़ता ही गया। मैं अच्छा होकर वर्धा में ही आराम कर रहा था कि एक दिन अचानक खबर मिली, झगड़े ने उग्र रूप धारण कर लिया है! पार्लियामेंटरी कमिटी और वर्किंग कमिटी की बैठक उसके दो ही दिनों के बाद होने वाली थी। डाक्टर खरे उसके पहले ही मंत्रिमंडल तोड़कर अपनी पसंद का नया मंत्रिमंडल बना लेना चाहते थे। उन्होंने इसके लिए गवर्नर की मदद ली। जब मुझे खबर मिली तो मैंने उनको एक पत्र लिखा कि वह ऐसी कोई कार्रवाई न करें—दो ही दिनों में होने वाली पार्लियामेंटरी और वर्किंग कमिटी का इंतजार कर लेवें। यह पत्र उनके पास रात को गया। उस रात को उन्होंने मंत्रिमंडल का इस्तीफा देकर गवर्नर से मंजूर करा लिया और नया मंत्रिमंडल बना भी लिया। मेरा पत्र उनके पास किसी तरीके से रात में पहुंचने न पाया। दूसरे दिन सवेरे नया मंत्रिमंडल बन गया। इसमें पहले के ये दोनों मंत्री नहीं थे। कुछ नये लोग लिये गये थे। सब बातें इतनी जल्दबाजी में रातों-रात हुईं कि नागपुर के नजदीक रहते हुए भी हमको पूरी खबर मंत्रिमंडल के पुनःसंगठित हो जाने के बाद मिली। जब दूसरे दिन पार्लियामेंटरी कमिटी की बैठक हुई तो इसे लोगों ने बहुत बुरा माना। दोनों पक्षों के लोग बुलाये गये। जो नये मंत्री बने थे वे भी बुलाये गये। श्री सुभाषचन्द्र बोस भी पहुंच गये थे। यद्यपि वह पार्लियामेंटरी कमिटी के मेम्बर नहीं थे तथापि वह कांग्रेस के अध्यक्ष थे, इसलिए सबके ऊपर थे। उनकी हाजिरी में दोनों पक्ष की बातें सुनी गयीं। कमिटी का विचार हुआ कि इस तरह से नया मंत्रिमंडल बना लेना बेजा हुआ है, विशेषकर जब तुरंत ही पार्लियामेंटरी कमिटी और वर्किंग कमिटी की बैठक होने वाली थी। नये मंत्रिमंडल के मंत्रियों से कहा गया कि वे इस्तीफा दे दें। ये बातें होते-हवाते रात बहुत बीत गयी थी। पर उसी समय टेलीफोन द्वारा डाक्टर खरे ने गवर्नर को खबर दे दी कि वह और उनके साथ नये मंत्री इस्तीफा दे रहे हैं। दूसरे दिन उन्होंने इस्तीफा लिखकर भेज भी दिया। वैसा ही दूसरों ने किया। अब नया मंत्रिमंडल बनाने का निश्चय हुआ। उसमें पंडित रविशंकर शुक्ल प्रधानमंत्री बने और पंडित द्वारका प्रसाद भी एक मंत्री हुए। डाक्टर खरे उसमें नहीं आये। वहां की असेम्बली की कांग्रेस पार्टी की बैठक वर्धा में हुई जिसमें सुभाष बाबू और हम लोग भी हाजिर थे। उसने शुक्लजी को ही अपना नेता चुना। इसलिए वही प्रधानमंत्री बने।

इस सारी कार्रवाई से वहां बड़ी हलचल मच गयी। डाक्टर खरे बहुत गुस्से में आ गये। उन्होंने बहुत जोरों से पार्लियामेंटरी कमिटी और महात्माजी की शिकायत की। सारी कार्रवाई की कड़े शब्दों में निंदा भी की। वह महाराष्ट्री ब्राह्मण हैं। शुक्लजी और मिश्रजी उत्तर भारत के हिन्दी-भाषी कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। वहां और दूसरे स्थानों में भी महाराष्ट्री और अ-महाराष्ट्री का झगड़ा उठ खड़ा हुआ! कुछ दिनों तक ऐसा मालूम होता था कि कांग्रेस के अंदर बड़ी भारी फूट फैल जायेगी। डाक्टर खरे की कार्रवाइयां ऐसी हुईं कि कुछ दिनों बाद उन पर अनुशासन की कार्रवाई करनी पड़ी। उनको कांग्रेस से बहिष्कृत करना पड़ा। यह झगड़ा चल ही रहा था कि एक पुस्तिका निकली। उसमें डाक्टर खरे की बातों का समर्थन किया गया था। जो कार्रवाई वर्किंग कमिटी ने की थी उसकी निंदा भी थी। सारी बातें अखिल भारतीय कमिटी के सामने आने वाली थीं। सुभाष बाबू कई दिनों तक वर्धा में और उसके बाद नागपुर में ठहरे रहे। उन्होंने एक बहुत बड़ा बयान तैयार किया जिसमें सारी बातें लिखी हुई थीं। वह बयान एक पुस्तक के रूप में छाप दिया गया। अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के समय वह बांटा भी गया। इस सारे मामले पर विचार हुआ। तब डाक्टर खरे को कांग्रेस से निकालने का निश्चय हुआ। मैं डाक्टर खरे को 1934 से ही अच्छी तरह जानने लगा था, जब उन्होंने केंद्रीय असेम्बली के चुनाव में डाक्टर मुंजे का मुकाबला किया था। उस समय उन्होंने बहुत जोश के साथ कांग्रेस के पक्ष का समर्थन किया था। जब श्री अभ्यंकर का स्वर्गवास हो गया तो मराठी-भाषी मध्यप्रदेश के वही नेता माने जाने लगे। हम सबके साथ उनका बहुत अच्छा व्यवहार था। प्रांतीय असेम्बली के चुनाव के समय उनकी ही राय से सब बातें पार्लियामेंटरी कमिटी ने कीं। मंत्रिमंडल के संगठन में भी वही बराबर मुख्य समझे जाते रहे। इस प्रकार पार्लियामेंटरी कमिटी के लोगों का उन पर विश्वास था और उनके साथ व्यवहार भी अच्छा था। जब मैं सभापति की हैसियत से उनसे सूबे में गया था तो उन्हीं के यहां ठहरा था। उन्होंने ही दौरे में मेरा साथ दिया था। इस तरह वह सब के मान्य थे। पर इस मामले में, न मालूम क्यों, उन्होंने ऐसा विचार बना लिया। जो झगड़ा उनका मिश्रजी के साथ हुआ उसमें पार्लियामेंटरी कमिटी को भी घसीटकर उन्होंने नाध दिया। महात्मा गांधी को भी उन्होंने अछूता न छोड़ा। यह सारी घटना बड़ी दुखद हुई, क्योंकि उनके जैसा एक योग्य आदमी कांग्रेस का विरोधी बन गया। उसके बाद उन्होंने कांग्रेस को हर मौके पर नीचा दिखाने का प्रयत्न किया है। उनके ऐसे-ऐसे बयान हुए हैं और ऐसी-ऐसी बातें उन्होंने कांग्रेस के संबंध में कहीं हैं जैसी शायद कांग्रेस के कट्टर विरोधी भी नहीं कहते होंगे। हम लोगों की नजरों के सामने कांग्रेस की प्रतिष्ठा और उसके अनुशासन की रक्षा के सिवा कोई दूसरी बात नहीं थी। सच पूछिए तो मैं जितना डाक्टर खरे को जानता था और उनके प्रति जितनी श्रद्धा रखता था उतनी मिश्रजी के प्रति नहीं; क्योंकि मिश्रजी के साथ काम करने का उतना मौका नहीं आया था। डाक्टर खरे भी मिश्रजी के बड़े श्रद्धालु थे और उन पर बहुत भरोसा किया करते थे। पर कुछ विषयों में मतभेद हो जाने के कारण उनसे इतने बिगड़ गये कि दोनों का एक मंत्रिमंडल में रहना असम्भव हो गया! जो हो,

इस दुखद घटना का परिणाम अच्छा नहीं हुआ। जो झगड़ा उस समय खड़ा हुआ वह अभी तक खत्म नहीं हुआ है—यद्यपि अब वह मराठी और अ-मराठी झगड़े का रूप नहीं रह गया है। हां, दूसरे तरीके से, समय बीतते-बीतते, बातें ठंडी पड़ गयीं। पर डाक्टर खरे कांग्रेस से अलग हो ही गये हैं और शायद रहेंगे ही।

131

आसाम और उड़ीसा के मंत्रिमंडल की कुछ बातें

अखिल भारतीय कमिटी की उसी बैठक में, जिसमें डाक्टर खरे के हटाये जाने का प्रस्ताव पास हुआ, कुछ बहस मंत्रिमंडलों के संबंध में भी हुई थी। इससे यह पता चला कि कुछ लोग, कांग्रेस के अंदर भी मंत्रिमंडलों से नाखुश थे और चाहे जिस तरह हो, उन पर कुछ-न-कुछ आरोप लगाना ही चाहते थे। पर यद्यपि उस बहस में बहुत बातें कही गयीं और जो लोग अपने को वामपंथी कहा करते थे उन्होंने बहुत जोर लगाया, तथापि अखिल भारतीय कमिटी ने मंत्रिमंडलों की निंदा नहीं की और काम चलने दिया।

एक तरफ तो जहां मंत्रिमंडल बन गये थे वहां इस तरह उन पर हमले किये जा रहे थे, दूसरी तरफ जहां कांग्रेसी मंत्रिमंडल नहीं था वहां कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनाने का प्रयत्न भी चलता रहा। आसाम उन सूबों में है जहां विधान के अनुसार हिन्दू और मुसलमान के अलावा अंगरेजों और आदिवासियों की खासी संख्या असेम्बली में है। कांग्रेस ने अ-मुस्लिम जगहों में काफी सफलता चुनाव के समय पा ली थी, कांग्रेसी लोग ही सबसे अधिक संख्या में चुने गये थे, सारी असेम्बली में उनकी ही पार्टी सबसे बड़ी थी; पर सारी असेम्बली में उनका अकेला बहुमत नहीं था। जब और कांग्रेसी सूबों में चंदरोजा मंत्रिमंडल बना था तब वहां भी बना था; पर और जगहों से वहां यह विभिन्नता थी कि अकेले कांग्रेसी लोग वहां बहुमत नहीं रखते थे, इसलिए यदि दूसरे लोग सब-के-सब मिल जायें तो वे अल्पमत वाले हो जाते थे। अतः जब कुछ महीनों के बाद दूसरी जगहों में मंत्रिमंडल बने तब वहां नहीं बन सका और कुछ दिनों तक वहां का गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडल दूसरों को मिलाकर अपना बहुमत कायम रख सका। यह बहुमत स्थायी नहीं था। 1938 के पिछले भाग में वहां की स्थिति ऐसी हो गयी कि उस मंत्रिमंडल के साथ बहुमत नहीं रह गया। वहां भी ऐसा मौका आ गया कि दूसरे दलों के लोगों के साथ मिलकर कांग्रेस अपना बहुमत बना सकती थी और इस तरह कुछ दूसरे लोगों के साथ वह मंत्रिमंडल भी बना सकती थी। ऐसी स्थिति उपस्थित होने पर वहां के लोगों ने पार्लियामेंटरी कमिटी और कांग्रेस के सभापति की आज्ञा जाननी चाही। स्वयं सभापति सुभाषचन्द्र बोस और पार्लियामेंटरी कमिटी के वह सदस्य मौलाना आजाद, जिनके जिम्मे उस सूबे की देखभाल सौंपी गयी थी, वहां गये। मंत्रिमंडल बनाने के पक्ष में श्री

सुभाषचन्द्र बोस बहुत जोरों से थे। पर मौलाना साहब इसे नापसंद करते थे। मुझसे और सरदार वल्लभभाई पटेल से टेलीफोन द्वारा राय पूछी गयी। हम दोनों दो स्थानों में थे। इसलिए बातें करके कोई राय नहीं दे सकते थे। जो जहां था वहीं से उसने अपनी राय दे दी। मैंने मौलाना साहब के साथ अपनी राय दी। सरदार ने सुभाष बाबू की बात मान ली। हमारे सामने प्रश्न सिद्धांत का था। कांग्रेस ने मंत्रिपद सिद्धांततः लिया था। वह केवल पद के लिए पद नहीं लेना चाहती थी। जहां उसका अपना बहुमत नहीं था वहां उसे दूसरे विचार वाले लोगों के ऊपर भरोसा करना पड़ता था। हम समझते थे कि वहां उस तरह स्वतंत्रता और निर्भीकता के साथ काम नहीं हो सकता था जिस तरह उन सूबों में जहां कांग्रेस के पास अपना बहुमत था। इसी बहुमत के बल पर बिहार और युक्तप्रांत में इस्तीफा देकर मंत्रिमंडल राजबंदियों को रिहा करा सका था। इसी बहुमत के बल पर उड़ीसा में सर जौन डेन को गवर्नर होने से रोक दिया था। क्या ऐसा अवसर आने पर आसाम में दूसरों के बल पर कांग्रेस इस तरह का कोई जबरदस्त काम कर सकेगी? इसमें संदेह था। इसलिए मैं समझता था कि वहां पद तो मिलेगा और हो सकता है कि मामूली तौर पर मंत्रिमंडल का काम भी चले; पर किसी गंभीर अवसर पर हम कांग्रेस की नीति को न चला सकेंगे। पर सुभाष बाबू का विचार था कि पद ले लेने से कांग्रेस की शक्ति बढ़ जायेगी और जो लोग उस समय अलग थे वे उसके साथ आ जायेंगे, इसलिए पद ले लेना ही ठीक होगा। सरदार ने सभापति की बात रख दी। वहां ठीक उसी समय मंत्रिमंडल बना, जब दो-चार दिनों के अंदर ही अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होने वाली थी। आसाम से लौटते रास्ते में सुभाष बाबू की तबीयत कुछ खराब हो गयी। वह उस बैठक में देर करके पहुंचे थे।

ऊपर उड़ीसा का जिक्र आया है। वहां मि. डेन सिविल सर्विस के ऊंचे पदाधिकारी थे। वहां के गवर्नर छुट्टी पर जाने लगे; मि. डेन की नियुक्ति उनके स्थान पर कुछ महीनों के लिए की गयी। मंत्रिमंडल ने कहा कि जो अफसर हमारे अधीन काम करता रहा है और हो सकता है कि गवर्नरी की अवधि पूरी हो जाने पर फिर उसे हमारी अधीनता में ही काम करना पड़े उसे गवर्नर नहीं बनाना चाहिए; क्योंकि जो आज हमारे अधीन है वह कल हमारे ऊपर हो जाये तो उसी के अधीन हमें काम करना पड़ेगा, यह ठीक नहीं है—काम करने में कठिनाई आ सकती है और सिविल सर्विस के लोगों पर मंत्रिमंडल का अनुशासन ठीक नहीं चल सकेगा। मंत्रिमंडल ने धमकी दी कि यदि मि. डेन गवर्नर नियुक्त किये जायेंगे तो मंत्री अपने पद पर नहीं रह सकेंगे, मंत्रिमंडल इस्तीफा दे देगा। मि. डेन से मंत्रियों का कोई व्यक्तिगत झगड़ा नहीं था, यद्यपि कुछ दिन पहले उनसे किसी विषय पर मतभेद हो गया था। वे इस बात का केवल सिद्धांततः विरोध कर रहे थे। नतीजा यह हुआ कि गवर्नर ने छुट्टी नहीं ली। अतः स्थानापन्न गवर्नर की नियुक्ति का मौका उस समय नहीं आया। दूसरे सूबों में, जहां-कहीं गवर्नर ने छुट्टी ली और स्थानापन्न गवर्नर की नियुक्ति का मौका आया, उस सूबे के सिविलियन को यह पद न मिला; दूसरे सूबे से

ही कोई लाया गया। खैर, सिद्धांत की बात तो ठीक थी। पर यह विचारने की बात है कि यदि किसी सिविलियन को ही गवर्नर होना है तो चार महीनों के लिए। इतने दिनों के लिए ही अक्सर गवर्नर छुट्टी लिया करते हैं। दूसरे सूबे से किसी सिविलियन को लाकर गवर्नर बनाना सूबे के लिए कहां तक हितकर है ? चार महीनों में तो वह सूबे की हालत की वाकफियत भी नहीं हासिल कर सकता है ! इसका नतीजा यही होगा कि वह केवल जगह टांड़कर बैठेगा, कुछ कर नहीं सकेगा। सबसे अच्छा तरीका तो यह होगा कि उसी सूबे का कोई गैर-सरकारी आदमी गवर्नर बन जाये जो सूबे की सब बातें जानता हो और अन्य प्रकार से भी योग्य हो। पर यह तो एक छोटी त्रुटि विधान में है—इससे बहुत बड़ी-बड़ी त्रुटियां उसमें हैं जिनके कारण वह सारा-का-सारा बदलना ही पड़ेगा।

132

त्रिपुरी कांग्रेस के पहले और उसके बाद की कुछ बातें

अखिल भारतीय कमिटी की बैठक समाप्त हुई, पर अभी वर्किंग कमिटी के सदस्य वहीं थे—जब योरप की खबर आयी कि हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर चढ़ाई करना चाहता है और इंग्लैंड के प्रधानमंत्री मि. चेम्बरलेन वहां हिटलर से मिलने गये हैं। जो समाचार मिले उनसे इसका भय हुआ कि इंग्लैंड और जर्मनी में कही युद्ध न छिड़ जाये। वर्किंग कमिटी इसीलिए वहां ठहर गयी और इस बात पर विचार करने लगी कि लड़ाई यदि छिड़ जाये तो कांग्रेस को क्या करना चाहिए। इसमें शक नहीं मालूम होता था कि हिटलर का चेकोस्लोवाकिया पर चढ़ाई करना अनुचित है। यह उतना ही अनुचित है जितना इटली का अबीसीनिया पर चढ़ाई करना अनुचित था—यद्यपि यहां हिटलर को यह कहने का बहाना था कि कुछ जर्मन चेकोस्लोवाकिया में हैं जिनके साथ वहां की गवर्नमेंट का बर्ताव ठीक नहीं था और जो जर्मनी के साथ रहना चाहते थे। चेकोस्लोवाकिया में तीन प्रकार के लोग बसते थे—कुछ जर्मन, कुछ चेक, कुछ स्लावेक। यह देश प्रथम योरपीय महासमर के पहले आस्ट्रिया के साम्राज्य के अधीन था। उस युद्ध के बाद यह स्वतंत्र हुआ था। वह साम्राज्य जब टुकड़े-टुकड़े किया गया था तब यह एक टुकड़ा अलग स्वतंत्र देश के रूप में कायम कर दिया गया था। जिस समय अबीसीनिया की लड़ाई चल रही थी और इटली उस पर आक्रमण करके उसे अपने कब्जे में कर लेने के प्रयत्न में लगा था, कांग्रेस ने अबीसीनिया के साथ हमदर्दी दिखायी थी। हमदर्दी तो ब्रिटिश गवर्नमेंट भी दिखलाती थी! कांग्रेस ने निश्चय किया था कि साम्राज्य की लड़ाई में वह ब्रिटेन की मदद नहीं करेगी। उस समय भी प्रश्न उठा था कि यदि ब्रिटिश साम्राज्य अबीसीनिया जैसे कमजोर देश की मदद के लिए इटली से युद्ध ठान दे तो कांग्रेस मुश्किल में पड़ेगी; क्योंकि कांग्रेस को अबीसीनिया की सहायता अभीष्ट थी, पर ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता नहीं। वही प्रश्न इस समय पर उपस्थित हुआ। साथ ही, यह भी विचारने की बात थी कि कांग्रेस क्या मदद दे सकती है? एक तो कांग्रेस ने अहिंसा के सिद्धांतों को मान लिया है। उस सिद्धांत को मानते हुए वह सशस्त्र युद्ध में मदद कर सकती है या नहीं, यह जटिल प्रश्न उपस्थित होता था। साथ ही, हम

यह भी देखते थे कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल कई सूबों में काम कर रहे हैं और उनका सारा काम अहिंसा के सिद्धांत पर नहीं चल रहा है। कहीं-कहीं बलवा-फसाद के समय कांग्रेसी मंत्रिमंडल के आधिपत्य में भी गोली चलानी पड़ी थी। पुलिस और जेलखाने अपने-अपने काम कर ही रहे थे। भारतीय शासन में कांग्रेस का अधिकार नहीं था, पर वहां भी उसकी ओर से फौज का विरोध इस आधार पर कभी नहीं किया गया था कि हम अहिंसा के मानने वाले हैं और सशस्त्र फौज हमको नहीं चाहिए। इसके अलावा, यदि सचमुच लड़ाई छिड़ जाये तो वह हमारे काबू के बाहर की चीज़ होगी और कांग्रेस को मजबूरन उसकी मदद या विरोध करना ही पड़ेगा। ये सब प्रश्न एक साथ अचानक हमारे सामने आ गये। महात्माजी भी वहां उपस्थित थे, पर उन दिनों पं. जवाहरलाल नेहरू योरप गये हुए थे। इसलिए महात्माजी की राय तो मिल सकती थी, पर जवाहरलालजी की राय नहीं मालूम हो सकती थी। सब पहलुओं पर विचार होता रहा। विशेषकर यह सवाल तो सामने था ही कि हम कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को क्या आदेश देंगे ? उसी समय वर्किंग कमिटी के मेम्बरों के बीच इस विषय पर मतभेद मालूम हुआ। पर बहुत कोशिश के बाद भी सभापति की क्या राय थी और वह क्या आदेश देते, हम नहीं जान सके। हम अभी विचार कर ही रहे थे कि उधर से खबर आ गयी कि उस समय इंग्लैंड और फ्रांस ने किसी तरह जर्मनी के साथ अपनी बात बना ली और अब लड़ाई नहीं छिड़ेगी।

यह वर्ष भी प्रायः समाप्त होने पर आ गया। इस वर्ष में कांग्रेस के लोग विशेषकर मंत्रिमंडल के काम में ही लगे रहे। जहां-तहां कांग्रेस कमिटियों में भी झगड़े हुए। कांग्रेस के चुनाव बहुत जोश के साथ लड़े गये। इन दो-तीन वर्षों में कांग्रेसी मेम्बर खूब बने; क्योंकि कार्यकर्ताओं ने इसमें बहुत जोर लगाया। पहले तो कुछ दिनों तक कांग्रेस गैर-कानूनी हो गयी थी, इसीलिए जब वह फिर काम करने लगी तो लोगों में बहुत जोश था। उसके बाद नये विधान के अनुसार असेम्बली का चुनाव होने वाला था। कांग्रेस की ओर से नामजदगी के लिए लोगों ने उत्साह दिखलाया। कुछ ने यह भी शायद सोचा कि उनके विचार वाले यदि कांग्रेस मे आ जायेंगे तो वे अपने विचार वालों को नामजद करा सकेंगे। इसी तरह के और कारण भी होते गये और कांग्रेस की मेम्बरी बहुत बढ़ गयी थी। अब कांग्रेस के प्रतिनिधियों, अखिल भारतीय कमिटी और कांग्रेस के सभापति के चुनाव का समय भी नजदीक आ गया। कुछ लोगों का विचार था कि इस बार मौलाना अबुल कलाम आजाद ही सभापति चुने जायें। कुछ लोग सुभाष बाबू को चाहते थे कि वही दुबारा चुने जायें। पर यह बात वर्किंग कमिटी के सदस्यों के सामने नहीं आयी थी। हरिपुरा कांग्रेस के पहले सबकी राय से और विशेषकर महात्माजी की अनुमति तथा आशीर्वाद के साथ सुभाष बाबू सर्व-सम्मति से चुने गये थे। यदि वह अपनी इच्छा महात्माजी से प्रकट करते और हम सब मिलकर राय

करते तो शायद कोई रास्ता निकल गया होता और बात आगे न बढ़ती। पर उन्होंने या उनके समर्थकों ने ऐसा नहीं किया। पीछे इस कारण बहुत बुरी तरह झगड़ा उठ खड़ा हुआ।

1939 के मार्च में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मध्यप्रदेश में, जबलपुर के नजदीक त्रिपुरी में, होने वाला था। जनवरी में वर्किंग कमिटी की एक बैठक बारदोली में हुई। महात्माजी इधर कई वर्षों से हर साल के जाड़े का एक महीना बारदोली में बिताते हैं। उन दिनों वह वहीं थे। इसलिए बैठक भी वहीं की गयी। जहां तक मुझे स्मरण है, वहां कोई विशेष महत्व का प्रश्न उपस्थित नहीं था। वहां से रवाना होने के समय हमने जो थोड़ी-बहुत आपस में चर्चा की उससे मैंने समझा कि इस बार मौलाना साहब को ही सभापति हम लोग चुनें। सुभाष बाबू से इस संबंध में कोई बात नहीं हुई थी। शायद उन्होंने महात्माजी से भी बातें नहीं कीं। पर हमने यह सुना कि वह जहां-कहीं गये थे, अपने विचार वाले कांग्रेसी लोगों से वह अपने संबंध में बातें करते थे। महात्माजी से मौलाना की बातें हुईं और वह राजी भी हुए कि वह सभापति चुने जायें। पर हमने सुना कि पीछे उन्होंने अपनी राय बदल दी और महात्माजी से अपनी अनिच्छा प्रकट की। मैं पटने में पहुंच गया था। सरदार वल्लभभाई का तार मिला कि डा. पट्टाभि सीतारमैया के समर्थन के लिए वक्तव्य पर मेरा दस्तख्त चाहिए। मैंने मंजूर कर लिया। तब मुझे मालूम हुआ कि डा. पट्टाभि ही चुने जाने चाहिए। यह निश्चय सरदार ने महात्माजी की सम्मति से किया था। अब बात जाहिर हो गयी कि मौलाना सभापति होना नहीं चाहते और मुकाबला पट्टाभि सीतारमैया और श्री सुभाष बोस में है।

यों तो हर साल दो-चार नाम सभापति के चुनाव के लिए उपस्थित किये जाते हैं और उन्हीं में से एक चुना जाता है; पर इधर कई वर्षों से कभी दो का मुकाबला नहीं होता था। प्रायः सभी सूबों के लोग, यों ही बिना किसी के बतलाये, मान लेते थे कि इस बार अमुक व्यक्ति को चुनना चाहिए; वही चुना भी जाता था। जो दूसरे नाम रहते थे उनके संबंध में कोई खास प्रयत्न नहीं किया जाता था। जहां-तहां कुछ वोट उनको मिल भी जाते तो उसका अर्थ कोई यह नहीं लगाता कि दूसरे के मुकाबले में एक आदमी चुना गया है। इस बार चुनाव का रूप दूसरा हो गया। मालूम हुआ कि दो आदमियों में मुकाबला है। इतना ही नहीं, कुछ ऐसा भी मालूम हुआ कि एक ओर उस विचार के लोग हैं जो गांधीजी के विचारों से सहमत हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जो गांधीजी के कार्यक्रम में विश्वास नहीं रखते। यद्यपि गांधीजी बम्बई कांग्रेस के समय से ही कांग्रेस से अलग हो गये थे, तथापि अभी तक उनकी ही विचारधारा कांग्रेस में काम कर रही थी, सब बातों में उनकी राय से ही काम होता आ रहा था। जब कभी मतभेद होता तो वही सब मुश्किलों का हल निकालते और अंत में सभी झगड़ों का वही निपटारा करते। इस बार मालूम हुआ कि मानो कुछ नया होने वाला है और इसीलिए ऐसे आदमी का चुनाव होना चाहिए जो अपना कार्यक्रम खुद बतावेगा और

अपने बनाये रास्ते से कांग्रेस को ले चलना चाहेगा। ये बातें थीं तो सही,पर चुनाव के समय स्पष्ट नहीं हुईं। गांधीजी ने अपनी ओर से कोई वक्तव्य नहीं निकाला। यदि मौलाना रह गये होते तो इसमें कोई संदेह नहीं था कि वह बहुत बड़े बहुमत से चुने जाते; क्योंकि साधारण कांग्रेसी लोग उनको चाहते थे और वह गांधीजी के कार्यक्रम से अलग होना भी नहीं चाहते थे। उन्होंने यह नहीं समझा कि इस चुनाव में डाक्टर पट्टाभि सीतारमैया एक विचारधारा और एक कार्यक्रम के प्रतीक-स्वरूप चुनाव के उमीदवार हैं। खैर, चुनाव हुआ। नतीजा यह हुआ कि एक बड़े बहुमत से श्री सुभाषचन्द्र बोस चुने गये।

कई बरसों से कांग्रेस के कुछ पहले वर्किंग कमिटी की बैठक हुआ करती है जिसमें कांग्रेस के समय होने वाली विषय निर्वाचिनी के लिए प्रस्तावों का मसविदा तैयार किया जाता है। इस बार भी वैसा ही होना था। वर्किंग कमिटी में जो लोग थे उनमें बहुत ज्यादा ऐसे ही लोग थे, जो सुभाष बाबू की राय से—जहां तक वह मालूम थी—सहमत नहीं थे। हमने सोचा कि अच्छा हो यदि सुभाष बाबू अपने विचार के लोगों से सलाह करके प्रस्ताव तैयार करें; क्योंकि उनको ही कांग्रेस का भार लेना होगा और उनके लिए तथा हम लोगों के लिए भी, जो गांधी-विचारधारा में विश्वास करने वाले थे, यही अच्छा होगा। वर्किंग कमिटी के सदस्य रहकर और उन प्रस्तावों के तैयार करने में मदद देकर यदि हम कांग्रेस के अधिवेशन के समय उन प्रस्तावों का विरोध करेंगे तो यह हमारे लिए अनुचित होगा। सुभाष बाबू को भी हमारी हाजिरी से संकोच होगा और अपनी इच्छा के अनुसार वह प्रस्ताव नहीं बनवा सकेंगे; क्योंकि वर्किंग कमिटी में हम लोगों का बहुमत था। इसीलिए हमने वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे दिया और इस तरह उनको पूरा मौका दे दिया कि वह अपनी इच्छा के अनुसार अपनी वर्किंग कमिटी बना लें और उसी की मदद से प्रस्ताव भी तैयार करें। ऐसा होने से, उन प्रस्तावों को देखने के बाद यदि हम भी उनसे सहमत न होंगे, तो कांग्रेस में उनका विरोध करने के लिए स्वतंत्र रहेंगे। प्रजातंत्र का साधारण नियम भी यही है कि जिसके साथ बहुमत हो वही उसके चलाने का भार ले और बहुमत की मर्जी के मुआबिक कार्यक्रम बनावे।

हम लोग वर्धा गये, जहां वर्किंग कमिटी होने वाली थी। गये भी समय पर, ताकि सब बातें मुकाबले में हो जायेंगी और हमारी इस कार्रवाई से कोई गलत-फहमी नहीं होगी। पर दुर्भाग्यवश सुभाष बाबू बीमार हो गये, वहां गये ही नहीं। वर्किंग कमिटी के सदस्यों का इस्तीफा ज्यों का त्यों पड़ा रहा। यदि चाहते तो उनकी गैरहाजिरी में हम अपने विचार के अनुसार प्रस्ताव तैयार कर लेते और उन्हें विषय निर्वाचिनी के सामने उपस्थित करने का प्रयत्न करते। पर हमने यह मुनासिब नहीं समझा; क्योंकि सभापति के चुनाव का अर्थ हमने यह समझा कि प्रतिनिधियों का बहुमत सुभाष बाबू से सहमत है और हमारे लिए उचित है कि हम उनको पूरा मौका दें ताकि वह जिस तरह मुनासिब समझें, काम चलावें। नतीजा यह हुआ कि वर्किंग कमिटी की बैठक स्थगित करनी पड़ी। हम त्रिपुरी का इंतजार करने लगे। कांग्रेस

के लोगों में इस चुनाव और उसके बाद की घटनाओं के संबंध में चर्चा और वादविवाद हो रहा था।

उधर काठियावाड़ में एक दूसरी परिस्थिति पैदा हो रही थी। वहां कई रियासतों में प्रजा और राजा के बीच मनमुटाव हो गया था। सरदार वल्लभभाई इसमें दिलचस्पी ले रहे थे। वहां के लोग उनकी राय से ही काम कर रहे थे। कांग्रेस की नीति अभी तक यही थी कि वह स्वयं सीधे तौर पर रजवाड़ों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी; पर देशी राज्यों की जनता की प्रजातंत्रात्मक इच्छा के साथ वह सहानुभूति रखती है और कांग्रेसी लोग व्यक्तिगत रूप से उनकी सहायता भी कर सकते हैं। इसी नीति के अनुसार डा. पट्टाभि सीतारमैया रियासती प्रजामंडल के सभापति हुए थे और पंडित जवाहरलालजी भी सभापति हुए हैं। महात्माजी तो मानो सभी बातों में पूछे जाते थे और अपनी सम्मति तथा आदेश से उनको चलाते थे। गुजरात और काठियावाड़ की रियासतों में सरदार वल्लभभाई बड़ी तत्परता और लगन से काम करते थे। जहां जरूरत पड़ती वहां जाते भी थे। सेठ जमनालालजी विशेषकर राजपूताने के रजवाड़ों के संबंध में काम करते और प्रजामंडल स्थापित कराने में सहायता देते।

इस समय काठियावाड़ की रियासत राजकोट में जो राजा-प्रजा में अनबन हुई उसमें सरदार वल्लभभाई पड़े और उनके बीचवान होने से कुछ बातें तय हुईं जिन्हें राजा ने मंजूर किया। इस समझौते से महात्माजी भी सहमत थे। पीछे राजा और राज्याधिकारी समझौते की शर्तों को पूरा करने से मुकर गये। महात्माजी को यह बात बुरी मालूम हुई। वह प्रतिज्ञा और वचन की बड़ी मर्यादा रखते हैं। किसी की की हुई प्रतिज्ञा को भंग होते देख उनको आंतरिक कष्ट होता है। विशेषकर सार्वजनिक मामलों में की गयी प्रतिज्ञाओं की प्रतिष्ठा और भी ज्यादा है। उन्होंने चाहा कि जो बात एक बार तय हो गयी है उसे रियासत को पूरा करना चाहिए। इसके लिए उन्होंने पूरा प्रयत्न किया (स्वयं राजकोट चले गये)। जब वह सफल नहीं हुए तो उन्होंने अनशन आरंभ कर दिया। अनशन उनके लिए कोई नयी चीज नहीं थी। जब वह दक्षिण अफ्रिका से लौटकर हिन्दुस्तान में काम शुरू कर रहे थे तब अहमदाबाद के मजदूरों ने हड़ताल की थी। उस हड़ताल में मजदूरों ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक उनकी मांगे पूरी न होंगी, वे काम नहीं करेंगे। प्रतिज्ञा करते समय शायद मजदूरों ने प्रतिज्ञा का महत्व नहीं समझा था। भारतवर्ष के लिए भी गांधीजी बिलकुल नये थे। किसी ने प्रतिज्ञा पर इतना जोर उस समय तक नहीं दिया था। जब मजदूरों को कष्ट होने लगा तो वे काम पर वापिस जाने लगे। गांधीजी इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सके। उन्होंने अनशन शुरू कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि एक ओर मजदूर भी अड़ गये और दूसरी ओर मिल-मालिक भी नरम हो गये। संतोषप्रद समझौता हो गया। उसी नीति के अनुसार उन्होंने राजकोट राज्य से प्रतिज्ञा पूरी कराने के लिए अनशन आरंभ कर दिया। यह अनशन ठीक

उन्हीं दिनों में हुआ जब त्रिपुरी में कांग्रेस हो रही थी। इसी कारण गांधीजी त्रिपुरी में नहीं आ सके। वहां जो कुछ हुआ, उनकी गैरहाजिरी में ही हुआ।

गांधीजी के अनशन का नतीजा यह हुआ कि इस मामले में वायसराय लार्ड लिनलिथगो पड़े। एक तरह से उस समय मामला तय हो गया। गांधीजी ने अन्न ग्रहण किया; पर उन्होंने इस अनशन से मार्मिक नैतिक सिद्धांत निकाले, जिनका जिक्र उन्होंने अधिकतर 'हरिजन' साप्ताहिक में किया। उनका विचार हुआ कि यह अनशन अहिंसात्मक नहीं था। उन्होंने पुनर्विचार के बाद अपनी भूल समझी और जैसा उनका तरीका है, इस बात को प्रकाशित भी कर दिया। जिस सूक्ष्मता के साथ वह ऐसे नैतिक प्रश्नों पर विचार करते हैं और जहां-कहीं उनके हृदय में किसी विषय की कोई कार्रवाई बाल-भर भी सत्य से हटी हुई मालूम होती है, उसे तुरंत स्वीकार करके उससे बाज आने में जरा भी नहीं हिचकते। यह वही करते हैं और कर सकते हैं; दूसरा कोई राजनीतिक पुरुष इन विषयों पर उस उच्च नैतिक दृष्टिकोण से न तो नजर डालता है और न छोटी-से-छोटी त्रुटि के कारण कार्यक्रम को बदल देता है।

त्रिपुरी कांग्रेस का अधिवेशन एक अजीब और दुखद स्थिति में हुआ। चुनाव के बाद समाचारपत्रों में जो वादविवाद हुआ उससे आपस में काफी क़टुता आ गयी थी। सुभाष बाबू के समर्थक लोग हम लोगों पर यह दोषारोपण कर रहे थे कि उनके बहुमत से चुने जाने के कारण हम लोग रुष्ट हो गये हैं, उनको नीचा दिखाना चाहते हैं, इसलिए हमने वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे दिया है और हर तरह उनके रास्ते में अड़ंगा लगा रहे है। हम यह समझते थे कि यदि सचमुच बहुमत उनके साथ है तो कांग्रेस चलाने का पूरा भार उनको उठाना चाहिए और ऐसे ही लोगों की वर्किंग कमिटी बनाकर कार्यक्रम निश्चित करना चाहिए जो उनसे पूरी तरह सहमत हों; हम उनसे बहुत बातों में सहमत नहीं थे और हमारे लिए उनके साथ मिलकर काम करना कठिन था—यदि सिद्धांत और कार्यक्रम में हमारे साथ उनका मतभेद नहीं था तो उनको चुनाव में लड़ना ही उचित नहीं था—यदि उनके साथ बहुमत नहीं था और वह लोगों की गैर-समझ के कारण अथवा किसी दूसरे कारण से चुने गये थे तो वह चुनाव ही गलत था। जो हो, हम चाहते थे कि बात साफ हो जाये। हम नहीं चाहते थे कि कार्यक्रम वह और उनके विचार के लोग बनावें, और उसकी जवाबदेही हमारे सिर पर रहे; हम यह भी न कह सकें कि हम उससे सहमत नहीं हैं। इन्हीं विचारों से हमने कांग्रेस के जलसे से पहले ही इस्तीफा दे दिया था। पर जैसा ऊपर कहा गया है, वह इस्तीफा मंजूर नहीं हुआ; त्रिपुरी कांग्रेस के समय पुरानी वर्किंग कमिटी बनी रही।

त्रिपुरी में अधिवेशन के पहले और अधिवेशन के समय आपस में बहुत कशमकश थी। कार्यकर्ताओं में तीव्र मतभेद था। दुर्भाग्यवश सुभाष बाबू बीमार भी थे। त्रिपुरी में वह बहुत खिन्नावस्था में पहुंचे थे। वहां की स्वागतकारिणी ने बहुत बड़े समारोह का प्रबंध

किया था। सभापति के जलूस के लिए सारे सूबे से उतने हाथी जमा किये थे जितने वर्षों से कांग्रेस के अधिवेशन होते आ रहे थे। बहुतेरे हाथी उस सूबे के रजवाड़ों के थे। प्रतिनिधियों के रहने आदि का भी अच्छा प्रबंध हुआ था। सभापति के लिए एक अलग ही कैम्प था जिसमें काफी लोग ठहरे थे। वर्किंग कमिटी के सदस्य दूसरे कैम्प में ठहराये गये थे और प्रतिनिधि अपने-अपने सूबे के लिए बने कैम्पों में ठहरे थे। प्रतिनिधियों के कैम्पों में गरमागरम बहस चल रही थी। वर्किंग कमिटी की बाजाब्ता बैठक होना भी कठिन था; क्योंकि मनोनीत सभापति बीमार थे और आपस का मनमुटाव भी काफी बढ़ गया था। हमने वहां भी बहुत प्रयत्न किया कि मनोनीत सभापति नयी कार्यकारिणी बना लें और हम लोगों को मुक्त कर दें, ताकि हम स्वतंत्रतापूर्वक कांग्रेस के काम में भाग ले सकें। पर ऐसा नहीं हुआ। जो कार्यक्रम वह देना चाहते थे वह पहले तो हमको पूरा मालूम ही नहीं था और जहां तक मालूम था, हम उससे सहमत नहीं थे। ऐसी अवस्था में कार्यकारिणी को अपना प्रस्ताव तैयार करना पड़ा। उसमें हमने सारी स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए यही कहा कि सभापतिजी यदि चाहें तो अपनी मर्जी के अनुसार कार्यकारिणी बनाकर अपना कार्यक्रम कांग्रेस में मंजूर करा लें, और यदि वह ऐसा करने को तैयार नहीं हैं तो कार्यक्रम और कार्यकारिणी गांधीजी की राय से बनावें। इन दोनों में से वह कोई भी काम नहीं करना चाहते थे; क्योंकि वह जानते थे कि यद्यपि बहुमत से वह चुने गये हैं तथापि उनके कार्यक्रम को खुली कांग्रेस मंजूर नहीं करेगी। ऐसी स्थिति में उनको या तो फिर गांधीजी के कार्यक्रम को स्वीकार करके उसी के अनुसार चलना होगा या इस्तीफा देना पड़ेगा। वह गांधी-मत वालों के कार्यक्रम को भी स्वीकार नहीं करना चाहते थे और उनको छोड़ना भी नहीं चाहते थे। वह चाहते थे कि वे लोग उनके कार्यक्रम की जवाबदेही लें और उसे चलावें। हम लोगों में से कुछ आदमी जब-तब जाकर इन बातों के संबंध में उनसे परामर्श करते; पर कोई रास्ता न निकला और अंत में यही निश्चय हुआ कि हम लोग अपना प्रस्ताव विषय निर्वाचिनी समिति के सामने रख देंगे—सभापति जो उचित समझेंगे, करेंगे।

विषय निर्वाचिनी की बैठक में सुभाष बाबू अस्वस्थावस्था में किसी तरह लाये गये। वह मंच पर लेटे रहे। उनकी पूजनीया माता और उनके परिवार की लड़कियां उनकी देखभाल करती रहीं। उनके भाई डाक्टर सुनील बोस तथा दूसरे डाक्टर भी बराबर उन्हें देखते रहे। उन्होंने लेटे-लेटे छोटा-सा भाषण भी दिया जिसमें अपनी राय और अपना दृष्टिकोण बतला दिया। हम लोगों का प्रस्ताव भी रखा गया और बहुमत से वही स्वीकृत हुआ। बात स्पष्ट हो गयी कि विषय निर्वाचिनी समिति में, जिसके सदस्य अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के सदस्य ही हुआ करते हैं, उनका बहुमत नहीं है और उन्हीं लोगों के साथ अखिल भारतीय कमिटी के रूप में जब तक दूसरा अधिवेशन न हो और नये सदस्य न चुन लिये जायें, सभापति को काम करना होगा। पर अभी कांग्रेस के खुले अधिवेशन में प्रतिनिधियों का क्या रुख होगा—मालूम नहीं था। हम

जानते थे कि वहां भी बहुत बड़ा बहुमत हमारे साथ होगा तो भी जब तक अधिवेशन न हो ले, इसको कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता था। अब अधिवेशन के समय दो प्रस्ताव पेश होंगे—एक सभापति की ओर से, दूसरा हम लोगों की ओर से, और यही देखना था कि खुले जलसे में क्या नतीजा निकलता है।

खुले अधिवेशन का समय आ गया। सुभाष बाबू अधिवेशन में शरीक नहीं हुए। इसलिए उनके स्थान पर मौलाना अबुल कलाम आजाद बैठे। यह तभी हुआ जब बहुत इंतजार के बाद भी मनोनीत सभापति नहीं पहुंचे। उनकी अस्वस्थता का हाल सब लोगों को मालूम था और वहां भी सब बातें बता दी गयीं। अधिवेशन आरंभ हुआ। सभापति का भाषण पढ़कर सुना दिया गया। इजिप्ट (मिस्र) से कुछ प्रतिनिधि कांग्रेस देखने आये थे, उनका स्वागत किया गया। उन्होंने इजिप्ट की ओर से कांग्रेस के प्रति और भारत के आजादी-आन्दोलन के साथ सहानुभूति दिखलायी। उसके बाद बाजाब्ता कार्यक्रम आरंभ होने को था जब कुछ लोगों की ओर से कहा गया कि सभापति की गैरहाजिरी में प्रस्ताव न पेश किया जाये। सारे देश के लोग एकत्र थे। इतने बड़े अधिवेशन को स्थगित करना ठीक नहीं मालूम पड़ा। सभापति ने कहा कि प्रस्ताव उपस्थित कर दिया जायेगा और ज्यादा बहस तथा मतप्रदर्शन दूसरे दिन होंगे जब आशा की जाती थी कि सभापति आ जायेंगे। उनकी इस बात को कुछ लोगों ने पसंद नहीं किया। कुछ लोगों ने शोर मचाना शुरू किया। शोर करने वालों की संख्या बहुत नहीं थी। पर बड़ी सभा को भी थोड़े लोग गड़बड़ी में डाल दे सकते हैं। उस समय पं. जवाहरलालजी मंच पर खड़े थे। उन्होंने लोगों को शांत करने का पूरा प्रयत्न किया। पर शोर मचाने वाले शांत होने के बदले अपने स्थान से आगे बढ़ने लगे और मंच के नजदीक आ पहुंचे तथा अधिक शोर मचाने लगे। जवाहरलालजी अपने स्थान से हटे नहीं। वह लाउड-स्पीकर द्वारा पचास हजार उपस्थित जनता से और दूसरे प्रतिनिधियों से आग्रह करते रहे कि वे अपने-अपने स्थान पर शांत बैठे रहें। इसका नतीजा यह हुआ कि जो थोड़े लोग शोर मचा रहे थे वे आगे बढ़े, पर उनका साथ दूसरों ने नहीं दिया और जन समूह में वे मुट्ठी-भर दीखने लगे। वे मंच के नजदीक पहुंचकर कुछ देर तक शोर करते रहे; पर जवाहरलालजी अपने स्थान से डिगे नहीं। अंत में वे लोग थककर चुप हो गये। उसके बाद सभा की कार्रवाई ठीक चली। दोनों प्रस्ताव उपस्थित कर दिये गये। बहस और मत लेने की बात दूसरे दिन के लिए रख छोड़ी गयी।

हमने देखा कि इस प्रदर्शन से उपस्थित जनता और दूसरे प्रतिनिधि रुष्ट हुए। जिन लोगों ने प्रदर्शन द्वारा जनता और प्रतिनिधियों को अपनी ओर खींचने की बात सोची थी उनका प्रयत्न केवल निष्फल ही नहीं हुआ, बल्कि उनके लिए हानिकारक भी हुआ; क्योंकि जो थोड़े लोग उनका साथ भी देने वाले थे वे भी उनकी इस कार्रवाई से रंज होकर दूसरी ओर चले गये। दूसरे दिन इस विषय पर विचार करने के लिए अधिवेशन उस खुले पंडाल

में न करके विषय निर्विचिनी के खीमे में किया गया। वहां केवल प्रतिनिधि ही आने दिये गये जिससे मत लेने में सुविधा हो और किसी को शिकायत न रह जाये। वहां पूरी बहस के बाद मत लिया गया। बहुत बड़े बहुमत से हम लोगों वाला प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। खुले अधिवेशन में दूसरे प्रस्ताव, जिनके संबंध में कोई मतभेद नहीं था, पास करके अधिवेशन समाप्त हुआ।

अधिवेशन तो समाप्त हुआ, पर कटुता और भी बढ़ गयी। किसी बात को हम तय नहीं कर सके। कांग्रेस के अधिवेशन ने ऐसा प्रस्ताव स्वीकार किया जिसको सभापति नहीं चाहते थे। इतना ही नहीं, उसने सभापति के प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। अब प्रश्न यह था कि सभापति क्या करते हैं ? यदि उस प्रस्ताव को वह मान लेते हैं तो उनको नयी कार्यकारिणी ऐसी बनानी होगी जिस पर गांधीजी का विश्वास हो और जिससे वह सहमत भी हों। त्रिपुरी में बीमार रहने के कारण सुभाष बाबू ने वहां नयी कार्यकारिणी नहीं बनायी, जैसा सभापति किया करते हैं। वह तथा हम सब लोग अपने-अपने स्थान को वापस गये।

त्रिपुरी में जो निश्चय हुआ उसके अनुसार सुभाष बाबू काम नहीं करना चाहते थे। उनका स्वास्थ्य भी ऐसा नहीं था कि इस विषय में कुछ दिनों तक उनके साथ विचार कर कोई फैसला किया जा सके। शायद महात्माजी के साथ उनका कुछ पत्र-व्यवहार होता रहा। पर कोई बात तय नहीं हो पायी। उन्होंने अखिल भारतीय कमिटी की बैठक करनी चाही जो कलकत्ते में होने वाली थी। उसके पहले मैं उनसे एक बार उनकी बीमारी की हालत में, झरिया के जामादूवा-कोलियरी में जाकर, मिला भी जहां वह अपने भाई के साथ स्वास्थ्य सुधार रहे थे। पर मुझसे कोई खुलकर बातें नहीं हुईं। अखिल भारतीय कमिटी कलकत्ते में हुई। महात्माजी भी कलकत्ते गये, यद्यपि वह कमिटी की बैठक में शरीक नहीं हुए। महात्माजी सोदपुर के खादी-प्रतिष्ठान में ठहरे और हम लोग शहर में। सुभाष बाबू और महात्माजी में कई बार बातें हुईं जिनमें हम भी अक्सर शरीक रहे। पर कोई नतीजा नहीं निकला। अब साफ हो गया कि सुभाष बाबू सभापति नहीं रह सकेंगे; क्योंकि अखिल भारतीय कमिटी का बहुमत उनके साथ नहीं था। अब प्रश्न हुआ कि सभापति बने कौन ? सरदार वल्लभभाई से सुभाष बाबू तथा दूसरे लोग भी असंतुष्ट थे; क्योंकि वह सबसे बातें साफ-साफ करते हैं और किसी की खुशामद करके उसे संतुष्ट करने की कला कभी उन्होंने सीखी ही नहीं है। पं. जवाहरलालजी इन सारी बातों से कुछ ऊब-से गये थे, यद्यपि उनके सामने भी कोई दूसरा रास्ता नजर नहीं आता था तथापि वह सभापति का पद लेना पसंद नहीं कर सकते थे। मौलाना अबुल कलाम आजाद हम लोगों के विचारों से पूरा सहमत थे; पर दुर्भाग्यवश प्रयाग स्टेशन के प्लेटफार्म पर गिर जाने से पैर के जख्मी होने के कारण चारपाई पर पड़े थे। उन पर भार डालना मुनासिब नहीं मालूम होता था और इस अस्वस्थता में वह उसे स्वीकार भी नहीं करते।

लोगों का ख्याल हुआ कि सुभाष बाबू के इस्तीफा देने पर मैं ही सभापति बनाया जाऊं। मुझे यह बात बिलकुल पसंद नहीं थी। एक तो मैं इस तरह के झगड़े से हमेशा बचना चाहता हूं—मैं समझता था कि जब तक फिर कांग्रेस न हो और नया सभापति न चुन लिया जाये तब तक गड़बड़ी मचती ही रहेगी और मैं इस झंझट को नहीं संभाल सकूंगा, क्योंकि मेरा मिजाज ही ऐसा नहीं है कि झगड़े कर सकूं; दूसरे, त्रिपुरी के बाद बिहार में ही कांग्रेस आमंत्रित थी और मुझे उसके लिए भी प्रबंध करना था, मुझे उसी में समय लगाना पड़ेगा, और यदि मैं अखिल भारतीय काम में ही फंसा रहा तो अपने सूबे का काम बिगड़ जायेगा। इन सब विचारों से मैं नहीं चाहता था कि सभापति मैं बनाया जाऊं। पर जब महात्माजी ने दूसरा कोई उपाय न देखकर मुझे आज्ञा दी कि मुझे यह भार उठाना ही पड़ेगा तब मैं इंकार नहीं कर सका।

अखिल भारतीय कमिटी की पहले दिन की बैठक किसी तरह समाप्त हुई जिसमें कोई विशेष काम नहीं हुआ। हम सब जब पंडाल से अपने-अपने स्थान के लिए रवाना हो रहे थे तो हमने सुना कि पंडित गोविन्दवल्लभ पंत के साथ, जिन्होंने त्रिपुरी का प्रस्ताव कांग्रेस के सामने उपस्थित किया था, और श्री भूलाभाई देसाई के साथ कुछ लोगों ने बुरा बर्ताव किया तथा श्री कृपालानीजी को भी कुछ लोगों ने घेर लिया था और मालूम होता था कि उनके साथ भी कुछ बुरा बर्ताव करेंगे। इन बातों की खबर मुझे उस समय तो नहीं मिली, पर शहर में यह खबर फैल गयी। उत्तर भारत के रहने वाले बहुत रोष में आ गये। जवाहरलालजी को इसका पता लग गया और उन लोगों को समझा-बुझाकर रोक लिया, नहीं तो दूसरे दिन सभा के पहले ही मारपीट हो जाती। दूसरे दिन सभा में सुभाष बाबू नहीं आये। उन्होंने केवल अपना इस्तीफा भेज दिया। कमिटी ने उसे मंजूर कर मुझे सभापति चुन लिया। मैं ज्योंही खड़ा हुआ और आगे की कार्रवाई शुरू ही करने वाला था कि कुछ लोग जोरों से शोर मचाने लग गये। जो दृश्य त्रिपुरी में हुआ था वही फिर छोटे पैमाने पर होने लगा। मैं अपने स्थान पर खड़ा रहा। जब तक शोर-गुल खत्म नहीं हुआ, मैं खड़ा ही रह गया। जब शोर-गुल खत्म हो गया, तो कुछ थोड़ा काम करके मैंने सभा बर्खास्त कर दी। वहां से चलने के समय कुछ वालंटियर मेरी रक्षा के लिए मेरे चारों ओर हो लिये। उनमें से एक-दो ने रक्षा के बहाने मेरी बंडी पकड़ ली और खींचाखींची करने लगे। तब तक दूसरे बचाने लगे। मुझे कुछ चोट नहीं लगी। परंतु बंडी का बटन टूट गया। मैं गाड़ी पर सवार कर अपने स्थान पर पहुंचा दिया गया। मैंने इसका जिक्र किसी से नहीं किया; क्योंकि इससे वैमनस्य और बढ़ता। रात की गाड़ी से जब मैं रवाना हुआ तो मुझे स्टेशन पर मालूम हुआ कि डाक्टर विधानचन्द्र राय के घर पर कुछ लोगों ने जाकर शोर-गुल मचाया और कुछ चीजें तोड़-फोड़ भी दीं। जो नयी वर्किंग कमिटी बनी उसके सदस्यों में बंगाल के डाक्टर विधानचन्द्र राय और डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र घोष थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उस समय सदस्य होना स्वीकार नहीं किया, यद्यपि उन्होंने हर तरह से मदद देने का वचन दिया।

133

एक अत्यंत अप्रिय कार्य

कलकत्ते की बैठक में कोई विशेष काम नहीं हो सका था। इसलिए अखिल भारतीय कमिटी की एक दूसरी बैठक करना आवश्यक था। एक बैठक बम्बई में थोड़े ही दिनों के बाद की गयी। त्रिपुरी में, जैसा ऊपर कहा गया है, मुख्य प्रस्ताव में पंडित गोविन्दवल्लभ पंत ने मुख्य भाग लिया था। पंतजी युक्तप्रांत के प्रधानमंत्री थे। हम लोगों के विरोधियों ने इस बात का वहां और पीछे भी बहुत प्रचार किया था कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल सुभाष बाबू के विरोधी थे और उन लोगों ने ही त्रिपुरी में अपने प्रभाव से तथा अपनी पद-मर्यादा से अनुचित लाभ उठाकर त्रिपुरी का प्रस्ताव पास कराया है। कुछ और कारणों से कुछ लोग मंत्रिमंडलों से असंतुष्ट थे। इस प्रकार से एक दल ऐसा पैदा हो गया था जो मंत्रिमंडलों की शिकायत और उनके रास्ते में अड़चनें पैदा किया करता था। मंत्रिमंडल सभी प्रांतों में, जहां कांग्रेसी मेम्बरों का बहुमत था, कांग्रेस की आज्ञा के अनुसार काम कर रहे थे। पार्लियामेंटरी कमिटी कभी उनके कामों में हस्तक्षेप नहीं करती थी, पर इस बात पर निगहबानी रखती थी कि जो घोषणा और वादा हमने चुनाव के पहले कांग्रेस की ओर से किया था वह पूरा किया जाये। मंत्रिमंडल भी यथासाध्य इस प्रयत्न में लगे हुए थे। मेरा विचार है कि अपने अधिकार के अंदर और विद्यमान परिस्थिति में जो कुछ हो सकता था, वे कर रहे थे। पर कांग्रेस के अंदर के लोगों में से ही कुछ उनका विरोध करने लगे थे। वह विरोध क्रियात्मक रूप धारण करता जाता था। हम लोग कांग्रेस-विरोधियों के विरोध को समझ सकते थे। कांग्रेसियों के विरोध-विचार भी समझ में आते थे। यथासाध्य उनको मिलाने का प्रयत्न मंत्रिमंडल किया करते थे। पर अब परिस्थिति कुछ इस तरह पैदा कर दी गयी कि सुभाष बाबू के सभी अनुयायी और मंत्रिमंडलों के विरोधी एक साथ होकर काम करने लगे। लोगों की मनोवृत्ति ऐसी दीखने लगी कि कांग्रेस के अंदर जो झगड़ा त्रिपुरी के पहले और बाद हुआ उसको मंत्रिमंडलों के विरुद्ध काम में लाकर मंत्रिमंडलों को तिरस्कृत किया जाये और इस तरह उनकी अप्रतिष्ठा की जाये। इसमें डाक्टर खरे और उनके कुछ साथी भी, जैसे मध्यप्रदेश के मंत्रिमंडल के विरोधी, शरीक हो गये। कुछ लोगों का विचार दीखने लगा कि मंत्रिमंडलों को

तोड़ना सुभाष बाबू के विरोधियों को नीचा दिखाना होगा। हम लोगों के खिलाफ कुछ कहना-करना मुश्किल था, पर मंत्रिमंडलों के खिलाफ कुछ कह देना और कर देना आसान था; क्योंकि उनको दिन-रात कुछ-न-कुछ करना पड़ता था, और किसी चीज को लेकर उसमें छिद्र निकालना कुछ मुश्किल नहीं है! हम लोगों का कहना था कि यदि मंत्रिमंडल के विरुद्ध किसी कांग्रेसी को कोई शिकायत हो तो कांग्रेस की कमिटियों के सामने पेश करें। पार्लियामेंटरी कमिटी, वर्किंग कमिटी और जरूरत पड़ने पर अखिल भारतीय कमिटी भी उन शिकायतों की जांच करके उन्हें दूर करने के लिए तैयार थीं। पर उन शिकायतों को लेकर केवल मत ही प्रकट करना नहीं, बल्कि मंत्रिमंडल को नीचा दिखाने की कार्रवाई करना किसी भी कांग्रेसी के लिए अनुचित था। इस तरह के प्रदर्शन देश में बढ़ते जा रहे थे जिससे मंत्रिमंडलों को और उनके साथ-साथ कांग्रेस की प्रतिष्ठा को भी धक्का पहुंचता था।

बुम्बई की बैठक में एक प्रस्ताव रखा गया जिसमें इस तरह के क्रियात्मक विरोध की निंदा की गयी और उसे न करने का कांग्रेसियों को आदेश दिया गया। इस प्रस्ताव का जोरों से विरोध सुभाष बाबू और उनके अनुयायियों ने किया। पर प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से स्वीकार हो गया। हम समझते थे कि कांग्रेसी लोग इस प्रस्ताव को मान लेंगे और इस तरह की बात और कार्रवाई अब नहीं होगी। पर ऐसा हुआ नहीं। बहुत जल्द इस तरह की बातें हुईं जिनसे हमको अनुशासन-भंग के लिए सुभाष बाबू के विरुद्ध कार्रवाई करनी पड़ी।

इस दुखद कहानी के पहले एक सुखद घटना का उल्लेख आवश्यक है। इधर कई वर्षों से गांधी सेवा संघ का एक सालाना उत्सव हुआ करता था जिसमें उसके सभी सदस्य सभी प्रांतों से एक निश्चित स्थान पर इकट्ठा होकर कई दिनों तक महत्व के सिद्धांतों और प्रश्नों पर चर्चा किया करते थे। इसमें गांधीजी भी शरीक होते थे। जहां बैठक होती थी उस स्थान में सदस्य लोग कुछ सार्वजनिक सेवा का काम भी किया करते थे। खादी, सूत-कताई आदि का प्रदर्शन भी हुआ करता था। इस बार गांधी सेवा संघ का अधिवेशन बेतिया (चम्पारन) के पास वृन्दावन में होने वाला था। वहां कुछ दिनों से पंडित प्रजापति मिश्र ने एक आश्रम खोल रखा था। उसी इलाके में वर्धा-योजना के अनुसार, बिहार गवर्नमेंट की ओर से, प्राथमिक पाठशालाएं भी खोली गयी थीं। वहां के कार्यकर्ताओं ने बड़े उत्साह के साथ अधिवेशन के लिए बड़ी तैयारी की थी। महात्माजी को एक थैली भेंट करने की योजना बनायी गयी थी। इस अधिवेशन की तिथि इस तरह रखी गयी थी कि कलकत्ते से अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के बाद महात्माजी और हम सब सीधे वहां आ जावें। इसीलिए अखिल भारतीय कमिटी की बैठक समाप्त करके महात्माजी के साथ ही मैं कलकत्ते से बेतिया के लिए रवाना हुआ। बहुतेरे सदस्य, जो गांधी सेवा संघ के मेम्बर नहीं थे, अधिवेशन में शरीक होने के लिए आये। उस अवसर पर संघ के अधिवेशन के अलावा तालीमी संघ की भी, जो वर्धा शिक्षा योजना को कार्यान्वित करने में लगा था, बैठक वहां की गयी थी। उसके सभापति

होने वाले थे बम्बई प्रांत के प्रधान और शिक्षा-मंत्री श्रीयुत खेर। वह भी हमारे साथ कलकत्ते से वहां आये। अधिवेशन बड़े समारोह से हुआ। लोगों ने भी बड़ा उत्साह दिखाया। एक तो गांधीजी को चम्पारन की जनता खूब प्रेम और भक्तिभाव से देखती है; दूसरे, इस प्रकार की इतनी बड़ी कोई दूसरी सभा कभी नहीं हुई थी, इतने लोग बाहर से वहां कभी आये नहीं थे। दोनों पक्षों में, आने वालों और स्वागत करने वालों में, काफी उत्साह था। सभी बातें बहुत अच्छी तरह से समाप्त हुईं। गांधीजी को थैली भी दी गयी जिसको उन्होंने कुछ हरिजन-सेवा और कुछ दूसरे कामों के लिए बांट दिया। हरिजन-सेवा के लिए रुपये तो हरिजन सेवक संघ को दे दिये गये। स्थानीय कामों के लिए जो था वह स्थानीय आदमियों के हाथों में दे दिया गया। एक अच्छी रकम बिहार में मजदूर-संगठन करने के लिए अलग करके रख दी गयी।

अखिल भारतीय कमिटी की उस बैठक के थोड़े ही दिनों के बाद, जिसमें निश्चय किया गया था कि कोई भी कांग्रेसी किसी ऐसे क्रियात्मक कार्य में भाग न ले जिससे कांग्रेस तथा मंत्रिमंडलों की प्रतिष्ठा में ठेस लगे, श्री सुभाषचन्द्र बोस ने घोषणा की कि कांग्रेस कमिटी के इस निश्चय के विरुद्ध सारे देश में जबरदस्त प्रदर्शन किया जाये। ऊपर कहा जा चुका है कि यह निश्चय बहुत बड़े बहुमत से स्वीकृत हुआ था। अब उस निश्चय की सीधी अवहेलना पर प्रदर्शन करने वाले तुल गये। घोषणा समाचारपत्रों में पढ़कर मैंने सभापति की हैसियत से सुभाष बाबू को तार दिया कि इस प्रकार की अवहेलना उचित नहीं है और वह इससे बाज आवें। पर उन्होंने ऐसा करने से इंकार कर दिया और अपने निश्चय के अनुसार इस प्रकार के प्रदर्शन कराये जिनमें कांग्रेसी कार्यकर्ता भी बहुत जगहों में शरीक हुए। हमारे सामने अब यह विकट प्रश्न उपस्थित हो गया कि इस तरह की अवहेलना कांग्रेस कब तक बर्दाश्त कर सकती है? कांग्रेस के अंदर मतभेद निपटाने का एकमात्र रास्ता यह है कि उस प्रश्न पर सम्मति ले ली जाये। पर जब तक उसका निश्चय बहुमत द्वारा बदलवा न दिया जाये तब तक किसी कांग्रेसी को, कांग्रेस के निश्चय के विरुद्ध विचार रखते हुए और मतभेद प्रदर्शित करते हुए भी, कोई विरोधी कार्रवाई नहीं करनी चाहिए—विशेषकर ऐसी कोई कार्रवाई जिसमें कांग्रेस की प्रतिष्ठा को ठेस लगती हो। इस प्रदर्शन में भाग लेने वालों ने ठीक ऐसा ही किया था। हमारे लिए अनिवार्य हो गया कि हम अनुशासन की कार्रवाई करें।

वर्किंग कमिटी की बैठक की गयी। सुभाष बाबू से कैफियत मांगी गयी। उन्होंने कैफियत में अपनी कार्रवाई की पुष्टि की और उसका समर्थन किया। वर्किंग कमिटी ने बहुत विचार के बाद निश्चय किया कि सुभाष बाबू का काम ऐसा है जिस पर उसको मजबूरी अनुशासन की कार्रवाई करनी चाहिए। यह निश्चय कुछ आसान नहीं था; क्योंकि सुभाष बाबू कांग्रेस के एक प्रमुख व्यक्ति थे। वह कांग्रेस के सभापति दो बार चुने गये और हो चुके थे। मतभेद के कारण इस समय वह उस पद से हट गये थे। पर उनकी देश-सेवा, निर्भीकता

और त्याग के सभी कायल थे। ऐसे आदमी पर अनुशासन की कार्रवाई कैसे की जाये ? सबको खटकता था। न मालूम क्यों, मेरा कुछ भीतरी प्रेम भी उनके साथ था, यद्यपि मुझे उनके साथ मिलकर कोई काम करने का मौका नहीं मिला था और न हम दोनों में किसी समय उतनी घनिष्ठता ही हुई थी। हां, उनके भाई श्री शरतचन्द्र बोस को मैं पढ़ने के समय से ही जानता था, क्योंकि हम दोनों एक ही समय प्रेसिडेंसी कालेज में पढ़ते थे और एक ही होस्टल में रहा करते थे—उनके साथ कुछ घनिष्ठता थी और उनके प्रति मेरा कुछ आदर और प्रेम भी था। पर प्रश्न यह था कि कांग्रेस के सारे संगठन में इस प्रकार से धक्का लगने देना क्या उचित होगा—क्या अपने व्यक्तिगत भावों के कारण इस सार्वजनिक और सार्वदेशिक संस्था की प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचाने वाले के साथ अनुशासन की कार्रवाई न की जाये ? जैसा ऐसे अवसरों पर हुआ करता है, संस्था के प्रति कर्तव्यपालन की भावना व्यक्तिगत भावों को दबाने के लिए मजबूर करती है। हम सबने बहुत दुख के साथ, पर कर्तव्य-भावना की प्रेरणा से विवश होकर, सुभाष बाबू को कांग्रेस कमिटी से एक अवधि के लिए खारिज कर दिया। जिन दूसरे लोगों ने उनका उस प्रदर्शन में साथ दिया था, उनके साथ भी कुछ कार्रवाई करना आवश्यक था। पर वर्किंग कमिटी ने इसको खुद न करके प्रांतीय कमिटियों पर छोड़ दिया कि वे जांचकर जहां जैसा मुनासिब समझें कार्रवाई करें।

सुभाष बाबू त्रिपुरी के समय से ही नये दल का संगठन कर रहे थे, जिसको उन्होंने 'फारवर्ड ब्लाक' नाम दिया था। अब वह अधिक जोरों से संगठित किया गया। इसके बाद उस दल और कांग्रेस के बीच खुल्लमखुल्ला विरोध चलने लगा। प्रांतीय कमिटियों ने भी जहां-तहां कुछ लोगों पर अनुशासन की कार्रवाईयां कीं। आपस का झगड़ा और भी बढ़ गया। कांग्रेस का विरोध उस दल की ओर से सब जगहों में होने लगा।

134

उड़ीसा और मध्यप्रदेश के मंत्रिमंडल की कुछ और बातें

मेरा इस बार का सभापति होना मेरे लिए दुखद रहा; क्योंकि ऐसा वातावरण पैदा हो गया कि सभी जगहों में झगड़े ही चलते रहे और दूसरा काम कठिन हो गया। दो झगड़े और हुए जिनका जिक्र कर देना अच्छा होगा। एक उड़ीसा का और दूसरा मध्यप्रदेश का। इनके संबंध की कुछ बातों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह बतलाया गया है कि कुछ लोग जहां-तहां मंत्रिमंडलों के विरुद्ध बहुत बातें करने लग गये थे। इस तरह के कुछ लोग उड़ीसा में थे जिन्होंने वहां के मंत्रिमंडल की शिकायतें शुरू कर दी थीं। यह भी मैं ऊपर कह चुका हूं कि जब 'डेलांग' में, 1938 के मार्च या अप्रैल में, हरिपुरा कांग्रेस के बाद ही, गांधी सेवा संघ की वार्षिक बैठक हुई थी, तो इस तरह की शिकायतें आयी थीं। वहां सरदार वल्लभभाई मौजूद थे। मैं भी था। हमने दोनों पक्षों को बुलाकर आपस में मेल-मिलाप करा देने का प्रयत्न किया। जो कुछ शिकायतें थीं उनकी थोड़ी-बहुत सरसरी जांच भी कर ली। हम आशा करते थे कि मामला निबट जावेगा; पर भीतर-ही-भीतर आग सुलगती रही। पार्लियामेंटरी कमिटी के सामने बात आयी। उसके सभापति सरदार पटेल ने अंत में यह कहा कि शिकायत करने वाले शिकायतें ठीक-ठीक लिखकर दें तब वह जांच करायेंगे, पर दोनों पक्षों को समझ लेना चाहिए कि शिकायत यदि ठीक निकलेगी तो मंत्री पर और अगर झूठी साबित होगी तो शिकायत करने वाले पर कार्रवाई की जायेगी। त्रिपुरी कांग्रेस के कुछ पहले कांग्रेस के प्रेसिडेंट के नाते, सुभाष बाबू के पास भी शिकायत पहुंची। इन सब कारणों से जांच करना आवश्यक हो गया। सुभाष बाबू ने मुझे जांच करने का काम सुपुर्द किया। मैंने जांच शुरू की, पर वह पूरी नहीं हो सकी। मुझे एक बार से अधिक उड़ीसा जाना पड़ा। कई दिनों तक दोनों पक्षों की बातें सुननी पड़ीं, गवाहियां लेनी पड़ीं। बहुत कागजों को पढ़ना पड़ा। जब मेरी रिपोर्ट तैयार हुई, सुभाष बाबू सभापतित्व से इस्तीफा दे चुके थे—मैं प्रेसिडेंट हो चुका था। मेरी लम्बी रिपोर्ट एक अदालती फैसले का रूप रखती थी। उसे पार्लियामेंटरी कमिटी और वर्किंग कमिटी ने मंजूर किया। मुख्य शिकायतें गलत साबित हुईं। शिकायत करने वाले पर कार्रवाई की गयी। पर कुछ दिनों के बाद उनके माफी मांग लेने पर अनुशासन की सजा उठा दी गयी।

इस चीज को यहां इतने विस्तार के साथ लिख देना इसलिए आवश्यक था कि शिकायत करने वालों के पीछे जो लोग मददगार थे उन्होंने पीछे चलकर कांग्रेस के विरुद्ध खुले आम काम किया। पंडित नीलकंठ दास और पंडित गोदावरी मिश्र उनमें मुख्य थे। वे श्री विश्वनाथ दास प्रधानमंत्री का विरोध आरम्भ से ही करते थे। ये दोनों सज्जन 1920-21 से ही कांग्रेस की सेवा करते आ रहे थे। उड़ीसा प्रांत के लोगों में दोनों की प्रतिष्ठा थी। जब 1937 में प्रांतीय असेम्बली के लिए चुनाव हुआ, पंडित नीलकंठ दास केंद्रीय असेम्बली के मेम्बर थे। उन्होंने प्रांतीय असेम्बली के लिए उमीदवारी की दर्खास्त नहीं दी, पर चुनाव में उन्होंने पूरा भाग लिया। कांग्रेस की ओर से प्रचार में काम भी किया। पंडित गोदावरी मिश्र प्रांतीय असेम्बली के लिए खड़े हुए और चुने भी गये। चुनाव हो जाने के बाद जब मंत्रिमंडल बनने का अवसर आया तो वहां की असेम्बली के सदस्यों ने पंडित नीलकंठ दास को, जो उस असेम्बली के सदस्य नहीं थे, नेता न चुनकर श्री विश्वनाथ दास को नेता चुन लिया। जब मंत्रिमंडल बना तब नेता चुने जाने के कारण स्वभावतः वही प्रधानमंत्री बने। पंडित नीलकंठ दास इससे बहुत रुष्ट थे। जो शिकायतें आती थीं वे ऐसी होती थीं जिनसे श्री विश्वनाथ दास के नैतिक चरित्र और ईमानदारी पर हमला होता था। इसीलिए जांच के पहले इस बात की चेतावनी देनी पड़ी थी कि यदि शिकायत साबित न होगी तो मुद्दई पर कार्रवाई की जायेगी। शिकायत करने वाले मुद्दई पंडित नीलकंठ दास के साथ काम करने वाले सज्जन थे, पीछे शायद वह उनसे अलग हो गये। उस समय उन लोगों का कुछ बस न चला; क्योंकि शिकायत गलत और बेबुनियाद साबित हो गयी। कांग्रेस से सुभाष बाबू के अलग हो जाने पर पंडित नीलकंठ दास ने उनका साथ दिया और केंद्रीय असेम्बली में भी उनकी कार्रवाई ऐसी हुई जैसी कांग्रेसी सदस्य द्वारा नहीं होनी चाहिए थी। वह कांग्रेस के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करके केंद्रीय असेम्बली के सदस्य चुने गये थे। उसमें उन्होंने वादा किया था कि वह कांग्रेस के अनुशासन को मानेंगे। पर कुछ दिनों के बाद उन्होंने ऐसा करने से इंकार कर दिया। कांग्रेस पार्टी से वह अलग हो गये। जब योरपीय महायुद्ध आरम्भ होने के बाद कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने इस्तीफा दिया तो उड़ीसा का मंत्रिमंडल भी, और जगहों की तरह, टूट गया। पंडित नीलकंठ दास और पंडित गोदावरी मिश्र इस बात की चिंता में लगे रहे कि किसी-न-किसी तरह वहां मंत्रिमंडल बने। पर जब कांग्रेसी सदस्यों के बहुमत ने उनका साथ नहीं दिया तो वहां की जमींदार पार्टी के साथ मिलकर, जिसके नेता पारलाकिमेडी के महाराजबहादुर थे, उन्होंने मंत्रिमंडल कायम कराया जिसमें श्री गोदावरी मिश्र मंत्री हुए और महाराजा प्रधानमंत्री ! कुछ कांग्रेसी लोगों को उन्होंने फोड़ लिया, पर अधिकांश को जेलों में बंद करके किसी प्रकार उन्होंने अपना बहुमत कर लिया है और अब भी मंत्रिमंडल कायम है। पर जिस समय ये पक्तियां लिखी जा रही हैं (19 जून 1944), समाचारपत्रों से मालूम होता है कि महाराज और मिश्रजी में कुछ अनबन हो गयी है

और मंत्रिमंडल संकट में है। सुना है कि पंडित नीलकंठ दास और पंडित गोदावरी मिश्र में भी अब वह सद्‌भाव नहीं है जो कांग्रेस के प्रति विरोध करके मंत्रिमंडल बनाने के समय दोनों में था।

मध्यप्रदेश की भी कुछ इसी प्रकार की शिकायतें थीं जिनका संकेत पहले दे चुका हूं। कुछ तो बातें थीं जो मंत्रिमंडल बनने के पहले की थीं। मंत्रिमंडल बनने के समय डाक्टर खरे और पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र एक साथ थे, दोनों में काफी घनिष्ठता थी; प्रतिद्वंद्वी उस समय समझे जाते थे श्री रविशंकर शुक्ल। पर डाक्टर खरे की नीति और तौर-तरीके से मिश्रजी तथा दूसरे इतने ऊब गये थे और डाक्टर खरे उनसे इतने विरक्त हो गये थे कि अब मिश्रजी और शुक्लजी एक साथ होकर काम कर रहे थे और डाक्टर खरे उनके विरुद्ध! इसी कारण से वहां का मंत्रिमंडल टूटा था। डाक्टर खरे को अलग होना पड़ा था और आपस के झगड़े अभी तक उसी गति से चल रहे थे। डाक्टर खरे हट तो गये थे, पर उनके कुछ साथी और सहयोगी अभी तक उस झगड़े को चलाये जा रहे थे। उसमें से कुछ लोगों ने पुरानी गंदी शिकायतों और कुछ नयी बातों को लेकर, पार्लियामेंटरी कमिटी तथा वर्किंग कमिटी के सामने, मंत्रिमंडल और विशेषकर मिश्रजी के विरुद्ध, शिकायतें पेश कीं। पहले श्री भूलाभाई देसाई को इन शिकायतों की जांच का भार सौंपा गया। पर उनसे मुद्दई लोगों का मतभेद हो गया। अंत में मुझे प्रेसिडेंट की हैसियत से इस मामले को भी देखना पड़ा। मैंने इसमें भी दोनों पक्षों की बातें सुनकर, बहुत-से कागजों को देखकर, फैसला दिया जो वर्किंग कमिटी के सामने पेश होकर मंजूर किया गया। कुछ लोग फैसले के बाद भी बहुत कुछ लिखते-बोलते रहे, पर एक बार फैसला हो जाने और पत्रों में छप जाने पर मामला ठंडा पड़ गया।

मेरा अधिक समय इस प्रकार के कामों में ही लगा जिससे जी घबराता था और ठीक तरह से रचनात्मक काम करने का मौका नहीं मिलता था। इस बार प्रेसिडेंट होने का एक और नतीजा यह निकला कि अपने सूबे के साथ जो घनिष्ठ संबंध रहा करता था वह कम हो गया। समयाभाव से मैं सूबे के कामों और बातों में उतनी दिलचस्पी न ले सका और न सूबे का दौरा ही कर सका। 1934-35-36 में जब प्रेसिडेंट था और सूबों के दौरे में ही सारा समय लगा दिया था, बिहार में कुछ भी समय न दे सका। वही बात इस बार भी हुई, यद्यपि इस बार दौरा करने का मौका नहीं मिला। किंतु इस बार बिहार में कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था। इसलिए रुपये जमा करने के लिए कहीं-कहीं जरूर जाना पड़ा। जब अखिल भारतीय काम से छुट्टी मिलती, इधर दौड़ जाता, या यों कहिये कि दोनों के बीच में मैं इधर-उधर दौड़ता रहा।

135

रामगढ़ कांग्रेस के लिए स्थान का चुनाव

त्रिपुरी से लौटते ही हमको यह सोचना था कि बिहार में कांग्रेस का अधिवेशन कहां किया जाये। इधर कई बरसों से जलसा किसी गांव में हुआ करता था। हम भी चाहते थे कि कहीं गांव में ही करें। मेरा विचार पहले यह हुआ कि अधिवेशन सोनपुर में किया जाये। वह तीन जिलों के सीवाने पर है। वहां प्रतिवर्ष बहुत बड़ा, भारत-प्रसिद्ध, मेला लगा करता है। उसमें देश-भर से लाखों आदमी आते हैं। लाखों की संख्या में मवेशी, घोड़े-हाथी और दूसरे जानवर, बिक्री के लिए लाये जाते हैं। इसलिए वहां बहुत बगीचे हैं। लाखों लोगों के लिए जल का प्रबंध आसान नहीं है, इसलिए बहुतेरे कुएं बनाये गये हैं। मेले के समय पानी-कल भी जारी किया जाता है जिसको जिला बोर्ड ने बना रखा है। मेला कार्तिकी पूर्णिमा को हुआ करता है। कांग्रेस का अधिवेशन प्रायः तीन महीने बाद होता। इसलिए मेले में हम बांस, खर, चटाई इत्यादि बहुत सामान सस्ता खरीद सकते थे। प्रतिनिधियों के निवास-स्थान का निर्माण मेले के बाद भी शुरू करके आसानी से पूरा कर सकते थे। इन सुविधाओं के सिवा गंडक नदी के किनारे होने के कारण बांस, लकड़ी, फूस वगैरह नदी द्वारा आसानी से लाये जा सकते थे। गंगा से उत्तर के जिले, बिहार में कांग्रेस के कार्यकलाप के लिए, बहुत जानदार जिले समझे जाते हैं। पहले दो बार कांग्रेस के अधिवेशन बिहार में हो चुके थे; पर दोनों बार गंगा से दक्खिन ही—पटने और गया में। उत्तर के लोग बहुत चाहते थे कि उत्तर बिहार में भी एक अधिवेशन हो। इस सब विचारों से मेरा ख्याल था कि यहीं अधिवेशन किया जाये, पर सबकी राय लेनी थी। सबसे अधिक यह देखना था कि जो नगर हम बसावेंगे उसके बसाने में स्वास्थ्य की दृष्टि से कहां अधिक सुविधा होगी ? इसलिए त्रिपुरी से लौटकर हम दो-चार आदमी उन सभी जगहों को देखने गये जो अधिवेशन के लिए उपयुक्त समझी जाती थीं। त्रिपुरी में ही मैंने श्री रामदास गुलारी को आमंत्रित कर दिया था कि कांग्रेस-नगर-निर्माण में सहायता देने के लिए उनको आना चाहिए। उन्होंने इस निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार कर लिया था। गुलारीजी एक अनुभवी इंजीनियर हैं। पर अब महात्मा गांधी के साथ सेवाग्राम में रहा करते हैं। फैजपुर में जब पहले-पहल देहात में कांग्रेस का अधिवेशन

करने का महात्माजी का विचार हुआ तो वहां निर्माण-कार्य में मदद देने के लिए गुलारीजी ही गये थे। त्रिपुरी में भी उन्होंने ही कांग्रेस-नगर-निर्माण का कार्य कराया था। उनके अनुभव से लाभ उठाने के लिए ही मैंने उनको निमंत्रण दे दिया था। वह ठीक समय पर आ गये। स्थान चुनने में भी शरीक रहे। वह भी उन सभी जगहों पर गये जिनको हम उपयुक्त समझते थे।

हम लोगों ने पटना जिले में राजगृह को भी इस काम के लिए देखा। वह बहुत ही प्राचीन और ऐतिहासिक स्थान है। उसको जरासंध की राजधानी और बुद्धदेव का निवास-स्थान होने का गौरव प्राप्त है। बौद्ध और जैन काल में भी उसे बड़ी प्रसिद्धि मिल चुकी है। नालन्दा का वह महान विद्यापीठ भी वहां से थोड़ी ही दूर पर है जहां किसी समय हजारों विद्यार्थी और भिक्षु विद्याभ्यास किया करते थे—जहां से विद्वान भिक्षु और परिव्राजक प्रचारक बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ तिब्बत, चीन प्रभृति देशों में गये थे—जहां के ध्वस्त विहारों और भग्नावशेषों की खुदाई से निकली हुई इमारतें और किस्म-किस्म के सरंजाम आज भी लोगों को चकित करते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से जगह बहुत ही उपयुक्त और प्राकृतिक दृष्टि से भी रमणीय तथा स्वास्थ्य प्रद थी। पर आधुनिक सुविधाओं का अभाव! सबसे अधिक वहां पहुंचने की कठिनाई! पानी की भी कमी! इन कारणों से उसे छोड़ देना पड़ा। पीछे यह भी ख्याल हुआ कि पटने के पास ही फुलवारीशरीफ में अधिवेशन किया जाये। पर यह स्थान पटने के इतना निकट था कि वह शहर का ही अधिवेशन समझा जाता, पर शहर की सुविधाएं वहां नहीं मिलतीं।

उधर छोटानागपुर के लोगों का, विशेषतः हजारीबाग के बहादुर कांग्रेसी बाबू रामनारायण सिंह का, बहुत जोर था कि कोई स्थान छोटानागपुर में ही चुना जाये। उनकी हमेशा शिकायत रहा करती थी कि हम लोग छोटानागपुर के साथ लापरवाही बरतते हैं। अस्तु, छोटानागपुर भी ध्यान में रखा गया। हम लोगों ने अंत में हजारीबाग जिले के रामगढ़ को ही पसंद किया। इसका विशेष यश श्री रामदास गुलारी को ही है; क्योंकि उन्होंने इस स्थान को स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक उपयोगी समझा। मेरी भी धारणा थी कि उन सुंदर सुहावने जंगलों के बीच दामोदर नदी के किनारे का अधिवेशन अपने ढंग का निराला होगा।

स्थान चुन तो लिया गया, पर अधिवेशन के लिए निश्चित स्थान पर जंगल था! उसको साफ कराना था और वहां प्रायः सब कुछ जुटाना था। आरंभ से ही मैंने श्री अम्बिकाकान्त सिंह को वहां भेज दिया और वह वहां रहकर बड़े परिश्रम और लगन के साथ काम करने लगे। मैं भी कुछ दिनों तक रांची में ठहरा रहा, जहां से रामगढ़ प्रायः 30-32 मील की दूरी पर है। नक्शा वगैरह गुलारीजी बनाने लगे। जंगल कटने लगा। काम आगे बढ़ने लगा। मैं इधर-उधर रुपये जमा करने के लिए और-और भाइयों के साथ घूमने लगा। उनमें मुख्यतः, मेरे साथ प्रायः सभी जगहों में जाने वाले, बाबू मथुरा प्रसाद थे। दौड़-धूप करता रहा।

बरसात में काम बहुत आगे नहीं बढ़ सकता था। पर तो भी सबका खाका तो तैयार ही कर लिया गया। मैं रामगढ़ में ही था। उस समय भी दमा से रुग्ण था। उसी जगह यह खबर मिली कि जर्मनी ने पोलैंड पर चढ़ाई कर दी और इंग्लैंड तथा फ्रांस के साथ भी उसकी लड़ाई छिड़ गयी ! उस समय जर्मनी ने, लड़ाई के कुछ दिन पूर्व, रूस के साथ समझौता कर लिया था।

136

कांग्रेस और योरप का दूसरा महायुद्ध

इस विषय पर बहुत विचार करने के बाद, 1938 के सितम्बर में, बिना किसी फैसले पर पहुंचे हुए ही, वर्किंग कमिटी ने बात वहीं छोड़ दी थी, क्योंकि लड़ाई छिड़ी नहीं और चेम्बरलेन ने चेकोस्लोवाकिया को हिटलर का शिकार छोड़कर सुलह कर ली। अब कांग्रेस को कुछ निश्चय करना होगा ! उधर जवाहरलालजी इस समय चीन गये हुए थे। गांधीजी की वायसराय से मुलाकात हुई। वर्किंग कमिटी की बैठक वर्धा में की गयी। मैं बीमार तो था, पर किसी तरह से वर्धा पहुंच गया। महात्माजी ने श्री महादेव देसाई को भेजा कि चाहे जिस तरह हो सके, मुझे वह जरूर वर्धा ले आवें। वर्किंग कमिटी की बैठक कई दिनों तक चली। इसी बीच में श्री जवाहरलाल नेहरू भी चीन से वापस आ गये। मामला बहुत गहन था। यह सोचा गया कि यद्यपि श्री सुभाषचन्द्र बोस कांग्रेस से अलग हैं तो भी इस मौके पर उन्हें भी बुलाना चाहिए और उनकी राय भी लेनी चाहिए। कांग्रेस के दूसरे प्रमुख व्यक्ति भी, जो वर्किंग कमिटी के साथ नहीं थे, बुला लिये गये।

गांधीजी ने वायसराय से मुलाकात के बाद एक वक्तव्य प्रकाशित किया था जिसमें उन्होंने इंग्लैंड के प्रति सहानुभूति दिखलायी थी और यह भी कहा था कि हमको इंग्लैंड की मदद बिना शर्त करनी चाहिए। इससे कुछ लोगों को गलतफहमी हुई। पीछे जब कांग्रेस कमिटी की ओर से इस बात की मांग पेश की गयी कि ब्रिटिश सरकार युद्ध-विषयक और युद्धोत्तर शांति संबंधी अपने विचार तथा उद्देश्य साफ बतला दे तभी हिन्दुस्तान दिल खोलकर मदद कर सकेगा, तो अंगरेजों को यह कहने का मौका मिला कि गांधीजी अपने प्रकाशित वक्तव्य से हट गये। कांग्रेसियों में बहुतों को यह बात पसंद नहीं आयी कि इस तरह बिना शर्त इस साम्राज्यवादी लड़ाई में मदद देना उन्होंने स्वीकार कर लिया था। बात यह थी कि दोनों पक्षों का विचार आंशिक था। गांधीजी ने यह कभी नहीं सोचा था कि हिन्दुस्तान से रुपये और आदमी की मदद दी जायेगी। वह समझते थे कि इस युद्ध में हिन्दुस्तान जैसे पराधीन देश की सहानुभूति अंगरेजों के लिए एक ऐसी कीमती चीज होगी जो सारे संसार की सहानुभूति उनके साथ ला सकेगी। उन्होंने इसी सहानुभूति की बात सोची थी, पर इसमें शक नहीं कि उस समय इस तरह के बयान से लोगों में कुछ खलबली पैदा हुई थी।

वर्किंग कमिटी के सामने प्रश्न था कि वह इस युद्ध के संबंध में क्या रुख रखेगी; कांग्रेस युद्ध में मदद करेगी कि नहीं, यदि करेगी तो बिना शर्त के अथवा किसी शर्त के पूरा होने पर ? मदद का रूप क्या होगा ? कांग्रेस ने अपने ध्येय में अहिंसा को ही साधन माना है। इस हिंसात्मक युद्ध में एक अहिंसात्मक संस्था कैसे और कौन-सी मदद कर सकती है? इत्यादि-इत्यादि। कमिटी कई दिनों के विचार के बाद एक निश्चय पर पहुंची और एक ठहराव स्वीकार किया। उसमें नात्सीवाद और फासिस्टवाद के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हुए कमिटी ने साम्राज्यवाद के प्रति भी अपना विरोध जताया और ब्रिटिश राज्य से आग्रह किया कि भारतवर्ष की जनता को इस युद्ध में दिल से मददगार बनाने के लिए वह युद्ध संबंधी अपने उद्देश्यों को साफ-साफ बतला दे।

इस ठहराव की भाषा बहुत ही सुंदर और भाव भी अत्यंत परिष्कृत तथा उपयुक्त थे। इसका श्रेय विशेषकर पं. जवाहरलाल को ही था जिन्होंने मसविदा तैयार किया था। उसी अधिवेशन में यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस अपनी अहिंसा की नीति के कारण इस युद्ध में ब्रिटिश सरकार की मदद करने से इंकार नहीं कर सकती और यदि मौका मिला तो वह हथियार की मदद करने से भी नहीं हिचकेगी। यह कह देना इसलिए आवश्यक है कि इसके बाद जब-जब मौका आया, कांग्रेस के अंगरेज विरोधी—विशेषकर भारतमंत्री मि. एमरी और भारत सरकार के उच्च कर्मचारी जिनमें लार्ड लिनलिथगो भी शामिल थे—यह कहने से न हिचके कि गांधीजी की अहिंसा के कारण ही कांग्रेस मदद नहीं देती। यह ठीक है कि उस बैठक में यह बात इतनी स्पष्ट नहीं हुई थी, पर उस ठहराव से यह स्पष्ट था कि ब्रिटिश सरकार यदि संतोषजनक तरीके से अपने उद्देश्यों को प्रकट कर देगी तो कांग्रेस को मदद देनी ही पड़ेगी और उस मदद का रूप हिंसात्मक हुए बिना नहीं रहेगा। उस समय सारे देश में—विशेषकर कांग्रेसी लोगों में से बहुतेरों में—ब्रिटेन के प्रति सहानुभूति थी और यदि ब्रिटिश साम्राज्यवादी इसका थोड़ा भी परिचय दे देते कि वे सचमुच यह लड़ाई प्रजातंत्र के लिए कर रहे थे, जैसा कि उस समय इंग्लैंड के कुछ प्रमुख राजनीतिज्ञ और समाचारपत्र गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहे थे, तो भारत के प्रायः सभी लोग उनके साथ दिल खोल करके हो जाते। परंतु दुनिया की सहानुभूति पाने के लिए तो यह लड़ाई प्रजातंत्र स्थापित करने के लिए की जा रही थी, और वास्तविक रूप में वह ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा तथा पुष्टि के लिए ही की जा रही थी, जैसा पीछे स्पष्ट होता गया।

इस प्रस्ताव के बाद मुझे प्रेसिडेंट की हैसियत से दो बार लार्ड लिनलिथगो से मिलने का मौका मिला—एक बार पं. जवाहरलालजी के साथ और दूसरी बार महात्मा गांधी तथा मि. जिन्ना के साथ। उस समय लार्ड लिनलिथगो भारत के सभी दलों और सभी तरह के विचार वाले लोगों से मिलकर लड़ाई में हिन्दुस्तान की मदद की बात करते थे और चाहते थे कि हिन्दुस्तान के लोग राजीखुशी से मदद करें और किसी प्रकार की गड़बड़ी न होने दें।

लड़ाई शुरू होते ही बिना किसी से पूछे और परामर्श किये ही उन्होंने ब्रिटिश सरकार की ओर से घोषणा कर दी थी कि हिन्दुस्तान भी लड़ाई में शरीक है ! हिन्दुस्तान की धारा-सभा (लेजिसलेटिव असेम्बली) कायम थी। सभी सूबों में 1935 के विधान के अनुसार मंत्रिमंडल काम कर रहे थे, जिनमें 11 में से 8 सूबों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल स्थापित थे। किसी से न पूछा गया और न राय ली गयी, मानो हिन्दुस्तान की किसी संस्था अथवा व्यक्ति को इस लड़ाई से कोई संबंध ही न था ! बिना पूछताछ के ही हिन्दुस्तान को भी लड़ाकों में दाखिल कर दिया गया ! कांग्रेस कमिटी भी बहुत क्षुब्ध थी। हिन्दुस्तान के दूसरे लोग भी इसे पसंद नहीं करते थे। ऐसी अवस्था में जब तक उनका मतलब स्पष्ट न हो जाये, कुछ भी किसी के लिए करना न संभव था और न उचित। लार्ड लिनलिथगो पीछे इसीलिए लोगों से राय-बात करने लगे। उन्होंने देश की राजनीतिक संस्थाओं को संतुष्ट करने के लिए यह योजना भी रखी कि उनकी (वायसराय की) कार्यकारिणी (एग्जिक्युटिव) कौंसिल की सदस्य-संख्या बढ़ा दी जायेगी और उसमें अधिक हिन्दुस्तानी ले लिये जायेंगे, पर साथ ही वह इस बात पर दृढ़ रहे कि उनके नये या पुराने सदस्यों के अधिकार में कोई परिवर्तन नहीं होगा; उनके विचार से ये सदस्य अपने-अपने विभाग के सरदार मात्र हैं, इनको कोई स्वतंत्र अधिकार प्राप्त नहीं है और कौंसिल की बैठक तो केवल सभी सदस्यों को एक-दूसरे विभाग की कार्रवाइयों से परिचित कराने के लिए ही होती है, वहां कुछ बातों पर वे सिर्फ विचार कर सकते हैं, पर सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों के निपटारे का भार अंत में वायसराय पर ही है और उनको ही अधिकार भी प्राप्त है—लड़ाई के जमाने में वह कोई वैधानिक परिवर्तन करने की संभावना नहीं देखते थे और इसलिए जो कुछ हो सकता था वह 1935 के विधान के अंदर ही हो सकता था।

कांग्रेस की मांगें दो थीं। ब्रिटिश सरकार के लड़ाई के उद्देश्यों के स्पष्टीकरण के साथ-साथ भारत की स्वतंत्रता के संबंध में कांग्रेस चाहती थी कि भविष्य की योजना के लक्ष्य को स्पष्ट तरीके से स्वतंत्रता का रूप दे दिया जाये और साथ-ही-साथ अभी तत्काल भारत के प्रतिनिधियों को ऐसे शासन संबंधी अधिकार मिल जायें जिनके द्वारा वे सचमुच भारत की इच्छा के अनुसार यहां प्रबंध कर सकें और सच्ची मदद लड़ाई में भी कर सकें। भविष्य की घोषणा के महत्व को कुछ कम भी कर दिया जाये तो भी जब तक तत्काल अधिकार न मिल जायेंगे, लड़ाई में जनता की दिलचस्पी न होगी और वह दिल से मदद नहीं कर सकेगी। उस समय से आज तक कांग्रेस की नीति लड़ाई में बाधा पहुंचाने की कभी नहीं रही है। कांग्रेस ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भी संसार के लिए कोई श्रेयस्कर वस्तु नहीं मानती है—उसने कम-से-कम पिछले 20-25 बरसों में कभी नहीं माना है—वह साम्राज्यवाद के बदले में सच्चे प्रजातंत्रवाद की हिमायती रही है और है—वह चाहती है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद परिवर्तित होकर सच्चे प्रजातंत्रवाद का रूप उन देशों और उपनिवेशों के लिए धारण कर ले जो आज इस साम्राज्यवाद की एड़ियों के नीचे कुचले जा रहे हैं, जिनमें भारत

मुख्य है और स्वाभाविक रीति से यहां की राष्ट्रीय संस्थाएं इसी उद्देश्य को प्राप्त करना अपना कर्तव्य मानती हैं।अंगरेज भी इस उद्देश्य की निंदा नहीं करते, वे भी इनकी स्वतंत्रता अपना उद्देश्य मानते हैं। वे केवल यह कहते हैं कि अभी भारत तथा दूसरे देश जो उनके कब्जे में हैं इस योग्य नहीं हुए हैं कि उनको स्वतंत्रता दी जा सके और इसलिए अंगरेज अपना कर्तव्य समझते हैं कि उनको जब तक यह योग्यता प्राप्त न हो जाये तब तक उनके शासन का भार अपने ऊपर वे रखें। हम भारतवासी इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं और यही हमारे मतभेद तथा संघर्ष का कारण है। लड़ाई के आरम्भ में प्रजातंत्र की लम्बी-चौड़ी बातें की गयीं, कांग्रेस ने एक प्रश्न करके इस प्रचार का भंडाफोड़ कर दिया। प्रश्न केवल इतना ही था कि क्या यह प्रजातंत्र भारत के लिए भी होगा—एशिया और अफ्रिका की पददलित जातियों के लिए भी होगा—अथवा केवल अंगरेजों और योरप निवासियों के लिए ही होगा ? यदि एशिया और अफ्रिका के लोगों के लिए भी होगा तो खुलकर स्पष्ट शब्दों में कह दिया जाये, और इसका आश्वासन अभी यथासाध्य अधिकार सौंपकर अमली तरीके से सभी लोगों को दे दिया जाये।

1939 के नवम्बर से 1942 तक इसी प्रश्न का संतोषजनक उत्तर कांग्रेस और हिन्दुस्तान को नहीं मिला। शब्दों के आडम्बर में पहले असली मकसद को छुपा रखने का प्रयत्न किया गया। वह मकसद था ब्रिटिश साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने का। जैसे-जैसे समय बीतता गया, यह बात साफ होती गयी। उस समय लार्ड लिनलिथगो ने हजार कोशिशें कीं; पर कोई भी राजनीतिक दल उनके प्रस्ताव से संतुष्ट नहीं हुआ। हां, मुस्लिम लीग को खुश करने के लिए उन्होंने कुछ दिन के बाद एक घोषणा कर दी कि 1935 के विधान पर लड़ाई के बाद सरेनव से विचार किया जायेगा। उस विधान का कांग्रेस ने भी जबरदस्त विरोध किया था और शायद कुछ नरम दल वालों के सिवा किसी राजनीतिक दल ने उसके अनुसार काम करने की रजामंदी जाहिर नहीं की थी। इसलिए, लड़ाई के बाद उसको एक प्रकार से आमूल संशोधित और परिवर्तित करने का वादा करके उन्होंने केवल मुस्लिम लीग को ही नहीं, शायद दूसरों को भी संतुष्ट करने का प्रयत्न किया हो। पर ऐसा मालूम नहीं होता; क्योंकि उनकी उस समय की और पीछे की कार्रवाइयों से एक ही नतीजा निकलता है। वह चाहते थे कि कांग्रेस के मुकाबले में वह एक दूसरी संस्था खड़ी कर दें और इधर हिन्दुस्तान से कहें कि जब तक ये दोनों मिलकर एक मांग पेश नहीं करतीं, हम कुछ भी करने से मजबूर हैं तथा उधर दूसरी ओर दुनिया को भी बता सकें कि अंगरेज तो अधिकार देने के लिए तैयार हैं मगर हिन्दुस्तान के लोग इतने नालायक हैं कि वे आपस में मेल ही नहीं कर सकते, इसलिए वहां ब्रिटिश सरकार का अधिकार अक्षुण्ण रखना आवश्यक एवं अनिवार्य है। इसमें लार्ड लिनलिथगो अपने समय में बहुत हद तक सफल भी हुए हैं। उस समय इन मुलाकातों का नतीजा यही निकला कि कोई संतोषजनक उत्तर हमको ब्रिटिश

सरकार की ओर से नहीं मिला। जो घोषणा उन्होंने गवर्नमेंट की तरफ से निकाली थी उसके संबंध में हमको साफ-साफ कह देना पड़ा कि उससे हम संतुष्ट नहीं हैं।

वायसराय से मिलने के बाद हमको यह भी निश्चय करना पड़ा कि कांग्रेसी लोग मंत्रिमंडल में नहीं रह सकते और शासन का भार सूबों में भी अपने ऊपर नहीं रख सकते। इस निश्चय पर बहुत सोच-विचार के बाद ही वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी पहुंची थीं। कुछ लोग कांग्रेस के अंदर ऐसे थे जो इस नीति को पसंद नहीं करते थे। उनका विचार था कि जो थोड़े-बहुत अधिकार हमारे हाथ में आये हैं उनको छोड़ना नहीं चाहिए। वे यह भी सोचते थे कि अपने हाथों में इन अधिकारों को रखकर हम देश की अधिक सेवा कर सकेंगे और लड़ाई से जो नुकसान हमें पहुंच सकता है उससे बचने में अथवा लड़ाई से जो लाभ हम उठा सकते हैं उसे प्राप्त करने में—दोनों ही में, अधिकार रखकर ही, हम अधिक कारगर हो सकते हैं। पर ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम थी। अधिक लोगों का विचार था कि जैसे-जैसे लड़ाई गरुआती जायेगी, सूबों के अधिकार केंद्रीय सरकार अपने हाथों में लेती जायेगी; मंत्रिमंडल अपने सूबों में कुछ काम बनाने का अधिकार तो रख नहीं सकेंगे, पर जो कुछ बिगड़ेगा उसकी जवाबदेही उसके सिर पर आती जायेगी—केंद्रीय सरकार में हिन्दुस्तानियों को कोई अधिकार मिलता नहीं दीखता, इसलिए वहां से जो कोई भी हिन्दुस्तानी सदस्य वायसराय के साथ काम करेगा उसे युद्धमंत्री और वायसराय की हां में हां मिलाने के सिवा और कुछ करने का मौका नहीं मिलेगा, वह चाहे भी तो प्रांतीय मंत्रिमंडलों की कोई विशेष मदद न कर सकेगा; लड़ाई के लिए जनता से पूरी मदद की आशा की जायेगी, जनता खुशी से मदद देगी नहीं, क्योंकि उसके सामने न तो भविष्य की कोई उज्जवल आशा है और न वर्तमान में उसके प्रतिनिधियों को कोई अधिकार है, इसलिए जब वह ब्रिटिश सरकार के आज्ञानुकूल मदद नहीं दे सकेगी तो मंत्रिमंडलों को जनता के साथ कुछ जोर-जबरदस्ती भी करनी पड़ेगी, यह कोई भी सच्ची लोकसेवा का व्रत लेने वाली संस्था ऐसी अवस्था में नहीं करेगी; इसलिए कांग्रेसी मंत्रिमंडल भी ऐसा करने में असमर्थ होंगे—ब्रिटिश गवर्नमेंट को भी लड़ाई लड़ना ही है और उसे मदद—चाहे वह खुशी से दी जाये अथवा जबरदस्ती ली जाये—मिलनी ही चाहिए, वह मंत्रिमंडलों से इस मदद की आशा रखेगी ही और यदि उसकी आशा पूरी न होगी तो स्वभावतः क्षोभ होगा—अतः अच्छा यही होगा कि हम इस सूखी जवाबदेही को अपने ऊपर न लें, नहीं तो हमको जनता और ब्रिटिश गवर्नमेंट दोनों के लात-जूते सहने पड़ेंगे और अगर वह न सहना पड़ा तो कम-से-कम दोनों की फटकार अवश्य खानी पड़ेगी—विशेषकर ऐसी दशा में जब हम कांग्रेसी लोग उस परिस्थिति को, जो आज कायम है और जो लड़ाई के कारण और भी जटिल हो जाने वाली है, संभालने की शक्ति से वंचित रखे जा रहे हैं; और यदि किसी का यह विचार हो कि ब्रिटिश गवर्नमेंट सचमुच भारतवर्ष के साथ न्याय करना तथा उसे स्वतंत्र बना देना चाहती है, तो

इसका सबूत उसकी कार्रवाइयों से मिल जायेगा और यदि वह नहीं चाहती है तो कांग्रेस का हट जाना ही ठीक होगा।

वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी ने निश्चय कर लिया कि कांग्रेस के प्रश्नों का यदि संतोषजनक उत्तर नहीं मिला तो उसे कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को इस्तीफा देकर हट जाने के लिए मशविरा देना पड़ेगा। वर्धा में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक हुई। उसने वर्किंग कमिटी को अधिकार दे दिया कि इस बात का वह निर्णय करे और आवश्यकता पड़ने पर मंत्रिमंडलों को इस्तीफा देने का आदेश दे। जब वायसराय से बातचीत और गवर्नमेंट की घोषणा के बाद से वर्किंग कमिटी को संतोष नहीं हुआ तो उसने कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को सूचना दे दी कि अपने-अपने प्रांत की धारा-सभाओं में वे देश की मांग का समर्थन करावें और उसके बाद इस्तीफा दे दें। उन्होंने ऐसा ही किया। 1939 के नवम्बर में सभी सूबों के कांग्रेसी मंत्रिमंडल टूट गये। कांग्रेस का बहुमत इतना था कि कोई दूसरा मंत्रिमंडल बन नहीं सकता था; क्योंकि बनते ही उस पर अविश्वास प्रकट किया जा सकता था। साथ ही, शायद गवर्नर लोग और वायसराय यही पसंद करते थे कि इस प्रकार के मंत्रिमंडल के बनिस्बत, जो कभी चूं-चें ही कर सकते थे, किसी भी मंत्रिमंडल का न रहना ही उनके लिए अच्छा होगा—उनको अपनी मनमानी करने का पूरा मौका रहेगा। इसलिए उन्होंने उन सभी सूबों में विधान की 93वीं धारा के अनुसार शासन अपने हाथों में ले लिया। अब केवल काम-काज चलाने का ही नहीं, नये कानून बनाने और पुराने को बदलने या रद करने का भी पूरा अधिकार गवर्नरों के हाथ में आ गया। लड़ाई आरम्भ होते ही ब्रिटिश गवर्नमेंट ने 1935 के विधान में एक दिन में संशोधन कर लिया था जिसका नतीजा यह होता था कि जब कभी वायसराय चाहें, प्रांतीय सरकारों के अधिकार अपने हाथों में कर सकते हैं अथवा उनसे अपनी आज्ञाओं का पालन करा सकते हैं। यह युद्ध की नाजुक परिस्थिति के नाम पर किया गया था, पर मतलब साफ था और जब मंत्रिमंडलों ने इस्तीफा दे दिया तो उनका रास्ता और भी साफ हो गया।

कुछ लोग आज भी जोर देकर कहते हैं कि यदि मंत्रिमंडल इस्तीफा न दिये होते और अपने स्थानों पर डटे रहते तो जो धांधली और ज्यादतियां लड़ाई के नाम पर सूबों में हुई हैं और की गयी हैं वे नहीं होने पातीं। जो लोग इस तरह की बातें करते हैं वे विधान के इस संशोधन को भूल जाते हैं और यह भी भूल जाते हैं कि जहां मंत्रिमंडल कायम रहे वहां भी केंद्रीय सरकार की धांधली चली है—बंगाल का मंत्रिमंडल इसका जीता-जागता सबूत है। वहां मंत्रिमंडल बनाने और तोड़ने में गवर्नर ने पूरा हाथ बंटाया है। वहां की जनता लाखों की संख्या में दाना-दाना बगैर मरी है—मंत्रिमंडल न उन कारणों को ही दूर कर सका जिनसे वहां का भयंकर दुर्भिक्ष पैदा हुआ और न अकाल पड़ जाने पर तब तक जनता की कुछ सहायता ही कर सका जब तक केंद्रीय सरकार ने इसमें हाथ नहीं लगाया—सब तथा-कथित

अधिकारों के रहते हुए भी न श्री फजलुल हक का और न सर नाजिमुद्दीन का मंत्रिमंडल बंगाल को इस विपत्ति से बचा सका। इसी सिलसिले में पंजाब और सिन्ध के मंत्रिमंडलों की बेकसी भी साफ साबित हो गयी। उनको केंद्रीय गवर्नमेंट ने दबाकर उनसे महंगी और गल्ले के निर्यात के संबंध में कार्रवाई करायी। जब हम सूबा-सरकार के अधिकार के विषय में विचार करते हैं तो हमें इससे मतलब नहीं है कि वह सरकार सही काम कर रही थी या गलत। अगर अधिकार है तो सही करने का है और गलत करने का भी। गलत करने पर ही, अधिकार है या नहीं, ठीक पता चलता है। हो सकता है, जिन मामलों में केंद्रीय सरकार ने उनको दबाया, उसने ठीक ही दबाया और वह गलत काम कर रही थी। पर इससे यह बात साबित हुए बिना नहीं रह सकती कि प्रांतीय सरकारों के अधिकार सीमित हैं और लड़ाई के आर्डिनेंसों के जमाने में केंद्रीय सरकार उनसे जो चाहे वह करा सकती है। याद रहे, ये मंत्रिमंडल ब्रिटिश सरकार की मदद करने का दावा बराबर करते रहे हैं और मदद करते भी रहे हैं। तो भी केंद्रीय सरकार ने उनको दबाने में हिचक नहीं दिखलायी। कांग्रेसी मंत्रिमंडल अगर अपनी जगह पर रह गये होते और कांग्रेस का ब्रिटिश सरकार के साथ समझौता संतोषप्रद नहीं हुआ होता—जैसा नहीं हो सका—तो इसमें जरा भी संदेह की गुंजाइश नहीं है कि उनको बहुतेरे ऐसे कामों के करने पर मजबूर किया जाता, जिनको न तो कांग्रेस और न वे स्वयं पसंद करते। उनको मजबूर होकर कुछ दिनों में ही इस्तीफा देना पड़ता और नहीं तो गवर्नर की हां में हां मिलाकर अपने विचार और सिद्धांतों के विरुद्ध उनकी फरमा-बरदारी करनी ही पड़ती।

उस निश्चय के प्रायः पांच बरसों के बाद, जब ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं, उन घटनाओं का और ब्रिटिश नीति का सिंहावलोकन करके हम एक ही नतीजे पर पहुंच सकते हैं और वह यह है कि साम्राज्यवाद की लड़ाई इंग्लैंड लड़ रहा है, चाहे दूसरे जो समझते हों। उसका उद्देश्य है—श्री चर्चिल के शब्दों में, 'जो उसका है उसे अपने कब्जे में रखना'। इतना ही नहीं, ब्रिटिश साम्राज्य यदि जर्मनी को हराकर निष्कंटक, एकछत्र और अधिक जबरदस्त न बनाया जा सके, तो कम-से-कम इसको अपना स्थान योरप, एशिया और अफ्रिका में ज्यों का त्यों कायम रखना चाहिए। ऐसी अवस्था में भारत के लिए कौन-सी आशा हो सकती है? कांग्रेस के दिल में जो संदेह 1939 में था उसका समर्थन उसके बाद की सभी घटनाओं ने और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के शब्दजालों ने—विशेषकर श्री चर्चिल और श्री एमरी के कलाबाजी भरे उद्गारों ने—स्पष्ट रूप से गला फाड़-फाड़कर किया है। इसलिए, मैंने उस समय भी समझा था, और आज तो यह धारणा और भी दृढ़ हो गयी है, कि हम मंत्रिमंडल में रहकर देश का हित करने में बिलकुल असमर्थ थे—हम अपने को देश के लिए केवल अनर्थ का साधन ही बना सकते थे।

इन धारणाओं के बावजूद मैं यह नहीं कह सकता कि मैं उन दिनों इंग्लैंड की हार को पसंद करता। चाहे जिन कारणों से हो, जर्मनी की जीत मंजूर नहीं थी। उसने

चेकोस्लोवाकिया के साथ ज्यादती की थी, और ज्यादती की थी इसलिए कि वह उसके मुकाबले कमजोर देश था। जब जर्मनी ने उस देश के साथ ज्यादती की तब दूसरे लोग भी कुछ-न-कुछ लाभ उठाने के लोभ का संवरण न कर सके। उनमें हंगरी और पोलैंड मुख्य थे। इसलिए, जब जर्मनी ने उलटे पोलैंड पर ही ज्यादती शुरू कर दी तब मन में कुछ ऐसा भी भाव उठता था कि ठीक ही किया—पोलैंड को, 'जैसे को तैसा' मिला! फिर जब उसने हालैंड, बेलजियम, डेनमार्क और नार्वे पर भी चढ़ाई कर दी तो मेरे दिल पर इसका बहुत असर पड़ा। मुझे मालूम होने लगा कि किसी भी कमजोर देश को जर्मनी स्वतंत्र नहीं रहने देगा। अंगरेजों के प्रति जो थोड़ा-सा गुस्सा था वह कम हो गया और मुझे ऐसा भान होने लगा कि हमको ब्रिटिश की मदद करनी चाहिए जिससे वह जर्मनी को हरा सके और इस अन्यायी शक्ति का दमन कर सके। यह भाव इतना प्रबल हो गया कि मैंने एक छोटे बयान में अपने उद्‌गार को प्रकाशित भी कर दिया। मेरा ख्याल है कि बहुतेरे दूसरे कांग्रेसी लोगों के विचार भी इसी प्रकार के थे। हम ब्रिटिश गवर्नमेंट की त्रुटियों और हिन्दुस्तान के प्रति उसके अन्यायों को याद रखते हुए भी जर्मनी की धांधली से इतने स्तंभित हो गये कि ब्रिटिश साम्राज्य की करतूतों को प्रायः भूल-सा गये। इसलिए यह कहना—जैसा आज बहुतेरे अंगरेज और उनके पिट्ठू कह दिया करते हैं—कि कांग्रेस के लोग इंग्लैंड की कमजोरी को महसूस करके अपने पुराने वैर का बदला लेना और उसकी विपत्ति से लाभ उठाना चाहते थे, बिलकुल असत्य है। बावजूद हजार शिकायतों के, लड़ाई के आरंभ के समय से 1940 की जुलाई तक—जब बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक में कांग्रेस की ओर से यह कहा गया कि अगर ब्रिटिश गवर्नमेंट हिन्दुस्तान की भावी स्वतंत्रता की घोषणा कर दे और उसे शासन में तत्काल अधिकार दे दे तो भारत एकमत होकर लड़ाई में मदद करेगा—प्रायः किसी कांग्रेसी के दिल में ब्रिटिश सरकार के प्रति कटुता नहीं थी और उस समय तक सभी कांग्रेसी लोग ब्रिटेन की मदद करना अपना कर्तव्य ही मानते थे। हां, उस कर्तव्य की पूर्ति के लिए अधिकार चाहते थे जिसके बिना जनता को उत्साहित करना संभव नहीं था।

जब बम्बई की उस बैठक के बाद, जिसके कारण गांधीजी को कांग्रेस से अपने को अलग कर लेना पड़ा था और उनको अलग करके भी वर्किंग कमिटी तथा अखिल भारतीय कमिटी ने लड़ाई में सक्रिय मदद की प्रतिज्ञा की थी, ब्रिटिश गवर्नमेंट ने उस प्रस्ताव को इतनी जल्दी में ठुकरा दिया, तब बहुतेरों के दिल में क्षोभ पैदा हुआ, और वह क्षोभ श्री एमरी तथा चर्चिल की बातों से दिन-दिन बढ़ता ही गया है। इसमें भी संदेह नहीं कि जितने कम दाम पर इंग्लैंड उस वक्त सौदा कर सकता था उतने पर शायद फिर कभी न कर सकेगा। हां, यह दूसरी बात है कि अपने पशुबल से वह भारतवर्ष को कुछ दिनों तक दबाये रखे। यदि उस समय समझौता हो गया होता तो शायद जापान को भी इस लड़ाई में कूदने के पहले कुछ और विचार कर लेना पड़ता। यदि जापान को यह विश्वास हो जाता कि हिन्दुस्तान ब्रिटिश

सरकार के साथ हर तरह से, तन-मन-धन से, है तो उसकी हिम्मत पूर्व एशिया पर एकबारगी धावा बोलने की उस तरह नहीं होती जिस तरह हुई। यदि वह ऐसी हिम्मत करता भी तो कौन कह सकता है कि उसे उतनी सफलता मिलती जितनी मिली! हिन्दुस्तान की आजादी के साथ-साथ बरमा की स्वतंत्रता का मसला भी तय हो गया होता। यदि बरमा की बात हो गयी होती तो मलाया और सिंगापुर की वह दशा न होती जो हुई। इसलिए, मैं मानता हूं कि जितनी अदूरदर्शिता ब्रिटेन ने उस समय की उतनी शायद उसने अपने इतिहास में एक अवसर को छोड़कर और कभी नहीं की। वह अवसर था जब उसने अमेरिका के उपनिवेशों की मांग अठारहवीं शताब्दी में ठुकराई थी। उसका नतीजा उसके लिए अच्छा नहीं हुआ, यद्यपि वह संसार के लिए शायद अच्छा ही हुआ। और, इसका नतीजा, कौन कह सकता है, क्या होगा? हो सकता है, इंग्लैंड के लिए यह उससे भी बुरा हो जो अमेरिका में हुआ और संसार के लिए भी उससे अधिक लाभकर। अस्तु, यह तो भविष्य की बात है, संस्मरण की नहीं, और इसके लिए यह स्थान भी नहीं है। यहां तो इतना ही कह देना काफी है कि प्रचार के लिए चाहे कांग्रेस पर जो भी दोष लगाया जाये, सत्य का तकाजा यही रहेगा कि कांग्रेस ने हर कदम पर इस बात की कोशिश की है कि भारत प्रतिष्ठापूर्वक और सफलतापूर्वक अधिकार के साथ ब्रिटिश गवर्नमेंट और प्रजातंत्रवादी देशों की सहायता देने के योग्य बना दिया जाये, लेकिन हर कदम पर उसको केवल नकारात्मक उत्तर ही नहीं मिला, हमेशा उसका तिरस्कार भी किया गया। अंत में, ऊबकर उसे 1942 के अगस्त का निश्चय करना पड़ा जिसका जिक्र आगे आवेगा।

लड़ाई आरम्भ हो जाने के बाद कुछ समय तक यह अनिश्चित-सा हो गया कि कांग्रेस का अधिवेशन होगा कि नहीं और होगा तो कब होगा। कांग्रेस का नियम फिर बदल गया था और निश्चय हो गया था कि दिसम्बर में ही सालाना बैठक हो। यह साफ हो गया कि अब दिसम्बर में बैठक नहीं होगी। पर थोड़ी ही दिनों में यह भी साफ हो गया कि बैठक अवश्य करनी ही चाहिए। इसलिए, अब निश्चय हुआ कि मार्च में सालाना इजलास किया जाये। रामगढ़ में अब फिर जोरों से तैयारी होने लगी। मैं वहां बहुत समय नहीं दे सकता था; क्योंकि मुझ पर अखिल भारतीय कमिटी के काम का बोझ भी था। पर अब वहां केवल श्री अम्बिकाकान्त ही नहीं रह गये, मंत्रिमंडल के इस्तीफे के बाद दूसरे लोग भी वहां जाने के लिए फुर्सत पा गये—विशेषकर अनुग्रह बाबू, श्री कृष्णवल्लभ सहाय और श्री रामनारायण सिंह की सेवा भी उपलब्ध हो गयी। इसलिए मैं बहुत हद तक निश्चिंत भी हो गया।

137

रामगढ़ कांग्रेस का बरसाती अधिवेशन

रामगढ़ में लकड़ी-बांस की कमी नहीं थी। मजदूर भी काफी मिलते थे। इसलिए जंगल साफ करके झोंपड़े बनवाने का काम जोरों से जारी हो गया। पर श्री रामदास गुलारी अस्वस्थ हो गये। अब उनका वहां रहना कठिन हो गया। सौभाग्य से ठीक उसी समय विलायत से इंजीनियरी की उच्च परीक्षा पास करके श्री रामजी प्रसाद वर्मा वापस आ गये। यह लड़कपन से ही कांग्रेस के साथ थे। 1930 में जेल गये थे। वहां बेंत भी खाया था। पढ़ने में तेज थे, इसलिए कालेज के प्रिंसिपल ने उनको फिर इंजीनियरिंग कालेज में, जहां वह पहले पढ़ रहे थे, भरती कर लिया। वहां से अच्छी तरह से अंतिम परीक्षा में उत्तीर्ण होकर इंजीनियर हो गये। कुछ दिनों तक, इधर-उधर कुछ पैसे कमाकर, अधिक शिक्षा के लिए इंग्लैंड जाने का इनका विचार हुआ। वहां जाकर खूब अच्छी तरह से बड़ी-बड़ी परीक्षाएं पास कर लीं। ठीक वहां से इनके चलने के समय ही लड़ाई शुरू हो गयी। पर किसी तरह हिन्दुस्तान पहुंच गये। पहुंचते ही रामगढ़ के मुख्य इंजीनियर का काम इन्होंने संभाल लिया। इसलिए जो चिंता और दिक्कत श्री गुलारीजी के चले जाने पर होती वह बहुत अंशों तक न होने पायी। रहने के लिए झोंपड़े, खुले अधिवेशन के लिए पंडाल और विषय निर्वाचिनी के लिए भी पंडाल बनवाने के अलावा प्रदर्शनी के लिए भी झोंपड़े बनवाने थे। पानी का प्रबंध करना था। रोशनी के लिए इंतजाम करना था। प्रत्येक का भार किसी-न-किसी पर दिया गया। पर निर्माण का सारा काम इंजीनियरिंग विभाग पर ही रहा। वह ठीक तरह से समय के अंदर पूरा भी हो गया।

हमने जिस जगह को कांग्रेस के लिए चुना था वहां एक-दो छोटे-मोटे कुएं तो थे, पर इस योग्य नहीं थे कि जितने आदमी आवेंगे उतने में से शतांश के लिए भी पूरा पानी दे सकेंगे। दामोदर नदी के किनारे पर स्थान था, पर दामोदर उन दिनों प्रायः सूखा-सा रहता है—वही दामोदर जो बाढ़ आने पर भयंकर रूप धारण कर लेता है और बिहार से निकलकर बंगाल में, विशेषकर बर्दवान जिले में, एक पतली धारा द्वारा ही—जिसे आदमी बिना धोती भिगोये आसानी से पार कर सकता है—वह अपना अस्तित्व जताता रहता है। पर यद्यपि ऊपर की धारा पतली और छिछली रहती है तथापि बालू के नीचे जल की मात्रा काफी रहती

है। यदि पानी निकालने और रोकने का प्रबंध किया जा सके तो वह स्रोत अटूट होता है। इसलिए यह निश्चय किया गया कि नदी से ही पानी निकालने का प्रबंध किया जाये। कुएं द्वारा भी शायद हो सकता था, पर पथरीली पहाड़ी जमीन होने के कारण यह निश्चय करना कठिन था कि वह कुआं कहां खोदा जाये और खोदने पर भी उसमें काफी पानी मिलेगा। नदी में कुआं खोदना आसान था और बहुत नजदीक पानी मिल जाता था। इसलिए नदी में कुआं खोदकर पम्प लगाया गया। पानी साफ करने के लिए बड़ी-बड़ी टंकियां पक्की बनायी गयीं जिनमें एक समय एक लाख आदमियों के लिए दो या तीन दिनों तक के खर्च-भर काफी पानी रह सके। सारे 'नगर' में पाइप लगाकर पानी पहुंचाने का प्रबंध किया गया। इस प्रबंध के लिए गया म्युनिसिपैलिटी और भागलपुर म्युनिसिपैलिटी के पानी-कल के विशेषज्ञ इंजीनियरों ने बहुत परिश्रम से काम किया। पानी का प्रबंध ठीक हुआ। उसमें केवल एक त्रुटि रह गयी। वह यह थी कि कुएं नदी में थे और नदी में अचानक पानी आ जाने पर कुएं और पम्प दोनों बेकार हो जा सकते थे। पर यह कौन जानता था कि मार्च में इतनी वर्षा होगी कि दामोदर में बाढ़ आ जायेगी!

पानी के ख्याल से, और शोभा बढ़ाने के लिए भी, हमने एक और प्रबंध किया। जहां कांग्रेस-नगर बसा था उसके पास होकर एक छोटी नदी 'हुरहुरी' वहीं दामोदर में मिलती थी। इस नदी को हम लोगों ने पक्के बांध से बांध दिया। नतीजा यह हुआ कि एक ओर खूब तैरने लायक गहरा पानी जमा हो गया और दूसरी ओर बांध की ऊंचाई पर से जो पानी बहता वह एक छोटे जलप्रपात की शोभा के साथ-साथ नहाने वालों के लिए एक कौतूहल की वस्तु भी हो गया।

'इरादा तो था कि गांव की कांग्रेस में, जहां तक हो सके, गांव की चीजों का ही इस्तेमाल किया जाये; पर ऐसा हो न सका। इस नियम का उल्लंघन सबसे पहले जल-कल द्वारा किया गया। अब रह गयी रोशनी की बात। इसके लिए या तो बिजली का प्रबंध किया जाता या किटसन-बत्तियों का। दोनों में से एक भी देहात की चीज नहीं थी। तेल की मशालों, पनसाखों और गेंदों से काम चलना कठिन मालूम हुआ। पर हमने यथासाध्य कोशिश की कि कोई ऐसा ही प्रबंध किया जाये। किंतु न हो सका। अंत में बिजली की शरण लेनी पड़ी। इसमें एक सुविधा भी अनायास और अचानक मिल गयी। गया कॉटन मिल्स के मालिकों ने ठीक उसी समय नया इंजिन और डाइनमो वगैरह मंगाया था। उन्होंने उन सब चीजों का बंधा-बंधाया और लदा-लदाया पार्सल गया में न खोलकर अपने इंजीनियर के साथ सीधे रामगढ़ भेज दिया! काम आसान हो गया। बिजली लग गयी।

प्रदर्शनी का काम कठिन हुआ करता है; क्योंकि उसमें बहुत चीजें जुटानी पड़ती हैं। चर्खा संघ के मंत्री श्री लक्ष्मीनारायण ने इसका भार उठाया। उन्होंने अखिल भारतीय चर्खा संघ तथा ग्रामोद्योग संघ की सहायता से खासा इंतजाम कर लिया। हां, उन्होंने

सिद्धांततः प्रदर्शनी के अहाते के अंदर बिजली नहीं जाने दी; क्योंकि प्रदर्शनी एकमात्र ग्रामोद्योग पर ही निर्भर थी।

कुछ मित्रों का विचार था कि आने वाले प्रतिनिधियों के लिए बिहार का एक इतिहास हिन्दी में तैयार करा दिया जाये। मुझे यह बात पसंद आयी। त्रिपुरी में भी इस प्रकार का इतिहास तैयार हुआ था। बिहार का इतिहास तो गौरवपूर्ण है। यह काम श्री जयचन्द्र विद्यालंकार के जिम्मे किया गया। उसके छापने का भार लहेरिया-सराय के श्री रामलोचन शरण बिहारी ने लिया। इतिहास छपकर तैयार हो गया। परन्तु जहां तक मुझे पता लगा है, वह बहुत बिका नहीं। तो भी एक चीज तैयार तो हो गयी है।

बिहार में कुछ होनहार चित्रकार तैयार हो रहे हैं। सबकी इच्छा हुई और मेरी भी राय हुई कि बिहार के इतिहास की कुछ गौरवपूर्ण घटनाएं चित्रों द्वारा चित्रित कर दिखलायी जायें। इस काम को वयोवृद्ध सिद्धहस्त कलाकार बाबू ईश्वरी प्रसाद वर्मा के नेतृत्व का लाभ मिला। वह कलकत्ता आर्ट स्कूल के वाइस-प्रिंसिपल थे। अब वह वहां से पेंशन पाकर अपने जन्मस्थान पटने में रह रहे हैं। कुछ सुंदर मौलिक चित्र बनाये और प्रदर्शनी में रखे गये। उनकी प्रतिलिपियां पुस्तकाकार प्रकाशित की गयीं जिसमें चित्रित दृश्यों का ऐतिहासिक विवरण दे दिया गया। यह पुस्तक लोगों को बहुत पसंद आयी। चित्रों को लोगों ने बहुत चाव से देखा।

कांग्रेस का आयोजन बहुत बड़े पैमाने पर, जैसा हुआ करता है, किया गया। मौलाना अबुल कलाम आजाद प्रायः एकमत से सभापति चुने गये—प्रायः एकमत से इसलिए कहा कि श्री मानवेन्द्रनाथ राय (एम. एन. राय) भी उमीदवार थे! पर उनको थोड़े ही वोट मिले। बहुत बड़ा बहुमत मौलाना के पक्ष में था।

कांग्रेस के अधिवेशन के कुछ पहले ही पटने में वर्किंग कमिटी की बैठक हसब-मामूल की गयी। यह बैठक इसलिए की जाती है कि कांग्रेस में उपस्थित करने के लिए कुछ प्रस्तावों का मसविदा पहले से तैयार कर लिया जाये ताकि ठीक कांग्रेस के समय इस काम में जल्दी न करनी पड़े। इस बैठक के बाद ही मैं रामगढ़ के लिए रवाना हो गया। मुझे लोगों ने स्वागत-समिति का अध्यक्ष चुन लिया था। वह भी कुछ अजीब ढंग से हो गया था। स्वागत-समिति के लोगों को ऐसा मालूम हुआ कि स्वागताध्यक्ष के चुनाव के लिए कई नाम पेश किये जा सकते हैं। यह बात लोगों को पसंद नहीं थी; क्योंकि वे इस मामले में मतभेद का प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। किसी व्यक्ति-विशेष के संबंध में कुछ कहना उचित नहीं है, इसलिए मैं नाम नहीं देता हूं। इस प्रकार के मतभेदों में कोई डरने की बात नहीं होनी चाहिए—विशेषकर स्वागताध्यक्ष की जिम्मेदारी केवल स्वागत और प्रबंध की होती है। कांग्रेस की नीति से उसका कोई, स्वागताध्यक्ष की हैसियत से, संबंध नहीं होता। तो भी कुछ लोगों की राय हुई कि मैं यदि इस पद को स्वीकार कर लूं तो मतभेद नहीं होगा। मजबूरी

मुझे मान लेना पड़ा। अस्तु, मैं पटने से मोटर पर रवाना हुआ। रास्ते में नालन्दा में उतर गया। वहां की खुदाई से निकली हुई इमारतों और म्युजियम में संग्रह की हुई चीजों के देखने का सुअवसर प्राप्त हो गया। मुझे खेद और लज्जा से कहना पड़ता है कि नालन्दा यद्यपि पटना जिले में ही है जहां मैं रहा करता हूं, मैंने इसके पूर्व उन इमारतों और सामग्रियों को नहीं देखा था। मुझे देखकर आश्चर्य ही नहीं हुआ, बिहार के अतीत गौरव के प्रति श्रद्धा और भी बढ़ गयी। नालन्दा से कुछ आगे बड़कर रजौली डाक-बंगला पर मैं दो दिनों के लिए ठहर गया। वहां ठहरने के दो कारण थे—एक तो कुछ आराम कर लेना जरूरी था, दूसरा था स्वागत का भाषण तैयार कर लेना। जगह भी अपने ढंग की अच्छी मिल गयी। थोड़ी ही दूर पर जंगल और पहाड़ उस स्थान की शोभा बढ़ाते हैं। हम लोगों के मित्र और पुराने कांग्रेसी श्री गौरीशंकर शरण सिंह का घर उसी गांव में है। इसलिए बिना तरद्दुद और चिंता के वहां एकांत में रहकर भाषण लिखने में सुविधा हुई। भाषण में मैंने बिहार के इतिहास का ही थोड़ा-सा सिंहावलोकन किया था। चलते प्रश्नों और मसलों के सुलझाने अथवा उन पर मत प्रकट करने का प्रयत्न मैंने जान-बूझकर छोड़ दिया था।

रामगढ़ पहुंचकर, तैयारी मे जो कमी थी उसको पूरा कराने में ही दिन-रात लगा रहा। महात्माजी समय से पहुंच गये। उनको प्रदर्शनी का उद्घाटन करना था। इसलिए वह कुछ पहले ही आये। उनके पहुंचने के एक दिन पहले बहुत पानी बरस गया। कुछ आंधी भी आ गयी। प्रदर्शनी के काम में कुछ बाधा पड़ी। पर बात संभाल ली गयी। महात्माजी ने समय पर उद्घाटन किया। आशा की जाती थी कि अब इस वर्षा के बाद आसमान साफ रहेगा और जो कुछ होना था, हो चुका। पर होने वाला कुछ दूसरा ही था।

हुरहुरी और दामोदर के किनारे नेताओं के लिए झोंपड़े बने थे जिनमें से एक में महात्माजी, दूसरे में सभापतिजी और अन्यान्य झोंपड़ों में और-और लोग ठहराये जाने वाले थे। झोंपड़ों की बनावट अच्छी और सुंदर थी) बांस की चटाई की दीवार, होगला की छाजन और साखू के खंभे। इसी तरह सभी झोंपड़ों का निर्माण किया गया था—चाहे वह ठहरने के लिए हो अथवा प्रदर्शनी के लिए या कमिटी की बैठक के लिए। बीच में अच्छी चौड़ी सड़क बनायी गयी थी। बीच-बीच में आवश्यकतानुसार गलियां बनी थीं।

यह स्थान पटना-रांची के शाह-राह(राजमार्ग)पर ही था। उस शाह-राह पर दामोदर नदी पर एक बड़ा पुल बना हुआ है। पुल और सड़क से नगर की शोभा खूब देखने में आती थी। सड़क बराबर चलती रहती है। उस समय तो और भी अधिक चालू थी। वहां रेल के दो स्टेशन हैं—एक बी. एन. आर. का स्टेशन रामगढ़ है, नगर से आधा मील दक्खिन; और दूसरा स्टेशन ई. आई. आर. का रांची-रोड, जो वहां से प्रायः चार मील उत्तर था। दोनों रेलवे के अधिकारियों ने, भीड़ की सुविधा के लिए, स्टेशनों पर काफी प्रबंध किया था। महात्माजी रामगढ़ स्टेशन पर उतरे और सभापतिजी रांची-रोड स्टेशन पर (बड़े जुलूस के साथ

सभापति कांग्रेस-नगर में पहुंचाये गये। नगर का नाम स्वर्गीय मजहरुल हक साहब के नाम पर रखा गया था। एक विशेष फाटक स्वर्गीय दीपनारायण सिंह (भागलपुर) के नाम पर था।

जैसा मामूल है, अखिल भारतीय कमिटी और विषय निर्वाचिनी की बैठकें दो-तीन दिन पहले ही आरम्भ हुईं। उन्होंने अपना काम प्रायः कांग्रेस के खुले अधिवेशन के दिन तक पूरा कर लिया था। जन-समूह वहां एकत्र हो गया था। पंडाल बहुत सुंदर बना था। उसको प्रकृति ने ही सुंदर बनाया था। हमारा काम तो था स्थान चुनकर जमीन बराबर करा देना, नेताओं का मंच अर्थात प्लेटफार्म बनवा देना, रोशनी लगा देना और चारों ओर घेरा बनवा देना। पंडाल के पास में ही घनघोर जंगल, जहां तक आंखें जा सकती थीं, नजर आते थे। दूसरी ओर कांग्रेस के प्रतिनिधियों के निवास-स्थान आदि दूर तक फैले हुए थे जो रात के समय रोशनी से जगमग-जगमग करने लगते। प्लेटफार्म सबमें नीचे था और प्रतिनिधियों तथा दर्शकों के बैठने की जगह प्राकृतिक गैलरी जैसी बनी थी। चाहे कोई भी दर्शक कितनी ही दूरी पर क्यों न हो, वह मंच पर बैठे सभापति तथा दूसरे नेताओं को ठीक देख सकता था। लाउड-स्पीकर के कारण उनकी बातें सुनने में कोई कठिनाई तो थी ही नहीं।

कांग्रेस के अधिवेशन का दिन आ गया। दर्शकों के टिकट धड़ाधड़ बिक रहे थे। शायद घंटे में 6-7 हजार या इससे भी अधिक आमदनी हो रही थी। अधिवेशन संध्या-समय 5 या 6 बजे से होने वाला था। मैं सभापतिजी को लाने के लिए चला गया। पंडाल के अहाते में एक सायादार झोंपड़ा कुछ दूर पर बना था, जहां से मामूल के अनुसार मुख्य नेताओं को सभापति के साथ जलूस बनाकर ले जाने का प्रबंध था। कुछ लोग वहां तक पहुंच गये, कुछ लोग आ ही रहे थे कि इतने में अचानक आकाश के एक कोने में बादल उमड़ आया और पानी बरसना आरम्भ हो गया! सभापतिजी उस झोंपड़े तक पहुंच गये थे, पर अभी जलूस नहीं निकला था। पानी पड़ने लगा। चंद मिनटों के अंदर इतने जोर की मूसलधार वर्षा होने लगी कि वह नीची जमीन पानी से भर गयी। सभी दर्शक और प्रतिनिधि अपने-अपने स्थान पर बैठे रहे—भीगते रहे—इस आशा से कि अब पानी रुक जायेगा और अधिवेशन हो सकेगा। पर ऐसा नहीं हुआ। वर्षा का जोर बढ़ता ही गया। अंत में मंच के पास नीची जमीन मे इतना पानी भर गया कि वहां लोगों का खड़ा रहना भी कठिन हो गया। लाउड-स्पीकर का सारा प्रबंध उसी स्थान पर था। इसलिए वह बिलकुल बेकार हो गया। अंत में उसी वर्षा में सभापतिजी मंच पर गये। मैं भी साथ गया। मैंने दो-चार शब्दों में स्वागत कर दिया—भाषण पढ़ने का न कोई मौका ही था और न कोई उसे सुन ही सकता। सभापतिजी ने भी दो-चार शब्द कहकर उस दिन का अधिवेशन समाप्त कर दिया। जिन लोगों ने महीने से दिन-रात परिश्रम करके इस शुभ दिन की तैयारी की थी वे लोग बहुत निराश हुए, पर करना क्या था, अब तो देखना यह था कि प्रतिनिधियों के रहने के स्थान का क्या हाल है। यहं संतोष का विषय है कि झोंपड़े इस मूसलधार पानी को भी बर्दाश्त कर गये। प्रतिनिधि

उनमें रात को पानी बरसते रहने पर भी सो सके। उनको कष्ट तो अवश्य हुआ, पर मैं समझता हूं कि हम लोगों के साथ सबकी सहानुभूति रही, किसी को हमसे या हमारे प्रबंध की त्रुटियों से रंज नहीं हुआ।

दूसरे दिन पानी नहीं बरसा, यद्यपि कुछ फूहाफूही होती रही। झंडा अभिवादन के लिए खुले मैदान में एक स्तंभ बनाया गया था जो पक्का सिमेंट का था। उसके सिरे पर अशोक-स्तंभ की तरह सिंहों की मूर्ति थी। उसी स्तंभ के चारों तरफ लोग जमा हो गये। कांग्रेस का अधिवेशन वहीं किया गया। पंडाल में तो पानी जमा होने के कारण बैठना या खड़ा रहना भी असम्भव था। इस खुले मैदान में स्तंभ के चबूतरे पर सभापति, महात्माजी तथा कुछ दूसरे मुख्य लोग बैठे और सब लोग चारों ओर जमीन पर बैठ गये। जो प्रस्ताव विषय निर्वाचिनी ने उपस्थित किये थे, बाजाब्ता उपस्थित किये गये। पूरी बहस के बाद वे स्वीकृत हुए। जो कुछ बाजाब्ता अधिवेशन में होता वह सब किया गया, पर कुछ कम पैमाने पर; क्योंकि हमेशा आसमान का डर बना रहता था कि कहीं फिर पानी न बरसने लगे। महात्माजी का भी भाषण हुआ। अंत में मैंने सब लोगों से असुविधाओं के लिए माफी मांगते हुए निवेदन किया कि लोग अब अपने-अपने स्थान को चले जायें; क्योंकि नदी में पानी आ जाने के कारण हमारा पानी-कल का प्रबंध बेकार हो गया था, लोगों को अब नदी के गंदले पानी पर भरोसा करना पड़ेगा, हमारे खजाने में 24 घंटे से अधिक के लिए अब पानी नहीं रह गया था! लोगों ने बात मान ली। अधिवेशन समाप्त होते ही लोग जहां-तहां के लिए रवाना होने लगे। उसी दिन, रात की गाड़ी से, सभापतिजी तथा दूसरे मुख्य-मुख्य नेता भी जहां-तहां चले गये।

रामगढ़ कांग्रेस का निश्चय भी महत्व रखता है। लड़ाई के आरम्भ से जो नीति वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी ने कांग्रेस की ओर से बरती थी उसका समर्थन कांग्रेस ने कर दिया। साथ ही, यह भी साफ-साफ बता दिया कि भविष्य में स्वराज्य के लिए हमें कुछ करना पड़ेगा, उसके लिए अभी से रचनात्मक कार्यक्रम को जोरों से चलाकर लोगों को तैयार किया जाये।

रामगढ़ कांग्रेस के समय रामगढ़ में ही एक दूसरी बड़ी सभा भी हुई। उसका नाम था समझौता-विरोधी सभा (Anti-compromise Conference)। उसके मुखिया थे श्री सुभाषचन्द्र बोस। इस सूबे के प्रबंधकों में मुख्य थे श्री स्वामी सहजानन्द सरस्वती और श्री धनराज शर्मा। जब से सुभाष बाबू से मतभेद हो गया था, उन्होंने एक दूसरा नया दल कायम किया था, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। वे लोग कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के विरुद्ध यही प्रचार कर रहे थे कि वह ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ समझौता करने पर तुली हुई है और देश का अहित करके भी समझौता कर लेगी। इस दल में बहुत प्रकार के लोग शरीक थे जिनमें कुछ ऐसे लोग भी थे जो सुभाष बाबू के मत और विचारों से कोई संबंध नहीं रखते थे,

पर जो कार्यकारिणी से रुष्ट थे और यह अच्छा मौका देखकर उसके विरोध में लग गये थे। कांग्रेस न समझौते से कुछ डरती थी और न उसके लिए देश का अहित करना चाहती थी। यदि उसमें किसी प्रकार की उत्सुकता थी तो सिर्फ इतनी ही कि देश का हित हो। पर उस समय इस 'स्लोगन' को खूब चलाया गया। वह कांफ्रेंस भी अच्छे समारोह से हुई। उसमें और कांग्रेस के अधिवेशन में यह अंतर रहा कि उसका अधिवेशन, कांग्रेस के पहले होने के कारण, वर्षा शुरू होने के पहले ही समाप्त हो चुका था।

138

बिहार की तीन महत्वपूर्ण कमिटियां और सोनपुर शिविर

रामगढ़ के निश्चय के अनुसार हम लोगों को रचनात्मक काम पर जोर देना जरूरी था। इसलिए वहां का काम समाप्त होते ही हमने सोच लिया कि अपने सूबे में इसका प्रबंध करना चाहिए—महात्माजी के आदेशानुसार हमारे सभी स्वयंसेवकों को चर्खा चलाने इत्यादि की शिक्षा ले लेनी चाहिए और संगठित जीवन बिताने का भी पाठ सीख लेना चाहिए। इसलिए हमने निश्चय कर लिया कि एक शिविर खोला जाये जिसमें प्रांत-भर से प्रमुख लोग आकर एक साथ कम-से-कम एक सप्ताह रहें, जो चर्खा चलाना इत्यादि पूरी तरह न जानते हों उनको इसकी शिक्षा मिल जाये और प्रतिदिन विचार-विमर्श करके अपने विचार भी सुस्पष्ट तथा दृढ़ बना लिये जायें, और साथ ही, शिविर-जीवन से जो ऐक्य और समता का सबक मिलता है वह भी ले लिया जाये। इसके लिए स्थान हमने सोनपुर चुन लिया। तिथि मुकर्रर कर दी गयी जिस दिन वहां शिविर खोला जायेगा। वहां के लोगों को इससे संतोष भी हुआ; क्योंकि वे कांग्रेस के पहले ही आशा करते थे कि अधिवेशन यहीं होगा। वह तो न हुआ; पर शिविर से ही उनको कुछ संतोष मिल गया।

मैं समझ गया था कि हो न हो, कुछ करना ही पड़ेगा। इसलिए अपने हाथ के कामों को जल्द-से-जल्द समाप्त करके छुट्टी पा लेना आवश्यक समझता था। कांग्रेस मंत्रिमंडल ने तीन भारी कामों में मुझे लगा दिया था। बिहार मजदूर जांच कमिटी मुकर्रर करके उसके जिम्मे बिहार के मजदूरों की हालत जांचने और तत्संबंधी सिफारिशें करने का भार सुपुर्द कर दिया था। मैं ही उसका प्रमुख था। शिक्षामंत्री डाक्टर महमूद के बहुत जोर लगाने से पटना युनिवर्सिटी में फिर सिनेट का सदस्य होना पड़ा, जिससे मैं 1920 के नवम्बर से ही अलग हो गया था। इसका जिक्र पहले भी आ चुका है। सिनेट में शिक्षा-सुधार संबंधी प्रस्ताव उपस्थित करते समय वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की तीव्र आलोचना करते हुए मैंने बताया था कि इस सूबे में विशेषकर शिक्षा में हम हर तरह से पीछे हैं—कुछ कानूनदां और क्लर्की पेशा वालों तथा डाक्टरों को छोड़कर हम और किसी तरह के लोगों को तैयार नहीं कर रहे हैं और

न किसी विषय में कोई नयी खोज करके अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता का ही परिचय देते हैं—कृषिप्रधान प्रदेश होने पर भी यहां वनस्पति-शास्त्र की पढ़ाई और कृषि संबंधी शिक्षा की कोई प्रधानता अथवा व्यवस्था नहीं है—खनिज पदार्थों में भारतवर्ष में सबसे अधिक धनी होने पर भी इस सूबे के लोगों को न तो तत्संबंधी शिक्षा की कोई विशेष सुविधा प्राप्त है और न उन पदार्थों से लाभ उठाने की कोई प्रेरणा ही दी जाती है। खैर, प्रस्ताव पास हुआ और सरकार ने एक कमिटी भी बना दी जिसका पूरा विवरण पहले दिया जा चुका है। एक तीसरी हिन्दुस्तानी कमिटी भी मेरे सभापतित्व में थी, पर जिससे मैंने अपने हाथ में बहुत काम होने के कारण इस्तीफा दे दिया था और मौलाना अबुल कलाम आजाद उसके सभापति बनाये गये थे। इसकी भी चर्चा पहले हो चुकी है। इन तीनों कमिटियों के काम को पूरा कर देना जरूरी था। शिक्षा-समिति के प्रमुख बम्बई के अर्थशास्त्री और शिक्षामंत्री श्री के. टी. शाह महाशय बहुत ही परिश्रमी और विचारशील पुरुष हैं और उन्होंने ही उसके काम को संभाला, यद्यपि मुझे भी काफी परिश्रम करना पड़ा; पर उनके तथा दूसरे सदस्यों के सहयोग से परिश्रम बंट जाने के कारण मैंने उतना अधिक महसूस नहीं किया। शिक्षा-कमिटी की रिपोर्ट तीन भागों में तैयार की गयी। पहले भाग में प्रारम्भिक शिक्षा के संबंध में सिफारिशें की गयीं। हमारी मुख्य सिफारिश वर्धा की शिक्षा-योजना से मिलती-जुलती थी—या यों कहें कि वर्धा-योजना की नींव पर ही बनी थी तो अतिशयोक्ति न होगी। ऐसा होना स्वाभाविक भी था; क्योंकि चाहे वर्धा-योजना गांधीजी के अपने मस्तिष्क की उपज ही क्यों न हो, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिक प्रगतिशील शिक्षा-शास्त्र उसी का समर्थन करता है। शिक्षा-शास्त्रियों में डाक्टर जाकिर हुसैन, प्रोफेसर सैयदैन और स्वयं श्री के. टी. शाह उसके मुख्य सिद्धांत के हामी थे; और जब योरप तथा अमेरिका के शिक्षा-शास्त्री भी उसी सिद्धांत के समर्थक हैं तो कोई कारण नहीं था कि कमिटी के दूसरे सदस्य उसे मंजूर न करें। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि गांधीजी की यह योजना इस प्रकार सबके द्वारा समर्थित हो सकी। केवल एक विषय में मेरा मतभेद रहा। मैं गांधीजी के साथ इस बात को भी मानता था कि भारत जैसे गरीब देश में विद्यार्थियों के हुनर और कला से जो कुछ स्कूलों में हम पैदा कर सकेंगे वह इतना काफी होगा कि उसकी आमदनी से ही पूरा नहीं तो अधिकांश खर्च निकल आवेगा। दूसरे सदस्य इतना मानने को तैयार नहीं थे। कुछ का तो यह भी विचार था कि यदि हम आमदनी पर नजर रखेंगे तो उन कलाओं की ओर से ध्यान खिंचकर आमदनी पर ही केंद्रित हो जायेगा और शिक्षा से बच्चों को यथोचित लाभ नहीं पहुंच सकेगा। जो हो, इस संबंध के मतभेद को भी हमने इस तरह मिटा दिया कि यद्यपि आमदनी की उपेक्षा नहीं की जा सकती तथापि वह हमारा उद्देश्य नहीं है—हुनरों का सीखना शिक्षा के लिए ही होगा, न कि आमदनी के लिए। दूसरा भाग स्कूली शिक्षा से संबंध रखता था और तीसरा युनिवर्सिटी की ऊंची शिक्षा के साथ। तीनों भागों को तैयार करने के लिए

अलग-अलग उपसमितियां बना दी गयी थीं, जिनमें से प्राथमिक शिक्षा और युनिवर्सिटी की शिक्षा से संबंध रखने वाली उपसमितियों का सदस्य मैं था। उपसमितियों की रिपोर्ट पूरी कमिटी के सामने पेश होकर मंजूर की जाने पर गवर्नमेंट के पास भेज दी गयी।

श्री शाह से मेरी पहले की अधिक मुलाकात नहीं थी। इसी सिलसिले में उनको अधिक जानने का सौभाग्य हुआ। उनकी विद्वता, परिश्रमशीलता और सौहार्द से तबीयत खुश हो गयी। मैं समझता हूं कि उनसे जो मानसिक मित्रता हो गयी वह जरूरत पड़ने पर काम देगी। इसी प्रकार डाक्टर जाकिर हुसैन और प्रोफेसर सैयदैन से, विशेषकर प्रोफेसर सैयदैन से, इसी विषय को लेकर अधिक मुलाकात हुई। डाक्टर जाकिर हुसैन से मिलने के और भी मौके मिलते रहे हैं। इन दोनों के प्रति भी प्रेम और प्रतिष्ठा के भाव उत्पन्न हो गये। डाक्टर सच्चिदानन्द सिंह के संबंध में कुछ कहना मुश्किल है। वह मेरे विद्यार्थी-जीवन के समय से ही मेरे अभिभावक की तरह रहे हैं। उन्होंने मुझे हमेशा छोटे भाई-सा प्यार किया और स्नेह दिया है। राजनीतिक विषयों में हजार मतभेद होने पर भी उनकी इस स्नेहमयी कृपा में कुछ भी अंतर मैंने नहीं आने दिया है। इस कमिटी में एक साथ काम करने से भी हम दोनों में इससे और अधिक क्या हो सकता था! वही बात श्री बदरीनाथ वर्मा के साथ भी है। यदि डा. सिंह बड़े भाई की तरह रहे हैं तो श्री वर्मा छोटे भाई की तरह। उनसे राजनीतिक प्रश्न पर भी कोई मतभेद नहीं हुआ है। उनसे भी केवल इसी कार्य के कारण कोई विशेष परिचय की बात नहीं थी। डा. अमरनाथ झा से इस कमिटी में कम ही काम पड़ा। कमिटी के मंत्री श्री भवनाथ मुखर्जी मेरे पुराने परिचित सज्जन थे। जब मैं कुछ दिनों के लिए मुजफ्फरपुर के भूमिहार ब्राह्मण कालेज में अध्यापक था वह तब वहां विद्यार्थी थे। मैंने भी कुछ उनको पढ़ाया था। वह अब शिक्षा-शास्त्री हो गये हैं और इस विभाग में ऊंचे पद पर हैं; पर अब भी वह मेरे प्रति वही भाव रखते हैं, जिसका बहुत परिचय कमिटी के कामों में मिला। इस कमिटी का काम तो समाप्त हो गया।

मजदूर जांच कमिटी का काम अभी पूरा नहीं हुआ था। इसके संबंध में कमिटी के सदस्यों को प्रायः उन सभी जगहों में जाना पड़ा था जहां बड़े-बड़े कारखाने हैं और जहां बहुत मजदूर काम करते हैं। यदि विचार करके देखा जाये तो मालूम होगा कि जितने प्रकार के और जिस पैमाने पर रंग-बिरंग के काम इस सूबे में मजदूर करते हैं उतने शायद ही किसी दूसरे प्रांत में करते हों। खेतिहर मजदूर की बात अलग है—वे इस कमिटी के बाहर रखे गये थे—इसको केवल कारखानों के मजदूरों की हालत जांच करने का अधिकार दिया गया था। पर कारखाने भी अनेक प्रकार के हैं। उत्तर बिहार में ऊख से चीनी बनाने के कारखाने अधिक हैं। दूसरे प्रकार के कारखाने विशेषकर शहर में या उसके आस-पास रहते हैं अथवा मजदूरों के जमाव के कारण स्वयं शहर बना लेते हैं जो कारखानों के साथ-साथ बढ़ते और उन्नति करते जाते हैं; क्योंकि देखादेखी और सुविधाओं की उपलब्धि के कारण एक बड़े कारखाने

के खुलते ही अनेकानेक कारखाने उस स्थान पर खुल जाते हैं। किंतु ऊख के कारखाने इसके ठीक विपरीत अलग-अलग गांवों में होते हैं; क्योंकि उनको ऊख से काम चलाना पड़ता है और वह छोटे दायरे में पैदा नहीं की जा सकती है और न बहुत दूर से लायी जा सकती है। इसलिए कारखाने को कच्चे माल के पास जाना पड़ता है अर्थात ऐसे स्थान में कारखाना कायम करना पड़ता है जहां कच्चा माल पैदा हो सकता है; क्योंकि वह बहुत दिन ठहर नहीं सकता और बहुत दूर से ढोकर लाया नहीं जा सकता। कारखाना भी साल-भर नहीं चलता, प्रायः 4-5 महीनों तक ही चलता है। गांव में कारखाना होने के कारण अधिकतर मजदूर अपने गांवों से आकर ही काम करते हैं और छुट्टी के समय अपने घर चले जाते हैं। यह हुई एक किस्म। दूसरी किस्म बिहार की कोयला-खानों में पायी जाती है। वहां का काम साल-भर चलता है। बहुतेरे मजदूर कुछ दूर से आकर खानों के नजदीक ही झोंपड़ों में रहते हैं जो उनके निमित्त खानों के मालिक बनवाते हैं। यह काम भी कुछ फैला हुआ है, यद्यपि यह फैलाव ऊख की खेती के मुकाबिले नहीं के बराबर है। तीसरी किस्म जमशेदपुर के बड़े कारखाने में पायी जाती है। इसमें प्रायः सभी प्रांतों के लोग काम करते हैं जो वहीं रहते हैं। वहीं उनकी सुविधा के लिए कम्पनी की ओर से प्रबंध है। प्रांत के दूसरे हिस्सों में कुछ और भी कारखाने हैं जो तरह-तरह की चीजें बनाते हैं, जैसे—लोहा और लाह के, कपड़ा और पाट बुनने के, चावल और तेल के, इत्यादि। अबरख की खानें और कारखाने भी बहुत हैं। दूसरी धातुओं की खानें भी हैं। इन सब प्रकार के कारखानों के मजदूरों की हालत जानने और जांचने के लिए सभी प्रकार के कारखानों और खानों को कमिटी के सदस्यों ने जाकर देखा। मजदूरों और पूंजीपतियों की बातें सुनीं तथा उनके बयान लिये। मैं ऊख के और कुछ दूसरे प्रकार के कारखानों को छोड़कर प्रायः सभी जगहों में कमिटी के साथ-साथ गया। बयानों और इजहारों के लेने में शरीक रहा। यह काम खत्म करके रिपोर्ट संबंधी बहुत बातें भी हो चुकी थीं। रिपोर्ट लिखने का भार कमिटी के मंत्री प्रोफेसर राजेन्द्रकिशोर शरण को दिया गया था। उन्होंने उसे तैयार किया था; पर उस पर कमिटी ने बैठकर अभी तक विचार नहीं किया था। रामगढ़ कांग्रेस समाप्त होते ही इस काम को पूरा कर देने का निश्चय मैंने कर लिया था। इसलिए कमिटी की बैठक कांग्रेस अधिवेशन के तीन-चार दिन बाद ही मुकर्रर कर दी गयी थी। रामगढ़ से मैं पटने आया और इस कमिटी के काम में लग गया।

कमिटी की बैठक प्रायः चौदह-पंद्रह दिनों तक चलती रही। सवेरे साढ़े सात बजे से एक बजे तक और फिर ढाई बजे से संध्या 7-8 बजे तक प्रतिदिन हम बैठते। इसके अलावा रात को अथवा सवेरे और दोपहर को जो थोड़ा समय मिल जाता उसमें अकेले तत्संबंधी अध्ययन करते। इस सिरतोड़ परिश्रम के बाद रिपोर्ट मंजूर हुई। मुझे इस बात से बहुत प्रसन्नता हुई कि रिपोर्ट की सभी बड़ी सिफारिशें सर्वसम्मति से हुईं। कुछ छोटी-मोटी बातों में चाहे थोड़ा-बहुत मतभेद रहा हो, पर रिपोर्ट एक स्वर से पास हुई। इसका महत्व इस कारण

से बढ़ जाता है कि उसमें पूंजीपतियों के प्रतिनिधि भी थे और मजदूर संघों के भी। कुछ लोग तटस्थ समझे जाने वाले भी थे। तीनों का मतैक्य यह बतलाता है कि हम सब इस पर तुले हुए थे कि हम ऐसी ही सिफारिशें करें जिनको एक तरफ से मजदूर और दूसरी तरफ से कारखानों के मालिक एकबारगी अयोग्य अथवा असंभव समझकर नामंजूर न कर दें। इसमें सब ने पूरी मदद की। सबकी सदिच्छा और सद्भावना का ही फल यह मतैक्य हुआ। हम जानते थे कि लड़ाई के कारण स्थिति में बहुत परिवर्तन हो सकता है और यद्यपि अभी उस समय तक (1940 के अप्रैल तक) भारत में कोई उतना बड़ा आर्थिक परिवर्तन देखने में नहीं आता था, पर इसकी संभावना आंखों से ओझल नहीं थी। इसलिए हम जानते थे कि शायद ही हमारी सिफारिशें पूरी तरह काम में लायी जायें, तो भी हमने अपना कर्तव्य पूरा किया। हमने सोचा कि जो मसाला हमने तैयार किया है, जो जानकारी हासिल की है, यह इस विषय पर विचार करने वालों के लिए काम की अवश्य होगी और यदि कांग्रेस को फिर अधिकार मिल सकेगा तो वह जरूर कुछ-न-कुछ करेगी। हमारी उमीदें पूरी नहीं हुईं। जहां तक मैं जानता हूं, कमिटी की सिफारिशें दफ्तर में ही रह गयी हैं; उन पर कोई काम नहीं किया गया। हमने मजदूर-विभाग की स्थापना की सिफारिश की थी। सुना कि इस विषय में कुछ किया जा रहा है, पर वह भी शायद अधूरा और नाम के वास्ते ही। मजदूरों की सुविधा संबंधी एक भी सिफारिश शायद काम में नहीं लायी गयी। गवर्नमेंट इस विषय को शायद कुछ महत्व नहीं देती। इस कमिटी के मेम्बरों में श्री हेमैन पहले से मुझसे बिलकुल अपरिचित थे। उन्होंने रेलवे बोर्ड में काम करके, अवसर प्राप्त कर, ताता कम्पनी के हिसाब-विभाग के प्रधान निरीक्षक का काम उठाया था। इस तरह वह उस बड़े कारखाने के मुख्य लोगों में एक थे। कमिटी में मैंने देखा कि उनकी परिश्रम-शक्ति अद्भुत है और उनके विचार भी प्रगतिशील हैं। यदि वह और श्री एम. बी. गांधी, जो पूंजीपतियों के प्रतिनिधि-स्वरूप थे, साथ न देते तो मतैक्य नहीं होता। उसी तरह प्रो. अब्दुल बारी यदि मजदूरों की ओर से हमारी बात को नहीं मानते तो भी मतैक्य दुर्लभ हो जाता। इसलिए इन लोगों के प्रति विशेष कृतज्ञता का कारण है। अन्य लोगों में भी श्री राधाकमल मुखर्जी और श्री राजेन्द्रकिशोर ने अपनी विद्या और अपने अध्ययन से कमिटी की रिपोर्ट में बहुत मदद पहुंचायी। इनके अलावा श्री वाखले के बम्बई के मजदूर संघ के अनुभवों का और श्री जगतनारायण लाल तथा श्री हरेन्द्र बहादुरचन्द्र के बिहार संबंधी ज्ञान से लाभ उठाकर कमिटी ने रिपोर्ट तैयार की थी।

इस प्रसंग में एक दुखद घटना हो गयी। कमिटी की रिपोर्ट तैयार होने के थोड़े ही दिनों बाद प्रोफेसर राजेन्द्रकिशोर का अचानक देहांत हो गया। उनको पेट की बीमारी पहले से थी। हम जानते थे कि वह बहुत तकलीफ सहा करते हैं। कमिटी के काम में उनको काफी परिश्रम करना पड़ा था। उस काम को बहुत योग्यता और उत्साह से उन्होंने किया था। बीमारी बढ़ जाने के कारण वह चिकित्सा के लिए बम्बई गये। सुना कि वहीं पेट चीरा गया

और उसके बाद वह जाते रहे। मुझे यह बात रह-रहकर पीड़ा पहुंचाती है कि शायद कमिटी के परिश्रम ने ही बिहार के एक होनहार, योग्य और उत्साही विद्वान को हमसे इतना जल्द अकाल में ही अलग कर दिया!

तीसरी कमिटी थी हिन्दुस्तानी कमिटी जिसका काम लम्बा था; क्योंकि वह एक पारिभाषिक शब्दों का कोष, और दूसरा ऐसे शब्दों का कोष जो हिन्दी और उर्दू दोनों में ग्राह्य हैं, तैयार करने में लगी थी। इसके अलावा ऊंचे दर्जों की पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराने और हिन्दुस्तानी का व्याकरण बनाने का काम भी उसने अपने हाथों में लिया था। यह सब अलग-अलग उपसमितियों को सौंपा गया था और उस समय तक पूरा नहीं हो सका था। यह काम 1943 में जाकर समाप्त हुआ। 1942 के अगस्त से ही जेल में रहने के कारण मैं कमिटी के कामों में शरीक न हो सका। प्रायः उस प्राथमिक कार्य के सिवा, जिसको उपसमितियों की नियुक्ति के संबंध में करना पड़ा था, और किसी महत्व के काम में मैं भाग न ले सका। महत्व के काम थे दोनों कोषों और व्याकरण की तैयारी। मैं इनमें से किसी एक को भी न देख सका। इस हिन्दुस्तानी कमिटी के संबंध में हमारे प्रांत में और उसके बाहर भी बहुत तरह की बातें हुईं और की गयीं। हिन्दी वालों ने इसको हिन्दी का विरोधी समझा और पीछे उर्दू वालों ने भी उनका अनुसरण किया। मैं इस बात को नहीं मान सकता कि मैं हिन्दी का विरोधी हूं और उसका अहित करना चाहता हूं। इसी तरह उर्दू वाले भी डा. अब्दुल हक को उर्दू का विरोधी किसी तरह नहीं कह सकते; क्योंकि वह उर्दू के केवल बड़े हामी ही नहीं हैं, उन्होंने उसकी बहुत सेवा भी की है और आज भी कर रहे हैं—एक प्रकार से वह उर्दू संबंधी सभी आन्दोलनों के प्रमुख कहे जा सकते हैं। तो भी दोनों पक्षों के लोगों ने कमिटी का विरोध किया। विरोध की कोई शिकायत नहीं, पर इस बात की शिकायत जरूर है कि बहुत बातें अनर्गल और बेबुनियाद कही गयीं और उन निर्मूल बातों से जनता में बुद्धि-भेद पैदा किया गया। जो हो, उसका काम भी समाप्त हो गया है। मालूम नहीं, जो कोष और व्याकरण बने उनके संबंध में लोकमत क्या कहेगा। मैं यह भी नहीं कह सकता कि मैं खुद ही क्या कहूंगा; क्योंकि उनको देखने का अभी तक मौका नहीं मिला है।

मजदूर जांच कमिटी का काम समाप्त करके मैं सीधे वर्धा चला गया जहां वर्किंग कमिटी की बैठक होने वाली थी। पहले कह चुका हूं कि सोनपुर में शिविर खोलने का विचार हो गया था और तिथि भी निश्चित हो गयी थी। मैं वर्धा से ठीक उसी दिन वापस आया जिस दिन शिविर खोलना था और सीधे सोनपुर चला गया। वहां एक सप्ताह तक रहा। सूत कातने के अलावा वहां एकत्र हुए लोगों के साथ प्रतिदिन बहुत बातें करनी पड़तीं। इस तरह वह समय भी परिश्रम का ही समय रहा। प्रायः 150-200 प्रमुख कार्यकर्ता वहां ठहरे थे। जब-तब संध्या को सार्वजनिक सभा भी हो जाती जिसमें आस-पास के गांवों के लोग भी आ जाते। मुख्यतः रचनात्मक कार्यक्रम पर ही जोर दिया गया; क्योंकि उसी को तैयारी

का साधन हम मानते हैं। हम साधन इसलिए नहीं मानते कि हम उसके द्वारा लोगों को विद्रोह सिखाते हैं, पर इसलिए कि उसके द्वारा कार्यकर्ताओं में वह संयम आता है जो सत्याग्रह के लिए अनिवार्य है और जनता के साथ वह सम्पर्क पैदा होता है जो किसी भी जनसमूह को साथ लेकर काम करने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

शिविर का काम समाप्त करके मैं पटने लौटा। वहां एक दूसरा काम पूरा करने में लग गया जिसको पूरा कर देना मैं अपना कर्तव्य समझता था। यह काम था एक पंचायत का जिसको मैंने कबूल कर लिया था। सार्वजनिक दृष्टि से इसका महत्व उतना ही है जितना किसी पंचायत का हो सकता है। पर इसमें जो परिश्रम पड़ा वह मेरे स्वास्थ्य के लिए असह्य हो उठा। रामगढ़ के परिश्रम के बाद से ही जो लगातार अथक परिश्रम करना पड़ा था—मजदूर जांच कमिटी, वर्किंग कमिटी, सोनपुर शिविर और पंचायत में—उसने मुझे क्लांत कर दिया; काम करते-करते सिर में चक्कर के कारण मैं बेहोश-सा हो गया। डाक्टर शरण और डाक्टर बनर्जी आये। हालत देखकर कुछ चिंतित हो गये। कई दिनों तक मैं सिर के चक्कर से परेशान रहा। कुछ स्वस्थ होने पर आराम करने के लिए जीरादेई चला गया। वहां प्रायः एक महीने तक पड़ा रहा। तब जाकर फिर कुछ काम के लायक हो सका।

139

मुस्लिम लीग की कुछ बातें

कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के जमाने में ही मुस्लिम लीग ने उनका जोरों से विरोध करना आरम्भ कर दिया था। उसने यह बात उठायी कि मंत्रिमंडल मुसलमानों के साथ न्याय नहीं करते, ज्यादतियां किया करते हैं। उसने एक कमिटी मुकर्रर की जिसके सभापति पीरपुर के राजा थे। उस कमिटी ने एक रिपोर्ट तैयार की जिसमें कांग्रेस द्वारा किये गये तथा-कथित जुल्मों की तालिका दी गयी। बिहार में मि. शरीफ बैरिस्टर ने इस प्रकार की रिपोर्ट दो जिल्दों में दो बार करके प्रकाशित की। इन रिपोर्टों में बहुतेरी गलत, बेबुनियाद और अनर्गल बातें लिखी थीं। मंत्रिमंडलों ने इनका खंडन छपवाया। जहां असेम्बली में बातें पेश हुईं, इनका पूरा-पूरा उत्तर दिया। पर मंत्रिमंडल जो कुछ करता या कहता उसका तो प्रचार मुसलमानों में हो नहीं पाता, और लीग जो चाहती और कहती उसका प्रचार जोरों से होने लगता! लीग ने हिटलर की उसी नीति का अवलम्बन किया जिसमें प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध झूठी शिकायतों का—और अगर उनमें कुछ सत्य भी हो तो उसे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर तथा बार-बार दुहराकर—प्रचार किया जाता है, और वह प्रचार इतना जबरदस्त होता है कि जनता उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। इस तरह कांग्रेस के प्रति और हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों में विद्वेष का विष फैलाया गया—इनके बीच एक बड़ी खाई बनायी गयी। जिस समय चुनाव हुआ था और जिस चुनाव के फलस्वरूप कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने थे, लीग का जोर बहुत कम था। बिहार में तो लीग की ओर से कोई उमीदवार ही न हुआ। इसी तरह बहुत सूबों में लीग का अस्तित्व ही नहीं था। जहां था भी वहां वह एक कमजोर संस्था थी। इसलिए जब कांग्रेस को मंत्रिमंडल बनाना पड़ा तो वह लीग के लोगों को मंत्रिमंडल में न ले सकी; दूसरे मुसलमानों में से ही उन लोगों को, जो चुने गये थे, मंत्रिमंडल में शरीक होने का आमंत्रण दिया।

युक्तप्रदेश में इस बात की कोशिश हुई कि लीग के सदस्य मंत्रिमंडल में लिये जायें, और आज ऐसा अनुमान होता है कि ऐसा अगर कर लिया गया होता तो शायद लीग को इतनी शक्ति नहीं मिलती। पर कांग्रेस के अंदर ही कुछ लोग इसको पसंद नहीं करते थे, इसलिए लीग के साथ समझौता नहीं हो सका। लीग इससे बहुत क्षुब्ध हुई। कांग्रेस के

विरुद्ध प्रचार करना उसने अपना मुख्य कर्तव्य बना लिया। जो शिकायतें पीरपुर-रिपोर्ट और शरीफ-रिपोर्ट में छपी थीं उनकी जांच कभी किसी निष्पक्ष अदालत अथवा व्यक्ति द्वारा नहीं हुई थी। मैंने कांग्रेस के प्रधान की हैसियत से मि. जिन्ना को लिखा कि हम इस बात पर तैयार हैं कि इनकी जांच फेडरल कोर्ट के चीफ-जस्टिस सर मौरिस ग्वायर अथवा किसी ऐसे ही दूसरे निष्पक्ष व्यक्ति द्वारा करायी जाये और वह अपनी शिकायतें उनके पास पेश करें। उत्तर में उन्होंने इसे मंजूर नहीं किया और कहा कि मामला वायसराय के सामने पेश है, वही जो मुनासिब समझेंगे करेंगे।

ऊपर कहा जा चुका है कि वायसराय कांग्रेस से बहुत खुश नहीं थे। वह तो मुस्लिम लीग की सहायता करके उसे कांग्रेस के विरुद्ध खड़ा करने और इस तरह उसे शक्तिशाली बनाने के लिए तैयार बैठे थे। उन्होंने इस शिकायत के संबंध में जांच कराने की बात पर कुछ कहा ही नहीं और न शायद मि. जिन्ना ने ही इस पर जोर दिया। बात जहां की तहां रह गयी। पर अखबारों, परचों और व्याख्यानों में उन अप्रमाणित शिकायतों के प्रचार का सिलसिला जारी रहा। लार्ड लिनलिथगो ने लीग की यह बात मान ली थी कि 1935 के विधान पर लड़ाई के बाद फिर नये सिरे से विचार किया जायेगा और उसमें जो सारे भारत के लिए एक संघ बनाने की बात कही गयी है वह छोड़ दी जायेगी। मुस्लिम लीग इसी संघ का विरोध कर रही थी और उसे मनचाहा आश्वासन ब्रिटिश गवर्नमेंट ने दे दिया। इस सब बातों से प्रोत्साहित होकर, जब कांग्रेसी मंत्रिमंडलोंने इस्तीफा दे दिया तो, मि. जिन्ना ने मुस्लिम लीग की ओर से खुशियां मनाने की आज्ञा दी और मंत्रिमंडलों का इस्तीफा मुसलमानों का नजात (छुटकारा) समझा गया। इस प्रचार का इतना असर समझदार मुसलमानों पर भी पड़ा था कि बिहार के मंत्रिमंडल के इस्तीफा दे देने के बाद मौलवी खुरशैद हसनैन (अब स्वर्गीय) ने मेरे पास मुबारकबाद का तार भेजा!

लीग ने अभी तक भारत के विभाजन की बात मंजूर नहीं की थी। पर बहुतेरे मुसलमान इस बात को कई रूपों में पेश कर रहे थे। जब मैं 1939 के नवम्बर में वर्धा में ठहरा था तब मैंने इस विषय का विशेष अध्ययन किया। उस समय तक मैं पाकिस्तान के संबंध में कुछ विशेष रूप से नहीं जानता था। वहां पर इस विषय के साहित्य को मंगाया और पढ़ा। फिर एक लम्बा नोट तैयार किया जो रामगढ़ कांग्रेस के समय 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में एक विशेष लेख के रूप में छपा। पीछे वह एक पुस्तिका के रूप में भी प्रकाशित हुआ। बहुतेरों ने उसे पढ़कर पाकिस्तान की बात जानी। उधर मुस्लिम लीग भी चुप नहीं बैठी थी। रामगढ़ कांग्रेस के चंद दिनों के बाद ही, 1940 के मार्च में ही, लीग का सालाना जलसा लाहौर में हुआ। वहां पर लीग ने पाकिस्तान के पक्ष में प्रस्ताव स्वीकार किया। उसके बाद से पाकिस्तान ही मुस्लिम लीग का मुख्य उद्देश्य रह गया है। एक बरस बाद मद्रास के सालाना जलसे में उसने पाकिस्तान की स्थापना को मुस्लिम लीग का उद्देश्य मान लिया। इस उद्देश्य को नियमावली में भी ध्येय के रूप में शामिल कर लिया।

140

वैयक्तिक सत्याग्रह : कारण और परिणाम

योरपीय युद्ध का रूप इंग्लैंड के लिए भयंकर होता जा रहा था। जर्मनी बड़े वेग से योरप के एक देश के बाद दूसरे पर कब्जा करता जा रहा था। पौलैंड, बेलजियम, हालैंड, डेनमार्क, नार्वे इत्यादि 1940 की गर्मी के पहले ही उसके कब्जे में आ गये। अब फ्रांस की बारी थी। फ्रांस भी बहुत दिनों तक टिक न सका। अंत में उसे भी हथियार डाल देने पड़े। डंकर्क से अंगरेजों की सेना बहुत नुकसान उठाकर किसी प्रकार इंग्लैंड भाग सकी। इंग्लैंड में इससे लोगों में बहुत क्षोभ पैदा हुआ। चेम्बरलेन की मिनिस्ट्री गिर गयी। उसके स्थान पर सर्वदल मिनिस्ट्री कायम हुई जिसके प्रधानमंत्री विन्स्टन चर्चिल हुए और भारत-मंत्री मि. एमरी। इंग्लैंड बहुत बहादुरी के साथ जर्मनी के हवाई हमलों का मुकाबला कर रहा था। इटली ने, यह समझकर कि अब इंग्लैंड हार ही जायेगा और फ्रांस ने हथियार डाल ही दिया है, युद्ध में शरीक हो जाना मुनासिब समझा। इंग्लैंड के लिए यह बहुत ही कठिन घड़ी थी। अभी तक अमेरिका लड़ाई में नहीं आया था और न रूस से ही जर्मनी का युद्ध छिड़ा था।

हमारी वर्किंग कमिटी में इस गम्भीर स्थिति पर विचार होता रहा। वहां यह राय ठहरी कि एक बार और साफ-साफ इंग्लैंड से कहा जाये कि वह हिन्दुस्तान का मामला निपटा ले तो यथासाध्य हर प्रकार से कांग्रेस उसकी मदद करेगी। वर्किंग कमिटी में इस विषय पर बहुत वाद-विवाद हुआ। महात्माजी युद्ध में क्रियात्मक रूप से मदद करने के पक्ष में नहीं थे। वह समझते थे कि ऐसा करना कांग्रेस के अहिंसा के ध्येय के विरुद्ध होगा। उन्होंने जो इंग्लैंड की मदद की बात कही थी वह केवल नैतिक मदद की थी। उनका मानना था और इसमें कोई संदेह नहीं था कि इंग्लैंड यदि भारतवर्ष को स्वतंत्र बना देता तो उसका स्थान इतना ऊंचा हो जाता और संसार के सामने उसका प्रभाव इतना बढ़ जाता कि कोई उसका मुकाबला न कर सकता—कांग्रेस का इतना कहना मात्र कि इंग्लैंड का हिन्दुस्तान के साथ समझौता हो गया और भारतवर्ष संतुष्ट है, काफी होता—यों तो ब्रिटिश गवर्नमेंट बिना कांग्रेस की सक्रिय मदद के भी जो कुछ चाहेगी हिन्दुस्तान से ले सकेगी और लेगी, जैसा वह कांग्रेस के तटस्थ रहने पर भी कर रही थी; अतएव हमारे लिए अपने ध्येय को छोड़ना उचित नहीं, इसके अलावा

यदि हिन्दुस्तान अपने ध्येय पर डटा रहेगा तो युद्धोत्तर काल में सारे संसार पर इसका गहरा असर पड़ेगा। उधर दूसरों का विचार था कि हम यदि अपनी आजादी की मांग पेश करते हैं तो साथ ही हमको मदद भी करनी चाहिए; कांग्रेस का ध्येय केवल इतना ही था कि अंगरेजों से स्वराज्य लेने के प्रयत्न में वह अहिंसात्मक उपायों से ही काम लेगी। उसमें किसी विदेशी शक्ति के आक्रमण करने पर—अथवा भारत के स्वतंत्र हो जाने के बाद भी—अहिंसात्मक रहने की न तो कोई बात थी और न हमको अपनी कार्रवाई से देश के हाथ को किसी प्रकार बांधना ही चाहिए; ऐसा करने का हमको हक भी नहीं है। किंतु एक बात पर सभी सहमत थे कि स्वराज्य-प्राप्ति के काम में और आपस के झगड़ों में अहिंसा को नहीं छोड़ना चाहिए।

इस प्रकार, कुछ लोग अहिंसा के सिद्धांत को सीमित और मर्यादित करके ब्रिटिश सरकार को मदद देने के लिए तैयार थे। पर गांधीजी और कुछ दूसरे लोग अहिंसा को अक्षुण्ण रखना भारत और संसार के लिए आवश्यक समझते थे। मेरा निजी विचार इसी पक्ष में था, यद्यपि मुझे भी युद्ध की स्थिति से कुछ घबराहट तो थी और कभी-कभी शंका भी उठती थी कि हम कुछ कर सकेंगे या नहीं। खां अब्दुल गफ्फार खां बहुत ही दृढ़तापूर्वक अहिंसा के सिद्धांत पर डटे रहे। जब वर्किंग कमिटी ने दिल्ली की बैठक में निश्चय कर लिया कि इस शर्त पर कि भारत की आज़ादी की घोषणा की जाये और तत्काल गवर्नमेंट को ऐसा रूप दिया जाये कि भारतीय नेताओं के हाथ में अधिकार आ जाये—कांग्रेस सक्रिय मदद लड़ाई में देगी, तो खां साहब ने और मैंने तथा कुछ और मित्रों ने वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे दिया। परंतु प्रेसिडेंट मौलाना अबुल कलाम आजाद के इस आश्वासन पर—कि अभी जब तक ब्रिटिश गवर्नमेंट हमारी मांग मंजूर नहीं करती तब तक सक्रिय मदद की और अहिंसा छोड़ने की बात नहीं आती, इसलिए हमको इस्तीफा वापस ले लेना चाहिए और जब ब्रिटिश गवर्नमेंट हमारी यह मांग मान लेगी और हमको मदद करनी पड़ेगी तब हम इस्तीफा दे सकते हैं—मैंने और कुछ साथियों ने इस्तीफे वापस ले लिये; पर खां साहब इससे संतुष्ट नहीं हुए। महात्माजी ने निश्चय कर लिया कि उनका अब कांग्रेस के साथ संबंध नहीं रहेगा। इससे वर्किंग कमिटी में तथा बाहर भी लोगों के दिल में बड़ी खलबली मची।

वर्किंग कमिटी की एक दूसरी बैठक वर्धा में की गयी। उसी के बाद पूना में, इस विषय पर विचार करने के लिए, अखिल भारतीय कमिटी की बैठक बुलायी गयी। मतभेद रह ही गया और जब पूना में बैठक हुई तो वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव को उसने बहुमत से मंजूर कर लिया। उस बैठक में हम लोग भी शामिल थे। गांधीजी पूना नहीं गये थे। हमने मित्रों की ओर से अपनी राय बता दी और यह भी कह दिया कि हम वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव का विरोध नहीं करेंगे, तटस्थ रह जायेंगे। ऐसा होने पर भी बहुत लोगों ने विरोध किया ही। यदि हम तटस्थ न रह गये होते तो शायद वह प्रस्ताव गिर गया होता। इस तरह ब्रिटिश गवर्नमेंट को कांग्रेस की ओर से बाजाब्ता मदद देने का प्रस्ताव भेजा गया। आशा की जाती थी कि

वह उस पर विचार करेगी और कुछ बातचीत फिर हमारे साथ करेगी। पर ऐसा नहीं हुआ। प्रस्ताव पास होने के चंद दिनों के बाद ही उसकी ओर से उसकी नामंजूरी की घोषणा कर दी गयी। लॉर्ड लिनलिथगो ने एक विज्ञप्ति में यह कहा कि ब्रिटिश गवर्नमेंट लड़ाई के जमाने में कानून नहीं बदल सकती; पर उसके अंदर रहकर वह वायसराय की कार्यकारिणी कमिटी में हिन्दुस्तानियों में से—विशेषकर प्रमुख राजनीतिक दलों के मुख्य लोगों में से—चुनकर नये मेम्बर नियुक्त करेंगे तथा कौंसिल में अधिकांश मेम्बर हिन्दुस्तानी होंगे, पर उनके अधिकार वहीं होंगे जो अब तक कौंसिलरों के रहे हैं; इसके अलावा युद्ध संबंधी बातों में राय-मशविरा देने के लिए एक दूसरी कमिटी वह बनायेंगे जिसमें भी ऐसे प्रमुख भारतीयों को स्थान देंगे। इस विज्ञप्ति से यह बात स्पष्ट हो गयी कि वह भारतीयों को कोई अधिकार नहीं देना चाहते हैं, सब अधिकारों को अपने ही हाथों में रखना चाहते हैं। कांग्रेस की मांग के मानने की तो कोई बात ही नहीं थी। इस तरह जो नक्शा वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी ने बनाया था वह बात-की-बात में टूट-फूट गया!

हिंसा-अहिंसा संबंधी वाद-विवाद बहुत हो चुका था। इसलिए पूना में अखिल भारतीय कमिटी ने इस संबंध में भी एक प्रस्ताव पास किया। उसमें यह बात साफ-साफ कह दी गयी कि जहां तक स्वराज्य-प्राप्ति के लिए ब्रिटिश सरकार के साथ हमारा प्रयत्न चल रहा है उसमें तथा भारत के अंदर आपस के झगड़ों के संबंध में कांग्रेस अपने अहिंसात्मक उपायों के अवलम्बन की नीति और ध्येय पर कायम है और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन अथवा हेर-फेर न समझा जाये। यद्यपि यह प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ, मुझे संदेह है कि कांग्रेस के अंदर बहुत लोगों को इसका स्मरण होगा, और युद्ध संबंधी प्रस्ताव के कारण अहिंसा की नीति में जो ढील आ गयी उसका असर दिन-दिन बढ़ता ही गया है। ऐसा होना भी स्वाभाविक है। अहिंसा का सिद्धांत अनोखा सिद्धांत है। इतने बड़े पैमाने पर—विशेषकर एक बड़ी शक्ति के हाथों से स्वराज्य प्राप्त करने में—उसका उपयोग और भी अनोखा है। बहुतेरों ने इसे नीति-रूप से माना है और वे सचाई से इसे बरतते हैं। थोड़े ही लोग इसे एक धार्मिक विश्वास रूप से मानते हैं। इसलिए इस पर लोगों को अटल रखना कुछ सहज काम नहीं है। चूंकि अब तक कांग्रेस के अंदर सक्रिय रूप से इसके संबंध में कोई मतभेद नहीं हुआ था, इसलिए जन-साधारण में इसके प्रति किसी तरह का बुद्धि-भेद नहीं पैदा हुआ था। अब, जब वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी में ही मतभेद पैदा हो गया और वह स्पष्ट रीति से लोगों को दीखने भी लगा तब, जनसाधारण में और विशेषकर साधारण कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में बुद्धि-भेद होना आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसे मामलों में ठीक वही हाल होता है जो जल-राशि को बांध द्वारा रोक रखने के बाद उस बांध में एक छोटा छेद हो जाने पर होता है, अर्थात जल उस छेद को खुद-ब-खुद बढ़ाता जाता है और थोड़े ही काल में जो रोक जल पर रहती है वह हट जाती है, फिर तो एक प्रकार से बाढ़-सी आ जाती है। ऐसा ही हुआ भी।

मैं पूना में ही बहुत बीमार पड़ गया। न्युमोनिया जैसा कुछ हो गया। किसी तरह वर्धा पहुंचा। बरसात के दिन थे जो मेरे लिए बराबर खराब हुआ करते हैं। वहां कुछ दिनों में आराम हुआ तो सेठ जमनालालजी का विचार हुआ कि आराम करने के लिए मैं कुछ दिन राजपूताना की सूखी हवा में जाकर रहूं। उन्होंने वहां खुद मुझे ले जाने का प्रबंध कर लिया। पूज्य बापू ने भी उसे अच्छा समझा। मैं सेठजी के साथ जयपुर गया। इत्तफाक से वहां भी उस समय पानी पड़ रहा था। रास्ते की गड़बड़ी और बरसात के कारण कुछ तबीयत खराब हो गयी। इसलिए जयपुर में मुझे कुछ दिनों तक ठहर जाना पड़ा। पहले तो डाक्टरों की और फिर वैद्य श्री नन्दकिशोर शर्मा की दवा होने लगी। सबकी राय हुई कि जयपुर से अधिक लाभ 'सीकर' जैसे बालुकामय स्थान में ठहरने से होगा। इसलिए सेठजी के साथ मैं सीकर चला गया। वहां प्रायः एक महीना रहा। सीकर में ही इन आत्म-संस्मरणों का लिखना आरम्भ हुआ। उसी सहवास में मुझे सेठ जमनालाल बजाज के जन्मस्थान को, काशी-केवास नामक गांव में जाकर, देखने का सुअवसर मिला। वहां से नजदीक ही एक स्थान है लोहागरजी, जिसे लोग तीर्थस्थान मानते हैं। वह पहाड़ियों के बीच बहुत सुंदर बसा हुआ है। जमनालालजी एक दिन वहां हमको ले गये। तबीयत बहुत सुधर गयी। हर तरह से चंगा हो गया, ऐसा मालूम पड़ने लगा। वहां हमारे रहते-रहते ही बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की फिर बैठक हुई जिसमें ब्रिटिश सरकार की घोषणा पर विचार किया गया और यह निश्चय हुआ कि इसे कांग्रेस मंजूर नहीं कर सकती; अब कांग्रेस को क्रियात्मक रूप से संसार के सामने अपनी नीति बता देनी चाहिए। और, वैयक्तिक सत्याग्रह का भी निश्चय हुआ।

सत्याग्रह के संचालन का भार गांधीजी पर दिया गया। उन्होंने निश्चय किया कि यद्यपि यह सत्याग्रह वैयक्तिक होगा, सामूहिक नहीं, तथापि कोई व्यक्ति उनसे मंजूरी पाये बिना सत्याग्रह नहीं कर सकेगा और वह अनुमति ऐसे ही लोगों को देंगे जिन्होंने रचनात्मक कार्यक्रम के किसी भी एक अंग को अपनाया हो तथा उसमें काम किया हो। साथ ही, यह भी निश्चय हुआ कि ऐसे ही लोगों को अनुमति दी जायेगी जो प्रतिनिधित्व कर रहे हों— अर्थात जिनकी हैसियत ऐसी हो कि वह केवल व्यक्ति न हों, अनेकों के प्रतिनिधि हों, जैसे असेम्बली और कौंसिल के मेम्बर, जिला और म्युनिसिपल बोर्डों के मेम्बर, कांग्रेस कमिटियों के पदाधिकारी और चुने हुए मेम्बर इत्यादि। नतीजा यह हुआ कि केवल ऐसे ही लोगों को अनुमति मिली जो स्वयं सूत कातते हों, अछूतपन की भावना से अपने को मुक्त कर चुके हों और कहीं-न-कहीं के चुने हुए सदस्य हों। आरम्भ में असेम्बली और कौंसिलों के मेम्बरों तथा कांग्रेस कमिटी के पदाधिकारियों को ही इजाजत मिली। प्रांतीय कमिटियां ऐसे लोगों की सूची तैयार करतीं और गांधीजी के पास मंजूरी के लिए भेज देतीं। जब वह मंजूर कर लेते तभी सूची में दर्ज लोग सत्याग्रह करते।

सत्याग्रह का रूप यह होता कि सत्याग्रही घोषणा करते कि हम युद्ध में किसी प्रकार से मदद नहीं कर सकते। लोगों ने इसके लिए एक नारा बना लिया — 'न एक भाई, न एक पाई', अर्थात न हम अपने में से एक भाई को भी लड़ाई में भेजना चाहते हैं और न लड़ाई के लिए एक पाई की भी आर्थिक सहायता देना चाहते हैं। लोगों को इस बात की कड़ी ताकीद कर दी गयी थी कि सत्याग्रह में कोई प्रदर्शन न किया जाये; क्योंकि हम सत्याग्रह द्वारा अपने लिए यह स्वत्व प्राप्त करना चाहते हैं कि हम जो भी उचित समझें, देश के सामने प्रचार कर सकते हैं, और हमारे इस स्वत्व में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़नी चाहिए; यहां तक कि लड़ाई के नाजुक जमाने में भी हम चाहें तो हमको उसके विरुद्ध प्रचार का हक होना चाहिए।

इस सत्याग्रह का कुछ लोगों ने तो विरोध किया और कुछ लोगों ने मजाक उड़ाया। गर्म विचार वाले वामपंथी लोगों का कहना था कि इस प्रकार के ठंडे सत्याग्रह से कोई लाभ नहीं पहुंच सकता, इससे ब्रिटिश गवर्नमेंट किसी प्रकार प्रभावित नहीं हो सकती और न उसके काम में हम इसके द्वारा कोई अड़चन ही पेश कर सकते हैं। कुछ लोग कहते थे कि प्रचार-स्वातंत्र्य और विचार-स्वातंत्र्य की बात केवल धोखे की टट्टी है—हम लड़ाई का विरोध करना चाहते हैं, पर हमको खुलकर ऐसा करने की हिम्मत नहीं होती है, इसलिए यह ढकोसला फैला रखा गया है। बात यह थी कि हमें संसार को दिखलाना था कि हम ब्रिटिश गवर्नमेंट की लड़ाई में उसका साथ नहीं दे रहे हैं और यह हम बिना किसी प्रकार के शोर-गुल और हंगामा के दिखला देना चाहते थे। यदि सामूहिक सत्याग्रह किया जाता तो बहुत शोर-गुल के बिना काम होना कठिन था, और प्रतिनिधित्व करने वालों को ही सत्याग्रह की अनुमति देकर हम यह दिखला रहे थे कि वह केवल एक व्यक्ति नहीं है, उसके पीछे उसे चुनने वाले लोग अर्थात असंख्य नर-नारी भी हैं और यह सत्याग्रह उन सबकी ओर से हो रहा है; वह व्यक्ति केवल निमित्तमात्र है, सत्याग्रह सब कर रहे हैं। इन्हीं कारणों से प्रदर्शन सख्ती से रोका गया था। साथ ही, प्रतिनिधियों के चुनने में भी पूरी कड़ाई बरती गयी थी। ऐसे लोग जिनका जाना अपेक्षित था, पर जो किसी कारण से सत्याग्रह में शरीक नहीं हो सकते थे, दर्खास्त देकर छुट्टी ले लेते थे।

बिहार में, अपने स्वास्थ्य के कारण, मेरे लिए सत्याग्रह में शरीक होने का अर्थ अपनी बीमारी की देखभाल का भार गवर्नमेंट के ऊपर डालना था। इसलिए गांधीजी ने मुझे स्वयं रोक लिया। पहले दिन, जब श्री बाबू और अनुग्रह बाबू का, पटने में दो स्थानों पर, एक के कुछ देर बाद दूसरे का, सत्याग्रह करना निश्चित हुआ था और निश्चय के अनुसार श्री बाबू सत्याग्रह करने के लिए बांकीपुर के मैदान में पहुंचे, तो वहां बहुत लोग जमा हो गये जिनमें विद्यार्थी अधिक थे। वहां पर कुछ शोर-गुल हुआ जो जेल के फाटक तक, जहां श्री बाबू को गिरफ्तार करके ले गये, जारी रहा। मैंने देखा कि यह आरम्भ गांधीजी की हिदायतों के खिलाफ हुआ और यदि इसे प्रोत्साहन मिला तो पीछे इसे संभालना मुश्किल हो जायेगा तथा

अपने ही लोग अनुशासन की धज्जी उड़ा देंगे। यह सोचकर मैंने अनुग्रह बाबू के सत्याग्रह को और सारे सूबे के सत्याग्रह को उस समय तक के लिए बंद कर दिया जब तक लोग सत्याग्रह के मर्म को पूरी तरह समझ न लें और गांधीजी की आज्ञानुसार अक्षरशः सब बातें ठीक-ठीक करने को तैयार न हो जायें। यह बात सारे सूबे में फैल गयी। लोगों ने समझ लिया कि इस तरह की बातें नहीं चलने पावेंगी। मेरे पास दूसरे ही दिन लोगों ने आकर बतलाया कि अब वैसी गलती नहीं होने पावेगी और सारे सूबे में सत्याग्रह स्थगित हो जाने से सारे सूबे की बदनामी होगी। मैंने देख लिया कि वातावरण दुरुस्त हो गया, दो दिनों के बाद से ही फिर इजाजत दे दी। इसका फल यह हुआ कि सारे सूबे में पूरी शांति के साथ, जैसा गांधीजी चाहते थे, सत्याग्रह चलता रहा।

प्रधानमंत्री (श्री बाबू) से आरम्भ करके असेम्बली और कौंसिलों के अधिकांश मेम्बर, जिला बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों के बहुतेरे सदस्य, कांग्रेस कमिटियों के अनेक पदाधिकारी और कुछ सदस्य, कई हजार की संख्या में, सत्याग्रह करके जेल चले गये। गवर्नमेंट की कुछ नीति थी कि प्रायः सभी लोगों को एक बरस की सजा दी जाती थी। इसमें से प्रायः सभी लोगों को तीन महीने की माफी, जिसको जेल की भाषा में 'मार्का' कहते हैं, मिलती गयी! सभी लोग सजा पाने के प्रायः नौ महीनों के बाद छूटते गये। मैं तो बाहर रह गया था और अधिक समय गांधीजी के साथ ही वर्धा में बिताना पड़ा। इसका एक कारण यह भी था कि कांग्रेस के प्रेसिडेंट के जेल चले जाने के बाद कांग्रेस के संगठन का सारा भार एक प्रकार से उन पर ही आ पड़ा, यद्यपि मंत्री आचार्य कृपालानीजी भी बाहर रख लिये गये थे। काम में सहायता पाने के लिए कृपालानी जी के और मेरे वहीं रहने का आग्रह महात्माजी करते थे। हमने ऐसा ही किया भी।

कांग्रेस के लोगों ने मंत्री का पद तो छोड़ ही दिया था। अब, जहां-जहां पहले कांग्रेसी मंत्रिमंडल थे वहां दफा 93 के अनुसार गवर्नर शासन कर रहे थ। कुछ दिनों तक उन्होंने रास्ता देखा कि शायद कांग्रेस वाले फिर वापस आ जायें, पर जब इसकी कोई आशा नहीं दीख पड़ी तो असेम्बली इत्यादि के मेम्बरों को जो वेतन मिलता था उसे उन्होंने बंद कर दिया। यद्यपि असेम्बली के स्पीकर लोगों के साथ के चपरासी इत्यादि नहीं हटाये गये और वे कुछ-न-कुछ काम भी करते रहे, तथापि उनके भी मुशाहरे बंद कर दिये गये। कांग्रेस ने जिला बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों से कांग्रेसी लोगों को हट जाने का आदेश नहीं दिया था। बहुतेरी जगहों में कांग्रेसी लोग इनके चेयरमैन और वाइस-चेयरमैन थे। इनका काम सभी कांग्रेसी सदस्य मिलकर करते रहे। ऐसा भी देखा गया कि कुछ लोग, सत्याग्रह के कारण अच्छे सदस्यों के हट जाने से नाजायज लाभ उठाकर उनके स्थानों पर जा बैठे! कुछ हम लोगों की ऐसी भूल भी हुई कि जहां हमारे चेयरमैन इत्यादि के सत्याग्रह में चले जाने के कारण जगह खाली हुई वहां हमने उन रिक्त स्थानों को ऐसे लोगों से भर देने की इजाजत भी

दे दी, जिनसे आशा की जाती थी कि वे हमारे अनुशासन को मानेंगे। कहीं-कहीं नये चुनाव भी हुए और उन स्थानों पर, अगर साफ-साफ नहीं तो परोक्ष रीति से, कांग्रेसी लोग आ गये। नतीजा यह हुआ कि इन बोर्डों पर जैसा चाहिए वैसा कांग्रेस का अनुशासन नहीं रह सका। बहुत तरह की शिकायतें भी सुनने में आने लगीं। कांग्रेस के अंदर जो दलबंदियां थीं वे भी अब बाहर फूट पड़ीं। इस प्रकार, कांग्रेस की बदनामी होने लगी।

मेरे अपने सूबे में सब का भार मेरे ऊपर था। मैं अधिकतर वर्धा में रहने के कारण बहुत-कुछ कर नहीं सकता था। इसलिए मैंने रोक-थाम के ख्याल से एक छोटी कमिटी बना दी। उसी को इन बोर्डों की निगरानी का काम सौंप दिया। मुझे खेद है कि बहुत प्रयत्न के बाद भी अवस्था नहीं सुधरी। मैंने निश्चय किया कि बिहार में इन सभी बोर्डों से कांग्रेसी लोगों को हटा लेने में ही कल्याण है। पर इस निश्चय पर पहुंचने के कुछ ही दिनों के बाद प्रांत के प्रमुख लोगों के छूटने का समय था। इसलिए उनके छूटने तक इसको स्थगित रखा कि उनकी भी राय ले लेना उचित होगा। उनके छूटने पर उनसे राय लेकर मैंने यह आज्ञा दे दी कि सभी कांग्रेसी लोग जिला बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों से हट जायें। उसके बाद ही फिर अस्वस्थता के कारण मैं वर्धा चला गया। वहां रिपोर्ट पहुंची कि अधिकांश लोगों ने तो आज्ञा का पालन किया, पर कुछ लोगों ने उसे नहीं भी माना। ऐसे लोगों की संख्या बहुत ज्यादा नहीं थी। जिला कमिटियों तथा प्रांतीय कमिटी ने ऐसे लोगों के विरुद्ध अनुशासन की कार्रवाई की। बहुतेरे लोग कांग्रेस से निकाल दिये गये। यह सब 1941 के नवम्बर-दिसम्बर की बात है। 1940 के नवम्बर से 1941 के बीच तक कुछ और बातें हुईं जिनका जिक्र कर देना उचित होगा।

141

मेरी मैसूर यात्रा

मैंने ऊपर कहा है, बहुत समय मेरा उन दिनों वर्धा में ही बीता। जब मैं वहां था, मैसूर कांग्रेस के श्री दासप्पा वर्धा आये। उन्होंने महात्माजी से यह कहा कि वह अपना सालाना जलसा करना चाहते हैं जिसमें मुझे जाना चाहिए। मेरे जिम्मे इसके उद्घाटन का काम सौंपा गया। महात्माजी ने उनके अनुरोध को मान लिया। मुझे वहां जाने की आज्ञा मिली। यह सम्मेलन 'हरिहर' नामक स्थान पर तुंगभद्रा नदी के किनारे हुआ था। दृश्य सुंदर था। लोगों में उत्साह भी काफी था। सम्मेलन, प्रदर्शनी इत्यादि के काम के अलावा श्री दासप्पा मुझे मैसूर के कुछ सुंदर और पुरातत्व संबंधी महत्व रखने वाले स्थानों को दिखला देना चाहते थे। मैं भी यह चाहता ही था। वहां जाने के पहले ही श्री दासप्पा से बातें हो चुकी थीं। उन्होंने कार्यक्रम भी बना लिया था। बंगलौर और मैसूर के अलावा मैं उन प्राचीन मंदिरों को भी देखने गया, जो जैन-काल और हिन्दू-काल की स्थापत्य-कला के अच्छे-से-अच्छे नमूने हैं। श्रवणगोलवेला और हलेवीड के दृश्य अद्भुत हैं। वे संसार के उन चकित करने वाले स्थानों में हैं जिनको न देखना मानो मनुष्य की कृतियों के उत्तमोत्तम नमूनों को न देखना है। तीर्थंकर महावीर की बहुत विशाल मूर्ति एक पहाड़ की चोटी पर पहाड़ काटकर बनायी गयी है जो बहुत दूर से, प्रायः 10-15 मीलों से नजर आने लगती है। तारीफ यह कि उतनी बड़ी मूर्ति कुछ अलग से तैयार करके वहां चोटी पर बैठायी नहीं गयी है, बल्कि वह पहाड़ की ऊंची चोटी को ही काटकर बना दी गयी है और चारों ओर की पहाड़ी काटकर समतल कर दी गयी है। मूर्ति ऐसी सुंदर बनी है कि चाहे आप मीलों की दूरी से देखिए या नजदीक जाकर, उसके सभी अंग ऐसे अनुपात से बनाये गये मालूम होंगे कि कहीं कुछ भी त्रुटि नजर न आयेगी। प्रत्येक अंग, पैर की अंगुलियों से लेकर नाक-कान तक, अपने-अपने स्थान पर ठीक अनुपात में बना दीख पड़ता है। यह जैनों का एक बहुत बड़ा तीर्थ है जहां समस्त भारतवर्ष के जैन दर्शन करने जाते हैं। मुझे यह बात जानकर प्रसन्नता हुई कि आरा के श्री निर्मलकुमार जैन, परिवार के साथ, वहां अक्सर जाया करते हैं। वहां के लोग उनके संबंध में मुझसे पूछ-ताछ कर रहे थे। यह जानकर मुझे और भी अचम्भा हुआ कि उसी मूर्ति की नकल पर, कुछ छोटे पैमाने

पर, उन्होंने आरा के नजदीक कहीं जैनी विधवाओं के लिए जो आश्रम खोल रखा है उसमें भी एक मूर्ति बनवायी है; फर्क इतना ही है कि जहां यह पहाड़ी मूर्ति प्रायः 60-70 फुट की होगी वहां आरा की मूर्ति 20-22 फुट की। यह दृश्य तो विशाल-मूर्ति-निर्माण कला का नमूना है।

अब हलेवीड में कुछ ऐसे नमूने मिले जिनमें बारीकी की हद हो गयी है। वहां के मंदिरों में पुराणों की कथाएं मूर्तियों द्वारा अंकित और प्रदर्शित की गयी हैं। ये मूर्तियां अत्यंत सुंदर और मधुर हैं। कुछ पंद्रह-बीस फुट की ऊंचाई पर एक मूर्ति बनी थी जिसमें कोई फल या फूल दिखलाया गया था और उस पर एक मधुमक्खी बैठी थी। नीचे से देखने में ऐसा मालूम होता था कि वह सचमुच मधुमक्खी है जिसके पांव और पंख भी हैं। पर वास्तव में उसी पत्थर पर, जिसको काटकर फूल या फल बनाया गया था, यह मधुमक्खी भी उसी प्रकार बनायी गयी थी—कोई अलग से बनाकर वहां बैठायी नहीं गयी थी। दक्खिन के मंदिरों में पत्थर की बनी जंजीरें अक्सर देखने में आती हैं। किसी धातु की जंजीर बनाना मुश्किल नहीं है; क्योंकि उसकी एक-एक कड़ी अलग-अलग बनाकर एक-दूसरे में गूंथ दी जाती है और तब जोड़ या मुंह दबाकर अथवा गर्म करके फांक बंद कर दिया जाता है। किंतु पत्थर की जंजीर में ऐसा नहीं हो सकता। उसमें कड़ियां अलग-अलग नहीं बनायी जा सकतीं। एक ही पत्थर के लम्बे टुकड़े को काटकर एक-दूसरे में गुंथी हुई कड़ियां बनानी पड़ती हैं। काम काफी मुश्किल है; क्योंकि यदि कहीं एक टांकी या छेनी भी जोर की लग गयी और कड़ी टूट गयी तो सारी जंजीर बिखरकर खराब हो गयी। दूसरे मंदिरों में मैंने जंजीर देखी थीं; पर उनका आकार बड़ा था। हलेवीड में मैंने एक मूर्ति कुछ ऊंचाई पर देखी। वह अनेक आभूषणों से सुसज्जित की गयी थी। सब आभूषण पत्थर के थे और उसी एक पत्थर के टुकड़े में से, जिसमें से मूर्ति निकाली गयी थी, काट करके बनाये गये थे। वह मूर्ति एक बहुत छोटी-सी झुलनी या नकबेसर पहने हुई थी। वह भी पत्थर की थी, बहुत ही छोटी और नाक में एक छोटे छेद से लटक रही थी। जो बाली नाक में थी वह भी बहुत बारीक थी और नाक के छेद में वह चारों तरफ घुमायी जा सकती थी। उस नथुनी का व्यास आध इंच से ज्यादा न होगा और इसी से नाक के छेद का भी अंदाजा किया जा सकता है। विशालता और बारीकी, दोनों के सुंदर-से-सुंदर नमूनों का वर्णन पढ़कर पाठक समझ सकते हैं कि वहां थोड़े में ही कितनी कला और कलाकारों की कितनी कृतियों के नमूने हम देख सकते हैं। पत्थरों पर इस प्रकार के विशाल और सूक्ष्म काम हम अजन्ता और एलोरा में देख सकते हैं। अजन्ता में चित्रणकला का अद्भुत विकास देखने में आता है और एलोरा में पहाड़ काटकर बनाया गया महान मंदिर तथा सुंदर एवं बारीक मूर्ति-निर्माण कला का चमत्कारपूर्ण नमूना!

तीसरा अद्भुत दृश्य प्राकृतिक था। वह है गिरिसप्पा का जलप्रपात। यह ऐसे स्थान में है जहां ब्रिटिश और मैसूर राज्यों की सरहद मिलती है। प्रायः एक हजार फुट की ऊंचाई से

जल गिरता है। उसको एक ओर ब्रिटिश राज्य के एक कोने से और दूसरी ओर मैसूर राज्य के एक कोने से हम देख सकते हैं। पर मैसूर राज्य में से देखने पर दृश्य अधिक सुंदर और सुहावना मालूम होता है। वहां ठहरने और बैठकर दृश्य देखने का भी अच्छा और सुंदर स्थान राज्य की ओर से बना दिया गया है। मैं कुछ देर तक बैठकर इस प्राकृतिक चमत्कार को देखता रहा। उन दिनों वहां से बिजली निकालने के लिए कारखाना बनाने और दूर-दूर तक बिजली पहुंचाने का प्रबंध मैसूर राज्य की ओर से किया जा रहा था। बहुत-से मजदूर वहां से कई मील की दूरी तक काम करते मिले। मालूम नहीं कि इस प्राकृतिक चमत्कार पर इस मानुषिक बलात्कार का क्या असर पड़ा है और वह शोभा अब भी है या नहीं!

142

बिहारशरीफ का दंगा और हिन्दुस्तानी जहाजी कम्पनी की स्थापना

मैं चंद दिनों के लिए पटने आया था और फिर वर्धा वापस गया। जिस दिन पटने से जाने वाला था उसी रात को यह सुना कि बिहारशरीफ में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कुछ अनबन है, पर ऐसा नहीं मालूम हुआ कि कोई बड़ी बात है जिसका नतीजा भयंकर खून-खराबा हो सकता है। वर्धा पहुंचने के एक दिन बाद ही अखबारों से मालूम हुआ और फिर तार पहुंचा कि बिहार में भयंकर दंगा-फसाद हो गया है। गांधीजी की राय हुई और मैंने भी सोचा कि ऐसी अवस्था में मुझे तुरंत बिहार जाना चाहिए। मैं वापसी गाड़ी से रवाना हो गया। पटने पहुंचने पर मालूम हुआ कि शाह मुहम्मद उजैर मुनीमी और मथुरा बाबू कई दिनों से बिहारशरीफ में ही हैं और वहां बलवा केवल बिहारशरीफ शहर में ही—जहां आरम्भ हुआ था—सीमित न रहकर गांवों में भी फैलता जा रहा है। मुझे याद था कि 1918 में इसी प्रकार शाहाबाद के एक गांव (पीरो) में आरम्भ होकर उस जिले के सिवा आसपास के जिलों के कुछ भागों में भी फसाद फैल गया था। इसलिए मैं और भी चिहुंका। इत्तफाक से उसी दिन प्रोफेसर अब्दुल बारी भी, जो बाहर थे, पटने पहुंच गये। हमने मोटर और लारी साथ लिया। उन पर बिहार विद्यापीठ के अध्यापकों और विद्यार्थियों को तथा कुछ दूसरे कार्यकर्ताओं को सवार करा लिया। उसी दिन बिहारशरीफ की ओर चल दिया। वहां पहुंचने पर जब शाह उजैर मुनीमी और मथुरा बाबू से भेंट हुई तो सब हाल मालूम हुआ। बहुतेरे खून हो चुके थे; पर अब स्थिति कुछ सुधरने लग गयी थी। गवर्नमेंट ने पुलिस का भी काफी प्रबंध कर लिया था। जिला मजिस्ट्रेट और कमिश्नर तथा पुलिस के बड़े-बड़े अफसर भी पहुंच गये थे। शाह साहब और मथुरा बाबू अपनी जान पर जोखिम लेकर जहां-जहां हंगामा होता, पहुंच जाते और बलवा-फसाद रोकते। कहीं-कहीं बलवाइयों के उपद्रव के बाद पहुंचते और वहां लाशों को स्वयं उठा-उठाकर यथास्थान भिजवाने में सहायता करते।

हम लोग पहुंचते ही चारों ओर के गांवों में, जहां-जहां से कुछ खराब खबर आती, फैल गये। लोगों में ढाढ़स पैदा करने और गलत अफवाहों को रोकने तथा शांति स्थापित करने में सब-के-सब लग गये। तीन-चार दिनों में स्थिति काफी सुधर गयी। वहीं पर प्रांतीय

मुस्लिम लीग के सभापति खांबहादुर मुहम्मद सैयद इस्माइल से बातें हुईं। हम दोनों एक दिन के लिए पटने आये। वहां एक बड़ी सार्वजनिक सभा में हम दोनों ने भाषण किये। मैं फिर बिहारशरीफ वापस गया। कुछ दिनों तक वहां रहकर, जहां-जहां लूट-मार और खून-खराबा हुआ था वहां जाकर, लोगों से भेंट की और उन्हें शांत किया। जो दृश्य देखने में आये, बहुत ही भयानक और दर्दनाक थे। हिन्दू या मुसलमान, जब इस प्रकार के झगड़े में पड़ जाते हैं तब, धर्म और मनुष्यता दोनों भूल जाते हैं। वे एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। इस झगड़े में हिन्दू और मुसलमान दोनों मारे गये थे, पर मुसलमानों की संख्या अधिक थी। यदि यह झगड़ा रुका न होता तो स्थिति और भी भयंकर हो गयी होती। शांति-स्थापना के बाद मैं फिर वर्धा वापस गया।

वहां एक और काम मैंने अपने ऊपर ले लिया था अथवा यह कहना बेहतर होगा कि मेरे ऊपर वह काम डाल दिया गया था। सिंधिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी हिन्दुस्तानियों की जहाजी कम्पनी है। उसके जहाज विशेषकर हिन्दुस्तान और बरमा के बीच तथा हिन्दुस्तान के समुद्रतट के बंदरगाहों में ही अधिक आया-जाया और माल ढोया करते हैं। वह कम्पनी चाहती थी कि जहाज बनाने का एक कारखाना खोला जाये। उसने विशाखापट्टनम (विजगापटम) को, जो आंध्र प्रदेश में है, इसके लिए उपयुक्त स्थान चुन लिया था। उसके डाइरेक्टरों में प्रमुख हैं सेठ वालचन्द-हीराचन्द और सेठ शान्तिकुमार नरोत्तम मुरारजी। उनकी यह राय हुई कि मैं इसकी नींव डालूं। मैं उस समय कोई भी काम गांधीजी की आज्ञा के बिना नहीं करता था। इसलिए उन्होंने गांधीजी से कहा। मुझे आज्ञा मिली कि मैं वहां जाऊं। इस सिलसिले में मुझे भारतीय जहाजी वाणिज्य के इतिहास के अध्ययन का मौका मिला। यों तो थोड़ा-बहुत जानता था कि ब्रिटिशों ने किस तरह इस फैले हुए व्यापार को हिन्दुस्तानियों के हाथ से जबरदस्ती छीन लिया था, पर इस बार के अध्ययन से मेरा इस विषय का ज्ञान और भी अधिक बढ़ गया। इसके अध्ययन में बहुत सुविधा भी हो गयी थी। मैंने उस अवसर पर वहां जो भाषण किया उसमें सारे इतिहास और वर्तमान स्थिति इत्यादि का सिंहावलोकन किया। कम्पनी की ओर से बड़ा समारोह किया गया था। उसके सभी डाइरेक्टर वहां आये थे। सारे हिन्दुस्तान से बहुतेरे प्रमुख लोग आमंत्रित किये गये थे। सरकारी नौ-सेना के अफसर भी उपस्थित थे। बहुत धूमधाम के साथ यह महोत्सव समाप्त हुआ। उन लोगों ने सार्वजनिक काम के लिए मुझे कुछ रुपये भी दिये जिनको मैंने उनकी इच्छा के अनुसार उन संस्थाओं को दे दिया जो उस काम में लगी थीं। कुछ सामान उन्होंने मेरे साथ कर दिया जिसको मैंने वापसी ट्रेन में कुछ दूर चले आने पर देखा।

143

ढाका जिले में दंगे की जांच और बंगाली-बिहारी समस्या

वालटेयर से, जो विशाखापट्टनम के पास में ही है, रवाना होकर श्री मथुरा बाबू के साथ मैं सीधे ढाका जाने के लिए कलकत्ते पहुंचा। रास्ते में कटक में भी कुछ देर के लिए ठहरा था। ढाका जाने का कारण यह था कि वहां भी भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो चुका था। वहां दंगा ढाका शहर से आरम्भ होकर कई गांवों तक में जा पहुंचा था। गांव-के-गांव लूट लिये गये और जला दिये गये थे। ढाका में तो खून भी काफी हुए थे। जिस दिन मैं पहुंचा, वातावरण शांत था। वहां जाने के पूर्व ही कलकत्ते में उस समय के प्रधानमंत्री श्री फजलुल हक और सर नाजिमुद्दीन से मेरी मुलाकात हो गयी थी। श्री फजलुल हक को मैं उसी समय से जानता था जब मैं कलकत्ता हाइकोर्ट में वकालत किया करता था। सर नाजिमुद्दीन से बंगाल की जेलों में अनशन कर रहे राजनीतिक कैदियों के संबंध में बातें करने के लिए, भेंट हो चुकी थी।

मैं ढाका में वहां के प्रमुख लोगों से मिला। हिन्दुओं पर बहुत जुल्म हुए थे। अतः उनमें स्वाभाविक रोष था। मुसलमानों ने वहां के नवाब साहब के महल में मुझसे मुलाकात के लिए एक चाय-पार्टी दी। वहीं सबसे बातें हुईं। पुराने कांग्रेसी, जो उस समय वहां की जिला कमिटी के सभापति थे, श्री श्रीशचन्द्र चटर्जी के घर पर मैं ठहरा था। ढाका से कुछ दूर उन गांवों को जाकर देखा जो लूट लिये और जला दिये गये थे। दृश्य भयंकर था। बंगाल के मकान अक्सर पक्के नहीं होते, फूस या टिन से छाये जाते हैं। दीवार बांस आदि की टट्टी की होती है, जो लकड़ी के खंभों के सहारे खड़ी रहती है। जमीन की नमी या सील से बचने के लिए मकान के भीतर का फर्श कहीं-कहीं सिमेंट का बना होता है। ऐसे गांव भी देखने में आये जहां केवल लकड़ी के जले हुए खंभों के टुकड़ों अथवा निशान तथा सिमेंट के फर्श के सिवा और कुछ भी देखने को न मिला। हालत बिहारशरीफ से भी खराब थी, पर ढाका जिले का उससे किसी तरह मुकाबला नहीं हो सकता था। बिहार में हिन्दुओं की आबादी अधिक है, वहां मुसलमान ही अधिक मारे या लूटे गये थे। ढाका में मुसलमानों की आबादी अधिक है, वहां हिन्दू ही अधिक मारे या लूटे गये थे। पर जिस तरह लूटना और जलाना ढाका में हुआ था उसका कुछ भी मुकाबला बिहार नहीं कर सकता था।

दो-तीन दिनों तक उन दिहातों में घूम-घूमकर देखने के बाद मैं फिर ढाका लौटा। दिहातों में घूमते-घूमते दो गांवों में मुझे अपने गांव जीरादेई के दो आदमियों से मुलाकात हो गयी। ये यहां काम की तलाश में आये थे। बहुतेरे बिहारियों की तरह ये भी यहां से कुछ पैदा करके बिहार आया-जाया करते थे। मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि जिस तरह आसाम की यात्रा में सारन जिले के आदमियों से मुलाकात हो गयी थी उसी तरह बंगाल के दिहातों में भी हमारे प्रदेश के लोग फैले हुए हैं। गरीब बिहारी मजदूरों में बहुत हिम्मत और अध्यवसाय है जो वहां के पढ़े-लिखे लोगों में नहीं देखा जाता। शिक्षित वर्ग के लोग प्रांत के बाहर बहुत कम मिलते हैं, पर अशिक्षित मजदूर एक ओर बम्बई में मुझे इत्तफाक से मिल गये हैं तो दूसरी ओर बरमा और बंगाल तथा आसाम में फैले हुए हैं। अंगरेजी शिक्षा हमारे प्रांत के लोगों को कायर और निकम्मा बना देती है क्या?

इस संबंध में एक और बात याद आ जाती है। ये गरीब बेचारे सुदूर बरमा, बंगाल, आसाम इत्यादि में जाकर मजदूरी करते हैं, वहां के खेतों को आबाद करते हैं और फसल तैयार होने पर काटते हैं; पालकी ढोते हैं; बैलगाड़ी हांकते हैं; मिट्टी काटने के काम पर तो मानो इन लोगों का एकछत्र राज्य है—गांवों में तालाब खोदना, कुआं बनाना, मकान बनाना इत्यादि जितने आवश्यक काम हैं सभी करते हैं—धनी लोगों के घरों में नौकरी करते हैं, खिदमतगारी और पहरेदारी दोनों काम बहुत करके इनके ही हाथों में हैं। इस तरह बंगाल, आसाम इत्यादि से बिहार के गांवों में बहुत पैसे आया करते हैं—विशेषकर सारन जिले में। जीरादेई गांव के पोस्ट आफिस में, जब कमासुत लोग बाहर गये रहते हैं तब, प्रायः प्रति सप्ताह 4-5 हजार रुपये मनीआर्डर के जरिये आया करते हैं। लोगों ने हिसाब लगाया है कि इस प्रकार से बिहार के गांवों में बाहर से प्रायः 5 करोड़ सालाना आया करता था। कुछ बंगाली भाइयों का कहना था कि बिहार के लोग बंगालियों की शिकायत करते हैं कि वे बिहार में आकर बहुत धन पैदा किया करते हैं—जब कि बिहारी इतने अधिक पैसे बंगाल से लाते हैं। यह बात सच है कि बिहारी इस बात की शिकायत किया करते हैं—विशेषकर शिक्षित बिहारी, जिनको बंगालियों के साथ सरकारी दफ्तरों और वकालतखानों में मुकाबला करना पड़ता है। मालूम नहीं कि इस तरह सरकारी दफ्तरों के क्लर्क, राजे-रजवाड़ों की नौकरी करने वाले बाबू, कालेजों और स्कूलों के शिक्षक, वकील, डाक्टर इत्यादि बिहार से कितना ले जाते हैं; क्योंकि इनके रुपये तो गरीबों की तरह छोटे-छोटे मनीआर्डरों द्वारा जाते नहीं हैं, और यह कहना कठिन है कि हिसाब लगाने पर बिहार मुनाफे में पाया जायेगा या बंगाल। पर एक बात स्पष्ट है। बिहारी लोग बंगाल में जाकर ऐसे आवश्यक काम करते हैं जिनके बिना वहां के लोगों का जीवन-निर्वाह ही कठिन हो जाये और जिनकी जरूरत बंगाली भाई महसूस करते हैं। किंतु बिहार में बंगाली ऐसे काम करते हैं जिनके संबंध में शिक्षित बिहारी चाहते हैं और कहते हैं कि बंगाली अगर उन कामों पर न आवें तो बिहारियों

का कुछ नुकसान नहीं होगा और वे खुद ही सभी कामों को संभाल लेंगे। इसके अलावा, जितना सैकड़ों बिहारी एड़ी-चोटी का पसीना एक करके और मलेरिया इत्यादि के शिकार बनकर पैदा करते हैं उतना एक बंगाली हुकूमत की कुर्सी पर बैठकर आराम करते हुए पैदा कर लेता है। जो हो, इस प्रकार का मनमुटाव बहुत दिनों से चला आ रहा है। नौकरी-पेशा लोगों में बिहारी और बंगाली की काफी होड़ है। गरीबों की बात तो शायद ही किसी के ध्यान में आती है!

इसी झगड़े के कारण, कांग्रेस मिनिस्ट्री के समय में, बिहार में बहुत आन्दोलन हुआ। एक ओर, बिहारियों की शिकायत थी कि अनेक विभागों के दफ्तरों में और सरकारी ओहदों पर उसी समय से—जब बंगाल और बिहार एक साथ थे—बंगालियों ने कब्जा कर लिया है और अलग सूबा कायम होने के प्रायः तीस बरसों के बाद भी उनका वैसा ही आधिपत्य है। दूसरी ओर, बंगालियों का कहना था कि बहुतेरे बंगाली प्रायः भाषा तो बंगला बोलते हैं, पर वे बिहार के निवासी हैं अथवा बिहार में बस गये हैं, इसलिए उन्हें सरकारी नौकरियां देने में किसी प्रकार का बंगाली-बिहारी भेद-भाव करना अनुचित है—उनकी शिकायत थी कि इस प्रकार का भेद-भाव किया जाता है। यह शिकायत कांग्रेस तक पहुंची और जिस समय श्री सुभाषचन्द्र बोस कांग्रेस प्रेसिडेंट थे उस समय वर्किंग कमिटी ने जांचकर रिपोर्ट देने का भार मेरे ऊपर डाला। मैंने सब बातों की जांच-पड़ताल करके एक लम्बी रिपोर्ट दी जिसमें इतिहास के अलावा आगे के लिए सुझाव भी पेश किये कि सबके साथ इंसाफ का बर्ताव किस तरह किया जा सकता है। वर्किंग कमिटी ने मेरी रिपोर्ट को न्याययुक्त समझकर मंजूर किया और कांग्रेसी मंत्रिमंडल को उसी के अनुसार काम करने का आदेश दिया। मेरा अनुमान है कि मेरी सिफारिशों को दोनों पक्षों ने मंजूर किया। यद्यपि किसी एक पक्ष की सभी मांगें उसमें मंजूर नहीं की गयी थीं तथापि, लोगों ने यह समझ लिया कि जो मैंने कहा है वह एक प्रकार से ठीक ही है।

अस्तु, जब मैं दिहातों से लौटकर ढाका शहर में पहुंचा तो मालूम हुआ कि ढाका के दंगे के संबंध में गवर्नमेंट ने जांच कराने का निश्चय किया है और सरकार की ओर से बंगाल के स्टैंडिंग कौंसिल मेरे पुराने दिली दोस्त श्री योगेन्द्रनारायण मजुमदार पैरवी के लिए भेजे गये हैं। बहुत दिनों से भेंट नहीं हुई थी और इस सुयोग को अच्छा समझकर मैं उनसे मिलने गया। वह नदी में एक छोटे स्टीमर पर ही ठहरे हुए थे। उनसे बातें कर ही रहा था कि खबर आयी, ढाका शहर में फिर खून-खराबा शुरू हो गया और एक या दो आदमियों को छुरा घोंप दिया गया। मुझे दूसरे ही दिन चला आना था। रात को भी यह काम जारी रहा। सवेरे मालूम हुआ कि शहर में काफी हलचल है और कई आदमी छुरों के शिकार हो गये हैं। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुओं को छुरा भोंक दिया तो दो-चार घंटों के भीतर ही कहीं-न-कहीं किसी मुहल्ले में उतने ही मुसलमानों को छुरे भोंक दिये जाते थे। इसी तरह की होड़

हिन्दू-मुसलमान कर रहे थे। इस प्रकार की होड़ के कारण ही छुरा मारने वाले इस बात का विचार नहीं करते थे कि जो मारा गया उसने क्या कसूर किया था। मारने वाले तो सुरक्षित बच जाते थे और चुपचाप अपनी राह जाने वाले निरीह बेकसूर—हिन्दू हों या मुसलमान—बिना कारण मारे जाते। दोपहर को हमारे रवाना होने तक 8-10 खून हो चुके थे। जांच का काम इस परिस्थिति में होना असम्भव था। इसलिए वह स्थगित कर दिया गया और जिस जहाज से मैं लौटा उसी जहाज से योगेन्द्र बाबू भी कलकत्ते आये।

कलकत्ते से मैं सीधे पटना वापस आया। मैं पटने में 1941 के जून के अंतिम दिनों में पहुंचा। रास्ते में ही जो खांसी-दमा शुरू हुआ था वह बहुत बढ़ गया। ज्वर भी हो आया। मैं पटने में ही रुक गया। बरसात भी शुरू हो गयी जो मेरे स्वास्थ्य के लिए बहुत खराब होती है। प्रायः दो महीनों तक मैं वहीं पड़ा रहा। अंत में, जैसा ऊपर कह चुका हूं, व्यक्तिगत सत्याग्रह में कैद हुए लोग छूटने लगे। विशेषकर श्री बाबू, अनुग्रह बाबू इत्यादि प्रमुख छूट गये। उनसे भेंट करके और जिला बोर्डों तथा म्युनिसिपैलिटियों से कांग्रेसी मेम्बरों को निकल आने का आदेश देकर मैं स्वास्थ्य-सुधार के लिए वर्धा चला गया।

144

युद्ध की विषम स्थिति से क्रिप्स-योजना का शुभागमन

जब मैं ढाका में था तभी जर्मनी ने रूस के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। बहुत जोरों से रूस में जर्मन सेना प्रवेश करके आगे बढ़ने लगी। थोड़े ही दिनों में रूस के बहुत बड़े हिस्से पर जर्मनों ने कब्जा कर लिया। यह लड़ाई बहुत बड़े पैमाने पर हो रही थी। रूस के उत्तरी छोर से लेकर दक्खिनी छोर तक जर्मन और रूसी सेनाओं का भिड़ंत हो रहा था। जर्मनी ने पश्चिम में स्पेन और पुर्तगाल, उत्तर में स्वीडन और दक्खिन में इटली को छोड़कर योरप के प्रायः सभी देशों पर कब्जा कर लिया था। स्पेन में फ्रांको का आधिपत्य था, जिसको डिक्टेटर बनाने में जर्मनी ने बहुत मदद दी थी, इसलिए वह जर्मनी का बहुत कृतज्ञ था। स्वीडन कुछ दब गया था। इटली भी जर्मनी के साथ लड़ाई में शरीक हो गया था। उक्त विजित देशों में कुछ लोग लुक-छुपकर छापे मारने की गोरिल्ला लड़ाई जहां-तहां जर्मनों के साथ कर रहे थे, पर अधिकतर स्थानों में जर्मन शासन चल रहा था अथवा जर्मनी ने ऐसे लोगों के हाथों में अधिकार दे रखा था जो उसकी ओर से शासन कर रहे थे।

अमेरिका की सहानुभूति इंग्लैंड के साथ थी। जहाज, हथियार इत्यादि द्वारा वह अंगरेजों को मदद भी पहुंचा रहा था; पर खुले खजाने अभी लड़ाई में नहीं उतरा था। उधर जापान भी चीन के बहुत बड़े हिस्से को अपने पंजे में कस चुका था और दिन-दिन आगे बढ़ता जा रहा था। अमेरिका तो चीन की मदद करना चाहता था, पर उसको मदद पहुंचाने का एक ही रास्ता था जो खतरे से खाली न था। वह रास्ता था बरमा होकर। अंगरेज जापान को नाखुश नहीं करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने बरमा का रास्ता बंद कर दिया। चीन एक प्रकार से लाचार होता जा रहा था। जापान इस ताक में था कि मौका पाकर अमेरिका से बदला ले। यह मौका 1941 के जाड़ों के आरम्भ में उसने ढूंढ निकाला और अमेरिका के पर्ल-हार्बर पर धावा बोलकर अमेरिका की जल-सेना को भारी क्षति पहुंचायी। उसने इंग्लैंड और हालैंड से भी लड़ाई ठान दी तथा जर्मनी और इटली के साथ दोस्ती गांठ ली। 1941 के नवम्बर से आरम्भ करके थोड़े ही दिनों में उसने दक्खिन-पूरब एशिया के बहुत बड़े हिस्से पर सिक्का जमा लिया। डच उपनिवेश—जैसे जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और दूसरे टापू—उसकी धाक में आ गये। अंगरेजों से सिंहपुर (सिंगापुर) उसने जल्द ही जीत लिया।

मलाया पर दखल जमाते हुए वह बरमा की ओर आगे बढ़ा। शीघ्र ही मोलमीन, रंगून, मांडले प्रभृति बरमी शहरों को हथियाकर प्रायः सारे बरमा को हड़प लिया। लड़ाई छेड़ने के एक-दो दिनों के अंदर ही उसने ब्रिटिश जल-सेना को सिंगापुर के नजदीक कहीं एक लड़ाई में गहरी शिकस्त दी। 'प्रिंस आफ वेल्स' नामक बहुत बड़े जहाज पर अंगरेजी एडमिरल फिलिप बहुत गर्व करके यह घोषणा कहते हुए निकला था कि वह जापानी जल-सेना की तलाश में जा रहा है। उसे जापान ने डुबा दिया।

उत्तर अफ्रिका में इटालियन लोगों के कुछ उपनिवेश हैं ही। वहां भी अंगरेजों से लड़ाई ठन गयी और जर्मन पहुंच गये। उन्होंने चंद महीनों के भीतर ही उत्तर अफ्रिका को, प्रायः इजिप्ट (मिस्र) की सीमा तक, अपने चंगुल में कर लिया। ऐसा मालूम होता था कि कोई भी देश अब जर्मनी और जापान की सेनाओं की बाढ़ को रोक न सकेगा। जाड़ों के कारण रूस में जर्मन सेना को कुछ रुक जाना पड़ा, पर वह पीछे न हटी, जहां तक पहुंच गयी थी वहीं डटी रही। 1942 के आरंभिक महीनों में ऐसी परिस्थिति मालूम होती थी कि लड़ाई में अमेरिका के आ जाने से ब्रिटेन की जान तो लौट आयी, पर अभी जापानी और जर्मन सेना का मुकाबला कोई नहीं कर सकता था। अमेरिका बहुत बड़े पैमाने पर युद्ध-सामग्री, जल-सेना और स्थल सेना तैयार करने लगा। वह उन सभी देशों को अस्त्र-शस्त्रों की मदद पहुंचाने लगा जो मित्रों की ओर से लड़ना चाहते थे। उसकी पूरी शक्ति के संगठित रूप से लड़ाई में पूरी मदद पहुंचाने में समय अपेक्षित था और 1942 के आरम्भिक महीनों तक वह समय नहीं पहुंचा था।

जर्मनी के खिलाफ यह शिकायत की जाती थी कि जो देश उसका साथ देने को तैयार नहीं होते उन पर धावा बोलकर वह कब्जा कर लेता। पर इस दोष से अंगरेज और मित्र-देश भी बरी नहीं थे। उनको डर था कि जर्मन और जापानी सेनाओं का संगम हिन्दुस्तान में किसी समय हो सकता है। उसी को रोकने के लिए अंगरेज एक ओर बरमा की सीमा पर लड़ना चाहते थे और दूसरी ओर, इजिप्ट के पास दूसरा मोरचा बनाना चाहते थे। एक और भी मोरचा अरब और ईरान में बनाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अरब और ईरान पर कब्जा कर लिया। ईरान के बादशाह रजाशाह पहलवी को, जिसने 1914-18 के युद्धोत्तर काल में ईरान को शक्तिशाली बनाने का पूरा प्रयत्न किया था और जो वहां के लोगों की उन्नति करने में बहुत-कुछ सफल भी हुआ था, तख्त से उतारकर निर्वासित कर दिया। फिर क्या, रूसी और अंगरेजी तथा अमेरिकन सेनाओं का एक बहुत बड़ा अड्डा उस देश में बन गया। विपत्ति-काल में दुश्मन भी दोस्त बन जाते हैं! मि. चर्चिल ने रूस के साथ, जिसका विरोध उन्होंने अपने सारे जीवन में किया था और जिसको न मालूम कितनी गालियां दी थीं, दोस्ती कर ली। ऐसा मालूम हुआ कि सारी पिछली बातें दोनों भूल गये!

ऐसी स्थिति में इंग्लैंड ने यह सोचा कि हिन्दुस्तान के साथ कुछ तय कर लेना चाहिए। सर स्टैफोर्ड क्रिप्स, जो इंग्लैंड के राजदूत बनाकर उस समय रूस में भेजे गये थे जब रूस और जर्मनी के बीच मित्रता थी तथा जिन्होंने रूस को बहुत-कुछ जर्मनी के विरुद्ध उभाड़ने में मदद की थी, लड़ाई ठन जाने पर इंग्लैंड वापस आ गये। तब वहां की युद्ध-परिषद के वह प्रमुख सदस्य बन गये। अपने प्रगतिशील विचारों के कारण वह लेबर पार्टी (मजदूर दल) से भी अलग कर दिये गये थे। पर इस कठिन समय में, अपनी योग्यता के कारण, और विशेषकर रूस में जो कीर्ति कमा चुके थे उसके कारण, वह बहुत ही लोकप्रिय हो गये। उन्होंने ब्रिटिश कैबिनेट को इस बात के लिए तैयार किया कि भारत के साथ कुछ समझौता कर लेना चाहिए। कैबिनेट ने, जिसमें लेबर दल और लिबरल दल के लोग भी शरीक थे, एक योजना तैयार की। उसे लेकर सर क्रिप्स हिन्दुस्तान आये! यह योजना पहले प्रकट नहीं की गयी। बहुत ही धूमधाम के साथ यह कहते हुए कि भारतवर्ष के लिए यह अत्यंत महत्वपूर्ण योजना है—इसे भारतवर्ष द्वारा मंजूर करा लेने का बीड़ा उठाकर वह 1942 के मार्च में हिन्दुस्तान पहुंचे! पहुंचते ही कांग्रेस प्रेसिडेंट मौलाना आजाद और गांधीजी तथा दूसरे नेताओं से मुलाकात शुरू कर दी। कुछ दिनों के बाद योजना प्रकाशित भी कर दी गयी। वर्किंग कमिटी की बैठक दिल्ली में हुई। हम सभी वहां प्रायः दो-तीन सप्ताह इस पर विचार करते रहे। आरम्भ में कुछ समय तक गांधीजी भी दिल्ली में रहे। पर कस्तूरबा गांधी की अस्वस्थता के कारण वह सेवाग्राम चले गये। कांग्रेस की ओर से बातचीत मौलाना आजाद और पंडित जवाहरलाल नेहरू करते रहे। वर्किंग कमिटी के सभी सदस्य देहली में ठहरे थे। जो बातें होतीं उन पर विचार करने के लिए बराबर कमिटी की बैठकें होती रहीं।

क्रिप्स-योजना दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती है। उसके पहले भाग में हिन्दुस्तान का भावी विधान बनाने का तरीका बतलाया गया है। दूसरे में यह बतलाया गया है कि तत्काल भारत सरकार का काम चलाने के लिए वायसराय की वर्तमान कौंसिल में क्या परिवर्तन होगा। इसमें भविष्य के संबंध में यह साफ-साफ कह दिया गया था कि लड़ाई के बाद हिन्दुस्तान को वही स्थान मिलेगा जो दूसरे उपनिवेशों को है और यदि वह चाहे तो साम्राज्य से अलग हो जाने का भी उसे अधिकार होगा—विधान बनाने के लिए परिषद बनेगी जिसे प्रांतीय धारा-सभाएं चुनेंगी—प्रत्येक प्रांत को अधिकार होगा कि वह यदि चाहे तो भारतीय संघ (यूनियन) से अपने को अलग कर ले, और यदि किसी प्रांत ने ऐसा किया तो ब्रिटिश सरकार का उसके साथ वहीं संबंध रहेगा जो बाकी भारत अथवा भारतीय यूनियन के साथ होगा। इस प्रकार इस योजना ने मुस्लिम लीग की मांग मान ली और पाकिस्तान की स्थापना को सूबों पर छोड़ रखा। तत्काल के संबंध में इस योजना में यह नहीं कहा गया था कि वायसराय की कौंसिल को क्या अधिकार दिया जायेगा। उसमें केवल इतना ही था कि उसे सेना संबंधी और युद्ध संबंधी कोई अधिकार नहीं होगा जिसका अर्थ लोगों ने आम तौर

से यही लगाया कि अन्य विभागों और महकमों में कौंसिल को अधिकार मिलेगा। पूछने पर क्रिप्स महोदय ने कुछ ऐसा ही कह भी दिया।

गांधीजी को इस योजना से संतोष नहीं हुआ। उन्होंने मुलाकात में सर क्रिप्स से ऐसा ही कह भी दिया। वर्किंग कमिटी के विचार में भी यह योजना मान्य नहीं जंची; पर उसने उस पर बहुत समय देकर विचार किया। भविष्य के संबंध में यद्यपि एक प्रकार से पाकिस्तान की बात को योजना मान लेती थी और उसे वर्किंग कमिटी मानना नहीं चाहती थी, तथापि वर्किंग कमिटी यह समझती थी और उसने अपने निश्चय में कहा भी कि यह बात यदि साबित हो जाये कि किसी सूबे के लोग अलग होना चाहते हैं तो उसे वह जबरदस्ती अपने साथ रखना भी आत्मनिर्णय के सिद्धांत के विरुद्ध समझती है। उसका विशेष ध्यान तो तात्कालिक काम के लिए प्रस्तावित कौंसिल पर था; क्योंकि वह मानती थी कि लड़ाई के जमाने में सारा बोझ उस पर पड़ेगा और उसमें यदि कुछ अधिकार भारतीयों को नहीं मिलता है तो इस बोझ को भारत के हित की दृष्टि से भारतीय लोगों के लिए उठाना केवल अनुचित ही नहीं, बल्कि असम्भव अथवा कम-से-कम कठिन तो अवश्य होगा। इसलिए उसने उस बात को पूरी तरह साफ कर लेना चाहा कि सेना और युद्ध से संबंध रखने वाला कोई भी अधिकार कौंसिल को होगा या नहीं अथवा सब कुछ वायसराय और जंगी लाट के हाथों में ही रहेगा। बातचीत के बाद उन्होंने कुछ थोड़ा-सा नाम-निहादी अधिकार कौंसिल के हिन्दुस्तानी मेम्बर के हाथ में देना भी स्वीकार किया; पर जब पूछा गया कि वह अधिकार कौन-सा और कितना होगा, तो मालूम हुआ कि वह बिलकुल नाम-मात्र होगा जिसमें कुछ भी अधिकार वस्तुतः हस्तांतरित नहीं होगा।

कमिटी को जब यह बात साफ-साफ मालूम हो गयी तो उसने यह निश्चय किया कि वह योजना को मंजूर नहीं करेगी। पर अभी तक उसकी यही धारणा थी कि फौज और लड़ाई छोड़कर दूसरे विषयों में कौंसिल को पूरा अधिकार होगा तथा वायसराय उसकी राय के मुताबिक ही काम किया करेगा। साथ ही, यह भी जाहिर था कि लड़ाई के दिनों में दूसरे विभागों में कुछ विशेष काम तो होगा नहीं, और लड़ाई ऐसी चीज है जिसके चलाने में गवर्नमेंट की सारी शक्ति लगानी पड़ेगी, दूसरे विभागों को भी उसी काम में लग जाना पड़ेगा; इस तरह वह भी एक प्रकार से सेना और लड़ाई के विभाग के ही अधीन हो जायेंगे, इसलिए उनमें अधिकार मिलने का भी कोई महत्व नहीं रह जायेगा। कमिटी के यह निश्चय कर लेने के पहले ही जब यह सब बातें कही गयी थीं तो सर क्रिप्स ने कहा था कि कमिटी अपने निश्चय को स्थगित रखे और वह कैबिनेट के पास इस संबंध में लिखा-पढ़ी करेंगे। इसी लिखा-पढ़ी का यह नतीजा था कि सेना संबंधी नाम-निहादी अधिकार देने की बात हुई थी। जब इस पर भी विचार करने के बाद कमिटी इसी नतीजे पर पहुंची कि कुछ भी वास्तविक अधिकार नहीं मिलता तो उसके सामने योजना को नामंजूर करने के सिवा दूसरा

रास्ता नहीं रह गया। उसने यह निश्चय कर भी लिया। ठीक इसी अवसर पर प्रेसिडेंट रूसवेल्ट के विशेष दूत कर्नल जौन्सन दिल्ली पहुंचे। पंडित जवाहरलाल नेहरू से उनकी मुलाकात हुई। उन्होंने कहा कि कुछ समय दीजिए, मैं भी कोशिश करके देखूं कि कुछ हो सकता है या नहीं। उनकी कोशिश का नतीजा यह हुआ कि जो बात सर क्रिप्स ने सेना के संबंध में लिखा-पढ़ी के बाद कही थी, उसके रूप में परिवर्तन हुआ। कैबिनेट का प्रस्ताव था कि सेना संबंधी कुछ बातों को छोड़कर और सभी बातें जंगी लाट के अधीन होंगी। अब यह प्रस्ताव आया कि निम्नलिखित बातें जंगी लाट के अधीन होंगीं और बाकी सब बातें मेम्बर के अधीन।

देखने में बात अच्छी लगी; पर प्रश्न यह था कि निम्नलिखित बातों में कौन-कौन-सी बातें होंगी ? पूछने पर कुछ विभागों के नाम बता दिये गये। कर्नल जौन्सन भी इस बात को नहीं जानते थे कि विभागों के नाम जो दिये गये थे उनके बाहर कौन बातें रह गयी थीं जो मेम्बर के अधिकार में आवेंगी। अंत में, बहुत पूछ-ताछ के बाद, मालूम हुआ कि केवल वहीं बातें होंगी जो कैबिनेट के प्रस्ताव में पहले कही गयी थीं, उनसे कुछ भी ज्यादा नहीं ! इससे स्पष्ट हो गया कि यह शब्दाडम्बर मात्र था, कोई वास्तविक अंतर नहीं था। यह हम लोगों को बुरा मालूम हुआ। इस पर भी हम सोचने लगे कि सेना-विषयक और युद्ध संबंधी अधिकार यदि नहीं मिलते हैं तो न सही, पर यदि दूसरे विभागों पर अधिकार मिलते हैं तो उस पर ही संतोष किया जा सकता है। परंतु यह जान लेना चाहिए कि वह भी कहां तक वास्तविक रूप में मिलता है ? पूछने पर सर क्रिप्स ने कहा कि इस संबंध में वायसराय से ही बात करनी होगी; क्योंकि यह बात उनकी कौंसिल से संबंध रखती है और जब कानून नहीं बदलता है तो प्रचलित विधान के अनुसार उनके जो अधिकार हैं उनके संबंध में वही कुछ कह सकते हैं। जब यह कहा गया कि कैबिनेट उनको आदेश दे कि वह अपने अधिकारों को काम में न लावें और उन विषयों में कौंसिल की राय के अनुसार ही काम किया करें, तो उत्तर मिला कि कैबिनेट इस प्रकार का आदेश नहीं दे सकता है। हम लोगों को यह पूरा-पूरा मालूम था कि कौंसिल के मेम्बरों की कोई हैसियत वायसराय नहीं मानते थे। वह मानते और कहा भी करते थे कि मेम्बरों को कोई अधिकार नहीं है, अंत में सारा अधिकार वायसराय को ही है और उसे वह छोड़ना नहीं चाहते हैं !

जब यह जाहिर हो गया कि उन विभागों में भी अधिकार नहीं मिलता और जो बातें सर क्रिप्स ने पहले कही थीं कि कैबिनेट की तरह कौंसिल भी अधिकार रखेगी और काम करेगी, वह केवल वागाडम्बर था, उसमें कुछ भी तथ्य नहीं था, तो वर्किंग कमिटी उसे नामंजूर करने के सिवा दूसरा कुछ कर नहीं सकी; वैसा ही प्रस्ताव पास करके भेज दिया गया। सर क्रिप्स ने भी उसी दिन घोषणा कर दी कि वह वापस जा रहे हैं और जो बात कैबिनेट की ओर से हिन्दुस्तान के सामने पेश की गयी थी वह वापस ली जाती है। मुस्लिम लीग कांग्रेस के

फैसले का इंतजार कर रही थी और जैसे ही हमारा फैसला हो गया उसने भी योजना को नामंजूर किया; पर कारण यह बतलाया कि उसमें पाकिस्तान नहीं दिया गया है, केवल उसकी सम्भावना है और वह इतने ही मात्र से संतुष्ट नहीं है।

इस तरह, कांग्रेस और लीग, दोनों ही ने योजना को नामंजूर किया। कांग्रेस वर्किंग कमिटी मानती थी कि पाकिस्तान की सम्भावना बताना भी ठीक नहीं था—यदि कोई प्रांत सचमुच अलग होने की इच्छा रखता है और इसका पूरा सबूत मिल जाये तो उसे जबरदस्ती साथ रखना आत्म-निर्णय के सिद्धांत के विरुद्ध होगा, तो भी उसने योजना को इस कारण से नामंजूर नहीं किया था। उसकी नामंजूरी का कारण यह था कि तत्काल कुछ अधिकार नहीं मिल रहे थे, यद्यपि कौंसिल पर लड़ाई में मदद करने का भार पूरा-पूरा आ जाता था, जिसका अर्थ मात्र इतना था कि चंदा और 'कर' उगाहने तथा रंगरूट भर्ती करने और कराने के अलावा उसको कोई दूसरा अधिकार नहीं मिलता! लीग की नामंजूरी का कारण तत्काल मिलने वाले अधिकार से संबंध नहीं रखता था। वह कारण तो केवल लीगी मुसलमानों की राय के अनुसार तुरंत पाकिस्तान कायम न करना मात्र था।

वर्किंग कमिटी के अंदर श्री राजगोपालाचारी का विचार था कि क्रिप्स-योजना को मान लेना चाहिए। उन्होंने ही इस बात पर जोर दिया था कि उसके द्वारा वायसराय की कौंसिल के सदस्यों को फौज और लड़ाई छोड़कर अन्य सब विभागों पर पूरा अधिकार मिल जाता है। पर जब अंत में यह साफ हो गया कि उस विषय में भी कुछ अंतर होने वाला नहीं है और वायसराय अपनी मनमानी करने के अधिकार में किसी प्रकार की कमी आने देना नहीं चाहते हैं, तो उनका मुंह भी बंद हो गया। वर्किंग कमिटी के इस निश्चय के संबंध में कांग्रेस के अंदर भी कुछ लोगों को बहुत गलतफहमी रही, जैसा पीछे जाकर मालूम हुआ। पर हमारे दिल में कभी कोई संदेह नहीं रहा। सर क्रिप्स ने भी कुछ ऐसी बातें कहीं जो निराधार थीं। उन्होंने अपने एक बयान में यह कह दिया कि इसकी नामंजूरी हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के कारण हुई, कांग्रेस और मुस्लिम लीग एक राय न हो सकीं तो दोनों ने इसे नामंजूर कर दिया! उनके बयान का आशय था कि इस नामंजूरी का दोष कांग्रेस पर ही है। बात यह थी कि वर्किंग कमिटी के सामने इस विषय में हिन्दू-मुस्लिम झगड़े या मतभेद की बात उस रूप में आयी ही नहीं जिस रूप में लोगों ने बताया। पाकिस्तान संबंधी घोषणा के संबंध में वर्किंग कमिटी का योजना से मतभेद जरूर था; पर उसने उस कारण से उसे नामंजूर नहीं किया था। उसकी नामंजूरी का कारण, जैसा पहले भी संक्षेप में कहा गया है, बस एक ही था और वह यह कि इसके द्वारा हिन्दुस्तानी कौंसिलरों के हाथों में कोई अधिकार नहीं मिलता था, इसलिए इस युद्ध-काल में यह जवाबदेही लेकर वे देश का हित नहीं कर सकेंगे और लड़ाई की मदद करने की जिम्मेदारी उनके सिर पर आ जायेगी। यह भी गलत है कि उसमें हिन्दू और मुसलमानों की संख्या कितनी होगी—इस बात पर मतभेद हुआ, जैसा कुछ विरोधियों के बयान से

मालूम होता था। पर कौंसिल में कितने मेम्बर होंगे, उनमें कितने हिन्दू और कितने मुसलमान होंगे, कितने कांग्रेसी और कितने लीगी रहेंगे—यह सवाल एक बार भी हमारे सामने नहीं आया। इसका मौका भी नहीं था; क्योंकि यह सवाल तो तब उठता जब हम निश्चय कर लेते कि कौंसिल में हमें जाना चाहिए। हमने जब वहां जाने से ही इंकार कर दिया तब हमारी संख्या उसमें कितनी होगी, यह प्रश्न कैसे उठ सकता था और कभी उठा भी नहीं था। पर हमारे विरुद्ध इस प्रकार का प्रचार बहुत किया गया।

145

क्रिप्स-योजना की नामंजूरी के बाद

क्रिप्स-योजना की नामंजूरी वर्किंग कमिटी ने की थी। अब उस पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कमिटी का जलसा होना आवश्यक हो गया। वह इलाहाबाद में थोड़े ही दिनों के बाद हुआ। यह बात अब स्पष्ट दीखने लगी कि मामला नामंजूरी तक ही नहीं रहेगा, कांग्रेस को अपनी नीति बताने के लिए कुछ और भी करना पड़ेगा। जापान तेजी से आगे बढ़ता आ रहा था। अंगरेजी फौज उसका मुकाबला नहीं कर सकती थी। हिन्दुस्तान में उस मुकाबले के लिए पूरी तैयारी भी नहीं थी। खूब तेजी के साथ अंगरेजी और अमेरिकन फौजें यहां लायी जा रही थीं। अस्त्र-शस्त्र भी लाये जा रहे थे। पर अभी ऐसा नहीं मालूम होता था कि मुकाबला कामयाब हो सकेगा। देश के सामने प्रश्न यह था कि जापान यदि आ गया तो क्या हिन्दुस्तान उसके सामने सिर नवाकर उसका स्वागत करेगा अथवा उसका मुकाबला करेगा ? अंगरेजी गवर्नमेंट, जिसने हिन्दुस्तान की रक्षा का भार अपने ऊपर ले रखा था, असमर्थ मालूम पड़ती थी। पर इस असमर्थता के बावजूद वह हमारे साथ कुछ समझौता करके हमको इसका मौका नहीं देना चाहती थी कि हम भी अपने देश की रक्षा में हाथ बंटा सकें। गांधीजी की, अहिंसात्मक रूप से मुकाबला करने की, नीति को वर्किंग कमिटी ने एक तरह से छोड़ दिया था। वह शस्त्र के साथ, अंगरेजी फौज के कंधे से कंधा मिलाकर जापान का मुकाबला करने की अपनी तैयारी घोषित कर चुकी थी और करना भी चाहती थी। पर वह ऐसा तभी कर सकती थी जब वह भी ब्रिटिशों की बराबरी में अधिकारपूर्वक काम करे। ब्रिटिश यह पसंद नहीं करते थे! वे चाहते थे कि हिन्दुस्तान जो कुछ मदद दे सकता है दे, पर उसे वे अपनी गुलामी से बरी करना नहीं चाहते थे। मिस्टर चर्चिल ने ऐसा बार-बार कहा भी था कि ब्रिटेन किसी नये देश को अपने कब्जे में करने की लालच नहीं करता, पर साथ-ही-साथ जो उसका है उसे छोड़ना भी नहीं चाहता। यह स्पष्ट था कि भारत तो उसका था ही और उसे इस विपत्ति-काल में भी वह छोड़ना नहीं चाहता था। कठिन घड़ी में उन्होंने फ्रांस से कहा था कि ब्रिटिश साम्राज्य और फ्रेंच साम्राज्य दोनों मिला दिये जायें—वही ब्रिटिश साम्राज्य जिसको कितनी लड़ाइयों और कितनी खूंरेजियों के बाद ब्रिटेन ने फ्रांस से

जीता था ! पर भारतीयों का अपने मुकाबले में बैठना नहीं सह सकता था—उनको अपने देश में अधिकारपूर्वक जापानियों के साथ मुकाबला करने का मौका देने के लिए वह तैयार नहीं था !

ऐसी अवस्था में हमारे सामने प्रश्न यह था कि हम अपनी रक्षा किस प्रकार करें ? लोगों में उत्साह यदि न रहा तो जापानी आसानी से कब्जा कर लेंगे। हो सकता है कि कुछ लोग ऐसे हों जो यह समझते हों कि इंग्लैंड अगर किसी तरह हटा और जापानी आकर बैठ भी जायें, तो विशेष चिंता की बात न होगी, उनके साथ हम पीछे निपट लेंगे। हो सकता है कि कुछ लोग जापान से मदद लेकर अंगरेजों को हटाने में कोई हानि न देखते हों। पर वर्किंग कमिटी के अंदर अथवा प्रमुख कांग्रेसी लोगों में कोई भी ऐसा न था जो जापान को मदद देकर अथवा तटस्थ रहकर ब्रिटिश गवर्नमेंट को इस देश से बाहर करना चाहता हो। इसका कारण यह नहीं था कि वे ब्रिटिश को जापान से बेहतर समझते थे। हम जापान को ब्रिटेन से कदापि बेहतर नहीं समझते थे। उसका जो बर्ताव चीन के साथ हुआ था, वह जिस तरह चीन को दबाकर उसके बहुत बड़े भूभाग को अपनी मुट्ठी में किये हुए था, उसका एक ही अर्थ हो सकता था और वह यह था कि वह भी ब्रिटेन की तरह अपना साम्राज्य विस्तृत और स्थिर करना चाहता था। एक साम्राज्य से निकलकर दूसरे साम्राज्य के कब्जे में जाने में कोई बुद्धिमानी नहीं थी। वह तो चढ़ी कड़ाही से उछलकर आग में कूद पड़ने के समान ही था। इसलिए हमारा निश्चय था कि हमको जापान का मुकाबला करना ही होगा। अपने सिद्धांत छोड़ने पर भी ब्रिटिश गवर्नमेंट कांग्रेस को सशस्त्र और साधिकार मुकाबले का मौका देना नहीं चाहती थी। हमारे लिए अपने तरीके से मुकाबला करने के सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं था। उस मुकाबले की तैयारी का, जनता में शत्रु के मुकाबले के लिए उत्साह बढ़ाने के सिवा, दूसरा कोई तरीका न था। क्या वह देश नवागंतुक जापानियों के मुकाबले के लिए तैयार किया जा सकता था जो स्थापित ब्रिटिश साम्राज्य का मुकाबला करने में असमर्थ था अथवा मुकाबला नहीं करना चाहता था ? हम समझते थे कि ऐसी स्थिति में, मुकाबले के लिए भारतीयों के हृदय में स्वतंत्रता की आग धधकाने के अतिरिक्त, दूसरा कोई उपाय नहीं हो सकता।

किंतु इसका नतीजा ब्रिटिश और जापान दोनों के विरुद्ध पड़ता था। फिर भी इसका दोष हमारे सिर पर नहीं था, वह था ब्रिटिश के सिर पर। उन्होंने हमें स्वतंत्रता देने से—वह सीमित स्वंत्रता भी जिस पर हम तत्काल के लिए राजी थे—इंकार कर दिया। ब्रिटिश में और जापानी में हमारी नजरों के अंदर क्या अंतर रह जाता था ? एक ने हमारी स्वतंत्रता छीन रखी थी, और इस विपत्ति-काल में जापान से मुकाबला करने के लिए भी उसे हमें देने पर राजी नहीं था; दूसरा हमारी स्वतंत्रता छीनकर अपना साम्राज्य कायम करना चाहता था ! हमारी आंखों में दोनों एक-से ही थे। कहने के लिए तो अंगरेज कहते थे, लड़ाई में हमारी मदद करो

लड़ाई के बाद औपनिवेशिक स्वतंत्रता तुमको मिलेगी; और जापानी भी कहते थे, हमारी मदद करो, हम तुमको स्वतंत्र बना देंगे ! किसकी बात हम मानते ? इसलिए हमने निश्चय किया कि दोनों में किसी की बात पर हम विश्वास नहीं कर सकते, हमको अपनी स्वतंत्रता लेने के लिए खुद तैयार हो जाना चाहिए—चाहे अंगरेज इसे बुरा क्यों न मानें।

गांधीजी ने इन विचारों से प्रभावित होकर जोरदार लेख लिखना आरम्भ कर दिया। इलाहाबाद में होने वाली आल इंडिया कांग्रेस कमिटी के लिए एक प्रस्ताव का मसविदा तैयार करके उन्होंने श्री मीरा बहन के हाथ वहां भेजा। वर्किंग कमिटी में इस पर बहुत वाद-विवाद हुआ। ऐसा मालूम हुआ कि वहां दो मत हैं—एक तो गांधीजी के मसविदे के पक्ष में और दूसरा वह जो उतनी दूर नहीं जाना चाहता था, उसे मंजूर नहीं करता था। उसमें संशोधन करने का बहुत प्रयास किया गया, पर वह सफल न हुआ। अंत में, एक्य कायम रखने के लिए, हमने अपना विरोध हटा लिया और जो कुछ भी औरों ने मुनासिब समझा उसे ही मंजूर कर लिया। यह बात वर्किंग कमिटी में हुई। देश का रुख अधिक गांधीजी के साथ था। यदि वही मसविदा आल इंडिया कमिटी में पेश कर दिया गया होता तो शायद वह मंजूर तो हो जाता, पर आपस का मतभेद भी खूब प्रदर्शित कर देता। अगर अपनी ओर से कुछ करना ही था तो वह इस तरह आपस की फूट को घोषित करके नहीं किया जा सकता था। इसलिए इस मतभेद को दबा देना ही उचित जान पड़ा और गांधीजी का प्रस्ताव किसी रूप में पेश न हुआ। हां, जो प्रस्ताव हुआ उसमें भी गांधीजी के भावों का काफी समावेश था। जब गांधीजी ने उसे देखा तो उन्होंने कहा कि यद्यपि वह उसे पूरा पसंद नहीं करते थे तो भी उसमें उनके लिए काम करने का काफी मौका था, इसलिए वह उसे एक प्रकार से मंजूर करते हैं।

146

युद्ध-युग में देश की स्थिति और बिहार का दौरा

मैं प्रयाग से सीधे वर्धा चला गया। मुझे ऐसा मालूम होता था कि अब ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ मुठभेड़ हुए बिना न रहेगा। गांधीजी जबरदस्त लेख लिख ही रहे थे। देश में बड़ी अशांति थी। हम लोगों के दिल में भी जलन थी। मैंने सोच लिया था कि एक बार सारे सूबे का दौरा करना उचित है। एक तो लोगों को गांधीजी की बातें बता देना आवश्यक था और आने वाले विकट समय के लिए लोगों को तैयार करना था। दूसरे, जापान के आगे बढ़ते जाने के कारण लोगों में जो आतंक फैलता जाता था उसका प्रतिरोध करना था और जनता को यह भी बताना था कि यदि वह कहीं हिन्दुस्तान की भूमि पर पहुंच गया तो हमारा क्या कर्तव्य होगा।

इन दिनों गवर्नमेंट की ओर से भी काफी धांधली मच रही थी। समुद्र के किनारे के गांवों में, जहां यह भय था कि जापानी सेना उतर सकती है, जो थोड़ी-बहुत फौजी तैयारी हो रही थी उसके अलावा यह नीति भी बरती जा रही थी कि जापानी सेना अगर पहुंच ही गयी तो ऐसा कर दिया जाये कि उसे कोई चीज हाथ न लगने पावे। इसलिए नावों की जब्ती हो रही थी। कहीं-कहीं उन्हें बर्बाद कर देने का काम भी जारी था। विशेषकर बंगाल में, जहां नावों द्वारा ही सब काम हुआ करते है, इसका असर बहुत बुरा पड़ रहा था। लोगों का आना-जाना, या सामान को ढोकर एक जगह से दूसरी जगह ले जाना, यहां तक कि छोटे-छोटे बाजारों में मामूली खरीद-फरोख्त का काम भी, एक प्रकार से सब रुक गया था। जो धान या चावल गांवों में था उसे भी सरकार अपने कब्जे में कर रही थी ताकि वह दुश्मन के हाथ न लगने पावे। जिसे अंगरेजी में Scorched earth policy—अर्थात दुश्मन के हाथ में कोई चीज न पड़ने देने के लिए सभी चीजों को भस्मीभूत कर देने की नीति—कहते हैं उसकी पूरी तैयारी की जा रही थी। बिहार में छोटानागपुर से लेकर सोन नदी तक एक बड़े मोरचे की तैयारी हो रही थी। इसके लिए बहुत जगहों पर हवाई अड्डे और हवाई जहाज के उतरने के लिए रास्ते बनाये जा रहे थे। हजारों बीघे जमीन जहां-तहां सरकार ले रही थी। उस पर बसी हुई प्रजा और उसे जोतने वाले किसान परीशान थे। कहा जाता था कि जमीन और मकान

वगैरह जो उनको खाली करने पड़ते थे उसके लिए उन्हें मुआवजा मिलेगा; पर अभी तक कहीं किसी को कुछ मिल नहीं रहा था। सब काम बहुत तेजी से चलाया जा रहा था। उत्तरी बिहार और छोटानागपुर में बहुत बड़ी अंगरेजी और अमेरिकन सेना जुट रही थी। मालूम नहीं, कितने लाख लोग आ चुके थे—कितने और आने वाले थे। आसाम की सीमा पर लड़ाई पहुंच जाने के कारण उधर सेना के काम में ही रेलगाड़ियों के अधिक लग जाने से जन-साधारण का कहीं रेल पर आना-जाना कठिन हो गया था। विशेषकर बी. एन. डब्लू. रेलवे (अब ओ.टी.रेलवे) में, जो उत्तर बिहार (तिरहुत) होकर अवध में जाती है, बड़ी तकलीफ थी। उसमें फौजी गाड़ियां बहुत चलती थीं। उनमें कई तो घायलों को आसाम के मोर्चे से लाद-लादकर उत्तर भारत के किसी स्थान पर ले जाया करतीं। बहुतेरे लोग पूरब की तरफ से बिहार, संयुक्तप्रांत तथा इनसे भी और पच्छिम की ओर भागे जा रहे थे। इन सब चीजों को देखकर लोगों में और भी घबराहट फैल रही थी। स्थान-स्थान पर भागते हुए लोगों के ठहरने के लिए अड्डे बनाये जा रहे थे, नयी सड़कें निकाली जा रही थीं और स्थान-स्थान पर उनके लिए अन्न-पानी वगैरह जमा रखने का प्रयत्न हो रहा था। इसमें दूरदर्शिता तो अवश्य थी, पर साथ ही जनता कुछ ऐसा समझने लगी कि लड़ाई न करके यह सब तैयारियां भागने के लिए ही हो रही हैं! जन-साधारण क्या जाने कि आज का मोर्चा कितना फैला हुआ होता है और उसमें कितने प्रकार की लड़ाइयां हुआ करती हैं।

सबका नतीजा यह था कि सारे देश में भारी खलबली थी। मैंने पहले ही निश्चय कर लिया था और वह निश्चय वर्धा में और भी दृढ़ हो गया कि मुझे सारे प्रांत का दौरा करना चाहिए। अब मेरा स्वास्थ्य ऐसा नहीं था कि मैं जैसे पहले सूबे के छोटे-छोटे स्थानों में भी जाया करता था वैसे अब भी जा सकूं और तूफानी दौरे में एक दिन में सात-सात, आठ-आठ सभाओं में भाषण करूं। इसलिए मैंने निश्चय किया कि हर जिले के एक या दो मुख्य स्थानों में ही जाऊंगा, वहां सार्वजनिक सभा के अलावा कांग्रेस कार्यकर्ताओं की विशेष सभा की जायेगी। अन्न और वस्त्र का संकट भी बढ़ रहा था। इस संबंध में भी व्यापारियों तथा जन-साधारण से राय-बात करके जानकारी हासिल करना आवश्यक था। इसलिए यह भी सोचा गया कि ऐसे लोगों के साथ अलग मुलाकात की जाये। ऐसा ही कार्यक्रम बनाकर मैंने सारे सूबे का दौरा अप्रैल के अंतिम सप्ताह में आरम्भ कर दिया और जून के अंतिम सप्ताह तक समाप्त किया।

यह बात प्रकट हो गयी थी कि गांधीजी ने वर्किंग कमिटी के लिए कोई प्रस्ताव प्रयाग में भेजा था। पुलिस इसकी ताक में थी कि उसकी नकल किसी तरह उसे मिल जाये, पर उस समय शायद उसे नहीं मिली। कुछ दिनों के बाद एक दिन अचानक 'स्वराज्य भवन' की तलाशी हुई। वहां से पुलिस न केवल मसविदा की नकल ले गयी, बल्कि उसके साथ वर्किंग कमिटी में हुई बहस का वह संक्षिप्त नोट भी ले गयी जो आफिस के काम के लिए रखा गया

था। इस मसविदा और नोट का, गवर्नमेंट ने अपनी उस पुस्तिका में, जिसे अगस्त के क्रांतिकारी आन्दोलन पर मंत्री रिचर्ड टोटनहम ने लिखा था, खूब इस्तेमाल किया। मुझे कुछ संदेह होता है कि पुलिस को मसविदा का पता लगने देने का कारण कुछ हद तक मैं हूं। मैंने ऊपर बताया है कि गांधीजी के मसविदा में कुछ संशोधन करने का प्रयत्न मैंने किया था। मेरी प्रति, जिस पर यह संशोधन मैंने किया था, आफिस में रह गयी। मैं प्रयाग से सीधे वर्धा गया। रवाना होने के समय इस प्रति को साथ लेना भूल गया। स्टेशन पर अथवा रास्ते में यह बात याद आयी। मैंने आफिस के लोगों से कह दिया या लिख दिया कि उसे वे तुरंत वर्धा भेज दें; क्योंकि मैं समझता था कि गांधीजी शायद उसे देखना चाहें। आफिस से वह प्रति उसी दिन डाक से भेज दी गयी। अगर रास्ते में पुलिस उसे रोक न लेती तो मेरे वर्धा पहुंचने के बाद दूसरे ही दिन वह पहुंच जाती। पर वह मुझे मिली नहीं। मैंने मान लिया कि आफिस वालों ने उसे भेजा ही न होगा। पीछे जब आफिस की तलाशी हुई तब मैंने दरियाफ्त किया। मालूम हुआ कि उन्होंने उसे उसी दिन डाक से मेरे पास वर्धा भेज दिया था। शायद, इसी प्रति को देखकर पुलिस ने निश्चय किया होगा कि तलाशी लेने से कुछ मसाला मिल जायेगा।

जो हो, वर्धा से बिहार लौटकर मैंने दौरा शुरू किया। इस बात में किसी तरह का संदेह मेरे दिल में नहीं रह गया था कि ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ हमारा टंटा होगा ही। मैंने खुलकर साफ-साफ अपने सभी भाषणों में यह बात कही। अभी तक हमारे पास कोई कार्यक्रम नहीं था। इसलिए मैं कार्यक्रम नहीं बता सकता था और न ही बतलाया। पर इतना अवश्य कहा कि यह भद्र अवज्ञा का ही रूप धारण करेगा। साथ ही, बिलकुल अहिंसात्मक होगा। और यह भी कहा कि पहले के आन्दोलनों से यह कहीं अधिक उग्र होगा। उन दिनों जापान की ओर से रेडियो द्वारा इस बात का जोरों से प्रचार किया जा रहा था कि जापान भारत को आजाद करने का प्रयत्न कर रहा है और वह हर तरह से भारत की मदद करेगा। इस बात पर भी मैंने अपने सभी भाषणों में कहा कि जापान की बात का विश्वास नहीं करना चाहिए—विशेषकर जब हम देखते हैं कि उसने अपने पड़ोसी चीन का गला दबा रखा है और अधिकाधिक प्रचंड होता जा रहा है—हमको ब्रिटिश और जापान दोनों के चंगुलों से भारत को आजाद करना है, उसे एक से बचाकर दूसरे के कब्जे में जाने देना हम हरगिज पसंद नहीं कर सकते; इसलिए हमारा संग्राम दोनों के साथ होगा और वह अहिंसात्मक ही होगा। मेरे भाषण जोरदार और उग्र हुआ करते थे। मैं भी समझता था और लोग भी मुझसे कहा करते थे कि पहले मेरे भाषण बहुत ठंडे हुआ करते थे, पर इस बार तो मैं आग उगला करता हूं।

1930 के सत्याग्रह के आरम्भ के पहले एक बार पटने के युवकों में कुछ गर्मी आयी। वे कोई छोटी-सी बात लेकर, जिसका मुझे आज स्मरण नहीं है, सत्याग्रह की बात करने लगे। सार्वजनिक सभा में गर्मागर्म भाषण हो रहे थे। कई वक्ताओं के बाद मुझे कुछ कहने का

मौका मिला। जब मैं उठा तो एक युवक साथी ने आहिस्ता से कहा कि अब लोगों के उत्साह पर मैं भीगा हुआ कम्बल डाल दूंगा। मैंने यह सुन लिया और इसी को लेकर लोगों को बतलाया कि मेरे भीगा कम्बल डालने के बाद भी अगर गर्मी ज्यों की त्यों बनी रही, तो मैं समझूंगा कि वह स्वस्थ एवं शक्तिशाली आदमी की गर्मी है और जो उत्साह प्रदर्शित किया जा रहा है वह सच्चा उत्साह है, नहीं तो मैं उस गर्मी को त्रिदोष से पीड़ित मनुष्य का ज्वर समझूंगा और उस प्रदर्शन को उसका प्रलाप मात्र।

इस बार मेरे भाषणों में वह भीगा कम्बल कहीं किसी तरह देखने में नहीं आया। उसके विपरीत उनमें काफी उत्साहवर्धक और उन्मादोत्पादक मसाला रहा करता था। साथ ही, मैं रचनात्मक काम भी करता जाता था। व्यापारियों और जनता से अन्न-वस्त्र के संकट से बचने और बचाने की बात भी करता जाता था। मेरा विश्वास है कि यदि गवर्नमेंट जनता का सहयोग लेती तो इस संकट का वह भयंकर रूप नहीं होता जो हुआ और आज तक भी है। हमारा उद्देश्य ब्रिटिश गवर्नमेंट के विरुद्ध लोगों को उभाड़ने का नहीं था और न यह था कि उसके रास्ते में हम रोड़े अटकायें अथवा जैसे-तैसे उसको परेशान करें। हमारा उद्देश्य था कि लोगों को हम इस बात के लिए तैयार करें कि वे जापान का मुक़ाबला कर सकें; और चूंकि ब्रिटिश गवर्नमेंट इसका मौका हमको नहीं देती, हम उससे भी समय पाकर लड़कर यह मौका लेना चाहते थे। इसलिए हम अव्यवस्थित तरीके से उसे हैरान करना नहीं चाहते थे। अपनी इस नीति को इसलिए क्रियात्मक रूप से दिखला देने और प्रमाणित कर देने का एक मौका मुझे मिल गया।

ऊपर कह चुका हूं कि उन दिनों स्थान-स्थान पर हवाई जहाज के अड्डे तथा फौज के लिए छावनियां बनाने को जनता की जमीन ली जा रही थी। मैं गया में पहुंचा तो सुना कि शहर से थोड़ी ही दूर पर, जहां पहले से ही अड्डा था, और भी बहुत-सी जमीन ली जा रही है और हजारों आदमी बेघरबार और बेखेत के हो गये हैं, उनको कुछ मुआवजा भी नहीं मिला है, इन कारणों से उनमें रोष है। मैं वहां गया। सुनते ही हजारों की तायदाद में लोग जमा हो गये। उनकी दशा सचमुच दयनीय थी। कई गांव पस्त कर दिये गये थे। कई और पस्त किये जाने को थे। खेतों की आबादी रोक दी गयी थी। अड्डे बनाने के लिए जमीन तैयार की जा रही थी। वहां हजारों मजदूर काम कर रहे थे। बहुत-सी लारियां सामान ढोकर पहुंचा रही थीं। जिनके घर और जमीन ले ली गयी थी वे इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे थे। उनका पुरसांहाल कोई न था। मेरे पहुंचते ही लोगों ने अपना सब दुखड़ा कह सुनाया। अगर सरकारी अथवा लड़ाई के काम में रोड़े अटकाना हमारा उद्देश्य होता तो इससे बढ़कर दूसरा अच्छा अवसर नहीं मिलता। पर मैंने लोगों को समझाया कि लड़ाई के काम के लिए गवर्नमेंट ऐसा किये बिना बचाव का इंतजाम नहीं कर सकती, इसलिए उनको मुआवजा लेकर अपना कुछ दूसरा प्रबंध सोचना चाहिए और मैं मुआवजा दिलाने का प्रयत्न करूंगा। मैंने कह तो दिया; पर मैं नहीं जानता था कि गवर्नमेंट मेरी बात सुनेगी।

मैंने पटना लौटते ही गवर्नमेंट-एडवाइजर को पत्र लिखा जिसमें सब बातें साफ-साफ बता दीं, और मुआवजा किस तरह का होना चाहिए, यह भी बतलाया—यह भी लिखा कि मुआवजा बांटने में भी गड़बड़ी हुआ करती है, इसलिए बांटने के समय कांग्रेस के आदमी बुला लिये जायें और उनके सामने रुपये बांटे जायें। कुछ जमीन तो ऐसी थी जिस पर मकान बनने वाले थे अथवा जहाज उतरने के लिए मजबूत सड़कें बनानी थीं, वह तो वापस होने पर भी किसान के काम की नहीं रह जायेगी; पर अधिकांश जमीन केवल समतल करके रखी जायेगी और उसमें घास उग जायेगी, दूसरा कोई परिवर्तन नहीं होगा। गवर्नमेंट को मैंने यह लिखा कि लड़ाई का काम जब खत्म हो जाये तब जमीन जिसकी थी उसी को वापस कर दी जाये और वह यथासाध्य किसान के काम लायक बनाकर वापस की जाये, इस बीच में उस जमीन से, किसान जो पैदा करता वह भी उसे दिया जाये—जो जमीन वापस नहीं होने को है और जो मकान वगैरह गिरा दिये जा रहे थे उनकी कीमत नगद दे दी जाये तथा नगद बांटने और फसल का मुआवजा निर्धारित करने और चुकाने के समय कांग्रेस के कार्यकर्ताओं से मदद ली जाये।

मेरा पत्र पाते ही कमिश्नर ने इस पर कार्रवाई की। मेरी सिफारिशों को उन्होंने मान लिया और मेरे पास धन्यवाद का पत्र भेजा, जिसमें यह लिखा था कि वहां की जटिल परिस्थिति को मैंने बहुत ठीक तरह से संभाल लिया।

मैं जब मानभूम जिले में गया तो वहां भी ऐसी ही स्थिति थी। वहां के कलक्टर ने भी वैसा ही किया जैसा पटना डिवीजन के कमिश्नर ने किया था। इन बातों को इतने विस्तार से इसलिए लिखना पड़ा कि जब आन्दोलन आरम्भ हुआ तो गवर्नमेंट ने हम लोगों पर झूठा इलजाम लगाया कि हम लोग जापान की मदद करना और ब्रिटिश गवर्नमेंट को हर तरह से परेशान करना चाहते थे। पीछे गवर्नमेंट ने जापान की मदद करने के अभियोग को निराधार होने के कारण वापस ले लिया। पर हमारे मुस्लिम लीग के भाई अब भी उसे ढोये जा रहे हैं और वैसा कहने से बाज नहीं आते!

अस्तु, मैं दौरे पर था तभी वर्धा में वर्किंग कमिटी की बैठक की नोटिस मिल गयी। मैंने दौरे का कार्यक्रम भी ऐसा बना लिया था कि उसे समाप्त करके सीधे वर्धा चला जाऊं। जून के अंतिम दिनों में वहां चला भी गया। वहां पहले तो चर्खा संघ की बैठक थी और उसके बाद वर्किंग कमिटी की। कई दिन वहीं रह जाना पड़ा। खादी की उत्पत्ति का बहुत विस्तार करने का आयोजन सोचा गया; क्योंकि ऐसा दीखने लगा था कि मिलों से जो कपड़ा जन-साधारण को मिला करता था वह लड़ाई के कारण बहुत अंशों में अब उपलब्ध नहीं था; कारण यह कि अधिकतर फौजी काम के लिए ही उनको कपड़ा बनाना पड़ रहा था और जो वस्त्र-संकट था वह चर्खा-कर्घा द्वारा दूर किया जा सकता था। इसलिए कई दिनों के विचार के बाद चर्खा संघ ने बहुत बड़े पैमाने पर काम बढ़ाने का

निश्चय किया। वर्किंग कमिटी की बैठक कई दिनों तक होती रही। अंत में हम इस निश्चय पर पहुंचे कि अहिंसात्मक भद्र अवज्ञा हमको करनी ही होगी, और इस बात की आज्ञा देने के लिए अगस्त के आरम्भ में बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक की जाये।

147

1942 की क्रांति के पूर्व की बातें

वर्किंग कमिटी में बहुत बहस हुई। वहां मतभेद कुछ स्पष्ट हो गया। यहां पर यह कह देना अनुचित न होगा कि डाक्टर सैयद महमूद सत्याग्रह के विरुद्ध थे। पीछे जाकर उन्होंने एक गलती की जिसका जिक्र जरूरी नहीं है; पर उनका यह कहना सत्य था कि वह सत्याग्रह के विरुद्ध थे। उन्होंने अपना विरोध कमिटी में साफ-साफ बतला दिया था। अब जुलाई का महीना करीब-करीब आधा बीत चुका था। पानी बरसना जोरों से आरम्भ हो चुका था। हसब-मामूल दमा का दौरा भी उसके साथ-ही-साथ शुरू हो गया था। पर मैं सभी बैठकों में शामिल होता रहा। इतनी बातें हुई, पर वर्किंग कमिटी ने सत्याग्रह का कोई कार्यक्रम निर्धारित नहीं किया। मुझे यही बात खटकती थी। गांधीजी से मैंने कहा भी कि कार्यक्रम का कुछ निर्देश भी वह करें; पर उन्होंने साफ-साफ उत्तर दिया कि उनका दिमाग इस तरह काम नहीं करता—जब यह एकबारगी निश्चय हो जायेगा कि सत्याग्रह करना ही होगा तभी वह कार्यक्रम के संबंध में सोच सकेंगे और उसे निर्धारित कर सकेंगे, अभी तो अखिल भारतीय कमिटी को फैसला करना है—वर्किंग कमिटी बिलकुल एकमत नहीं है और उसके बाद गवर्नमेंट क्या करेगी, यह भी मालूम नहीं—ऐसी अनिश्चित अवस्था में वह कार्यक्रम के संबंध में अभी कुछ भी निर्धारित नहीं कर सकेंगे; पर इतना अवश्य था कि इस बार का सत्याग्रह बहुत उग्र होगा, केवल जेल जाना ही काफी न होगा, उससे कहीं अधिक त्याग की जरूरत पड़ेगी, आवश्यकता होने पर धन-धान्य, घर-द्वार सब कुछ स्वाहा करना होगा—चर्खा संघ में जो पचीस-तीस लाख या इससे भी अधिक रुपये लगे हैं उन पर भी हमला हो सकता है और यद्यपि हमने काम बढ़ाने का निश्चय किया है तथापि सारा चर्खा संघ और उसके धन-जन दोनों ही आहुति में पड़ जा सकते हैं; पर अभी सत्याग्रह के रूप का चित्र उनके सामने नहीं आया है और उस पर वह अभी अपना दिमाग भी लगाना नहीं चाहते हैं, क्योंकि जब तक निश्चय न हो जाये कि सत्याग्रह अनिवार्य है और करना ही पड़ेगा तब तक कार्यक्रम बनाने में उनका दिमाग काम ही नहीं करेगा। हम लोगों को यह एक भारी त्रुटि मालूम होती थी, पर कार्यक्रम तो गांधीजी को ही बनाना था और हमको मजबूरन उनकी बात मान लेनी पड़ी।

वर्धा से रवाना होने के पहले मैं गांधीजी से विदा लेने सेवाग्राम गया। वहां और कई आदमी थे। उनमें से किसी ने कार्यक्रम की बात छेड़ दी। यह प्रश्न किया कि तार और टेलीफोन का तार काटना अथवा रेल की पटरी उखाड़ देना अहिंसा के अंदर आ सकता है या नहीं? प्रश्न सामयिक था, क्योंकि मैं जानता हूं कि जब-जब सत्याग्रह की बात चली है, कुछ लोगों का ध्यान इस ओर गया है और उन्होंने इस प्रश्न को छेड़ा है। प्रश्न पूछते ही मैंने गांधीजी से कहा कि यह प्रश्न बार-बार उठा करता है—1930 के आन्दोलन में भी, जब महात्माजी और दूसरे बहुत-से लोग जेल में चले गये थे तथा पंडित मोतीलालजी स्थानापन्न प्रेसिडेंट थे और मैं वर्किंग कमिटी के मेम्बर की हैसियत से प्रयाग गया था, तो लोगों ने इस प्रश्न को उठाया था और जहां-तहां तार और टेलीफोन के तार लोगों ने काट भी दिये थे; पर यह सब बहुत कम जगहों में ही हो पाया था और उस समय यह रोक दिया गया था, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि आज भी जब हम सत्याग्रह की बात सोच रहे हैं तो इस तरह का विचार कुछ लोगों के दिल में उठ रहा हो—महात्माजी को चाहिए कि कार्यक्रम बनाते समय इस संबंध में कुछ साफ-साफ आदेश दें। गांधीजी ने कहा कि लोहा-लकड़ी काटने-तोड़ने में हिंसा-अहिंसा की बात नहीं उठती है, हम तो रोज साधारण रीति से लोहा-लकड़ी काटते-तोड़ते रहते हैं; पर रेल की पटरी उखाड़ लेना अथवा तार काट देना दूसरी बात है—किस उद्देश्य से यह काम किया जाता है और इसका फल क्या होता है, इन बातों पर इसका हिंसात्मक और अहिंसात्मक होना निर्भर है; यदि इससे हत्या हो अथवा बेकसूर लोगों पर विपत्ति आवे तो यह हिंसात्मक होगा, पर हम ऐसी परिस्थिति का अनुमान कर सकते हैं जब यह अहिंसात्मक भी हो सकता है।

हमने उनके कहने का आशय यह समझा कि इसे अहिंसात्मक होना बहुत करके इस पर निर्भर होगा कि इसके कारण किसी की जान पर खतरा न हो और जो कोई भी ऐसा काम करे वह उसकी जवाबदेही अपने ऊपर साफ-साफ और सीधे ले ले ताकि दूसरों को, जिनका इससे कोई सरोकार न रहा हो, इसका फल भुगतना न पड़े। ये बातें यों ही हो गयीं, कोई कार्यक्रम उस समय निर्धारित न हुआ, न होने की बात ही थी। जब गवर्नमेंट ने यह अभियोग लगाया कि हम लोगों ने रेल-तार तोड़ने का कार्यक्रम बनाया था तो गांधीजी ने उत्तर में कहा था कि गवर्नमेंट ने एक बातचीत अथवा बहस (theoretical discussion) को कार्यक्रम मान लेने की भूल की है। गांधीजी की यह बात बिलकुल सत्य थी और हमने उस समय इस कार्यक्रम को अथवा किसी भी कार्यक्रम को निर्धारित नहीं किया था।

वर्धा से मैं पटने के लिए रवाना हुआ। पहले से ही दो-तीन जगहों में जाने का वादा कर रखा था। उनमें गोंदिया एक स्थान था, इसलिए गोंदिया में उतर गया और वहां से सभा इत्यादि करके रात की गाड़ी से रवाना हो गया। दूसरे दिन रात को बनारस पहुंचा। वहां पर भारतीय इतिहास परिषद की कार्यकारिणी की बैठक कर लेनी थी। अब यह एक प्रकार से

निश्चित-सा था कि थोड़े ही दिनों में आन्दोलन उग्र रूप धारण कर लेगा। इसलिए परिषद संबंधी कुछ काम कर लेना जरूरी थे। उसमें एक आवश्यक काम कुछ रुपये जमा कर लेना था और जो जिल्दें प्रायः तैयार कही जाती थीं उनके छपवाने इत्यादि के संबंध में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार से बातें कर लेनी थीं। कुछ रकम गोंदिया में मिली थी, उसे जमा कर दिया और दूसरे कामों का प्रबंध करके काशी से मैं पटने में न ठहरकर सीधे मुंगेर जिले में तारापुर चला गया। वहां किसान कांफ्रेंस होने वाली थी, जिसको लोगों ने मेरे लिए ही कई बार स्थगित कर रखा था। श्री कृपालानीजी भी वहां उसका उद्घाटन करने के लिए आये थे और श्री कृष्णवल्लभ सहाय सभापति होने वाले थे। दूसरे प्रमुख व्यक्ति श्री बाबू, अनुग्रह बाबू प्रभृति भी आये थे। रास्ते-भर सभी जगहों में खूब पानी बरसता आया और बरसात का जो असर मेरे स्वास्थ्य पर पड़ता है वह अपना काम कर ही रहा था। मैं तारापुर पहुंच तो गया, पर दमा का दौरा हो रहा था। कांफ्रेंस का काम शुरू हुआ। मेरे कुछ कहने की बारी आयी। मैंने कुछ कहना आरम्भ किया कि इतने में अचानक घटा उमड़ आयी और जोरों से वर्षा होने लगी। रामगढ़ कांग्रेस की तरह कांफ्रेंस का काम रुक गया। हम लोग किसी तरह भीगते-भीगते डाक-बंगले में पहुंचे जहां ठहरे हुए थे। रात वहां बिताकर दूसरे दिन सवेरे ही मैं पटने के लिए रवाना हो गया। पटना पहुंचते-पहुंचते दमा खूब जोर पकड़ गया और ज्वर भी हो आया। उस दिन से 12 या 15 दिनों के बाद ही बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होने वाली थी। मुझे यह चिंता लगी कि उस समय तक अच्छा हो जाना चाहिए।

बम्बई जाने के पहले प्रांतीय कांग्रेस कमिटी की एक बैठक कर लेना उचित मालूम हुआ जिसमें वर्धा के प्रस्ताव के संबंध में, जिस पर बम्बई में विचार होने वाला था, प्रांत के लोगों की राय मालूम हो जाये। प्रांतीय कमिटी का जलसा सदाकत आश्रम में 31 जुलाई को हुआ। मेरी तबीयत बहुत खराब थी, बहुत कमजोर था। मैंने कमिटी के सामने एक जोरदार भाषण किया जो उन्हीं भाषणों का सारांश मात्र था जो सारे सूबे के दौरे में हुए थे। एक बात और थी, वह यह कि वर्धा में जो बातें हुई थीं उन्हें भी मैंने लोगों को सुना दिया। सभी लोग समझ गये थे कि बम्बई में जो निश्चय होगा वह अत्यंत महत्वपूर्ण होगा। इस जलसे के बाद एक-दो दिनों के अंदर ही, अखिल भारतीय कमिटी के सदस्य तथा अनेक कांग्रेसी, दर्शक होकर बम्बई के जलसे में शरीक होने को, रवाना हो गये। मैं इतना बीमार था कि वहां जा न सका और पटने में ही पड़ा रहा।

अखबारों में जोरों से खबर छपा करती थी कि गवर्नमेंट की ओर से तैयारियां हो रही हैं और बम्बई में ही सब लोग गिरफ्तार कर लिये जायेंगे। इधर-उधर से यह भी खबर पहुंच रही थी कि बिहार में भी तैयारी है और जो कैम्प-जेल बंद थी वह साफ करके तैयार कर ली गयी है। बम्बई में 5 अगस्त (1942 ई.) से वर्किंग कमिटी की बैठक शुरू हुई और 7 अगस्त से अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होने वाली थी। मैं रेडियो और अखबारों में खबरें

सुना और पढ़ा करता था। जो प्रस्ताव 8 अगस्त की रात को अखिल भारतीय कमिटी में पास किया गया वह भी वर्किंग कमिटी द्वारा स्वीकृत होने के बाद अखबारों में आ गया। खबर बहुत गर्म थी कि बम्बई में ही सबको गिरफ्तार कर आन्दोलन आरम्भ होने के पहले ही दबा दिया जायेगा। मैंने सोचा कि यदि ऐसा हुआ तो जनता के सामने कोई कार्यक्रम नहीं रह जायेगा। इसलिए, कम-से-कम अपने सूबे के लिए, मैं कुछ कार्यक्रम बना दूं। इतनी शक्ति नहीं थी कि बैठकर बहुत लिख सकूं। इसलिए जो मित्र वहां मौजूद थे उनसे बातें करके मसविदा तैयार करने को कहा। इनमें मुख्य थे प्रांतीय कमिटी के मंत्री श्री दीपनारायण सिंह और श्री मथुरा प्रसाद। अनुग्रह बाबू भी बम्बई नहीं गये थे, पटने में ही थे। जब मसविदा तैयार किया गया तो उसे अनुग्रह बाबू के साथ मैंने देखकर कुछ अदल-बदलकर ठीक कर दिया। उसे छपवाने का प्रबंध भी कर दिया गया। यह निश्चय हुआ कि अगर सचमुच सब लोग गिरफ्तार हो गये तो जो लोग रह जायेंगे वे उसी के अनुसार काम करेंगे। यों तो गांधीजी ने बार-बार कह रखा था कि नेता लोग अगर गिरफ्तार हो गये और कोई कार्यक्रम न दे सके तो उस हालत में हर एक कांग्रेसी अपने को नेता समझे और अहिंसा के सिद्धांत के अंदर रहकर जो कुछ भी सत्याग्रह के रूप में कर सकता हो करे—इस संग्राम को अंतिम संग्राम समझकर कोई कुछ उठा न रखे, पर अहिंसा को किसी तरह न छोड़े। हमने जो कार्यक्रम बनाया उसमें भी इस बात पर जोर दिया कि अहिंसा को नहीं छोड़ना चाहिए। उसमें सत्याग्रह के लिए कार्यक्रम भी बताया जो पूर्व के सत्याग्रहों के कार्यक्रम से सिद्धांततः भिन्न नहीं था, पर अधिक उग्र जरूर था।

इसी बीच में एक दिन दिल्ली से एक समाचार छपा कि 8 अगस्त के बाद कांग्रेस के लोगों की गिरफ्तारी नहीं होगी और गवर्नमेंट इस बात का इंतजार करेगी कि कांग्रेस क्या करती है—कांग्रेस की ओर से भी यह बात कही जा रही थी कि कोई कदम उठाने के पहले गांधीजी वायसराय से एक बार और बातचीत करेंगे; जब वहां कुछ नहीं होगा तभी कोई कदम उठाने की राय देंगे। इस समाचार को हमने सच मान लिया और समझ लिया कि अब तुरंत कुछ होने वाला नहीं है, बम्बई गये हुए लोगों के लौटने तक हमको इंतजार करना चाहिए—हो सकता है कि वे लोग वहां से निर्धारित कार्यक्रम भी साथ लावें; यदि ऐसा हुआ तो हमारे द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम को काम में लाना अनुचित नहीं तो, अनावश्यक होगा। इस तरह हमने निश्चय कर लिया कि अब 11 अगस्त के पहले, जब बम्बई से लोगों के लौटने की आशा थी, हमको कुछ नहीं करना है। इसी निश्चय के अनुसार अनुग्रह बाबू रायबरेली चले गये जहां उनके भाई बीमार थे और दीप बाबू मुजफ्फरपुर जिले में पहले से मुकर्रर किये गये कुछ काम को पूरा करने। मैं, मथुरा बाबू और श्री चक्रधर शरण के साथ आश्रम में ठहरा रहा।

148

1942 के तूफानी दिन

8 अगस्त (1942 ई.) की रात को प्रायः 10 बजे के बाद अखिल भारतीय कमिटी ने प्रस्ताव मंजूर किया। सुना कि गांधीजी का लम्बा भाषण हुआ जिसमें उन्होंने 'करो या मरो' का मंत्र लोगों को दिया। साथ ही, उन्होंने वायसराय से मिलने तथा एक बार और समझौते के लिए प्रयत्न करने की बात भी कही। अन्य नेताओं के भी भाषण हुए जिनमें सरदार वल्लभभाई के भाषण की लोगों ने बहुत प्रशंसा की। 9 अगस्त (1942 ई.) को सवेरे मैं 'सर्चलाईट' में बम्बई की कार्रवाई पढ़ रहा था, मथुरा बाबू शहर चले गये थे कि इतने में डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मिस्टर आर्चर पहुंचे। मैं चारपाई पर था। उन्होंने मुझे देखकर मेरे स्वास्थ्य के संबंध में पूछताछ की और यह पूछा कि मेरा कार्यक्रम क्या है ? मैं तो समझ गया था कि इनके आने का कारण क्या था; क्योंकि रेडियो में गांधीजी तथा वर्किंग कमिटी के सदस्यों की गिरफ्तारी की खबर संक्षेप में आ चुकी थी। मेरी बीमारी देखकर उन्होंने गवर्नमेंट से पूछा कि ऐसी अवस्था में क्या किया जाये ? वहां से हुक्म आया कि सिविल सर्जन से दिखलाओ और पूछो कि वहां से वह दूर ले जाने योग्य हैं या नहीं ? सिविल सर्जन को मि. आर्चर जाकर ले आये।

इसी बीच में मेरे घर के डेरे पर खबर पहुंच गयी। वहां से बहन और मृत्युंजय की मां वगैरह पहुंच गयीं। सिविल सर्जन की राय हुई कि मैं सफर के लायक नहीं हूं। इसलिए मुझे 11-12 बजे दिन के करीब बांकीपुर जेल में ही ले गये। पानी खूब बरस रहा था। खबर शहर में फैल गयी। सदाकत आश्रम से मेरे रवाना होने के पहले ही कुछ लोग, जिनमें विद्यार्थी मुख्य थे, आश्रम पहुंच गये। केवल मुझे ही गिरफ्तार करने का हुक्म था। मि. आर्चर का तौर-तरीका अच्छा था। उन्होंने किसी तरह की न तो जल्दी की और न कोई बेअदबी या बदतमीजी। जेल में मेरे लिए सब प्रबंध ठीक करके मथुरा बाबू और चक्रधर वापस गये कि इतने ही में श्री फूलन प्रसाद वर्मा भी गिरफ्तार होकर वहां पहुंच गये। इस तरह प्रायः एक-डेढ़ बजे के पहले ही निश्चित हो गया था कि मैं अकेला नहीं रहूंगा और कम-से-कम एक साथी रात को मेरी देखभाल करने के लिए जरूर रहेंगे। मथुरा बाबू ने भी मि. आर्चर से बातचीत की और वह भी संध्या के पहले ही आ पहुंचे। दूसरे दिन तो और लोग भी आने

लगे। बम्बई से लौटने पर श्री बाबू, सत्यनारायण बाबू, महामाया बाबू आदि भी आ गये। अनुग्रह बाबू भी आये। पटने में जोरों से प्रदर्शन होने लगा। बड़े-बड़े जलूस निकलने लगे। कचहरियां बंद हो गयीं और एक बहुत बड़ा जलूस गवर्नमेंट हाउस के दरवाजे तक नारे लगाता हुआ जा पहुंचा। रात हो गयी थी, इसलिए और कुछ उस दिन नहीं हुआ; पर खबर मशहूर थी कि दूसरे दिन सेक्रेटेरियट पर झंडा चढ़ाने के लिए जलूस जायेगा।

जेल में खबर मिलने का साधन एक ही था और वह था गिरफ्तार होकर नये लोगों का आना। अखबार अभी तक बंद नहीं थे, पर उनसे थोड़ी खबर मिलती। सेक्रेटेरियट पर जलूस गया। गोली चली; 8-9 युवक शहीद हो गये। बहुतेरे घायल हुए जिनको लोगों ने अस्पताल पहुंचाया। उस जलूस में से 40-50 लड़के गिरफ्तार करके बांकीपुर जेल में उसी रात को लाये गये। उनसे गोलीकांड की बातें मालूम हुईं। रात-भर सारे शहर में जलूस निकलते रहे। जेल के अंदर भी जलूसों की आवाज पहुंचती रही। उसी दिन तार और टेलीफोन तोड़ने का काम आरम्भ हो गया। हमने सुना कि पटने में टेलीफोन बंद हो गया। जेल-आफिस में भी टेलीफोन का आना-जाना रुक गया। जो लड़के सेक्रेटेरियट के जलूस से गिरफ्तार करके लाये गये थे वे किसी तरह बांकीपुर जेल में रात-भर रखे गये, दूसरे दिन उन्हें कैम्प-जेल में भेजने की तैयारी होने लगी। जेल की कैफियत यह थी कि पहले से ही वह ठसाठस भरी थी। मामूली कैदियों की संख्या सारे सूबे में बहुत बढ़ी हुई थी, क्योंकि डकैतियां कई बरस पहले से ही लड़ाई के जमाने में बहुत बढ़ गयी थीं और चोरी इत्यादि भी ज्यादा हो रही थी। कैदियों में बहुतेरे अभी हाजती (undertrial) थे जिनके मुकदमे की जांच अभी तक नहीं हुई थी। इसलिए जब राजनीतिक कैदियों की संख्या बढ़ने लगी तो उनके लिए स्थान कम पड़ गया। जो ऊंचे दर्जे में रखे जाने वाले थे वे तो बांकीपुर जेल में रखे गये और दूसरों को कैम्प-जेल भेजने का प्रबंध था। जब तक लड़के कैम्प-जेल नहीं भेजे गये, शहर की बड़ी जमात जेल के फाटक पर और सड़कों पर खड़ी थी। बांकीपुर जेल में दोमहला मकान सड़क के किनारे की ओर ही है। उस पर से लड़कों ने सड़क पर जमी हुई भीड़ से कुछ बातें भी कीं। जब तीन बजे के करीब उनको ले जाने के लिए लारियां लायी गयीं, उनमें वे सवार कराये गये। पहली लारी आगे बढ़ी तो जनता लारी पर टूट पड़ी; लड़कों को छुड़ा लिया और लारी में आग लगा दी। दूसरी लारियों को फिर आगे नहीं बढ़ाया, उनमें सवार लड़कों को उतारकर फिर जेल में ले आये। कुछ देर में फौज बुलायी गयी। उसने रास्ता साफ किया। आगे-पीछे फौजी गाड़ियों के बीच में कैदियों की लारियां कैम्प-जेल पहुंचायी गयीं।

जो लोग 'ए' वर्ग में रखे जाते थे उनकी संख्या भी बढ़ती ही जाती थी और उनके लिए जेल के अस्पताल के सिवा दूसरा स्थान नहीं था। उनको भी हजारीबाग ले जाने की बात थी; पर तब तक रेलगाड़ियों का आना-जाना बंद हो गया, इसलिए उनका वहां जाना अनिश्चित

काल तक के लिए रुक गया। प्रायः एक महीना बाद तक वे लोग उस छोटे-से अस्पताल में ही रहे और कुछ लोग इधर-उधर भी रखे गये। बांकीपुर की जेल पटना-जंकशन स्टेशन के नजदीक ही है। वहां से गाड़ियों के आने-जाने और विशेषकर रेल की सीटी की आवाज खूब सुनने में आ जाती है। यह सब महीनों तक बंद रहा। केवल एक इंजिन की सीटी सुनने में आया करती जो डब्बों को इधर-उधर स्टेशन पर हटाया करता होगा। उसकी आवाज भी हम लोगों ने पहचान ली थी। हम उससे इस भ्रम में नहीं पड़ते थे कि गाड़ियां चलने लगीं। प्रायः एक महीने के बाद सभी लोग हजारीबाग ले जाये गये। मैं वहां जाने के लायक नहीं था। वहां का जलवायु भी मेरे अनुकूल नहीं पड़ता। इसलिए मैं पटने में ही रखा गया।

जेल में पहुंचने के दो-चार दिनों के बाद यह खबर उड़ी कि मुझे कहीं बाहर ले जायेंगे जहां वर्किंग कमिटी के दूसरे सदस्य रखे गये थे। रेलों का चलना बंद हो चुका था, इसलिए ले जाने का एक ही उपाय था—हवाई जहाज। डाक्टरों से राय ली गयी तो उन्होंने राय दी कि मेरी अवस्था ऐसी नहीं कि हवाई जहाज का सफर बर्दाश्त कर सकूं। इसलिए यह विचार भी स्थगित हो गया। प्रायः दस महीनों के बाद, जून 1943 में, एक दिन अचानक मेजर मर्डक—जिन्होंने मुझे गिरफ्तारी के समय देखा था और हजारीबाग न ले जाने की राय दी थी—जेल में आ गये। उन्होंने मुझसे कहा कि हमें गवर्नमेंट का हुक्म मिला है कि मुझे देखकर मेरे स्वास्थ्य के संबंध में तुरंत रिपोर्ट दें। गर्मियों में, विशेषकर जून के शुरू में, जब स्वास्थ्य के बारे में कोई खराब रिपोर्ट नहीं गयी होगी, डाक्टर का आना आश्चर्यजनक अवश्य था। मैंने ताड़ लिया कि मुझे कहीं दूसरी जगह भेजना चाहते हैं। मैंने डाक्टर से पूछा तो उसने कहा कि बाजाब्ता खबर तो उसको नहीं थी और न वह दे सकता था, पर बेजाब्ता तौर से वह कह सकता था कि कुछ ऐसी ही बात थी। कुछ और अधिक पूछने पर उसने यह भी कहा कि मैं हजारीबाग नहीं भेजा जाऊंगा, दक्खिन पूना की ओर जाना होगा। पीछे जेल से निकलने पर यह खबर मिली कि अहमदनगर के किले में भी मेरे भेजे जाने की बात थी और मेरे लिए वहां कमरा ठीक किया गया था; पर न मालूम क्यों, फिर कुछ हुआ नहीं। कुछ दिनों के बाद, जब डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मिलने आया, पूछने पर उसने कहा कि न मालूम क्यों बात आगे न बढ़ी।

जेल जाने के समय मेरी चिकित्सा वैद्यराज ब्रजविहारी चौबेजी कर रहे थे। जेल में उनकी चिकित्सा होना सम्भव नहीं था। न मालूम गवर्नमेंट कहने पर भी इसकी इजाजत देगी या नहीं, और मैं कोई खास सहूलियत मांगना पसंद भी नहीं करता था, इसलिए वहां पहुंचते ही डाक्टरी दवा शुरू हो गयी। बाहर रहने पर पटने के नामी डाक्टर श्री त्रिदिवनाथ बनर्जी (टी. एन. बनर्जी), जो उन दिनों मेडिकल कालेज के प्रिंसिपल थे, और डाक्टर रघुनाथ शरण तथा डाक्टर दामोदर प्रसाद मुझे देखा करते हैं। गवर्नमेंट ने आज्ञा दे दी कि जब कभी जेल के सुपरिंटेंडेंट, जो वहां के सिविल सर्जन उन दिनों हुआ करते थे, जरूरत समझें तब डाक्टर

बनर्जी को बुला लिया करें। इसलिए जब-तब डाक्टर बनर्जी आया करते थे। तबियत कुछ ज्यादा खराब हुई तो डाक्टर शरण और डाक्टर दस्तीदार भी खास करके बुला लिये जाते थे। इस तरह, मैं जब-जब बीमार पड़ा, वे डाक्टर आते रहे जो पटने में सबसे अच्छे समझे जाते हैं और जिन्होंने बहुत बरसों से मेरी चिकित्सा की है। इस बात की शिकायत कभी न हुई कि मेरी बीमारी पर पूरा ध्यान नहीं दिया गया। इसी तरह मेरे खान-पान, रहन-सहन इत्यादि के संबंध में भी कभी किसी किस्म की शिकायत नहीं हुई। गवर्नमेंट के हुक्म से, मेरे साथ रहने के लिए, शुरू से ही मथुरा बाबू और चक्रधर बाबू बांकीपुर जेल में ही रहने दिये गये। पीछे वाल्मीकि को भी मेरे साथ रहने दिया। दूसरे लोग आते-जाते रहे, पर मेरी खातिर नहीं। कुछ तो गिरफ्तार करके वहां सीधे लाये जाते। पर कुछ दिनों के बाद यह बंद हो गया और गिरफ्तार करके लोग सीधे कैम्प-जेल भेज दिये जाते थे। कुछ लोग कभी-कभी बीमार पड़ जाने पर हजारीबाग जेल से, अथवा किसी दूसरी जेल से भी, पटने के बड़े अस्पताल में भेजे जाते। वे पहले बांकीपुर जेल में आते, वहां से फिर अस्पताल भेजे जाते। इसी तरह अस्पताल से लौटने के समय भी बांकीपुर जेल होकर ही वापस जाते। हजारीबाग से आने वाले इन बीमार कैदियों के सिवा दूसरा कोई जरिया हालचाल मिलने का नहीं था। कुछ दिनों के बाद यह भी बंद हो गया। जिनको अस्पताल जाना होता, वे सीधे अस्पताल में ही भेज दिये जाते। तो भी जेल में न मालूम किस तरह, बिना पूछे, जानने की कोशिश किये बिना ही, खबर पहुंच ही जाती है। गवर्नमेंट समझती थी कि संसार को यह बात मालूम नहीं है कि वर्किंग कमिटी के मेम्बर कहां रखे गये हैं। पता नहीं कि बाहर वालों को कब मालूम हुआ कि वे लोग अहमदनगर किले में है, पर हम लोगों को तो बांकीपुर जेल में गिरफ्तारी के चंद दिनों के अंदर ही यह मालूम हो गया था। स्थानीय अखबार हमारी गिरफ्तारी के चंद दिनों बाद तक तो निकलते रहे, पर बहुत जल्द सब-के-सब बंद हो गये। बिहार गवर्नमेंट 'पटना डेली न्यूज' के नाम से एक दैनिक (अंगरेजी) पर्चा निकालने लगी जिससे कुछ खबरें मिल जातीं। एक विशेष बात उससे यह मालूम हुई कि गवर्नमेंट ने किस जिले पर कितना सामूहिक जुर्माना किया या प्युनिटिव टैक्स लगाया। हमने देखा कि चंद महीनों के अंदर प्रायः 26 लाख जुर्माना किया गया!

149

1942 के जेल-जीवन की कुछ बातें

बांकीपुर का जेल-जीवन मेरे लिए किसी तरह कष्टप्रद न हुआ। यों तो किसी एक जगह बंद रहना ही कष्टप्रद होता है, पर मैंने अपने को कुछ ऐसा बना लिया है या ऐसा पाया है कि जेल में पहुंचने के बाद मैं बाहर की चिंता भूल जाता हूं—जो कुछ बाहर होता है अथवा हो सकता है उससे कोई सम्पर्क नहीं रखता। बाहर से कोई कैदी आता और उससे भेंट होती तो वह बाहर का हाल कहता। दूसरी जेलों से आये हुए लोग उन जेलों का हाल कहते। जब अखबार फिर निकलने और हम लोगों को मिलने लगे तो उनसे भी देश की बातें मालूम हो जातीं। पर मैं एक प्रकार से इन बातों को केवल सुन लेता, दूसरा कोई संबंध नहीं रखता। एक-दो मित्रों ने बाहर से खबर भेजने और वहां से मेरी राय जानने का भी प्रयत्न किया, पर मैंने इसे प्रोत्साहन नहीं दिया, तब से फिर किसी ने ऐसा प्रयत्न नहीं किया। शुरू में कई महीनों तक बीमार रहा। बरसात और जाड़ों में अक्सर अस्वस्थ रहा। केवल मार्च के बाद से जून तक अच्छा रहा करता। पर हमेशा अस्वस्थता ऐसी नहीं होती कि बिलकुल चारपाई पर पड़ जाऊं। ऐसा भी हुआ, पर हमेशा नहीं। इसलिए सूत कातने और लिखने-पढ़ने का समय मिला। आगे चलकर यह सहूलियत और भी अधिक हो गयी—जब बाहर से कैदियों का आना-जाना बंद हो गया और मेरे साथ भी दो-तीन आदमियों से अधिक न रह गये।

घर के लोगों से बराबर मुलाकात होती रही। छोटे-छोटे बच्चे भी उनके साथ आ जाया करते; उनको इसका ज्ञान तो शायद नहीं था कि मैं कहां हूं और क्यों एक जगह में बंद हूं; पर सुना कि मुलाकात के दिन मेरे पास आने के लिए वे उत्सुक रहा करते थे। चिरंजीव अरुण मेरा पोता ढाई साल का था, पर वह जब जेल के फाटक के अंदर घुसता तो वहां से सीधे दौड़ता हुआ अस्पताल-वार्ड के मेरे कमरे में आ जाता। दो-चार बार आने के बाद ही उसने रास्ता भी पहचान लिया और मेरा कमरा भी। उससे बड़ी जो लड़कियां थीं वे तो रास्ता और कमरा जानती ही थीं। मेरे पास पहुंचकर उन बच्चों की फरमाइश होती—बाबा, कुछ खिलाओ! मैं उनके लिए कुछ तैयार रखता। आध घंटे तक रहकर और इधर-उधर दौड़-धूप करके कुछ खाकर वे चले जाते। जाने के समय जेल के अहाते में खिले हुए सुंदर फूल अगर पसंद आ जाते तो तोड़ लेते। जेल के अधिकारी इन हरकतों से रुष्ट नहीं होते थे, बल्कि बच्चों

की चंचलता देखकर खुश होते और हंसते। जब-तब अरुण मेरा हाथ पकड़कर चलते समय कहता—'तुहूं चलऽबाबा'। छोटी अवस्था का बचपन भी कैसा सुंदर, निरीह और निश्चिंत हुआ करता है!

जेल में एक समय बहुत चिंता का बीता। वह था जब महात्माजी ने उपवास किया। इसकी खबर तो अखबारों से मिल गयी। हमने गवर्नमेंट को लिखा कि वहां की खबर मुझे तार द्वारा दी जाती रहे। कुछ मित्रों को तार भिजवाने के लिए भी कहला भेजा। तार आने लगे। पर जब तक वह सी. आई. डी. (खुफिया पुलिस) द्वारा पास न हो जाये, मुझे मिलता नहीं। इसमें देर लगती और जेल-आफिस में पहुंचने के प्रायः 24 घंटों बाद तार मिलता। उधर भी उतनी ही खबर लोग भेजने को पाते जितनी गवर्नमेंट की बुलेटिन में छपती, वह तो 'पटना डेली न्यूज' में सवेरे ही हमको मिल जाती; इसलिए तार और भी बेकार हो गया। चंद दिनों के बाद तार मंगाना बंद कर दिया। एक दिन यह खबर पहुंच गयी कि महात्माजी की हालत बहुत खराब है। शहर में तो खबर उड़ गयी कि वह अब रहे ही नहीं ! हम लोगों को यह खबर जेल में नहीं मिली। जब 'पटना डेली न्यूज' आया तो मालूम हुआ कि अभी वह बचे हैं और हालत कुछ सुधरने लगी है। हम लोग चिंता करते और प्रार्थना करते। ईश्वर की दया से खतरे के घंटे निकल गये। मालूम होने लगा कि वह अब संकट की अवधि को पार कर जायेंगे। अंत में यह शुभ समाचार सुनने को मिला कि यह यज्ञ भी सम्पूर्ण हुआ। ब्रिटिश गवर्नमेंट और लार्ड लिनलिथगो की नीति और कड़ाई का पूरा प्रदर्शन हो गया।

जेल का जीवन एक प्रकार से बिना किसी महत्वपूर्ण घटना के बीतता रहा। बाहर जो कुछ जनता, सरकारी कर्मचारियों, पुलिस, फौज और मजिस्ट्रेटों द्वारा हुआ उसकी खबर कुछ-कुछ मिलती रही। वह भयंकर और रोमांचकारी थी। पर हम लाचार थे और सुन लेने के सिवा दूसरा कुछ हो नहीं सकता था। जो नये आर्डिनेंस बन गये थे उनके द्वारा धांधली खूब चल रही थी। वह धांधली केवल राजनीतिक मामलों में ही नहीं, मामूली मुकदमों में भी थी। यहां दो उदाहरण देता हूं।

हमारे जेल चले आने के चंद दिनों के अंदर ही पटना जिले के किसी गांव में दो दलों में, किसी और चीज के लिए, मार-पीट हुई। एक आदमी मारा गया। पुलिस के लिए, उन दिनों किसी भी मुकदमे में सजा दिलवा देने का, सबसे सीधा रास्ता यह था कि उसे वह राजनीतिक करार दे दे। उसने इसे भी राजनीतिक जामा पहना दिया। खून का कारण यह बताया गया कि जिस आदमी का खून किया गया था वह फौज में भरती हुआ था, चूंकि दूसरे पक्ष के लोग कांग्रेसी थे इसलिए उन्होंने उसे फौज में भरती होने से मना किया, जब उसने उनकी एक न सुनी तो उसका खून कर दिया! मामला सीधे स्पेशल जज के सामने पेश हुआ। उसका फैसला हुआ कि जिस आदमी का खून हुआ था वह कभी फौज में भरती हुआ ही न था, इसलिए उसके खून का कारण वह नहीं हो सकता—पर कारण जो हो, खून तो हुआ

ही है इसलिए आठ आदमियों को फांसी की सजा दी जाये। आर्डिनेंस के अनुसार भी फांसी की मंजूरी हाइकोर्ट के एक जज द्वारा होनी चाहिए थी। इसके लिए एक जज खास करके नियुक्त किये गये थे। उन्होंने 7 आदमियों को छोड़ दिया, पर एक की फांसी की सजा बहाल रखी। उसकी ओर से प्रीवी कौंसिल में भी अपील की गयी, पर वह नामंजूर हो गयी। जेल में जब तक हम लोग रहे, एक काम हममें से किसी को करना पड़ता था। उसे हम खुशी से कर देते थे। जब किसी मामूली कैदी को जेल से अपील करने का इरादा होता तो वह किसी-न-किसी तरह हम लोगों के पास पहुंच जाता और अपील की दर्खास्त लिखवा ले जाता। फांसी वाले आदमी की ओर से दया की दर्खास्त मुझे लिखनी पड़ती। जेल के अधिकारी, फांसी वालों की ओर से दया की दर्खास्त भिजवाने में, मैंने देखा, अक्सर कुछ दिलचस्पी लेते हैं। मुझे याद है कि उन्होंने दो मामलों में मुझसे दर्खास्त का मसविदा लिख देने को कहा था। यह पहला फांसी का मामला था। इसको पुलिस ने पोलिटिकल करार दिया था। पोलिटिकल होने के कारण ही फांसी की सजा हुई थी। मैंने दर्खास्त लिख दी। गवर्नर ने फांसी की जगह डामल-हौस की सजा कर दी। उसकी जान बच गयी। पुलिस ने जो पोलिटिकल शक्ल देकर सजा दिलवा दी उसका एक अच्छा फल यह हुआ कि जब फिर 1946 में कांग्रेस मिनिस्ट्री हुई तो दूसरे राजनीतिक कैदियों के साथ वह आदमी भी छूट गया! छूटते ही मेरे पास आकर सदाकत आश्रम में मुझसे भेंट कर गया। एक औरत को भी फांसी की सजा हुई थी। उसकी दर्खास्त जेलर ने खुद आकर मुझसे लिखवायी थी। उसकी सजा भी फांसी की न रहकर कालापानी की हो गयी थी।

एक दूसरा मुकदमा डकैती का था। मुजरिम पोलिटिकल करार नहीं दिया गया था। पर उन दिनों मामूली मुकदमों की जांच भी आर्डिनेंस के अनुसार ही हुआ करती थी। मैजिस्ट्रेट के अधिकार बढ़ा दिये गये थे। वे लम्बी-लम्बी सजाएं दे सकते थे। एक आदमी था जिसकी उम्र साठ से कम न होगी। उसके हाथ में कुछ ऐब था जिससे उसकी अंगुलियां पूरी खुलती न थीं। पैर का लंगड़ा होने के कारण मुश्किल से चल सकता था, दौड़ने की तो बात ही नहीं हो सकती थी। जेल में भी बीमार था। अस्पताल में ही था जहां मैं था। मुकदमा यह था कि पटना-रांची रोड पर, जो बहुत चालू सड़क है, एक आदमी बैलगाड़ी पर बोरों से भरकर चावल ले जा रहा था। कुछ डाकुओं ने गाड़ी रोककर चावल लूट लिया। वे बोरों को पीठ पर लेकर खेतों से होकर भाग निकले। गाड़ी वाले ने शोर मचाया तो कुछ आसपास के लोग आ गये। सबने डाकुओं का पीछा किया। प्रायः एक-डेढ़ मील दूर जाने पर खेतों में बोरे फेंककर डाकू चम्पत हो जाना चाहते थे, पर लोगों ने उन्हें पकड़ लिया। उन्हीं डाकुओं में से उपरोक्त अष्टावक्रजी भी थे! चूंकि वह बहुत बीमार था, इसलिए मैजिस्ट्रेट ने जेल के अस्पताल में आकर ही उससे बयान लिया और उसे सात साल की सजा दे दी। मैं जब अस्पताल के अपने वार्ड से बाहर निकला तो वह पैर पकड़कर रोने लगा। मैंने उसे अपील

करने को कहा। उसने जेलर से कहकर फैसले की नकल मंगायी। मैंने अपील की दर्खास्त लिख दी। वह हाइकोर्ट से छूट गया। जजों ने सारी घटना को असम्भव समझा और इन गरीबों की गिरफ्तारी का कारण भी डकैती के बदले कुछ और ही समझा। मुझे यह देखकर पूरा विश्वास हो गया कि इंसाफ सचमुच अंधा होता है—कम-से-कम आर्डिनेंसों के मातहत काम करने वाले मजिस्ट्रेटों ने तो उसे अंधा बना दिया था। अगर ऐसा न होता तो अष्टावक्र को देखने के बाद कोई भी आंख वाला आदमी इस बात का विश्वास नहीं कर सकता कि वह गाड़ी पर से लूटकर चावल का बोरा पीठ पर लादे एक-डेढ़ मील तक धान के खेतों से होते हुए भागने के बाद पीछा करने वालों द्वारा पकड़ा जाये। जिस आदमी के हाथ की अंगुलियां नहीं खुलतीं, जिसका हाथ सीधा नहीं हो सकता, जिसके पैर ऐसे लंगड़े थे कि वह मुश्किल से चल सकता और जिसकी अवस्था 60 बरस की हो, वह दो मन चावल का बोरा पीठ पर लेकर एक-डेढ़ मील भाग सका होगा; इसका विश्वास अंधा ही कर सकता था। पर मजिस्ट्रेट ने विश्वास करके सात साल की सजा उसे दे दी थी!

राजनीतिक मुकदमों का तो कहना ही क्या! पटना जिले का कुछ हिस्सा बरसात में पानी से भर जाता है। उसे 'टाल' कहते हैं। बरसात में रेल पर से ही, जहां तक आंखें देख सकती हैं, जल-ही-जल नजर आता है। इस टाल में जो गांव हैं वे बरसात में दुनिया से एक प्रकार से अलग हो जाते हैं। वहां से बाहर निकलने के लिए नाव के सिवा दूसरा कोई जरिया नहीं। यों ही दूसरे मौसम में भी इन गांवों में हफ्ते में एक बार डाकिया डाक ले जाया करता है। बरसात में तो शायद महीने में एक-आध बार डाकिया पहुंच जाता हो तो बहुत है। ऐसे ही एक छोटे-से गांव के लोगों का, वहां के एक जुजवी जमींदार के साथ, कई बरसों से झगड़ा चला आता था। इस आन्दोलन को गनीमत समझकर उन्होंने वहां के प्रमुख किसानों पर पुलिस से राजनीतिक मुकदमा चलवा दिया। वे गिरफ्तार कर जेल में लाये गये। जब उनका मुकदमा दौरा-सुपुर्द हो गया तो वे बांकीपुर जेल में ही रखे गये। सेसन में इतने मुकदमे थे कि इस मुकदमे की सुनवाई 1944 के जून-जुलाई के पहले न हो सकी। वे लोग प्रायः दो बरसों तक तो हाजत में ही पड़े रहे। उन पर जुर्म बड़े संगीन लगाये गये थे—उस गांव के लोगों ने, बम्बई के 8 अगस्त के प्रस्ताव के बाद, कांग्रेस के हुक्म से, अपने और आसपास के गांवों में ब्रिटिश राज्य उठाकर अपना राज्य कायम कर लिया है—एक आदमी राजा हो गया था, दूसरा मंत्री, तीसरा सेनापति, इस तरह और लोग भी इस राज्य-स्थापना में मदद करते थे और इस राज्य को चलाने के लिए लोगों पर 'कर' लगाया था। जो कड़े-से-कड़े दफा हो सकते हैं, सभी उन पर लगाये गये थे और उनकी सजा फांसी तथा माल-जायदाद की जब्ती हो सकती थी। राजा, मंत्री और सेनापति अपने अन्य साथियों के साथ बांकीपुर जेल में लाये गये। सेनापति इतना बीमार थे कि इन दो बरसों में उनका अधिक समय अस्पताल में ही बीता। मुकदमा सेसन-जज के सामने पेश हुआ। पुलिस का बयान यह हुआ कि बम्बई की

खबर पाकर इन लोगों ने अपना राज्य कायम कर लिया, उस गांव में तथा आसपास के गांवों में लोगों से 'कर' वसूलने लगे और जो 'कर' नहीं देता उसका घर-माल लूट लेते। उन लोगों का जवाब था कि सारा मुकदमा झूठा है, वे लोग कांग्रेस के साथ कोई संबंध नहीं रखते थे, बम्बई के फैसले का उनको कुछ पता ही न था, गांव के उस छोटे जुजवी जमींदार ने अपना वैर साधने के लिए उन्हें झूठे मुकदमे में फंसा दिया है। सेसन-जज का फैसला हुआ कि मुकदमा बिलकुल झूठा और बे-बुनियाद है, उस जमींदार ने ही इसे खड़ा कराया है; क्योंकि ऐसे गांव में—जिसका संबंध बरसात में बाकी दुनिया से एक प्रकार से टूट जाता है—बम्बई के फैसले और आन्दोलन की खबर भी न पहुंची होगी; क्योंकि जिस दिन वहां स्वतंत्र राज्य-स्थापना की बात कही जाती थी उस दिन तक पटना शहर में भी आन्दोलन ने अभी जोर नहीं पकड़ा था। अंत में, सब-के-सब छूट गये; पर दो बरसों तक हाजत में रहने और मुकदमे में बहुत खर्च करने के बाद!

एक दूसरी मिसाल और लीजिए। 18-20 बरस का एक लड़का था। राजनीति से उसका कोई संबंध न था। देखने में जरा अच्छा था। पुलिस को उससे कुछ रंज था। वह छोटी-मोटी मामूली चोरियां करने वाला अथवा पाकिटमार-सा कुछ होगा। 9 अगस्त को आन्दोलन आरम्भ होने के कुछ पहले ही, वह बिना टिकट रेल पर जाने के लिए गिरफ्तार हुआ। इसी बीच में आन्दोलन शुरू हुआ। पुलिस ने उसे कुछ दिनों के लिए जेल में रख देने का सीधा उपाय यह समझा कि थाना लूटने, रेल तोड़ने, तार काटने इत्यादि के मुकदमों में वह मुजरिम बना दिया जाये। पुलिस ने शायद सोचा कि इस तरह एक पाकिटमार की निगरानी का भार कुछ बरसों के लिए उसके सिर से उतर जायेगा। टिकट वाले मुकदमे में उसके एक हफ्ता कैद की सजा हुई जो बहुत जल्द समाप्त हो गयी। किंतु उस पर और कई मुकदमे थे। वह राजनीतिक हाजतियों के साथ जेल में रखा गया। एक मुकदमा हुआ जिसमें उसने बयान किया कि वकूआ के पहले से वह जेल में बंद रहा है। मजिस्ट्रेट ने उसकी बात मान ली और रिहाई कर दी। परंतु उस पर और भी इस प्रकार के आन्दोलन संबंधी मुकदमे थे, इसलिए वह छूटा नहीं। दो-तीन मुकदमे हुए और सबमें वह बरी होता गया, पर छूटा नहीं। इस तरह कई महीने बीत गये। एक और मुकदमा चला। उसका संबंध भी आन्दोलन से था। पर उसके यह बयान करने पर भी कि वह वकूआ के बहुत पहले से ही जेल में रहा है और जेल का रजिस्टर मांगकर देख लेने से ही यह बात साबित हो जायेगी, मजिस्ट्रेट ने कई बरसों की कैद की सजा उसे दे दी! अपील भी नामंजूर हो गयी! पर उसकी ओर से एक दर्खास्त तैयार की गयी जिसमें सब बातें लिखी गयीं—उसकी गिरफ्तारी की तारीख, वकूआ की तारीख, दूसरे मुकदमों का हाल जिनमें वह छोड़ दिया गया था, सब बातें खोलकर लिखी गयीं और कहा गया कि जेल का रजिस्टर मंगाकर देखा जाये कि वकूआ के दिन वह जेल में था या नहीं। जिला मजिस्ट्रेट जेल देखने आया तो उसने दर्खास्त उसको दी। जिला मजिस्ट्रेट को

आश्चर्य हुआ; पर वह दर्खास्त साथ लेता गया। मालूम हुआ कि उसने कागजों को मंगाकर देखा और उसे मालूम हो गया कि वह आदमी गलत सजा पाकर जेल में सड़ रहा है। उसने गवर्नमेंट को लिखा और उसकी रिहाई का हुक्म मंगवाया।

इस तरह की धांधलियां न मालूम कितनी ही हुईं जिनके शिकार राजनीतिक लोग तो हुए ही, दूसरे लोगों की संख्या भी कम न रही। राजनीतिक लोगों की सजा की बात क्या कहूं! कहां तक कहूं? ऐसे लोगों को भी देखा जिनको 25-25 साल की सजा मिली थी। ऐसे भी थे जिनको 50 बरस से भी अधिक लम्बी सजा मिली थी। ऐसे लोगों की संख्या भी कम न थी जिनको 10 बरस अथवा दामुल (डामल हौस) की सजा दी गयी थी। साल, दो साल और चार साल की तो बात ही क्या! जब कलकत्ता हाइकोर्ट ने उस आर्डिनेंस को, जिसके अनुसार ये मुकदमे चलाये गये थे, गैर-कानूनी बता दिया और लार्ड लिनलिथगो को नया आर्डिनेंस बनाना पड़ा तथा इन मुकदमों के अभियुक्तों को अपील का मौका मिला, तो हाइकोर्ट ने बहुतेरों को छोड़ दिया। बहुतेरों की सजाएं कम कर दी गयीं। बहुतेरे तो यह कहकर छोड़ दिये गये कि जितनी सजा वे भुगत चुके हैं, काफी है। शुरू में ही, जब आन्दोलन जोरों पर था और मुकदमों का अभी आरम्भ ही हो रहा था, इस धांधली के कुछ नमूने सामने आ गये, जिनमें से एक का जिक्र ऊपर किया गया है, जिसमें आठ आदमियों को फांसी की सजा जिला-जज ने दे दी थी।

इसके पहले के आन्दोलनों में कांग्रेसी लोग अदालतों में अपना बचाव नहीं किया करते थे। उस समय भी धांधलियां तो हुआ करती थीं, पर सजाओं में कुछ मर्यादा रहती और इतनी लम्बी-लम्बी सजाएं नहीं होतीं। जुर्माने में बड़ी-बड़ी रकमें कहीं-कहीं ली जातीं, पर आम तौर से लोग इन बातों की परवाह नहीं करते और गांधीजी ने बचाव करने की जो मनाही कर दी थी उसे लोग मानते। इस बार के मुकदमों का रुख कुछ दूसरा था। इनमें बहुत लम्बी-लम्बी सजाएं—फांसी तक की—होतीं या होने वाली थीं। इसलिए यह प्रश्न उठा कि बचाव किया जाये या नहीं? बांकीपुर जेल में ही ऐसे लोग थे जिनको फांसी की सजा मिली। 1930-31 और 1932-34 के सत्याग्रह आन्दोलन में भी जुर्मानों की वसूली में बहुत धांधली होने लगी थी। थोड़ी रकम के लिए घर का सब धन-माल कानूनी तरीके पर केवल जब्त ही नहीं किया जाने लगा, बल्कि गैर-कानूनी तौर पर लूटा भी जाने लगा। किसी ने बिना किसी से राय लिये ही हाइकोर्ट तक मामले को पहुंचा दिया। वहां से हुक्म हो गया कि इजमाल हिन्दू खानदान का माल किसी एक आदमी के जुर्माने में जब्त नही किया जा सकता। नतीजा इसका यह हुआ कि जुर्माने की वसूली की धांधली बहुत कम हो गयी; क्योंकि सभी जगहों में लोगों ने पूछा कि ऐसे संगीन मुकदमों में बचाव किया जाये या नहीं, तो मैंने राय दी कि बचाव जरूर किया जाये। कुछ लोगों को यह बात पसंद नहीं आयी और कुछ लोगों को इसका पता ही न था कि मैंने ऐसी राय दी है। इसलिए कुछ लोगों ने कोई बचाव नहीं किया और जो सजा हुई उसे हंसते-हंसते झेल ली। इनमें श्री जगलाल चौधरीजी

थे जिनको दस साल की सजा मिली—और यह भी तब, जब उनका एक जवान लड़का गोलियों का शिकार बन चुका था और उनकी गिरफ्तारी थाने पर हुई थी जहां उसके शव की तलाश में वह गये थे !

जब नये आर्डिनेंस के अनुसार अपील का मौका मिला तो उसमें भी मैंने राय दी कि अपीलें की जायें। मैंने यह राय दो कारणों से दी—एक कारण तो यह था कि मैं समझता था कि बचाव करने से मजिस्ट्रेटों की धांधली शायद कुछ कम हो और दूसरा कारण यह था कि मैंने देखा कि इस आन्दोलन में बहुतेरे ऐसे लोग भी गिरफ्तार हुए थे जिनका कांग्रेस से कभी कोई सरोकार नहीं था और जो हर हालत में अपना बचाव करते ही। कांग्रेसी लोगों में भी ऐसे लोग थे जो अपना बचाव करना चाहते थे। सजाएं भी कड़ी होने वाली थीं। इसलिए मैंने सोचा कि इनको यदि रोका जाये तो असंतोष फैलेगा और हो सकता है कि रोकने पर भी बहुतेरे लोग बचाव करें। ऐसी अवस्था में बचाव करने देना ही ठीक मालूम हुआ। मैं जानता था और अपने विश्वास को, जिनसे भेंट होती थी उनसे, कह भी देता था कि यद्यपि उनकी सजाएं लम्बी हैं तथापि वे और मेरे ऐसे लोग भी जो बिना मीयाद के जेल में रखे गये हैं, छूटेंगे सब एक ही समय। हो सकता है कि हम कुछ पहले छूट जायें, पर हम जब तक उनको भी छुड़ा न लेंगे, बाहर नहीं रह सकेंगे। बात भी ऐसी ही थी। हम इतने लोगों को लम्बी सजा भुगतने के लिए छोड़कर खुद कैसे बाहर रह सकते थे ? मुझे इस बात से संतोष हुआ कि जब महात्मा गांधीजी बाहर निकले तो उन्होंने भी मुकदमों में बचाव करने का ही आदेश दिया। चिंता उन लोगों के बारे में होती जिनको फांसी की सजा होती। जो कैद हैं वे तो कुछ आगे-पीछे जेल से निकाले जा सकते हैं, पर जिनको फांसी की सजा दी गयी है वे तो सदा के लिए चले जायेंगे। पटने में कई आदमियों को फांसी की सजा हुई, पर किसी-न-किसी तरह सब-के-सब बच गये। कुछ समय तो अपील वगैरह में लगा। पीछे जब हम लोग छूट गये और महात्मा गांधी फांसी वाले मुकदमों के बारे में लार्ड वेवल से बातें करने लगे, तो औरों के साथ पटना वालों की फांसी की सजा भी डामलहौस (दामुल) में बदल दी गयी, और कांग्रेस-मिनिस्ट्री आने पर वे छूट गये। पर मुजफ्फरपुर, भागलपुर, मुंगेर इत्यादि में कई आदमी फांसी पा ही गये। अगर वे भी सहसा लटका न दिये जाते तो अंत में छूटते ही; पर यद्यपि उनके साथ एक ही मुकदमे में सजा पाये हुए लोग पीछे छूट गये तथापि वे लोग चले ही गये। उन लोगों को, जो फांसी की सजा पा चुके थे, आज बाहर देखकर एक प्रकार की प्रसन्नता होती है और इस बात पर अफसोस भी होता है कि दूसरों को इसी तरह हम लोग नहीं बचा सके।

150

1942 की उत्तेजनाओं के परिणाम

इस बार जेल में 9 अगस्त (1942) को मैं लाया गया। वहां से 1945 में 15 जून को निकला। जैसा ऊपर कह आया हूं, शुरू में मथुरा बाबू और श्री चक्रधर शरण मेरे साथ रहे; दूसरे लोग आते-जाते रहे, पर मेरे लिए नहीं। 1943 के अक्टूबर में श्री चक्रधर शरण हजारीबाग भेज दिये गये। मार्च 1944 में मथुरा बाबू की रिहाई हो गयी। उसके बाद 3 दिसम्बर 1944 तक मेरे साथ केवल वाल्मीकि ही रहे। नये आर्डिनेंस के अनुसार, गवर्नमेंट की ओर से, एक कमिटी हर छठे महीने आती और नजरबंद लोगों से मिलती। जिनके लिए वह सिफारिश करती वे छोड़ दिये जाते। यह कमिटी पहली बार 1944 के मार्च में आयी। मथुरा बाबू उसी की सिफारिश पर अचानक छोड़ दिये गये। मुझसे कमिटी के मेम्बरों ने पूछा था कि क्या मैं छूटना चाहता हूं, तो मैंने उत्तर दिया था कि अकेला नहीं, सब लोगों के साथ ही। इस पर उन्होंने पूछा कि यदि छोड़ दिया जाऊं तो मुझे आश्चर्य होगा क्या? मैंने उत्तर दिया था कि जरूर—बहुत आश्चर्य होगा। उन्होंने पूछा कि तोड़फोड़ का कार्यक्रम अगर कांग्रेस ने नहीं दिया तो लोगों को कैसे मालूम हुआ और यह बात सारे देश में एक छोर से दूसरे छोर तक इतना जल्द कैसे फैल गयी? मैंने उत्तर दिया कि 8 अगस्त के प्रस्ताव के साथ-साथ गवर्नमेंट की एक विज्ञप्ति 9 अगस्त (1942) के सवेरे के समाचारपत्रों में निकली थी, जिसमें गवर्नमेंट ने गांधीजी और वर्किंग कमिटी के लोगों की गिरफ्तारी के कारण बताकर लोगों को यह समझाने की कोशिश की थी कि गवर्नमेंट की यह कार्रवाई उचित है—उसी में यह बात साफ-साफ लिखी थी कि कांग्रेस की ओर से इस बार रेल-तार आदि तोड़ने-काटने का भी कार्यक्रम दिया गया है—उसी दिन या उसके दूसरे दिन मि. एमरी ने रेडियो पर भाषण किया था जिसमें भी यह बात कही गयी थी और यह भाषण भी अखबारों में छपा था—कांग्रेस की ओर से कोई कार्यक्रम नहीं निकला था—लोगों ने समझ लिया कि यही कार्यक्रम होगा और गवर्नमेंट की ही बात पर विश्वास करके लोगों ने काम शुरू कर दिया।

मेरा आज भी विश्वास है कि इस कार्यक्रम का इतना अधिक और इतनी तेजी से प्रचार इसी कारण से हुआ। लोगों के दिल में पहले से ही, जैसा मैंने ऊपर कहा है, 1930 से ही, इस

तरह की बातें उठा करती थीं; इस बार उसको पुष्टि मिल गयी और जन-साधारण ने उसे ठीक मान लिया। इसके दो जबरदस्त प्रमाण मुझे जेल में उसी समय मिल गये। मैं समझ गया कि यह बात जोरों से चलेगी। मेरी गिरफ्तारी के थोड़े ही दिन बाद फूलन बाबू जेल में पहुंचे थे। उन्होंने कहा कि जब मेरी गिरफ्तारी की बात शहर में पहुंची तो कुछ लोग उनके (फूलन बाबू के) पास पहुंचे और उनसे पूछा कि कार्यक्रम क्या है ? लोग समझते थे कि मेरे साथ उनकी मुलाकात हुई होगी और मैंने कुछ बताया होगा। पर उनकी-मेरी बहुत दिनों से मुलाक़ात हुई ही न थी, इसलिए वह कुछ नहीं बता सके। पर उसी दिन कुछ घंटे पहले पत्रों में गवर्नमेंट की विज्ञप्ति छप चुकी थी और लोगों का ध्यान उस ओर आ गया था। दो दिनों के बाद जब कुछ लड़के सेक्रेटेरियट के गोली-कांड के बाद गिरफ्तार होकर बांकीपुर जेल में लाये गये तो मैंने देखा कि वे सब-के-सब तार-टेलीफोन और रेल तथा सड़कों को तोड़ना-काटना और किसी तरह यातायात बंद कर देना कार्यक्रम में दाखिल समझते थे। जैसा ऊपर कह आया हूं, जब जेल के फाटक के नजदीक एक लारी में गिरफ्तार कुछ विद्यार्थी कहीं भेजे जा रहे थे तो जनता द्वारा वे बचा लिये गये और लारी जला दी गयी, फिर बाकी लारियों से उतारकर दूसरे छात्र कुछ देर के लिए जेल के अंदर पुनः लाये गये। मैं बीमार तो था, पर तो भी मैंने उनको यह समझाने की कोशिश की कि यह अच्छा नहीं हुआ। इस पर उनका उत्तर यही मिला कि जब टेलीफोन-तार आदि तोड़ना और रेल रोकना ठीक है तब तो लारी को भी बेकार कर देना उसी कार्यक्रम के अंदर है, इसलिए यह भी ठीक होना ही चाहिए। मेरे बहुत कहने पर भी मेरी बात उनको जंची नहीं, यद्यपि मेरे लिहाज से वे कुछ अधिक बोले नहीं। वे तो जेल में कुछ दिनों तक बंद रहे, इसलिए उन्होंने तो इस कार्यक्रम को नहीं चलाया होगा। पर यह स्पष्ट था कि लोगों को यह विश्वास हो गया था कि यह तोड़-फोड़ भी कार्यक्रम में है।

इसी कारण, इतना जल्द, प्रायः मुगलसराय से आसनसोल तक, ई. आई. आर. की मुख्य लाइन में, गाड़ियों का आना-जाना बहुत दिनों तक बंद रहा। इसी तरह पटना-गया ब्रांच लाइन भी बेकार कर दी गयी थी। केवल ग्रैंडकौर्ड लाइन में बहुत नुकसान नहीं हुआ था, इसलिए उसकी गाड़ियों का आना-जाना बंद नहीं हुआ। गंगा के उत्तर की तरफ बी. एन. डब्ल्यू. रेलवे (अब ओ. टी. रेलवे) में, इधर बनारस से लेकर कटिहार तक और उधर गोरखपुर-बस्ती से लेकर वहां तक की लाइन जहां छपरे में वह बनारस-लाइन से मिल जाती है, बहुत तोड़-फाड़ हुआ था—प्रायः सभी जगहों पर इतने स्टेशन तोड़-फोड़ दिये गये थे और लाइन भी इस कदर बर्बाद कर दी गयी कि कई महीनों तक गाड़ियां न चल सकीं। इन्हीं कारणों से, बिहार के बाहर के लोगों का विचार है कि समस्त बिहार और संयुक्तप्रांत के पूरबी जिलों में ही आन्दोलन का रूप सबसे ज्यादा उग्र और जबरदस्त रहा; अतः यहीं सबसे अधिक गवर्नमेंट की सख्ती भी हुई। न मालूम कितने ही आदमी पुलिस और फौज की गोलियों के शिकार हुए। कितनों के घर जलाये और लूटे गये। कितनों को अन्य प्रकार की

अकथनीय यातनाएं सहनी पड़ीं। जेल जाने वालों की संख्या का तो हमें कुछ ठीक पता भी न चला। हम इतना ही जानते हैं कि बिहार में बहुतेरे मामूली कैदियों को राजनीतिक कैदियों के लिए जगह खाली करनी पड़ी और इस तरह मीयाद से पहले ही बहुतेरे छोड़ दिये गये। बहुतेरे तो, जिन पर संगीन जुर्म लगे हुए थे, हाजत से ही छोड़ दिये गये। लोगों का कहना है कि भागलपुर जिले में बांका सबडिवीजन के 30-40 डकैत इसलिए छोड़ दिये गये कि वे बाहर जाकर डकैतियां करें ताकि जनता कांग्रेस से ऊब जाये! सुना कि उनमें से कुछ ने बाहर निकलकर आन्दोलन में भाग लिया—एक को तो फांसी की सजा हुई और दूसरे कइयों को दूसरी कड़ी सजाएं मिलीं। मैंने जेल से छूटने के बाद गवर्नर से मुलाकात होने पर यह बात कही थी। उन्होंने जांच भी करायी थी। मालूम हुआ कि बहुतेरे डकैत इस तरह बांका में छोड़ दिये गये थे! मैंने सुना कि आरम्भ में, जब तक आन्दोलन जोरों पर था, चोरी-डकैती एकबारगी बंद हो गयी थी!

आन्दोलनकारी लोगों ने कुछ डाकखाने या रजिस्टरी-आफिस वगैरह दखल कर लिये। कहीं-कहीं कुछ में उन्होंने आग भी लगा दी। पर शुरू में जब आन्दोलन जोरों पर था तो यह भी सुनने में आया कि जहां-कहीं रुपये मिले उन लोगों ने उनमें से एक नहीं लिया। चांदी के रुपये तो उन दिनों देखने को भी कम ही मिला करते थे; इसलिए प्रायः नोट ही मिलते। लोग उन नोटों को जला देते, उनसे व्यक्तिगत लाभ उठाने का अथवा उन्हें आन्दोलन के लिए खर्च करने का ख्याल भी किसी को न होता। पर कुछ दिनों के बाद यह बात न रही। कुछ लोग इस तरह से आये हुए धन का संग्रह आन्दोलन के लिए करने लग गये। यहां तक कि आन्दोलन के नाम पर डकैतियां भी की गयीं। मालूम नहीं, इन डकैतियों में मिला हुआ धन किसके पास गया और किसने उसे किस तरह खर्च किया। पर यह सब बहुत बाद में हुआ जब आन्दोलन एक प्रकार से बंद हो गया था। आन्दोलन के जोर के दिनों में तो गवर्नमेंट के कर्मचारी ही लोगों को लूटखसोट के लिए आमंत्रित करते! डाकखाना वाले तो डाकखाने का लुट जाना ही अच्छा समझते—उनको यह कहने का बहाना मिल जाता कि जो रुपये जमा थे, लोग लूट ले गये; चाहे वे रुपये सचमुच लुटे हों या नहीं, पर गवर्नमेंट को नहीं मिले। बहुत जगहों में, शुरू में, थाना वाले भी जनता के साथ मिल गये। लोगों के पहुंचते ही वे थाने पर झंडा फहराने देते और उनके साथ मिलकर नारे लगाते। ऐसे थानेदारों के साथ जनता का भी अच्छा व्यवहार होता। सुना है कि कहीं-कहीं थानेदार को नाव या किसी दूसरी सवारी पर सवार कराकर जिले के सदर शहर में लोगों ने पहुंचवा दिया और थाने पर कब्जा कर लिया। जहां थानेदार की ओर से ज्यादती हुई वहीं पर थानेदार के साथ जनता ने सख्ती की। कुछ जगहों में वे मार डाले गये, पर ऐसी कम जगहें थीं। कोई-कोई थानेदार बहुत जालिम साबित हुए, और जब फौज आ गयी तब तो पुलिस का रुख ही बदल गया—उन्होंने बहुत

जुल्म किया जिसका वर्णन करना भी कठिन है। इस जुल्म में अधिकतर दारोगा वगैरह ऊपर के अफसर अधिक भाग लेते थे—सिपाही-कांसटेबुल ने कम भाग लिया।

यह सब कुछ जानने के बाद यह मानना पड़ेगा कि जनता ने रेल-तार तो खूब तोड़ा और सरकारी मकानों को भी क्षति पहुंचायी; पर जितना विस्तार आन्दोलन का था उतने अनुपात में जनता ने सरकारी कर्मचारियों के साथ ज्यादा सख्ती नहीं की। जान ले लेना या मारपीट करना भी बहुत कम ही हुआ। ऐसा मालूम होता है कि जनता की धारणा हो गयी थी कि किसी आदमी को मारना-पीटना अथवा जान से मार डालना अहिंसा के सिद्धांत के विरुद्ध है, पर रेल-तार-मकान इत्यादि बेजान चीजों को तोड़ना-फोड़ना अथवा जला देना भी अहिंसा के अंदर ही है! यद्यपि गवर्नमेंट के कुछ आदमी मारे गये तथापि उनकी संख्या बहुत कम थी। जब हम यह देखते हैं कि बहुत दूर-दूर तक और बहुत समय तक आन्दोलन फैला और चलता रहा तब ध्यान में आता है कि जनता अगर चाहती तो बहुत-से लोगों को आसानी से मार सकती थी। इससे तो यही मालूम होता है कि जनता ने जानबूझकर कितनों ही को छोड़ दिया। अगर वह ऐसा न करती तो न मालूम कितने और थानेदार कत्ल हो गये होते। फिर भी इन थोड़े-से लोगों के बदले में गवर्नमेंट ने न मालूम कितनों को गोलियों का शिकार बना डाला। यदि दोनों ओर के मरे हुओं की संख्या का ठीक पता लगता तो अनुपात एक के बदले 75, नहीं तो 50-60 जरूर पड़ता। पर यह तो अनुमान मात्र है। ठीक संख्या न तो मालूम हुई है और न शायद मालूम होगी ही। तो भी यह तो मानना पड़ेगा कि आन्दोलन बिलकुल अहिंसात्मक न रह सका और जनता भी इस बंधन से बाहर निकल गयी।

आन्दोलन का जोर तो प्रायः एक से दो महीने तक ही रहा। उसके बाद उसका असर जो कुछ रह गया हो, पर लोग आक्रमण न करके अपने बचाव में ही लग गये और गवर्नमेंट के दमनचक्र का शिकार बनते रहे। कुछ लोगों ने ठप पड़े हुए आन्दोलन को फिर से उभाड़ने का बहुत प्रयत्न किया, पर उस प्रयत्न का कोई विशेष फल देखने में नहीं आया—वह फिर उठा या चला नहीं। इक्के-दुक्के वाकया कहीं-कहीं हुए, पर उनका असर न तो गवर्नमेंट पर कुछ पड़ा और न जनता की ही उनमें कोई विशेष दिलचस्पी रही—हां, उनके कारण दमन का जोर जारी रहा और जनता को बहुत-कुछ सहते रहना पड़ा। कुछ लोग जेल में नहीं आये, बाहर ही काम करते रहे। कुछ लोग जेल से निकलने पर इस प्रकार के प्रयत्न में लगे रहे। पर थोड़े ही समय के बाद यह स्पष्ट हो गया कि प्रयत्न करने वाले लोग अब इस समय जनता में फिर जोश नहीं पैदा कर सकेंगे और आन्दोलन फिर जारी नहीं किया जा सकेगा। जो लोग इस तरह के प्रयत्न में लगे हुए थे वे लुक-छिपकर ही काम कर सकते थे। इस आन्दोलन में इस प्रकार के बहुतेरे लोग थे। कुछ दिनों के बाद तो उन लोगों को अपनी रक्षा के सिवा दूसरा काम करने का न तो समय मिलता और न साधन। फरार रहना ही एक ऐसा काम हो गया जो उनकी सारी शक्ति और सारा समय ले लेता। तब भी बहुतेरों ने बहुत बहादुरी से काम

लिया। कहीं-कहीं जबरदस्त संगठन भी कर दिया जिसको हजार कोशिश के बाद भी गवर्नमेंट तोड़ न सकी और उनका पता न पा सकी। जब कांग्रेस मंत्रिमंडल बन गये, उन सब लोगों पर से मुकदमे और गिरफ्तारी के वारंट उठा लिये गये, तभी वे बाहर निकले या तभी गवर्नमेंट के कर्मचारी उनका पता पा सके। इस कार्यपटुता और बहादुरी के लिए वे प्रशंसा के पात्र हैं। पर मेरा अपना विश्वास है कि यदि लुक-छुपकर काम न किया गया होता तो उनमें से कुछ लोग जरूर मारे जाते, फांसी पड़ते अथवा दूसरे प्रकार के कठोर दमन के शिकार बनते; परंतु निरीह जनता पर जितना जुल्म हुआ उतना न होता और आन्दोलन भी कहीं अधिक आगे बढ़ गया होता तथा जल्द दबाया भी न जा सकता। जनता के सामने भी ऐसे लोग हमेशा मौजूद पाये जाते जिनको वह अपना नेता मानती—जिनकी बातों पर वह खुशी-खुशी जान देती और धन लुटाती। लुक-छुपकर काम करने का यह असर हुआ कि काम बहुत व्यापक रूप में न हो सका—थोड़े लोगों की कार्रवाइयों का प्रतिफल बहुतेरे दूसरे बेकसूर लोगों को भोगना पड़ा। इसलिए मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि रेल-तार तोड़ने वाले लोग सामने आकर काम करते और अपने कामों को कबूल कर लेते तो दूसरे लोगों की हिम्मत कहीं अधिक बढ़ जाती—मुमकिन है कि एक के बदले सैकड़ों दूसरे लोग उसी काम के लिए तैयार हो जाते और सजा भी उन्हीं लोगों को मिलती जो कबूल करते, बेकसूर बहुत-कुछ बच जाते। जो हो, यह तो अहिंसा के सिद्धांत की बात है। जो लोग उसमें विश्वास नहीं रखते उनको भला उसकी पाबंदी कैसे पसंद हो सकती है! जहां तक जनता की हिम्मत बढ़ी थी वह खुले-आम विद्रोह के कारण ही बढ़ी थी—वह नीति जारी रहती तो और भी बहुत कुछ बढ़ती।

151

बंगाल का अकाल और भारत की अखंडता

ज़ेल में रहते-रहते बंगाल के भयंकर अकाल का हाल हमारे सुनने में आया। 1943 की गर्मियों में चावल और खुराक की चीजों का दाम इतना बढ़ गया कि लोगों के लिए अन्न खरीदना कठिन होने लगा। जब मैं बचपन में छपरे और पटने में पढ़ता था तो एक बार अकाल पड़ा था। मुझे याद है कि गवर्नमेंट की ओर से जहां-तहां लोगों को काम कराकर मदद देने के लिए बड़े-बड़े तालाब खुदवाये गये थे। मेरे गांव से कुछ दूर पर एक बड़ा तालाब खोदा गया था। जहां-तहां गरीबों के लिए पका हुआ अन्न भी बांटा जाता था। उस समय तक अच्छा चावल रुपये में 15 सेर बिका करता था। उसके बाद से घटकर 9 -10 सेर का हो गया। उसके बाद एक बार और कुछ महंगी हुई तो वह और भी घटकर रुपये में 5 -6 सेर बिकने लगा। 1943 में रुपये में सवा सेर या डेढ़ सेर मामूली तौर से चावल का दाम हो गया। जेल में हम लोगों को अखबारों से कुछ खबर मिलने लगी। आहिस्ता-आहिस्ता बंगाल की हालत और भी बिगड़ी। कुछ लोगों के वहां भूखों मरने की खबर होने लगी। थोड़ी ही दिनों में यह बात मालूम होने लगी कि कलकत्ते की सड़कों पर लोगों की लाशें मिलती हैं। कुछ दिन बाद अखबारों में मृतकों की तसवीरें भी छपने लगीं। इस दिशा में सबसे पहले 'स्टेट्समैन' ने काम शुरू किया। दूसरे हिन्दुस्तानी पत्रों में भी बहुत तसवीरें छपीं। जनता की ओर से लोगों को मदद पहुंचाने का प्रयत्न होने लगा। मैं शुरू में अखबारों में इन खबरों को पढ़ता और तसवीरें भी देखता। पर कुछ दिन बात स्थिति की भयंकरता इतनी बढ़ गयी कि मेरे लिए तसवीरों को देखना और खबर पढ़ना भी असह्य हो गया। मैंने अखबार पढ़ना बंद कर दिया। जेल में बैठे-बैठे कोई कर ही क्या सकता था! पटने में श्री प्रफुल्लरंजन (पी. आर) दास ने पीड़ितों की सहायता के लिए कुछ रुपये जमा करने का प्रयत्न किया। उन्होंने एक अपील निकाली। मैंने सोचा, यह काम ऐसा है जिसमें और कुछ नहीं तो अपने पत्र द्वारा लोगों की कुछ सेवा कर सकूं तो थोड़ा संतोष होगा। मैंने एक पत्र श्री दास महाशय के नाम लिखा जिसमें उनकी अपील का समर्थन किया। फसल तैयार होने के समय

जनता से अन्न-दान के लिए अपील करके कुछ अन्न जमा करने का रास्ता भी सुझाया। कुछ दिनों के बाद गवर्नमेंट का हुक्म आया कि मेरा पत्र श्री दास के पास नहीं भेजा गया, रोक लिया गया। इसकी खबर बाहर किसी को शायद आज तक न होगी।

बंगाल की स्थिति इतनी बिगड़ी कि न मालूम कितने लाख लोग मरे। जननायकों का मत है कि 50 लाख के लगभग लोगों को अकाल ही काल का कौर बनना पड़ा। सरकारी अनुमान भी शायद 15-20 लाख का है। जो दर्दनाक घटनाएं हुईं वे अवर्णनीय हैं। कारण जो हो, शुरू में गवर्नमेंट कुछ नहीं कर सकी। सर नाजिमुद्दीन प्रधानमंत्री थे और खूराक के मंत्री श्री सोहरावर्दी। गवर्नर थे सर हर्बर्ट, बड़े लाट थे लार्ड लिनलिथगो। मुझे आश्चर्य होता कि इतनी दुरवस्था में भी वहां की जनता चुपचाप कैसे सब कुछ सह रही है! कम-से-कम मंत्रिमंडल कैसे खुद काम कर सकता है और असेम्बली के मेम्बर ही उसे कैसे चलने देते हैं! पर लड़ाई का जमाना था। आर्डिनेंसों की हुकूमत थी। मुस्लिम लीग के हाथों में अधिकार था। कोई कुछ कर न सका। लार्ड लिनलिथगो ने कांग्रेसी लोगों को दबाने में तो काफी तेजी और तनदेही से काम किया था; पर जब बंगाल में इतने लोग मरे जितने इस महायुद्ध-भर में दुनिया के सभी देशों को मिलाकर भी न मारे गये होंगे, तो उनसे इतना भी न हो सका कि एक दिन के लिए भी वह बंगाल जाते! उनके चले जाने पर जब लार्ड वावेल गवर्नर-जेनरल (वायसराय) होकर आये तो आते ही बंगाल गये। वहां फौज को उन्होंने हुक्म दिया कि लोगों को मदद पहुंचाने का काम वह करे। सर हर्बर्ट बीमार पड़ गये। उनकी जगह पर बिहार के गवर्नर वहां भेजे गये। इन्होंने भी स्थिति संभालने में मदद की। किसी तरह से, कई महीनों के बाद, हालत कुछ बदली। लोगों का सड़कों पर बे-मौत मरना बंद हुआ।

जन-श्रुति कहती है कि इस विपत्ति से बहुतेरों ने, जिनका काम जनता की रक्षा करना था और जिनके जिम्मे यह काम दिया गया था, बहुत रुपये कमाये और कितने तो मालामाल हो गये। इसके कारणों में एक प्रधान कारण यह भी कहा जाता है कि गवर्नमेंट ने लड़ाई के कारण लोगों से धान-चावल ले लिया था और उनकी छोटी-छोटी नौकाएं भी ले ली थीं। शत्रु को कुछ न मिलने देने के लिए समुद्र-तट के स्थानों को साधनहीन अथवा मरुभूमि बना देने की जो नीति (Scorched earth policy), जापानी आक्रमण के कारण, बरती गयी थी वह इस अकाल के लिए कम जवाबदेह नहीं थी। उस समय लार्ड वावेल ही फौजी लाट थे। उस नीति की जवाबदेही उन पर ही थी। इसीलिए बड़े लाट होकर पहुंचते ही उन्होंने, उस नीति के कारण उपस्थित स्थिति के संभालने में, फौज द्वारा मदद करना आवश्यक माना। इसी से स्थिति कुछ संभली भी।

बिहार में भी अन्न का दाम वैसे ही बहुत बढ़ गया था। तीस रुपये मन चावल बिकने लगा था। पर बिहार में बंगाल जैसी हालत नहीं हुई। यहां भूखों मरने वालों की खबर

अखबारों में कम-से-कम देखने में नहीं आयी। एक बात इस अकाल से स्पष्ट हो गयी और वह यह कि इस विपत्ति में सारे भारत के लोग बंगाल की मदद के लिए ठीक उसी तरह दौड़ पड़े जैसे बिहार में भयंकर भूकम्प के बाद। फर्क इतना ही था कि इस समय लड़ाई के कारण लोगों के पास साधन नहीं थे। रुपये होने पर भी लोगों को सरकारी मदद बिना अन्न नहीं मिल सकती थी। अगर कहीं दूर अन्न मिलता भी तो सरकारी आज्ञा और मदद बिना वह बंगाल पहुंचाया नहीं जा सकता; क्योंकि रेल-स्टीमर इत्यादि यातायात के सभी साधनों पर नियंत्रण था। इसलिए इच्छा रहते भी जितनी मदद की जरूरत थी उतनी लोग न पहुंचा सके। इसके अलावा यह विपत्ति बहुत दूर में फैली हुई थी और बहुत दिनों तक टिकी रही। भूकम्प तो चंद मिनटों का मामला था। उसके बाद केवल उसके असर को ही दूर करना था। यहां तो विपत्ति ही महीनों तक अपना काम करती रही। उसके ऊपर युद्धकालीन नियंत्रण अपनी करामात कर ही रहा था। भारतवर्ष एक है। उसकी जनता एक है। इसका एक अकाट्य प्रमाण इस विपत्ति ने दिया। पर क्या इसका असर उन पर भी पड़ा जो इसे विभाजित करना चाहते हैं ?

152

जेल में ग्रंथ-लेखन का काम

इस बार जेल में मैंने कुछ लिखा भी। यों तो 1930 में भी मैंने कुछ लिखने का प्रयत्न किया था, पर वह पूरा न हो सका था —पीछे जो कुछ लिखा भी था वह खो गया। मैंने पहले से पाकिस्तान संबंधी कुछ अध्ययन किया था। वहां जाकर विचार हुआ कि इस विषय का विशेष रूप से अध्ययन करूं। कुछ ऐसी पुस्तकें, जो पाकिस्तान के समर्थन में लिखी गयी थीं, मंगायी गयीं। उनके पढ़ने के बाद विचार हुआ कि इस बात को देखना चाहिए कि जिस आधार पर यह मांग पेश की जाती है वह कहां तक ठीक है ? इसके बाद यह विचार हुआ कि यह भी देखना जरूरी है कि 'मुस्लिम लीग' पाकिस्तान किसे कहती है—उसकी मांग यदि कोई मान लेना चाहे तो उसे क्या देना होगा और मुस्लिम लीग को क्या मिलेगा—क्या पाकिस्तान अपने पांवों पर खड़ा हो सकेगा ? अंत में मैंने सोचा कि इस विषय पर कुछ लिखने की गुंजाइश है—यद्यपि इसका पता नहीं था कि हम लोग कब जेल के बाहर जा सकेंगे और जो कुछ मैं लिखूंगा वह कभी छपेगा या नहीं, तो भी अपने विचारों को साफ-साफ ऐसे रूप में लिपिबद्ध कर देना, जो दूसरों की समझ में आ जाये, ठीक जंचा। मैंने निश्चय किया कि कुछ लिखूं। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि यदि इस संबंध की सभी बातें देश के सामने—विशेषकर मुसलमानों के सामने—आ जायें तो जिस तरह विशेष अध्ययन के बाद उसके चलने में मुझे शक हो गया है उसी तरह दूसरे भी इसे अव्यवहार्य समझ लेंगे। इसलिए मैंने निश्चय किया कि उन्हीं बातों को कलमबंद करूं जिनसे यह अव्यवहार्यता मालूम हो जाये। पाकिस्तान को अव्यावहारिक सिद्ध करने वाला वह भाग लिख जाने के बाद इसके आधार के संबंध में भी लिखना उचित जान पड़ा, अर्थात भारत हिन्दू-मुसलमान दो-दो राष्ट्र हैं, इसलिए उसका विभाजन करके दो स्वतंत्र देश और राष्ट्र स्थापित कर देना चाहिए। इस तरह, जैसे-जैसे लिखता गया, पुस्तक का आकार बढ़ता गया। काम बहुत तेजी से नहीं हो रहा था। एक तो स्वास्थ्य ऐसा नहीं था कि बहुत परिश्रम कर सकूं। जब बीमार पड़ जाता तो महीनों न कुछ पढ़ पाता और न लिख पाता। जब अच्छा रहता तो पढ़ता और लिखता। कुछ जल्दी करने की जरूरत भी नहीं जान पड़ती थी, क्योंकि इसकी आशा तो थी

नहीं कि जेल में रहते-रहते कोई पुस्तक प्रकाशित करने की इजाजत मिलेगी, और अभी छूटने का कोई करीना भी नहीं नजर आता था। इसलिए आहिस्ता-आहिस्ता थोड़ा-थोड़ा करके लिखा।

इसी बीच में कोई साथी जेल से रिहा होकर बाहर निकले। उन्होंने किसी समाचारपत्र वाले से कह दिया कि मैं पाकिस्तान के संबंध में एक पुस्तक लिख रहा हूं। यह बात प्रकाशित हो गयी। सरकारी कर्मचारी कभी-कभी जेल में आया करते हैं। कमिश्नर आये। उन्होंने पूछा कि मेरी पुस्तक कहां तक लिखी जा चुकी है ? मैंने कहा कि करीब-करीब पूरी हो चुकी है। उन्होंने उसे देखना चाहा। मैंने हस्तलिखित बहियां उनके हाथ में दे दीं। एक तो मैं कुछ महीन छोटे अक्षरों में लिखने का आदी हूं, दूसरे—कागज की कमी के कारण, पन्ने के दोनों ओर लिखा था। चूंकि पुस्तक थोड़ा-थोड़ा करके लिखी गयी थी—जहां कोई नयी बात सामने आ गयी अथवा किसी नयी पुस्तक से मालूम हो गयी उसे यथास्थान चिपका देता; इस तरह जहां थोड़ी भी जगह छोड़ी गयी थी वह भी बिलकुल भर गयी थी और कहीं-कहीं तो पढ़े जाने की सुविधा के लिए दूसरे रंग की रोशनाई से भी काम लेना पड़ा था—इसलिए किसी भी दूसरे के लिए हस्तलिखित पुस्तक पढ़ना काफी मुश्किल था। कमिश्नर ने पूछा कि क्या पुस्तक छपवाने का इरादा है ? मैंने उत्तर दिया कि अगर गवर्नमेंट इजाजत देगी तो छपाई जायेगी ! इस पर उन्होंने कहा कि पुस्तक बगैर देखे गवर्नमेंट इजाजत नहीं देगी—जैसी हस्तलिखित पुस्तक की हालत है वैसी हालत में उसे गवर्नमेंट का देख सकना भी कठिन है—गवर्नमेंट तो टाइप की हुई प्रति ही देख सकेगी। इस पर मैंने कहा कि टाइप कराने का साधन तो मेरे पास नहीं है; पर यदि गवर्नमेंट इसकी सुविधा देगी तो टाइप करा लूंगा।

इस बातचीत के बाद मैंने गवर्नमेंट को लिखा कि टाइप कराने के लिए मुझे सुविधा दी जाये और इसके लिए तीन तरीकों में गवर्नमेंट जो चाहे अख्तियार करे। पहला तरीका यह होगा कि मेरे सहायक श्री चक्रधर शरण को टाइप करने का मौका दे जो मेरे अक्षरों से खूब परिचित हैं। वह उस समय तक रिहा हो चुके थे। इसलिए वह जेल के अंदर तो आ नहीं सकते थे, न उनसे मेरी मुलाकात हो सकती थी, न जब तक गवर्नमेंट मंजूरी देगी तब तक पुस्तक जेल के बाहर भेजी जा सकेगी। इसलिए उनको जेलर के दफ्तर में बैठकर टाइप करना होगा और हस्तलिखित तथा टाइप की हुई प्रति को जेलर के पास ही रख छोड़ना होगा। दूसरा तरीका यह हो सकता है कि गवर्नमेंट अपने किसी कर्मचारी को इस काम के लिए नियुक्त कर दे और इसका जो खर्च होगा वह मैं दूंगा। तीसरा तरीका यह हो सकता है कि अगर कोई टाइप करना जानने वाला कैदी हो तो उसे बांकीपुर जेल में बुला दिया जाये और वह टाइप कर दे। सोचने के बाद मुझे स्मरण हो आया कि कांग्रेसी कार्यकर्ता जमशेदपुर लेबर यूनियन के मंत्री श्री माइकेल जौन टाइप करना जानते हैं—वह आन्दोलन के कारण इस

समय दूसरी बार गिरफ्तार होकर और सजा पाकर हजारीबाग जेल में हैं। मैंने लिखा कि यदि वह बांकीपुर बुला दिये जायें तो वह इस काम को कर सकेंगे। मैंने इसे ही सबसे अधिक सुविधाजनक बताया; क्योंकि जैसा घना और बारीक लिखा गया था वैसा पढ़ने में टाइप करने वाले को काफी दिक्कत होगी, उसको बार-बार मुझसे पूछना पड़ेगा। इसलिए यदि वह मेरे नजदीक रहे तो सुविधा होगी। इसके अलावा एक सुविधा यह भी होगी कि गवर्नमेंट की मंजूरी के पहले बाहर के किसी आदमी को पुस्तक देखने का मौका नहीं मिलेगा।

गवर्नमेंट ने मेरी बात मान ली और श्री जौन को बांकीपुर जेल में भेज दिया। उन्होंने बहुत परिश्रम करके, जहां तक मैं लिख चुका था, टाइप कर दिया। इत्तफाक से यह काम सन् 1945 ई. में तारीख 14 जून की संध्या को समाप्त हुआ। उसी दिन, रात को, हम लोगों को मालूम हो गया कि मैं कल 15 जून को ही सवेरे छोड़ दिया जाऊंगा। अब यह प्रश्न हुआ कि हस्तलिखित और टाइप की हुई प्रतियों का क्या होगा ? क्या दोनों मेरे साथ बाहर आने पावेंगी या गवर्नमेंट उनको देख लेने के बाद ही बाहर जाने की इजाजत देगी ? सुपरिंटेंडेंट, बिना सरकारी आज्ञा के, बाहर ले जाने की इजाजत, अपनी जवाबदेही पर नहीं देना चाहते थे। पर गवर्नमेंट से पूछने पर उन्होंने जाने देने की आज्ञा दे दी। इस तरह, जब मैं बाहर निकला, तैयार पुस्तक के साथ निकला।

ऊपर मैं कह चुका हूं कि 1944 के मार्च से नवम्बर तक मैं प्रायः अकेला ही बांकीपुर जेल में था, केवल एक वाल्मीकि ही मेरे साथ था। जब जांच-कमिटी के लोग अक्टूबर में आये तो उनको यह बात मालूम हुई कि मैं अकेला ही हूं। उन्होंने गवर्नमेंट के पास लिखा कि एक साथी मेरे पास रखना उचित होगा। नाम पूछने पर मैंने कई मित्रों के नाम बताये। गवर्नमेंट ने श्री फूलन प्रसाद वर्मा को भेज दिया। वह भी 1945 के आरम्भ में रिहा हो गये। उसके बाद श्री मणीन्द्रकुमार घोष को हजारीबाग से बांकीपुर मेरे साथ रहने के लिए भेजा। वह एक बड़े परिश्रमी और विचारशील सज्जन हैं। आंकड़ों से डरते नहीं है। मेरी पुस्तक देखकर उनकी इच्छा हुई कि वह हस्तलिखित प्रति पढ़ें। मैंने उसे पढ़ने को दिया। साथ ही, यह बेगार उन पर लाद दिया कि वह आंकड़ों को जांच जायें ताकि अगर कहीं कोई भूल रह गयी हो तो वह दुरुस्त हो जाये। बहुत प्रिरिश्रम करके उन्होंने इस काम को पूरा किया। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते उनको ऐसा जंचा कि एक कमी रह गयी है—मैंने पुस्तक में यह नहीं दिखलाया है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या किस तरह जटिल होती गयी है और किस तरह वह यहां तक पहुंच गयी है कि मुस्लिम लीग को उसे सुलझाने का एकमात्र उपाय देश का विभाजन ही सूझ रहा है।

पहले कह चुका हूं कि जेल से मेरे छूटने के दिन ही टाइप करने का काम समाप्त हुआ था। जब टाइप हो रहा था तो मुझे कुछ नया लिखने का समय नहीं मिलता था; क्योंकि जो टाइप होता जाता था उसे एक बार देख लेना जरूरी मालूम होता था। टाइप करने के

समय में भी कुछ नया जोड़ता ही जाता था। श्री जौन को भी अक्सर मुझसे कुछ-न-कुछ पूछते ही रहना पड़ता था। इसलिए मैं वहां पुस्तक का एक भाग और लिखकर मनी बाबू की बात को पूरा न कर सका, पर उसे भूला नहीं। जेल से बाहर निकलने के बाद जब 1945 के अगस्त में स्वास्थ्य सुधारने के लिए पिलानी (राजपूताना) गया तब उस भाग को लिखकर पूरा किया। श्री चक्रधर शरण ने टाइप किया। पिलानी से बम्बई जाते हुए, रेल में, उसका अधिकांश देखकर, मथुरा बाबू की मदद से, प्रेस के लिए तैयार कर सका। बम्बई पहुंचने तक प्रायः पुस्तक प्रेस के लिए तैयार हो गयी। वहीं उसका नामकरण हुआ—'इंडिया डिवाइडेड' (India Divided)। छपने के लिए पुस्तक प्रेस में दे दी गयी। 1946 की जनवरी के आरम्भ में ही पुस्तक छपकर प्रकाशित हुई। एक महीने के अंदर ही पहले संस्करण की सभी प्रतियां बिक गयीं। तीन-चार महीनों में दूसरी बार वह फिर छपी और बिकी।

जेल में मैंने एक चीज और लिखी। जब मैं 1940 में स्वास्थ्य-सुधार के लिए सीकर (जयपुर राज्य) गया था तो मैंने एक दिन अपने संस्मरण लिखने का विचार किया और लिखना भी आरम्भ कर दिया। किसी से यह बात कही नहीं। मथुरा बाबू को भी, जो दिन-रात साथ रहते थे, इसका पता कुछ दिनों तक नहीं लगा कि मैं कुछ लिख रहा हूं। मेरी आदत है कि सवेरे चार-साढ़े चार बजे जाग जाया करता हूं। उसी समय उठकर प्रतिदिन कुछ-न-कुछ लिख देता और दूसरों के जागने के पहले ही लिखना खत्म कर देता। वहां थोड़ा ही लिखा जा सका। वहां से लौटने पर फिर समय ही न मिला। दो बरसों के बाद जब जेल में कुछ तबीयत सुधरी तो साथ के लोगों ने आग्रह किया कि मैं उसे पूरा कर दूं। मैंने कहां तक लिखा था, यह भी ठीक याद न था। हस्तलिखित प्रति को घर से जेल में मंगाना अच्छा नहीं मालूम हुआ; क्योंकि बिना सी. आई. डी. के पढ़े कोई चीज मुझे मिल नहीं सकती थी और मालूम नहीं कि पढ़ने के बाद भी गवर्नमेंट उसे अंदर लाने की इजाजत देती या नहीं। इसलिए मैंने अंदाज से ही वहां से आगे की बातें लिखना आरम्भ कर दिया, जहां तक मैं समझता था कि सीकर में लिख चुका हूं। आहिस्ता-आहिस्ता वह भी बहुत-कुछ लिखा जा चुका। समाप्त भी शायद हो जाता, पर पीछे 'इंडिया डिवाइडेड' में ही सारा समय लगने लगा। अतः संस्मरण को रख छोड़ा।

कभी-कभी दिल में यह विचार भी उठता कि इस संस्मरण की जरूरत या उपयोगिता ही क्या है ? मैंने जो कुछ किया है या पाया है वह दूसरों के साये में रहकर ही—पहले अपने भाई के और पीछे महात्मा गांधीजी के। मेरी कोई ऐसी हस्ती नहीं कि मेरा हाल दूसरों के लिए जानना जरूरी हो अथवा उससे दूसरे कुछ सीख सकें। हां, मैं सार्वजनिक कामों में, विशेषकर कांग्रेस संबंधी कामों में, लगा रहा हूं। यदि उनके संबंध में अपने संस्मरण लिख दूं तो शायद लोगों को कुछ बात मालूम हो जायें। पर इतिहास की दृष्टि से इस संस्मरण का कुछ मूल्य नहीं; क्योंकि मैंने इतने लम्बे सार्वजनिक जीवन में बहुत-कुछ लिखा नहीं है।

अगर कुछ लिखा भी है तो उसकी प्रतिलिपि अपने पास सुरक्षित नहीं रखी। और लोगों ने सार्वजनिक घटनाओं के संबंध की सामयिक सामग्री जमा करायी है, मैंने वह भी नहीं किया है। कुछ लोगों के महत्वपूर्ण पत्रव्यवहार दूसरों के साथ हुए हैं। मैंने स्वभाव से ही ऐसा कुछ नहीं किया है। और, यदि कुछ किया भी हो तो उसकी भी प्रतियां मेरे पास नहीं हैं। कुछ लोग रोजनामचा लिखा करते हैं, जिसमें सभी घटनाओं का प्रतिदिन उल्लेख हुआ करता है। मैंने यह अभ्यास ही नहीं किया कि रोजनामचा लिखा करूं। इसलिए अपनी स्मरण-शक्ति के सिवा संस्मरण लिखने का कोई दूसरा साधन भी मेरे पास नहीं था। इतिहास की दृष्टि से, केवल स्मरण-शक्ति पर कभी-कभी यह विचार उठता कि मेरा संस्मरण लिखना केवल अहम्मन्यता है, इससे दूसरों को कोई लाभ नहीं पहुंच सकता। तो भी, जब एक बार काम शुरू कर दिया तो उसे पूरा कर देना ही ठीक जंचा; प्रकाशित करने और न करने की बात पीछे देखी जायेगी।

इस प्रकार, रामगढ़ कांग्रेस के समय तक के संस्मरण मैं जेल में लिख सका। एक प्रकार से यह संस्मरण सच्चा संस्मरण है; क्योंकि इसमें केवल उन्हीं बातों का उल्लेख है जो लिखते समय स्मृति में आ गयीं। इसलिए बहुत सम्भव है कि बहुतेरी महत्वपूर्ण बातों और घटनाओं का जिक्र ही न हो—कहीं-कहीं देश-काल के निर्देश में भी भूल हो—कुछ बातों का जो गलत असर दिल पर रह गया है वही इसमें आ गया हो। पर एक बात मैं कह सकता हूं —जान-बूझकर कोई गलत बात नहीं लिखी गयी है। मित्रों का अनुरोध है कि यह संस्मरण प्रकाशित किया ही जाये। उन्होंने दूसरों को इसे दिखलाया। जो ऐसी चीजों के परखने के अधिकारी हैं उनकी भी राय हुई कि इसे प्रकाशित करना ही चाहिए—विशेषकर इसलिए कि मैंने इसे हिन्दी में लिखा है। इसलिए बाकी हिस्सा, जेल से बाहर निकलने के बाद, 1946 के जुलाई-अगस्त में, पिलानी में बैठकर लिख रहा हूं।

153

मेरी रिहाई और कुछ दुखद मौतें

जेल में रहते हुए ही एक और भयंकर एवं दुखद विपत्ति आयी। यह बिहार पर ही आयी। मलेरिया का प्रकोप 1944 में बहुत जोरों से हुआ। बहुतेरे लोग मरने लगे। अखबारों में इसकी खबर छपने लगी। इत्तफाक से श्री बाबू, अनुग्रह बाबू और दूसरे प्रमुख कांग्रेसी लोग इस समय तक रिहा हो चुके थे। उन्होंने जनता की मदद का काम शुरू किया। डाक्टरों ने डाक्टर टी. एन. बनर्जी की अध्यक्षता में अपनी कमिटी बनाकर सेवा-कार्य आरम्भ किया। भूकम्प के समय कुछ रुपये बच गये थे। पहले ही कह चुका हूं कि इस प्रकार की विपत्तियों के समय जनता की सेवा के लिए एक ट्रस्ट बनाकर वे रुपये रख छोड़े गये थे। जब कहीं बाढ़ वगैरह आती तो थोड़ा-बहुत सहायतार्थ उसमें से खर्च होता था। यह खर्च कुछ ज्यादा नहीं होता था। जो रुपये थे उनके ब्याज से ही यह काम हो जाया करता था। रुपयों का बहुत अंश चर्खा संघ को कर्ज दे दिया गया था। उसी से समय पर ब्याज के रुपये आ जाते जो बैंक में पड़े रहते और समय-समय पर खर्च किये जाते। 1942 के अगस्त में चर्खा संघ का काम बिहार में गवर्नमेंट ने एक प्रकार से बंद कर दिया था। बैंक में मेरे नाम के सभी खाते जब्त थे जिनमें एक खाता सहायता-कोष का भी था। मलेरिया का हाल पढ़कर मैंने गवर्नमेंट को लिखा कि जब्त रुपयों को सहायतार्थ खर्च करने की इजाजत दी जाये, और पहली रकम मैंने डाक्टरों की कमिटी को देने के लिए मांगी। गवर्नमेंट ने इसे मंजूर कर लिया। रुपये उनको दे दिये गये। पीछे अनुग्रह बाबू ने जब सहायक समिति का निर्माण किया तो उनको भी रुपये देने की इजाजत गवर्नमेंट ने दी। अंत में तो जो भी ट्रस्ट का पावना चर्खा संघ के जिम्मे था, गवर्नमेंट ने सहायता-कार्य के लिए चर्खा संघ के जब्त रुपयों में से सब रकम दे दी। पर उतना सब खर्च नहीं हुआ। रुपयों का अधिकांश अब भी जमा है। मुझे इससे संतोष हुआ कि इस बार बंगाल के अकाल के समय की तरह गवर्नमेंट ने जेल के अंदर से कुछ सहायता पहुंचाने की इच्छा को विफल नहीं होने दिया।

इसी सिलसिले में 'इंडियन नेशन' ने यह लिखना शुरू किया कि सहायता कार्य को संगठित रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि मैं रिहा कर दिया जाऊं। उसने मेरी

रिहाई पर बहुत जोर दिया। जहां-तहां से जनता की ओर से भी ऐसी आवाज उठने लगी। मुझे यह बात अच्छी न लगी। मैं राजनीतिक कारण से जेल में लाया गया था। जब तक उसका कुछ निपटारा न हो जाये और हमारे सभी साथियों के छोड़े जाने का रास्ता साफ न हो जाये, मैं इस तरह मलेरिया-पीड़ित लोगों की सहायता के बहाने छूटना नहीं चाहता था। मैं यह भी समझता था कि जो लोग बाहर हैं —जिनमें श्री बाबू, अनुग्रह बाबू, मथुरा बाबू प्रभृति हैं —सब काम संभाल सकते हैं, मेरी कोई खास जरूरत भी नहीं है। मुझे ऐसा भी लगा कि कहीं गवर्नमेंट यह न समझ ले कि यह आन्दोलन मेरे छूटने के लिए ही एक बहाना ढूंढकर किया जा रहा है और यह मेरी अनुमति से अथवा कम-से-कम मेरे मित्रों की अनुमति से किया जा रहा है। मैंने गवर्नमेंट को एक पत्र लिख दिया कि यह आन्दोलन मेरी दृष्टि में अनावश्यक है और मैं इस तरह छूटना नहीं चाहता हूं। पर जब मैं बाहर निकला तो मालूम हुआ कि उस समय गवर्नर मुझे छोड़ देने का विचार कर रहे थे। किन्तु गवर्नमेंट आफ इंडिया जिसके हुक्म से ही वर्किंग कमिटी के लोग नजरबंद रखे गये थे, शायद वर्किंग कमिटी के सदस्यों को अभी छोड़ना नहीं चाहती थी। यह भी मालूम हुआ कि गवर्नर ने कुछ लोगों से क़हा भी कि मैं खुद नहीं चाहता कि छोड़ दिया जाऊं तो छूटने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? जो हो, उस समय अर्थात 1944 की बरसात में, छूटने की जो बात थी वह पूरी नहीं हुई। मैं निश्चिंत अपना काम करता रहा। इस तरह, समय कटते कुछ देर न लगी। 1945 में 15 जून को मैं छोड़ दिया गया।

इस बार गिरफ्तारी के समय ही हम समझ चुके थे कि जेल-यात्रा लम्बी होगी। उसके लिए अपने चित्त को तैयार कर लिया था। जैसे-जैसे आन्दोलन बढ़ा और लम्बी-लम्बी सजाएं लोगों को दी जाने लगीं तो यह धारणा और भी पुष्ट हो गयी। हर बार जेल-यात्रा में कुछ लोग जेलों में मर भी जाते हैं। इस बार भी ऐसे लोगों की संख्या काफी रही। यह जानकर हमको विशेष दुख हुआ कि रांची जिले के टाना भगत लोगों में से बहुतेरे जेलों में मरे। इनके अलावा और लोग भी काफी मरे। पर जेल के अंदर मरने वालों की अपेक्षा बाहर गोलियों द्वारा मारे जाने वाले लोगों की संख्या कहीं ज्यादा थी। जिन लोगों ने इस प्रकार देश-हित के लिए अपने प्राणों को निछावर किया उनमें बहुत कम ऐसे थे जिनको मैं जानता था। इसका विशेष कारण यह था कि मुख्य कांग्रेसी कार्यकर्ता गिरफ्तार करके जेलों में रख दिये गये। जो बाहर रह गये वे बहुत ख्याति पाये हुए लोग नहीं थे। इसके अलावा इस लहर में बहुतेरे नये लोग आये थे जो पहले कभी कांग्रेस में काम तो नहीं करते थे, पर इसे स्वराज्य के लिए गांधीजी की अंतिम लड़ाई समझकर आ जुटे थे। यह तो मैंने अपने सूबे के बारे में कहा। सूबे के बाहर कुछ ऐसे प्रमुख व्यक्तियों की मृत्यु हुई जिनका स्थान कभी भरा नहीं जा सकता। इनमें सबसे पहले, गिरफ्तारी के चंद दिनों के अंदर ही मरने वाले, श्री महादेव भाई देसाई थे। वह गांधीजी के साथ ही गिरफ्तार होकर आगाखां के महल (पूना) में उनके साथ

ही रखे गये थे। वहां अचानक एक दिन हृदयगति रुक जाने से चल बसे। इसका असर पूज्य महात्माजी के दिल पर बहुत ही भारी पड़ा, क्योंकि वह उनके दाहिने हाथ थे। जब से वह महात्माजी की सेवा में आये थे तब से उन्होंने अपने जीवन को गांधीजी की शिक्षा और सिद्धांतों के अनुसार ढालने का सतत प्रयत्न किया था। इसमें बहुत सफलता भी प्राप्त की थी। साथ ही, उनकी लिखने की शैली भी अद्‌भुत थी। उसे भी उन्होंने गांधीजी की शैली से मिला लिया था। परिश्रम इतना ज्यादा कर सकते थे कि शायद दो-तीन आदमी मिलकर भी उनके बराबर काम नहीं कर सकते थे। काम भी सब प्रकार के—कपड़े और कमोड साफ करना, नाजुक-से-नाजुक बातों को लेकर दूत का काम करना और सुंदर-से-सुंदर लेखों के लिखने का काम भी, उनके लिए सब बराबर था। सब कुछ समान सहूलियत और तेजी के साथ खुशी-खुशी कर लिया करते थे। स्वभाव के इतने सरल और सहृदय थे कि शायद ही कभी किसी से उनका कोई झगड़ा हुआ हो। हमारा उनसे परिचय पहले-पहल चम्पारन में हुआ था जब महात्माजी ने उनको, उनकी पत्नी श्रीमती दुर्गा बहन के साथ ही, वहां अपनी खोली हुई एक पाठशाला में काम करने के लिए भेजा था। जो प्रेम और सद्‌भाव उस समय पैदा हुआ वह बराबर बना रहा। उनकी इस प्रकार अचानक मृत्यु से मुझे भी काफी चोट लगी।

दूसरी मृत्यु श्रीमती कस्तूरबा गांधी की थी जो 1944 की फरवरी में हुई। वह भी आगा खां महल में महात्माजी के साथ ही थीं। बहुत दिनों तक बीमार थीं। अंत में चल बसीं। गांधीजी की सहधर्मिणी होने का उनका सौभाग्य उनके जीवन के अंतिम दिन तक बना रहा। गांधीजी की गोद में ही उनका महाप्रस्थान हुआ। वैसी सौभाग्यवती दूसरी कौन हो सकती है ? उनको सभी लोग 'बा' कहा करते थे। वह सचमुच सबकी 'बा' (माता) थीं। वह पहले-पहल 1917 में चम्पारन पहुंचीं। उसी समय हम लोगों का उनके साथ पहला परिचय हुआ। वहां उनके पहुंचने के पहले हम लोगों के लिए भोजन बनाने के वास्ते एक ब्राह्मण रखा गया था। उनके पहुंचते ही गांधीजी की आज्ञा हुई कि अब ब्राह्मण की जरूरत नहीं रही, वही सबके लिए रसोई बना लेंगी। हम लोगों की संख्या भी काफी थी। शायद 14-15 आदमी थे। हम लोगों को यह अनुचित मालूम हुआ कि जैसी दुबली-पतली और कमजोर वह दीखती थीं, उनसे यह काम हो भी न सकेगा। पर गांधीजी हमारे उज्र को सुनने वाले कब थे ? उन्होंने कहा कि चिंता न करो, वह सब कर सकती हैं, उनको ऐसे काम का अभ्यास है। दूसरे लोग उनकी कुछ मदद कर दिया करते थे—खासकर भारी कड़ाही और बटलोई के उतारने इत्यादि में। पर बहुत प्रेम से वह सबके लिए रसोई बनातीं। उस समय जिस प्रेम से उन्होंने हमको पहले-पहल खिलाया था उसी प्रेम के साथ जब तक वह जीती रहीं और जब-जब हमसे भेंट हुई, उन्होंने खिलाया। साबरमती के सत्याग्रह आश्रम में हो चाहे मगनवाडी या सेवाग्राम के आश्रम में हो, अथवा कहीं सफर में ही क्यों न हो, बापू के पास

पहुंचने पर, विशेषकर अगर साथ रहने का सुअवसर मिला तो, माता का स्नेह उनसे हमेशा मिलता रहा। उनके अंतिम दिनों की दुखद कहानी गांधीजी के उन पत्रों में पढ़ी जा सकती है जो उन्होंने गवर्नमेंट को लिखे थे। वे पत्र श्री बनमाला पारिख तथा डाक्टर सुशीला नैयर द्वारा लिखित 'हमारी बा' नामक पुस्तिका में छपे हैं। वह हिन्दू महिला की आदर्श मूर्ति, भारतीय संस्कृति की प्रतीक और प्रेम की पुतली थीं। वह सचमुच 'बा' थीं और 'बा' बनी रहीं। एक बार गांधीजी ने मुझसे कहा था—"बा को बा कहने में मुझे भी बड़ा आनन्द आता है।" पति-पत्नी का जो प्रचलित संबंध हुआ करता है वह तो दोनों ने स्वेच्छापूर्वक छोड़ दिया था। वह सचमुच उनकी भी 'बा' बन गयी थीं।

हम लोगों को जेल में ही मौलाना अबुल कलाम आजाद के पत्नी-वियोग का समाचार मिला था। यह जानकर और भी दुख हुआ था कि अंत काल में मौलाना से उनकी मुलाकात नहीं होने दी गयी। वह पर्दे में रहा करती थीं, इसलिए उनसे हमारी मुलाकात नहीं थी; पर मौलाना के दुख का मैं अनुमान कर सकता था। श्री रंजीत पंडित (आर. एस. पंडित) से तो काफी घनिष्ठता थी और उनकी मृत्यु भी एक बहुत दुखद घटना हुई। जेलों में गवर्नमेंट की नीति कुछ ऐसी हुआ करती है कि उसका समझना कठिन हो जाता है। नियम था कि केवल निकट के संबंधियों के साथ ही पत्र-व्यवहार हो सकता है। मेरे पास कभी-कभी ऐसे लोगों के पत्र आ जाया करते जिनसे किसी प्रकार का मेरा तअल्लुक नहीं था। पर मौलाना के पास और बहन विजयलक्ष्मी के पास मेरे समवेदना के तार नहीं जा सके!

अपने सूबे के मित्रों में सबसे दुखद वियोग श्री रामदयालु सिंह का हुआ। पढ़ने के समय ही उनसे परिचय हुआ था जो पीछे घनिष्ठ प्रेम के रूप में परिणत हो गया। उनका स्वास्थ्य कई बरसों से खराब रहा करता था। इसी कारण से वह आन्दोलन में भाग लेने योग्य न थे। गवर्नमेंट ने भी यही समझकर उनको गिरफ्तार नहीं किया था। हमारी रिहाई के कुछ महीने पहले ही उनकी भी मृत्यु हो गयी। जो मित्रता प्रायः 35-36 बरसों से चली आ रही थी उसका ऐहिक धागा टूट गया! हमारे प्रांत की वह एक विभूति थे। उनका स्थान भी खाली रहेगा। कांग्रेस के बाहर, पर जिनसे हमारा बहुत घनिष्ठ संबंध था, ऐसे दो सज्जन थे जिनसे भी फिर मुलाकात नहीं हुई। एक तो वैद्यराज ब्रजविहारी चौबे थे जो आयुर्वेद के अगाध विद्वान थे और जिनकी कृपा हम पर बराबर बनी रही थी। मैं कह चुका हूं कि मेरी गिरफ्तारी के समय वही मेरी चिकित्सा कर रहे थे और जिस समय गिरफ्तारी हुई उस समय वह सदाकत आश्रम पहुंच गये थे। मुझे यह कभी नहीं भूल सकता कि मेरी गिरफ्तारी से वह कितने दुखी और चिंतित हुए। उन्होंने औषधि आदि साथ कर दी और अपनी सरलता में यह भी कहा कि अगर आप बुरा न मानें तो मैं गवर्नर से जाकर मिलूं और आपके बारे में कहूं। वह यह नहीं जानते थे कि गिरफ्तारी का हुक्म गवर्नर ने ही दिया था और गवर्नर को भी उसे स्थगित रखने का अधिकार नहीं था। दूसरे सर गणेशदत्त थे। उनसे कलकत्ते में, जब मैं

पढ़ता था, पहले-पहल परिचय हुआ था। वहां वह वकालत करते थे। उसी समय से उन्होंने मेरे ऊपर जो प्रेम दरशाना आरम्भ किया वह अंत तक ज्यों का त्यों बना रहा। पीछे राजनीतिक बातों को लेकर उनसे काफी मतभेद हुआ और मैंने उनकी कई कार्रवाइयों की काफी बड़ी टीका की, पर उस प्रेम में कोई अंतर नहीं आया। अंत में वह बहुत बीमार रहा करते थे। मैं जब तक बाहर था तब तक जब कभी पटने में रहने का मौका होता, जाकर उनसे बराबर भेंट किया करता था। उन्होंने बहुत दिनों तक मिनिस्ट्री की। उसमें उनकी कार्रवाइयों की टीका टिप्पणी करने वाले बहुत हुए जिनमें एक मैं भी था। पर मैंने यह देखा कि चाहे वह मिनिस्टर रहे तब, चाहे अपने अंतिम दिनों में जब वह सारे कामधाम से अलग हो गये थे, वह इसकी चिंता हमेशा किया करते थे कि हमारे जैसे सार्वजनिक कामों में लगे लोगों का स्वास्थ्य ठीक रहे। इसलिए हम लोगों का जेल जाना वह पसंद नहीं करते थे। जब कभी उन्हें जेल से किसी की बीमारी की खबर मिलती तो वह और भी चिंतित हो जाया करते। अपनी मिनिस्ट्री के समय में अपने मुशाहरे का बहुत बड़ा अंश सार्वजनिक काम में लगा देने का निश्चय उन्होंने शुरू में ही कर लिया। इस तरह से कई लाख की रकम ट्रस्ट में दे डाली। यह हमारे लिए एक नमूना था जिसका अनुसरण और किसी ने नहीं किया। कांग्रेसी मिनिस्टरों का तो मुशाहरा ही 500 रुपये कर दिया गया जिसमें से बचाने की गुंजाइश कम थी, पर तो भी मैं जानता हूं कि कुछ ऐसे हैं जिन्होंने पैसे-पैसे का हिसाब रखा और उसमें से बचाकर सार्वजनिक कामों में लगाया। तीसरे साथी, जिनसे फिर भेंट होने वाली नहीं थी, श्री निरसूनारायण सिंह थे। इनसे भी पढ़ने के समय से ही परिचय था। सार्वजनिक प्रश्नों पर बहुत मतभेद रहते हुए भी प्रेम बराबर बना रहा। अपने घर में सबसे बड़ी भतीजी गिरिजा भी मेरे जेल में रहते-रहते ही चली गयी। उसका भी स्वास्थ्य बहुत दिनों से खराब ही रहा करता था। मेरे होश होने के बाद मेरे घर में वही सबसे पहले पैदा हुई थी। मैंने उसी को सबसे पहले बचपन में खेलाया था। वह प्रेम बहुत रखती थी। जेल में आकर मिली थी। पर कौन जानता था कि वह आखिरी मुलाकात थी! वह बड़ी भाग्यशालिनी थी। पति और पुत्रों को अपने सामने देखते-देखते चली गयी। अपने घर में गृहिणी रहकर उसने जिस प्रकार सब लोगों को सुख पहुंचाया था उसे सभी याद रखेंगे।

154

अस्थायी केंद्रीय सरकार कायम होने से पहले की कुछ बातें

जेल में समय काटना बहुतों के लिए बड़ा कठिन काम हो जाया करता है। इसलिए अगर कुछ अनमना—दिलबहलाव का सामान—मिल जाये तो उसे बहुत लोग पसंद करते हैं। हजारीबाग जेल में हमारे साथियों ने एक बिल्ली के बच्चे को पाल रखा था। वह लोगों से इतना हिलमिल गया था कि निःसंकोच चारपाई पर जाकर सो रहा करता था। खाने के समय कहीं से घूमता-फिरता आकर गोद में बैठ जाता और जो कुछ दिया जाता उसे खाता। लिखने-पढ़ने के समय हाथ में से कलम-पेंसिल छीन लेने में भी न हिचकता। अपने जन्म से ही वह कभी जेल के बाहर नहीं गया था। हमेशा बड़े और जवान लोगों की संगति में ही रहा। उसने आदमी के बच्चे को कभी देखा ही न था। हजारीबाग जेल में हमारे साथियों में से एक आदमी बीमार पड़े। उनके बाल-बच्चे उनसे मिलने आये। उन छोटे बच्चों को देखते ही वह इतना डर गया कि किसी की गोद में से, जहां वह उस समय बैठा था, कूदकर भागा और कहीं दूर जाकर छिप रहा। उन बच्चों के चले जाने के बाद भी कुछ देर तक वापस नहीं आया!

इस बार बांकीपुर जेल में कुछ मामूली कैदियों ने मैना चिड़िया के बच्चे को पाल रखा। वह आदमियों के हाथ पर, कंधे पर, सिर पर निडरता से बैठ जाता। कैदी काम करते रहते, वह वहां डटा रहता। उसका हम लोगों से भी परिचय हो गया। वह हमारे कमरे में भी आने लगा। कुछ दिनों के बाद वह अधिकतर वहीं रहने लगा। चर्खा चलाने के समय सामने बैठ जाता और निकलते हुए धागे को चोंच से मारकर तोड़ देता। रात को मसहरी पर बैठ जाता और वहीं रात-भर रहता। सवेरे उड़कर बाहर जाता और फिर घूमघामकर वापस आ जाता। एक दिन उड़कर कहीं गया और फिर नहीं लौटा। न मालूम कहां उड़कर चला गया अथवा किसी चिड़िया या दूसरे जानवर ने उसे मार डाला। दूसरे मैना भी लोगों ने पालने का प्रयत्न किया, पर हमने प्रोत्साहन नहीं दिया। इस तरह लिखते-पढ़ते, चर्खा कातते, बीमार पड़ते, लोगों के और आन्दोलन के समाचार सुनते-सुनाते और पुराणों की कथा

सुनते—जिनमें वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्म रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, चैतन्यचरित इत्यादि ग्रंथ मुख्य थे—समय बीतते कुछ मालूम न हुआ । प्रायः तीन बरसों के बाद 15 जून को हम छूटे।

हम लोगों के रिहा होने के कुछ दिनों पहले से ही इस बात की बहुत चर्चा चल रही थी कि अब वर्किंग कमिटी के सदस्य छोड़ दिये जायेंगे । अहमदनगर किले में जो लोग थे उनमें से कछ लोग दूसरे स्थानों में भेजे जा चुके थे । ऐसा मालूम होता था कि यह सब छोड़ने की तैयारी है । इस बात की घोषणा हुई कि 14-6-45 की संध्या को लार्ड वावेल अपनी कोई नयी योजना देश के सामने रखेंगे—यह योजना रेडियो द्वारा सारे देश को उसी रात में बतलायी जायेगी । ऐसा ही हुआ । योजना के साथ-साथ यह भी उन्होंने रेडियो पर कहा कि वर्किंग कमिटी के सदस्यों को छोड़ने की आज्ञा दे दी गयी है, तारीख 15 जून के सवेरे सब छोड़े जायेंगे । रेडियो की बात सुनकर कुछ लोग तो उसी रात को हमारे छोड़े जाने की आशा से जेल के दरवाजे पर आये । अधिकारियों के यह कहने पर भी कि उस रात को छोड़ने का हुक्म नहीं है, वे कुछ देर तक वहां ठहरे रहे । 15 जून को एक भारी भीड़ जमा हो गयी । जेल में इतने दिनों तक रहने के बाद वहां से निकलने के समय मन में कितनी भावनाएं उठने लगीं । हम लोग जिस दिन जेल में गये थे उसी दिन से मामूली कैदियों को हम लोगों के साथ, न मालूम किस कारण से, प्रेम-सा हो गया—हमारे ऊपर उनका बहुत विश्वास हो गया । वे हम लोगों को जेल के अधिकारियों से भी बड़ा समझते थे । जब कोई कष्ट होता तो हजार पहरा रहने पर भी किसी-न-किसी तरह हमारे पास पहुंच जाते । हमारे हजार समझाने पर कि हमारा कोई अधिकार नहीं है, वे यह बात मानने को तैयार नहीं होते । मैं इतना और भी कहूंगा कि जब तक हम उस जेल में रहे, उनके साथ अधिकारियों का बर्ताव भी अच्छा ही रहा । यों तो जेलों में कैदियों के साथ बर्ताव सख्ती का—प्रेम का नहीं, सजा देने का—सुधारने का नहीं, हुआ ही करता है । पर उनमें जो पुराने थे वे कहा भी करते थे कि बहुत-से अधिकारियों का रुख बहुत कुछ बदल गया था । इत्तफाक से उस जेल के अधिकारी भी अधिकांश अच्छे ही रहे । वे उन लोगों में से नहीं थे जो सारे सूबे में अपनी करतूतों के कारण बदनाम हो चुके थे । इस तरह, यद्यपि मामूली कैदियों के साथ हमारा कोई संबंध होना आवश्यक नहीं था तो भी एक अजीब संबंध हो गया था । हमारे छूटने की खबर से न मालूम उनके दिल में खुशी हुई या तकलीफ । मैं इतना कह सकता हूं कि बहुतेरों को आशा जरूर हुई कि वे भी कुछ दिनों में छूट जायेंगे । हमने इस तरह की आशा उन्हें किसी तरह से दिलायी नहीं थी । पर मैं कह सकता हूं कि उनमें में बहुतेरों को हमारे छूटने के बाद निराशा हुई होगी ।

जेल से बाहर निकलते ही हमको बम्बई जाना पड़ा; क्योंकि वहां वर्किंग कमिटी की बैठक हुई जिसमें वावेल-योजना पर विचार करना था । बम्बई में बातें थोड़ी ही हुई और

शिमले से महात्माजी तथा सभापति मौलाना आजाद की बुलाहट आ गयी। उनको वहां जाना पड़ा। मैं पटने लौट आया। पर यहां दो-चार दिन भी ठहर न सका; क्योंकि शिमले से मेरी बुलाहट आ गयी—वहीं वर्किंग कमिटी की बैठक होगी। शिमले में प्रायः दो सप्ताह तक रहना पड़ा। हमारी ओर से लार्ड वावेल के साथ कभी मौलाना, कभी पंडित जवाहरलाल और कभी महात्मा गांधी की बातें होतीं। मुस्लिम लीग की ओर से मिस्टर जिन्ना, और उनके साथी, वायसराय से बातें करते। पर मुख्य काम तो वहां एक कांफ्रेंस का था जिसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के सभापतियों के अलावा सूबों के प्रधानमंत्री बुलाये गये थे। जहां मंत्रिमंडल टूट गया था—जैसा उन सभी सूबों में हुआ था जहां कांग्रेसी मंत्रिमंडल था—वहां के टूटने के समय के प्रधानमंत्री बुलाये गये थे।

योजना पर और दूसरी बातों पर विचार किया गया। ऐसा मालूम हुआ कि वायसराय की कार्यकारिणी समिति को एक प्रकार से राष्ट्रीय सरकार का रूप दिया जायेगा। कांग्रेस की ओर से हमने योजना को एक प्रकार से मंजूर कर लिया। नौबत कांग्रेस की ओर से नाम देने की आयी। कांफ्रेंस में 11 सूबों में से 7 के प्रधानमंत्री कांग्रेसी थे। बाकी चार में से तीन की ओर से लीगी प्रधानमंत्री थे जिनमें एक आसाम था। आसाम में कांग्रेसी के हट जाने के बाद मंत्रिमंडल में हेरफेर हुआ था। वहां उस समय यद्यपि लीगी मंत्रिमंडल नहीं था तथापि प्रधानमंत्री सर सदाउल्ला लीगी थे। चौथे सूबे—पंजाब के प्रधानमंत्री सर खिजिर हयात खां लीग से झगड़ कर अलग हो गये ते। योजना की एक शर्त यह थी कि वायसराय की कौंसिल में हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या बराबर होगी—इनके अलावा दूसरे लोग भी कुछ होंगे जिनमें हरिजनों के प्रतिनिधि भी रहेंगे। योजना ने एक तरह से हरिजनों के प्रतिनिधियों को हिन्दू प्रतिनिधियों से अलग मान लिया था और जो समानता हिन्दू-मुस्लिम प्रतिनिधित्व में दी गयी थी वह अ-हरिजन अथवा सवर्ण हिन्दुओं के साथ ही थी।

अभी तक लड़ाई चल रही थी। देश की स्थिति कुछ अच्छी नहीं थी। हमने सोचा कि इस योजना को मानकर शायद हम उस स्थिति के सुधारने में कुछ सफल हो सकेंगे। हमने यह कहा कि कौंसिल, वायसराय और कमांडर-इन-चीफ के अलावा, 15 आदमियों की हो जिनमें 5 सवर्ण हिन्दू, 5 मुसलमान, 2 हरिजन और 3 सिख, क्रिस्तान, पारसी इत्यादि दूसरी जातियों के प्रतिनिधि हों। हमने 15 नाम भी दिये जिनमें और नामों के अलावा 5 मुसलमानों के भी नाम दिये। इनमें तीन मुस्लिम लीगी लोगों के अलावा एक कांग्रेसी मुसलमान और एक लीग के बाहर के दूसरे मुसलमान के नाम थे। यह भी कह दिया गया कि लीग यदि अपनी ओर से दूसरे नाम देना चाहे तो वह दे सकती है, उसमें हमको उज्र नहीं होगा। मिस्टर जिन्ना ने यह दावा पेश किया कि मुसलमानों के सभी प्रतिनिधियों को नामजद करने का लीग को ही अधिकार होना चाहिए, वह दूसरे किसी मुसलमान का होना पसंद नहीं करेंगे! लार्ड वावेल को इस कठिनाई का सामना करना पड़ा। वह कांग्रेसी मुसलमान को तो छोड़

सकते थे, पर सर खिजिर हयात की पार्टी को नहीं। वह समझते थे कि सर खिजिर हयात ने और उनके पहले उस दल के नेता सर सिकन्दर हयात ने लड़ाई में बहुत मदद की थी, इसलिए उनको छोड़ना पंजाब के मुसलमानों को गवर्नमेंट के विरुद्ध कर देना होगा। हम लोगों को यह तो मालूम नहीं हुआ कि वायसराय किन लोगों को रखना चाहते थे, पर हम समझते थे कि कांग्रेस और लीग की ओर से वही लिये जायेंगे जिनके नाम ये संस्थाएं देंगी, चाहे दूसरों में कुछ हेरफेर भी हो। ऐसा अनुमान किया जाता था कि उन्होंने मुसलमानों में चार नाम लीग के और एक मुसलमान पंजाब की युनियनिस्ट पार्टी का लेना चाहा था। पर मिस्टर जिन्ना इस पर राजी नहीं हुए। कांफ्रेंस टूट गयी!

कांफ्रेंस के टूटने पर मिस्टर जिन्ना ने एक बयान दिया जिसमें उन्होंने लीग के दावे बताये। उन कारणों को भी बताया जिनसे लीग को योजना नामंजूर करनी पड़ी थी। मुख्य कारण यह था कि एकमात्र लीग ही मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था है और उसी को मुसलमान मेम्बरों के नामजद करने का पूरा अधिकार होना चाहिए—चूंकि लार्ड वावेल इस बात को नहीं मानते, इसलिए योजना मंजूर नहीं की जा सकती। दूसरी महत्वपूर्ण बात उन्होंने यह कही कि उस प्रस्ताव के अनुसार 15 गैर-सरकारी आदमियों की कौंसिल में केवल पांच ही मुसलमान होने वाले थे—उनके विरुद्ध कांग्रेसी हिन्दू लोग होते, और दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के जो प्रतिनिधि होते वे हमेशा हिन्दुओं के साथ ही जाते, क्योंकि दूसरी जातियों के विचार और मनोभाव कांग्रेस के ही साथ थे—इस तरह कौंसिल में मुसलमान केवल एक-तिहाई की अल्प-संख्या में रह जाते जो लीग मंजूर नहीं कर सकती। मार्के की बातें इसमें दो थीं। एक तो यह कि आज तक सभी अल्पसंख्यक जातियों के संरक्षण का भार मिस्टर जिन्ना हमेशा अपने ऊपर लिया करते थे—कहा करते थे कि कांग्रेस केवल सवर्ण हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करती है, बाकी सबकी रक्षा लीग ही कर सकती है और करती है। ऐसा कहने का कोई कारण नहीं था; क्योंकि बार-बार अन्य अल्पसंख्यक जातियों ने अपनी संस्थाओं में लीग और भारत-विभाजन तथा पाकिस्तान की बात का स्पष्ट रीति से विरोध किया था और कांग्रेस के साथ अपनी सहानुभूति बतलायी थी। पर वह इस तरह की बातें कहते आ रहे थे। इन अल्पसंख्यकों में वह हरिजनों को भी गिनाया करते थे और अपने को उनका हिमायती बतलाया करते थे। अब, जब कौंसिल में सवर्ण हिन्दुओं की संख्या केवल एक-तिहाई, मुसलमानों की भी एक-तिहाई, और बाकी तिहाई में दो हरिजन तथा दूसरे अल्पसंख्यकों के रखने की बात हुई तो भंडाफोड़ हो गया! उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि दूसरे सब-के-सब कांग्रेस और हिन्दुओं के साथ हैं और रहेंगे, वह केवल मुसलमानों पर ही भरोसा रख सकते थे, और मुसलमानों में भी केवल उन्हीं मुसलमानों पर जिनको लीग ने अर्थात उन्होंने स्वयं नामजद किया हो। दूसरी बात यह साफ हो गयी कि वह इस पर राजी नहीं थे कि कौंसिल में हिन्दुओं और मुसलमानों में समानता हो। वह यह चाहते थे कि एक ओर केवल मुसलमान और दूसरी ओर बहुसंख्यक सवर्ण

हिन्दू—हरिजन तथा दूसरी सभी अल्पसंख्यक जातियां—हों और मुसलमानों की समानता उन सभी जातियों के साथ हो! इसके साथ यह भी स्पष्ट था कि मुसलमानों का अर्थ सभी मुसलमान नहीं,केवल वही मुसलमान जो लीग में शरीक थे!

लीगी मुसलमानों की इस समय यह हालत थी कि उन दो बड़े-बड़े सूबों में,जहां उनकी आबादी ज्यादा है—पंजाब और बंगाल में,लीगी मिनिस्ट्री टूट गयी थी। पंजाब में लीग से अलग होकर, मिस्टर जिन्ना से झगड़कर, सर खिजिर हयात ने अलग मिनिस्ट्री बना ली थी—वह भी तब, जब भूतपूर्व प्रधानमंत्री सर सिकन्दर हयात खां के लड़के सरदार शौकत हयात खां लीग के साथ हो गये थे और सर खिजिर का जोरों से विरोध कर रहे थे। बंगाल की मिनिस्ट्री हारकर टूट गयी थी। यदि उस समय विपक्षी दल को मौका दिया जाता, जैसा देना न्याय और वैधानिक नियम के अनुसार आवश्यक था, तो वहां गैरलीगी मिनिस्ट्री बन गयी होती। पर गवर्नर ने उस समय की नीति के अनुसार लीग को नाखुश करना नहीं चाहा—जब लीगी मिनिस्ट्री न चल सकी, तो बार-बार कहने पर भी, कोई दूसरी मिनिस्ट्री बनाने का किसी को मौका न देकर, दफा 93 के अनुसार, अधिकार अपने हाथों में कर लिया था। सीमा-प्रांत में कांग्रेसी मंत्रिमंडल के हट जाने के कुछ दिनों बाद लीगी मंत्रिमंडल बन गया था, पर वह अपनी कार्रवाइयों से इतना बदनाम हो गया कि हम लोगों के छूटने के कुछ दिन पहले ही कांग्रेसी मेम्बरों ने असेम्बली में भाग लेकर उसे तोड़ डाला था, जिससे वहां कांग्रेसी मंत्रिमंडल कायम हो चुका था। एक सिन्ध ही ऐसा सूबा था जहां लीगी मंत्रिमंडल काम कर रहा था, यद्यपि वहां भी राष्ट्रीय मुसलमानों के नेता अल्लाह बख्श को प्रधानमंत्री के पद से हटाने में गवर्नर का सिर्फ हाथ ही नहीं था, बल्कि उसके लिए गवर्नर को बहुत-से अवैधानिक काम भी करने पड़े थे और पीछे अल्लाह बख्श कत्ल भी कर डाले गये थे!

यह तो उन सूबों का हाल हुआ जहां मुसलमानों की आबादी ज्यादा है। वह तो पाकिस्तान में आसाम को भी मिलाते हैं, पर वहां मुसलमानों की आबादी एक-तिहाई से ज्यादा नहीं है। कांग्रेसी मंत्रिमंडल के हट जाने के कुछ दिनों बाद वहां भी लीग के सरदार सर सादुल्लाह ने मिनिस्ट्री बनायी थी; पर वह भी इतनी बदनाम हो चुकी थी कि वह अपनी अंतिम सांस गिन रही थी। ऐसी अवस्था में यह दावा करना कि लीग ही एकमात्र मुसलमानों की प्रतिनिधि जमायत है और उसके ही नामजद किये लोग कौंसिल में लिये जा सकते हैं तथा उनकी संख्या भी इतनी होनी चाहिए कि वे अकेले ही सवर्ण हिन्दू एवं हरिजन और तमाम दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधियों का अपनी संख्या के कारण विरोध कर सकें, केवल मुस्लिम लीग और मि. जिन्ना के लिए ही सम्भव था! इस दावे पर शिमला कांफ्रेंस को असफल बताकर तोड़ देना ब्रिटिश गवर्नमेंट के लिए ही सम्भव था! याद रखना चाहिए कि अभी लड़ाई चल रही थी और इंग्लैंड में प्रधानमंत्री के पद पर मिस्टर चर्चिल और भारत-मंत्री के पद पर मिस्टर एमरी विराजमान थे!

"शिमला कांफ्रेंस के संबंध में एक-दो बातें और कह देना आवश्यक जान पड़ता है। ऊपर कहा जा चुका है कि कांग्रेस की वर्किंग कमिटी ने अपनी ओर से कौंसिल के लिए नाम भी दे दिये थे। इनमें श्री भूलाभाई देसाई का नाम नहीं था। वह उस समय तक केंद्रीय असेम्बली में कांग्रेस दल के नेता थे। उन्होंने उस हैसियत से काम भी बहुत अच्छा किया था। जब से, बारदोली सत्याग्रह के समय (1928) में, वह कांग्रेस में खुलकर आये थे तब से जब-जब मौका हुआ, वह जेल जाने से हिचके नहीं थे। रुपये-पैसे से भी बराबर मदद करते आये थे। अपनी योग्यता और अपने त्याग के कारण वह बराबर वर्किंग कमिटी के भी मेम्बर रहे थे। कांग्रेस की ओर से उनका न लिया जाना उनके लिए बहुत ही दुखदायी हुआ। यद्यपि नाम प्रकाशित नहीं किये गये थे तथापि बहुतों को यह बात मालूम हो गयी थी कि उनका नाम नहीं दिया गया था। दूसरे लोगों को भी, विशेषकर केंद्रीय असेम्बली के मेम्बरों को, यह बात बहुत खटकी थी। उनका नाम न दिये जाने का कारण यहां लिखना जरूरी नहीं है और न उचित ही है। मैं इस फैसले से संतुष्ट नहीं था, दुखी था। पर कोई दूसरा रास्ता नहीं दीखा। श्री भूलाभाई का मेरे साथ बहुत प्रेम था। मुझ पर वह विश्वास भी रखते थे, जिसको उन्होंने कई मित्रों से कहा था। कुछ दिनों के बाद, जब वह उस रोग से ग्रस्त थे जिसके कारण उनकी मृत्यु हुई, मैं उनसे बम्बई में मिला। उन्होंने अपना दुख बहुत दर्द-भरे शब्दों में कहा भी। यहां इतना कह देना ठीक होगा कि इसके थोड़े ही दिनों के बाद, जब आजाद हिन्द फौज के मेजर-जनरल शाहनवाज और उनके साथियों पर दिल्ली के लाल किले में राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया और श्री भूलाभाई को उनकी ओर से पैरवी करने को कहा गया तो, उन्होंने खुशी से इस मुश्किल काम को अपने हाथों में ले लिया—यद्यपि उनका स्वास्थ्य उन दिनों कुछ अच्छा नहीं था। इसी मुकदमे का घोर परिश्रम एक तरह से उनकी मृत्यु का कारण हुआ; क्योंकि वह मुकदमे का काम किसी तरह खत्म करके बीमार पड़ गये और फिर चारपाई से उठ नहीं पाये। मुकदमे में उनकी प्रखर योग्यता और अदभुत शक्ति का पता लगा। उनकी बहस संसार के बड़े-से-बड़े मुकदमों के बड़े-से-बड़े वकीलों की बहस का मुकाबला करती रहेगी। चारपाई पर पड़े श्री भूलाभाई को एक संतोष रहा—उनके सभी मवक्किल छूट गये। उनके मरने से भारत की एक विभूति चली गयी। उनका स्थान लेने वाला दूसरा कोई अभी नहीं दीखता। मुझे उनके अंतिम दिन हमेशा स्मरण रहेंगे—विशेषकर वह करुणापूर्ण भावना कि इतनी सेवा के बाद भी वर्किंग कमिटी ने उनको कौंसिल के योग्य नहीं समझा! उनके मन में पद की लालच नहीं थी। यदि कांग्रेस में वह न आये होते तो उसे वह अनायास ही बहुत पहले पा सकते थे। उनको दुख इस बात का था कि हमने उनको अयोग्य समझा!

दूसरी बात जिसका जिक्र करना चाहता हूं, निजी है। वर्किंग कमिटी के सामने नामों के चुनने का जब प्रश्न आया तो उन नामों में मेरा नाम भी आया। मैं इसके लिए बिलकुल तैयार नहीं था। एक तो मेरा स्वास्थ्य ऐसा नहीं कि बहुत परिश्रम कर सकूं। दूसरे, इस प्रकार के

काम का मुझे बिलकुल तजरबा नहीं था। ऐसे कठिन समय में इस भार को लेना ठीक नहीं जंचता था। तीसरे,मैं समझता था कि बाहर रहकर जैसे मैं उस समय तक काम करता आ रहा था वैसे ही काम करते रहना मेरे मिजाज के मुवाफिक था। चौथे,दिल में कुछ नैतिक दुविधा भी मालूम होती थी। मैंने अपनी कठिनाइयों को पूज्य महात्माजी के पास अकेले में जाकर कहा। उन्होंने राय दी कि मुझे मंजूर कर लेना चाहिए। इसके बाद मेरे लिए कुछ कहने को नहीं रह गया। पर चित्त में शांति पूरी नहीं आयी थी। इसलिए जब शिमले में बातचीत खत्म हो गयी तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मेरे सिर से भी एक बोझ टल गया—देशहित की दृष्टि से यद्यपि उसका टूटना अच्छा नहीं लगा, तथापि व्यक्तिगत विचार से अच्छा ही हुआ जान पड़ा।

155

पीड़ित राजबंदियों के लिए अर्थसंग्रह का उद्योग

शिमले से मैं दिल्ली आया। वहां बीमार पड़ गया। तबीयत बम्बई जाने पर ही कुछ खराब हो गयी थी। इसीलिए बम्बई से जल्द पटने चला आया था। पर पटने में भी ठहर न सका। वहां से शिमला जाना पड़ा। शिमले में किसी तरह काम खत्म किया। डाक्टर विधानचन्द्र राय ने, जो शिमला गये हुए थे, सलाह दी कि किसी सूखे स्थान में कुछ दिनों के लिए चला जाना अच्छा होगा। मैं इस विचार से दिल्ली में ठहर गया कि वहां से पिलानी जाकर कुछ दिन आराम कर लूं। पर दिल्ली में अधिक बीमार हो जाने के कारण प्रायः दो सप्ताहों तक ठहर जाना पड़ा। वहां से अगस्त की पहली या दूसरी तारीख को पिलानी गया जहां एक महीने से कुछ अधिक ठहरा। पिलानी में, बिड़ला बंधुओं की ओर से, हमारे ठहरने का अच्छा प्रबंध था। वहां बहन और मृत्युंजय की मां के साथ बहुत आराम से रहा। मुझे आराम पहुंचाने का प्रबंध बिड़ला बंधुओं के मैनेजर श्री हरिश्चन्द्र ने बड़ी खूबी से किया था। बिड़ला कालेज के प्रिंसिपल श्री शुकदेव पांडेयजी तथा दूसरे अध्यापकों और आचार्यों की संगति भी बहुत अच्छी रही।

जो पुस्तक (डिवाइडेड इंडिया) जेल में लिखी गयी थी उसका एक भाग लिखना बाकी रह गया था, यह कहा जा चुका है। पिलानी में यह काम कर लिया गया। वहां बिड़ला कालेज के पुस्तकालय में पुस्तकों का अच्छा संग्रह है। मेरे काम की प्रायः सभी पुस्तकें वहां मिल गयीं। इसलिए इसे पूरा करने में सुविधा हुई। परिश्रम तो करना पड़ा, पर काम हो गया। वहीं से वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के लिए बम्बई जाना पड़ा। बम्बई की हवा मेरे लिए इतनी हानिकर होती है कि वहां पहुंचते ही फिर खांसी-दमा हो गया। आखिर वर्किंग कमिटी बम्बई में न होकर पूना में हुई। हम लोग पूना चले गये। वहां भी बराबर पानी बरसता रहा। इसलिए स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा। बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के बाद मैं पटने वापस गया। बम्बई में किताब (डिवाइडेड इंडिया) के छपने और प्रकाशित करने का प्रबंध कर लिया। ऐसा मालूम हुआ कि दो-तीन महीनों के अंदर पुस्तक प्रकाशित हो जायेगी। शिमले में ही हम लोग समझ गये थे कि

प्रांतीय और केंद्रीय असेम्बलियों का नया चुनाव शीघ्र ही होगा। मैं समझता था कि उन चुनावों के पहले ही पुस्तक प्रकाशित हो जाये तो अच्छा होगा। केंद्रीय असेम्बली के चुनाव के पहले तो नहीं, पर प्रांतीय चुनावों के पहले वह प्रकाशित भी हो गयी।

जब मैं जेल में था, मुझे उन लोगों की चिंता हुई जिनको 1942 के आन्दोलन के कारण बहुत प्रकार के कष्ट उठाने पड़े थे—विशेषकर उनके संबंध में भी चिंता होती जिन पर संगीन मुकदमे चल रहे थे जिसके फलस्वरूप फांसी अथवा लम्बी कैद की सजा मिलती थी। मुकदमों की पैरवी में खर्च पड़ता था और जो लोग बाहर थे उन्होंने यथासाध्य इसका प्रबंध किया था। दूसरे लोगों में बहुतेरे ऐसे थे जिनके कैद हो जाने पर उनके परिवार को बहुत कष्ट सहना पड़ रहा था। बहुतेरे तो ऐसा स्वास्थ्य लेकर छूटते कि उनकी चिकित्सा कराना आवश्यक होता। बाहर निकलने पर जब कुछ और बातें मालूम हुईं तो मैंने तय कर लिया कि इनके सहायतार्थ कुछ रुपया जमा करना चाहिए। पर बम्बई और शिमले की बातों तथा उसके बाद बीमार पड़ जाने के कारण बम्बई से लौटने तक मैं कुछ विशेष नहीं कर पाया था। बम्बई में मैंने इस संबंध में कुछ मित्रों से बातें की थीं, पर वहां कुछ उत्साहवर्धक स्थिति नहीं थी। वहां के लोगों ने इसके पहले बहुत पैसों से देश की मदद की थी। अब एक खास सूबे के लिए अलग चंदा उठाना कठिन था। हां, यदि सारे देश के लिए कुछ किया जाता तो हो सकता, पर केवल एक सूबे की बात लेकर मैं उनसे कैसे कुछ कह सकता था! दूसरे लोगों का ध्यान इस ओर अभी नहीं गया था। इसलिए मैंने सोच लिया कि पहले अपने सूबे में कुछ कर लिया जायें तो फिर बम्बई और कलकत्ते जैसे बड़े स्थानों में प्रयत्न करूंगा।

मैंने पिलानी में ही पैसे जमा करने का काम शुरू कर दिया था। अगर यों कहा जाये कि काम अनायास ही शुरू हो गया तो ज्यादा ठीक होगा। वहां के कालेज के प्रिंसिपल श्री शुकदेव पांडेयजी तथा दूसरों से बातों-ही-बातों में जिक्र आ गया था; मैंने कुछ मांगा नहीं था। पर 9 अगस्त (1945 ई.) को कालेज में एक सभा हुई जिसमें 9 अगस्त के संबंध में कुछ कहने के लिए मैं बुलाया गया। वहीं पर कालेज के आचार्यों और विद्यार्थियों की ओर से एक हजार रुपये की थैली राजनीतिक पीड़ितों के सहायतार्थ मुझे भेंट की गयी। पिलानी से रवाना होने के पहले मैं शेखावाटी के कुछ स्थानों में गया जहां के लोगों का बड़ा आग्रह था। चिड़ावा, सूर्यगढ़, फतहगढ़ इत्यादि कई स्थानों में गया। सभी स्थानों में थैलियां भेंट की गयीं। इस तरह, वहां से चलने के पहले, 15-16 हजार रुपये कोष में आ गये। पटना लौटकर मैंने सारे सूबे में दौरा करने का कार्यक्रम बनाया। पर अभी बरसात समाप्त नहीं हुई थी। मेरा स्वास्थ्य भी ठीक नहीं था। इसलिए निश्चय किया कि 10 दिनों के लिए जीरादेई जाकर आराम करूं और फिर दशहरे के दिन से दौरे पर निकलूं। जीरादेई जाते समय कुछ ऐसा अनुभव हुआ कि जिससे मेरे दिल में रुपये जमा होने के संबंध में जो थोड़ा संदेह था वह दूर हो गया।

गंगातट के पहलेजाघाट स्टेशन पर स्टीमर से उतरकर मैं रेल पर जा रहा था। वहां लोगों की भीड़ लग गयी थी। इस बात की सूचना लोगों को मिल गयी कि मैं उसी गाड़ी से जीरादेई जा रहा हूं। इसलिए वहां के कांग्रेसी लोग जमा हो गये थे। मैंने बिना सोचे-विचारे भीड़ देखकर लोगों से कह दिया कि मैं राजनीतिक पीड़ित कोष के लिए पैसा चाहता हूं, जिससे जो कुछ हो सके वह दे दे। पटने से ही सभी जिलों को खबर दे दी गयी थी कि मैं दौरे पर इस काम के लिए निकलूंगा। हरएक जिले से एक निश्चित रकम मांगी गयी थी जिससे कम उनको कोष के लिए नहीं देना था। पहलेजाघाट के कार्यकत्ताओं ने सोचा था कि इस अवसर पर ही कुछ जमा कर लेना चाहिए। इसलिए वे जिले के 'कोटा' में से अपना हिस्सा पूरा करने का प्रबंध कर रहे थे और कुछ जमा करके लाये भी थे। वह उन्होंने भेंट किया। पर इसके अतिरिक्त उपस्थित जनता ने छोटी-छोटी रकमों से एक अच्छी रकम खड़ी कर दी। मैंने देखा कि लोगों में उत्साह अदभुत है, इससे लाभ उठाना चाहिए। इसलिए हर स्टेशन पर मैंने रुपये जमा करना शुरू कर दिया। जीरादेई में लोगों ने स्वागत के लिए तैयारी की थी, क्योंकि तीन-चार बरसों के बाद मैं अपने गांव जा रहा था। वहां लोगों को यह भी मालूम था कि मैं पीड़ित-कोष के लिए रुपये भी जमा कर रहा हूं। अतः वे कुछ जमा करके थैली भी रखे हुए थे। इस प्रकार जीरादेई पहुंचते-पहुंचते लोगों ने एक अच्छी रकम भेंट कर दी। इससे मेरा उत्साह बहुत बढ़ गया। मैं समझ गया कि रुपये काफी मिल जायेंगे।

जीरादेई में गया तो था आराम करने के लिए, पर बहुत आराम न कर सका। बहुत लोग भेंट करने आते और उन पर जो कुछ बीता था उसे कह सुनाते। वहां रहते-रहते मैंने कुछ आसपास के लोगों के ऐसे घरों को देखा जो 1942 में सरकारी कर्मचारियों द्वारा जला दिये गये थे और ऐसे लोगों के परिवार से भेंट भी की जो गोलियों के शिकार हुए थे। इनमें हमारे खानदान के पुराने संबंधी नरेन्द्रपुर के बाबू कृष्णकुमार सिंह जी थे जिनके भतीजे की मृत्यु पटना सेक्रेटेरियट के गोलीकांड में हुई थी। जिस बेरहमी से घर जलाये गये थे, देखकर बहुत दुख होता और इसका अंदाजा मिलता कि तीन बरस पहले जब ये घटनाएं हुई थीं तब लोगों की क्या हालत हुई होगी! जीरादेई का भी एक आदमी गोली से मारा गया था। उसके परिवार के लोगों को सहायतार्थ कुछ दिया भी। जीरादेई रहते-रहते रुपये जमा करने का काम भी जारी रहा। जो लोग भेंट करने आते उनमें बहुतेरे कोष के लिए कुछ दे जाते और विस्तारपूर्वक लोगों के कष्टों का हाल सुना जाते।

एक और काम जीरादेई में हुआ। जबलपुर के श्री द्वारका प्रसाद मिश्रजी ने 1940-41 में व्यक्तिगत सत्याग्रह के समय जेल में 'कृष्णायण' लिखना आरम्भ किया था। एक बार मुझे वर्धा से पटना लौटते समय कुछ घंटों के लिए उनके साथ ठहरने का अवसर मिला था तो उन्होंने मेरे आग्रह से उसका कुछ अंश मुझे सुनाया था। मुझे वह बहुत पसंद आया था। उसे उन्होंने 1942-45 की जेल-यात्रा में पूरा किया था और जेल से मेरे निकलने पर बम्बई में

अखिल भारतीय कमिटी के समय कहा था कि चंद रोज मेरे साथ रहकर उसे पढ़ सुनाना चाहते हैं । मैंने उनको जीरादेई में बुला लिया । उनके भाई और वह स्वयं वहां आ गये थे । पुस्तक का कुछ अंश उन्होंने सुनाया था । मुझसे एक छोटी भूमिका लिखने का आग्रह किया जो मैंने वहीं लिख दी । पुस्तक श्री तुलसीकृत रामायण की शैली पर दोहा और चौपाइयों में लिखी गयी है । जिस तरह रामायण में श्री रामचन्द्र का चरित्र-चित्रण है उसी तरह इसमें श्रीकृष्ण की जीवनी और चरित्र का चित्रण है । पुस्तक बहुत ही हृदयग्राही और सुंदर ढंग से लिखी गयी है । सुनकर बहुत आनन्द आया । मिश्रजी का सत्संग बहुत ही अच्छा रहा ।

जीरादेई से मैं सीधे दौरे पर निकल गया । प्रायः 6-7 हफ्तों तक दौरा करता रहा । लोगों में उत्साह बहुत था । 1942 के दमन का कुछ भी असर देखने में नहीं आता था । मालूम होता था कि जैसे रबर की गेंद जितने जोर से पटकी जाती है वह उतने ही जोर से ऊपर उठती है, वैसे ही दमन के कारण लोगों का जोश और भी ज्यादा हो गया है । सभाओं में रुपयों की वर्षा होती । जो कुछ थैली के लिए लोग जमा करके पहले से रखते उसके अलावा सभाओं में भी अच्छी रकम जमा हो जाती । दौरा बहुत सख्त था, क्योंकि बहुत स्थानों में जाना था और सभी जगहों में भाषण करना पड़ता था । यद्यपि तबीयत ठीक हो गयी थी तथापि कमजोरी अभी काफी थी । भाषणों में, लोगों का उत्साह बढ़ाने के लिए अपील करता । जितना 'कोटा' निश्चित था उससे कम किसी जिले ने नहीं दिया । अधिकांश ने 'कोटा' से कहीं अधिक रकम दी । हम लोगों ने सोचा था कि तीन लाख रुपये सूबे से जमा किये जायें और दो लाख रुपये बम्बई-कलकत्ता जैसे बाहर के बड़े-बड़े स्थानों से । पर सूबे के अंदर ही पांच लाख से अधिक रुपये आ गये । बाहर मांगने की जरूरत न रही । अभी दौरा पूरा नहीं हुआ था और मैं थक-सा गया । दो-तीन जिले अभी बाकी थे जब कटिहार में पहुंचकर मैं बहुत बीमार पड़ गया । न्युमोनिया जैसा कुछ हो गया । कई दिनों तक वहां ठहर जाना पड़ा । पटने से डाक्टर बनर्जी बुलाये गये । कुछ अच्छा होने पर वहां से स्पेशल ट्रेन द्वारा मैं पटना पहुंचाया गया; क्योंकि वहां से गाड़ियों का सिलसिला ऐसा था कि कहीं-न-कहीं रात गाड़ी में बितानी पड़ती और डाक्टर लोग इससे बचाना चाहते थे । पटने पहुंचकर भी मैं बहुत दिनों तक बीमार रहा । आहिस्ता-आहिस्ता अच्छा हुआ । इसी बीच कलकत्ते में वर्किंग कमिटी की बैठक होने वाली थी । मैंने यात्राक्रम ऐसा बनाया था कि स्वास्थ्य यदि मेरा साथ दिये होता तो दौरा समाप्त करके मैं कलकत्ते पहुंच जाता, पर बीमार पड़ जाने के कारण न दौरा ही समाप्त कर सका और न कलकत्ते ही जा सका । जो जिले दौरे से वंचित रह गये थे उनका दौरा कई महीनों के बाद किसी तरह कर सका; पर वह बात न रही जो उस समय थी । उस समय का उत्साह और जोश अदभुत था ।

156

असेम्बली का चुनाव और कुछ पार्टियों के कारनामे

ऊपर कहा जा चुका है कि केंद्रीय असेम्बली के लिए पहले चुनाव हुआ। यह जनवरी तक समाप्त हो गया। इसके बाद प्रांतीय असेम्बली का चुनाव आया। केंद्रीय असेम्बली के लिए बिहार में जितने गैर-मुस्लिम खड़े किये गये थे, आसानी से जीत गये, अधिकांश तो निर्विरोध चुने गये। एक जगह विरोध हुआ, पर वहां भी विरोधी की जमानत जब्त हुई। पर मुस्लिम जगहों के लिए कांग्रेस की ओर से खड़े उमीदवार हार गये, सब जगहें मुस्लिम लीग को मिल गयीं। यह कैफियत केवल बिहार में ही नहीं रही; प्रायः देश-भर में ऐसा ही हुआ! गैर-मुस्लिम जगहों में कांग्रेसी और मुस्लिम जगहों में लीगी चुने गये।

अब प्रांतीय चुनाव के लिए तैयारियां हुईं। इसमें भी मुस्लिम लीग के साथ मुकाबला हुआ। कांग्रेस तीन मुस्लिम जमायतों के साथ मिलकर लीग का मुकाबला बिहार में कर रही थी। ये तीन जमायतें थीं—जमीअत उलेमा, जमीअत मोमिन और इंडिपेंडेंट पार्टी। इनमें इंडिपेंडेंट पार्टी की कोई खास हैसियत नहीं थी और मोमिन लोगों का संगठन बहुत फैला हुआ था। उमीदवार चुनने में बहुत देर हो गयी; क्योंकि कई जमायतों को साथ चलना था। तय हुआ कि कुछ जगहों के लिए कांग्रेसी, कुछ के लिए जमीअत उलेमा के और कुछ के लिए मोमिन उमीदवार खड़े किये जायें। सबसे ज्यादा जगहें मोमिनों को दी गयीं। बहुत धूमधाम से मुकाबला हुआ। लीग की ओर से हर तरह की जोर-जबरदस्ती भी की गयी। खर्च भी काफी किया गया। अंत में नतीजा यह हुआ कि 40 जगहों में से 34 लीग ने ले लीं, 5 मोमिनों को मिलीं और 1 कांग्रेस को! जमीअत उलेमा का एक उमीदवार भी कामयाब नहीं हुआ। जिस जगह के बारे में यह कहा जाता था कि उस इलाके के सभी वोटर जमीअत उलेमा के उमीदवार के मुरीद थे वहां भी जमीअत उलेमा के उमीदवार हार गये। कांग्रेस को सबसे भारी धक्का यह लगा कि प्रोफेसर अब्दुल बारी हार गये। कांग्रेसी उमीदवारों में डाक्टर सैयद महमूद जीते।

गैर-मुस्लिम जगहों में और कहीं कोई विशेष विरोध नहीं हुआ। केवल छोटानागपुर में—रांची और सिंहभूम जिलों में—जोरदार विरोध हुआ। जमींदारी जगहों पर हमने किसी

को खड़ा ही नहीं किया था। छोटानागपुर में, वहां के आदिम निवासियों के बीच, कछ दिनों से, एक संस्था काम कर रही है जिसका नाम है 'आदिवासी महासभा'। इसके कार्यक्रम का एक मुख्य स्तम्भ यह है कि छोटानागपुर बिहार से अलहदा सूबा बना दिया जाये। इसके नेता हैं श्री जयपाल सिंह। यह स्वयं रांची जिले के खूंटी इलाके से खड़े हुए। और-और जगहों में—सिंहभूम, रांची, संतालपरगना इत्यादि में—इस सभा की ओर से उमीदवार खड़े किये गये। कुछ जगहें आदिवासियों के लिए, विधान के अनुसार, सुरक्षित हैं। जो दूसरी गैर-मुस्लिम जगहें हैं उनमें भी उनको खड़ा होने का अधिकार है। उन्होंने सुरक्षित जगहों के लिए, और कुछ आम जगहों के लिए भी, उमीदवार खड़े किये। कांग्रेस की ओर से तो सभी आम जगहों के लिए, और आदिवासियों के निमित्त सुरक्षित जगहों के लिए भी, उमीदवार खड़े किये गये। इन्हीं जगहों में कड़ा विरोध हुआ। मैं चुनाव के समय तक अच्छा हो गया था। जहां-जहां अधिक विरोध की सम्भावना थी वहां दौरा करने का विचार हुआ। कहीं-कहीं आदिवासियों के अतिरिक्त, मुंगेर और शाहाबाद की कुछ जगहों से, और मजदूरों के लिए सुरक्षित स्थान से भी, रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी (श्री एम. एन राय की पार्टी) और कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से उमीदवार खड़े किये गये थे।

1942 के क्रांतिकारी आन्दोलन के समय में श्री एम. एन. राय और उनकी पार्टी ने कांग्रेस की बड़ी निंदा की थी। केवल इसी देश में उन्होंने उस आन्दोलन का विरोध नहीं किया था—विदेशों में भी, विशेषकर अमेरिका में। उनके आदमियों ने जाकर कांग्रेस की बहुत झूठी और गलत शिकायतें की थीं—गवर्नमेंट को भी कांग्रेस को दबा देने और उसके संगठन को चूर-चूर कर देने की सलाह दी थी। गवर्नमेंट को उनकी सलाह की जरूरत नहीं थी, वह खुद सब कुछ कर रही थी। पर उनके प्रचार से उसको अपना दमनचक्र चलाने में सहारा जरूर मिला। जेल में हम लोगों के रहते-रहते ही केंद्रीय असेम्बली में एक प्रश्न के उत्तर में सरकार की ओर से कहा गया कि उस पार्टी को गवर्नमेंट की ओर से तेरह हजार रुपये की मासिक मदद दी जा रही है। उस दल के लोगों में आपस में भी इस विषय में झगड़ा हो गया और एक दल ने इस खबर से लाभ उठाकर दूसरे को जनता की नजरों में गिराना चाहा। हम लोग जब बाहर थे तब ऐसी बातें सुना करते थे। उस दल के लोग बहुत खर्च करते भी देखे गये थे, पर निश्चयपूर्वक कोई कुछ कह नहीं सकता था। 1942 के आन्दोलन के समय उन लोगों में कुछ मतभेद हो गया था। कुछ लोग आन्दोलन में शरीक होना पसंद करते थे, पर श्री एम. एन. राय और दूसरे लोग उनका जोरों से विरोध करना चाहते थे। जेल में ही हम लोगों को इसका पता लग गया था। यह भी मालूम हो गया था कि वह पार्टी गवर्नमेंट के रुपये से काम कर रही है। असेम्बली में तो गवर्नमेंट ने ही भंडाफोड़ कर दिया। वही पार्टी अपने को भारत का सच्चा प्रतिनिधि बताती थी और कांग्रेस को देश-विदेश में गालियां दिया करती थी।

कम्युनिस्ट लोगों का भी हाल कुछ विचित्र रहा। लड़ाई आरम्भ होने के चंद दिन पहले रूस और जर्मनी में सुलह हो गयी। जब लड़ाई शुरू हुई तो एक ओर से जर्मनी ने पौलैंड पर चढ़ाई कर दी और दूसरी ओर से उसके कुछ हिस्से पर रूस ने कब्जा कर लिया। इस प्रकार दोनों में बड़ी आवभगत हो गयी। हिन्दुस्तान के कम्युनिस्ट लोग, जो अधिकतर रूस के इशारे पर ही काम किया करते हैं, आरम्भ में ब्रिटिश के खिलाफ ही बोलते-लिखते रहे, जिसके कारण उनकी संस्था गैर-कानूनी करार दे दी गयी थी और उनके प्रमुख व्यक्ति लुक-छुपकर काम कर रहे थे। जब तक रूस और जर्मनी के बीच लड़ाई नहीं छिड़ी, हिन्दुस्तान के कम्युनिस्ट लोग जर्मनी के हिमायती और ब्रिटिश के विरोधी बने रहे। जब रूस और जर्मनी में लड़ाई छिड़ गयी तब से उन्होंने अपना रुख बिलकुल बदल दिया। जैसे ही ब्रिटेन और रूस एक ओर होकर जर्मनी से लड़ने लगे, उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया कि यह लड़ाई जनयुद्ध है और ब्रिटेन की मदद करना सबका फर्ज है! इस तरह कांग्रेस के आन्दोलन के प्रति उनका विरोध अनिवार्य हो गया। उन्होंने विरोध किया भी। इस कारण कांग्रेसी लोगों में—विशेषकर कांग्रेस के अंदर सोशलिस्ट पार्टी में—इन दोनों उक्त पार्टियों के विरुद्ध बहुत जबरदस्त भावना पैदा हो गयी थी। जेल के अंदर तो इसका कुछ पता चलता ही था, पर बाहर निकलने पर जब सब बातों का पूरा पता चलने लगा तो यह भावना और भी जबरदस्त हो गयी।

इन्हीं पार्टियों की ओर से कांग्रेस के विरुद्ध उमीदवार खड़े किये गये थे। उनके जीतने की तो कोई करीना था ही नहीं, पर एक मुठभेड़ का मौका जरूर पैदा हो गया। कम्युनिस्टों के साथ मुठभेड़ हुआ भी। मुझे इस बात का अफसोस रहा कि कांग्रेसी लोग उनके प्रहारों को अहिंसात्मक रीति से बरदाश्त नहीं कर सके, कम्युनिस्टों के एक नेता को बहुत पीट भी दिया। वातावरण बहुत दूषित हो गया। हमारे सिद्धांत को भी बहुत धक्का पहुंचा। अंत में दोनों दलों के लोग खूब हारे। बिहार में एक स्थान से भी उनका उमीदवार नहीं चुना गया। कई जगहों में तो उनकी जमानत भी जब्त हुई।

आदिवासियों का विरोध भी हिंसा से खाली न रहा। जब मैं दौरे पर निकला तो रांची जिले में कई आदमी मेरे सामने पेश किये गये जिनको आदिवासी सभा के लोगों ने खूब पीटा था। वे सभाओं में बड़ी तायदाद में जमा होते और कांग्रेसी लोगों को मारते-पीटते। उनका विशेष ध्यान उन आदिवासियों पर होता जो कांग्रेस की ओर से खड़े थे अथवा जो कांग्रेस की मदद कर रहे थे। ऐसे लोगों को उन्होंने बहुत पीटा। कुछ घायलों को तो बहुत समय तक अस्पताल में रहना पड़ा था। खूंटी इलाके में उनकी धांधली बहुत ज्यादा थी। मैंने इन बातों की सूचना गवर्नमेंट को दी, पर वहां के स्थानीय अफसरों का रुख कुछ ऐसा था कि गवर्नमेंट ने इन बातों पर कुछ ध्यान नहीं दिया। एक स्थान पर पांच आदिवासी मार डाले गये। इस चुनाव के आन्दोलन में मुस्लिम लीग और आदिवासी सभा का गठबंधन हो गया

था। दोनों मिलकर काम कर रहे थे। आदिवासी सभा वाले भी 'पाकिस्तान जिंदाबाद' के नारे लगाया करते थे ! मुस्लिम लीग के कुछ नेताओं ने पीछे इन पांच मृत्युओं की संख्या बढ़ाकर 100-150 बना दी और सबके लिए कांग्रेस को दोषी ठहराया। यहां पर अधिक लिखना मुनासिब नहीं है; क्योंकि अभी मुकदमे चल रहे हैं। पर इतना कह देना उचित होगा कि कांग्रेसी लोगों ने इससे बराबर इंकार किया है।

चुनाव का नतीजा यह हुआ कि श्री जयपाल सिंह स्वयं तो हार गये, पर उनके दल के तीन आदमी चुने गये—दो सिंहभूम जिले से और एक रांची जिले से। सात सुरक्षित जगहों में से उनके दल को दो जगहें मिलीं—एक रांची में और एक सिंहभूम में तथा आम जगहों में से एक जगह सिंहभूम में। पांच सुरक्षित जगहें और दूसरी सभी जगहें, जहां पर उन्होंने मुकाबला किया, कांग्रेस के हाथ आयीं। ईसाइयों के लिए जो सुरक्षित जगह हैं उसमें भी एक क्रिस्तान आये जो शायद उनके दल के हैं अथवा उनके मददगार हैं।

चुनाव संबंधी दौरे पर मैं निकला और अधिकांश जगहों में, जहां जाने का विचार था, गया। पर अंतिम तीन-चार दिन दौरा न कर सका। फिर तबीयत कुछ ढीली पड़ गयी। उसी समय जोरों से पानी भी बरसने लगा। इत्तफाक से इन्हीं दिनों मुंगेर जिले में जाना था। वहां नहीं जा सका। पीड़ित-कोष के लिए दौरा करते समय भी मुंगेर पहुंचने के पहले ही बीमार पड़ जाने के कारण वहां नहीं पहुंच सका था। बहुत दिनों के बाद मुंगेर जिले के अन्य स्थानों में तो जा सका, पर खास मुंगेर में अभी तक नहीं जा सका हूं। मेरे दौरे की विशेष जरूरत नहीं थी; क्योंकि जनता में बड़ा उत्साह था और कांग्रेस की जीत निश्चित थी। तो भी एक बार फिर से बहुत स्थानों में जाना अच्छा ही रहा।

चुनाव समाप्त हो जाने पर मंत्रिमंडल बनना था। यद्यपि कांग्रेस की ओर से कोई बाजाब्ता निश्चय नहीं हुआ था कि कांग्रेस मंत्रिमंडल बनाने में शरीक होगी, पर अब तो लड़ाई समाप्त हो चुकी थी। कांग्रेस ने लड़ाई के कारण ही मंत्रि-पद छोड़ा था। अब वह कारण नहीं रहा। देश की परिस्थिति भी ऐसी थी कि सभी लोग चाहते थे कि कांग्रेस फिर मंत्रि-पद ग्रहण करे। इस तरह कांग्रेसी लोग तथा कांग्रेस के बाहर के लोग, सभी समझे बैठे थे कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनेगा ही। ऐसा ही हुआ भी। सीमा-प्रांत, युक्तप्रांत, बिहार, मध्यप्रांत, आसाम, उड़ीसा, मद्रास और बम्बई में तो कांग्रेस का बहुमत था। इनमें मंत्रिमंडल बनने में कोई संदेह नहीं था। पंजाब में किसी एक दल का बहुमत नहीं था, पर लीग के अधिक मेम्बर चुने गये थे। वहां कांग्रेस, सिख और युनियनिस्ट-पार्टी—तीनों मिलकर लीग से ज्यादा थे। इसलिए वहां इन तीनों की सम्मिलित पार्टी बन गयी और मंत्रिमंडल इनका ही बना, लीग का नहीं। सिन्ध में लीग और दूसरे दलों का प्रायः बराबरी का मुकाबला था। कहा जाता था कि लीग के साथ तीन अंगरेज मेम्बरों के मिल जाने पर भी दूसरों का एक या दो अधिक बहुमत था। पर सिन्ध के गवर्नर ने लीग को ही मिनिस्ट्री बनाने का निमंत्रण दिया।

वहां लीगी मिनिस्ट्री बनी जिसके संबंध में अब भी कहा जाता है कि उसके साथ बहुमत नहीं है। केवल एक बंगाल में ही युरोपियनों के साथ मिलकर लीग का बहुमत था। वहां भी लीगी मिनिस्ट्री बनी। बाकी सभी सूबों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने। बिहार में पुराने चारों मिनिस्टर आरम्भ में नियुक्त हुए। श्री जगलाल चौधरी 10 बरस की सजा पाकर जेल में थे, इसलिए चुनाव में खड़े नहीं हुए थे। श्री बाबू, अनुग्रह बाबू और डाक्टर महमूद अपनी नियुक्ति होते ही उनको जेल से निकाल लाये और चौथी जगह पर उनको नियुक्त करा दिया। कुछ दिनों के बाद पांच मिनिस्टर और भी नियुक्त किये गये। इस बार बिहार में नौ मिनिस्टर काम कर रहे हैं।

157

गो-सेवा संबंधी कार्य

महात्मा गांधी बहुत दिनों से गो-सेवा संबंधी अपने विचार प्रकाशित करते आ रहे हैं। साबरमती आश्रम में और सेवाग्राम में भी गोशालाएं चलती आयी हैं। सेठ जमनालाल बजाज की देख-रेख में, वर्धा के पास ही नालवाड़ी में, श्री राधाकृष्ण बजाज कई बरसों से गोशाला चला रहे हैं। पारनेरकरजी ने गांधीजी के विचारों के अनुसार गो-सेवा का विशेष अध्ययन और सक्रिय अनुभव प्राप्त किया है। अपने मरने के कुछ दिन पूर्व सेठ जमनालालजी ने गो-सेवा को अपना एक मुख्य कार्यक्षेत्र बना लिया था। उन्होंने वर्धा में इसके लिए नालवाड़ी की गोशाला को केंद्र बनाकर एक संस्था कायम कर ली थी। इसकी स्थापना के समय वहां एक सम्मेलन हुआ था जिसमें विशेषज्ञ लोग दूर-दूर से आमंत्रित होकर आये थे। मैं भी हाजिर था। मैं सब प्रवृतियों का कुछ-कुछ अध्ययन करता आया था। पर गो-सेवा पर मैंने विशेष ध्यान नहीं दिया था। मैं इसके महत्व और उपयोगिता को भली भांति समझ गया था; पर कोई सक्रिय अनुभव मैंने नहीं पाया था। श्री बालुंजकर द्वारा संचालित नालवाड़ी के चर्मालय को भी जानता था। जब-तब वहां जाकर उसे देख आया करता था। गोशाला के साथ चर्मालय के संबंध को समझता भी था। इस विषय पर जब-तब कुछ लेख भी लिखे थे। गोशालाओं को, विशेषकर दरभंगे की गोशाला को, इस ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न भी किया था। इतना होते हुए भी मैं गो-सेवा संघ का सदस्य नहीं बना था और न ऐसी किसी संस्था के साथ कोई विशेष संबंध ही जोड़ा था।

1946 के आरम्भ में वर्धा से श्रीमती जानकीदेवी बजाज और श्री राधाकृष्ण बजाज का पत्र आया कि इस बार के गो-सेवा सम्मेलन का मैं सभापति बनूं। उसमें यह भी लिखा था कि पूज्य बापूजी की भी इच्छा है कि मैं यह पद स्वीकार करूं। यों तो श्रीमती जानकीदेवी जी का कहना ही काफी था, तिस पर पूज्य बापू की आज्ञा! मैंने स्वीकार कर लिया। ठीक समय पर वर्धा पहुंच भी गया। वहां पद के भार को संभालने के लिए इस विषय पर कुछ विशेष ध्यान देना पड़ा। सम्मेलन में अच्छे-अच्छे विशेषज्ञ आये थे, जिनमें सर दातारसिंह, लाला हरदेव सहाय (हिसार, पंजाब) और मध्यप्रांत के सरकारी विशेषज्ञ श्री शाहीजी मुख्य थे।

वहीं पर सब बातों को देख-सुनकर और बिहार से गये हुए दरभंगा गोशाला के प्रतिनिधि से बातें करके यह निश्चय कर लिया गया कि इस तरह का काम बिहार में भी किया जाये तथा इसके लिए एक प्रांतीय गो सम्मेलन किया जाये। इसी निश्चय के अनुसार पटने में एक गो सम्मेलन हुआ जिसमें बिहार की सभी गोशालाओं की ओर से प्रतिनिधि आये। इनके अतिरिक्त दूसरे लोग भी आये। सर दातारसिंह, लाला हरदेव सहाय, दिल्ली के सैयद रहीमतुल्लाह काजी (हिन्दू-मुस्लिम गो-रक्षा सभा के सभापति), रावलपिंडी के नजीर अहमद शेरवानी और बिहार गवर्नमेंट के विशेषज्ञ लोग, जो गो-सेवा में दिलचस्पी रखते हैं, आये। मैं ही सभापति बनाया गया। भागलपुर के रायबहादुर वंशीधर ढानढनिया स्वागताध्यक्ष थे। पटना सिटी की गोशाला में सम्मेलन हुआ। श्रीमती जानकीदेवी जी भी पधारीं।

मैंने विषय का विशेष अध्ययन करके एक लम्बा भाषण लिखा। विशेषज्ञों ने तता दूसरों ने उसे बहुत पसंद किया। सम्मेलन ने निश्चय किया कि सूबे-भर की गोशालाओं और पिंजरापोलों का एक संघ कायम किया जाये, उसके साथ सभी गोशालाओं को सम्बद्ध हो जाना चाहिए, संघ का एक स्थायी दफ्तर भी रहना चाहिए जिसकी रजिस्ट्री करा ली जाये और संघ के दफ्तर की देखरेख में नमूने के लिए एक आदर्श गोशाला खोली जाये। इन्हीं निश्चयों के अनुसार दफ्तर खुल गया। सदाकत आश्रम में एक छोटी गोशाला भी हो गयी। उसको बढ़ाकर आदर्श गोशाला का रूप देने का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है कि दरभंगा गोशाला के प्रबंधक श्री धर्मपाल सिंह के परिश्रम और लगन से यह काम आगे बढ़ निकलेगा। यह एक नया काम है। इसका भार मैंने उन मित्रों के भरोसे पर लिया जिन्होंने इसमें काफी दिलचस्पी दिखलायी है।

मैं गो-सेवा को धार्मिक दृष्टि से नहीं फैलाना चाहता। भारत की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर ही इसकी आवश्यकता और उपयोगिता को समझता हूं। इसी तरह से हम इसमें उनकी भी मदद पा सकते हैं जिनमें इसके लिए वैसी धार्मिक भावना नहीं है जैसी हिन्दुओं, जैनों और सिखों में पायी जाती है। मैं मानता हूं कि यही आर्थिक लाभ और उपयोगिता की भावना कुछ काम कर सकती है और सफल भी हो सकती है। निरी धार्मिक भावना मुसलमानों में द्वेष और हिन्दुओं में आडम्बर तथा दम्भ पैदा करती है जिससे सच्ची गो-रक्षा और गो-सेवा पीछे रह जाती है और दिखावे की मात्रा बढ़ जाती है। इसलिए, मैंने अपने भाषण में भी आर्थिक दृष्टिकोण से ही इस पर विचार किया। मैंने बतलाया कि कृषि-प्रधान देश में गो-जाति और गो-वंश का कितना महत्व है—किस तरह हम अपने अंधविश्वास और अज्ञान के कारण उसकी सेवा के बदले उसका अहित कर रहे हैं—दूसरों की सहानुभूति प्राप्त करने के बदले उनका द्वेष एवं विरोध मोल ले रहे हैं। हमारा विश्वास है कि ठीक तरह से, वैज्ञानिक रीति से, यदि इस विषय का अध्ययन और प्रचार किया जाये तो हम निस्संदेह सबकी सहानुभूति और मदद पा सकते हैं।

उदाहरण के लिए एक मोटी बात ही ले लीजिए। साल-भर में बकरीद एक या दो दिन हुआ करती है। उसी दिन जहां-तहां मुसलमान कुछ गौओं की कुर्बानी किया करते हैं। इसके लिए बहुत जगहों पर काफी खून-खराबा हो जाया करता है। पर हिन्दुओं की दृष्टि इस ओर नहीं जाती कि कसाईखानों में रोज-रोज हजारों गायें कत्ल की जाती हैं—विशेषकर लश्करी छावनियों के लिए तो अच्छी-अच्छी गायें ही कत्ल की जाती हैं। इस महायुद्ध में विदेशी फौजों के लिए तो न मालूम हिन्दुस्तान के कितने जानवर कत्ल कर दिये गये। धार्मिक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर कुर्बानी करने वालों के साथ तो इतनी सख्ती और पेट या जीभ के लिए अथवा कुछ पैसे कमाने के लिए कत्ल करने या कराने वालों को कोई पूछता भी नहीं! बूढ़ी, लंगड़ी और बेकार गायों की रक्षा के लिए गोशालाओं में करोड़ों रुपये खर्च किये जा रहे हैं; पर इस ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता कि गायें किस तरह एक मुनाफा देने वाला जानवर बना दी जायें कि उन्हें किसी हिन्दू या गैर-हिन्दू को न तो बेचने की जरूरत रहे और न कत्ल करने की। आज तो गाय के दूध और बछड़े से जो कुछ मिल सकता है उससे अधिक उसे वध के लिए बेच देने से मिल सकता है। जो वध करने के लिए उसे खरीदता है वह उसके मांस, चमड़े, हड्डी, चर्बी और सींग से उससे अधिक पैदा कर सकता है जो वह उसे पालकर उसके दूध-बछड़े इत्यादि से पैदा कर सकेगा। इन्हीं कारणों से गो-सेवा में आस्था रखने वाले हिन्दू भी वध के लिए गाय बेच डालते हैं और वध करने वाले उसे खरीद लेते हैं। मेरा विश्वास है कि गाय यदि शास्त्रीय ढंग से पाली-पोसी जाये; उसके दूध की वृद्धि की जाये; उसके गोबर-मूत्र इत्यादि का ठीक इस्तेमाल किया जाये; उसके मर जाने पर उसके चमड़े, मांस, चर्बी, पुट्ठे, हड्डी, सींग इत्यादि का ठीक उपयोग किया जाये; तो गो-पालन नुकसान के बदले मुनाफा देने वाला पेशा हो जाये।

इसी विचार और ध्येय को सामने रखकर काम करना है। केवल बहुत दूध देने वाली गाय, जिसके बछड़े हल जोतने और गाड़ी खींचने के काम के योग्य न हों, ऐसे ही देशों में काम दे सकती है जहां बैलों से मांस-लाभ के सिवा दूसरा काम नहीं लिया जाता—जहां बछड़े भी केवल मांस के लिए ही पाले जाते हैं, जैसे हिन्दुस्तान में खस्सी। पर हिन्दुस्तान में—जहां लोग गो-मांस नहीं खाते, जहां बैलों से दूसरे बहुत-से आवश्यक काम लिये जाते हैं, जहां बैलों के बिना किसान का कोई काम चल ही नहीं सकता—हमें ऐसी गायें चाहिए जो काफी दूध भी दें और अच्छे बछड़े भी। यह तो नस्ल पर ध्यान देने से ही हो सकता है। हमारे देश के लोग इस विषय पर काफी ध्यान देते थे। वे जरूरत के मुताबिक मवेशी भी पैदा कर लेते थे। आज भी हम देख सकते हैं कि एक नस्ल के जानवर बहुत बोझ ढो सकते हैं और बहुत परिश्रम के काम भी कर सकते हैं; पर वे बहुत तेज भाग नहीं सकते! दूसरे प्रकार के जानवर बहुत तेज भाग सकते हैं; पर उतना बोझ नहीं ढो सकते और न उतना अधिक परिश्रम ही कर सकते हैं जितना पहले प्रकार के। कुछ गायें ऐसी हैं जो बहुत दूध देती हैं; पर उनके

बछड़े उतने अच्छे नहीं होते। कुछ ऐसी हैं जिनके बछड़े तो अच्छे होते हैं, पर वे अधिक दूध नहीं देतीं। भारत का किसान एक गाय दूध के लिए और दूसरी बछड़े के लिए नहीं रख सकता। उसको तो एक ही गाय से दोनों काम लेना है। इसलिए हमको ऐसी नस्लों को ही प्रोत्साहन देना होगा जो इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो सकें। इस प्रकार की गोशालाएं हो जायें जो अधिक दूध देनेवाली गायें रखें—जिनसे अच्छे काम लायक बछड़े भी पैदा हों। यदि गो-सेवा का ठीक प्रबंध किया जाये तो गाय मुनाफा देने वाली हो जायेगी—उसका वध खुद-ब-खुद बंद हो जायेगा। साथ ही, जो गायें बूढ़ी और कमजोर पड़ जायेंगी उनकी रक्षा भी, अच्छी गायों के दिये हुए मुनाफे से तथा उनके अपने मांस-चाम इत्यादि के दाम से, हो सकेगी। ऐसी अवस्था में ही गो-रक्षा और गो-सेवा में मुनाफा और गो-वध में नुकसान होगा। तभी सब लोग—चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, धार्मिक भावना से उत्तेजित हों अथवा स्वार्थभावना से प्रेरित—गो-रक्षा के काम को अपना हितकर काम मानने लगेंगे। तभी सच्ची गो-सेवा और यथार्थ गो-रक्षा हो सकेगी।

158

भारतीय इतिहास परिषद

मैंने ऊपर कहा है कि जेल जाने के पहले,1942 में,वर्धा से लौटते समय,इतिहास परिषद की बैठक के लिए मैं काशी में उतर गया था। उस समय इतिहास लिखने का काम कई सज्जनों के सुपुर्द किया जा चुका था। कहा जाता था कि अकबर संबंधी एक जिल्द करीब-करीब तैयार है। 1942 में अकबर के जन्म के 400 बरस पूरे होते थे। ऐसा विचार था कि अकबर के जन्म-दिन पर यह खंड प्रकाशित हो जाये। जेल जाने के समय तक ऐसा होने में काफी अड़चनें आ गयी थीं। छपाई और कागज की दिक्कत तो थी ही, बमबाजियों के कारण कलकत्ता-मद्रास आदि शहरों से पुस्तकालयों और संग्रहालयों के सामान भी जहां-तहां सुरक्षित स्थानों में हटा दिये गये थे। इस कारण, सहायक ग्रंथों के अभाव से, पुस्तक लिखने में भी कठिनाई उपस्थित हो गयी थी। तो भी मैं आशा करता था कि पुस्तक प्रकाशित हो सकेगी, पर ऐसा हो नहीं सका। मेरी गिरफ्तारी के कुछ दिनों बाद श्री जयचन्द्र विद्यालंकार भी गिरफ्तार करके नजरबंद कर दिये गये। इससे सब काम रुक गया। मेरे बाहर निकलने के कुछ पहले ही सर यदुनाथ सरकार और श्री मथुरा प्रसाद ने चाहा कि इतिहास-प्रकाशन का काम फिर चलाया जाये। विद्वानों ने कुछ लिख डाला ही था, सिर्फ प्रकाशन की बात थी। दो जिल्दें तैयार थीं। बम्बई के भारतीय विद्या मंदिर के संचालक श्री कन्हैयालालजी मुंशी से कुछ बात चली कि प्रकाशन का भार विद्या मंदिर ले ले; पर अंत में कुछ तय न हो सका। इसलिए यह प्रबंध किया गया कि दो जिल्दें जो तैयार हो गयी थीं वे प्रकाशित कर दी जायें—डाक्टर रमेशचन्द्र मजुमदार और डाक्टर अलटेकर-लिखित 'वाकाटक'-युग संबंधी छठी जिल्द तथा श्री नीलकंठ शास्त्री-लिखित गुप्त-कालीन चौथी जिल्द। छठी जिल्द छापाखाने में भेज दी गयी थी। जेल से निकलते ही मैंने सोचा कि इस काम में विलम्ब नहीं होने देना चाहिए। शिमले से लौटते ही मैं कलकत्ते गया। वहां सर यदुनाथ सरकार तथा डाक्टर मजुमदार से भेंट की। सब बातें तय हुईं। एक बार और इसी संबंध में चंद घंटों के लिए कलकत्ते में ठहरा। छठी जिल्द तो प्रकाशित हो गयी और चौथी अभी छापाखाने में है।

कुछ दिनों बाद श्री जयचन्द्र विद्यालंकार जेल से रिहा हुए। मैंने समझा कि अब काम तेजी से आगे बढ़ेगा। पर कुछ कारणों से सर यदुनाथ सरकार रुष्ट हो गये। उन्होंने इस्तीफा दे दिया। बहुत कहने पर भी उन्होंने उसे वापस नहीं लिया। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार भी अभी तक इस काम को पूरी तरह अपने हाथों में नहीं ले पाये हैं। इसलिए काम रुका पड़ा है। मैं इस काम में श्री जयचन्द्रजी की प्रेरणा से, अपने स्वर्गीय मित्र श्री काशी प्रसाद जायसवाल की स्मृति के प्रति श्रद्धा के कारण, पड़ा था। इतिहास में दिलचस्पी रखते हुए भी अन्य कामों का इतना बोझ था कि यदि ये बातें न होतीं तो मैं शायद अपनी प्रेरणा से यह बोझ न उठाता। तिस पर सर यदुनाथ सरकार का प्रोत्साहन मिला। आज कुछ ऐसी स्थिति हो गयी है कि यह मालूम ही नहीं होता कि यह काम कब पूरा हो सकेगा। पर इसे तो पूरा करना ही है। सभी विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी इसे पूरा कराना होगा। आगे ईश्वर जाने।

159

1946 की घोषणा और सरकारी योजना

1946 के मार्च में ब्रिटिश गवर्नमेंट की ओर से घोषणा हुई कि भारत के मसले को सुलझाने के लिए भारत-मंत्री लार्ड पेथिक लारेंस, सर स्टैफोर्ड क्रिप्स और मिस्टर ए. वी. अलेक्जेंडर भारत आवेंगे और यहां के नेताओं तथा वायसराय से बातें करेंगे। इस बात की घोषणा करते हुए प्रधानमंत्री मिस्टर क्लिमेंट एटली ने यह भी कहा कि यद्यपि अल्पसंख्यक लोगों के स्वतत्वों की रक्षा का प्रबंध किया जायेगा, तथापि किसी अल्पसंख्यक दल को भारतीय राजनीतिक प्रगति में बाधा नहीं डालने दिया जायेगा और इंग्लैंड इस बात के लिए तैयार है कि हिन्दुस्तान आजाद हो जाये—इंग्लैंड यह जरूर चाहता है कि हिन्दुस्तान उसके साथ रहे, पर यह निश्चय करने का अधिकार कि वह साथ रहेगा या एकदम अलग हो जायेगा हिन्दुस्तान को ही होगा। इस प्रकार घोषणा बहुत अंशों में संतोषजनक मालूम हुई। थोड़े ही दिनों के बाद मंत्रिमंडल के तीनों सदस्य पहुंच गये। वायसराय से तथा गवर्नमेंट के दूसरे उच्च कर्मचारियों से बातें करने के बाद उन्होंने भिन्न दलों के प्रमुख लोगों से बातें शुरू कीं। कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद तथा महात्मा गांधीजी से भी उनकी बातें हुईं। इस तरह सब दलों के लोगों से बातें करते बहुत दिन लग गये। तब उन्होंने कांग्रेस के प्रेसिडेंट और लीग के प्रेसिडेंट को लिखा कि वे अपने-अपने चार-चार प्रतिनिधि दें जिनके साथ बैठकर वे शिमले में बातें करना चाहते हैं। दोनों पक्षों के आठ आदमी और वायसराय को मिलाकर वे चार आदमी शिमले में एकत्र हुए। कई दिनों तक बातें होती रहीं, पर कुछ फ़ल नहीं निकला। इस पर उन्होंने कांफ्रेंस खत्म करके घोषणा की कि दिल्ली में वे देश के सामने अपनी योजना रखेंगे। सब लोग दिल्ली वापस आ गये। दिल्ली लौटकर उन लोगों ने गवर्नमेंट की ओर से 16 मई वाला वक्तव्य निकाला जिसमें अपनी योजना देश के सामने रखी।

योजना के मुख्य तीन भाग थे। पहले में युक्तियुक्त कारणों के साथ उन्होंने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग को अव्यवहार्य बतलाया और कहा कि यह नहीं हो सकता है —इसलिए भारत का विधान ऐसा होगा कि उसमें भारत के सूबों का एक संघ बनेगा जिसमें देशी रियासतें भी शरीक हो सकेंगी; इस केंद्रीय संघ के अधिकार में तीन विभाग

होंगे—फौज और बचाव, विदेशों के साथ संबंध रखने वाले मामले, रेल-तार इत्यादि; इन तीनों विभागों के लिए जो रुपयों की जरूरत हो उसको वसूल कर लेने का अधिकार भी होगा—अन्य विषयों में सूबों को स्वतंत्रता रहेगी। जो ऐसे विषय हैं जिनका कहीं जिक्र न हो और जो बच गये हों वे सब सूबों के अधिकार में होंगे। दूसरे भाग में उस विधान निर्माण समिति की योजना बतलायी गयी, जिसके जिम्मे विधान बनाने का काम सुपुर्द किया जायेगा। तीसरे में तत्काल गवर्नमेंट कायम करने की बात कही।

वक्तव्य में यह स्पष्ट कह दिया गया था कि भारतवर्ष को अधिकार होगा कि वह यदि चाहे तो ब्रिटिश साम्राज्य से अपने को अलग कर सकता है। विधान निर्माण समिति के संगठन का रूप निम्नलिखित प्रकार का होगा। सभी प्रांतों की असेम्बलियां अपने-अपने प्रांत की आबादी के प्रत्येक 10 लाख पर एक आदमी को चुन लेंगी और ये लोग ही विधान निर्माण समिति के सदस्य होंगे। उस चुनाव में मुसलमान सदस्य तथा पंजाब में सिख सदस्य अपनी जाति के प्रतिनिधि अलग-अलग वोट देकर चुनेंगे। बाकी सब लोग इकट्ठे ही वोट देकर प्रतिनिधि चुनेंगे। दिल्ली-अजमेर-मेरवाड़ के प्रतिनिधि वे ही लोग समझे जायेंगे जो वहां से चुनकर इस समय केंद्रीय असम्बली में भेजे गये हैं और कुर्ग तथा बलूचिस्तान के प्रतिनिधि अलग से चुन लिये जायेंगे। ये लोग मिलकर देशी रजवाड़ों के प्रतिनिधियों से बात करके तय कर लेंगे कि उनके कैसे और कौन प्रतिनिधि होंगे। उनकी संख्या भी 10 लाख आबादी पर एक प्रतिनिधि के अनुपात में ही होगी। इस प्रकार ब्रिटिश भारत के कुल 292 प्रतिनिधि होंगे जिनमें 210 गैर-मुस्लिम, 78 मुस्लिम और 4 सिख होंगे। सूबे तीन भागों में विभक्त होंगे। पहले विभाग में मद्रास, बम्बई, युक्तप्रांत, बिहार, मध्यप्रांत और उड़ीसा होंगे। दूसरे विभाग में पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत, सिन्ध और बलूचिस्तान तथा तीसरे विभाग में बंगाल और आसाम होंगे। ब्रिटिश भारत की विधान निर्माण समिति की प्रारम्भिक बैठक में सभी सदस्य शरीक होंगे। उस बैठक में सभापति इत्यादि पदाधिकारी चुन लिये जायेंगे और कार्यपद्धति निश्चित कर ली जायेगी। इसके बाद तीनों विभागों के सदस्य अलग-अलग बैठेंगे। उनमें से प्रत्येक अपने विभाग में सम्मिलित सूबों के लिए विधान तैयार करेगा। तब वह इस बात का निश्चय करेगा कि उस विभाग के लिए किसी सम्मिलित विधान की भी आवश्यकता है या नहीं, और यदि है तो उसके क्या विषय होंगे और उसका क्या रूप होगा। अंत में विधान निर्माण समिति की फिर बैठक होगी जिसमें देशी रजवाड़ों के प्रतिनिधि भी शरीक होंगे और अखिल भारतीय संघ का विधान तैयार किया जायेगा। विधान तैयार हो जाने के बाद जब उसके अनुसार प्रांतों की असेम्बलियों का चुनाव हो जायेगा तब प्रत्येक सूबे को अधिकार होगा कि वह यदि चाहे तो अपनी असेम्बली के वोट से जिस विभाग में वह सम्मिलित किया गया है उसमें शरीक न रहकर अलग हो जाये। अल्पसंख्यक जातियों के स्वत्व-संरक्षण के लिए एक अलग समिति बनायी जायेगी

जिसमें उनके प्रतिनिधि रहेंगे और जो संरक्षण के उपाय और तरीके बतावेगी; उसके निश्चयों पर विधान निर्माण समिति विचार करके विधान में उचित प्रबंध रखेगी। तत्काल के लिए वायसराय फिर नये सिरे से अपनी कौंसिल की नियुक्ति करेंगे और उसमें यथासाध्य भारत के विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों को रखेंगे। यद्यपि 1935 का विधान आज बदला नहीं जायेगा और उसके अनुसार वायसराय के हाथों में ही अंतिम अधिकार रहेंगे तथापि जहां तक हो सकेगा, कौंसिल की राय से ही काम चलाया जायेगा और उसमें यथासाध्य हस्तक्षेप नहीं होगा।

इस योजना में किसी भी दल की सभी मांगें मंजूर नहीं की गयी थीं और न सब एकबारगी नामंजूर ही की गयी थीं। सब दलों को कुछ-न-कुछ देकर खुश करने का प्रयत्न किया गया था ! लीग की पाकिस्तान की मांग नामंजूर तो की गयी थी, पर उसके साथ ही सूबों को इस तरह तीन विभागों में बांट दिया था कि जिन सूबों को मुस्लिम लीग पाकिस्तान में मिलाना चाहती थी उनको दो विभागों में रख दिया था और बाकी सूबों को अलग एक विभाग में। पाकिस्तान की नामंजूरी से लीग नाखुश और दूसरे लोग संतुष्ट थे; पर इस प्रकार सूबों का विभाजित होना लीग को पसंद था और इसमें पचरी की उस बारीक नोक को देखते थे जो आगे चलकर आहिस्ता-आहिस्ता घर करती हुई शायद फिर पाकिस्तान का रूप धारण कर लेगी। इस बात से यह विरोध और भी तेज हो जाता था कि इन दोनों मुस्लिम विभागों में पंजाब और बंगाल के वे अंश भी शरीक रखे गये थे जिनमें हिन्दुओं की बहुत अधिक आबादी थी तथा आसाम का सूबा भी उसमें शरीक किया गया था, यद्यपि आसाम में मुललमानों की आबादी एक-तिहाई से अधिक नहीं है।

इस योजना पर विचार करने के लिए वर्किंग कमिटी की बैठक कई दिनों तक होती रहीं। बीच-बीच में कैबिनेट-मिशन और वायसराय से कांग्रेस-प्रेसिडेंट तथा कभी-कभी कुछ दूसरे मेम्बरों की मुलाकात भी होती रही। वर्किंग कमिटी ने योजना की उन त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित किया जिनको वह महत्वपूर्ण समझती थी। उसने यह राय जाहिर की कि उसके मत के अनुसार सूबे बाध्य नहीं हैं कि उन विभागों में वे सम्मिलित हों जिनमें वे जोड़ दिये गये थे। यह तो जाहिर था कि विधान बन जाने के बाद प्रत्येक सूबे को अधिकार होगा कि अपनी असेम्बली की राय से वह उस विभाग से अलग हो जाये; पर वर्किंग कमिटी का कहना था कि उसके अलावा विधान बनाने के लिए विभागों की अलग बैठक में शरीक न होने का भी प्रत्येक सूबे को अधिकार है। सूबा सरहदी और आसाम, दोनों ही, जबरदस्ती विभाग में मिलाये जाने के विरुद्ध थे—इसलिए उनको यह अधिकार मिलना चाहिए कि वे आरम्भ से ही विभागों से अलग रह सकें। वर्किंग कमिटी का कहना था कि सारी योजना के पढ़ने से यही अर्थ निकलता था।

मिशन ने अपनी सम्मति दी कि उसका इरादा ऐसा नहीं था कि आरम्भ से ही सूबे शरीक न हों, पर विधान बनने के बाद सूबों को अलग हो जाने का अवश्य अधिकार था।

वर्किंग कमिटी अपनी राय पर डटी रही। उसने निश्चय किया कि अपनी राय के अनुसार वह योजना काम में लायेगी। उधर मुस्लिम लीग ने योजना की कड़ी समालोचना की। कहा कि पाकिस्तान नामंजूर करना न्याययुक्त नहीं, पर तो भी सूबों के विभाजन में वह पाकिस्तान का अंकुर देखती है और अपने ध्येय-साधन के लिए वह योजना को मंजूर करती है।

इसके बाद कुछ दिनों तक तात्कालिक गवर्नमेंट के संबंध में बातचीत चलती रही। शुरू में वायसराय की राय थी कि 12 आदमियों की गवर्नमेंट बने जिनमें 5 मुसलमान, 5 हिन्दू और दो दूसरें हों। कांग्रेस को यह बात किसी तरह मंजूर नहीं थी। एक तो, हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या बराबर होती थी, यद्यपि हिन्दुओं की संख्या आबादी में मुसलमानों की संख्या से तिगुनी है। दूसरे, शिमला कांफ्रेंस के समय, 1945 की जुलाई में, लार्ड वावेल की योजना में, 5 मुसलमान और हरिजन प्रतिनिधि के अलावा, 5 हिन्दुओं को स्थान दिया गया था और दूसरे अल्पसंख्यकों की संख्या भी दो से अधिक थी। इस तरह, केवल हिन्दू-मुस्लिम समानता का ही सवाल न था, बल्कि लार्ड वावेल के प्रस्ताव से भी यह कहीं अधिक बुरा था। वावेल-प्रस्ताव को भी कांग्रेस ने, लड़ाई का जमाना होने के कारण, किसी तरह, मंजूर कर लिया था। अब वह लड़ाई का जमाना भी नहीं था। उस दबाव से कांग्रेस इस समय मुक्त थी, तो वह इसे कैसे मंजूर कर सकती थी ? कांग्रेस का विचार था कि 15 सदस्यों की गवर्नमेंट जब बनेगी तभी अल्पसंख्यकों के यथेष्ट प्रतिनिधि लिये जा सकेंगे और सबको संतुष्ट किया जा सकेगा।

वायसराय ने 12 के बदले 13 की गवर्नमेंट बनाने की बात कही जिनमें 5 मुसलमान, एक हरिजन, 5 दूसरे हिन्दू और दो अन्य अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि होते। कांग्रेस ने इसे भी नामंजूर कर दिया। तब मिशन और वायसराय ने विज्ञप्ति निकाली कि कांग्रेस और लीग दोनों की राय से गवर्नमेंट बनाने का प्रयत्न विफल हो गया—अब वे अपनी ओर से प्रस्ताव रखेंगे। तारीख 15-6-46 को उनका प्रस्ताव प्रकट किया गया, जिसमें उन्होंने चौदह आदमियों के नाम दिये, जिनको वायसराय ने गवर्नमेंट में शरीक होने का निमंत्रण दिया। इनमें पांच लीगी मुसलमान, पांच कांग्रेसी गैर-हरिजन हिन्दू, एक कांग्रेसी हरिजन, एक सिख, एक ईसाई और एक पारसी के नाम थे। बातचीत के दरमियान वायसराय ने पंडित जवाहरलालजी से, जो कभी-कभी वहां आया-जाया करते थे, नाम पूछे थे। उन्होंने कुछ नाम बताये भी थे। हरिजन और दूसरे कांग्रेसी लोगों के, एक के सिवा, वही नाम थे जो पंडितजी ने बताये थे—ईसाई और सिख के भी नाम उनके बताये हुए ही थे—मुसलमानों में भी चार नाम वही थे जो पंडितजी ने बताये थे। पर एक गैरलीगी मुसलमान के नाम के बदले में

लीगी मुसलमान का नाम और एक कांग्रेसी हिन्दू के बदले में दूसरे कांग्रेसी हिन्दू का नाम तथा एक पारसी का नया नाम वायसराय ने दिया था।

हम इस बात पर विचार कर ही रहे थे कि यह प्रस्ताव स्वीकार किया जाये या नहीं कि इसी बीच में मिस्टर जिन्ना से वायसराय की बातें हुईं और उनके कहने पर वायसराय ने उनकी कई बातें मान लीं जो पत्रों में किसी-न-किसी तरह प्रकाशित हो गयीं। इस पर हम लोग चिहुंक गये! मांगने पर वायसराय ने अपने पत्र के उस अंश की नकल भेज दी जिसमें मिस्टर जिन्ना की मांगों को उन्होंने मंजूर किया था। इसमें महत्व की बातें यह थीं कि 14 से अधिक गवर्नमेंट की संख्या नहीं होगी—अल्पसंख्यकों की जो जगहें खाली होंगी उनकी नियुक्ति में लीग की राय ली जायेगी—गवर्नमेंट कोई ऐसा काम नहीं करेगी जिसमें लीग का बहुमत भी शरीक न हो। इस तरह, गवर्नमेंट के संगठन में ही नहीं, उसकी प्रतिदिन की कार्रवाइयों में भी लीग की अनुमति के बिना कुछ न हो सकेगा। जब हमारे दिये हुए गैर-लीगी मुसलमान के नाम को वायसराय ने छांट दिया और यह साफ हो गया कि पांच लीगी मुसलमानों की संख्या में कमी न हो सकेगी, तो वर्किंग कमिटी यह विचार करने लगी कि कांग्रेस अपनी पांच जगहों में से एक में किसी राष्ट्रीय विचार वाले मुसलमान का नाम दे। हम ऐसा सोच ही रहे थे कि वायसराय का पत्र मिल गया कि मुसलमान का नाम कांग्रेस न दे, क्योंकि उसकी मंजूरी नहीं हो सकेगी। वर्किंग कमिटी इस स्थिति को कभी मंजूर नहीं कर सकती थी; क्योंकि इसके मंजूर करने का अर्थ हो जाता था कि कांग्रेस केवल हिन्दुओं की जमायत है और केवल मुस्लिम लीग को ही मुसलमानों का प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

सब बातों पर विचार करके वर्किंग कमिटी ने तात्कालिक गवर्नमेंट बनाने की 16-6-46 वाली योजना को नामंजूर कर दिया। अब उसके सामने प्रश्न यह था कि विधान निर्माण समिति संबंधी योजना के बारे मे क्या किया जाये? उसके दोषों और त्रुटियों को हम बता चुके थे। उस योजना का जो अर्थ हम निकालते थे वह भी बता चुके थे। यह भी हम कह चुके थे कि अपने अर्थ के अनुसार ही हम उससे काम लेंगे। इस प्रकार, यद्यपि अपनी सम्मति के अनुसार उससे काम निकालने की बात कहकर हम एक प्रकार से उसे मंजूर तो कर चुके थे; पर स्पष्ट शब्दों में दो-टूक फैसला करके साफ-साफ कुछ नहीं कहा था। इसलिए उस पर एक बार फिर विचार करने की जरूरत पड़ी। कमिटी में दो-एक आदमी छोड़कर, जो उसको मंजूर नहीं करना चाहते थे, बाकी सभी सदस्य उसे मंजूर करने के पक्ष में थे—विशेषकर महात्मा गांधी तो मंजूरी का जोरों से समर्थन कर रहे थे। इसी समय एक तार आसाम से आया जिसमें यह कहा गया था कि बंगाल में विधान निर्माण समिति के चुनाव के लिए जो नियम बनाया गया है उसके अनुसार प्रत्येक उमीदवार को प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि वह समिति का सदस्य होना योजना की उस धारा के अनुसार मंजूर करता है जिसमें बहुतेरी दूसरी बातों के साथ-साथ सूबों के तीन विभागों का भी जिक्र है। इस तार के प्रेषक ने यह

अर्थ निकाला था कि उमीदवारों को पहले से ही विभागों को मान लेने की प्रतिज्ञा कर लेनी पड़ेगी। आसाम, और हम सभी, विभागों में जाने के विरोधी थे ही। इसलिए कुछ शंका पैदा होने लगी, पर अभी कोई राय स्थिर नहीं हुई थी; क्योंकि नियम अभी तक पूरे देखे नहीं गये थे—यद्यपि, नमूने के तौर पर, भारत सरकार की ओर से प्रांतों में जो नियम भेजे गये थे उनकी नकल, हमारे पास भी, गवर्नमेंट ने भेज दी थी।

उस दिन का काम खत्म करने का समय हो गया था, इसलिए दूसरे दिन के विचार के लिए बात स्थगित कर दी गयी। सोचा गया कि इस बीच में हम लोग नियमों को भी भली भांति देख लेंगे। महात्माजी के दिल में उक्त तार के कारण शंका हो गयी। प्रार्थना के समय भाषण में उन्होंने यह बात कह दी। इसका नतीजा यह निकलता था कि कांग्रेस उस योजना को भी मंजूर नहीं करेगी। दूसरे दिन हम लोग मिले। हम लोगों की राय में नियम का वह अर्थ नहीं निकलता था जो तार भेजने वाले ने निकाला था। इस बीच में महात्माजी की, कैबिनेट मिशन के लोगों से, भेंट हुई। उन्होंने भी यही कहा कि उस प्रतिज्ञा का अर्थ वह नहीं है; पर यदि किसी प्रकार से वह अर्थ निकलता हो और महात्माजी को नियम के शब्दों के कारण कोई नैतिक अड़चन मालूम होती हो, तो उसके शब्दों को भी वे बदलवा देंगे और साफ कर देंगे; क्योंकि उनका यह कभी आशय था ही नहीं।

नियम बदल भी दिया गया। हमने इसलिए उस योजना को मंजूर कर लिया। इस तरह अब स्थिति यह हो गयी कि कांग्रेस वर्किंग कमिटी ने तारीख 16 मई (1946) वाली दीर्घकालीन योजना को मंजूर कर लिया। यद्यपि मंजूर करने में उसकी त्रुटियों को नजरअंदाज नहीं किया और न जो अर्थ वह योजना का लगाती थी उसे ही छोड़ा तथापि उसने तारीख 16 जून (1946) वाली अंतरकालीन गवर्नमेंट संबंधी योजना को नामंजूर कर दिया। यह निश्चय एक पत्र द्वारा, प्रस्ताव की नकल साथ भेजकर, मिशन और वायसराय को बता दिया गया। उस तरफ लीग ने दीर्घकालीन योजना को पहले ही मंजूर कर लिया था और अंतरकालीन योजना के संबंध में कांग्रेस के फैसले का इंतजार कर रही थी। उसी दिन वायसराय से मि. जिन्ना की मुलाकात हुई जिस दिन कांग्रेस का फैसला वहां भेजा गया था। वायसराय ने उनको हमारा पत्र दिखला दिया। तारीख 16 जून की योजना में एक बात यह लिखी थी कि अगर कोई दल उस योजना को नामंजूर कर दे तो भी वायसराय अंतरकालीन गवर्नमेंट बनाने के प्रयत्न को जारी रखेंगे और ऐसे दलों के प्रतिनिधियों की अंतरकालीन गवर्नमेंट बनावेंगे जिन्होंने 16 मई की योजना को मंजूर कर लिया हो। अब स्थिति यह थी कि कांग्रेस और लीग दोनों ही ने 16 मई की योजना मंजूर कर ली थी, इसलिए तारीख 16 जून की योजना की आठवीं दफा के अनुसार इन दोनों दलों के प्रतिनिधि लेकर ही वायसराय अंतरकालीन गवर्नमेंट बना सकते थे, और वह वैसा ही करना चाहते हैं—यह बात उन्होंने उसी मुलाकात में मि. जिन्ना से कह भी दी।

लीग वाले तो इसी उमीद में बैठे थे कि कांग्रेस ने अगर 16 जून की योजना नामंजूर कर दी तो अब अंतरकालीन गवर्नमेंट में लीग की ही प्रधानता रहेगी और कांग्रेसी लोगों के उससे बाहर रह जाने से लीग के हाथों में ही अधिकार आ जायेगा। मुलाकात के समय तक 16 जून वाली योजना को लीग ने भी मंजूर नहीं किया था; क्योंकि वह कांग्रेस के फैसले का इंतजार कर रही थी। वायसराय की यह बात उनको खटकी, तो भी उन्होंने उसी रात को निश्चय किया कि लीग 16 जून की योजना भी मंजूर करती है। दूसरे दिन मिशन और वायसराय ने घोषणा कर दी कि 16 जून की योजना कांग्रेस ने नामंजूर कर दी, इसलिए उसकी आठवीं दफा के अनुसार अब, कांग्रेस और लीग दोनों के प्रतिनिधियों को लेकर, वायसराय अंतरकालीन गवर्नमेंट बनायेंगे—पर चूंकि मिशन को तुरंत इंग्लैंड वापस जाना है और इसके बनने में कुछ विलम्ब हो सकता है, इसलिए तब तक केवल सरकारी अफसरों को लेकर ही कामचलाऊ गवर्नमेंट बना ली जायेगी। इस निश्चय के अनुसार मिशन वाले वापस चले गये। कामचलाऊ गवर्नमेंट बना ली गयी।

वायसराय और मिशन के इस फैसले से लीग बहुत रुष्ट हुई। उसके प्रमुख लोगों ने कड़े-कड़े वक्तव्य दिये। लीग-कौंसिल की एक बैठक बुलायी गयी। उन लोगों का कहना था कि कांग्रेस ने 16 मई की योजना को मंजूर नहीं किया है—उसकी इतनी कड़ी समालोचना की है और उसके अर्थ का ऐसा अनर्थ किया है कि वह नामंजूरी के बराबर है—उसने यह भी अपना इरादा बतला दिया है कि वह सूबों के विभाजन को नहीं मानती, जो उस योजना की मौलिक बात है और उसे तोड़ने के इरादे से ही वह विधान निर्माण समिति में जाना चाहती है। इस बीच में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक बम्बई में हुई जिसमें नये चुनाव में निर्वाचित सभापति पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अध्यक्ष-पद ग्रहण किया। वहां पर कांग्रेस सोशलिस्ट दल के विरोध के बाद भी कमिटी ने वर्किंग कमिटी के निश्चय का समर्थन कर दिया। इसके बाद सभी सूबों में असेम्बलियों ने विधान निर्माण समिति के सदस्यों को चुन लिया। इस चुनाव में कांग्रेस ने यह नीति बरती कि कांग्रेस के बाहर के भी प्रमुख लोगों को उसने चुनवाया। उनके अलावा कुछ और लोग भी चुने गये। मुसलमानों में प्रायः सभी प्रांतों में लीगी सदस्य ही असेम्बली में थे, इसलिए प्रायः लीगी सदस्य ही चुने गये, क्योंकि मुसलमान ही मुसलमान को चुन सकते थे। सीमा-प्रांत से तीन ही मुसलमान चुने जा सकते थे—मौलाना अबुल कलाम आजाद और खां अब्दुल गफ्फार खां चुने गये। युक्तप्रदेश में श्री रफी अहमद किदवई, दिल्ली से श्री आसफअली और बंगाल में श्री फजलुल हक, लीग के बाहर के लोगों में, चुने जा सके। बिहार में कोई मुसलमान नहीं चुना जा सका। डाक्टर अम्बेदकर बंगाल से चुने गये। मुख्य कांग्रेसी लोग और दूसरे नामी विधानवेत्ता तथा पुराने देशभक्त लोग चुने गये। इस प्रकार से विधान निर्माण समिति के सदस्य चुन लिये गये। इस चुनाव में लीग शरीक रही। उसके मेम्बरों ने अपने प्रतिनिधियों को चुना। मि. जिन्ना पंजाब से चुने गये।

चुनाव हो जाने के बाद लीग-कौंसिल की बैठक हुई। उसने निश्चय किया कि लीग 16 मई और 16 जून की दोनों योजनाओं को नामंजूर करती है—अपने उन निश्चयों को, जिनमें ये मंजूर की गयी थीं, वापस लेती है। उसने यह भी निश्चय किया कि पाकिस्तान स्थापित करने के लिए वह सीधी कार्रवाई (Direct Action) काम में लायेगी। उसने तब तक के लिए अपने मेम्बरों को आदेश दिया कि ब्रिटिश गवर्नमेंट की दी हुई उपाधियों को वे वापस कर दें। बैठक में गरमागरम भाषण हुए जो कांग्रेस और ब्रिटिश गवर्नमेंट दोनों के विरुद्ध थे। ऐसा मालूम हुआ कि वे दोनों से भिड़ेंगे। इसके बाद ही कांग्रेस वर्किंग कमिटी की बैठक वर्धा में हुई। उसने फिर साफ शब्दों में 16 जून की योजना मंजूर कर ली।

अब वायसराय के सामने यह स्थिति आयी कि एक ओर कांग्रेस ने 16 मई वाली योजना मंजूर की थी और 16 जून वाली योजना नामंजूर। लीग ने अपनी कौंसिल की बैठक में दोनों योजनाओं को नये सिरे से नामंजूर कर दिया था। इसलिए 16 जून की 8वीं दफा के अनुसार लीग को छोड़कर अब अंतरकालिक गवर्नमेंट बनाना लाजिमी हो गया। वायसराय ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को अंतरकालिक गवर्नमेंट के निमित्त अपने प्रस्ताव उपस्थित करने के लिए लिखा। पंडितजी ने मि. जिन्ना को दरमियानी गवर्नमेंट में शरीक होने के लिए निमंत्रण दिया, पर उन्होंने इससे इंकार कर दिया। तब पंडितजी के सामने इसके सिवा दूसरा कोई चारा न रह गया कि लीग को छोड़कर ही दरमियानी गवर्नमेंट के लिए नाम सोचें। वायसराय से मुलाकात के बाद उन्होंने नामों को सोचना शुरू किया। इस काम में सहायता पाने के लिए उन्होंने वर्किंग कमिटी की पार्लियामेंटरी सब-कमिटी की बैठक दिल्ली में की। इसके तीन मेम्बर थे—सरदार वल्लभभाई पटेल, मौलाना अबुल कलाम आजाद और मैं।

160

कलकत्ते का हत्याकांड

हम लोग इस काम में लगे हुए थे कि कलकत्ते से खबर आयी कि वहां भयंकर साम्प्रदायिक दंगा शुरू हो गया है। लीग की ओर से, अपनी नयी नीति के प्रचार के लिए, 16 अगस्त मुकर्रर किया गया था। उस दिन सभी जगहों में हड़ताल वगैरह होने की बात थी। बंगाल और सिन्ध में लीगी मंत्रिमंडल काम कर रहे हैं। इन दोनों सूबों में मंत्रिमंडल ने उस दिन आम सरकारी छुट्टी दे दी। इस तरह सभी दफ्तरों, बैंकों इत्यादि को जबरन बंद कर दिया। कांग्रेस प्रायः 27-28 बरसों से हड़ताल मनाने के लिए दिन मुकर्रर करती आयी है—बहुत हड़तालें पूरी तरह कामयाब भी रही हैं। पर वह चाहे गवर्नमेंट के विरुद्ध रही हो, चाहे गवर्नमेंट की बागडोर उसके हाथ में रही हो, उसने गवर्नमेंट के अधिकार से इस काम में कभी लाभ नहीं उठाया। लीग ने इस पहले अवसर पर उस अधिकार का दुरुपयोग किया। इसका विरोध सभी लोगों ने किया। यह खास करके कहा गया कि छुट्टी हो जाने से बहुतेरे लोग बेकार रहेंगे और जलूस, सभा तथा हड़ताल में इतने बेकार लोग हमेशा खतरा पैदा कर सकते हैं। बंगाल की धारा-सभा में ये बातें हुईं। पर मि. सुहरावर्दी प्रधानमंत्री ने एक की भी न सुनी—उलटे यह कहा कि शांति बनाये रखने के लिए ही छुट्टी दी गयी है। उस दिन सवेरे से ही दूकानें बंद करवाने में जबरदस्ती शुरू हो गयी। उसके साथ-साथ लूट-पाट और खून-खराबा भी जारी हो गया।

गवर्नमेंट ने 16 और 17 अगस्त के दोपहर तक बलवा रोकने की कोई विशेष कार्रवाई नहीं की। इस बीच में हजारों आदमी कत्ल हो चुके और हज़ारों मकान लूटे और जलाये गये। उसकी रोक-थाम की कोशिश की गयी, पर उपद्रव बहुत आगे बढ़ चुकने के बाद! चार दिनों तक खूब हत्याएं और ज्यादतियां होती रहीं।

सुना जाता है कि 6-7 हजार आदमियों का खून हुआ है। सड़कों पर दो-तीन दिनों तक लाशें पड़ी रहीं। 3000 से ऊपर लाशें जहां-तहां से हटायी गयी हैं। यह भी खबर है कि बहुत लाशें जमीन के अंदर के नाले में डाल दी गयी हैं जिनकी दुर्गंध से रास्ता चलना कठिन हो गया है। इसी तरह जलाये हुए मकानों के अंदर और हुगली नदी में कितनी लाशें डाल दी

गयी हैं, इसका पता नहीं। सुना जाता है कि हावड़ा पुल पर से बहुतेरे लोग फेंक और ढकेल कर गंगा में डुबा दिये गये। बच्चे, बूढ़े, बेकस स्त्रियां, किसी पर आततायियों ने दया नहीं की—सब उनके क्रूर कर्मों के शिकार बने हैं। आज नवां दिन है। अब हालत सुधर रही है। पर अब भी फौज और पुलिस का कड़ा पहरा है। तो भी इक्के-दुक्के कुछ-न-कुछ हो ही जाता है। इस तरह का कत्ले-आम कलकत्ते में कभी न हुआ था। शायद नादिरशाह के दिल्ली वाले कत्ले-आम के अलावा और कहीं भारतवर्ष के इतिहास में ऐसा नहीं हुआ। इसका भी ठीक पता नहीं है कि उस कत्ले-आम में कितने लोग मारे गये थे। लीग के एक प्रमुख नेता सर फीरोज ख़ां नून ने एक बार हाल ही में कहा था कि वह ऐसी हालत पैदा कर देंगे जैसी चंगेज और हलाकू खां ने भी नहीं की थी। लीग की सीधी कार्रवाई का कुछ नमूना लोगों के सामने आ गया। उस दिन और जगहों में भी जहां-तहां कुछ होता नजर आया, पर कहीं कोई विशेष बात नहीं हुई। छोटी-मोटी घटनाएं कलकत्ते के सामने नगण्य हैं। पर अब सुनने में आया है कि ढाका, बनारस, इलाहाबाद, रानीगंज, दिल्ली तथा दूसरे कई स्थानों में इस समय कुछ-न-कुछ हो रहा है। कुछ खून-खराबा इन सभी जगहों में हो रहा है; पर वहां के सरकारी कर्मचारी स्थिति संभालने में लगे हैं। अब तो मि. सुहरावर्दी भी इस काम में लगे हैं और सबसे शांति-स्थापना की अपीलें कर रहे हैं। हिन्दी कहावत है—"सत्तर चूहे खाकर बिल्ली चली हज को।" कलकत्ते के बलवे के संबंध में 'स्टेट्समैन' जैसे अंगरेजी पत्र ने, जो हमेशा लीग की हिमायत करता आया है, जोरों से बार-बार लिखा है कि लीगी मंत्रिमंडल शांति कायम रखने में अपने को अयोग्य साबित कर चुका, उसे हटना चाहिए। इसी प्रकार की बातें इंग्लैंड के बहुतेरे पत्रों ने लिखी हैं जिनमें 'टाइम्स' भी शरीक है। देशी पत्रों की तो बात ही क्य! किंतु इतने पर भी लीग वालों के कान पर जूं तक नहीं रेंगी। 1937-39 के कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के विरुद्ध जिन्होंने बिना कारण इतना बावैला मचाया था वे ही लोग आज इस अभूतपूर्व हत्याकांड और भीषण अत्याचार पर, जिसके कराने में अगर उनका हाथ साफ-साफ नहीं रहा है तो कम-से-कम जिस पर से चश्मपोशी उन्होंने जरूर की है, बिलकुल चुप हैं। मि. जिन्ना ने केवल इतना ही कहा है कि जिस किसी ने बलवा किया हो उसको सजा मिलनी चाहिए और चूंकि उनको पूरी रिपोर्ट नहीं मिली है इसलिए वह यह नहीं कह सकते कि इसमें किसका कसूर है तथा उनको विश्वास है कि लीगी लोग लीग के हुक्म के विरुद्ध नहीं गये होंगे और यदि कोई गया होगा तो प्रांतीय लीग उस पर अनुशासन की कार्रवाई करेगी। उनके मुख्य पत्र 'डौन' ने तो जो कुछ हुआ उसे बहुत थोड़ा बतलाया और देर करके खबरें छापने के अलावा कई दिनों तक इस विषय पर कुछ लिखा ही नहीं। इस दुर्घटना से सारे देश में खलबली है और घबराहट है। यह भी सुनने में आया है कि शुरू में तो हिन्दू ही मारे गये, पर पीछे जब किसी तरह की मदद उनको गवर्नमेंट की ओर से नहीं मिली तो उन्होंने भी अपना बचाव किया और अब तो शायद जितने मरे हैं उनमें अधिक संख्या मुसलमानों

की हा होगी। जो हो, चाहे हिन्दू अधिक मरे हों या मुसलमान; इसमें शक नहीं हो सकता कि मरने वालों में सबसे अधिक बेकसूर लोग हैं, जो दंगे में शरीक नहीं हुए, पर उसके शिकार बन गये! धन तो करोड़ों का बर्बाद हुआ है—बहुत अंशों में हिन्दुओं का ही धन बर्बाद हुआ और लूटा गया है। अभी तक वहां तनातनी है। देखें, आगे कलकत्ते में और दूसरे स्थानों में क्या होता है।

161

अस्थायी सरकार के पहले

इधर दरमियानी राष्ट्रीय गवर्नमेंट की बातचीत चल रही थी, उधर इस तरह का खून-खराबा हो रहा था। वायसराय और पंडित जवाहरलाल ने निश्चय कर लिया कि इस कारण उस काम में रुकावट नहीं पड़नी चाहिए। हम लोगों से राय करके पंडितजी ने वायसराय को दरमियानी राष्ट्रीय गवर्नमेंट के लिए नाम दे दिये जो आज ही प्रकाशित हो जायेंगे। इन नामों में मेरा नाम भी है। आज से सप्ताह बाद, सितम्बर के आरम्भ से, ये नामजद लोग गवर्नमेंट का काम संभालने लग जायेंगे। आज ही तक यह वृत्तांत लिखकर समाप्त करना चाहता हूं।

यों तो शिमला में भी मेरा नाम दिया गया था। जैसा ऊपर कह आया हूं, मैं बहुत पशोपेश में था। अंत में पूज्य बापू (महात्माजी) के कहने पर मैंने उसे मंजूर किया था। मुझे एक नैतिक अड़चन बहुत सता रही थी। वह यह थी कि उस समय लड़ाई चल रही थी। गवर्नमेंट का भार लेने का अर्थ उस लड़ाई में सहायता देना भी होता था। शिमला कांफ्रेंस के भंग होने के थोड़े ही दिन बाद वह लड़ाई समाप्त हो गयी। इसलिए, जब कैबिनेट मिशन और वायसराय से इस बार बातें शुरू हुईं तो वह नैतिक अड़चन उस रूप में अब नहीं रही, और पहले भी पंडित जवाहरलालजी ने मेरा नाम कह दिया था। इस तरह 16 जून की योजना में मेरा नाम भी था, पर उसकी नामंजूरी के बाद वह बात टल गयी थी। इस बीच में जब फिर यह बात चली तो पहले यह भी सोचा गया कि दरमियानी गवर्नमेंट में पंडितजी के शरीक हो जाने के बाद मैं ही मेरठ कांग्रेस के प्रेसिडेंट के लिए खाली रखा जाऊं। कुछ ने यह भी सोचा कि विधान निर्माण समिति का सभापति मैं ही बनाया जाऊं, मुझे दरमियानी गवर्नमेंट में जगह न दी जाये। मुझे इस विषय में किसी से कुछ कहना नहीं था। जो कुछ भी निश्चय होता, मुझे मंजूर था। पर यदि मेरी अपनी रुचि की बात पूछी जाये तो मैं उन दोनों को अस्थायी गवर्नमेंट की मेम्बरी से ज्यादा पसंद करता। पर यह बात मेरी पसंद पर निर्भर नहीं थी। लोगों ने सब बातों पर विचारकर मुझे यही पद देना उचित समझा। मेरा नाम दे दिया गया है। यह सब निश्चय दिल्ली में मेरे सामने ही किया गया। मैं आराम करने के लिए पिलानी चला आया था। वहां से एक दिन के लिए जयपुर गया था। जयपुर में ही बुलाहट

का तार मिला। वहीं से दिल्ली चला गया। हमारे बीच जब नामों का निश्चय हो गया तो मैं पिलानी चला आया। जब तक फिर बुलाहट न हो, यहीं रहने का विचार था। मैं समझता था कि शायद अगस्त के अंत तक यहां रह सकूंगा, क्योंकि इसके पहले दरमियानी गवर्नमेंट में काम उठाने का समय नहीं होगा। पर यहां पहुंचने पर मालूम हुआ कि तारीख 27 अगस्त (1946) को ही वर्किंग कमिटी की बैठक दिल्ली में होने वाली है जिसमें पूज्य महात्माजी भी आ रहे हैं, इसलिए अब वहां 27 अगस्त तक ही पहुंच जाना जरूरी है।

पिछले 26 बरसों में दिन-रात कांग्रेस के काम मे लगा रहा हूं। घर पर बीमार होकर ही गया हूं। वहां के काम में, भाई के मरने के बाद ही, कुछ थोड़ा समय कुछ दिनों तक देना पड़ा था, नहीं तो घर के काम से भी एकबारगी अलहदगी रही है। अपने रहने के लिए कहीं कोई अलग इंतजाम नहीं किया। आश्रम में रहा या जब कहीं गया तो मित्रों के साथ। पटने में मृत्युंजय के डेरे पर दो-चार ही रोज रहा हूं। इस तरह एक ही प्रकार का जीवन कटा है। कभी किसी दफ्तर में बैठकर काम नहीं किया। कुछ दिनों तक पटना म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से दफ्तर का काम किया था, पर वह अनुभव इतना कम और थोड़े दिनों का था कि उसकी कोई गिनती नहीं है। कांग्रेस के दफ्तर का काम संभालना पड़ा है, पर वहां भी दफ्तर से अधिक जन-सम्पर्क का ही काम किया है और जाहिर है कि वह काम बिलकुल दूसरे प्रकार का है। अब एक नये प्रकार के जीवन में प्रवेश करना है। पहले तो अपने लिए अलग खास घर लेना है। उसमें रहने और खाने-पीने आदि का इंतजाम करना होगा। अब रुपये भी वहां मुशाहरे के मिलेंगे। मालूम नहीं, इस संबंध में कांग्रेस की ओर से क्या आदेश मिलेगा—हम कितना लेंगे और उसे किस तरह खर्च करेंगे ?

इसके बाद, जो जटिल समस्याएं सामने पेश हैं उनका हल किस तरह किया जायेगा ? मालूम नहीं, मुझे कौन विभाग मिलेगा ? पहले सुनता था कि कृषि विभाग और अन्न विभाग मुझे दिये जायेंगे। पता नहीं कि पंडितजी से वायसराय की जो बातचीत मेरे चले आने के बाद हुई उसमें मेरे लिए कौन विभाग सोचा गया। यदि वे ही विभाग रहें तो मेरे मन के मुताबिक होंगे। यद्यपि अन्न-संकट बहुत कठिन है और इसका इस समय संभालना आसान नहीं है।

मैं चाहता था कि काम शुरू करने के पहले एक बार पटने और रांची से हो आता, पर शायद इसका समय नहीं मिलेगा। रांची जाने की बहुत जरूरत है। जनार्दन का बच्चा चिरंजीवी सूर्यप्रकाश बहुत दिनों से बीमार है। उसे बीमारी के कारण बम्बई से पटने बुला लिया था। बम्बई और पटने के डाक्टर उसे आराम न कर सके। तब वह रांची भेजा गया है। आज से प्रायः दस महीने हो गये। ढाई बरस का बच्चा बहुत कष्ट पाता आ रहा है। प्रतिदिन ज्वर हो आता है। खांसी भी बहुत हुआ करती थी। फेफड़े की कुछ शिकायत थी। पर अब सुनते हैं कि वह कम है। अब कांख में घाव-सा हो आया है। उसको देख लेने की बहुत इच्छा

है। जनार्दन भी अब बम्बई अपनी नौकरी पर चले गये हैं। देखें, क्या होता है! ऐसी स्थिति में नया काम शुरू करना पड़ रहा है।

नये लोगों का साथ होगा, जिनमें बहुतेरे ऐसे होंगे जिन्होंने या जिनके साथियों ने हमको और हमारे साथियों को जेलों में बंद रखा—हमारे लोगों के साथ तरह-तरह की सख्तियां कीं। पर मेरे मन में किसी के प्रति कोई दूसरा भाव नहीं है और मैं मानता हूं कि मैं सबको मिलाकर अपना काम कर सकूंगा। पर गवर्नमेंट के बाहर भी भारी कठिनाइयों का सामना करना है। न मालूम, लीग क्या-क्या करेगी और जनता का रुख क्या रहेगा? यदि हमने सचाई के साथ और निष्पक्ष होकर सबकी सेवा की तो फल अच्छा ही होगा। अपना इरादा ऐसा ही है। आगे ईश्वर के हाथ में है।

(समाप्त)

पिलानी,
24 अगस्त 1946

परिशिष्ट

मैंने संस्मरण लिखना कब आरम्भ किया और यह कैसे लिखा गया, इसका जिक्र पुस्तक के 152वें अध्याय में किया है। पुस्तक के अंत में यह भी लिखा है कि दरमियानी गवर्नमेंट के बनने तक का ही हाल इसमें लिखा गया है। आज से प्रायः 4 महीने पहले मैंने पुस्तक को पूरा किया था। इस बीच में बहुत बातें हो गयी हैं जिनका महत्व है और जिनको इस परिशिष्ट के रूप में दे देना अच्छा प्रतीत होता है।

तारीख 2 सितम्बर 1946 को दरमियानी गवर्नमेंट बनी। इसमें 12 मंत्री बनाये गये जिनके नाम थे सर्वश्री जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, शरतचन्द्र बोस, राजगोपालाचारी, आसफअली, डाक्टर मथाई, जगजीवन राम, सर शफात अहमद खां, सरदार बलदेव सिंह, भाभा, अली जहीर और मैं। सरदार वल्लभभाई पटेल, श्री जगजीवन राम और मैं उस समय बिड़ला भवन में ठहरे हुए थे। वहां के लोगों ने मांगलिक क्रिया के साथ हमको गवर्नमेंट हाउस के लिए रवाना किया। वहां से हम लोग पूज्य गांधीजी के पास गये और वहां से और साथियों के साथ गांधीजी का आशीर्वाद लेकर वायसराय के पास अपना काम संभालने के लिए गये। वहां नियमानुकूल हमको सौगंध लेनी पड़ी। इसमें एक मुख्य बात यह थी कि हम बादशाह जार्ज और उनके वारिसों के प्रति सच्ची वफादारी बरतेंगे।

हमारी सारी जिंदगी ब्रिटिश साम्राज्य से हिन्दुस्तान को मुक्त कराने में लगी रही है। अंत में ब्रिटिश बादशाह की वफादारी की सौगंध कहां तक ठीक है, यह प्रश्न बहुतों के दिलों में उठा करता है। बात यह है कि ब्रिटिश विधान में इस प्रकार की सौगंध एक आवश्यक वस्तु है और प्रजातंत्र का काम प्रजा की मरजी के मुताबिक चलना और चलाना भी वैसा ही आवश्यक अंग है। राजा प्रजातंत्र की सम्मति के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता और प्रजातंत्र की सम्मति पार्लियामेंट द्वारा ही जानी जाती है। प्रधानमंत्री उस सम्मति के अनुसार ही काम करता है। राजा उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता और मंत्रिमंडल के बनाये हुए भाषण देता है तथा बताये हुए काम को ही करता है। एक विधान-शास्त्री ने लिखा है कि जो भी कागज प्रधानमंत्री पेश करे उस पर राजा को दस्तखत करना ही पड़ता है, यहां तक कि यदि उसके सामने राजा को फांसी देने का हुक्मनामा भी पेश किया जाये तो राजा उस पर दस्तखत करने से इंकार नहीं कर सकता। इस प्रकार की एक घटना कुछ वर्ष पूर्व हुई भी जब राजा अष्टम एडवर्ड को, प्रधानमंत्री बाल्डविन की सम्मति मानकर, गद्दी छोड़नी पड़ी। जब वहां का

विधान ऐसा है जो भारतवर्ष को स्वतंत्र बनाने का प्रयत्न इस सौगंध के विरोध में नहीं माना जा सकता है और सब लोगों ने ऐसा ही समझा भी है। यदि बाल्डविन राजा को गद्दी छोड़ने की सम्मति दे सकते हैं तो भारतीय मंत्री भी उसे हिन्दुस्तान पर से ब्रिटिश सत्ता हटा देने की सलाह, सौगंध के बावजूद, दे ही सकते हैं। इसलिए दोनों में कोई विरोध नहीं दीखा और हम सब ने सौगंध ले ली।

मेरे जिम्मे अन्न और खेती विभाग दिये गये। अन्न-संकट सारे देश में जबर्दस्त था। विशेष करके दक्षिण के उन हिस्सों में जहां के लोग चावल ही खाया करते हैं। 1945 में वर्षा बहुत कम हुई और धान की फसल बहुत जगहों में, विशेष करके दक्षिण में, मारी गयी। जाड़ों में भी पानी नहीं बरसा। इसलिए रबी की फसल भी कम हुई। पहले से लड़ाई के जमाने में ही अन्न की बहुत कमी हो गयी थी, क्योंकि बरमा से चावल आना बंद हो गया था। हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में वहां के लोगों के खाने के लिए काफी अन्न नहीं होता है। यह कमी बरमा के चावल से पूरी होती थी। जब उसकी आमदनी बंद हो गयी तो बड़ी कठिनाई हो गयी। बंगाल के भयंकर अकाल के कारणों में यह भी एक थी। 1946 के आरम्भ से ही इसका डर हुआ कि इस साल अन्न की बहुत कमी रहेगी और फिर कहीं अकाल न पड़ जाये। इसलिए भारत सरकार ने विदेशों से अन्न मंगाने का इंतजाम सोचा। आजकल दुनिया में अन्न-संकट है, इसलिए एक अंतरराष्ट्रीय संस्था बनायी गयी है जो सभी देशों में, जहां कुछ अधिक अन्न मिल सकता है, पता लगाकर उन देशों में उसे पहुंचाने का प्रबंध करती है जहां अन्न की कमी है। इस संस्था में भारतवर्ष भी शरीक है और उससे भारत की ओर से अन्न की मांग की गयी।

विदेशों में और विशेष करके अमेरिका में यहां का समाचार पहुंचा। वहां के भूतपूर्व राष्ट्रपति हूवर सभी देशों में अन्न-संकट की स्थिति देखते-देखते हिन्दुस्तान भी पहुंचे। वे यहां की बुरी हालत से बहुत प्रभावित हुए और मदद देने की सलाह दी। इसके बाद ही कुछ लोग अमेरिका से गैरसरकारी तौर पर यहां की हालत देखने आये। इनके प्रधान थे डाक्टर शुल्ट्ज, जो कृषि और अन्न संबंधी समस्याओं के विशेषज्ञ समझे जाते हैं। वह भी यहां की दुर्दशा से बहुत प्रभावित हुए। नतीजा यह हुआ कि अंतरराष्ट्रीय संस्था ने भारतवर्ष के लिए अन्न दिया पर हम जितना चाहते थे उतना नहीं, उससे बहुत कम। इसका कारण यह था कि उनके पास इससे अधिक देने की शायद गुंजाइश थी ही नहीं, क्योंकि उनको दूसरे देशों को भी देखना था। जिस दिन मैंने इस काम को संभाला, हालत बहुत नाजुक थी और डर मालूम होता था कि किसी-न-किसी दिन अन्न बिना लोग मरने लग जायेंगे। देश और विदेश से जो कुछ मिल सकता था उसे देश के भिन्न-भिन्न भागों में जरूरत के मुताबिक बांटा जा रहा था। आते ही मैंने देखा कि पूज्य गांधीजी ने जो कुछ पहले कहा था वही ठीक है। उन्होंने कहा था कि विदेशों पर हम बहुत भरोसा

नहीं कर सकते, क्योंकि वहां से अन्न लाने में हजारों अड़चनें पड़ सकती हैं। हमारे लिए अपने देश और अपने लोगों पर ही भरोसा करना ठीक है। मैंने तुरंत स्थिति को समझ कर इस बात की अपील की कि जिससे जो बन पड़े, अधिक अन्न पैदा करने के लिए करे—जितना कम अन्न खर्च कर सके, करे और जितना बचा करके दूसरों के लिए दे सके, दे।

विदेशों से जो कुछ आ सकता था उस पर जोर लगाया गया और देश में जो कुछ मिल सकता था और अन्न के खर्च में जितनी किफायत हो सकती थी, की गयी। चिंता दिन-रात बनी रहती। यह बात केवल मेरे ही साथ नहीं थी—हमारे विभाग के सभी कर्मचारी हमसे भी अधिक चिंतित रहते थे, क्योंकि अभी तक अकाल मृत्यु से बचाने का भार तो उन पर ही था। मैं तो अभी आया था। मुझे इस बात से बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरे विभागों में मेरे और कर्मचारियों के बीच किसी प्रकार का मतभेद नहीं हुआ और सभी मिल-जुलकर अपनी शक्ति-भर संकट से देश को बचाने के काम में लगे रहे। सबसे कठिन समय हम, सितम्बर से दिसम्बर तक के, चार महीने मानते थे। दिसम्बर समाप्त हो गया। ईश्वर की कृपा है कि अब तक कोई अन्न बिना मरा नहीं है। लोगों की खुराक बहुत कम कर दी गयी है। जो चावल के सिवा गेहूं-मकई कभी खाते नहीं थे, ऐसे अन्न को किस तरह खाने के लिए तैयार किया जाता है—यह भी नहीं जानते थे, उनको भी हम गेहूं-मकई दे सके हैं और चावल बहुत कम मात्रा में। इस तरह उनको बहुत कम खुराक मिली है और ऐसी खुराक मिली है जिसको वह पहले जानते ही नहीं थे। तो भी बावजूद इन कष्टों के लोगों ने बहुत ही साहस और धीरज से संकट का समय काट लिया है। बरसात मामूली तौर पर अच्छी हुई है और धान की फसल औसत है। अब तो धान लोगों की आंखों के सामने है, कहीं-कहीं खलिहान में आ गया है और कहीं-कहीं तो चावल भी तैयार हो गया है। अब उन हिस्सों के लोगों के लिए जहां चावल खाया जाता है भय कम हो गया है। पर गेहूं वाले प्रदेशों की हालत अब चिंतित करने लगी है। चावल की कमी के कारण जहां तक हो सका, वहां से गेहूं लेकर चावल वाले प्रदेशों में दिया गया था। उसे अब वापस करना है। गेहूं की फसल तैयार होने में अभी कम-से-कम तीन-चार महीनों की देर है। इस बीच में पत्थर-पानी न मालूम कितनी आसमानी आफतें आ सकती हैं। विदेशों से, विशेष करके अमेरिका से जो गेहूं आने की आशा थी वह पूरी नहीं हो रही है, क्योंकि वहां जहाजों पर काम करने वालों की और कोयले की खानों में हड़ताल चली है। इसलिए गेहूं की कमी हो रही है। जिस तरह ईश्वर ने चावल-संकट को हटाया, आशा है, इस संकट से भी वहीं त्राण देगा।

थोड़े दिनों के अनुभव ने मेरा यह विश्वास और भी दृढ़ कर दिया है कि भारतवर्ष जैसे कृषिप्रधान देश को अपनी खुराक खुद पैदा करनी चाहिए। इसके लिए विदेशों पर भरोसा करना ठीक नहीं। यह कोई आसान समस्या नहीं है। हमारी आबादी बढ़ती जा रही है।

आबाद होने लायक जमीन अब बहुत नहीं बची है। बहुत कुछ आबाद हो चुकी है। पहले भी 5-6 करोड़ मन चावल हर साल बाहर से मंगाना पड़ता था। अब आबादी बढ़ जाने से अधिक अन्न की जरूरत हो गयी है और बढ़ती जायेगी। इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न करना कृषि विभाग का काम है। फिर यह भी जाहिर है कि हमारे लोगों को जो भोजन मिलता है वह ऐसा नहीं होता कि उससे उनका स्वास्थ्य उन्नत हो। उसमें बहुत प्रकार की कमी है जिसे पूरा करना चाहिए। इसलिए अन्न के आलावा दूध, मछली, मांस, तेल, घी, फल, मूल, सब्जी इत्यादि सभी चीजों को अधिक मात्रा में पैदा करना आवश्यक है। मेरी दिलचस्पी इन विषयों में काफी है और ऐसे प्रयत्न में दिन-रात लगा हूं कि यह कैसे किया जाये। गवर्नमेंट तो केवल कुछ मार्ग-दर्शन करा सकती है, सलाह दे सकती है—थोड़ी-बहुत सहायता कर सकती है। पर काम तो जनता का है। हमारी जनता विशेष करके खेती का काम करती है। उसे ही इस भार को संभालना है। जनता को किस तरह सहायता दी जाये कि वह इसे संभाल सके। कृषि विभाग का प्रधान होने की हैसियत से मुझे इस जवाबदेही को संभालने का प्रयत्न तो करना है। सभी कर्मचारी मदद कर रहे हैं, पर काम इतना बड़ा और विस्तृत है कि प्रायः चार महीनों के बाद भी अभी यह नहीं कह सकता कि मैं यह कहां तक कर पाया हूं और कहां तक पूरा कर सकूंगा। संकट-निवारण में जनता ने काफी मदद की। मेरी अपील पर हजारों लोगों ने खाना कम कर दिया। उन्होंने निश्चय किया कि समय-समय पर नियमित रूप से उपवास करके अन्न बचायेंगे और दूसरे प्रकार से सबने मदद की थी। आशा है, अन्न की पैदावार बढ़ाने में भी उनकी ओर से वैसे ही मदद मिलेगी।

लार्ड वावेल इस बात के लिए बराबर कोशिश में थे कि मुस्लिम लीग किसी तरह दरमियानी गवर्नमेंट में और विधान परिषद में शरीक हो जाये। हमारी नियुक्ति के थोड़े ही दिनों बाद उन्होंने मि. जिन्ना से पत्र-व्यवहार शुरू किया और एक समय आया जब पं. जवाहरलाल नेहरू को उनसे बातचीत करनी पड़ी। भोपाल के नवाब साहब भी बीच में पड़े और इस बात की कोशिश की गयी कि कांग्रेस और मि. जिन्ना के बीच कुछ समझौता हो जाये। पर यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। अंत में मि. जिन्ना ने निश्चय किया कि वायसराय की अनुमति से, कांग्रेस की सम्मति के बिना ही, वह अपने लोगों को दरमियानी गवर्नमेंट में भेजेंगे। हमने तीन जगहें खाली कर दीं और मुस्लिम लीग के पांच सदस्यों की नियुक्ति हो गयी। इस नियुक्ति के संबंध में कुछ बातें लिख छोड़ना बुरा न होगा। 16 जून 1946 के वक्तव्य में कैबिनेट मिशन और वायसराय ने कहा था कि वही लोग दरमियानी गवर्नमेंट में शरीक हो सकेंगे जिन्होंने 16 मई वाले वक्तव्य को मंजूर कर लिया हो और चूंकि उस समय लीग और कांग्रेस दोनों ने ही उसे मान लिया था, दोनों के सदस्यों को लेकर ही वह दरमियानी सरकार बनायी जा सकती थी। उस समय कांग्रेस उसमें शरीक होने के लिए तैयार नहीं थी, इसलिए उस समय दरमियानी

सरकार नहीं बनी। इससे रुष्ट होकर लीग की कौंसिल ने निश्चय किया कि वह अब 16 मई और 16 जून के दोनों वक्तव्यों की स्वीकृति के अपने प्रस्तावों को वापस ले लेती है।

अक्टूबर में जब लार्ड वावेल ने लीग के मेम्बरों को नियुक्त करना चाहा तो प्रश्न यह हुआ कि क्या लीग ने 16 मई वाले वक्तव्य को मंजूर कर लिया है या नहीं ? उसके मंजूर कर लेने का अर्थ यह है कि वह विधान परिषद में शरीक होगी और उसकी कार्रवाई को पूरा करेगी। हम लोगों के पूछने पर लार्ड वावेल ने हम लोगों को आश्वासन दिया कि उन्होंने लीग को बता दिया है कि दरमियानी गवर्नमेंट में शरीक होने का अर्थ ही है कि 16 मई वाले वक्तव्य को लीग मंजूर करती है।

दूसरी बात यह थी कि दरमियानी सरकार में शरीक होने के पहले हमने यह तय कर लिया था कि हम सब कैबिनेट की तरह एक साथ मिल-जुलकर काम करेंगे। इसका अर्थ यह होता है कि हम सब की सम्मिलित जवाबदेही है अर्थात हर एक मंत्री की कार्रवाई के लिए सारी कैबिनेट जवाबदेह होगी और यदि एक को हटना पड़े या हटाया जाये तो सारी कैबिनेट हटेगी। इस तरह हर एक मंत्री अपनी मर्जी और इच्छा के अनुसार काम न करके सब साथ मिल करके काम करेंगे और उनको एक-दूसरे के विरुद्ध फोड़ा न जा सकेगा। हमने इसी रीति के अनुसार काम भी शुरू किया। हमने समझा, यह एक बहुत बड़ा फर्क गवर्नमेंट की रीति में होगा, क्योंकि इस तरह वायसराय को हस्तक्षेप करने का मौका बहुत कम रह जायेगा। बात यह है कि किसी एक के साथ हस्तक्षेप का अर्थ सबके साथ हस्तक्षेप हो जाता है और सारा मंत्रिमंडल टूट जा सकता है।

पहले के एग्जिक्युटिव कौंसिल के लोग अलग-अलग नियुक्त किये जाते थे और एक-दूसरे के साथ उनका सम्पर्क वायसराय के मार्फत ही होता था और एक के हटने से दूसरों पर असर नहीं पड़ता था। हमारी नियुक्ति के बाद दफ्तर के कामों और कागजों में मंत्रिमंडल और उसके सदस्यों को एग्जिक्युटिव कौंसिलर और कौंसिल का सदस्य न कहकर कैबिनेट और कैबिनेट-मेम्बर के नाम का ही व्यवहार किया जाने लगा। सभी कागजों में, जहां कौंसिल का नाम था, काट करके कैबिनेट बना दिया गया। हमारी निजी कार्रवाई भी इसी के अनुकूल होने लगी। हम मंत्रिगण प्रतिदिन संध्या के 5 बजे निजी तौर पर मिलते थे और सभी महत्वपूर्ण विषयों पर, चाहे वह किसी भी विभाग के क्यों न हों, बातें कर लेते थे और सबकी राय से निश्चय भी कर लिया करते थे। जब लीग के लोगों के आने की बात चली तो हमने आशा की कि वही तरीका रहेगा। पर ऐसा हुआ नहीं।

लीग ने आते ही इन दोनों बातों को नाहीं कर दी। कहा गया कि उसकी ओर से ऐसा कोई वचन नहीं दिया गया है कि 16 मई के वक्तव्य की नामंजूरी के निश्चय को वह रद्द करेगी और उसने यह मंजूर नहीं किया है कि दरमियानी सरकार के सदस्य कैबिनेट की तरह

काम करेंगे। वे इस बात को मानते हैं कि जैसे पहले की एग्जिक्युटिव कौंसिल काम किया करती थी उसी तरह वे अब भी काम करेंगे। पं. जवाहरलालजी के निमंत्रण देने पर कि वे हमारी संध्या वाली कैबिनेट की निजी बैठक में शरीक हों, उन्होंने इंकार कर दिया। अब अवस्था ऐसी है कि वे लोग और हम लोग वायसराय की उपस्थिति में जब कभी कैबिनेट की बाजाब्ता बैठक होती है तभी मिल सकते हैं और जो विषय वहां उपस्थित होते हैं उनके संबंध में जो कुछ कहना-सुनना होता है, वहीं हो सकता है।

इधर दरमियानी सरकार का काम इस तरह चल रहा था, उधर कलकत्ते के हत्याकांड के बाद सारे देश में बड़ी खलबली मच रही थी। बम्बई, प्रयाग, ढाका इत्यादि अनेक स्थानों में लोगों को छुरे भोंके जा रहे थे और बहुतेरे बेकसूर निरीह लोग हिन्दू या मुसलमान होने के कारण राह चलते मारे जा रहे थे। बिहार के बहुत लोग कलकत्ते में रहा करते हैं। उनमें से बहुतेरे कलकत्ते के हत्याकांड में मारे गये थे और दूसरी तरह से सताये गये थे। जो भाग करके वापस आये उन्होंने अपने और दूसरों के दुखड़े सुनाये। इसका असर बिहार के लोगों पर बहुत पड़ता गया। मुजफ्फरपुर जिला के बेनीवाद गांव से खबर उड़ी कि वहां कोई मुसलमान एक हिन्दू स्त्री को कलकत्ते से जबर्दस्ती ले आया है। हिन्दुओं की एक भीड़ उस गांव में गयी और कई मुसलमानों को उसने मार डाला और कितनों के घर जला दिये। खबर मिलने पर वहां के लोगों के साथ गवर्नमेंट ने सख्ती की और बहुतेरे गिरफ्तार किये गये और सामूहिक जुर्माना लगाया गया। इस घटना की खबर फैलने पर मुसलमानों में अशांति फैली। कुछ दिनों के बाद जोरों से खबर आयी कि नोआखाली और त्रिपुरा जिलों में, जहां मुसलमानों की बहुत आबादी है, मुसलमानों ने हिन्दुओं पर हमला शुरू कर दिया है। बहुतेरे मारे गये हैं और गांव-के-गांव, जहां हिन्दू रहते थे, जला दिये गये हैं और हजारों की तादाद में हिन्दू जबर्दस्ती मुसलमान बना लिये गये हैं। बहुतेरी स्त्रियों के साथ जबर्दस्ती शादी कर ली गयी है और बहुतेरी भगा या चुराकर अन्यत्र हटा दी गयी हैं। ये वाकया दो जिलों के कई थानों में फैले हुए थे। पहले तो ठीक पता नहीं चला कि इसका फैलाव कितना है। हजारों की तादाद में हिन्दू अपने घर-द्वार को छोड़कर अथवा सब कुछ बर्बाद होने और लुट जाने या जला दिये जाने के बाद भाग करके शहरों में और दूसरे स्थानों मे आश्रय लेने आये। उन इलाकों में किसी भी हिन्दू के लिए जाना कठिन था, क्योंकि इलाके-भर का महासरा कर लिया गया था। वहां की गवर्नमेंट की शिकायत होने लगी कि उसने बलवाइयों को रोकने का कोई समुचित प्रबंध नहीं किया और जैसे कलकत्ते में बलवाइयों को छोड़ दिया गया था वैसे ही वहां भी छोड़ दिया गया कि वे मनमानी करें। यह कांड कई दिनों तक चलता रहा। वहां के और कलकत्ते के कांड में एक बहुत बड़ा अंतर यह था कि कलकत्ते में हिन्दुओं की आबादी बहुत ज्यादा है, लेकिन नोआखाली और त्रिपुरा में मुसलमानों की। इसलिए

कलकत्ते में शुरू में तो हिन्दू खूब पिटे, पर पीछे उन्होंने अपना बचाव जोरों से किया। नोआखाली और त्रिपुरा में ऐसा नहीं हो सका, क्योंकि वहां हिन्दू बहुत कम और कमजोर हैं। इन घटनाओं की खबर देश-भर में फैल गयी और चारों ओर हिन्दुओं में बड़ा रोष पैदा हुआ।

इन घटनाओं का नतीजा यह हुआ कि हिन्दुओं में प्रतिरोध की भावना भर गयी। उधर मुस्लिम लीग के नेता लोग और समाचारपत्र दिन-प्रतिदिन जहर उगला करते थे और हिन्दुओं को युद्ध के लिए ललकार रहे थे। पं. जवाहरलालजी पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत में गवर्नमेंट के मंत्री की हैसियत से सफर करने गये। वहां के सरकारी राजनीतिक विभाग के कर्मचारी सीधे वायसराय की मातहती में काम करते हैं। खबर है कि कुछ हिस्सों में गलत प्रचार से लोगों को उभाड़ा गया और कुछ आदमियों ने पंडितजी तथा बादशाह खां के साथ केवल बदतमीजी ही नहीं की बल्कि और तरह की ज्यादतियां कीं। एक जगह तो इतना जबर्दस्त हमला हुआ कि उन लोगों की जान किसी तरह से बची और बादशाह खां के हाथ में इतनी चोट आयी कि हड्डी टूट जाने के कारण महीनों तक पट्टी बांध रखने की जरूरत हो गयी। पर बावजूद इस तरह की दुर्घटनाओं के पंडितजी की यात्रा बहुत सफल रही और वहीं के लोगों ने उनका बहुत स्वागत किया—प्रेम और उत्साह दिखलाया। इस बात का भी असर देश के हिन्दुओं पर काफी पड़ा। उनको ऐसा जान पड़ा कि मुस्लिम लीग हिन्दुओं को ब्रिटिश के साथ मिल करके दबाना चाहती है और दबाती जा रही है।

बिहार में भारी बलवा शुरू हो गया। कई जगहों में छोटी-मोटी घटना को लेकर हिन्दू बेड़ी तादाद में मुसलमानों के गांवों पर हमला करने लगे। पटना जिला के कई थानों के कितने ही मुसलमान मारे गये, कितनों के घर जलाये और कितनों के साथ क्रूरता का व्यवहार किया गया। यह आग मुंगेर और गया जिलों के कई थानों तक पहुंच गयी। छपरा में तो इसका आरम्भ ही हुआ था, जहां पहले शहर में और पीछे कुछ गांवों में बहुतेरे मुसलमान मारे गये। दिल्ली में इन दुर्घटनाओं की खबर मिली। पंडित जवाहरलाल और सरदार वल्लभभाई—जो बंगाल की हालत देखने कलकत्ता गये थे—पटने में वापसी के समय रुक गये। उनके साथ मि. लियाकतअली और सरदार निश्तर भी गये थे। वे लोग भी रुक गये। सरदार वल्लभभाई और मि. लियाकत अली तो दिल्ली के काम से वापस आ गये, पर पंडित जवाहरलाल और सरदार निश्तर बिहार में ठहर गये। मैं भी हवाई जहाज़ से वहां पहुंचा। हमारे मंत्रिमंडल के लोग बहुत जोरों से दौड़-धूप कर रहे थे और पुलिस से जहां तक हो सकता था, बलवा रोकने का प्रयत्न करने को कह रहे थे। फौज की मदद भी मांगी थी जो कुछ देर के बाद पहुंची। पंडित जवाहरलाल और मैं दोनों दौड़-धूप करने लगे। उधर जब गांधीजी को खबर मिली तो उन्होंने घोषणा की कि यदि बिहार में बलवा न रुका तो वह आमरण अनशन करेंगे। इस समय गांधीजी नोआखाली में हिन्दुओं और मुसलमानों के

बीच सद्भाव पुनः स्थापित करने के लिए गये हुए थे। वहीं से उन्होंने यह घोषणा की। नतीजा यह हुआ कि बिहार में बलवा एकबारगी जल्द बंद हो गया। पर जितना हो चुका था वह बहुत और भंयकर था। कितने मारे गये, इसका ठीक पता अभी तक नहीं लगा है, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी संख्या हजारों की है। मुस्लिम लीग के लोगों ने तो बहुत बढ़ा करके संख्या बतायी है और मि. जिन्ना ने 30,000 के आंकड़े को घोषित किया है। यह तो बिलकुल गलत है और मेरे अनुमान में इसके दशमांश को मान लेना गलत न होगा। संख्या जो भी हो, इसमें शक नहीं कि बहुत जुल्म और क्रूरता की गयी है जिसके लिए सबको लज्जित होना चाहिए। आपस के मेल-जोल के प्रयत्न में बहुत बड़ा धक्का लगा है। इन बलवों के कारण हजारों की तादाद में मुसलमान भाग करके शहरों और ऐसे स्थानों में, जहां वे अपने को सुरक्षित समझते हैं, आ गये हैं। वहां उन लोगों के रहने, खाने इत्यादि का प्रबंध गवर्नमेंट कर रही है और मुस्लिम लीग के बहुतेरे काम करने वाले पहुंच गये हैं। बलवा तो चंद दिनों के बाद ही रुक गया, पर उसका नतीजा तो अभी तक आंखों के सामने है और बहुत दिनों तक रहेगा।

इसी तरह की भयंकर घटना मेरठ जिला के गढ़मुक्तेश्वर के मेले के समय हो गयी। वहां भी बहुतेरे मुसलमान मारे गये और पीछे मुसलमानों ने हिन्दुओं से उसका कुछ बदला चुकाया। इस समय खबर है कि सीमा-प्रांत में भी, हजारा जिले में, कुछ कबीलों का लश्कर हिन्दुओं पर हमले कर रहा है। बहुतेरे शहरों में छुराबाजी तो कम-बेश जारी है ही। एक भयंकर स्थिति है।

इस बार मेरठ में ही कांग्रेस होने की बात थी। जब गढ़मुक्तेश्वर की दुर्घटना हुई तो ऐसा शक होने लगा कि वहां कांग्रेस नहीं हो सकेगी। पर स्थिति संभल गयी और कांग्रेस का जलसा हुआ। हां, जो समारोह होने को था वह नहीं हुआ। कांग्रेस के साथ होने वाली प्रदर्शनी और अनेकानेक दूसरी संस्थाओं की सभाएं नहीं हुई। कांग्रेस में भी दर्शकों को आने से रोक दिया गया और केवल प्रतिनिधियों को ही आने दिया गया। तो भी समारोह तो हो ही गया और कुछ-न-कुछ दर्शक आ ही गये। आचार्य कृपालानी के सभापतित्व में सफलतापूर्वक कांग्रेस समाप्त हुई। महत्व के दो प्रस्ताव हुए। एक में भारतवर्ष में गणतंत्र (Republic) कायम करने की बात कही गयी और दूसरे में विधान परिषद को विधान संबंधी आदेश दिये गये।

हम दिल्ली से ही मेरठ गये थे। वहां से लौटते ही मालूम हुआ कि इंग्लैंड के मंत्रिमंडल ने कांग्रेसी नेता पं. जवाहरलाल और सरदार वल्लभभाई को, सिखों के नेता सरदार बलदेवसिंह को और लीग के नेता मि. जिन्ना तथा मि. लियाकत अली को बुलाया है। हम लोगों की समझ में यह नहीं आया कि हमको क्यों बुलाया जा रहा है, क्योंकि हमने तो 16 मई वाले वक्तव्य को मान करके काम शुरू कर ही दिया है। केवल लीग ने अभी तक

अपनी अस्वीकृति के निश्चय को नहीं बदला है। अब विधान परिषद की बैठक का समय नजदीक आ गया था, क्योंकि वह 9 दिसंबर से होने वाली थीऔर यह बात 27 नवम्बर को पेश हुई थी। हम लोगों ने तो पहले यह कहा कि हमारे जानते वहां जाने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि हमारा जो मतभेद विलायती मंत्रिमंडल के साथ 16 मई के वक्तव्य के अर्थ के संबंध में था वह उनको मालूम ही है और वहां जाने से उसमें कोई फर्क नहीं पड़ने वाला है, पर तो भी यदि वे बुलावेंगे ही तो हम चले जायेंगे। प्रधानमंत्री मि. एटली का तार आया कि जरूर आ जाइए और 9 दिसम्बर तक विधान परिषद की कार्रवाई शुरू होने के पहले ही वापस चले जाइए। लीग ने पहले तो जाने का निश्चय कर लिया, पर जब मि. जिन्ना को मालूम हुआ कि कांग्रेस को कुछ आश्वासन दिया गया है तो उन्होंने जाने से इंकार कर दिया। वह उस समय करांची में ही थे। वायसराय वहां पहुंचे और दोनों में कुछ बातें हुईं और वह भी जाने के लिए तैयार हो गये। इस प्रकार पं. जवाहरलाल, सरदार बलदेवसिंह, मि. जिन्ना और मि. लियाकतअली वाइसराय के साथ हवाई जहाज से इंग्लैंड गये।

कैबिनेट मिशन और वायसराय ने बार-बार आश्वासन दिया था कि 16 मई के वक्तव्य में कोई परिवर्तन या परिवर्धन नहीं किया जायेगा। पर इस बार उन्होंने उसमें परिवर्धन और परिवर्तन दोनों ही किये और यद्यपि यह कहा जाता है कि केवल उस वक्तव्य का अर्थ साफ कर दिया गया है और उससे कुछ भी ज्यादा नहीं किया है, फिर भी इसमें शक नहीं कि कुछ नयी बातें कही गयी हैं और कुछ पहले कही गयी बातों में जोड़ा गया है। इस बार लंदन में जो बातचीत हुई उसका नतीजा तारीख 6 दिसम्बर 1946 का वक्तव्य है जिसके संबंध में उपरोक्त परिवर्तन और परिवर्धन की बातें कही गयी हैं। इस संबंध में विचार करके अपनी राय प्रकट करने के लिए अखिल भारतीय कमिटी की एक विशेष बैठक बुलायी गयी।

ऊपर कहा जा चुका है कि 9 दिसम्बर को विधान परिषद की बैठक का निश्चय कर दिया गया था और उसके सदस्यों के पास निमंत्रण भेज दिये गये थे। इसलिए वह बैठक की गयी। उसकी बैठक के लिए केंद्रीय धारा सभा के चौगोल (केंद्रीय कक्ष) में एक भाग, जिसमें पुस्तकालय था, खास तौर पर बहुत अच्छी तरह सजवा करके तैयार किया गया था। विशेष करके उसमें ऐसा प्रबंध किया गया था कि सदस्यों की बोली की प्रतिध्वनि, जो ऐसी इमारतों में स्वाभाविक है, न होने पावे। इसके लिए अनेक प्रकार के वैज्ञानिक प्रबंध किये गये हैं और सदस्यों को दिल्ली की सरदी से बचाने के लिए स्थान को गर्म रखने का प्रबंध है। वहां 9 दिसम्बर से विधान परिषद का काम शुरू हुआ।

इसके संबंध में पहला प्रश्न यह उठा था कि जब तक स्थायी सभापति का चुनाव न हो जाये तब तक परिषद की कार्रवाई का संचालन कौन करे? निश्चय हुआ कि सदस्यों में जो सबसे अधिक वयोवृद्ध हों वही अस्थायी सभापति हों। हमारे बिहार के डाक्टर सच्चिदानन्द

सिन्हा ही सबसे अधिक वयोवृद्ध निकले। इनकी उम्र और सर हरिसिंह गौड़ तथा श्रीप्रकाशम की अवस्था में थोड़ा ही अंतर था, पर वह सबसे बड़े निकले। इसलिए उन्होंने ही सभापति का आसन ग्रहण किया और दो-तीन दिनों तक—जब तक स्थायी सभापति का चुनाव नहीं हुआ, बड़ी खूबी के साथ काम चलाया।

अब यह प्रश्न उठा कि स्थायी सभापति किसको नियुक्त किया जाये ? ऊपर कह चुका हूं कि दरमियानी गवर्नमेंट में हम लोगों की नियुक्ति के पहले विचार हुआ था कि मुझे इस काम के लिए रख छोड़ा जाये और दरमियानी गवर्नमेंट में मुझे न भेजा जाये। पर अंत में यह विचार बदल दिया गया और मुझे वहां नियुक्त कराया गया। इंग्लैंड जाने के पहले हम लोगों ने पंडित जवाहरलालजी से बातें की थीं और सोचा गया था कि कांग्रेस के बाहर के किसी योग्य व्यक्ति को ही चुनना ठीक होगा। सर गोपालस्वामी ऐयंगर का नाम भी सामने आया था। वह योग्य और अनुभवी व्यक्ति हैं और इस विषय में उन्होंने काफी दिलचस्पी ली है। वह कांग्रेस के नहीं हैं, यद्यपि चुने जाने में कांग्रेसी सदस्यों ने उनकी मदद की है। जब परिषद के इजलास के लिए लोग आने लगे तो सदस्यों का विचार हुआ कि मुझे यह पद दिया जाये। उन्होंने आपस में बातें कीं और मालूम हुआ कि बहुत लोगों की यही इच्छा थी। मुझे पहले इसका पता नहीं था, पर लोग एक-एक करके मेरे पास पहुंचने लगे और जोर देने लगे कि मैं इस पद को स्वीकार करूं। मेरे सामने बड़ी कठिनाई यह थी कि दो विभागों का काम मेरे जिम्मे था और वह मेरे लिए काफी था। उस पर यह काम भी उठाना बहुत भारी हो जायेगा। मैंने इस विचार से इसे पहले इंकार कर दिया। वर्किंग कमिटी में यह बात पेश हुई और मैंने यह प्रश्न उपस्थित किया कि यदि मुझे यह पद लेना पड़े तो दरमियानी गवर्नमेंट में से मुझे मुक्त कर दिया जाये। इस पर कोई राजी नहीं था। परिषद के सदस्य इस बात पर तुल गये थे कि मुझे ही यह भार दिया जाये। अंत में मजबूर होकर और डरते-डरते मैंने इस भार को भी लेना मंजूर किया। मेरा नाम पेश हुआ और मैं सर्वसम्मति से चुना गया। लोगों ने बधाई देते समय मेरे संबंध में बहुत कुछ कहा। पर मैं तो भार से दबा जा रहा था और अब भी वही हालत है। इधर तो चंद दिनों की ही बैठक रही है। काम चला लिया है और विशेष करके कोई विरोध या जटिल प्रश्न अभी तक सामने नहीं आया है। देखें आगे कैसे निभता है। ईश्वर ही चलायेगा।

ऊपर कहा गया है कि 6 दिसम्बर के वक्तव्य पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कमिटी की बैठक बुलायी गयी। वह 5-6 जनवरी 1947 को हुई और उसने निश्चय किया कि 16 मई वाले वक्तव्य का जो अर्थ 6 दिसम्बर के वक्तव्य में लगाया गया है उसी के अनुसार काम किया जाये। हां, किसी सूबे या भाग के साथ जोर-जबर्दस्ती हम बर्दाश्त नहीं करेंगे और जब कभी ऐसा होता दीखेगा तो हम उसके विरोध में जो उचित समझेंगे, करेंगे। देखें, अब भी मुस्लिम लीग विधान परिषद में शरीक होती है या नहीं ? उसे या

ब्रिटिश गवर्नमेंट को अब कांग्रेस के साथ कोई शिकायत 16 मई के वक्तव्य के संबंध में नहीं रहनी चाहिए। पर देखना है, वह करते क्या हैं !

इधर तो विधान परिषद की बैठक होने लगी, उधर मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में दीक्षांत भाषण देने का पहले से ही वचन दे रखा था। उसके लिए 15 दिसम्बर को वहां जाना पड़ा। हवाई जहाज से पंडित जवाहरलालजी के साथ वहां गया। उनको डाक्टर की उपाधि दी गयी और मैंने दीक्षांत भाषण दिया। हिन्दू विश्व विद्यालय 30 बरसों से चल रहा है। आरम्भ में पूज्य मालवीयजी का विचार था कि वहां हिन्दी द्वारा ही शिक्षा दी जाये। पर विश्वविद्यालय की स्थापना के समय उनको परिस्थिति से मजबूर होकर यह विचार बदल देना पड़ा था और अंगरेजी को माध्यम बनाना पड़ा था। नागपुर की नयी युनिवर्सिटी ने निश्चय कर लिया है कि वहां शिक्षा का माध्यम हिन्दी और मराठी हो। बहुत लोगों को हिन्दू विश्वविद्यालय की यह त्रुटि बहुत खटकती है। उसकी रजत जयंती के समय महात्मा गांधीजी ने हिन्दी के अभाव और अंगरेजी के प्राचुर्य की टीका की थी। मैंने अपने भाषण में इस बात पर जोर दिया कि अब कोई कारण नहीं है कि हिन्दी को माध्यम क्यों नहीं बनाया जाये, क्योंकि अब पाठ्य-पुस्तकों की कमी नहीं है और जो कमी हो भी वह शीघ्र पूरी की जा सकती है। मैं जहां तक समझ सका, उपस्थित जनता ने इसे पसंद किया। मालूम नहीं, अधिकारी लोगों का क्या विचार होगा।

इस बार विश्वविद्यालय का समावर्तन संस्कार एक बड़ी विशेषता और महत्व रखता है। इसके निर्माता, कर्ता-धर्ता महामना पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीयजी का देहावसान हाल ही में हो गया है। एक महान कर्मठ योगी संसार से चला गया है। विश्वविद्यालय तो चिरकाल तक उनका स्मारक बना रहेगा ही। पर स्वराज्य-प्राप्ति के प्रयत्न में भी उनका हिस्सा उतना ही बड़ा रहा है। वे तीन बार कांग्रेस के सभापति हुए थे और मतभेद रहते हुए भी उन्होंने कांग्रेस को कभी नहीं छोड़ा। जब-जब कांग्रेस कठिनाई में पड़ी, उन्होंने अदम्य उत्साह के साथ उसकी सहायता की।

हिन्दू महासभा के तो मालवीयजी एक प्रकार से जन्मदाता और प्राण ही थे। धार्मिक उत्थान के लिए हिन्दुओं की उन्होंने जो सेवा की वह अवर्णनीय है। सभी देश-सेवकों के साथ प्रेम और दया का भाव उनके लिए स्वाभाविक था। उनके उठ जाने से एक प्रकार से देश सूना हो गया है। उनके अंतिम दिन कुछ विपत्तियों के कारण दुखपूर्ण हो गये थे। ज्येष्ठ पुत्र पं. रमाकान्त मालवीय की मृत्यु से बहुत धक्का लगना स्वाभाविक है, पर अंतिम दिनों तक वह देश को नहीं भूले और आज की परिस्थिति से चिंतित और प्रसन्न दोनों ही थे। उनके जीवन से हमको बहुत कुछ सीखना है और वह हमारे सामने मार्गप्रदर्शक का काम करता रहेगा।

इसी प्रकार की एक भारी क्षति बिहार में पूज्य बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद की मृत्यु से हुई है। इधर अस्वस्थता के कारण कई बरसों से वह सार्वजनिक कामों में भाग लेने से बिलकुल असमर्थ हो गये थे और देश तथा सूबे को उनकी सेवा से वंचित हो जाना पड़ा

था। पर जो सेवाएं वे पहले कर चुके थे उनको स्मरण करके कोई भी देशवासी और विशेष करके बिहारी इस क्षति से दुखित हुए बिना नहीं रह सकता। मेरे लिए तो बड़ी चोट है। वह तीक्ष्ण बुद्धि, अटल दृढ़ता और पैनी दूरदर्शिता, वह महान त्यागशक्ति और निस्पृहता, वह अनुपम प्रसिद्धि से बचने का निश्चय, वह निर्भयता कहां देखने को मिलेगी? जब हम बिहार के लोग सार्वजनिक जीवन को केवल मनोरंजन का साधन मान करके उसमें कुछ थोड़ा समय लगा देना ही काफी समझते थे, उन्होंने हमारे सामने अखंड सेवा की बात रखी और हममें से बहुतेरों को उस व्रत में व्रती बनाया। हम में जब कभी कमजोरी आयी तो उन्होंने अपने अटल निश्चय से हमको अनुप्राणित किया और व्रत में ढीलापन लाने से बचाया। किसानों की सेवा का आरम्भ उन्होंने उस समय किया जब नीलवरों का बोलबाला था और उनके विरुद्ध आवाज उठाना खतरे से खाली नहीं था। जब मैंने एंट्रेन्स की परीक्षा पास की थी तभी से उनका प्रेम मेरे साथ हो गया था और मेरे जीवन की प्रत्येक कठिन घड़ी में वह बराबर सहायता करते रहे। उस संबंध ने इधर उनकी पुत्री के साथ मृत्युंजय के विवाह के कारण कुछ और रूप भी धारण कर लिया था। पर सार्वजनिक जीवन में इसका कोई असर नहीं था। भाई की मृत्यु के बाद वह एक प्रकार से मेरे घर के कारबार में भी मदद देने लगे थे और देते रहते यदि स्वयं अस्वस्थ होकर अक्षम न हो जाते। इसलिए उनके देहावसान का समाचार सुनकर मैं दिल्ली में बहुत दुखी हुआ। पर महात्माजी ने जो सांत्वना का तार उनके पुत्रों को भेजा था वह मेरे लिए भी सहायक हुआ। उन्होंने लिखा था कि उनके शरीर की जो दुरवस्था हो गयी थी उसमें उनका देहावसान सुखद होना चाहिए, न कि दुखद और आत्मा तो अमर है ही। उसके लिए चिंता करना व्यर्थ है। बात ठीक है और जैसा कष्ट उनको देखकर हुआ करता था वह अब नहीं होगा। ईश्वर उनके लड़कों की मदद करे।

उनके श्राद्ध के अवसर पर मृत्युंजय की स्त्री विद्यावती दरभंगा, जहां उसके भाई और माता हैं और जहां उनकी मृत्यु हुई थी, गयी। मृत्युंजय भी गये थे, पर श्राद्ध के बाद उसे वहां छोड़कर पटने चले आये। चंद दिनों के बाद ही न मालूम उसको क्या हो गया और वह एकाएक एक-दो दिनों की बीमारी में ही चल बसी। मृत्युंजय उसी दिन दरभंगा गये हुए थे। दो दिनों के बाद वहां से दाह-क्रिया करके लौटे। मैं पटना-जिला के गांवों में हिन्दू-मुस्लिम दंगा रोकने के काम में लगा रहा। जहां इतने लोग मारे गये थे और इतने घरों में शोक और कोलाहल था वहां अपना शोक एक प्रकार से शरमा कर दबा-सा गया। मैं पटने में बहुत दौड़-धूप के कारण बीमार पड़ गया। इससे चंद दिनों तक ठहर जाना पड़ा। इसी बीच में श्राद्ध का काम भी समाप्त हुआ।

एक-दो महीनों के अंदर यह दूसरा शोक था। रांची में बहुत दिनों तक कष्ट सहकर बच्चा प्रकाश चला गया। जब बीमारी बहुत बढ़ी तो मुझे टेलीफोन से दिल्ली में खबर दी

गयी। मैं जाने की तैयारी कर ही रहा था कि खबर आयी कि वह चला गया। यह बहुत बड़ी चोट है। उसका बड़ा भाई मोहन 12 बरस पहले चला गया था। वह घाव अभी तक मौजूद है और जब याद आती है तो आंसू आ ही जाते हैं। अब यह दूसरी चोट निर्दय काल ने लगायी है। पर किया क्या जाये ? जनार्दन और चन्द्रमुखी तथा भाई-बहू की दशा क्या कहूं ! इन बच्चों को चला जाना ही होता है तो आते ही क्यों हैं ? भगवान की लीला समझ में नहीं आती। एक तरफ विपत्ति पर विपत्ति और दूसरी तरफ एक पर एक काम के बोझ का बढ़ता जाना। इतना भी समय नहीं मिलता कि दुखी परिवार के लोगों के साथ कुछ समय बिताऊं। पर मैं जानता हूं कि इसमें भी ईश्वर का ही हाथ है। वह जो चाहे करे और करावे।

दिल्ली का जीवन कई बातों में नया जीवन है। दफ्तर का काम करने का पहले-पहल मौका हुआ है। सुना है कि लोग मेरे काम से संतुष्ट हैं। अभी तक देश जो अन्न-संकट में पड़ा रहा है उससे रिहाई तो नहीं हुई है, पर कुछ हालत सुधरी जरूर है। दक्षिण में चावल की कमी के कारण जो भय था वह अब कम हो गया है, पर उत्तर में गेहूं की कमी के कारण बढ़ता जा रहा है। मैं नहीं जानता कि मैंने खास क्या किया, जिसके लिए मुझे बधाई या ख्याति मिलनी चाहिए। पर लोग संतुष्ट हैं और अनेकों मानते हैं कि मैंने परिस्थिति को संभाला है। यदि कर्मचारी और जनता साथ न देती तो कोई भी कुछ नहीं कर सकता था। मैं तो कर ही क्या सकता था ? यहां का जीवन मेरे लिए, बिलकुल एक नया अनुभव है। मकान बहुत बड़ा है, पर उसमें जगह बहुत कम है, क्योंकि कमरे बड़े-बड़े पर संख्या में कम हैं। अहाता बहुत बड़ा और फूल-गुल से सुसज्जित है। तरकारी की खेती की गयी है और अपनी उपजायी तरकारी हम लोग इस्तेमाल कर रहे हैं। पर खर्च काफी पड़ता है। जब से आया हूं, इतना बझा रहता हूं कि मित्रों से मिलने-जुलने का भी समय नहीं मिलता। कहीं आना-जाना तो बहुत मुश्किल से हो सकता है। अब तो और भी कठिनाई बढ़ गयी। पर ईश्वर की दया है कि स्वास्थ्य काम दे रहा है और अभी तक कोई ऐसी हालत नहीं हुई है कि काम रोकना पड़े। यदि स्वास्थ्य ने साथ दिया, जैसा अभी तक रहा है, तो ईश्वर चाहेगा तो विधान परिषद के अध्यक्ष का काम भी किसी तरह से चला ले जाऊंगा।

दिल्ली,
8 जनवरी 1947

दि सेन्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस, ए-12/1 नरायणा इन्डस्ट्रियल एरिया-I, नई दिल्ली 110028 द्वारा मुद्रित